कुण्डलिनीशक्ति

अरुणकुमार शर्मा

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२६२

कुण्डलिनी-शक्ति

(योग-तान्त्रिक साधना प्रसंग)

लेखक

अरुण कुमार शर्मा

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

प्रथम संस्करण १९९५

मूल्य २००-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

फूल प्रिण्टर्स

वाराणसी

संन्यास-योगसिद्ध

पिताश्री

को

सादर समर्पित

*

अरुण कुमार शर्मा

दो शब्द

पण्डित अरुण कुमार शर्मा योगतंत्र के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् और प्रख्यात लेखक तो हैं ही, इसके अतिरिक्त अपने विषय के अनुभवसिद्ध भी हैं। पिछले पचास वर्षों से आपकी लेखनी अनवरत गतिशील है। देश-विदेश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अब तक सैकड़ों लेख, निबन्ध आदि प्रकाशित हो चुके हैं।

पिछले कई वर्षों से आपकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'आज' में भी प्रकाशित हो रही हैं। अब तक की उन रचनाओं में 'मारणपात्र', 'कुण्डलिनी-शक्ति' और 'परलोकविज्ञान' शीर्षक लेखमाला बहुचर्चित रही है। 'मारणपात्र' तो पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुका है। 'कुण्डलिनी-शक्ति' भी योगतांत्रिक साधना-साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाला अपने आप में अपूर्व और अद्भुत ग्रन्थ है, जो आपके समक्ष प्रस्तुत है और जिसको चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन ने प्रकाशित कर निश्चय ही योगतांत्रिक साधना-साहित्य के अभाव की पूर्ति की है। इसमें सन्देह नहीं।

शार्दूल विक्रम गुप्त

सम्पादक
'आज'
वाराणसी

सम्मति

आगम-निगम संस्थान, वाराणसी के संस्थापक प्रसिद्ध तांत्रिक तथा योग-मनीषी पण्डित अरुण कुमार शर्मा की कृति 'कुण्डलिनी-शक्ति' अपने आप में एक रोचक, महत्त्वपूर्ण तथा आध्यात्मिक पुस्तक है। जिन विषयों का प्रतिपादन शर्माजी ने सहजता के साथ इस पुस्तक में किया है उससे साधारण व्यक्ति भी उपनिषद् की गहराइयों तक पहुँच सकता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की यह पहली पुस्तक है। धर्म की इतनी व्यापक व्याख्या शर्माजी ने अपनी पुस्तक में की है कि उसका सुख पुस्तक पढ़ने से ही मिल सकेगा।

बहुत पहले इंगलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक पॉल ब्रण्टन ने अंग्रेजी में इस विषय पर कुछ पुस्तकें लिखी थीं और तभी से लोगों में यह अनुभूति हुई थी कि हिन्दी में भी इन विषयों पर पुस्तकें होनी चाहिए।

इस पुस्तक में शर्माजी ने अपने अनुभवों का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है। पुस्तक हिन्दी साहित्य की अपूर्व कृति है।

शर्माजी की एक कृति 'मारणपात्र' पहले ही प्रकाशित हो चुकी है और हिन्दी साहित्य में इसका काफी समादर हुआ है। अब आपके सामने प्रस्तुत है 'कुण्डलिनी-शक्ति'।

विश्वनाथ प्रसाद

संचालक विकास
'आज'
वाराणसी

प्राक्कथन

तंत्र का मूल स्रोत वेद हैं। ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त (१०।१२५) में जिस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है, तंत्र उसी शक्ति की एकमात्र साधना है।

'शक्ल शक्तौ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'शक्ति' शब्द सिद्ध होता है। कारण, वस्तु में जो कार्योत्पादनोपयोगी अपृथक्सिद्ध धर्म-विशेष है, उसी को शक्ति कहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं, अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में साधना की दो धाराएँ प्रवाहित होती चली आ रही हैं। पहली है वैदिक धारा और दूसरी है तांत्रिक धारा।

वैदिक धारा सर्वसाधारण के लिए साधना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है, जब कि तांत्रिक धारा चुने हुए अधिकारियों के लिए गुप्त साधना का उपदेश देती हैं। एक बाह्य है और दूसरी आभ्यन्तरिक। परन्तु दोनों धाराएँ प्रत्येक काल और प्रत्येक अवस्था में साथ-साथ विद्यमान रही हैं। इसीलिए जिस काल में वैदिक यज्ञ-याग अपनी चरम सीमा पर थे उस समय भी तांत्रिक साधना-उपासना का वर्चस्व कम नहीं था। इसी प्रकार कालान्तर में जब 'तंत्र' का प्रचार प्रबल हुआ उस समय भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हुआ था। वैदिक और तांत्रिक साधना-उपासना की समकालीनता का पूर्ण परिचय हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भारत में—शक्तिसाधना-उपासना उतनी ही प्राचीन है जितना भारत। प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता काल (लगभग २०० ई० पू०) में इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। भारत के समान ही एशिया माइनर, मिश्र, फिनीशिया तथा यूनान में भी शक्ति-साधना-उपासना प्रचलित थी। इससे भारतीय शक्तिवाद के साथ इन देशों के मतों का घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। फिर भी मातृरूप में शक्ति की साधना-उपासना जितनी भारत में विस्तृत और दृढ़ हुई, उतनी अन्य किसी देश में नहीं।

मातृ रूप में शक्ति की साधना-उपासना के पुष्ट प्रमाण हमें मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सामग्री में भी प्राप्त नहीं होते। जो प्राप्त भी हैं वे केवल सूचना मात्र देते हैं। इन सूचनाओं के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भारत में मातृरूप में शक्ति की साधना-उपासना अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। मातृ-साधना के इस प्रारम्भिक युग में ही

'माता' को शक्ति का रूप दे दिया गया था और इसी के साथ-साथ एक महा-पुरुष की भी कल्पना कर ली गयी थी—जो कालान्तर में 'शिव' के रूप में प्रख्यात हुए। शिव-शक्ति का यह सम्मिलित रूप ही शक्तिवाद का आदि स्रोत कहा जा सकता है। शक्ति को ही शिव की जन्मदात्री माने जाने के कारण उसे शिव की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया। जैसे-जैसे शिव को इतर देवों से श्रेष्ठ मानकर 'महादेव' कहा जाने लगा वैसे ही वैसे 'शक्ति' को भी अन्य देवियों से श्रेष्ठ मानकर 'महादेवी' कहा जाने लगा और जिनके साधक अथवा उपासक 'शाक्त' कहलाने लगे।

सर्वप्राचीन वेद ऋग्वेद है और ऋग्वेद में शक्ति का सर्वप्रथम वर्णन वेद-वाणी सरस्वती के रूप में किया गया है। तदनन्तर नदी और देवता के रूप में। सरस्वती के पश्चात् बहुवर्णित शक्ति उषा और अदिति हैं। अदिति का माता के रूप में वर्णन है। वह सम्पूर्ण भूतों की जननी है। इसके प्रकाशवान् पुत्र आदित्य यानी सूर्य हैं।

शक्तिवाद का आधारभूत जो देवीसूक्त है—वह ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' का रूपान्तर है। वाक्सूक्त में जिस शक्ति का उल्लेख है—वह सर्वशक्तिमान्, नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपिणी ईश्वरी शक्ति हैं। कहने की आवश्यकता नहीं; चेतना, वाक्, वाणी, परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी—इसी ईश्वरी शक्ति के पर्याय हैं।

वैदिक वाङ्मय की अन्तिम गरिमामयी और साथ ही महिमामयी शक्ति 'रात्रि' हैं, जो तंत्रभूमि की पराशक्ति अथवा प्रभुशक्ति 'काली' हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, शाक्ततंत्र की मूल भित्ति है रात्रिरूपा महाकाली।

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का क्रम आता है। ब्राह्मणों और आरण्यकों में शक्ति को गायत्री, सावित्री, दुर्गा, राधा, सुभगा, सुन्दरी, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका आदि रूपों में चित्रित किया गया है। अब रही बात उपनिषदों की; श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म में अन्तर्निहित शक्ति को ही प्रधानता दी गयी है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसी शक्ति के त्रिविध रूप हैं। छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद् में शक्ति और शक्तिमान् को अभेद नित्य माना गया है। शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है—'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'। वहीं स्त्री-पुरुष और कुमार-कुमारी हैं। साधक-गण अपने भावानुकूल उसके विग्रह की उपासना करते हैं। मैत्रेय्युपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप बतलाये गये हैं—मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत् है और जो अमूर्त है वह सत् है। तंत्र ने सम्भवतः इन दोनों रूपों को समन्वित कर 'ब्रह्म' को ही शक्ति की संज्ञा दी। कैवल्योपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति को अचिन्त्य एवं अलौकिक कहा गया है। बृहज्जाबालोपनिषद् 'ब्रह्म-शक्ति' को चिति शक्ति कहता है। जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त हैं वैसे ही सम्पूर्ण

जगत् में चिति शक्ति व्याप्त है। सरस्वती, गौरी, विद्या, श्री आदि उसी चिति के पर्याय हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं, इन उपनिषदों के अतिरिक्त चौदह ऐसे और उपनिषद् हैं–जो शक्तिवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें शक्तिमत की विशद व्याख्या की गयी है और शक्ति के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन किया गया है। उन चौदह उपनिषदों में निम्नलिखित आठ उपनिषद्—त्रिपुरोपनिषद्, त्रिपुरातापिन्युपनिषद्, देव्युपनिषद्, भावतोपनिषद्, सरस्वतीरहस्योपनिषद्, सीतोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद् और सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्—पूर्ण रूप से शक्तिवाद का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं, इसके अतिरिक्त शक्ति की दार्शनिक और आध्यात्मिक व्याख्या भी करते हैं।

भारतीय वाङ्मय में शक्तिवाद की दृष्टि से 'वेदाङ्ग' का भी कम महत्त्व नहीं है। व्याकरणागम के 'वाक्यपदीय' में 'शक्ति' 'वाक्' रूपा है। तंत्र ने उसे 'सूक्ष्मवाक्' कहा है। 'सिद्धान्तमंजूषा' के अनुसार परमेश्वर की सर्जन करने की इच्छा से 'माया वृत्ति' प्रकट होती है। उसमें से तीन गुणों वाला अव्यक्त विन्दु प्रकट होता है। उसी अव्यक्त विन्दु को ही शक्तितत्त्व समझा गया। तात्पर्य यह है कि व्याकरणागम की शक्ति विन्दुरूपा है। विन्दु का जड़ अंश 'बीज', 'चैतन्यांश', 'अपरविन्दु' और मिश्रांश 'नाद' है।

शक्ति सम्बन्धी 'सूत्र' और स्तोत्र-साहित्य का भी अपना विपुल भण्डार है। वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शक्तिसाधना-उपासना के जितने भी मार्ग हैं—उन सबका मूल स्रोत एकमात्र 'सूत्र' और स्तोत्र रहे हैं। वे शक्ति के आध्यात्मिक, दार्शनिक और क्रिया—इन तीनों पक्षों पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। सूत्र-साहित्य में अगस्त्य का 'शक्तिसूत्र' दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि उतने महत्त्व का नहीं है, लेकिन फिर भी शक्ति सम्बन्धी सूत्र-साहित्य का श्रीगणेश अवश्य करता है। वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' की भाँति ही 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' से ये सूत्र प्रारम्भ होते हैं। परन्तु वादरायण के सूत्रों के समान इनका दार्शनिक महत्त्व नहीं है। इसकी अपेक्षा अगस्त्य का 'शक्तिमहिम्नः-स्तोत्र' का अधिक महत्त्व है। अगस्त्य का ही एक और ग्रन्थ है, जिसका नाम है 'श्रीविद्यादीपिका'। इसमें पंचदशी मंत्र की व्याख्या है, जिसे उन्होंने हयग्रीव से प्राप्त किया था।

दुर्वासा ऋषि का 'ललितास्तवरत्न' और 'पराशम्भुस्तोत्र' आगम साहित्य की विपुल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। कई भागों में विभक्त पराशम्भु-स्तोत्र में क्रियाशक्ति, कुण्डलिनी-शक्ति, मातृका-शक्ति आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। इनमें 'त्रिपुरामहिम्नःस्तोत्र' तथा 'आर्यापञ्चाशत्' आदि ग्रन्थ विशेष अध्ययन करने योग्य हैं।

दत्तात्रेय की 'दत्तसंहिता', भास्करराय की सप्तशती, ललितासहस्रनाम,

क्षेमराज का 'शक्तिसूत्र', महर्षि अंगिरा का देवीमीमांसा और गौडपादाचार्य का 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' भी अपने-अपने शक्तितत्त्व का प्रतिपादन करने वाली अद्‌भुत रचनायें हैं।

शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'आनन्दलहरी' भी शक्ति सम्बन्धी स्तोत्र-ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पौराणिक साहित्य में 'कालिकापुराण' शक्तिवाद का स्वतन्त्र पुराण है। महाभागवतपुराण में भी अधिकांश शक्ति संबंधी रहस्य और तत्त्व का ही विवेचन है। देवीपुराण तो पूर्णतया शक्तिवाद का पुराण है। ब्रह्माण्डपुराण में 'ललितासहस्र' का प्रकरण है। मार्कण्डेय पुराण में सप्तशती के रूप में देवी-माहात्म्य का वर्णन है। इसका शाक्त सम्प्रदाय में अत्यधिक महत्त्व है। इसमें सरस्वती को भी विष्णु की शक्ति और जगद्धात्री के रूप में वर्णित किया गया है। इसी में लक्ष्मी का रूप 'अम्बिका' है।

विष्णुपुराण में 'लक्ष्मी' अथवा 'श्री' का वर्णन जगन्माता के रूप में मिलता है। वह वेदगर्भा, यशगर्भा, सूर्यगर्भा, देवगर्मा, दैत्यगर्भा आदि भी हैं। कूर्मपुराण में अर्धनारीश्वर का वर्णन है। जिसके पुरुष अंश से शिव (रुद्र), स्त्री अंश से शक्ति का आविर्भाव हुआ। नारदमहापुराण में यक्षिणी, दुर्गा, ललिता, महालक्ष्मी, राधा आदि शक्तियों का वर्णन है। इसमें मंत्रसिद्धि, दीक्षाविधि, जपविधि, गणेश-मंत्र, यन्त्र-विधि, देव्युपासना आदि तांत्रिक पूजा-पद्धति विशेष रूप से वर्णित हैं। वामनपुराण में शिव और शक्ति का सम्मिलित रूप निरूपित है। मत्स्यपुराण में विष्णु के साथ-साथ शिव-शक्ति की आराधना तथा उनके माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है। इन तीनों देवताओं की साधनाओं का सुन्दर समन्वय श्रीमद्‌भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है। देवी-भागवत में देवी की महिमा एवं उसकी पूजा-विधि का वर्णन 'देवीगीता' संज्ञक प्रकरण में मिलता है।

पद्मपुराण में वैष्णवी तथा चामुण्डा शक्तियों द्वारा दैत्यवध का उल्लेख है। इसी में कामाख्या देवी का भी वर्णन है। राधा को यहाँ शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। शिवपुराण में सती पार्वती की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। उमासंहिता में देवी के चमत्कार का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणों तथा महाभारत में भी देवी सम्बन्धी अनेकों प्रसंग हैं। उदाहरणस्वरूप सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड के ४७वें अध्याय में आया हुआ शक्तिस्तोत्र एवं देवीभागवत में आया 'देवीगीता' नामक प्रकरण और उस पर लिखी नीलकण्ठी टीका शाक्तवाद अथवा शाक्त मत की अमूल्य निधि है। महाभारत में पाशुपत भागवत, भागवत सम्प्रदायों के साथ-साथ शाक्त सम्प्रदाय की भी चर्चा उपलब्ध है। विराट पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा की उपासना का वर्णन है, जिसमें देवी को श्रीकृष्ण की भगिनी कहा

गया है। भीष्म पर्व में कुमारी पार्वती, काली, कपाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, शाकम्भरी, उमा, कात्यायनी, चण्डी आदि देवियों का उल्लेख है। शल्यपर्व में देवी का परा या निर्घोषा वाणी के रूप में दार्शनिक विवेचन मिलता है। वन पर्व में रुद्र के साथ हलिमा, मालिनी, पलाला आदि मातृकाओं की उपासना का सम्बन्ध शक्ति से जोड़ा गया है। इसी में भानुमति दिन की देवी, 'राका' रात की देवी, सिनीवाली, अमावास्या तथा कुहू शुद्ध अमावस्या आदि का भी वर्णन है। इनके अतिरिक्त महाभारत में कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा आदि को भी देवियों के रूप में स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आर्यसभ्यता पितृ-प्रधान रही है, तथापि उपनिषद्, पुराण तथा अन्य धर्मग्रन्थों में माता की पिता से अधिक महत्ता प्राप्त हुई है। मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुराणों एवं वेदों में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं; इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में किसी-न-किसी रूप में शक्तितत्त्व विद्यमान है। साथ ही साथ यह भी सिद्ध होता है कि भारत में मातृ-प्रधान संस्कृति का वैदिक काल में भी कितना अधिक प्रभाव और मान्यता थी।

शंकराचार्य ने जिस आदितत्त्व को ब्रह्म की संज्ञा दी है, उसी श्रुतिशीर्ष दर्शित नित्य स्वरूप को तंत्र ने 'शक्ति' कहा है और उसी शक्ति को उसने अपनी सगुणोपासना-भूमि में सर्वप्रथम जिस नाम से सम्बोधित किया, वह नाम है दुर्गा। वही समस्त प्रपञ्च को रचने वाली, धारण करने वाली और उसका नाश करने वाली है। केवल एक भेद है और वह यह कि जहाँ ब्रह्म केवल 'चित्' स्वरूप है, वहाँ शक्ति यानी दुर्गा चिदचिन्मयी है।

कहने की आवश्यकता नहीं, चिदचिन्मयी शक्ति दुर्गा और उनके विभिन्न रूपों की साधना ही तान्त्रिक साधना है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो समस्त भारतीय साधना की कुञ्जी एकमात्र तंत्र है। तंत्र का अर्थ ही है— 'तनयति विस्तारयति ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्'। शिव के पाँच मुखों से समस्त मूल तंत्रों का आगमन होने के कारण उसे आगम भी कहते हैं। यह अति गुह्य विद्या है, जिसे योग्य गुरु से ही ग्रहण किया जा सकता है; ग्रन्थ पढ़कर नहीं। तन्त्रशास्त्र वस्तुतः साधना-शास्त्र है। लगभग सभी हिन्दू-सम्प्रदायों—शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि—की सभी प्रकार की साधना का गूढ़ रहस्य तंत्रशास्त्र में विहित हैं। इसमें स्थूलतम साधना-प्रणाली से लेकर अति गुह्य मन्त्रशास्त्र का समावेश है। इसी से इसका तंत्र नाम बंगाल को छोड़कर भारत में अन्य कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता। कश्मीर, दक्षिण भारत तथा विन्ध्याचल आदि प्रदेशों में तो इसे मंत्रशास्त्र की संज्ञा ही दी जाती है। ईश्वरो-

पासना के निमित्त मंत्र की अनिवार्यता होने से मंत्रशास्त्र की महत्ता स्वतः सिद्ध है। इसके अतिरिक्त अतिगुह्यतर योग-साधनादि के समस्त क्रिया-कलापों का भी इसमें विस्तृत विवरण मिलता है, जो योग से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है। बौद्ध-तन्त्रों में हठयोग का समावेश भी इसी आधार पर हुआ। परन्तु यहाँ हम इसके विस्तृत ज्ञान-सागर में अवगाहन न कर सकेंगे, इसलिए कि हमारी पुस्तक का यह विषय नहीं है।

शक्तिवाद का पूर्ण विकास वैसे तो मध्ययुग में हुआ, लेकिन इस मत के यत्किञ्चित् तत्त्व प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता काल तथा वैदिक युग में भी मिले हैं। उदाहरणार्थ मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त वे सीलें—जिनके एक ओर यंत्र तथा दूसरी ओर देवी की मूर्ति है एवं ऋग्वेद में वर्णित उषा, सरस्वती, वाक् आदि देवियों के सूक्त इस मत के आदि स्रोत हैं। अथर्ववेद में तो तांत्रिक-साधना के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि बतलाया जा चुका है—उपनिषदें भी अछूती नहीं हैं। उनमें शक्ति हैमवती यानी ब्रह्मविद्या रूप में वर्णित हैं। वेदान्त में वही 'माया' है, तो मीमांसा में 'धर्म' तथा मंत्र रूप में भी वही शक्ति है। सांख्यों की अव्यक्त 'प्रकृति' और बौद्धों की 'तारा' भी उस महाशक्ति के ही स्वरूप-भेद हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जितना प्राचीन वैदिक युग है उतना ही प्राचीन तंत्रयुग भी है। इस युग में सर्वप्रथम जिस तांत्रिक मत और तांत्रिक सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, वह है शाक्त मत और शाक्त सम्प्रदाय। कालान्तर में समय-समय पर इसी शाक्त मत के गर्भ से कौल, शैव, कापालिक, पाशुपत, वैष्णव, गाणपत्य आदि तांत्रिक मतों और उनसे संबंधित सम्प्रदायों का जन्म हुआ—इसमें सन्देह नहीं। शंकराचार्य के पूर्व भारत में कौल और कापालिक मतावलम्बियों का प्रभाव और वर्चस्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर भयंकर उग्र रूप धारण कर चुका था।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वास्तविक तंत्रयुग ५०० ई० से ८०० ई० तक माना जाता है। वैसे कतिपय विद्वान् इसे और आगे १२०० ई० तक मानते हैं। इस युग की चार विशेषताएँ थीं—(१) शक्ति और उसके विभिन्न रूपों की साधना-उपासनाओं के महत्त्व की वृद्धि, (२) यंत्र-मंत्र के महत्त्व की वृद्धि, (३) कुण्डलिनी योग में विश्वास की वृद्धि तथा (४) पंचमकारोपासना के प्रभाव की वृद्धि।

कहने की आवश्यकता नहीं; इन चार विशेषताओं का आश्रय लेकर इसी काल में शाक्तों के ६३ तंत्र, ३२७ उपतंत्र और उनके यामल-डामर संहिता आदि; शैवों के ३२ तंत्र, १२८ उपतंत्र और उनके यामल-डामर संहिता आदि; वैष्णवों के ७५ तंत्र, २०५ उपतंत्र और उनके यामल-डामर संहिता पुराणादि तथा गाणपत्य एवं सौर सम्प्रदायों के बहुत से ग्रन्थों की रचना हुई। बौद्ध,

जैन, कापालिक, पाँच राग और भैरव आदि २२ आगमों के लगभग ५०० तन्त्र-ग्रन्थों तथा इतने ही उपतन्त्र-ग्रन्थों की भी रचना इसी काल में हुई। अस्तु। यह स्पष्ट है कि शक्तिवाद का मूल स्रोत एकमात्र वेद है। ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में जिस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है वह जगद्व्यापिनी और अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में क्रियाशील आदिशक्ति है। उस आदिशक्ति से सम्बन्धित जो गुह्य और गोपनीय ज्ञान है, उसे 'तन्त्र' की संज्ञा दी गयी है।

शाक्तवाद के गर्भ से जिस 'तन्त्र' का सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ, वह है—'शाक्ततन्त्र'! यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि शाक्तमत उतना ही प्राचीन है जितना कि वैदिक मत। शाक्ततन्त्र ही एकमात्र ऐसा तन्त्र है जो वेदानुकूल है। अन्य सभी तन्त्र वेद-बाह्य हैं। इसका कारण यह है कि शाक्ततन्त्र अद्वैतवाद का गम्भीर साधनाशास्त्र है। वह वेदान्त के सिद्धान्तों को अपनी क्रिया के प्रतीकों के अनुसार अपनी ही रीति से समझाता है। वह द्वैत-मार्ग से अद्वैत की ओर अग्रसर होता है। द्वैत का 'एकत्व' में लय ही उसका एकमात्र उद्देश्य है। अस्तु।

शाक्ततन्त्र के अनुसार आदिशक्ति का आदि रूप 'मातृरूप' है। लेकिन उस आदिशक्ति का आदि विकास मैथुन-विषयक है, यानी आनन्द अथवा रति के लिए है। यही विश्व-वासना है। पारिवारिक, व्यावहारिक, सामाजिक, सांसारिक आदि जितने भी लौकिक सम्बन्ध हैं; यहाँ तक कि पूजा, उपासना, साधना आदि द्वारा देवताओं से भी जितने सम्बन्ध हैं, वे सब आकर्षणात्मक, कामात्मक, मैथुनात्मक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि लौकिक-पारलौकिक जितने भी आन्तरिक और बाह्य सम्बन्ध हैं उन सबमें कामशक्ति की ही प्रधानता है।

समस्त विश्व में निवृत्ति अपने को प्रवृत्ति के मार्ग में स्थापित करना चाहती है। उसके द्वारा भेद का वरण केवल अभेद-सिद्धि के लिए ही होता है। यही महामाया है, यही अज्ञान है और यही अविद्या है। जिसमें सभी जीव घूम रहे हैं। मिथुन के नाश के लिए यदि कोई साधन है तो वह मैथुन ही है। द्वन्द्व का नाश द्वन्द्व से ही सम्भव है। द्वन्द्व के मार्ग से हमें अद्वैत की ओर अग्रसर होना होगा। भूमि पर गिरने पर उस भूमि के सहारे ही उसका त्याग किया जा सकता है और ऊपर भी उठा जा सकता है। भौतिक विषयों का अनुभव आवश्यक है, किन्तु साधन के रूप में। यदि साधना की दृष्टि से देखा जाय तो भोग द्वारा तृप्ति होने के पश्चात् ही व्यक्ति साधक बन सकता है, अन्यथा नहीं। भोग्य वस्तुओं को साधन के रूप में अपनाकर ही हम साधना की उच्चतम अवस्था को उपलब्ध हो सकते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं, शाक्त मत के इन सिद्धान्तों के पीछे अत्यन्त

गूढ़ आध्यात्मिक और दार्शनिक रहस्य छिपा हुआ है। इसमें किञ्चित् मात्र सन्देह नहीं।

कालान्तर में शाक्त मत से सर्वप्रथम जिस मत का आविर्भाव हुआ, वह है—कौल मत। कौल मत भी शाक्त मत की तरह अद्वैतवादी है और है उसके सिद्धान्तों का समर्थक और अनुयायी; लेकिन फिर भी वह 'शक्ति' के साथ 'शिव' को भी समान महत्त्व देता है। इस दृष्टि से वह शैव और शाक्त दोनों परम्पराओं का पोषक है। वैदिक विज्ञान का भूततत्त्व और देवतत्त्व अथवा जड़तत्त्व और चेतनतत्त्व, जिसे दार्शनिक भाषा में पुरुष और प्रकृति कहते हैं, कौल मत का शिव और शक्ति हैं। जिसका प्रतीकात्मक रूप षट्कोण है। ऊर्ध्वत्रिकोण शिव का और अधोत्रिकोण शक्ति का प्रतीक है। 'कौल' शब्द 'कुल' शब्द से बना है—जिसका अर्थ है—कुण्डलिनी-शक्ति। कुण्डलिनी लाक्षणिक शब्द है। जिस 'शक्ति' के साथ इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हुआ है वह है—कामशक्ति। शाक्त मत की मातृशक्ति कौल मत की कामशक्ति है। (विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—तान्त्रिक साधना और कामशक्ति)

कौल मत का अपना जो मौलिक सिद्धान्त है, उसके अनुसार समस्त वासनाएँ अथवा मूल प्रवृत्तियाँ तीन भागों में विभक्त है—वित्तैषणा, दारैषणा और लोकैषणा। इन तीनों में 'दारैषणा' मुख्य है और अन्य दो उसके अन्तर्भूत हैं। क्योंकि उसका ही सार आकर्षण है और आकर्षण स्त्री-पुरुष संयुक्ति में पर्यवसित होता है। आकर्षण ही मिथुनजन्य है। अतः आदिशक्ति का स्वराज 'काम' अर्थात् सहचर की कामना है। वह सहचर पुरुष अथवा स्त्री होती है। मानव जीवन में 'आनन्द' ही सब कुछ है। आनन्द ही सभी कामों का प्राण है। आनन्द ही प्रेरणा-शक्ति है। इसी पर अस्तित्व, वृद्धि, नाश आदि निर्भर हैं। इसका स्थूल और प्रत्यक्ष अनुभव 'मैथुन' में होता है। मैथुन-आनन्द सांसारिक जीवन में पराकाष्ठा का आनन्द है। कौल मत सभी आनन्दों को इसी मैथुन आनन्द का ही रूपान्तर समझता है। वह विश्ववासना है और उस विश्व-वासना की मूर्ति 'स्त्री' है। यही कारण है कि 'कौल मत' में 'स्त्री' को गौरवमय महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि वह समस्त तान्त्रिक साधनाओं के मूल में हैं।

सभी वासनाओं और सभी वृत्तियों के मूल में 'काम' के होने के कारण ही 'काम' को आदिदेव अथवा कामदेव की संज्ञा मिली। वैदिक दृष्टि से आदिदेव, कामदेव, महादेव यानी शिव हैं। इसीलिए कौलमतावलम्बी समस्त सृष्टि के मूल में शिव-शक्ति सम्बन्ध घोषित करते हैं—'शिवशक्ति-समायोगाद् जायते सृष्टिकल्पना'। आदि वासना निस्सन्देह कौल मत में वही है जो आध्यात्मिक रूप में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध अथवा आकर्षण में द्योतित होता है अथवा शारीरिक रूप में जो स्त्री-पुरुष के सम्भोग में

परिणत होता है। कौल मत की दृष्टि में 'काम' अस्तित्व का काम नहीं है, वह स्त्री-पुरुषसम्बन्धात्मक है। उसका कहना है—समस्त जगत् शैव-शाक्त जगत् है, जिसकी उत्पत्ति शक्ति और शक्तिमान् से हुई है। स्त्री-पुरुष से विश्व उत्पन्न हुआ है और 'स्त्री' पुंसात्मक ही है। परमात्मा शिव है तो माया शिवा है। पुरुष परमेश्वर हैं तो प्रकृति परमेश्वरी हैं। शिव कामेश्वर हैं तो शक्ति कामेश्वरी हैं। सभी पुरुष परमेश्वर और सभी स्त्रियाँ परमेश्वरी हैं और हैं कामेश्वर और कामेश्वरी। इन दोनों का मिथुनात्मक सम्बन्ध ही मूल वासना है। वही मूल आकर्षण है अथवा काम है। निस्सन्देह 'कौल मत' की आध्यात्मिक भावना और दार्शनिक दृष्टि अत्यन्त गहरी और अति सूक्ष्म है। जैसे शिव-शक्ति के संयोग से सृष्टि हुई है, वैसे ही उसी के फलस्वरूप शब्द की और अर्थ की उत्पत्ति हुई है और निवृत्ति शक्ति तथा प्रवृत्ति शक्ति भी निष्पन्न हुई है। शब्द की निष्पत्ति और जप को भी मैथुन संज्ञा से ही स्पष्ट किया गया है। जप करने वाले साधक के दोनों ओठ-जुटों में एक शिव और दूसरा शक्ति है। ओंठो का जो हिलना है वही दोनों का मैथुन है। उससे निकलने वाला शब्द विन्दु (वीर्य) का स्वरूप है और उससे उत्पन्न होने वाला देवता साधक के लिए पुत्र के समान है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौल मत ने ही सर्वप्रथम यह बतलाया कि पिण्ड (मानव-शरीर) ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। इस सम्बन्ध में उसका यह 'ब्रह्माण्डेऽप्यस्ति यत्किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा' बहुत बड़ा सिद्धान्त है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी रूप में मानव-पिण्ड में विद्यमान है। विश्व में सर्वाधिक विकसित और सर्वश्रेष्ठ शरीर मात्र मानव-शरीर है। इसीलिए उसे दुर्लभ बतलाया गया है। पंचतत्त्वों से निर्मित मानव-शरीर में तीन तत्त्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं--प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व और विन्दुतत्त्व। ये तीनों तत्त्व कौलमतावलम्बियों की यावत् योगतान्त्रिक साधना के आधार हैं। अस्तु ! कहने की आवश्यकता नहीं, मानव-देह की श्रेष्ठता स्वीकार करने के फलस्वरूप अपने देश के इतिहास में कौल-साधना किसी समय अत्यन्त प्रबल थी। उसी काल में मानव-शरीर को दो कारणों से सर्वाधिक महिमा मिली। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद बड़े पुण्य से यह चौरासी अंगुल का मानव-शरीर प्राप्त होता है। समस्त विश्व में व्याप्त चिन्मयी पराशक्ति अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ मानव-शरीर का ही आश्रय लेकर प्रकट करती हैं। वैसे विष्णु के अनेक अवतार हुए, लेकिन जो अवतार सर्वाधिक मानवीय है—राम, कृष्ण, बुद्ध—उन्हीं का आश्रय लेकर हमारे देश की सारी धर्मसाधना और काव्यसाधना विकसित हुई। यह पहला कारण है।

तत्त्ववेत्ता मनीषियों ने अपने अनुभव के आधार पर बतलाया कि परमेश्वर अथवा भगवान् को बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, उसका वास्तविक

आवासस्थल एकमात्र मानव-शरीर ही है। कौल मत द्वारा इस विचार को और इस धारणा को उस समय और अधिक बल मिला जब परम तत्त्व के दो रूप 'अहम्' और 'इदम्' की कल्पना 'शिव' और 'शक्ति' के रूप में की गयी और यह बतलाया गया कि मानव-शरीर के दो भाग हैं—कण्ठस्थान से ऊपर का भाग ज्ञानखण्ड और नीचे का भाग कर्मखण्ड है। ज्ञानखण्ड में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मखण्ड में कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानखण्ड का मूल केन्द्र सहस्रार चक्र है और कर्म-खण्ड का मूल केन्द्र है मूलाधार चक्र। पहले चक्र में शिव का वास है और दूसरे चक्र में वास है शक्ति का। शिव कामेश्वर है और शक्ति कामेश्वरी है। पहला परमेश्वर है और दूसरा है परमेश्वरी। इसी प्रसंग में कौल मत ने यह भी स्पष्ट किया कि मूलाधार चक्र में बाल से भी पतला—सर्प की कुण्डली की तरह घूमा हुआ गोलाकार एक नाड़ीतन्तु है—उसी तन्तु में वह महा-जीवनी शक्ति प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है। तन्तु का रूप सर्प की कुण्डली के समान होने के कारण कौल मत ने उस परम शक्ति को नाम दिया 'कुण्डलिनी शक्ति।'

कुण्डलिनी-शक्ति उस आदिशक्ति का व्यष्टि रूप है, जो समष्टि रूप में सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में चैतन्य और क्रियाशील है। जहाँ तक कुण्डलिनी-शक्ति की प्रसुप्तावस्था की बात है, तो उसके सम्बन्ध में यह बतला देना आवश्यक है कि मातृगर्भस्थ शिशु में वह जाग्रत् रहती है, लेकिन जैसे ही शिशु भूमिगत होता है, वह निद्रित हो जाती है। एक बात और है, वह यह कि मनुष्य की जाग्रत् अवस्था में कुण्डलिनी-शक्ति प्रसुप्त रहती है और स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था में तन्द्रिल रहती है। पहली अवस्था में उसका सम्बन्ध स्थूल-शरीर से और दूसरी अवस्था में सूक्ष्म-शरीर से रहता है और जब साधना के बल से जाग्रत् और चैतन्य होती है तो उसका सम्बन्ध कारण-शरीर से हो जाता है।

जैसा कि स्पष्ट है कौल मत का मुख्य लक्ष्य है—'अद्वैत-लाभ', जिसका तात्पर्य है जीवभाव से मुक्ति और अन्ततः परम निर्वाण। लेकिन अद्वैत-लाभ निहित है शरीरस्थ शिव-शक्ति के मिलन में, सामरस्य में और योग में। इसी को कुण्डलिनी योग की संज्ञा दी गयी है। समस्त योगों में यही एक ऐसा योग है जो तंत्र के गुह्य आयामों पर आधारित है, इसीलिए इसे महायोग अथवा परमयोग कहा गया है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पातञ्जलयोग जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से कुण्डलिनी योग प्रारम्भ होता है।

कुण्डलिनी योग-साधना के मुख्य चार चरण हैं। प्रथम चरण में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, दूसरे चरण में कुण्डलिनी-शक्ति का उत्थान, तीसरे चरण में चक्रों का क्रमशः भेदन और अन्तिम चौथे चरण में सहस्रार स्थित शिव के साथ सामरस्य अथवा महामिलन होता है। इन चारों चरणों की साधना योग-तंत्र की बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होती है। कौल

मत मुख्यतः दो भागों में विभक्त है, जिसे पूर्वकौल और उत्तरकौल कहते हैं । पूर्वकौल समयाचारी साधना-मार्ग है और उत्तरकौल वामाचारी साधना-मार्ग है । दोनों मार्ग में शक्ति के प्रतीक 'योनि' की पूजा है । जैसा कि कौल-मतावलम्बियों का कहना है—'योनिपूजां विना पूजा कृतमप्यकृतं भवेत्' । लेकिन पहले मार्ग के अनुयायी श्रीयंत्र में रेखांकित योनि की पूजा करते हैं, जब कि दूसरे मार्ग के अनुयायी प्रत्यक्ष योनि के उपासक होते हैं । दोनों मार्ग की साधना का आचार पंचमकार है । मगर पहले में वह प्रतीक रूप में है और दूसरे में हैं प्रत्यक्ष रूप में ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वामाचारी साधना-मार्ग अत्यन्त कठिन और दुरूह है । इस पर चलना सभी के बस की बात नहीं । 'वामा' का अर्थ है 'स्त्री' । इस मार्ग की यावत् साधना का आचार 'स्त्री' के होने के कारण ही इसे 'वामाचार' की संज्ञा दी गयी है । साधना की दृष्टि से स्त्री के साथ जो आचरण किया जाता है वह है—'वामाचार' । इसीलिए कहा गया है—'वामाऽऽचारः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।' यह मार्ग स्पष्ट रूप से कहता है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य योनिपूजारतो भवेत्' (प्राणतोषिणी) । 'स्त्री' कोई भी जाति अथवा धर्म की हो, वह योगतांत्रिक दीक्षा से साधक के लिए साधना योग्य हो जाती है—'दीक्षामात्रेण शुद्ध्यन्ति स्त्रियः सर्वत्र कर्मणि' ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वामाचारी साधना-मार्ग प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है । बाह्य क्रियाओं का आश्रय लेकर साधना की आन्तर भूमि में प्रवेश करता है । जैसा कि 'रुद्रयामल' में कहा गया है—

'वामे चन्द्रमुखी च मदिरापात्रं कराम्भोरुहे
मूर्ध्नि श्रीगुरुचिन्तनं भगवतीध्यानास्पदं मानसम् ।
जिह्वाया जपसाधनं परिणतिः कौलक्रमाभ्यागमे
येषां वै नियतं पिबन्तु सुरसन्ते भुक्तिमुक्तिः गताः ॥
वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे चालिपात्रम्
अग्रे मुद्राश्चणकवटकाः शूरणश्चौष्ठशुद्धिः ।
तन्त्री वींणा सरसमधुरा सद्गुरुः सत्कथायां
वामाऽऽचारः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' ॥

ऐसी वासनात्मक स्थिति में रहते हुए भी जो विचलित नहीं होता, वह योगी है ।

कौलमत की वाममार्गीय साधना के विषय में 'वीरचूडामणि' में कहा गया है—

'आनीय युवतीं रम्यां कुलकर्मविलासिनीम् ।
षोडशाब्देन युवतीं पीनोन्नतपयोधराम् ॥

उन्मत्तां मत्तमातङ्गीं सदा घूर्णितलोचनाम् ।
मृगशावकनेत्रां च सारङ्गीं मृदुहासिनीम् ॥
क्रोध-लोभ-दया-दम्भ-मोह-मायाविवर्जिताम् ।
स्वामिधर्मरतां सत्यवादिनीं च सदा शुचिम् ॥
गणिकां नटीं चाण्डालीं जीवनीं जारजामथ ।
योगमुद्राधरां गोपीं चर्मकारीं च चित्रिणीम् ॥
चतुर्वर्णसमायुक्ताम् उत्तमां पर्वतोद्भवाम् ।
रक्तचन्दनलिप्ताङ्गीं रक्तपुष्पविभूषिताम् ॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तां विवस्त्रां पूजयेत् प्रिये ।
वारुणीं मदमत्तां च हावभावसमावृताम् ॥
यावदाकण्ठपर्यन्तं तावत् पाने प्रदापयेत्' ।

इसके बाद स्त्री के समस्त अंगों की अलग-अलग पूजा का वर्णन है। जो क्षोभिणी मुद्रा द्वारा स्त्री के साथ युगनद्ध होकर सम्पन्न होता है, इसकी प्रशंसा में कहा गया है—

'एवं कृत्वा च तत्सिद्धिस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभा' ।

इस मार्ग में 'स्त्री' को महाशक्ति का साकार रूप मानकर उसके दो भेद किये गये हैं—जो दीक्षा-प्राप्त है वह शुद्धा है और जो अदीक्षित है वह 'माया' है। यावत् साधना और सिद्धि के मूल में 'शुद्धा' है। इसी मार्ग की साधना-भूमि में 'चक्र-पूजा' का सर्वाधिक महत्त्व है। इसलिए कि इसी पूजा के द्वारा साधना-मार्ग में नवदीक्षित साधक-साधिका का प्रवेश होता है। कौलावली निर्णय में चक्रपूजा का उल्लेख इस प्रकार है—

'ॐ वामां वामकरे सुधाञ्च अधरे मन्त्रं जपन्मानसे ।
वीणा वेणुरवा यन्त्रं विधिवत् गायन्ति पञ्चो रसः ॥
क्रीडा केलिकुतूहलेन कमलालावण्यलीलो रसः ।
पानोल्लासबिलासपूर्णसमये पात्रञ्च एकादशम्' ॥

फिर कहा गया है—

'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा च महीतले ।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' ॥

साधना-भूमि में भोग द्वारा योग को उपलब्ध साधक आनन्दविभोर होकर कहता है—

'वामे रामा रमणे कुशलां दक्षिणे पानपात्रम्
मध्ये न्यस्ते मरीचसहितं शूकरस्योष्णमांसम् ।
स्कन्धे वीणा ललितसुभगां सद्गुरूणां प्रपञ्चः
कौलो धर्मः परमगहनो योगिनीनामप्यगम्यः' ॥

उस स्थिति में साधक के आध्यात्मिक चिन्तन का स्वरूप इस प्रकार है—

'नाहं कर्ता कारयिता न च कार्यं
नाहं भोक्ता भोजयिता न च भोज्यम् ।
नाहं दुःखीं दुःखयिता न च दुःखं
सोऽहं प्रत्यक् चित्स्वरूपोऽहमात्मा' ।।

अन्त में साधना-भूमि में साधक आत्मविभोर होकर कहता है—

'यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।
श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव' ।।

निस्सन्देह कौलमत का यह वामाचारी साधना-मार्ग योगियों के लिए भी अगम्य और दुरूह है। पूर्ण रूप से शक्तितत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाली यह परम गोपनीय साधना प्रत्यक्ष रूप में यौनवाद पर आधारित दृष्टिगोचर होती है। उसकी प्रत्येक क्रिया में यौनाचार अथवा वासना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। लेकिन उसकी पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से दार्शनिक और आध्यात्मिक है। निवृत्ति, विरक्ति, निस्पृहता, अनासक्ति और परम वैराग्य से पूर्णरूपेण भरी हुई है वह पृष्ठभूमि; इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए कुण्डलिनी योग को महायोग और पूर्ण योग कहते हैं। योग के विभिन्न आयामों में कुण्डलिनी योग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी समझा जाता है। क्योंकि कुण्डलिनी योग की साधना में सर्वाधिक प्रकार के व्यक्तित्वों का अन्तर्विकास समाहित हो जाता है। कुण्डलिनी योग की अन्तर्यात्रा स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म का भी अतिक्रमण कर परम सत्य तक पहुँचाती है। कुण्डलिनी-योगसाधना में व्यक्तित्व की समस्त सम्भावनाओं का सर्वांगीण विकास होता है। वह अपने विकास की ऊँचाइयों में योग के अनेक आयामों को और विविध प्रक्रियाओं को अपने में समाहित कर लेती है। इसीलिए इस साधना को सिद्धयोग और महायोग की भी संज्ञा दी गयी है। निश्चय ही कुण्डलिनी-साधना आन्तरिक रूपान्तरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसमें अस्तित्वगत रूपान्तरण होता है और अन्त में व्यक्ति खो जाता है—अनन्त रहस्यमय अस्तित्व में—एकरस हो जाता है—जीवन के स्रोत में—जीवन की सारी सीमाएँ, विरोध, द्वन्द्व और पीडाएँ समाहित और शान्त हो जाती हैं उस परम सत्य की उपलब्धि में।

कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, सातत्ययोग आदि जितने भी योग हैं उन सबका कुण्डलिनी योग में समावेश है। इसीलिए इसे दिव्ययोग भी कहते हैं। लेकिन इसके साधना-मार्ग की धूल पर शताब्दियों बाद किसी भूले-भटके व्यक्ति के पदचिह्न अंकित होते हैं। अस्तु ! आज जीवन्त धर्म व साधना के अभाव में सारी मनुष्यता पागलपन और विनाश के कगार पर खड़ी है। धर्म और अध्यात्म की ऊँचाइयाँ और दिव्य पुरुषों की बातें कपोलकल्पित कथाएँ

प्रकरण : सात पृष्ठ ९९-११२

वह वेदना और करुणामय दृश्य। वह हृदयविदारक कारुणिक दृश्य। ज्योतिर्मयी की आत्मा से सम्बन्ध। वह रहस्यमय कापालिक।

प्रकरण : आठ पृष्ठ १०८-१२३

वह अवर्णनीय दृश्य। निमाई पण्डित।

प्रकरण : नौ पृष्ठ १२४-१३६

कापालिक माधवानन्द। निमाई पण्डित से चन्दन कुमार की भेंट। लक्ष्मी और चन्दन कुमार का प्रेमप्रसंग।

प्रकरण : दस पृष्ठ १३७-१४८

वह लोमहर्षक दृश्य। शोध और अनुसंधान में ज्योतिर्मयी का सहयोग। योगी कालीपद गुहाराय। शरीर और चक्र।

प्रकरण : ग्यारह पृष्ठ १४८-१६०

सक्रिय चक्र हमारे आन्तरिक स्वरूप और व्यक्तित्व के परिचायक। वह कृष्णवर्णा कन्या कौन थी?

प्रकरण : बारह पृष्ठ १६१-१७४

साधिका योगमाया। सिद्ध योगाश्रम ज्ञानगंज मठ। स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव का सूर्यविज्ञान और उसका चमत्कार। म० म० गोपीनाथ कविराज। कुण्डलिनी-शक्ति के सम्बन्ध में चर्चा।

प्रकरण : तेरह पृष्ठ १७५-१८५

आकाशचारी कुलानन्द परमहंसदेव। ज्ञानगंज मठ का आध्यात्मिक वातावरण। योगियों का स्थूलशरीर में बने रहने का कारण। दीक्षा-कक्ष का वह रहस्यमय दीप।

प्रकरण : चौदह पृष्ठ १८६-१९३

साधक वामाचरण घोषाल। परामानसिक चेतना का महत्त्व। चेतन मन और अचेतन मन। परामनोविज्ञान का आविर्भाव। जब परामनोविज्ञान को वैज्ञानिक मान्यता मिली। मन एक रहस्यमय प्रसार-केन्द्र। मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगें।

प्रकरण : पन्द्रह पृष्ठ १९४-२०१

साधक राखालचन्द्र भट्टाचार्य। कुण्डलिनी-शक्ति में वैज्ञानिक दृष्टि।

प्रकरण : सोलह पृष्ठ २०२-२०८

योगी शशिभूषण गोस्वामी। कुण्डलिनी-योगसाधना। जीवन का वास्तविक सुख। ध्यान। राजयोग और ज्ञानयोग।

प्रकरण : सतरह पृष्ठ २१०-२१७

योगतांत्रिक साधना की सर्वोच्च अवस्था समाधि। योगविधान :

वैज्ञानिक कसौटी पर। योगविधान : एक दूसरा पक्ष। धर्ममेघ समाधि।

प्रकरण : अठारह पृष्ठ २१८-२२८

कर्म और धर्म। शरीर के द्वारा कर्म और मन के द्वारा कर्म। किसी भी कर्म के लिए आत्मा की उपस्थिति अनिवार्य। समाधि में सारा जीवन स्वप्नवत्। कैवल्य की उपलब्धि। धर्ममेघ समाधि की उपलब्धियाँ।

प्रकरण : उन्नीस पृष्ठ २२९-२३९

कुण्डलिनी-शक्ति और स्त्रैण गरिमा। कीर्ति, धृति और क्षमा। मौन की अपनी गरिमा। धीरज, धैर्य, स्थिरता।

प्रकरण : बीस पृष्ठ २४०-२४६

सर्वोपरि कुण्डलिनी-साधना। मन का महाभारत। स्वधर्मे निधनं श्रेयः।

उत्तरपीठ

प्रकरण : इक्कीस पृष्ठ २४९-२५९

संन्यासिनी पद्माभारती। सत्संग। सत्य और परम सत्य। ध्यान में घटित घटनाएँ : विशिष्ट आन्तरिक रूपान्तरणों के लक्षण। आसनों और मुद्राओं से क्या चित्त में परिवर्तन सम्भव है। केवल आसन-मुद्राओं के अभ्यास से चित्त-परिवर्तन का भ्रम। आन्तरिक रूपान्तरण की ध्यानप्रक्रिया : योगविद्या का स्रोत। योगासन और मुद्राओं का सहज प्रकटीकरण। ध्यानसाधना द्वारा नृत्यविद्या का जन्म। मानव-शरीर में ऊर्जा का विपुल भण्डार। वह विचित्र अनुभव।

प्रकरण : बाईस पृष्ठ २६०-२८२

स्थूलशरीर और मूलाधार चक्र की सम्भावनाएँ। वासनालोक और तामसिक वृत्तियाँ। एक चमत्कारी घटना। साधक सिद्धेश्वर गोस्वामी। भावशरीर और स्वाधिष्ठान चक्र की सम्भावनाएँ। षट्-चक्र-भेदन का उद्देश्य। सूक्ष्मशरीर और मणिपूरक चक्र की सम्भावनाएँ। एक अन्धे व्यक्ति की जिज्ञासा और गीता का आरम्भ। क्या संजय को दूरदृष्टि और दूरश्रवण की शक्ति उपलब्ध थी। दुर्योधन, अर्जुन और श्रीकृष्ण। भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अदृश्य। अज्ञात की क्या इच्छा है? उसे कैसे जाना जा सकता है? जब अज्ञात उतरता है।

प्रकरण : तेईस पृष्ठ २८३-२९९

मनोमय शरीर और अनाहत चक्र की सम्भावनाएँ। साधक स्वरूपानन्द ब्रह्मचारी। संकल्पशक्ति का चमत्कार। स्थूलजगत्, भावजगत् और मनोमय जगत्। मनोमय जगत् में प्रवेश के पूर्व। पारदर्शक मनोमय शरीर में प्रवेश। मनोमय जगत् के निवासियों के बीच। दुर्लभ सिद्धि की उपलब्धि। श्मशान की रहस्यमयी भैरवी। जब श्मशानभैरवी अपने पार्थिव शरीर में प्रकट हुई। वह अपूर्व सौन्दर्य। महातंत्रसाधक कापालिक और आकाशचारी तारादास की भैरवी सुलोचना। कापालिक तारादास। जब सुलोचना तारादास की भैरवी बनी। जब वासना अभिशाप बन गयी।

प्रकरण : चौबीस-पच्चीस पृष्ठ ३००-३१५

परमतत्त्व, शिव, शक्ति और कामकला। जड़तत्त्व और चेतनतत्त्व। सहस्रार चक्र और अमृतक्षरण। शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु। नारीमहाशक्ति का स्वरूप। स्त्री-पुरुष का विद्युत् चुम्बकीय शरीर। सुलोचना का महाप्रयाण।

प्रकरण : छब्बीस पृष्ठ ३१६-३२८

पद्माभारती का शरीर त्याग। स्थूलशरीर, भावशरीर और सूक्ष्मशरीर का विकास। मनःशरीर। आत्मशरीर। ब्रह्मशरीर। निर्वाणशरीर। कुण्डलिनी-साधना की विशेषता। मोक्ष क्या है? भौतिक विषयों की तृप्ति आवश्यक है।

प्रकरण : सत्ताईस पृष्ठ ३२८-३४४

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी जीवन। सत्य की उपलब्धि आत्मा। अमृतत्व की उपलब्धि। वह युवती कौन थी? स्वामी योगानन्द परमहंस। योगविज्ञान। अद्‌भुत चमत्कार।

प्रकरण : अट्ठाईस पृष्ठ ३४५-३६२

आत्मशरीर की ओर। आत्मा एक तत्त्व है। योगी और सत्य। साधक अखिलेश्वर ठाकुर। योग के विभिन्न मार्ग। साधिका ज्योतिर्मयी। साधिका आरती। आत्मशरीर की उपलब्धि।

प्रकरण : उनतीस पृष्ठ ३६३-३७५

तारापीठ का वह रहस्यमय योगी। आत्मशरीर की उपलब्धि। तंत्रसाधक ताराचन्द्र।

प्रकरण : तीस पृष्ठ ३७६-३९०

तारापीठ की वह रहस्यमयी भैरवी। आत्मवाद, विज्ञानवाद और रहस्यवाद। आत्मतत्त्व। ब्रह्मशरीर और आज्ञाचक्र की सम्भावनाएँ।

तीसरा नेत्र । ब्रह्मज्ञान और निर्वाण । रहस्यमयी गुफा और गुप्त गर्भ-गृह । वह कालञ्जयी महात्मा और आध्यात्मिक वातावरण । अर्चना का भव्य भैरवी स्वरूप । योगिनी दीक्षा । अर्चना की अग्निसमाधि ।

प्रकरण : एकतीस पृष्ठ ३९१-४०२

शरीर से आत्मा की ओर । सम्प्रदाय और धर्म ।

प्रकरण : बत्तीस पृष्ठ ४०३-४१४

भोग से योग की ओर । स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव । साधिका आरती । पाँचवें शरीर के बाद रहस्य का प्रारम्भ । परमशून्य अवस्था । निर्वाणशरीर की उपलब्धि । आरती की महासमाधि ।

प्रकरण : तैंतीस पृष्ठ ४१५-४३१

वह रहस्यमयी तान्त्रिक संन्यासिनी । हम और हमारा जीवन । जीवन का लक्ष्य । तांत्रिक संन्यासिनी का रहस्यमय व्यक्तित्व । गीता का अठारह अध्याय, अठारह योग, छः प्रकार का शरीर ।

प्रकरण : चौंतीस पृष्ठ ४३२-४४७

परामानसिक जगत् और कुण्डलिनी । साधक भवानीशंकर भादुड़ी ।

प्रकरण : पैंतीस पृष्ठ ४४८-४६१

स्थूल से सूक्ष्म की ओर । सिद्ध महापुरुष गोपालचन्द्र न्याय-चूड़ामणि । महात्मा सत्यानन्द गिरि ।

प्रकरण : छत्तीस पृष्ठ ४६२-४७३

हमारा भावशरीर और सूक्ष्मशरीर । आणविक ऊर्जा । मनुष्यात्मा और प्रेतात्मा में अन्तर ।

प्रकरण : सैंतीस पृष्ठ ४७४-४८६

हमारा मनोमय शरीर । प्रेतलीला का रहस्य । साधक धीरेन्द्र ब्रह्मचारी । लामा वोंग । मन का स्वतन्त्र अस्तित्व । मन : अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्–दोनों का स्वामी । स्वामी महेश्वरानन्द ।

प्रकरण : अड़तीस पृष्ठ ४८७-५०२

मानसिक जगत् और विचारशक्ति । ध्यान में मन का अस्तित्व । ध्यान और निर्विचार अवस्था । शब्दविज्ञान ।

प्रकरण : उनतालीस पृष्ठ ५०३-५१५

गिरिनार की कापालिक भैरवी । कुण्ड एवं कुण्डलिनी । सुषुम्ना नाड़ी । त्रिकोण पीठ । मन, प्राण और विचार के रूप । निर्जरा अवस्था ।

प्रकरण : चालीस पृष्ठ ५१६-५२६

वक्रेश्वर श्मशान की भैरवी । विचारशक्ति की अनन्त सम्भावनाएँ । मानव-जीवन में निद्रा का महत्त्व ।

प्रकरण : एकतालीस पृष्ठ ५२७-५३७

कौन थी वह रहस्यमयी भैरवी ?

प्रकरण : बयालीस पृष्ठ ५३८-५४८

मानव-देह का महत्त्व और शब्दशक्ति। ब्रह्म का प्रतीक 'ओम्'। ध्वन्यात्मक शब्द। स्थूल और सूक्ष्म शब्द। परा और पश्यन्ति। मध्यमा और वैखरी। शब्दगण 'ओम्'। आत्मा की चार अवस्थाएँ। तुरीयावस्था।

प्रकरण : तैंतालीस पृष्ठ ५४९-५५८

जाग्रत् अवस्था से तुरीयावस्था में प्रवेश। स्वप्न में योगिनी माँ का दर्शन। योगिनी माँ की रहस्यमयी समाधि। एक विचित्र स्थिति की अनुभूति। स्वप्न-जीवन और जगत् में प्रवेश। स्वप्न-वासना का जगत्। स्वप्न के दो प्रकार। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में काल का अन्तर। नाचिकेता मार्ग और अर्चि मार्ग। योगिनी माँ का दिव्य शरीर। एक योगी की अनुभव-कथा। आत्माएँ पृथ्वी की सीमा से बाहर निकल नहीं पाती।

प्रकरण : चौवालीस पृष्ठ ५५९-५६८

दैवी ऊर्जा और पृथ्वी की मेरुप्रभा। मेरुप्रभा। पृथ्वी का चुम्बकत्व। दोनों ध्रुवों में भिन्नता। मेरुप्रकाश के विभिन्न रूप। सूर्य की विद्युतीय शक्ति और पृथ्वी। मेरुप्रकाश का ऋतुओं से सम्बन्ध। ऊर्जा-तत्त्व और नवरात्रि। देवी की प्राणप्रतिष्ठा और बलिविधान। वायुमण्डल की रहस्यमयी ध्वनियाँ। मनुष्य और उसका पुरुषार्थ क्षुद्र है। रहस्यमय योगाश्रम।

प्रकरण : पैंतालीस पृष्ठ ५६९-५७९

काशी की वह रहस्यमयी तन्त्रसाधिका। सूक्ष्म शब्द। मंत्रशास्त्र का आविर्भाव। मंत्रचैतन्य और मंत्रजागरण। मंत्र और देवता। यंत्र, मंत्र और तंत्र। शब्द और मंत्र का वैज्ञानिक स्वरूप। शब्द और मन्त्र की शक्ति। स्नायुमण्डल पर शब्दों का प्रभाव। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्दशक्ति का मूलाधार।

प्रकरण : छियालिस पृष्ठ ५८०-५९०

मन्त्रशक्ति और उसका चमत्कार। मन्त्र के द्रष्टा। तीन प्रकार के मन्त्र और उनके फल। मन्त्र के प्रकार और भेद। मन्त्र का उच्चारण। मन्त्र चैतन्य अथवा जागरण का समय। मन्त्रों का पुरश्चरण। मालाभेद। साबरी मन्त्र का अद्भुत चमत्कार।

उपसंहार पृष्ठ ५९१-५९२

वस्तुपरक जगत् एवं आत्मपरक जगत्।

पूर्वपीठ

कुण्डलिनी साधना आन्तरिक रूपान्तरण व जागरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

भारतीय योगविद्या ने ही बौद्ध साधना, इस्लाम साधना, सूफी साधना, ताओ साधना, क्रिश्चियन साधना के रूप में पूरे विश्व की यात्रा की है। योग के विविध आयामों में कुण्डलिनी साधना सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण व उपयोगी सिद्ध हुई है।

सत्य की खोज—जीवन के अस्तित्व के रहस्यों की खोज है। जीवन है, जगत् है, अस्तित्व है, होश है, इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है, लेकिन इन सबके होते हुए भी जीवन का सत्य अज्ञात और अपरिचित है। उससे परिचित कराना कुण्डलिनी योग का लक्ष्य है।

॥ श्रीः ॥

कुण्डलिनी-शक्ति

प्रकरण : एक

रहस्यमयी शक्तियाँ

हमारे भीतर असीम रहस्यमयी अलौकिक शक्तियाँ भरी पड़ी हैं और उनकी अनन्त सम्भावनाएँ भी छिपी हुई हैं। हमें उन शक्तियों को और उनकी सम्भावनाओं को जानना और समझना चाहिए। जब तक हम उन्हें जाने और समझेंगे नहीं, तब तक हमारी इन्द्रियाँ उन सीमाओं से बँधी रहेंगी, जो हमको अपनी आश्चर्यजनक और अलौकिक शक्तियों के प्रयोग से रोकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति निस्सन्देह असीम रहस्यमयी अलौकिक शक्तियों का भण्डार है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह स्वयं के भीतर छिपे उस गुप्त भण्डार से जीवन भर अपरिचित ही रहता है। कभी उन्हें जानने-समझने अथवा उनसे लाभ उठाने का प्रयास ही नहीं करता।

और यही एकमात्र कारण है कि जब मैं रहस्यमय आध्यात्मिक विवरणों, चमत्कारपूर्ण तथ्यों और अलौकिक घटनाओं के आधार पर अपनी आँचलिक भाषा में योगतन्त्र के गूढ़ और गोपनीय सत्यों को लिपिबद्ध करता हूँ तो उन्हें पढ़कर साधारणत: लोग यही समझने लग जाते हैं कि कल्पना की यह बहुत ऊँची उड़ान है या फिर बिलकुल ही अलौकिक वस्तु है जिसे हर कोई सरलता से प्राप्त नहीं कर सकता।

लोगों की इस प्रकार की धारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय में भारतीय चेतना कितनी ह्रासोन्मुख है और कितना संकीर्ण हो गया है बौद्धिकता का क्षेत्र ?

यह ठीक है कि विषयों को प्रस्तुत करते समय मैं जिन आध्यात्मिक नियमों का प्रयोग करता हूँ वे इतने सामान्य एवं सरल नहीं होते। लेकिन फिर भी हैं तो नियम हीं।

मैं अपने गहन चिन्तन, मनन, अध्ययन और समय-समय पर हुए रहस्यमय अनुभवों का आश्रय लेकर जिन अलौकिक अथवा पार-लौकिक घटनाओं और अविश्वसनीय एवं विलक्षण गुह्य प्रसंगों को प्रस्तुत करता हूँ, वे वास्तव में न

आध्यात्मिक नियमों के विरुद्ध होते हैं और न तो प्रकृति के सिद्धान्तों के विपरीत ही।

० ० ०

मनुष्य के भीतर छिपी हुई वे रहस्यमयी अलौकिक शक्तियाँ क्या हैं? और उनका मूलस्रोत क्या है? इसे जानना आवश्यक है। इसलिए कि योग और तन्त्र की जितनी भी साधनाएँ हैं, वे सब उन्हीं पर आधारित हैं। सच पूछा जाय तो उन्हीं की साधना है। योग और तन्त्र का आश्रय लेकर मनुष्य को उसके शरीर में स्थित उन अव्यक्त शक्तियों का साक्षात्कार करा देना ही भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। जो मनुष्य मानव-शरीर ग्रहण कर इस लक्ष्य को प्राप्त न कर सका तो सच पूछिये उसका जीवन समस्त भौतिक सुख और ऐश्वर्य के बावजूद भी व्यर्थ ही चला गया।

उक्त लक्ष्य की सिद्धि वास्तव में परम पुरुषार्थ है। और उस परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन मनुष्य है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में कुछ भी नहीं है।

प्रकृष्ट विज्ञान

योगतन्त्र एक प्रकृष्ट विज्ञान है और उस विज्ञान के अनुसार विश्व ब्रह्माण्ड के मूल में केवल एक तत्त्व है, जिसे 'परमतत्त्व' कहते हैं। सृष्टि के प्राक्काल में वही परमतत्त्व दो भागों में विभक्त होकर 'शिव' और 'शक्ति' पद का वाचक होता है।

शिव क्या है? शक्ति क्या है? यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वे दोनों ही ब्रह्माण्डीय मौलिक ऊर्जा से सम्बद्ध हैं। जिनका मूलस्रोत एकमात्र वह परमतत्त्व है।

सृष्टि और सृष्ट पदार्थों के मूल में तरंगायमान शक्ति एकमात्र कारण है। यह भौतिक विज्ञान की धारणा है। लेकिन यह नवीन नहीं है। वास्तव में यह धारणा योगतन्त्र विज्ञान की देन है। अब ध्वनितरंग को प्रकाश-तरंगों में और प्रकाश-तरंगों को ध्वनितरंगों में परिवर्तित करना सरल हो गया है। यह भौतिक विज्ञान की सबसे बड़ी और विलक्षण उपलब्धि है। लेकिन उसे भी नवीन अथवा मौलिक नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि प्राचीन काल में योग और तन्त्र के आचार्य इस कला से पूर्णतया परिचित थे। योगतन्त्र के दो शब्दों पर ध्यान देना होगा। पहला शब्द हैं 'नाद' और दूसरा शब्द है 'बिन्दु'। कहने की आवश्यकता नहीं कि योग और तन्त्र की समस्त साधनाएँ इन्हीं दोनों पर आधारित हैं। नादतत्त्व और बिन्दुतत्त्व उस परमतत्त्व के ही दो मौलिक रूप हैं। नाद का मतलब है ध्वनि और बिन्दु का मतलब है प्रकाश। नादतत्त्व से बिन्दुतत्त्व का आर्विभाव योगतन्त्रोक्त है। इस समय भौतिक

विज्ञान इस दिशा में बराबर प्रगति कर रहा है, इसमें सन्देह नहीं। पदार्थों के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान की नवीनतम अवधारणा ऊर्जामूलक है। ऊर्जा दो प्रकार की है—स्थितिशील ऊर्जा और गतिशील ऊर्जा। विज्ञान की भाषा में इन दोनों प्रकार की ऊर्जाओं को क्रमशः 'स्टैटिक एनर्जी' और 'डाइनैमिक एनर्जी' कहते हैं। स्टैटिक एनर्जी अर्थात् स्थितिशील ऊर्जा ही पदार्थ है। डाइनैमिक एनर्जी अर्थात् विमुक्त या गतिशील ऊर्जा अमूर्त है। योगतन्त्र स्थितिशील ऊर्जा (स्टैटिक एनर्जी) को 'शिव' और गतिशील ऊर्जा (डाइनैमिक एनर्जी) को 'शक्ति' कहता है। उसके अनुसार शिव और शक्ति के समन्वय अथवा संयोग से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि हुई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये दोनों ब्रह्माण्ड की मौलिक ऊर्जाएँ हैं।

० ० ०

भारतीय दर्शनों में एक दर्शन है—'प्रत्यभिज्ञादर्शन'। इस महत्त्वपूर्ण दर्शन शास्त्र का जो महत्त्वपूर्ण विज्ञान है, वह है—स्पन्द विज्ञान। स्पन्द विज्ञान अत्यन्त रहस्यमय विज्ञान है। इसका एक विषय है—'अन्तरिक्ष'। इसलिए उसके रहस्यमय तथ्यों को अन्तरिक्ष विज्ञान की दृष्टि से ही समझा जा सकता है।

स्पन्द-विज्ञान के अनुसार जिसे हम 'आकाश' कहते हैं, यह अवकाश का वह स्वरूप है, जिससे बिन्दुतरंगें यानि प्रकाशतरंगें चलती हैं। जिसे हम 'नम' कहते हैं; यह आकाश का वह स्वरूप है, जिससे नाद तरंगें यानि ध्वनि-तरंगें चलती हैं। व्याकरण के अनुसार 'नम' धातु का अर्थ है—'ध्वनि'।

जिसे अन्तरिक्ष कहा जाता है, वह 'अवकाश' का ही एक ऐसा स्वरूप है, जो सूर्य के अभाव में रात्रि के गहन अन्धकार में दिखलायी देता है। जिससे हमें झिलमिल-झिलमिल चमकते हुए असंख्य ग्रह-पिण्डों और नीहारिकाओं के दर्शन होते हैं। वेद के अनुसार ये सभी ज्योतियाँ किसी दूरंगत एक ज्योति से आविर्भूत हुईं हैं। जैसा कि कहा गया है—'दूरङ्गतं ज्योतिषा ज्योतिरेकं तन्मे मनःशिवसङ्कल्पमस्तु।'

वह दूरंगत ज्योति 'परमज्योति है। वही परमज्योति परमतत्त्व है, जिसकी चर्चा आरम्भ में की जा चुकी है। सृष्टि की प्रक्रिया में वह परमज्योति अथवा 'परमतत्त्व' शिवसंकल्प है। उसी शिवसंकल्प से सम्पूर्ण सृष्टि हुई है।

सृष्टि-विज्ञान के अनुसार परमतत्त्व शिवसंकल्प ही 'महाकाल' है। व्याकरण के अनुसार 'कल' धातु से दो शब्द निष्पन्न हुए हैं—पहला है 'कला' और दूसरा है 'काल'। 'एक' से 'अनेक' होने को शिवसंकल्प की स्वतन्त्रता और स्वयं स्फूर्ति से जिन कलाओं का आविर्भाव हुआ, उन्हीं से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। यहाँ शिवसंकल्प को स्थितिशील ऊर्जा और स्वयं स्फूर्ति को गतिशील ऊर्जा समझना चाहिए।

महाकाल की जो शक्ति है उसे तन्त्र 'महाकाली' कहता है। यहाँ भी महाकाल को स्थितिशील ऊर्जा और महाकाली को गतिशील ऊर्जा समझना होगा। संकल्प का 'कल्प' और 'काल' एक ही है। दोनों एक-दूसरे में परिवर्तनीय हैं। योगतन्त्र का यह परा-विज्ञान है, जिसे आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। कल्प का मतलब है 'दिक्'। दिक् और काल अद्वैतभावी हैं। दोनों के अद्वैतभाव से एक विलक्षण तत्त्व जन्म लेता है, जिसे 'चित् तत्त्व' कहते हैं।

० ० ०

योगतन्त्र का एक अति प्राचीन ग्रन्थ है—'स्पन्दकारिका'। स्पन्दकारिका के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि विश्व का सम्पूर्ण वातावरण ग्रह-पिण्डों और नक्षत्र-पिण्डों से निःसृत होने वाले ध्वनितरंगों अथवा ध्वनिसंकेतों (स्पन्द) से भरा हुआ है। उन ध्वनि-तरंगों और ध्वनि-संकेतो में मौलिक भिन्नता है। उनके कम्पनों और उनकी गतियों में भी समानता नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीनकाल में हमारे मनीषी, तत्त्ववेत्ता और ऋषिगण उन ध्वनितरंगों और ध्वनिसंकेतों से भलीभाँति परिचित थे। और उन्हीं के आधार पर ग्रहों और नक्षत्रों की गति, मति का पता लगाते थे और यह भी निश्चित करते थे कि किस ग्रह-नक्षत्र पर जीवन है।

स्पन्दकारिका के अनुसार ग्रह-नक्षत्रों और मनुष्य के बीच वे ध्वनि-तरंगें तथा स्पन्द ही हैं, जिनके द्वारा लाखों-करोड़ों प्रकाश-वर्षों पर स्थित ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव बराबर मनुष्य पर पड़ता रहता है।

इस समय भी वैज्ञानिकों को ग्रह-नक्षत्रों से ऐसे रेडियो-संकेत (स्पन्द) बराबर प्राप्त हो रहे हैं, जिनमें कालगत नियमिति स्पष्ट रूप से दिखलायी देती है। और उसी के आधार पर कुछ वैज्ञानिक ऐसे ग्रहों की अवस्थिति का अनुमान लगा रहे हैं। जहाँ मानवीय सभ्यता से कहीं उच्चतर सभ्यता है। कुछ वैज्ञानिक इसे मात्र प्राकृतिक व्यापार मानते हैं। फिर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं रही जो इस बात पर विश्वास करते रहे कि पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य नक्षत्रों अथवा ग्रहों पर जीव हैं। बल्कि बहुत से लोग ऐसे थे, जो मनुष्य को पृथ्वी का प्राणी नहीं मानते। उनका कहना है कि मनुष्य पृथ्वी के समस्त प्राणियों से भिन्न और विचित्र है। अवश्य ही यह किसी सुदूर नक्षत्रलोक से उतर आया है और अपने बुद्धि-बल से पृथ्वी के समस्त सुखों का उपभोग कर रहा है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उभरता है कि यदि मनुष्य उन्नत लोक से अपार ज्ञान और बुद्धि लेकर आया तो अपने उस लोक से सम्पर्क क्यों तोड़ दिया ?

ग्रह-नक्षत्रों पर प्राणियों का अस्तित्व

वैज्ञानिक इस बात पर विश्वास करते हैं कि पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य

नक्षत्रों पर उन्नत किस्म के प्राणी निवास करते हैं—उसमें 'क्लाइव टमबो' का नाम सर्वोपरि है। वह महान् वैज्ञानिक है जिसका आविष्कार मानव जाति में अमर है। उसने सन् १९३० में नये ग्रह प्लूटो का आविष्कार करके विज्ञान के क्षेत्र में तहलका मचा दिया था। इससे पहले लोग नेपच्यून को ही अन्तिम ग्रह मानते थे। पृथ्वी से सूर्य की दूरी ९ करोड़ ३० लाख मील है; नेपच्यून की दूरी २ अरब ७९ करोड़ मील है, जब कि प्लूटो की दूरी ३ अरब ६७ करोड़ मील है।

क्लाइव टमबो की दृढ़ मान्यता थी कि पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य नक्षत्रों पर भी जीव-जन्तुओं का निवास है। वहाँ बहुत ही उन्नत किस्म के और मनुष्य से भी अधिक बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली प्राणी है। मनुष्य उनकी बराबरी नहीं कर सकता। क्लाइव टमबो की तरह हैं पेनक कोमल। ये महाशय अंग्रेज हैं और मेनचेस्टर विश्वविद्यालय के ज्योतिर्विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं। इनका भी कहना है कि पृथ्वी के अलावा अन्य नक्षत्रों पर उन्नत प्रकार के प्राणियों का अस्तित्व है। उन सुदूर लोक के निवासियों की अपेक्षा पृथ्वी की मानव जाति बहुत पिछड़ी हुई है।

वैज्ञानिकों की मान्यता है कि जिस छाया पथ में यह पृथ्वी है, वहाँ एक अरब तारें हैं। जिनमें कम-से-कम एक लाख तारे अवश्य ऐसे हैं, जहाँ प्राण धारण की समस्त सुविधाएँ विद्यमान हैं। बहुत ही सम्भव है कि इन एक लाख ग्रहों पर प्रखर-प्रतिभा से सम्पन्न प्राणी निवास करते हों।

क्लाइब टमबो का कहना है कि उन ग्रहों की सभ्यता लाखों-लाख वर्ष प्राचीन है। उनका ज्ञान-विज्ञान कितना उन्नत है, हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। इसीलिए रेडियो संकेत द्वारा उनसे सम्पर्क न करें तो वही अच्छा होगा; यदि उनका कोई संकेत हमें मिले तो उसका उत्तर न देना ही उचित होगा। उनका यह भी कहना है कि जिन-जिन मनुष्यों ने रेडियो का आविष्कार किया, उसी दिन उन्होंने अपनी विपत्ति को न्योता दे दिया। कुछ रेडियों तरंग वहिर्विश्य में भी चले जाते हैं। उन तरंगों के द्वारा जब वे हमारे अस्तित्व के बारे में भी जान लेंगे, तब मानव जाति को कहीं बचने या छिपने का कोई उपाय न रहेगा।

रेडियो-तरंगें प्रकाश की गति के समान एक सेकेण्ड में १ लाख ८६ हजार मील चलती हैं। पहली बार सन् १९२० में रेडियो-तरंगें प्रक्षिप्त हुई थीं। उनमें कुछ-न-कुछ उन असाधारण जीवों के कतिपय ग्रहों में पहुँच रही होंगी या पहुँच चुकी होंगी। हमारे अस्तित्व की जानकारी के बाद वे क्या करेंगे, कहना कठिन है। यदि उन्होंने हमारे प्रति युद्ध अभियान छेड़ दिया तो क्या होगा ? हाँ ! यह बात अवश्य है कि वे प्रकाश की गति से चलकर पचास-पचपन वर्ष में ही हमारी पृथ्वी तक नहीं पहुँच पायेंगे। उन्हें यहाँ आने में

शताब्दियाँ लग जायेंगी। उनका आयु-बल कितना है? यह भी हमें नहीं मालूम। मगर क्लाइव टमबो कहते हैं कि अभियान के यात्रियों को तीव्र ठंड (डीप फ्रीज) में जमाकर भेजा जायेगा। उनकी प्राणशक्ति शताब्दियों तक निष्क्रिय रहेंगी और जब वे पृथ्वी के निकट पहुँचेंगे तो उनके यान की बर्फ अपने-आप गल जायेगी और वे पूर्णरूप से चेतन हो उठेंगे। डा० कोमल का कहना है कि तब हमारी सभ्यता को मिटा देना उनके बायें हाथ का खेल होगा। लेकिन इसकी सत्यता अभी भविष्य के गर्भ में है।

ग्रह-नक्षत्रों के प्राणियों से समाधि की अवस्था से सम्पर्क

यह तो हुई आज के वैज्ञानिकों की बात। जहाँ तक योग और तन्त्र-विज्ञान का प्रश्न है—उसके अनुसार समाधि की विशेष अवस्था में ग्रह-नक्षत्रों और वहाँ निवास करने वाले प्राणियों से सम्पर्क साधा जा सकता है। उच्च कोटि के योगी और साधकगण समाधि की उच्च अवस्था में ध्वनिस्पन्दन के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपने आत्मशरीर द्वारा इच्छानुसार किसी भी ग्रह-नक्षत्रों अथवा किसी भी लोक-लोकान्तरों में प्रविष्ट हो जाते हैं। योग और तन्त्र में ध्वनिस्पन्दन का भारी महत्त्व है। प्राण के बाद ध्वनिस्पन्दन का ही मूल्य एवं महत्त्व है। 'प्राण' का निर्माण ऑक्सीजन के एक अणु और ऑक्सीजन के दो परमाणुओं से बना है। समाधि की स्थिति में 'प्राण' पहले से भी सूक्ष्मतर हो जाता है। और 'योग' की विशेष प्रक्रिया द्वारा ध्वनिस्पन्दन में मिलकर योगी और साधकों के संकल्प के अनुसार कहीं भी जा सकता है। योगी और साधकगण इसी पद्धति से दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हज़ारों मील दूर स्थित किसी भी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित कर उसकी मति-गति एवं उसके विचारों को ज्ञात करते हैं। इतना ही नहीं अपने विचारों का संप्रेषण भी करते हैं। अभी पिछले दिनों दीपावली के अवसर पर सिलांग से एक महात्मा मेरे यहाँ पधारे थे। वे इस कला में पारंगत थे। मेरे एक घनिष्ठ परिचित हैं जो कलकत्ता में रहते हैं और नाम है मधुसूदन शर्मा। उनके विषय में मैं चिन्तित था। मेरे आग्रह पर महात्मा ने मधुसूदन शर्मा से उसी प्रकार सम्पर्क स्थापित किया और थोड़ी देर में उनका समाचार भी मुझे दे दिया। उन्होंने जो समाचार दिया था वह पूर्णरूपेण सत्य था।

योगतन्त्र में आकाश, अवकाश और नभ के बाद 'व्योम' शब्द का महत्त्व है। जहाँ से अथवा जिस केन्द्र से स्पन्द निःसृत होते हैं, उसे तन्त्र और वेद भी 'व्योम' कहता है। योग की भाषा में व्योम का मतलब है—परमपद। विश्वब्रह्माण्ड का आदि 'नाद' ओम् है और उसी व्योम का पर्याय 'परमतत्त्व' है। परमतत्त्व अथवा परम व्योम में लीन हो जाना ही योगी का परमपद अथवा परमनिर्वाण है।

सृष्टि के मूल में कामशक्ति

सम्पूर्ण विश्व द्वन्द्वात्मक है। सम्पूर्ण सृष्टि मैथुनात्मक है। इन दोनों के मूल में आकर्षण है। जहाँ आकर्षण है वहाँ 'काम' है और काम द्वन्द्वात्मक और मैथुनात्मक है। और इसी के आधार पर तन्त्र, विश्वसृष्टि के मूल में शिव-शक्ति सम्बन्ध घोषित करता है।

'शिवशक्तिसमायोगाद् जायते सृष्टिकल्पना।'

जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है—तन्त्र की सगुण भूमि में दोनों ब्रह्माण्डीय मौलिक ऊर्जाओं को शिव और शक्ति की संज्ञा दी गयी है। दोनों ऊर्जाओं से दो तत्त्व उत्पन्न हुए—पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व। पुरुषतत्त्व स्थितिशील ऊर्जा का और स्त्रीतत्त्व गतिशील ऊर्जा का परिणाम है। पहला विकर्षणात्मक है और दूसरा आकर्षणात्मक है। इस आकर्षण-विकर्षण के द्वन्द अथवा मैथुन से जिस शक्ति का जन्म हुआ वह शक्ति है—'कामशक्ति'।

कामशक्ति ही आदिशक्ति है और आदिशक्ति का विकास अथवा प्रधान विकास मैथुन विषयक है। अर्थात् आनन्द अथवा रति के लिए है। यही विश्ववासना है और विश्ववासना की मूर्ति 'स्त्री' है। तन्त्र जिसे आदिशक्ति, महाशक्ति, परमेश्वरी अथवा परमाशक्ति कहता है, वह एकमात्र यही कामशक्ति है। ऐसी कामशक्ति समस्त सृष्टि के मूल में स्थित है। वही स्त्री पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्ध अथवा स्त्री-पुरुष के सम्भोग में परिणत होती है। इसीलिए तन्त्र की दृष्टि में सारा जगत् शैव एवं शाक्त जगत् है, जो शक्ति और शक्तिमान् से उत्पन्न हुआ है। विश्व स्त्री और पुरुष से उत्पन्न हुआ है और स्त्री पुंसात्मक ही है। तन्त्र के अनुसार परमात्म शिव है और परमेश्वरी यानि माया शिवा है। पुरुष परमेशान है और प्रकृति परमेश्वरी है। इन दोनों का मिथुनात्मक सम्बन्ध ही मूल वासना है। वही आकर्षण अथवा 'काम' है। काम सभी प्रकार की वासनाओं के मूल में है। इसी से 'काम' को आदिदेव की संज्ञा मिली। अथर्ववेद में तो आदिदेव 'काम' को ब्रह्मा कहा गया है।

इस प्रसंग में पाठकों को यह भी बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि किस प्रकार दोनों ऊर्जाओं द्वारा अमूर्त से मूर्त जगत् का निर्माण हुआ है और किस प्रकार यह दृश्यजगत् स्पर्श, रस, रूप, गंध, नाद की मनोहारी घटा से संयुक्त अणु-परमाणुओं से बना हुआ है। इस दिशा में योग-विज्ञान, तन्त्र विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान में किस सीमा तक सामञ्जस्य है?' स्थितिशील ऊर्जा की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम प्राणवायु के रूप में होती है। जिसे वैज्ञानिक 'इथर' कहते हैं। सूक्ष्मतम प्राणवायु अर्थात् 'इथर' सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में समानरूप से व्याप्त है।

दोनों ऊर्जाओं के आकर्षणात्मक-विकर्षणात्मक द्वन्द्व के फलस्वरूप तीन

प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। जिन्हें विज्ञान 'इलेक्ट्रान', 'न्यूट्रान' और 'प्रोटोन' कहता है। 'इलेक्ट्रान' ऋण विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। 'न्यूट्रान' विद्युत्-विहीन लेकिन चुम्बकीय ऊर्जा से युक्त तरंगें हैं। 'प्रोटोन' धन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। इन तीनों से अलग-अलग तीन प्रकार की मौलिक शक्तियों का आविर्भाव होता है--पावर, फोर्स और एनर्जी। तन्त्र की सगुणोपासना भूमि में ये तीनों शक्तियाँ ही महासरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आगे चलकर ये ही तीनों महाशक्तियाँ क्रम से वाक् शक्ति, प्राणशक्ति और मनःशक्ति के रूप में प्रकट होती हैं। इन्हीं तीनों के आश्रय से मानव के आन्तरिक स्वरूप का गठन होता है और जीवन का निर्माण होता है।

परमतत्त्व

उपर्युक्त तीनों विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों से परमाणुओं का भी निर्माण होता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि एक परमाणु का व्यास १/१००००००००० सें० मी० होता है। इस लम्बाई की आप कल्पना ही कर सकते हैं। परमाणु इतना छोटा होता है कि अभी पिछले दो दशक में जब इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोट बना तब उसे देखा जा सका। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिरोशिमा-नागासाकी पर जब पहला परमाणु बम गिराया गया और परमाणुओं का विखण्डन कर दिया गया, उस समय तक परमाणु को किसी ने देखा तक नहीं था। सच बात तो यह है कि परमाणु नहीं बल्कि परमाणु का नाभिक, जिसका व्यास पूरे परमाणु के व्यास से १०,००० गुना कम या उसका १/१०००० मात्र होता है—तोड़ा गया था।

० ० ०

परमाणुओं की परिधि पर इलेक्ट्रान बराबर चक्कर लगाया करते हैं। एक या अनेक कक्षाओं में नाभिक में स्थित प्रोटोन्स भी इलेक्ट्रान के चारों ओर घूमते रहते हैं। इलेक्ट्रान में न तो कोई भार होता है और न ही उसका कोई रूप है। वह तरंग मात्र है। मगर कभी-कभी ये ठोंस कणों की तरह भी व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। जब कोई ऋण विद्युत्-तरंग इसकी ओर प्रेक्षिपित की जाती है तो वह तुरन्त टकराकर वापस लौट आती है।

परमाणु का सारा भार उसके नाभिक में विद्यमान रहता है, जो न्यूट्रान और प्रोटोन्स का बना होता है। केवल हाइड्रोजन एक ऐसा परमाणु है, जिसके नाभिक में न्यूट्रान नहीं होते। प्रोटोन्स और न्यूट्रान का भार लगभग बराबर होता है। केवल थोड़ा-सा अन्तर है। न्यूट्रान्स थोड़े अधिक भारी होते हैं यानि प्रोटोन्स से १·००१ गुना। किसी परमाणु में कितने प्रोटोन्स, कितने इलेक्ट्रान्स और कितने न्यूट्रान्स हैं, यह उसके सूत्र से विदित होता है। उदाहरणार्थ जैसे यूरेनियम का परमाणु, जिसके विस्फोटन से परमाणु बम बना है,

उसका परमाणु-भार २३५ होता है। यानि वह हाइड्रोजन के परमाणु से २३५ गुना भारी होता है। इसकी परमाणु संख्या ९२ होती है। जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यूरेनियम के परमाणु में ९२ इलेक्ट्रान और ९२ प्रोटोन्स हैं। प्रत्येक परमाणु में प्रोटोन्स और इलेक्ट्रान्स की संख्या बराबर होती है। धन और ऋण विद्युत् का चार्ज समान होता है। इसलिए वह विद्युत्-विहीन कण दिखलाई पड़ता है। यदि आप परमाणु-भार से परमाणु संख्या घटा दें २३५ – ९२ = १४३ तो यह न्यूट्रान्स की संख्या होगी। प्रत्येक परमाणु के दोनों ओर लिखी हुई संख्याएँ उपयुक्त व्याख्या के अनुसार परमाणुओं की संरचना की स्पष्ट व्याख्या होती है। परमाणु के व्यास का केवल १/१०० है और सम्पूर्ण प्रोटोन एवं न्यूट्रान नाभिक में होते हैं और इलेक्ट्रान परिधि में। फिर बीच के सारे भाग में क्या होता है? शून्य, विराट् शून्य।

० ० ०

ऊपर मैंने 'परमतत्त्व' की चर्चा की है। उपनिषद् अथवा योग में वह 'परमतत्त्व' परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है। जब कि तन्त्र-विज्ञान के अनुसार वह परमतत्त्व 'परमशून्य' है। परमतत्त्व और परमशून्य एक-दूसरे के पर्याय-वाची हैं। परमशून्य से ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। विश्वब्रह्माण्ड के मूल में एकमात्र 'परमशून्य' ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि तन्त्र का वही परम-शून्य विराट् शून्य के रूप में परमाणु के बीच के भाग में विद्यमान है। इतने छोटे से परमाणु में यह शून्यतत्त्व कितना विराट् है, इसकी कल्पना आप एक उदाहरण से कर सकते हैं; यथा—यदि परमाणु का इतना बड़ा मॉडल बनाया जाय कि वह हाथी हो जाय तो नाभिक एक सन्तरे की तरह होगा और इलेक्ट्रान होगा मच्छर की तरह तथा इसके बीच की दूरी उसी अनुपात में इतनी अधिक हो जायेगी कि शक्तिशाली दूरबीन से भी नाभिक दिखलायी नहीं पड़ेगा।

० ० ०

अमूर्त विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जाएँ एक परिधि में जब विशिष्ट ज्यॉमेट्रिकल पैटर्न में बंध-सी जाती हैं, तब वह मूर्त वस्तुओं की इकाइयाँ बन जाती हैं, जिसे परमाणु कहते हैं। वास्तव में परमाणु केवल ऊर्जाओं का क्रीड़ा-क्षेत्र है। प्रोट्रोन्स या न्यूट्रान्स से बम्बार्डिंग करने पर एक परमाणु दूसरे में बदल जाते हैं। अथवा वे रेडियो-एक्टिव परमाणु बन जाते हैं। रेडियो-एक्टिव परमाणु ऊर्जा निकालकर प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और या तो किसी स्थायी परमाणु में बदलकर स्थिर हो जाते हैं या ऊर्जा में उनका विलोप हो जाता है। इस प्रकार अमूर्त विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जाओं से हमारे मूर्त जगत् का निर्माण हुआ। ऊर्जा संहति में तथा संहति ऊर्जा में बदल जाती है। इसके लिए आइंस्टीन का एक विश्वविख्यात समीकरण है। इस समीकरण से यदि आप ४५० ग्राम संहति को ऊर्जा में बदलें तो ११००००००० किलोवाट

ऊर्जा उत्पन्न होगी। इतनी अधिक ऊर्जा से पदार्थ के इतने छोटे से कण बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि पदार्थ के एक छोटे से कण में इतनी ऊर्जा विद्यमान रहती है। इसी प्रकार ऊर्जा के निवेश से परमाणुओं का रूप बदल जाता है। यानि एक परमाणु दूसरे परमाणु में बदल जाता है और इस प्रकार अमूर्त विद्युत् तरंगों से मूर्त जगत् का निर्माण एक वैज्ञानिक सत्य है। मगर यह 'सत्य' इतना ही नहीं है। इस दिशा में योगतन्त्र विज्ञान की खोज इससे भी बहुत आगे है।

त्रिकोण और षट्कोण का तान्त्रिक रहस्य

जैसा कि स्पष्ट है तन्त्र परमतत्त्व को परमशून्य कहता है और उस परमशून्य की कल्पना उसने बिन्दु के रूप में की है। वही 'बिन्दु' तन्त्र की दृष्टि में महाशक्ति आद्याशक्ति, अथवा परमशक्ति का स्वरूप भी है। इस स्वरूप की अभिव्यक्ति तन्त्र में त्रिकोण ओर षट्कोण के रूप में की गयी है। अधोमुखी त्रिकोण शक्ति (गतिशील ऊर्जा) का और ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण शिव (स्थितिशील ऊर्जा) का प्रतीक है। वास्तव में षट्कोण शिव शक्ति के सामञ्जस्य अथवा मिथुनात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार केवल अधोमुखी त्रिकोण परमाशक्ति के स्वरूप को प्रकट करता है। षट्कोण और त्रिकोण के मध्य में स्थित बिन्दु परमतत्त्व अथवा परमशून्य के अस्तित्व को प्रकट करता है। अधोमुखी त्रिकोण के ऊपर वाले दोनों कोणों पर महासरस्वती वाक्शक्ति और महालक्ष्मी मनःशक्ति की स्थिति है। इसी प्रकार नीचे वाले कोण पर महाकाली प्राणशक्ति की स्थिति है।

० ० ०

षट्कोण और त्रिकोण का महत्त्व तन्त्रशास्त्र में सर्वोपरि है। तन्त्र में दोनों को महापीठासन और पीठासन कहा गया है। षट्कोण अर्थात् महापीठासन सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में संयुक्त सत्ता के रूप में क्रियाशील 'शिवशक्ति' का केन्द्र है। यहाँ शिव का अस्तित्व महाशक्ति में लीन है।

'योगतन्त्र' के अनुसार सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड मुख्य रूप से सात भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग एक लोक है और उस एक लोक में असंख्य जगत् अथवा लोकान्तर है। तन्त्र का कथन है कि सम्पूर्ण विश्वब्राह्माण्ड के मूल में एक भाग बिन्दु ही है और बिन्दु से ही सृष्टि हुई है। विश्वब्रह्माण्ड का जो पहला भाग है, वह एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु से बना है। वह भाग इतना सूक्ष्मतम है कि मानव-मस्तिष्क उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता है। वह १ 'रेणु' और ८ 'बिन्दु' की संयुक्त सत्ता से बना होता है।

प्रथम भाग अथवा प्रथम लोक में केवल सूक्ष्मतम भाव का प्रवाह मात्र है। योगियों का कहना है कि वह प्रथम भाग भी तीन खण्डों में विभाजित है।

८ सूक्ष्म सूक्ष्म रेणु का १ सूक्ष्म रेणु होता है। प्रथम भाग के प्रथम खण्ड की रचना इसी १ सूक्ष्म रेणु से हुई है। ८ सूक्ष्म रेणु का १ रेणु होता है। शेष दोनों खण्डों का निर्माण इसी १ रेणु से हुआ है।

८ रेणु का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु होता है। दूसरे भाग का निर्माण इसी एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से हुआ है।

८ सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणु का १ सूक्ष्म परमाणु होता है। ब्रह्माण्ड के तीसरे भाग का निर्माण इसी १ सूक्ष्म परमाणु से हुआ है। इन दोनों भागों में सूक्ष्मतम विचारों का अतिसूक्ष्म प्रवाह है। तन्त्र के अनुसार इन दोनों भागों में सर्वोच्च अवस्था प्राप्त परम दिव्य आत्माओं का निवास है।

८ सूक्ष्म परमाणु का एक परम अणु होता है। ब्रह्माण्ड के चौथे भाग का निर्माण इसी एक परम अणु से हुआ है। यहाँ सूक्ष्मतम 'मन' का सूक्ष्मतम प्रवाह है। देवकोटि की आत्माएँ यहाँ की निवासिनी हैं।

३ परम अणु का १ त्रसरेणु होता है। इस एक त्रसरेणु से पाँचवें भाग की रचना हुई है। यहाँ भी सूक्ष्म मन का सूक्ष्म प्रवाह है। यक्ष-गन्धर्व-किन्नर आदि गुह्य आत्माएँ यहाँ निवास करती हैं।

९ त्रसरेणु का १ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु होता है। इस १ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु से विश्वब्रह्माण्ड के छठे भाग का निर्माण हुआ है। इस भाग में सूक्ष्मतम प्राण का तरल प्रवाह है। बुद्धि की प्रधानता है। इसके ऊपर वाले खण्ड में मनुष्य की श्रेष्ठ और दिव्य आत्माएँ और नीचे वाले खण्ड में नित्य और नैमित्तिक पितृ आत्माएँ निवास करती हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी सीमा तक अमूर्त व्यक्त अथवा अव्यक्त जगत् का अस्तित्व है। इसके बाद मूर्त सत्ता यानि व्यक्त जगत् की सीमा शुरू हो जाती है।

ओम् की व्यापकता

मूर्त एवं व्यक्त जगत् पूर्णरूप से दृश्यमान नहीं हैं। कुछ ऐसे भी भाग हैं, जो दृश्यमान होते हुए भी अगोचर हैं। इस दृष्टि से हम व्यक्त जगत् को मुख्य रूप से तीन स्तरों में विभक्त करते हैं। आपको ज्ञात होना चाहिए कि ८ सू० सू० अणु का १ सूक्ष्म अणु होता है। इसी १ सूक्ष्म अणु से प्रथम दो स्तरों का निर्माण हुआ है। इन दोनों स्तरों में प्रबल कामना, भावना और प्रबल इच्छा शक्ति का प्रवाह है। इनमें मानवेतर शक्ति-सम्पन्न उच्चकोटि की वे तमोगुणी आत्माएँ निवास करती हैं, जिन्हें हम बैताल, पिशाच और डाकिनी, हाकिनी, साकिनी आदि कहते हैं। ये दोनों स्तर व्यक्त जगत् का वह भाग है, जो दृश्यमान क्षेत्र में होते हुए भी अगोचर है।

८ सूक्ष्म अणु का १ अणु होता है। इससे व्यक्त जगत् के तीसरे स्तर का निर्माण हुआ है। इसी स्तर का नाम मृत्युलोक अथवा मनुष्यलोक है। यह

पूर्णरूपेण दृश्यमान जगत् है। यहाँ केवल कार्य का प्रवाह है। यह तीन आयाम का जगत् है। इसी तीन आयाम के फलस्वरूप मनुष्य के आत्मा की भी तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं — जागृतावस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्तावस्था। मनुष्य के जीवन काल में और मृत्यूपरान्त अवस्था में भी मनुष्यता इन्हीं तीनों अवस्थाओं में विचरण करती है। अतः इस विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

० ० ०

इस समीक्षा से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि दृश्यमान जगत् से अदृश्यमान जगत् का विस्तार अधिक है। अदृश्यमान जगत् में जो सृष्टि है वह अगोचर है और दृश्यमान जगत् में जो सृष्टि है वह गोचर है। गोचर सृष्टि मुख्यरूप से चार प्रकार की हैं — अण्डज, पिण्डज, स्थावर और जंगम। इन चारों प्रकार की सृष्टि में २४ लाख योनियाँ हैं।

भारतीय प्रज्ञा के अनुसार सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड और व्यक्त, अव्यक्त जगत् के अतिरिक्त गोचर-अगोचर सृष्टि तथा समस्त प्रकार के चेतन-अचेतन जीवन का एकमात्र आधार 'ध्वनि' है और वह ध्वनि भी तीन प्रकार की हैं तथा ये तीनों प्रकार की ध्वनियाँ समानरूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं।

उन तीनों प्रकार की विशेष ध्वनियों का मूलस्रोत एकमात्र 'एक अक्षर' है, जिसे भारतीय प्रज्ञा ने 'ओम्' की संज्ञा दी है।

ओम् एक अक्षर है, लेकिन इसमें तीन ध्वनियाँ हैं—पहली ध्वनि है 'अ', दूसरी ध्वनि है 'उ' और तीसरी ध्वनि है 'म्'। इन तीनों ध्वनियों की जो सामूहिक ध्वनि है, वह है — 'ओम्। ध्वनिशास्त्र के अनुसार ये तीनों मौलिक ध्वनियाँ है। शेष सभी ध्वनियाँ इन्हीं का विस्तार हैं। अ, उ, म् 'बीज ध्वनि' है। इन तीनों बीज ध्वनियों की सम्मिश्रित 'ध्वनि' ओम् है। इसीलिए ओम् को ध्वनि का महाबीज कहा गया है। ओम् महाबीज है। इसी महावीज का दूसरा नाम 'प्रणव' है। प्रणव का मतलब है महाबीज और महावीज का मतलब है ओम्। समस्त विश्वब्रह्माण्ड ॐ प्रणवरूप है।

आधुनिक भौतिकी (फिजिक्स) कहती है कि समस्त जीवन का मौलिक आधार 'इलेक्ट्रान्स' है यानि विद्युत् कण। भारतीय प्रज्ञा की खोज है कि समस्त अस्तित्व का मौलिक आधार ध्वनिकण है, विद्युत् कण नहीं। ध्वनि मौलिक है। पश्चिमी भौतिकशास्त्र की खोज है कि विद्युत् मौलिक है। मजे की बात तो यह है कि वही पश्चिमी भौतिकशास्त्र यह भी कहता है कि ध्वनि भी विद्युत् का एक प्रकार है। एक विशेष प्रकार की विद्युत् ही ध्वनि बन जाती है। इस विषय में तन्त्र का कथन है कि ध्वनि जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर विद्युत् कणों में परिवर्तित हो जाती है तो विद्युत् कण भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर ध्वनि में बदल जाती है। एक विशेष

लयबद्धता में विद्युत् ध्वनि बन जाती है। तात्पर्य यह कि विद्युत् भी ध्वनि का एक प्रकार है। विशेषरूप से की गयी ध्वनि अग्नि पैदा कर देती है।

मैंने अपने तिब्बत-प्रवासकाल में एक मठ में ध्वनि-संघात से प्रकाश होते हुए देखा था। एक लामा अपने दोनों हाथों में ताँबे की मुंगरी लेकर एक विशेष प्रकार के चमड़े के बने नगाड़े पर उसकी चोट करता था और उस लयबद्ध चोट से जो ध्वनि निकलती थी, उसके प्रभाव से कमरे में रखे एक विशेष पत्थर के चमड़े जलने लग जाते थे और उनमें से प्रकाश फूटने लग जाता था।

अभी पश्चिम में ध्वनिशास्त्र पर जो नवीनतम खोजें हुई हैं, उनसे भारतीय प्रज्ञा की खोज और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ध्वनि का प्रकार विद्युत् हो या विद्युत् का प्रकार ध्वनि हो—एक बात निश्चित है कि दोनों गहरे में संयुक्त है। शायद कोई तीसरी वस्तु है, जो दोनों में प्रकट होती है। भारतीय मनीषी जिसे ध्वनि कहते हैं, उसे पश्चिम के विज्ञान-वेत्ता विद्युत् कहते हैं। निश्चय ही यहाँ केवल शब्दों में भेद है। इसलिए जैसे आज आइंस्टीन का एक छोटा-सा सूत्र जो आपके पूरे विज्ञान को समाहित कर लेता है—'इनर्जाइज इक्वल टु एम सी स्क्वेयर—जैसा यह सूत्र आपके समस्त भौतिकशास्त्र को अपने-आप में समाहित कर लेता है। वैसे ही 'ॐ' पूरब के समस्त ध्वनिशास्त्र को समाहित कर लेता है। यह भी एक वैज्ञानिक सूत्र है।

० ० ०

यह कहना अनावश्यक न होगा कि योग और तन्त्र की समस्त साधनाओं एवं समस्त उपासनाओं की एकमात्र कुंजी 'ओम्' है। कलापूर्ण उच्चारण के साथ आपके भीतर ओम् की ध्वनि गूँजनें लग जाय और उसके साथ अपने को लयबद्ध करने की क्षमता आ जाय तथा एक ऐसा भी क्षण आ जाय कि आप मिट जायें और आपके भीतर केवल ओम् का उच्चारण मात्र रह जाय तो समझिये कि आपका परमात्म सत्ता में प्रवेश हो गया। क्योंकि ओम् के बाद जो नीचे गिरेगा, फिर वह निर्ध्वनि शून्य जगत् में ही प्रवेश करेगा।

यदि ओम् से जगत् की ओर चलें तो तो फिर 'अ' 'उ' 'म्' ये तीन ध्वनियाँ हैं और इन तीन ध्वनियों से समस्त जगत् है तथा समस्त जगत् का विस्तार है। यदि ओम् के पीछे चलें तो ओम् के बाद शब्दध्वनियाँ खो जाती हैं और अन्त में आप भी खो जाते हैं। केवल ओम् मात्र शेष रह जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ओम् किसी मनुष्य या किसी देवता के द्वारा निर्मित ध्वनि नहीं है। 'अस्तित्व' की ध्वनि है। परमतत्त्व की ध्वनि है। परमात्मा की ध्वनि है। जैसे कभी आपने गहन सन्नाटे की ध्वनि सुनी होगी। सत् कोई आवाज नहीं हैं तो सन्नाटा मालूम पड़ता है। उस सन्नाटे

की भी अपनी ध्वनि है। ठीक वैसे ही जब मनुष्य का सारा अहंकार, सभी विचार, सारी कामनाएँ एवं सारी इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं और गहन मौन होता है—उस मौन में, भीतरी सन्नाटे में जो ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसका नाम 'ओम्' है। गीता के अनुसार उसी ओम् में प्रवेश ही परमात्मा में प्रवेश है। और यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं समस्त अक्षरों में एकाक्षर 'ओंकार' हूँ।

ओम् तत् सत्

योगतन्त्रशास्त्र में इन तीनों शब्दों की महती गरिमा है। तीनों सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम है। इसी से सृष्टि के प्राक्काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ आदि की रचना हुई है। इसीलिए ब्रह्मवादिन् श्रेष्ठ महापुरुषों की शास्त्र-विधि से निश्चित की हुई यज्ञ, दान और तप आदि क्रियाएँ सदा 'ओम्' ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही प्रारम्भ होती है। ओम् के सम्बन्ध में आपको पूर्व से बतलाया ही जा चुका है।

अब 'तत्' और 'सत्' को समझें। 'तत्' का मतलब है—'वह'! भक्त भगवान् को 'तू' कहता है 'वह' नहीं कहता। क्योंकि 'वह' में कोई रस नहीं है। उसमें सजीवता के दर्शन नहीं होते और बड़ी दूरी भी मालूम पड़ती है। जबकि 'तू' में आत्मीयता की, निकटता की, अपनेपन की और सामीप्यता झलक मिलती है।

'वह' बड़ा ही तटस्थ शब्द है। अनासक्त शब्द है। रूखा-सूखा शब्द है। कोई भाव नहीं हैं इसमें। इसीलिए भक्तगण हमेशा अपने भगवान् के लिए 'तू' शब्द का ही प्रयोग करते रहे हैं। 'तू' में कितनी ही निकटता मालूम पड़े, लेकिन उसमें थोड़ा सा 'मैं' अवश्य उपस्थित रहता है। क्योकि बिना 'मैं' के 'तू' कदापि अर्थपूर्ण नहीं; अन्यथा कौन कहेगा—'तू' 'मैं' तो बना ही रहेगा। 'तू' में 'मैं' हमेशा मिला हुआ है। 'तू' में सौन्दर्य है, सामीप्य है, प्रेम की पूर्णता है। यह भक्त के भाव को प्रकट करता है। भक्त और भगवान् की निकटता की सूचना देता है। उसमें आर्द्रता है। हृदय से भरा है। उसकी अपनी धड़कन है। 'वह' निर्जीव-सा लगता है। लेकिन फिर भी उसकी अपनी विशेषता है। 'वह' 'तू' से आगे जाता है। जैसे 'तू' का प्रयोग भक्त अपने भगवान् के लिए करता है वैसे ही ज्ञानी 'तत्' अर्थात् 'वह' का प्रयोग करते हैं और उस 'वह' में भी रस है। ज्ञानीजनों को अपनी दृष्टि से उसमें सौन्दर्य और आनन्द का बोध होता है। लेकिन ये सब आपको तभी दिखलाई देगा, जब आप 'तू' और 'मैं' से भी आगे चले जायेंगे।

हम वृक्षों एवं पहाड़ों को 'वह' कहते हैं। हम वृक्ष को 'तू' नहीं कह सकते। आपको पता ही नहीं है। इसलिए जब आप ब्रह्म को भी 'वह' कहेंगे 'तत्' कहेंगे, तब आपको लगेगा कि यह तो ज्ञानियों की बड़ी सूखी

और रसहीन बात हो गयी। इससे हृदय में कहीं धड़कन नहीं होती। बुद्धिगत और बौद्धिक मालूम होती है। 'वह' के आस-पास नृत्य करना अत्यन्त कठिन है। कृष्ण की गोपियाँ 'तू' के चारों तरफ नाच रही हैं 'वह' के आस-पास नहीं। सारे भक्तों ने, चाहे वह यहूदी हो, मुसलमान हो अथवा हिन्दू हो-- 'ओम, तत्, सत्' को अस्वीकार किया है। उन्होंने 'वह परमात्मा है'—ऐसा न कहकर 'तू परमात्मा है'—ऐसा कहा है। लेकिन 'योग' कहता है—'ओम् तत् सत्'। वह ओंकारस्वरूप है। वह स्वरूप है और सत्य है।

'वह' के आनन्द का आपको अनुभव नहीं है। इसलिए रसहीन और सौन्दर्यहीन लगता है। अन्यथा 'वह' जैसे बादल कभी घिरते ही नहीं। और जैसी वर्षा उनसे होती है, 'तू' से क्या खाक होगी? क्योंकि 'तू' में आपतो रहेंगे उपस्थित; 'मैं' भी उपस्थित रहेगा और उतनी ही अड़चन रहेगी। आप परमात्मा के निकट भले ही पहुँच जायें, किन्तु आप परमात्मा नहीं हो सकेंगे। और जितनी निकटता बढ़ती है, उतनी ही दूरी खलती है। जैसे-जैसे पास आते हैं, निकट आते हैं उतना ही लगता है कि कब एक हो जायें? उतना ही विरह का ज्वर पैदा होता है। केवल 'वह' की घड़ी ही आपको एक कर पायेगी।

'वह' के दो हिस्से हैं—एक है 'ओम् तत् सत्' और परमात्मा 'वह' स्वरूप हैं। दूसरा है—उपनिषद् जो इसे पूर्ण करता है--'तत्त्वमसि'।

'वह' की थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। किसी वृक्ष के निकट आप शान्त होकर बैठ जाइये। आपके मन में कोई विचार न उठे। कोई शब्द मुँह से न निकले। केवल बैठे रहिये आप शान्त भाव से। वृक्ष का स्पर्श करिये, बोलिये मत, सोचिये मत, वृक्ष का आलिंगन करिये, आपके और वृक्ष के मध्य किसी प्रकार का शब्द न रह जाय। सहसा आप पायेंगे कि आप वृक्ष हो गये और वृक्ष आप हो गया। सहसा सीमा टूट गयी और आप दोनों के बीच कुछ प्रवाहित-सा होने लगा, कोई सेतु बन गया, कोई सागर लहराने लगा, आप दोनों एक-दूसरे के निकट जाने लगे, आप उसके भीतर प्रवेश कर गये और वृक्ष आप के भीतर प्रवेश कर गया। आपका चैतन्य वृक्ष को चेतन बनाने लगा। तब आपको 'वह' की थोड़ी-सी प्रतीति होगी। न आप रहे न वृक्ष रहा। वृक्ष के साथ शायद ऐसा कठिन हो। जिसे आप प्रेम करते हैं—पत्नी को, प्रेयसी को, मित्र को--कभी उसका हाथ अपने हाथ में लेकर बैठ जाइये और एक ही प्रयोग कीजिये कि दोनों के चित्त मे कोई विचार न हो। यहाँ वृक्ष की अपेक्षा थोड़ी-सी कठिनाई होगी, क्योंकि यहाँ दूसरे के भी विचार बाधक बनेंगे। इसीलिए मैंने पहले वृक्ष के साथ ऐसा प्रयोग करने को कहा।

पूर्णिमा की रात्रि में अपनी प्रेयसी के साथ, प्रेमिका के साथ, अपनी पत्नी

के साथ अथवा अपने मित्र के साथ एकान्त स्थान मे शान्त भाव से बैठ जाइये और मौन साधे हुए चन्द्रमा को देखते रहें और प्रेम को ध्यान में बना लें। थोड़ी ही देर में आप एकाध क्षण के लिए ही झलक पायेंगे कि आप दोनों ही विचारशून्य हो गये। संयोग से जब ऐसा मेल बैठेगा तो आप अचानक पायेंगे कि किसी विराट् ऊर्जा ने आप दोनों को चारों तरफ से घेर लिया और आप दोनों एकाकार हो गये। फिर उसी मिलन के क्षण में न तो 'मैं' था और न 'तू' था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी ही अनुभूति की अन्तिम सीमा है—'ओम् तत् सत्'। जब कोई व्यक्ति इस पूरे अस्तित्व के साथ एकता का अनुभव करता है, तब किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह जाता। अंश अंशी के साथ मिल जाता है और लहर सागर में विलीन हो जाती है।

योग कहता है—'ओम् तत् सत्' यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम है। इसलिए भारत की जो परम प्रज्ञा है, उसने परमात्मा को 'वह' कहा है। 'वह' कोरा शब्द नहीं है और न रूखा ही है। आपको रूखा और रसहीन लग सकता है, क्योंकि आपने कभी उसका स्वाद लिया ही नहीं। जिन्होंने उसका स्वाद लिया है, उनके लिए 'मैं' और 'तू' का स्वाद फीका है। क्योंकि जिन्होंने वास्तविकता को जान लिया उनके लिए 'मैं' और 'तू' एक छाया के समान हो जाते हैं।

० ० ०

छाया कितनी ही सुन्दर क्यों न हो? चित्र कितना ही आकर्षक क्यों न हो? मूल के साथ उसका तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। 'वह' मूल है। 'वह' दो में विभक्त हो गया है—'मैं' और 'तू'। और जब तक 'मैं' और 'तू' न मिल जायें तक तक आपको 'उसका' कोई अनुभव नहीं होगा। और 'उसका' का नाम ही 'ओम्' है।

अनाहत नाद

ओम् तीन मात्राओं से बना है—अ, उ, म्। योग का यह त्रिगुण है। सम्पूर्ण अस्तित्व तीन से बना है। 'ओम्' भी तीन से बना है। 'ओम्' कोई शब्द नहीं है तथा उसकी कोई कोशगत भाषा या अर्थ भी नहीं है। वह तो बड़ी ही अद्भुत ध्वनि है और यह अद्भुत ध्वनि मानव-निर्मित नहीं है। यह ध्वनि आपको तब सुनाई पड़ती है, जब आपके सम्पूर्ण विचार शून्य में बदल जाते हैं और उसी शून्य में आपको वह परम ध्वनि सुनाई पड़ती है। जब आपकी मनुष्यता एवं सभ्यता-संस्कृति सब खो जाती है और आप कोरे आकाश या कोरे कागज जैसे खाली रह जाते हैं, तब आपके भीतर एक 'नाद' का आविर्भाव होता है। 'आविर्भाव' होता है' यह कहना भी ठीक नहीं। नाद तो

बज ही रहा था। आप खाली नहीं थे, इसलिए उसे सुन नहीं पा रहे थे। जब आप विचारों के जाल से खाली हो गये, तब आप उसे सुनने लगे हैं। आपके भीतर वह नाद बराबर हो रहा था और आपको मालूम होना चाहिए कि उसी अहर्निश नाद का ढंग ओम् है। वह ओंकार जैसा मालूम होता है जैसे भीतर कोई ॐ ॐ ॐ की बराबर ध्वनि किये जा रहा है। यह ध्वनि आप नहीं कर रहे हैं। आप तो शान्त हैं। आप तो हैं ही नहीं। आप तो खो गये हैं। ओंकार गूँज रहा है। आपके शरीर में आठ स्थानों पर एक साथ यह नाद हर पल, अहर्निश, अनवरत हो रहा है। यह आपके द्वारा उत्पन्न नाद नहीं है। इसलिए इसे 'अनाहत नाद' कहते हैं। अनाहत का अर्थ है जो ध्वनि स्वयं उत्पन्न हो। इसे आप थोड़ा इस प्रकार समझ लें।

आप ओंकार से उत्पन्न हुए हैं, ओंकार आपसे पैदा नहीं हुआ है। आप ओंकार के सघन रूप हैं। ओंकार मूलतत्त्व है। ओंकार का मतलब है वह नाद जो सम्पूर्ण अस्तित्व में गूँज रहा है। उस नाद के अलग-अलग रूप और अलग-अलग ढंग हैं। जब आप बिलकुल शान्त और निर्विचार हो जायेंगे तभी उसे सुन सकेंगे।

० ० ०

ओम्, तत् और सत्—ये तीन प्रकार के नाम सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के हैं। ओम् है, तत् है और सत् भी है।

सच्चिदानन्द भी तीन शब्दों से बना है। वे तीन शब्द हैं—सत्, चित् और आनन्द। ओम् के 'अ', 'उ', 'म्'—इन तीन अक्षरों में 'अ' सत् का, 'उ' चित् का और 'म्' आनन्द का प्रतीक है। इस प्रकार ओम् सच्चिदानन्द का प्रतीक है।

जब ओंकार की ध्वनि आपके भीतर गूँजने लगेगी, तब आप अपने भीतर तीन बातें पायेंगे। पहली बात आप यह पायेंगे कि 'आप हैं' अर्थात् आपका होना। यहाँ 'मैं' या 'आप' के स्थान पर 'तुम' शब्द का प्रयोग किया जाय तो अच्छा रहेगा।

'तुम हो' यानि तुम्हारा होना तुम नहीं होना। 'मैं नहीं' का अस्तित्व। हम कहते हैं—'मैं हूँ'। इसमें से 'मैं' हट जायेगा और 'हूँ' बचेगा। यही 'हूँ' का भाव सत् है।

दूसरी बात आप पायेंगे—चित् अर्थात् चैतन्य। तुम परमचैतन्य से भरे हुए हो। होश अर्थात् जागृति। चैतन्य से भर जाने का मतलब है—होश में आ जाना या जाग्रत् हो जाना। जैसे दिन का प्रकाश फैल गया, रात का गहन अन्धकार नष्ट हो गया, मूर्च्छा भंग हुई, प्रमाद टूट गया। दीपक जल रहा है उसकी लौ अकम्प है।

तीसरी बात आप पायेंगे—आनन्द ! तुम अपने आपको आनन्द से घिरे हुए पाओगे। लगेगा कि जैसे तुम पर चारों ओर से आनन्द की वर्षा हो रही है।

ब्राह्मण, वेद और यज्ञ

सत्, चित् और आनन्द—इन्हीं तीनों से सृष्टि के आदिकाल में क्रम से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ का आविर्भाव हुआ। सत्-चित्-आनन्द का मतलब है उसी ओंकार से इन तीनों की रचना हुई। उसी 'वह' से जिसकी चर्चा मैंने की है, सब कुछ आविर्भूत हुआ है।

'ब्राह्मण' का अर्थ है—वह जिसने 'उसे' जान लिया। यहाँ 'उसे' का मतलब है—'ब्रह्म' ! ब्राह्मण का अर्थ है—ज्ञानी। ब्राह्मण का अर्थ है—जो ब्रह्म को प्राप्त हो गया है अथवा जो ब्रह्मस्वरूप हो गया है। जो अपने भीतर अहर्निश प्रत्येक क्षण अनाहत नाद की ध्वनि को सुन रहा है।

इसका क्या यह तात्पर्य हुआ कि आदि में उससे ही ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब भी कोई ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है तो उसे वह अपने द्वारा नहीं, अपितु ब्रह्म के द्वारा जानता है। वह ब्रह्म के द्वारा ही 'ब्रह्म' को प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो स्वयं को मिटा देता है। बस इतना ही तुम्हें करना है। ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए स्वयं को मिटाना होगा।

इस सृष्टि में सबसे पहले ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, फिर ब्राह्मण ने जो कहा उससे वेद का आविर्भाव हुआ। ब्रह्म और वेदों के बीच ब्रह्मज्ञानी है। ब्रह्म के निकट ब्राह्मण है और ब्राह्मण के निकट है वेद। और वेद को स्वीकार कर उसके अनुसार जो कर्म किया जाता है, उसका नाम है—यज्ञ। वेद के निकट यज्ञ है। परमात्मा ! ब्राह्मण ! वेद ! यज्ञ !

० ० ०

तामसिक प्रकृति का व्यक्ति यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड को, रजस प्रकृति का व्यक्ति वेदों को और सात्त्विक प्रकृति का व्यक्ति गुरु, ब्राह्मण और सद्गुरु को स्वीकार करता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए तीन तरह के चरण हैं और तीन तरह के व्यक्ति हैं। यज्ञ और कर्मकाण्ड आदि से जितना बचा जा सके बचिये। शास्त्रों से जितना बचा जा सके बचिये। यदि गुरु को आप खोज सकते हैं तो खोजिये। वहीं से आप सीधे ब्रह्म के निकटतम द्वार पर पहुँच जायेंगे।

यह भी सम्भव है कि बिना गुरु के ही ब्रह्म मिल जाय; यदि ऐसा सम्भव प्रतीत हो तो गुरु से भी बचने का प्रयास करें। लेकिन यह भी अति कठिन है। सबसे कठिन तो है यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से बचना; उससे कठिन है शास्त्र से बचना; और उससे भी कठिन है गुरु से बचना। आपकी जो स्थिति है उसी के अनुसार परमात्मा तक पहुँचने के लिए आप चरण चुनिये। आपको मालूम

होना चाहिए कि जप, तप, दान, यज्ञ, शास्त्र आदि सभी का प्रारम्भ ओम् से होता है और ओम् से ही समाप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही प्रारम्भ है और परमात्मा ही अन्त है। आप भी वहीं से आते हैं और वहीं वापस लौट जाते हैं। यह एक वर्तुल है। प्रथम चरण वहीं से, अन्तिम चरण वहीं से। वहीं से जन्म और वहीं से मृत्यु। सभी ओम् से शुरू होते हैं और ओम् में समाप्त भी हो जाते हैं। ऐसा ही आपका जीवन भी होना चाहिए। ओम् से शुरू हो और ओम् में पूर्ण हो।

० ० ०

ओम् के तीन रूप हैं। पहला है—यज्ञादि रूप यानि कर्म से। दूसरा है—वेद रूप यानि बोध से, अध्ययन से, स्वाध्याय से, मनन और चिन्तन से। तीसरा है—ब्राह्मण रूप यानि भाव से, अन्तर्भाव से। इन रूपों से परमात्मा को जानना, समझना और प्राप्त करना। पहले रूप में कर्म की प्रधानता है। दूसरे रूप में बोध, अध्ययन, स्वाध्याय और चिन्तन-मनन की प्रधानता है। और इसी प्रकार तीसरे रूप में भाव और अन्तर्भाव की प्रधानता है। ये तीनों 'प्रधानता' साधन है।

० ० ०

'तत्' नाम से सम्बोधित किये जाने वाले परमात्मा का ही यह सब कुछ है। ऐसे भाव से फल की कामना न कर भिन्न-भिन्न प्रकार के जप, तप, यज्ञ, और दान रूप क्रियाएँ मोक्ष की कामना करने वाले पुरुषों द्वारा की जाती है।

मगर योगसाधना के इस वचन में एक गहरा विरोधाभास है। आपको अड़चन मालूम होगी। योग-साधना यह कहती है कि यह सब उसी का है—ऐसे भाव से फल की कामना न कर मोक्ष की आकांक्षा करने वाले पुरुषों द्वारा······।'

आप सोंचेंगे कि मोक्ष की आकांक्षा भी तो फल की ही कामना है। मगर इसमें किसी प्रकार की उलझन नहीं है। बात बिलकुल सीधी और सरल है। मोक्ष की आकांक्षा पहले पैदा होती है। आपने संसार की आकांक्षा की है। स्वभावतः आप आकांक्षा करने में कुशल हो गये हैं। इसके अतिरिक्त आप कुछ कर भी नहीं सकते। आप अचानक आकांक्षा कैसे करेंगे? 'अ-चाह' कैसे करेंगे? आपको पहले तो संसार की आकांक्षा की जगह मोक्ष की आकांक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन जैसे ही आपने मोक्ष की आकांक्षा की, आप कठिनाई में पड़ जायेंगे। क्योंकि संसार की आकांक्षा से आपको संसार मिल जाता है मगर मोक्ष की आकांक्षा से आपको मोक्ष नहीं मिलता—इसे आप थोड़ा समझ लें।

संसार की आकांक्षा से संसार मिल जाता है। यदि आप ठीक से परिश्रम

करेंगे तो धन कमा लेंगे। इसमें ऐसी क्या अड़चन है? यदि धन न कमा पायेंगे तो आपने ठीक से परिश्रम नहीं किया, बस इतना ही सिद्ध होगा।

यदि आप पद प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पद भी मिल जायेगा। बड़े-बड़े मूर्खों को पद मिल जाता है। फिर आपको क्यों नहीं मिलेगा? इसमें अड़चन क्या है? कोई भी पद प्राप्त कर सकता है। केवल उसे पाने के लिए पागलपन चाहिए। इसके अतिरिक्त इसके लिए किसी का परामर्श अथवा किसी की बुद्धि भी नहीं चाहिए। परामर्श और बुद्धि अड़चन बन जाती है इस दिशा में। यदि आपने किसी की सुनी या किसी की बुद्धि ली या किसी का परामर्श लिया तो इतनी देर में दूसरा आगे निकल जायेगा और आप रह जायेंगे हाथ मलते। पद तो नहीं मिलेगा किन्तु पछतावा मिलेगा आपको पद के खो जाने का।

हाँ, तो पद पाने में यदि आप चुक गये तो इसका मतलब इतना ही है कि आप सज्जनता का व्यवहार कर रहे थे। आपको तो एक पागल बैल की तरह सिर झुका कर दौड़ जाना चाहिए था पद पाने की दिशा में।

० ० ०

आपको मालूम होना चाहिए कि सांसारिक आकांक्षा पूरी हो जाती है। क्योंकि आकांक्षा और संसार में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि 'क्षुद्र' की आकांक्षा है और 'क्षुद्र' तो आकांक्षा से मिल ही जाता है, किन्तु विराट् नहीं मिलता।

आपको यहाँ फिर अड़चन का सामना करना पड़ेगा। आपके गुरु आपको समझायेंगे कि आकांक्षा में इस संसार में कुछ नहीं मिलेगा। कामना करना और आकांक्षा करना व्यर्थ है। मगर मैं कहता हूँ कि आकांक्षा से ही सब कुछ मिल जाता है। यदि आपको नहीं मिलता है तो निश्चय ही आपने ठीक से आकांक्षा नहीं की होगी।

प्रकरण : दो

परमात्मा की आकांक्षा असम्भव

आकांक्षा तभी पूरी होती है, जब वह पूरी तरह मन एवं प्राण के साथ हृदय में जन्म लेती है। यदि आपने पूरी तरह मन-प्राण भी लगाकर मोक्ष को बचाने की चेष्टा साथ में जारी रखी कि धन भी कमा लें और इमानदारी भी बची रहे तो आप ही बतलायें कि ऐसा कहीं हो सकता है? तो बेइमान होने के लिए तैयार हो जाइए। फिर मोक्ष की चिन्ता छोड़ दीजिए। यदि धन और धर्म दोनों को सम्हाला तो आप दो नाव पर सवार हो रहे हैं अतः कहीं नहीं पहुँचेंगे।

…तो जिसको जाना है संसार में—वह निश्चय ही पहुँच जाता है। आपके गुरु आपसे ठीक नहीं कहते। वे आपसे कहते हैं कि परमात्मा की आकांक्षा करो, संसार की आंकाक्षा क्या कर रहे हो। और मैं आपसे कहता हूँ कि यह बात ही पूरी तरह उलटी है। संसार की आकांक्षा करने वाला तो संसार को पा ही लेता है। सिकन्दर सिकन्दर हो जाते हैं। नेपोलियन नेपोलियन हो जाते हैं। मिल जाता है।

रही परमात्मा की आकांक्षा तो वह असम्भव है। क्योंकि वह आकांक्षा से मिलता ही नहीं। लेकिन पहला कदम यही होगा कि संसार को चाह कर भी आपने कुछ सार नहीं पाया। संसार आपके लिए अन्त तक रसहीन ही बना रहा।

इस संसार में दो तरह के लोग हैं। एक वे जिन्होंने सब कुछ पा लिया, जो वे चाहते थे। लेकिन सब कुछ पाकर भी सार न पाया, क्योंकि सार तो संसार में है ही नहीं। सार तो एकमात्र परमात्मा है।

दूसरे वे, जिन्होंने पानें का प्रयत्न ठीक से नहीं किया। इसीलिए आकांक्षा के दलदल में जीवन भर पड़े सड़ते रहे।

पहले प्रकार के लोग ही ठीक अर्थों में धार्मिक हो सकते हैं। दूसरे प्रकार के लोग ठीक अर्थों में धार्मिक नहीं हो सकते। पूर्ण धार्मिक होने के लिए संसार की दौड़ में 'असार' सिद्ध हो जाना चाहिए। तब नयी दौड़ शुरू होती है। तब आप पूरे मन एवं प्राण से नयी दौड़ में लगेंगे। तब आप परमात्मा को चाहते हैं। मोक्ष चाहते हैं। सत्य चाहते हैं। एक आकांक्षा जन्म लेती है—मोक्ष की आकांक्षा। लेकिन जब आप आकांक्षा में दौड़ेंगे, तब आपको धीरे-धीरे पता चलेगा कि मोक्ष की आकांक्षा करना मोक्ष से बचने का उपाय है। यहाँ

तो आकांक्षा जब पूरी तरह नष्ट हो जाय तभी मोक्ष की उपलब्धि होती है। मोक्ष के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है—आकांक्षा। क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही है—आकांक्षा से मुक्त हो जाना। मोक्ष का कोई और अर्थ नहीं है। परमात्मा को पाने का अर्थ ही यह है कि कुछ पाने की चाह ही नहीं रही, वहीं परमात्मा उपलब्ध हो जाता है। इसलिए विपरीत शब्दों का उपयोग योग ने किया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—फल को न चाह कर मोक्ष की आकांक्षा करने वाले पुरुषों द्वारा···मोक्ष की आकांक्षा विरोधाभासी है। वही आकांक्षा बाधा है।

आरम्भ आकांक्षा से ही करिये तो अन्त निराकांक्षा पर होगा। चढ़ेंगे चाह से तो धीरे-धीरे अनुभव बतलायेगा कि चाह पहुँचाती नहीं भटकाती है। और तब एक दिन आपकी चाह अपने आप गिर जायेगी और जहाँ आप 'अ-चाह' हुए कि वही उपलब्धि है।

सभी धर्मों को एक सूत्र में बाँधने वाला शब्द 'ओम्'

मुख्य विषय को समझने के लिए एक बार 'ओम्, तत्, सत्' पर और विचार करना आवश्यक है। 'सत्' परमात्मा का तीसरा नाम है। गीता के अनुसार संसार में जितने भी श्रेष्ठ और उत्तम 'कर्म' हैं, उनके साथ 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् है और उस परमात्मा के अर्थ में किया हुआ कर्म भी निश्चयपूर्वक 'सत्' है। श्रद्धा के बिना किया हुआ हवन, दिया हुआ दान तथा तपा हुआ तप और कुछ भी किया हुआ कर्म 'असत्' है। इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न ही अन्य लोकों में।

'ओम् तत् सत्'—इन तीन शब्दों में सब कुछ आ जाता है।

'ओम्' शब्द नहीं ध्वनि है, जिसका कोई भी अर्थ नहीं है। वह अर्थातीत ध्वनि है। जैसे नदी की धारा में कलकल नाद होता है। क्या अर्थ है कलकल का—कोई भी अर्थ नहीं है। हवा जब वृक्षों से गुजरती है तो सरसराहट की ध्वनि होती है। क्या अर्थ है सरसराहट का—कोई भी अर्थ नहीं है। आकाश में मेघ गरजते हैं। क्या अर्थ है उस गर्जना का—कोई भी अर्थ नहीं है। अर्थ तो आदमी का दिया हुआ है।

'ओंकार' मौलिक ध्वनि है, जिससे सारा विस्तार हुआ है। उस मौलिक ध्वनि के ही अलग-अलग सघन रूप अलग-अलग ढंग से प्रकट हुए हैं। ओंकार का कोई अर्थ नहीं है। वह पूर्णरूप से अर्थहीन है यानि अर्थातीत है। अर्थ की सीमा के बाहर। अर्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पूर्व कोई मनुष्य नहीं हैं। और एकमात्र यही कारण है कि ओंकार परमात्मा का प्रतीक बन गया। क्योंकि परमात्मा कोई आपका दिया हुआ अर्थ नहीं है। परमात्मा आपसे पहले है, आपके बाद में है और आप में भी है। परमात्मा आपसे विराट् है। आप

छोटी तरंग की तरह हैं जबकि वह सागर है। तरंग सागर को कैसे अर्थ दे पायेगी और तरंग का दिया हुआ अर्थ भी अपना क्या अर्थ रखेगा। इसलिए हिन्दू धर्म ने 'ओम्' को परमात्मा का प्रतीकात्मक शब्द चुना। इसका हिन्दू धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। अर्थ होता तो शायद कुछ लेना-देना होता भी। भारत में मुख्यरूप से चार धर्म उत्पन्न हुए—हिन्दू, जैन, बौद्ध और सिख। इन चारों धर्मों में आपस में भारी मतभेद हैं। प्रबल झगड़े हैं। आपसी दार्शनिक झंझटें भी हैं। लेकिन 'ओंकार' के सम्बन्ध में किसी बात का झंझट, झगड़ा और मतभेद नहीं है।

नानक कहते हैं—'इक ओंकार सत् नाम'। 'ओम् तत् सत्'—इसका ही वह रूप है। जैन भी ओम् का प्रयोग करते हैं, बिना किसी झगड़े-झंझट के। बौद्ध भी इसका प्रयोग करते हैं बिना किसी रुकावट के।

'ओम्' ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जो गैर सम्प्रदायिक है। बाकी सब झगड़ा है। 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग जैनधर्म नहीं करेगा। परमात्मा शब्द का प्रयोग बौद्धधर्म नहीं करेगा। लेकिन ओम् के साथ उनका किसी प्रकार का झगड़ा नहीं है। हिन्दू, जैन और बौद्ध—ये तीन धर्म भारत के हैं। ईसाई, इस्लाम और यहूदी—ये तीन धर्म भारत के बाहर के हैं। उनके पास भी ओंकार की ध्वनि है। मगर वे उसे ठीक से पकड़ नहीं पाये।

कहीं कुछ भूल हो गयी। वे कहते हैं—'आमीन', 'आमेन'। हर प्रार्थना के बाद मुसलमान कहता है—आमीन। यह ओंकार की ही ध्वनि है। ओंकार का ही एक रूप है।

इसलिए एक ही अर्थहीन शब्द है, जो सारे धर्मों को अनुस्यूत किये हुए हैं। यदि संसार में कोई एक शब्द खोजना चाहे, जो गैर-साम्प्रदायिक है और जिसके लिए सभी धर्मों के लोग तैयार हो जायेंगे तो वह एकमात्र 'ओम्' है।

वास्तव में 'ओम्' बड़ा ही अद्भुत शब्द है। सभी ने इसकी प्रतिध्वनि सुनी है। जो भी भीतर गये हैं, उन्होंने ओंकार की प्रतिध्वनि सुनी है। लेकिन उसे सुनकर बाहर उसके विषय में बतलाने में थोड़े-थोड़े अन्तर पड़ गये। पड़ना ही चाहिए। आपने कभी ध्यान दिया है। आप ट्रेन में बैठे हैं। ट्रेन चल रही है। किस तरह की आवाज हो रही है—भक्-भक्, झक्-झक्। आप उस आवाज को जैसा सुनना चाहें सुन सकते हैं और एक बार आपकी पकड़ में आ जाय कि यह झक्-झक्, भक्-भक् हो रहा है—या भक्-भक्, झक्-झक् हो रहा है। फिर मुश्किल है। फिर वह पैटर्न पकड़ गया। फिर वह ढाँचा पकड़ गया। फिर वह आपको वही सुनाई देगा। फिर लाख आपको कोई दूसरा समझाये कि नहीं, यह ठीक नहीं है तो भी आपको वही सुनाई पड़ेगा। क्योंकि आपके मन ने एक ढाँचा पकड़ लिया।

'ओम्' की शुद्धतम ध्वनि को निश्चय ही अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग

सुन ली होगी । आमीन की तरह सुन ली । वह सम्भव है । मगर इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है । यह एकमात्र शब्द है, जो सारे धर्मों को एक सूत्र में बांधे हुए हैं । यह शिखर शब्द है ।

० ० ०

'तत्' का मतलब है—वह । इसके सम्बन्ध में मैंने पीछे चर्चा की है कि हम उसे 'तत्' क्यों कहते हैं ? क्यों कहते हैं—वह ।

हम उसे 'तू' नहीं कहते । 'तू' कहने से हमारा 'मैं' निर्मित होता है । और हम परमात्मा को थोड़ा नीचे ला देते हैं—उसके 'तत्' रूप से, उसकी 'वह' से । हम उसे खींचकर अपने निकट लाते हैं । तब 'वह' हमारा प्रेमी हो जाता है, पिता हो जाता है, पत्नी हो जाता है, पति हो जाता है । एक ढंग का सम्बन्ध हो जाता है । जैसे ही हमने परमात्मा को 'तू' कहा, हम उसी क्षण परमात्मा को खींचकर संसार में ले आते हैं और यही कारण है कि भक्त 'तू' के पार जाने में अपने आपको मुश्किल में पाता है । फिर सम्बन्ध छूट जायेगा । भक्ति सम्बन्ध है और ज्ञान 'असम्बन्ध' है । भक्ति में आप कितने ही करीब आ जाइए, लेकिन फिर भी दूरी रहती है । ज्ञान में आप एक ही हो जाते हैं । भक्ति और ज्ञान में यही अन्तर है । इसलिए ज्ञानियों ने उसे 'तत्' कहा है । यह एक तटस्थ शब्द है, जिससे हमारा कोई राग-रंग नहीं जुड़ता ।

० ० ०

तीसरा शब्द है—'सत्' । इन तीन शब्दों में सम्पूर्ण भारत का दर्शन, बेदान्त, पूरा सार और भारत की आत्मा समाई हुई है । श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि लोग भी इन्हीं तीन शब्दों में समाये हुए हैं ।

सत् का अर्थ है—'जो है' । संसार में जो भी वस्तुएँ हैं वे आज हैं, कल नहीं रहेंगी । हम भी हैं और आप भी हैं । लेकिन 'परमात्मा' का होना इस होने से भिन्न है । जो वस्तुएँ आज हैं, वे कल नहीं रह पायेंगी । हम आज हैं कल नहीं रहेंगे । आप भी आज हैं, कल नहीं रहेंगे । वृक्ष, पहाड़ जो अभी हैं कल मिट जायेंगे । कल सभी वस्तुओं का न होना निश्चित है । चेतन हो या अचेतन । उनका नाश होना निश्चित है ।

इसलिए परमात्मा के 'है-पन' में एक गहरा अन्तर है । हमारा होना एक तथ्य है, कभी था कभी फिर नहीं हो पायेगा । दो तरफ न होने की खाई और बीच में होने की छोटी-सी ऊँचाई । जैसे आपके कमरे में एक पक्षी चला आये, क्षण भर तड़पे, एक खिड़की से प्रवेश करे और दूसरी खिड़की से निकल जाय । ऐसा ही क्षणभर के लिए हमारा 'होना' है, फिर गहन न होना हो जाता है ।

० ० ०

परमात्मा सदा है। सत् का अर्थ ही यही है कि जो सदा-सर्वदा है। जिसके न होने का कोई उपाय या प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए हम मिट जायेंगे; आप भी मिट जायेंगे—मगर हमारे और आपके भीतर का परमात्मा कभी नहीं मिटेगा। और जब तक आप अपने आपको मिटने वाले 'स्वरूप' के साथ अपने को एक समझा, तभी तक आप भटकेंगे। तब तक आप दुःखी भी रहेंगे और आप मृत्यु से भी भयभीत रहेंगे। लेकिन जिस दिन आपकी नजर बदली और आपने अपने भीतर उसको पहचान लिया, जो 'सत्' है--जो न कभी मिटता है, न कभी पैदा होता है--जो बस है, जो शुद्ध 'है-पन' है--इजनेस। इसलिए परमात्मा है--ऐसा कहना पुनरुक्ति है। आप हैं, हम हैं, वृक्ष हैं, पहाड़ हैं--ऐसा कहना तो ठीक है। क्यों हम, आप, वृक्ष, पहाड़ आदि कभी नहीं भी हो पायेंगे। परमात्मा है--ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'है' का क्या मतलब ? परमात्मा है--इसका तो मतलब हुआ कि जो है, वह है। यह तो पुनरुक्ति है। इसीलिए हमने परमात्मा को सत् कहा है। हमने कहा कि वह 'है-पन' है। उसको मत कहो कि 'परमात्मा' है।

इसीलिये उपनिषद् को, वेदान्त को नास्तिक भी इनकार नहीं कर सकता। क्योंकि वेदान्त इस बात का दावा नहीं करता कि परमात्मा है। इसलिए आप कैसे खण्डन करेंगे। कैसे सिद्ध करेंगे कि वह नहीं है। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है।

वेदान्त यह नहीं कहता कि परमात्मा है। वेदान्त यह कहता है कि जो है, वही परमात्मा है। 'है-पन' होना ही परमात्मा है। इसलिए भारत में नास्तिक लोग पनप नहीं सके। क्योंकि हमारा दावा ही बड़ा अनूठा है, विलक्षण है। पश्चिम में नास्तिक पनपे और ईसाई-धर्मगुरु नास्तिकों को कभी भी समझा नहीं पाये। क्योंकि आप कहते हैं कि ईश्वर है। जैसे वृक्ष है, पहाड़ है, नदी है, संसार की हर वस्तु है। आप हैं, हम हैं। और नास्तिक कहते हैं कि 'नहीं है'। जो है उसको सिद्ध किया जा सकता है कि वह नहीं है।

इसीलिये नीत्से ने कहा है--'गॉड इज डेड। ईसाईयत से इसका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि यदि आप कहते हैं कि परमात्मा भी वैसा ही है, जैसे और तमाम वस्तुएँ हैं संसार में। जैसे और चीजें मरती हैं, नष्ट होती हैं, समाप्त होती हैं—वैसे ही परमात्मा भी मर सकता है, नष्ट हो सकता है, समाप्त हो सकता है। तो नीत्से ठीक कहता है कि 'ईश्वर मर गया है'। अब तुम व्यर्थ पूजा कर रहे हो। व्यर्थ चर्च जा रहे हो। यह सब बन्द करो। ईश्वर मर चुका है। तुम किसकी पूजा कर रहे हो। अब वह नहीं है।

जो है 'वह नहीं है'—हो सकता है। लेकिन हमारी घोषणा ही भिन्न है। हम कहते हैं—वह 'सत्' है। 'सत्' उसका स्वरूप है—उसका गुण नहीं है। यह थोड़ी सूक्ष्म बात है जिसे ठीक से समझना होगा।

'गुण' कभी भी खो सकता है। स्वरूप कभी खोता नहीं। आपका होना गुण है, स्वरूप नहीं है। परमात्मा का होना स्वरूप है, गुण नहीं। वह सदा है। उचित तो यही होगा कि हम कहें कि जो सदा है, हमेशा है, उसी का नाम परमात्मा है।

इसलिए 'ओम् तत् सत्' इन तीनों में सब आ जाता है। मेरे गुरुदेव कहते थे कि ये तीनों शब्द फाँसी जैसे लगते हैं। इसे आप मजाक मत समझिए। गुरुदेव ठीक कहते थे—'ओम् तत् सत्' यानि फाँसी लगा लो। तुम मिटोगे तभी 'ओम् तत् सत्' सत्य हो पायेगा—अन्यथा नहीं। तुम खो जाओगे, विलीन हो जाओगे तभी तुमको परमात्मा के होने की प्रगाढ़ता का अनुभव होगा।

इसी प्रसग में गुरुदेव की एक बात और नहीं भूल सकता मैं। उनका कहना था कि तुम बँधे हुए हो—ऐसी बात नहीं। तुम ही बन्धन हो। तुम मुक्त हो जाओगे ऐसा भी नहीं। तुमसे ही मुक्ति चाहिए। जिस दिन तुम नहीं रहोगे उस दिन शेष रह जाता है—'ओम् तत् सत्'! गीता का कथन है कि जहाँ-जहाँ अहंकारशून्य होकर कुछ भी होगा, कोई भी कार्य होगा, वहीं 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उस कार्य को हम 'सत् कर्म' कहते हैं, जो निरहंकार भाव से किया जाय। इस परिभाषा को ठीक से स्मरण रखना होगा।

सत्कर्म का अर्थ

सत् कर्म का अर्थ है—जिसे आपने न किया हो, बल्कि जो आप के द्वारा परमात्मा से हुआ हो। सत् कर्म का दूसरा कोई अर्थ नहीं है कि आपने दक्षिणा दी, दान दिया, सेवा की, मन्दिर बनवाया। इनसे कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि आपने सेवा की, दान दिया, दक्षिणा दी और 'आपने' ही की तो वह सत्-कर्म नहीं हैं। यदि आपसे सेवा हुई और वह परमात्मा ने की तो वह सत्कर्म हुआ। यदि दान देते समय आपके भीतर अंहकार ने जन्म ले लिया तो समझिए कि वह असत् दान अथवा असत् कर्म हो गया। यदि दान देते समय आपने अपना हाथ परमात्मा के हाथ में दे दिया और यह समझ लिया कि यह मेरा हाथ नहीं परमात्मा का हाथ है और परमात्मा ने ही दान दिया—मैं केवल उपकरण या निमित्तमात्र ही रहा तो वह दान सत्कर्म हो गया। सत्कर्म की व्याख्या अनूठी है। किसी दूसरे से इसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें अच्छे कर्म का भी प्रश्न नहीं है। इसमें प्रश्न है निरहंकारिता का। परमात्मा से हो तो सत् हो जाता है कर्म और आपसे हो तो असत् हो जाता है कर्म।

गीता का उद्धरण

इस प्रसंग में मैं गीता का उद्धरण देने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। गीता में भगवा न् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—हे अर्जुन। युद्ध न सत् है और न

ही असत् है। कैसे तू करता है। इस पर सब निर्भर है। तो तू यह मत कह कि युद्ध असत् है, हिंसक है, बुरा है, दुष्कर्म है। मैं यह पाप नहीं करूँगा। कृष्ण पूरी व्याख्या को गहराई में ले जा रहे हैं। वे कह रहे हैं कि प्रश्न युद्ध का नहीं है बल्कि प्रश्न युद्ध करने वाले का है। तू युद्ध-क्षेत्र में ऐसे उतर जैसे तू है ही नहीं। परमात्मा ही तेरे द्वारा युद्ध करवा रहा है और युद्ध हो रहा है। तू बीच से हट जाये तो सत् कर्म है। ऐसी अवस्था में भयंकर युद्ध भी धर्म-युद्ध हो जाता है। और यदि 'तू' युद्ध कर रहा है और परमात्मा को तू पीछे कर स्वयं आगे आ जाता है—तो यह असत् हो जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सत् और असत् होने का सम्बन्ध कर्मों से नहीं है। एक वेश्या भी सत् को प्राप्त कर सकती है। एक हत्यारा या एक चोर भी सत् को प्राप्त कर सकता है, यदि उसने अहंकार को छोड़ दिया और परमात्मा ने जो करवाया वह निमित मात्र हो गया।

० ० ०

कबीर कहते हैं—मैं तो बाँस की जोगरी हूँ। गीत तो तेरे हैं। बस, तब गीत जो भी हो, वह 'सत्' हो जायेगा।

और आप चाहे दान करिये, तप करिये, यज्ञ करिये या किसी भी प्रकार का पुण्य करिये—यदि वे सब अहंकार के साथ है; 'मैं-पन' के साथ है तो कृत्य अच्छे अवश्य दिखलाई पड़ेंगे, लेकिन 'सत्' नहीं होंगे। परमात्मा के हाथ की छाप जिस पर पड़ जाय, वह कृत्य 'सत्' है, क्योंकि परमात्मा 'सत्' है।

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धा का होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया जाय, वह कर्म 'असत्' है।

श्रद्धा का क्या अर्थ है। श्रद्धा का अर्थ है—समर्पण। श्रद्धा का अर्थ है—निमित्तमात्र हो जाना। श्रद्धा का अर्थ है—'मैं नहीं' 'तू'। श्रद्धा का अर्थ है मैं हटा, तू आ और विराजमान हो जा। श्रद्धा का अर्थ है—अब मैं वैसे ही जीऊँगा, जैसे तू जिलायेगा। अब मेरी कोई मरजी नहीं। अब तेरी मरजी ही मेरी मरजी है। श्रद्धा का अर्थ है—मैं मरा, मैं मिटा, मेरा सारा अस्तित्व समाप्त।

० ० ०

ऐसा ही भाव लेकर तन्त्र भी कहता है कि जिस क्षण आप शववत् हो जायेंगे, उसी क्षण आप शिववत् को उपलब्ध हो जायेंगे। जिस क्षण आप मृतक के समान हो जाते हैं, उसी क्षण परमात्मा का शिवत्व आपके भीतर से अहर्निश प्रवाहित होने लगता है। फिर आप तप करिये या न करिये। साधना करिये या न करिये। करने वाला न रहा, कोई फल की आकांक्षा नहीं रही और आप परमात्मा के हाथ की लकड़ी हो गये। फिर न आपको पाप लगेगा और न ही

पुण्य। फिर कर्म के जाल आपको नहीं छूयेंगे। आपका जीवन जल-कमलवत् हो जायेगा। अस्पर्शित।

० ० ०

अन्त में कहने का तात्पर्य यह है कि बिना श्रद्धा के किया गया कोई भी कार्य, कृत्य अथवा कर्म असत् है। इसीलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न ही मरने के पीछे परलोक में। उसके धोखे में मत पड़ियेगा। सूक्ष्म रूप में एक अन्तिम बात आपको स्मरण रखना होगा कि जो भी आपसे हो, वह असत् है, अधर्म है। जो अहंकार को लेकर बहे वह पवित्र गंगा नहीं है। उसके तट पर तीर्थ नहीं बनेंगे। एक ही यज्ञ है—आपका भस्म हो जाना। व्यर्थ का घी मत जलाइये। घी की तो वैसे ही कमी है हवन में व्यर्थ का अन्न भस्म मत करिये। अन्न वैसे ही कम है। मूर्खता मत करिये। एक ही तप है......।' धूप में मत खड़े होइये तपस्या के नाम पर। भूखे मत रहिये व्रत के नाम पर। दान-पुण्य मत करिये स्वर्ग की प्राप्ति के नाम पर। क्योंकि इससे आपका अहंकार सघन होगा, मजबूत होगा, दृढ़ होगा। बस, एक ही तप है, एक ही व्रत है, एक ही दान है कि आप मिटिये। एक ही यज्ञ है कि आप मिटिये। एक ही दान है कि आप अपने आपको दे डालिये। फिर जो शेष बचा रहेगा उसी का नाम है—'ओम् तत् सत्'।

परमात्मा का अस्तित्व

जब भी हम परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा अस्तित्व से कुछ और ही है। वास्तव में यह हमारे विचार की भूल के कारण होता है। यह हमारे विचार के स्वभाव और प्रक्रिया के कारण होता है। जब भी विचार का उपयोग किया जाता है तो चीजें दो में टूट जाती हैं। विचार वस्तुओं को विश्लिष्ट करने का मार्ग है। तो जब भी हम सोचते हैं परमात्मा के सम्बन्ध में अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में तो परमात्मा या ईश्वर अलग हो जाता है और जगत् अलग हो जाता है।

जब हम कहते हैं सृष्टि—तो स्रष्टा उससे अलग हो जाता है। लेकिन वस्तुतः अनुभूति में सृष्टि और स्रष्टा अलग-अलग नहीं हैं। वे दोनों एक ही हैं। इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि मकड़ी के जाले की तरह है। सृष्टि का जो इतना विस्तार है, यह परमात्मा से वैसे ही निकलता और फैलता है जैसे मकड़ी का जाला उसके भीतर से निकलता और फैलता है। यह सारा विस्तार उसी का विस्तार है। यह सारा विस्तार परमात्मा से पृथक् नहीं है। एक क्षण के लिए पृथक् होकर उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। यह उसकी उपस्थिति के कारण ही है। वह इसमें समाया है। इसलिए इसका अस्तित्व है। वह उपस्थित है। इसलिए यह भी उपस्थित है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम

परमात्मा या ईश्वर को अस्तित्व का पर्यायवाची मानें। अस्तित्व ही ईश्वर है, परमात्मा है। इस बात से विज्ञान भी राजी होगा, नास्तिक भी राजी होगा। लेकिन दोनों यही कहेंगे कि फिर ईश्वर या परमात्मा शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। प्रकृति ही काफी है। जगत् काफी है। अस्तित्व काफी है। ठीक है। मगर अस्तित्व से हमारे हृदय में किसी भी प्रकार का आन्दोलन नहीं होता। हमारे प्राणों में कोई चीज संचारित नहीं होती। 'अस्तित्व' से हमारे हृदय की वीणा पर कोई चोट नहीं पड़ती। अस्तित्व और हमारे बीच कोई सम्बन्ध निर्मित नहीं होता। मगर हाँ। परमात्मा या ईश्वर कहने से हमारे हृदय में गति शुरू हो जाती है। प्राणों में एक लहर-सी दौड़ जाती है। ईश्वर या परमात्मा शब्द केवल इसलिए प्रयोजित हैं कि 'ईश्वर है अथवा परमात्मा है' इतना कहना ही काफी नहीं; मनुष्य उस तक पहुँचे यह भी आवश्यक है।

'धर्म' केवल तथ्यों की घोषणा नहीं है, बल्कि लक्ष्यों की भी घोषणा है। यही विज्ञान और धर्म में अन्तर है। धर्म केवल तथ्यों की घोषणा नहीं है। 'क्या है'—केवल इतने से ही धर्म का सम्बन्ध नहीं है। 'क्या होना चाहिए' और 'क्या हो सकता है'—इससे भी धर्म का सम्बन्ध है।

यदि बीज हमारे सामने पड़ा हो, तो विज्ञान कहेगा यह बीज है। लेकिन धर्म कहेगा कि बीज भी है, फूल भी है और फल भी है। धर्म उसकी भी घोषणा करेगा—जो हो सकता है और जो होना चाहिए। विज्ञान इतना कहकर मौन साध लेता है कि 'अस्तित्व' है। 'धर्म' कहता है ईश्वर और अस्तित्व समानार्थी हैं। फिर भी हम अस्तित्व नहीं कहते। ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। परमात्मा कहते ही बीज, फूल और फल तीनों की घोषणा हो जाती है। जब हम कहते हैं कि परमात्मा है, ईश्वर है तो उसके साथ अस्तित्व का भी बोध हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा चराचर कोई भी नहीं हैं, जो मेरे से रहित हो। बात बिलकुल ठीक है। जो अति निकट होता है, उसका विस्मरण हो जाता है। उसकी याद हमें नहीं आती। जो हमारे भीतर होता है, उसका हमें कोई पता ही नहीं होता। हमें पता उन चीजों का होता है, जो हमसे दूर होती हैं। जिनमें, हममें फासला होता है। बोध के लिए बीच में अन्तराल चाहिए। हमारे और परमात्मा के बीच में कोई अन्तराल नहीं है। इसीलिए परमात्मा का बोध हमें नहीं होता।

० ० ०

सबसे सरल बात है—परमात्मा का निरन्तर उपस्थित रहना। यह जो सरलता है, यह वास्तव में सबसे बड़ी कठिनाई है। इसलिए कि भाषा में यह कहना फिर भी गलत है कि परमात्मा हमारे पास है, क्योंकि 'पास' का मतलब भी थोड़ी दूरी होती ही है। हम वही हैं, फिर भी भाषाएँ दो हो जाती हैं—'मैं' और 'वह'। इसलिए ज्ञानियों ने कहा कि 'मैं ही हूँ' 'अहं ब्रह्मास्मि' और

या फिर कहा कि 'तू ही है'। या तो 'मैं ही हूँ' और या 'तू ही है'। क्योंकि दो का उपयोग करने में फिर थोड़ा-सा फासला बनता है। परमात्मा और हमारे बीच उतना भी फासला नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि सारे अस्तित्व में मैं ही समाया हुआ हूँ। इन वाक्यों में गम्भीर रहस्य भरा है। जिसे भी खोजना है, उसे खोजने की भूल में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि उसे यानि परमात्मा को हमने कभी खोया ही नहीं है। जिसे हम खो दें उसे हम खोज भी सकते हैं। लेकिन परमात्मा को खोने का कोई उपाय ही नहीं है। आप परमात्मा को खो नहीं सकते। यदि परिभाषा में कहा जाय कि परमात्मा का अर्थ है—आपका वह हिस्सा जिसे आप कभी भी खो नहीं सकते। शरीर आप खो सकते हैं, मन आपका कल बदल सकता है, आपकी आँखे कल फूट सकती हैं, कोई भी इन्द्रिय आपकी खो सकती है, होश भी आप खो सकते हैं। कल आप बेहोश हो सकते हैं। कहने का मतलब यह है कि आप जो-जो हिस्से खो सकते हैं, वह आपका नहीं है और जिसे आप खो नहीं सकते, वह आपका अपना है। जिसे आप खो नहीं सकते, वही परमात्मा है आपके भीतर। आपका 'अपना होना'—इसे आप कभी भी नहीं खो सकते।

तात्पर्य यह कि जो खोया नहीं जा सकता, वही 'परमात्मा' है। यदि हम परमात्मा को खोज रहे हैं तो निश्चय की गलती कर रहे हैं। खोजने से परमात्मा क्या कभी किसी को मिला है? खोज से केवल एक बात का पता चलता है कि खोज व्यर्थ गयी। खोजने से हम केवल थकते हैं, रुकते हैं। लेकिन जिस दिन हम थकते हैं, रुकते हैं, उसी दिन परमात्मा को पा लेते हैं। जिस क्षण भीतर समस्त गति शून्य हो जाती है उसी क्षण हम उसे पा लेते हैं। क्योंकि हम उसे पाये हुए ही हैं। वह हमारा अस्तित्व है।

० ० ०

इसी प्रसंग में गीता का एक और उद्धरण मैं यहाँ दूँगा। भगवान् कहते हैं कि मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं। जिसका अन्त हो जाय वह विभूति नहीं है तथा जिसका अन्त हो जाय वह दिव्य भी नहीं है। जिन भी सांसारिक वस्तुओं का अन्त होता है, वे वस्तुएँ सांसारिक हैं और जिन-जिन का प्रारम्भ होता है, वे वस्तुएँ भी सांसारिक हैं। दिव्य का अर्थ है—जिसका न तो प्रारम्भ है और न ही अन्त। जिसका स्वभाव अनादि और अनन्त होता है, वही दिव्यता है। इस जगत् में हमें जहाँ-जहाँ प्रारम्भ मिल जाता हो और अन्त मिल जाता हो, तो समझ लें कि वहाँ-वहाँ संसार है। जहाँ न प्रारम्भ मिलता हो और न अन्त मिलता हो तो समझ लें कि वहाँ परमात्मा की झलक मिलनी शुरू हुई। लेकिन समस्या यह है कि हम परमात्मा को भी वस्तुओं की ही तरह देखना चाहते हैं। परमात्मा आकर सामने खड़ा

हो जाय तो तभी हम मानें। नास्तिक भी कहता है—कहाँ है तुम्हारा ईश्वर? यदि है तो प्रमाण दो। सामने लाओ उसे। एक प्रकार से उसका प्रश्न सार्थक है, किन्तु है बिलकुल व्यर्थ। क्योंकि वह बेचारा ईश्वर शब्द की परिभाषा ही नहीं जानता। ईश्वर का या परमात्मा का एकमात्र यही अर्थ है कि जिसका न आदि है, न अन्त है और न रूप है, न गुण है। फिर भी संसार में जितने भी आकार हैं, रूप हैं और जितने गुण हैं, उन सबके भीतर वह अवस्थित है।

० ० ०

जैसे आपको एक फूल दूँ और कहूँ कि बहुत सुन्दर है। फूल तो मैं आपको दे सकता हूँ। फूल की परिभाषा भी हो सकती है। लेकित सौन्दर्य की परिभाषा में कठिनाई खड़ी हो जायेगी। सभी लोग जानते हैं कि सौन्दर्य क्या है? लेकिन पूछने पर क्या आप बतला सकेंगे कि सौन्दर्य क्या है? नहीं बतला सकेंगे आप कि सौन्दर्य क्या है? इसका सभी को अनुभव है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसने सौन्दर्य का अनुभव न किया हो। लेकिन अब तक प्लेटो से लेकर बर्ट्रेण्ड रसेल तक सौन्दर्य के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तन करने वाले लोग एक परिभाषा भी नहीं दे पाये कि सौन्दर्य क्या है?

सन्त अगस्तीन का कहना है कि कुछ चीजें ऐसी हैं कि जब तक तुम नहीं पूछते तब तक मैं जानता हूँ और जब तुम पूछते हो तो मुश्किल खड़ी हो जाती है। उसने कहा कि मैं भलीभाँति जानता हूँ कि 'प्रेम' क्या है? लेकिन तुमने पूछा और मैं मुश्किल में पड़ा। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि समय क्या है? लेकिन तुमने पूछा कि मैं मुश्किल में पड़ा। परमात्मा इनमें सबसे गहरी मुश्किल है। समय, प्रेम, सौन्दर्य और सत्य, शुभ—ये सब अलग-अलग मुश्किलें हैं। इनमें किसी की परिभाषा नहीं हो पाती।

जार्ज मूर इस शताब्दी का पश्चिम में सबसे अधिक तर्कयुक्त बुद्धि का विचारक था। उसने एक पुस्तक लिखी हैं—'प्रिंसिपिया इथिका' यानि नीतिशास्त्र। उस पुस्तक में केवल 'शुभ क्या है' 'अच्छाई क्या है'—पर ही विचार किया गया है। मूर कहता है कि 'गुड इज इन डिफाइनेवल' अर्थात् वह जो शुभ है उसकी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह ऐसा ही मामला है जैसे कोई मुझको एक फूल दे दे और कहे कि यह फूल पीला है। मगर पीला क्या है? यह पूछे तो जैसी मुश्किल में पड़ जाऊँ, ऐसी मुश्किल में पड़ गया हूँ। आपसे भी कोई पूछे कि पीला क्या है? तो आप क्या कहेंगे? मूर ने तो कहा है—'यलो इज यलो' अर्थात् 'पीला पीला है'। इससे अधिक कुछ कहा भी नहीं जा सकता।

लेकिन यह भी कोई कहना हुआ कि 'पीला पीला है' यह तो पुनरुक्ति दोष हो गया। यह कहिये कि 'ह्वाठ इज यलो' तो मूर कहता है कि कैसे

कहें ? क्योंकि मैं अगर कहूँ 'लाल' ?—'पीला' लाल है, तो गलत बात है। क्योंकि लाल लाल ही है और यदि मैं कहूँ कि पीला हरा है, तो भी गलत बात है। क्योंकि हरा हरा है। मैं पीले को और क्या कहूँ ? पीले के सिवाय। मैं जो भी कहूँगा, वह गलत होगा। क्योंकि वह पीला ही होगा, तो तुम कहोगे पुनरुक्ति दोष हो गया। और यदि पह पीला न होगा तो वह परिभाषा नहीं बनायेगा।

इतनी छोटी-छोटी चीजों की हम परिभाषा नहीं कर पाते। लेकिन हम परमात्मा की परिभाषा पूछते हैं कि परमात्मा की परिभाषा क्या है ? पीला रंग क्या है ? इसकी परिभाषा नहीं खोजी जा सकती। शुभ क्या है ? पता नहीं चलता। सौन्दर्य क्या है ? पता नहीं चलता। पूछते हैं—'परमात्मा क्या है ? ये सब जो 'इनडिफाइनेबल्स' हैं, ये सब अपरिभाष्य है। 'द टोटलिटी आफ द इनडिफाइनेबल्स इज गॉड।' यह तो अपरिभाष्य है। इन सबका जो जोड़ है वही ईश्वर है, वही परमात्मा है।

परमात्मा की हम व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु अनुभव कर सकते हैं। वैसे ही जैसे हम सौन्दर्य की व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु अनुभव कर सकते हैं। प्रेम की व्याख्या नहीं कर सकते किन्तु अनुभव कर सकते हैं।

परमात्मा के बाद 'आत्मा' है। जिस प्रकार परमात्मा अपरिभाष्य है, वैसे ही आत्मा भी अपरिभाष्य है। जिन तत्त्वों से विश्वब्रह्माण्ड की रचना हुई है, उन्हीं तत्त्वों से मानव-शरीर का भी निर्माण हुआ है। मानव-शरीर विश्वब्रह्माण्ड का लघु संस्करण है। इसी प्रकार 'आत्मा' भी परमात्मा का लघु संस्करण है।

भौतिक जगत् तीन आयामी है। इसलिए आत्मा की भी तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं।

आत्मा की अवस्थाएँ

योगतंत्र की समस्त साधनाओं का मूल केन्द्र आत्मा है। आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही योगतंत्र साधना का एकमात्र उद्देश्य है। परमात्मा की तरह आत्मा की भी व्याख्या नहीं की जा सकती, किन्तु उसका अनुभव किया जा सकता है, उसे प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा का ज्ञान ही परम ज्ञान है। आत्मा का अनुभव ही परम अनुभव है।

आत्मा ही ईश्वर है, आत्मा ही परमेश्वर है और आत्मा ही 'जीव' भी है। मनुष्य के भीतर जो बोध की क्षमता है, जो चैतन्य है और जो चिद्रूप है, जो ज्ञाता है, जो जानने वाला है, जो द्रष्टा है, जो साक्षी है, उसे 'आत्मा' कहते हैं। शरीर की सीमाओं में जो परमात्मा का अस्तित्व है, उसका नाम है—आत्मा। लेकिन आत्मा को जब यह भ्रम हो जाता है कि 'मैं यह शरीर हूँ' तब उसे जीव या जीवात्मा कहते हैं।

० ० ०

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—आत्मा की इन तीन अवस्थाओं की चर्चा ऊपर की गयी है। इनके अलावा एक और अवस्था है, जिसको तुरीय अवस्था कहते हैं।

जाग्रत् अवस्था

तन्त्र के अनुसार इन्द्रियों और मन के द्वारा भौतिक जगत् तथा भौतिक पदार्थों एवं वस्तुओं के प्रति जो संवेदनशील बोध की अवस्था है, वह आत्मा की जाग्रत् अवस्था है। इस अवस्था में मन तथा दसों इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि स्थूल विषयों को ग्रहण करता है।

० ० ०

मनुष्य के भीतर आत्मा है और वह विराट् विश्व का विस्तार है। इस विराट् से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दो उपाय हैं। दो मार्ग हैं। दो यात्राएँ हैं। पहली यात्रा, मार्ग या उपाय है—परोक्ष। परोक्ष का मतलब है इन्द्रियों और मन के माध्यम से सम्बन्ध का स्थापित होना।

दूसरी यात्रा, दूसरा मार्ग और दूसरा उपाय है—अपरोक्ष। अपरोक्ष का मतलब है बिना इन्द्रियों और बिना मन की सहायता से, बिना उनके माध्यम से सम्बन्ध का स्थापित होना।

कहने का तात्पर्य यह कि बाहर फैले हुए विराट् विश्व के विस्तार को जानने-समझने के लिए दो द्वार हैं। एक द्वार है कि हम अपने शरीर का उपयोग करें और उसे जानें-समझें। दूसरा द्वार है कि हम जितने भी माध्यम हैं, उपाय हैं, मार्ग हैं—उन्हें छोड़ दें।

इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान का माध्यम हैं। स्वभावतः इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान वैसा ही है जैसे कहीं कोई घटना घट जाय और कोई आकर हमें उस घटना की सूचना दे। घटना-स्थल पर हम सीधे उपस्थित नहीं हैं। घटना के और हमारे बीच कोई सन्देशवाहक है। निश्चय ही घटना की सूचना हमें वैसी ही नहीं मिलेगी जैसी घटी है। क्योंकि सन्देशवाहक की व्याख्या भी उस समाचार में सम्मिलित होगी।

उदाहरणार्थ—जैसे हमारे नेत्र हमें सूचित करते हैं कि बहुत सुन्दर पुष्प खिला है। यह सूचना फूल के सम्बन्ध में तो है ही। लेकिन साथ ही साथ नेत्रों के रुझानों के सम्बन्ध में भी है। नेत्रों ने अपनी व्याख्या भी जोड़ दी है सूचना में। फूल का जो रंग है वह तो है ही—लेकिन उस रंग के सम्बन्ध में नेत्रों ने भी अपनी ओर से कुछ जोड़ दिया है। जो शायद उस फूल में नहीं है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि पाँच हजार वर्ष पूर्व मानव-नेत्र केवल तीन ही रंग देख पाता था। और यही कारण है कि पाँच हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों में तीन से अधिक रंगों के नाम उपलब्ध नहीं हैं। धीरे-धीरे मानव-

नेत्र संवेदनशील होता गया और वह अब सात रंग देखा पाता है। निश्चय ही आने वाले चार-पाँच सौ वर्षों में मानव-नेत्र इतना विकसित हो जायेगा और और इतना संवेदनशील हो जायेगा कि वह सात से भी अधिक रंगों को देख सकेगा। तात्पर्य यह कि हमारा जानना इन्द्रियों के माध्यम से है। इन्द्रियाँ हमें जो समाचार देती हैं और जो सूचना देंगी, हमें उन्हें विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि हमारे पास सूचना पाने का और कोई साधन या उपाय नहीं है। पर इन्द्रियों की सूचना में उनकी व्याख्या सम्मिलित हो जाती है।

एक चेहरा आप देखते हैं। सुन्दर लगता है। आकर्षक लगता है। मगर उसी चेहरे को आप खुर्दबीन से देखें। ऊबड़-खाबड़ और तमाम गड्ढों से भरा लगेगा। उसके छिद्र गड्ढे हो जायेंगे। आपकी तबीयत घबराने लगेगी देख कर। मगर क्या वह खुर्दबीन गलत बतला रही है। नहीं। आपके नेत्र अपनी व्याख्या दे रहे हैं। खुर्दबीन अपनी व्याख्या दे रही है। दोनों अपने आप में सही हैं। अन्तर केवल यही है कि खुर्दबीन नेत्र से अधिक गहरा देख पा रही है। फिर आप उसी सुन्दर चेहरे को एक्स-रे मशीन से देखें। वह हड्डियों का रूखा-सूखा ढाँचा दिखाई देगा। वह भी अपनी व्याख्या दे रही है। सभी सही हैं। लेकिन तीनों की व्याख्या अलग-अलग और आंशिक हैं। और जिस माध्यम से पायी हैं—उस माध्यम पर निर्भर हैं।

लेकिन क्या ऐसा भी हो सकता है कि हम बिना किसी माध्यम के जगत् को देख सकें। क्योंकि जब हम बिना माध्यम के देखेंगे—तभी हमें सत्य के दर्शन होंगे। इसलिए योगतन्त्र की जो गहनतम खोज है, वह यह कि जब तक इन्द्रियों से हम जगत् को जानते हैं, तब तक जिसे हम जानते हैं—वह जगत् के ऊपर इन्द्रियों के द्वारा आरोपित प्रक्षेपण है। इसी का नाम 'माया' है। जो आपने देखा है वह दृश्य ही नहीं है—देखने वाला भी उसमें संयुक्त हो गया है।

हाँ तो एक मार्ग है—इन्द्रियों के माध्यम से सत्य के विस्तार को जानना। इस सत्य को जानने से जो ज्ञान हमारी पकड़ में आता है—वह माया है। भ्रम है। आदिशंकराचार्य जैसे महापुरुष जब यह कहते हैं—यह जगत् माया है—तो आप यह मत समझ लें कि जगत् है ही नहीं। जगत् का अस्तित्व बिलकुल है। लेकिन जैसा आपको दिखलायी पड़ रहा है—वैसा नहीं है। बात सिर्फ इतनी-सी है। वैसा दिखलाई पड़ना आपकी दृष्टि है। और आपकी वही दृष्टि इस जगत् को माया बनाये दे रही है। जैसा आपको जगत् दिखाई पड़ रहा है—वह आपकी व्याख्या है। आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि माया की संख्या अनगिनत है। इस जगत् को जानने वाले जितने लोग हैं—उतनी मायाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपना जगत् निर्मित किये जी रहा है। हर व्यक्ति का अपना जगत् है। हर व्यक्ति के चारों तरफ एक जगत् है। आप

अपने जगत् में हैं। आप की पत्नी अपने जगत् में है। आपके माता-पिता और पुत्र अपने-अपने जगत् में हैं। सब अपने जगत् में घिरे हुए जी रहे हैं। आपका पड़ोसी अपने जगत् में घिरा हुआ जी रहा है। और किसी के जगत् का किसी के जगत् से कोई सामञ्जस्य और कोई ताल-मेल नहीं होता। और यही कारण है कि जब भी दो जगत् को हम एक साथ बाँधते हैं तो कलह होती है। झगड़ा होता है। वैमनस्य पैदा होता है। ईर्ष्या, क्रोध और घृणा का जन्म होता है। पति-पत्नी का जो संघर्ष है—वह दो जगत् का संघर्ष है। बाप-बेटे का जो संघर्ष है—वह दो जगत् का संघर्ष है। माया का संघर्ष है। जब भी दो जगत् को मिलाने का प्रयास होगा, जब भी दो जगत् आपस में ताल-मेल बैठाने का प्रयत्न करेंगे, तब दोनों के बीच कलह होना अनिवार्य है। कोई और उपाय नहीं है। हम अपनी ही व्याख्या में घिरे हुए जी रहे हैं। खैर, जगत् को इन्द्रियों के द्वारा जानने की जो स्थिति है, वह आत्मा की जाग्रत् अवस्था है। आपके मस्तिष्क में लगभग तीन करोड़ सेल्स हैं। वे सेल संग्राहक हैं। उनमें आपके पिछले न जाने कितने जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं। न जाने कितनी घटनाएँ भरी पड़ी हैं—कहा नहीं जा सकता। स्वप्न में आप इसी संग्रह में से खोज-खोज कर चीजें फिर फिर देखते रहते हैं। वास्तव में यह जुगाली है। संस्कारों व घटनाओं की पुनरुक्ति है।

जैसे भैंस घास चर लेती है दिन में जब चबाने की फुर्सत नहीं रहती क्योंकि पता नहीं जब वह इसे चबाने में लग जाय तो वह घास तब तक कोई और भैंस चर जाय। तो पहले वह चबा लेती है और फिर फुर्सत में बैठकर जुगाली करती है। फिर निकाल लेती है और निकाल कर फिर उसे चबा लेती है।

दिन भर हम संस्कारों का और घटनाओं का संग्रह करते रहते हैं। जन्म-भर हम संग्रह करते रहते हैं। फिर स्वप्न में जुगाली चलती है। जहाँ-जहाँ मन पूरा नहीं हो पाया था, उसको हम फिर खोल लेते हैं। उस संस्कार को हम फिर मानसपटल पर फैला देते हैं।

स्वप्न अवस्था

वास्तव में स्वप्न हमारे संस्कारों को बिना इन्द्रियों की सहायता से, बिना जगत् की सहायता से फिर से प्रक्षेपित कर लेने की व्यवस्था है। यह हमारी निजी सम्पदा है। हम अपने भीतर फिर एक जगत् को फैला लेते हैं। पूरा जगत् हम निर्मित कर ले सकते हैं। और यही कारण है कि स्वप्न में कभी भी पता नहीं चलता कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। स्वप्न में यही पता चलता है कि जो मैं देख रहा हूँ, वह सत्य है। स्वप्न से जागने के बाद ही पता चलता है कि वह स्वप्न था। स्वप्न के भीतर पता नहीं चलता कि वह स्वप्न है।

जिसको स्वप्न के भीतर पता चल जाय कि वह स्वप्न है—समझें कि स्वप्न टूट गया। क्योंकि वह पता चलने वाला जो है—इनके उपस्थित होते ही अपने-अपने सेल के भीतर संस्कार छिप जाते हैं। क्योंकि स्वप्न देखने वाला जाग गया। जागृति शुरू हो गयी, स्वप्न की अवस्था टूट गयी।

स्वप्न की अवस्था का अर्थ है—इन्द्रियों के द्वारा भीतर जो संग्रह हुआ है, उसे बिना इन्द्रियों की और बिना जगत् की सहायता से मानस पटल पर दृश्य की तरह देखना। स्वप्न हमारे चित्त की दूसरी अवस्था है, जो काफी गहरी है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था में तो हमें चुनाव भी करने पड़ते हैं। समाज है, सभ्यता है, संस्कृति है। हमें सैकड़ों तरह की रुकावटें डालनी पड़ती हैं। लेकिन स्वप्न में किसी बात की रुकावट नहीं। हम उस अवस्था में मुक्त हैं।

जैसा कि स्पष्ट है—इन्द्रियों के बिना ही बाहर जो विराट् जगत् है, उससे सम्बन्धित हुए बिना ही अतीत के सम्बन्धों के आधार पर मनुष्य अपने भीतर जो जगत् निर्मित कर लेता है—उस अवस्था का नाम स्वप्न है।

ये दो अवस्थाएँ हैं—जाग्रत् और स्वप्न। प्रथम अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध स्थूलशरीर से रहता है। दूसरी अवस्था में सम्बन्ध रहता है, आकाशीय शरीर यानि वासना शरीर से। इसी प्रकार तीसरी अवस्था में सम्बन्ध रहता है सूक्ष्म शरीर से।

० ० ०

जाग्रत् अवस्था की मैंने व्याख्या की है—उसके सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस देव का कहना था कि जाग्रत् अवस्था को जाग्रत् कहना केवल प्रतीकात्मक है। क्योंकि हमने कोई और बड़ी जागृति नहीं जानी—किसी और जागृति से हम परिचित नहीं हैं—इसलिए इसी जागृति को जागृति समझ बैठे। हम तीन अवस्थाओं से ही परिचित हैं। चौथी अवस्था से हम परिचित नहीं हैं। वह हमारे लिए अज्ञात है। जिस दिन हमें चौथी अवस्था का ज्ञान होगा, उसी दिन हमें यह भी पता चल जायेगा कि जिसे हमने जाग्रत् अवस्था समझा था, वह भी स्वप्न और निद्रा की ही एक अवस्था थी।

अरविन्द ने कहा है कि जब मैं जागा तो मुझे पता चला कि अब तक मैं सोया हुआ ही था। और जब मैं वास्तविक जीवन से परिचित हुआ तो पता चला कि जिसे मैं वास्तविक जीवन समझता था अब तक, वह तो मृत्यु थी।

बात स्वाभाविक ही है। जिसे हम नहीं जानते, उसका ख्याल नहीं हो सकता। उससे हम कोई तुलना भी नहीं कर सकते। जिसे हम जाग्रत् अवस्था कहते हैं—उसे दो अवस्थाओं की तुलना में कहते हैं। हम केवल तीन अवस्थाओं से परिचित हैं। इसलिए तीनों में यही अवस्था जाग्रत् कही जा सकती है।

जिस दिन हम चौथी अवस्था से परिचित होंगे, उस समय—उस दिन ये तीनों अवस्थाएँ निद्रा की अवस्थाएँ हो जायेंगी। उस समय ये तीनों अवस्थाएँ हमारे लिए गहरी सुषुप्ति, कम गहरी सुषुप्ति और कम गहरी सुषुप्ति हो जायेगी। ये तीनों अवस्थाएँ क्रम से नींद की ही अवस्थाएँ समझ में आ जायेंगी। लेकिन जब तक हम चौथी अवस्था से परिचित नहीं हैं—तब तक तो हम इसे जाग्रत् ही समझेंगे और कहेंगे।

० ० ०

उपनिषद् के अनुसार शब्द आदि स्थूल विषय न होने पर भी जाग्रत् अवस्था की शेष रह गयी वासना के कारण मन इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि वासनाओं में विषयों को ग्रहण करता है—उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं। उपनिषद् में स्वप्न अवस्था की यह व्याख्या हजारों साल पुरानी है। विज्ञान अभी तक इस व्याख्या को पूरी नहीं कर पाया है। उपनिषद् हजारों साल पहले ही कह चुका कि हम स्वप्न उसे कहते हैं—इन्द्रियाँ बन्द हो गयीं। आँखें बन्द हो गयीं। फिर भी दृश्य देखे जा सकते हैं। भले ही बाहर की ध्वनियाँ न सुनाई दें—मगर भीतर की ध्वनि सुनी जा सकती है। भले ही हाथ बाहर की किसी वस्तु का स्पर्श कर सकने में असमर्थ हो मगर भीतर का स्पर्श जाना जा सकता है।

जाग्रत् अवस्था में जो विषयवासना पूरी नहीं हो पाती, स्वप्न की अवस्था में वह पूर्ण हो जाती है। वास्तव में स्वप्न जागृति की पूर्ति है। इसलिए जो व्यक्ति दिन में यानि जाग्रत् अवस्था में पूरी तरह जी लेगा उसे स्वप्न नहीं आयेंगे। स्वप्न खो जायेंगे। जो भी करना है, उसे पूरी तरह कर लेगा और पूरी तरह हर क्षण को जी लेगा। वह स्वप्न की अवस्था से मुक्त हो जायेगा। योगी को स्वप्न नहीं आते, क्योंकि वह हर क्षण को पूरी तरह जीता है। उसके लिए कुछ भी अधूरा बचता ही नहीं कि उसकी पूर्ति के लिए स्वप्न की प्रतीक्षा करनी पड़े।

जाग्रत् अवस्था में वस्तु बाहर होती है और रूप भीतर होता है। स्वप्न में वस्तु बाहर नहीं होती, लेकिन रूप भीतर होता है। यही दोनों में भेद है। स्वप्न शुद्ध आकार है। कोई वस्तु नहीं है वहाँ। जिस व्यक्ति को आप स्वप्न में देखते हैं—वह बाहर मौजूद नहीं है, लेकिन उसकी आकृति भीतर अवश्य मौजूद है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उस आकृति का निर्माण भी इन्द्रियाँ ही करती हैं। वह भी इन्द्रियजन्य है।

० ० ०

स्वप्न में इन्द्रियाँ किस प्रकार 'आकृति' का निर्माण करती हैं—यह समझ लेना भी आवश्यक है। प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने-अपने अनुभवों का संग्रह

किया करती हैं। आपकी रंग देखने की जो स्मृतियाँ हैं, वे सब आपकी आँखों के पीछे संग्रहीत हैं। स्वप्न में वही संग्रह काम में आता है। आँखें फिर से उन रंगों को भीतर खोल देती हैं। इसी प्रकार स्पर्श-रूप-ध्वनि आदि भी संग्रहीत हैं। सच पूछा जाय तो आपकी खोपड़ी के भीतर इस जगत् का विशालतम संग्रह है। छोटी-सी खोपड़ी में सात करोड़ सेल्स हैं। जैसा कि बतलाया जा चुका है—प्रत्येक सेल अपने आप में एक बड़ा-सा संसार संग्रहीत किये हुए है। यही नहीं; अगर आपकी आत्मा ने कभी किसी समय किसी अन्य जगत् अथवा लोक-लोकान्तर की यात्रा की होगी—तो वह भी आपकी खोपड़ी के किसी सेल में विद्यमान होगी।

ये तमाम संग्रह आपके इसी जन्म का ही नहीं है—बल्कि यह संग्रह आपके अनन्त-अनन्त जन्मों का है। इसलिए स्वप्न में ऐसे भी रूप और ऐसे भी दृश्य तथा ऐसी भी घटना देख सकते हैं, जो आपने इस जन्म में देखे ही नहीं होंगे। जिनसे आपकी कभी भेंट नहीं हुई है। जिनका चेहरा आपने कभी नहीं देखा है। जिनकी स्मृति आपको नहीं है। उसे भी स्वप्न में आप देख सकते हैं।

मानव-मस्तिष्क तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में दो करोड़ सेल्स हैं, दूसरे भाग में चार करोड़ सेल्स हैं और तीसरे भाग में एक करोड़ सेल्स हैं। इस एक करोड़ सेल्स में से कुछ लाख सेल्स का सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों में निवास करने वाले प्राणियों से तथा कुछ लाख सेल्स का सम्बन्ध अन्तरिक्ष में विचरण करने वाली विभिन्न प्रकार की आत्माओं से है। इसी के फल-स्वरूप स्वप्न में कभी-कभी ऐसे स्थान और ऐसे दृश्य दिखलायी पड़ते हैं कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। कभी-कभी स्वप्न में ऐसे भी जीव और ऐसे भी प्राणी दिखलाई देते हैं, जो इस लोक के नहीं होते और जिन्हें देखकर भय का संचार होता है। विलक्षण अनुभव होता है। इसी भाग में कुछ ऐसे भी सेल्स हैं—जिनमें पिछले जन्म की तमाम स्मृतियाँ भरी हुई होती हैं। जो बच्चे अपने पिछले जन्म की बातें बतलाते हैं, उसका कारण वे सेल्स ही हैं। दूसरे भाग में कम से कम पिछले दो सौ वर्षों के जीवन काल के संस्कार रहते हैं। इसी प्रकार पहले भाग में वर्तमान जीवन के तथा आगामी जीवन के संस्कार रहते हैं। संस्कार का अर्थ होता है—आपके मष्तिष्क में जो एकत्र हो गया है। खैर ! इस विषय पर आगे मैं विस्तार से चर्चा करूँगा।

प्रकरण : तीन

स्वप्न आपकी वास्तविकता को प्रकट करता है !

भारत ही विश्व का पहला देश है, जिसने सर्वप्रथम आत्मा की चार अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय की खोज की। पश्चिम का मनःशास्त्र 'जाग्रत्' के आस-पास था। सन् १९१० तक पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों के लिए 'स्वप्न' की नासमझी थी। पागलपन था। उनकी दृष्टि में स्वप्न का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं था। लेकिन बाद में जैसे-जैसे पश्चिमी मानसविद् मानव-मन को समझने की दिशा में गहरे उतरे और मानसिक रोगों की खोज की, वैसे ही वैसे उन्हें इसका पता चला कि जाग्रत् के नीचे स्वप्न की एक पर्त है, जो जाग्रत् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। पिछले पचास वर्षों में फ्रायड, जुंग और राडलर के प्रयासों का यह परिणाम हुआ कि अब पश्चिम के मनोवैज्ञानिक, मानसविद् और मनःशास्त्री स्वप्नों के अलावा और किसी की बात ही नहीं कर रहे हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की जाग्रत् अवस्था में जो घटित होता है, वह बहुत ऊपरी है। उससे मनुष्य के सम्बन्ध में अथवा उसके विषय में सत्यता का पता नहीं चलता। मनुष्य के स्वप्न से ही सत्यता का पता चलता है। क्योंकि मनुष्य स्वप्न में धोखा नहीं दे पाता। मनुष्य धोखे में निष्णात् हो गया है। दिनभर आप ब्रह्मचर्य की बात कर सकते हैं। लेकिन स्वप्न आपको बतला देगा कि ब्रह्मचर्य कितना गहरा है। आपके ब्रह्मचर्य की बातों में कितनी सत्यता है। दिन भर उपवास रख सकते हैं लेकिन स्वप्न में पता चल जायेगा कि आप में भोजन की वासना कितनी गहरी है। जाग्रत् अवस्था में आप अपने को धोखा दे सकते हैं। मगर स्वप्न में धोखा नहीं दे सकते। स्वप्न आपकी वास्तविकता को और सच्चाई को प्रकट कर देता है। सबेरे से शाम तक आप जागकर संसार में क्या करते हैं—पूजा करते हैं—प्रार्थना करते हैं—भजन करते हैं—ध्यान करते हैं—वह इतनी गहरी बात नहीं हैं। स्वप्न में आप क्या करते हैं, वह अधिक गहरी बात है। क्योंकि स्वप्न आपकी आन्तरिक स्थिति को प्रकट करता है। मनोवैज्ञानिकों ने अब इस तथ्य को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया है कि स्वप्न व्यर्थ नहीं है। स्वप्न केवल स्वप्न ही नहीं है, बल्कि जाग्रत् से अधिक सत्य है। स्वप्न में चोर चोर है और साधु साधु है। मगर स्वप्न से युक्त होना आवश्यक है, क्योंकि स्वप्न आपके भीतर की सतत बेचैनी है। एक सतत तनाव है। सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति स्वप्न देखता है। क्योंकि जैसा मैंने कहा कि जाग्रत् में जो अधूरा रह जाता है,

उससे स्वप्न जन्म लेता है, और महत्त्वाकांक्षा तो कभी पूरी होती ही नहीं। वह सदा अधूरी है। और अधूरी महत्त्वाकांक्षाएँ स्वप्नों से भर देती हैं व्यक्ति को। वे स्वप्न इतने गहन हो जा सकते हैं कि उस व्यक्ति को स्वप्नों से जगाना कठिन हो जाता है।

हिटलर का नाम सुना होगा। हिटलर जैसा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति आज तक संसार में नहीं हुआ। वह सब तरफ से हार चुका था। बचने का कोई उपाय नहीं रह गया था। मगर फिर भी वह बराबर रेडियो से घोषणा कर रहा था कि हम मास्को में जीत रहे हैं। निश्चय ही वह सपने में था। उसके सेनापति ने आकर कहा—हम चारों तरफ से हार रहे हैं, तो उसने अपने अंगरक्षक से कहा—इसे गोली मार दो। यह झूठ बोल रहा है। पागल हो गया है वह। हम हार ही नहीं सकते। हमारे हारने का प्रश्न ही नहीं है। थोड़ी ही देर की बात है। मास्को समर्पण कर चुका होगा।

कितना गहरा सपना था हिटलर का। वह निश्चय ही जागा हुआ व्यक्ति नहीं था। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति हर समय सपने में ही डूबा रहता है। इसीलिए उसकी आँखें उथली रहती हैं। अगर सबसे उथली आँखें देखनी हो तो राज-नीतिज्ञों के पास मिल सकती हैं। सबसे गहरी आँखें देखनी हो तो वह संन्यासी के पास मिल सकती हैं। क्योंकि संन्यासी का अर्थ ही है कि अब कोई महत्त्वा-कांक्षा नहीं है।

सुषुप्ति की अवस्था

जब स्वप्न कम हो जाता है और जागृति गहरी हो जाती है, तभी पहली बार आपको पता चलेगा कि सुषुप्ति क्या है? गहरी सुषुप्ति का अनुभव बहुत ही कम लोगों को होता है। हम सोते अवश्य हैं; लेकिन सुषुप्ति का हमें कोई पता नहीं। क्योंकि हम जो जागने में ही सोये हुए हैं तो हम सोने में कैसे जाग सकेंगे? सबेरे हम उठ कर केवल इतना ही कह सकते हैं कि खूब अच्छी नींद आयी। लेकिन हमें यह पता नहीं कि वह नींद क्या थी? हम जब से जन्मे हैं तब से सो रहे हैं, मगर हमारी नींद से कभी भेंट नहीं हुई। कभी भी हमने चेतना में नींद को उतरते हुए नहीं देखा है। क्योंकि जब नींद उतरती है, तब हमारी चेतना नहीं रहती। और जब तक चेतना रहती है—तब तक नींद उतरती ही नहीं।

सोने से ही परिचय नहीं है। और जब हम अपनी नींद से ही परिचित नहीं हो पाये तो अपने आपसे क्या परिचित हो पायेंगे हम। हमारे भीतर इतना गहन अन्धकार छाया हुआ है कि रोजाना आठ घंटे सोते हैं और सब होश खो देते हैं। फिर कैसे हम उस गहन तल पर पहुँच पायेंगे—जहाँ होश खोया नहीं जाता और चेतना बराबर बनी रहती है। इसके लिए सपने को तोड़ना आवश्यक है। सपनों को तोड़ना साधना की प्रक्रिया है। सपना जब

टूट जाता है और जब जाग्रत् पूर्ण रूप से जाग्रत् हो जाता है, उस समय पहली बार सुषुप्ति का अनुभव होता है। और हम सुषुप्ति की अवस्था में भी चेतना की अनुभूति करते हैं। क्योंकि उस समय किसी प्रकार की बेहोशी नहीं रहती। किसी भी प्रकार का अन्धकार भीतर नहीं रहता। एक प्रकार से हम सोते समय भी जागते ही रहते हैं। यह वही अवस्था है जब हम सुषुप्ति को पार कर तुरीय को उपलब्ध होते हैं।

० ० ०

उपनिषद् में कहा गया है—'चतुर्दशकरणो परमाद्विशेषविज्ञानाभावाद् यदा, शब्दादिन्नोपलभते तदाऽऽत्मनः सुषुप्तम्'।

मतलब यह कि समस्त इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर जिस अवस्था में विशेष ज्ञान न होने से शब्दादि विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं, आत्मा की उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था में न बाहर के जगत् का बोध रहता है न किसी बाहरी वस्तुओं का अनुभव होता है। न ही वस्तुओं द्वारा निर्मित आकृतियाँ संगृहीत मन के संस्कार और उससे निर्मित सपनों की कोई प्रतीति ही रहती है। चेतना पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाती है। व्यक्ति जीवित रहते हुए भी जड़ के समान हो जाता है। आत्मा की इस तीसरी अवस्था में कोई भी विषय आन्दोलित नहीं करता—न बाहर और न ही भीतर।

जिसे हम मृत्यु कहते हैं—वह भी सुषुप्ति की ही एक गहन अवस्था है। निद्रा दो प्रकार की है—जीवन की निद्रा और मृत्यु की निद्रा। और यही कारण है कि हम मृत्यु को भी चिरनिद्रा कहते हैं। मृत्यु चिरनिद्रा है। इस प्रसंग में यह भी बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैसे निद्रा के दो प्रकार हैं--वैसे ही आत्मा की भी चार स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति आत्मा की बाह्य स्थिति है। और दूसरी है आन्तरिक स्थिति। शेष दो स्थितियों को योग की भाषा में तुरीय स्थिति और तुरीयातीत स्थिति कहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति--ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा की बाह्य स्थिति की हैं। इसी प्रकार यही तीनों अवस्थाएँ उसकी आन्तरिक स्थिति में भी हैं।

दिन भर के श्रम के बाद निद्रा आवश्यक है। ऐसे ही जीवन भर के परिश्रम के बाद मृत्यु आवश्यक है। निद्रा में मन को शान्ति मिलती है और मृत्यु में मिलती है आत्मा को शान्ति। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है--मृत्यु सुषुप्ति की एक गहरी अवस्था है। और इस अवस्था में भी हम स्वप्न देखते हैं और उस स्वप्न में हम देखते हैं—अपने मृत शरीर को--विलाप करते हुए अपने परिवार को--अपने प्रियजनों को--अपनी अर्थी को--अपनी चिता को--और उस चिता में जलते हुए अपने पार्थिव शरीर को। और जब शरीर पूरी तरह भस्म हो जाता है तो उसी के साथ हमारा वह स्वप्न भी टूट जाता है और हम फिर सुषुप्ति की अवस्था में चले जाते हैं। जब उस अवस्था से जागते

हैं तो अपने को किसी सूक्ष्म लोक में पाते हैं। और जब उस अज्ञात सूक्ष्म लोक में सोकर जागते हैं तो पुनः अपने-आप को इस भौतिक जगत् में पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मृत्यु और पुनर्जन्म की अवधि के बीच भी हमारी आत्मा अपनी तीनों अवस्थाओं से गुजरती है।

सुषुप्ति के सम्बन्ध में अन्त में केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि सुषुप्ति की अवस्था में कोई भी विषय हमें आन्दोलित करने के लिए नहीं होता––न बाहर और न ही भीतर की ओर। न वस्तुओं के जगत् में और न विचार के जगत् में। तब जो स्थिति फलित होती है––उसे भारतीय प्रज्ञा सुषुप्ति कहती है।

आत्मा की दो स्थितियाँ : तुरीय और तुरीयातीत

जैसे जाग्रत् भंग होता है तो स्वप्न की उपलब्धि होती है और स्वप्न के भंग होने पर सुषुप्ति की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार सुषुप्ति के भंग होने पर क्रम से आत्मा को तुरीय तदनन्तर तुरीयातीत स्थिति की उपलब्धि होती है।

आत्मा की ये दोनों स्थितियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। तुरीय स्थिति में किसी भी प्रकार की ज्ञेय वस्तुओं का, ज्ञेय पदार्थों का अभाव हो जाता है। किसी भी ज्ञेय का अस्तित्व नहीं रहता। अगर अस्तित्व रहता है है तो केवल ज्ञाता का। समस्त वस्तुओं का और समस्त पदार्थों का प्रणाश केवल उन वस्तुओं को और उन पदार्थों को जानने-समझने वाले ज्ञाता की उपस्थिति––यही है तुरीय स्थिति। यह आत्मा की वास्तविक स्थिति है। इसी परम स्थिति में 'आत्मा' का स्वरूप प्रकाशित होता है। और उसी आत्म प्रकाश में 'मैं कौन हूँ' का उत्तर हमें प्राप्त होता है। और जब तक हम तुरीय को उपलब्ध नहीं होते तब तक हम केवल विचारों को और वस्तुओं को ही संगृहीत करते रहते हैं। और बराबर इस धोखे में रहते हैं कि मैं जानता हूँ कि 'मैं कौन हूँ'। मगर सच्चाई यह है कि हम उन विचारों और उन वस्तुओं के द्वारा 'मैं कौन हूँ' को जानते हैं। यदि हमारे विचार और हमारी वस्तुएँ हमसे छिन ली जायें अथवा हमसे खो जायें तो तत्काल 'मैं कौन हूँ' भी समाप्त हो जायेगा। वह भी खो जायेगा हमसे। यही बड़ी तथ्यपूर्ण बात है। इसे आप ठीक से समझ लें। अगर आपसे कोई आपका धन छिन लेता है। मकान छिन लेता है। पत्नी-पुत्र छिन लेता है। और आपसे छिन लेता है आपकी कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु। उस समय आपको जो कष्ट होता है––वह केवल सब-कुछ छिनने का ही कष्ट नहीं हैं बल्कि साथ-साथ आत्मा के भी छिनने का कष्ट है। क्योंकि आत्मा नाम की कोई वस्तु आपके पास है ही नहीं। वह तो छिनी जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में थी। जब कोई वस्तु आपसे छिनी जाती है तो उसके साथ आपकी आत्मा भी छिन जाती है। जितनी मूल्यवान्

और जितनी बड़ी वस्तु उतनी मूल्यवान् और उतनी बड़ी आत्मा का भ्रम था आपके भीतर।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वही स्थान है--जहाँ भारतीय प्रज्ञा के गर्भ से संन्यास का जन्म हुआ।

संन्यास का अर्थ 'त्याग' नहीं

लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व काशी में मेरी भेंट एक संन्यासिनी से हुई थी। उनका नाम था करुणामयी आनन्द। किसी स्टेट की राजकुमारी थी वह। सुगठित सुन्दर गौरवर्ण शरीर और उस शरीर पर कषाय वस्त्र--आयु बस तीस के आस-पास।

करुणामयी का कहना था—संन्यास का मतलब 'त्याग' नहीं है। वस्तुतः संन्यास इस बात की कोशिश है कि एक व्यक्ति सर्वस्व त्याग कर यह देखता है कि फिर भी मैं बचता हूँ कि नहीं। प्रश्न यह नहीं है कि संसार बुरा है, इसलिए उसका त्याग किया जाय! और प्रश्न यह नहीं है कि घर बुरा है इसलिए उसका त्याग कर दिया जाय। और प्रश्न यह नहीं है कि पत्नी पाप है, इसलिए उसका त्याग कर दिया जाय। संन्यास एक अनूठा प्रयोग है। संन्यास एक चेष्टा है। एक प्रयत्न है। एक प्रयास है। क्या 'मैं' सब छोड़कर और सर्वस्व का त्याग कर बचता हूँ?

अगर नहीं बचता तो मैं नहीं ही था। धोखे में था। अगर सब कुछ छोड़कर भी बच सकता हूँ तो पत्नी मेरी नहीं—पुत्र मेरा नहीं—मित्र मेरे नहीं—घर मेरा नहीं—धन मेरा नहीं। इस संसार में कुछ भी मेरा नहीं। निपट नंगा खड़ा हूँ राह पर। फिर मैं क्या बचता हूँ? अगर बच सकता हूँ तो तभी जब मेरे पास आत्मा नाम की वस्तु है। अगर नहीं बचता हूँ तो मुझे आत्मा की खोज करनी चाहिए। संसार की सारी वस्तुएँ इसलिए नहीं छोड़नी हैं कि वे बुरी हैं। उन्हें इसलिए छोड़ना है—उनका इसलिए त्याग करना है कि उनके साथ रहने पर यह ख्याल आना मुश्किल होता है कि 'मैं भी हूँ' या केवल तमाम वस्तुओं का जोड़ ही है।

० ० ०

एक साधक, एक योगी और एक संन्यासी जंगल में इसलिए नहीं जाता है कि नगर बुरा है। इसलिए नहीं कि नगर में सत्य नहीं मिल सकता है। इसलिए भी नहीं कि परमात्मा भयभीत है नगर में आने के लिए। वह नगर में भी आ सकता है। एक संन्यासी को, एक साधक को और एक योगी को सब कुछ छोड़कर जंगल में, एकान्त में जाने का मतलब केवल यही है कि क्या वहाँ अकेले में वह बचता है कि खो जाता है? अकेले में होश रहता है या खो जाता है।'

जब मैं सब कुछ छोड़ देता हूँ—फिर भी 'मैं' होता हूँ या नहीं होता हूँ—बस जंगल में जाने का यही प्रयोजन है। अगर वहाँ भी होता हूँ—तभी समझना चाहिए कि आत्मा नाम की सम्पदा है, मेरे पास। अन्यथा नहीं है। अगर नहीं है तो तुरन्त उसकी खोज में मुझे निकल पड़ना चाहिए।

करुणामयी ने कहा—इसीलिए बुद्ध, महावीर जैसे लोग अपनी आत्मा से साक्षात्कार हो जाने के बाद और 'में कौन हूँ' का उत्तर मिल जाने के बाद अपने गाँव और अपने घर वापस लौट आते हैं। अब उनको न कोई भय रहता है और न तो चिन्ता रहती है। अब वे यह जानते हैं कि 'वे कौन हैं?'

'हम बिल्कुल नहीं हैं' इसीलिए हमें वस्तुओं से इतना मोह होता है। वे वस्तुएँ केवल वस्तुएँ ही होतीं तो उनके प्रति आसक्ति और मोह न होता। वे तो हमारी आत्मा में जुड़ी हुई होती हैं। एक प्रकार से वे मेरी आत्मा ही होती है।

आपसे आपकी प्रिय वस्तु कोई छीनता है, तो वह प्रियवस्तु नहीं बल्कि आपका प्राण छीन रहा होता है। आपकी आत्मा छीन रहा होता है। वास्तव में आपकी स्थिति अत्यन्त दयनीय है कि आप एक मिनिट के लिए भी यह याद नहीं रख पाते कि--'मैं हूँ'। और इसका कारण बस इतना ही है कि आप गहरे में सोये हुए हैं। और वह सुषुप्ति भंग होती है, तभी चैतन्य का ज्ञान होता है।

'आपका चैतन्य से क्या तात्पर्य है'—मैंने पूछा? चैतन्य ही तुरीय है। उपनिषद् में कहा गया है--'अवस्थात्रय भावाभावसाक्षी। स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा। तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते'। मतलब यह कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला--लेकिन फिर भी उनसे परे है--ऐसा जो नित्य साक्षी चैतन्य है--वही तुरीय है। किसकी हैं वे तीनों अवस्थाएँ? कौन उन तीनों अवस्थाओं में उपस्थित रहता है? कौन जागता है? कौन स्वप्न देखता है? और कौन सोता है। निश्चय ही वह अलग होगा। निश्चय ही उसका अस्तित्व भिन्न होगा।

थोड़ा रुक कर करुणामयी आनन्द आगे कहने लगीं—एक आदमी को आप सोते हुए देखें। तब आपको पता चलेगा कि दिन भर जितनी मेहनत नहीं की, परिश्रम नहीं किया—उतना वह नींद में कर रहा है। हाथ पटक रहा है। पैर पटक रहा है। सिर पटक रहा है। मुँह बना रहा है। पता नहीं क्या-क्या कर रहा है? नींद में भी इतना उपद्रव! उधर भी चैन नहीं।

हमारी नींद भी एक श्रम है। और ऐसे लोगों का जागना भी एक विश्राम है। हम नींद के बाद भी थके हुए ही उठते हैं। क्योंकि रात भर इतना परिश्रम हो जाता है जिसका कोई हिसाब नहीं। यह रोज का सिलसिला है। दिन भर

के थके रात को सो जाते हैं। और रात भर के थके सबेरे उठ जाते हैं। हमारी पूरी जिन्दगी एक लम्बी थकान है। एक बोझ—जिसको हम बराबर ढोये ही चले जाते हैं। अगर मौत न आये तो इस बोझ से हमारा छुटकारा ही न हो। मौत आ जाती है और जबरदस्ती हमसे बोझ छीन लिया जाता है। मगर हम वासना में इतने भरे हुए हैं कि हम मर भी नहीं पाते। मरने के बाद भी नये जन्म की यात्रा पर हमारी चेतना निकल जाती है—नये बोझ की तलाश में, नई बीमारियों की खोज में और नये उपद्रव की खोज में।

योग के जितने भी लक्ष्य हैं—उनमें एक यह भी है कि हमारी सुषुप्ति भंग हो। वास्तविक योगी वही है, जो सुषुप्ति से निकलकर अथवा प्रगाढ़ निद्रा को पार कर तुरीय में पहुँच जाता है। फिर निद्रा शरीर का विश्राम बन जाती है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि योगी सोया हुआ भी सोता नहीं। यह नहीं कहा है कि पूरी रात आँखें खोलकर खड़ा रहता है। जैसे पागल खड़े रहते हैं।

श्रीकृष्ण के कहने का मतलब है—जो सोकर के भी नहीं सोता······। योगी का शरीर सोता है। तन्तु सो जाते हैं। स्नायु सो जाते हैं। मगर भीतर चेतना की ज्योति जलती रहती है। यही आत्मा की तुरीय स्थिति है। इसी तुरीय स्थिति से तीन का जन्म होता है—निद्रा घनी होती है—स्वप्न बनते हैं—जागृति होती है—फिर ये तीनों वापस उसी में लीन हो जाते हैं। तुरीय स्थिति का न किसी से जन्म होता है और न तो किसी में उसका विलय ही होता है। यह शाश्वत सिद्धान्त है जीवन का। वह जीवन का आधार है। आरम्भ भी वहीं और अन्त भी वहीं। जिसने इसे नहीं जाना—वह केवल बीच के परिभ्रमणों में ही भटकता रहता है।

आत्मा की दूसरी स्थिति क्या है?

दूसरी स्थिति 'तुरीयातीत' है। जैसे तुरीय में 'मैं कौन हूँ'—का उत्तर मिलता है और आत्मबोध होता है, वैसे ही तुतीयातीत में 'वह कौन है'—का उत्तर मिलता है और परमात्म बोध होता है।

o o o

अब तक मैंने जिन गूढ़ विषयों की चर्चा की है वे भारतीय अध्यात्म विद्या के सारतत्त्व तो हैं हीं—इसके अतिरिक्त योगतंत्र की समस्त साधनाओं की मूलभित्ति भी हैं।

मानव-शरीर और उसका महत्त्व

परमात्मा और आत्मा के बाद साधना भूमि में यदि किसी वस्तु का महत्त्व है तो वह है—मानव-शरीर का। जिस प्रकार आत्मा परमात्मा का लघु संस्करण है—वैसे ही ब्रह्माण्ड का लघु संस्करण मानव-शरीर है। जिन तत्त्वों

से ब्रह्माण्ड की रचना हुई है—उन्हीं तत्त्वों से मानव-शरीर की भी रचना हुई है। योगियों का कहना है कि पिण्ड यानि मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। योगमार्ग में मानव-शरीर को ही पिण्ड मानकर ब्रह्माण्ड की व्याख्या की गयी है और यह बतलाया गया है कि मनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन-कौन-सा भाग विद्यमान है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्माण्ड की कौन-सी वस्तु मानव-शरीर में किस रूप मे विद्यमान है। वास्तव में मानव-शरीर में सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड सिमट गया है। मानव-शरीर में वह सर्वाधिक स्पष्ट है। इसीलिए कहा गया है—'ब्रह्माण्डेऽप्यस्ति यत्किञ्चित् तद् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा'।

मानव-शरीर को महत्त्व देने का यह एक रूप है। किन्तु केवल शरीर ही नहीं, मनुष्य की वाणी, उसका प्राण, उसका मन और उसका बिन्दु—सब अपार और अनन्त शक्ति के आश्रय हैं। इनमें से किसी एक की साधना से परम प्राप्तव्य को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

इसका दूसरा रूप भी कम महत्त्व का नहीं है। परमतत्त्व की जो पराशक्ति है—वह जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, उसी प्रकार पिण्ड में भी व्याप्त है। वैसे वह अणु अणु में विद्यमान है, मगर पिण्ड में यानि मानव-शरीर में वह सबसे अधिक जाग्रत् है। अन्य योनियों मे वह कम जाग्रत् अथवा सुप्त है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि जिसे मैंने पिछले प्रकरण में गतिशील शक्ति बतलाया है—योगतंत्र उसी को पराशक्ति कहता है। उस पराशक्ति के तीन प्रारम्भिक रूप हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसीलिए उस महाशक्ति को त्रिपुरीभूता अथवा 'त्रिपुरा' कहते हैं। अतः उस त्रिपुरा के तीनों रूप इच्छा, ज्ञान और क्रिया मनुष्य में विद्यमान है। मानव-शरीर में पराशक्ति के इन तीनों रूपों के क्रमशः केन्द्र हैं—हृदय, मस्तिष्क और नाभि। वह परा शक्ति देवताओं में भी जाग्रत् नहीं है। क्योंकि देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप हैं। वे भोग योनि में हैं। उन्हें केवल भोगने की शक्ति है। वे जिस कार्य के लिए उद्दिष्ट हैं—उससे अधिक या कम की उनमें इच्छा भी नहीं होती। क्रिया भी नहीं होती। अग्नि केवल जला सकती है। उसमें अन्य प्रकार के कार्य की इच्छा भी नहीं होती। क्रिया तो होगी ही कहाँ से? इसीलिए योग ने कहा है—देवताओं में पराशक्ति का अभाव है। वे प्राकृतिक शक्तियों के भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं। मनुष्य में वह पराशक्ति कुण्डलिनी के रूप में—इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में विद्यमान है। इसीलिए मानव-योनि देव-योनि से भी श्रेष्ठ है। इस विश्वब्रह्माण्ड में केवल मनुष्य को इच्छा-ज्ञान-क्रिया की त्रिधारा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। इसीलिए परात्पर पुरुष यानि परमेश्वर को भी जब कुछ करना होता है—तब उसे नरदेह धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। देह तो वह और भी धारण कर ले सकता है। पर

नरदेह में उसका पूर्णावतार होता है। बिना नरदेह धारण किये परात्पर देवता यानि परमेश्वर भी कोई लीला नहीं कर सकता।

० ० ०

उत्तर मध्यकाल योगतन्त्र-साधना का संक्रान्ति काल था। उस युग के भारतीय मनीषियों ने पूर्ण रूप से मानव देह की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली थी। उनका कहना था कि चौरासी लाख योनियो में भटकने के बाद बड़े पुण्य से और बड़े भाग्य से यह चौरासी अंगुल का मानव-शरीर प्राप्त होता है। उनका कहना था कि दो प्रकार से मानव-शरीर को महिमा मिली। प्रथम तो यह कि जो समस्त विश्व की नियन्त्रणकारिणी पराशक्ति है—वह अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ—मानव-शरीर को आश्रय कर के ही प्रकट करती हैं। यद्यपि विष्णु के अनेक अवतार हुए। मगर जो अवतार सर्वाधिक माननीय हैं—राम, कृष्ण और बुद्ध—उन्हीं को आश्रय मानकर इस काल की सारी धर्म-साधना, अध्यात्म-साधना और काव्य-साधना विकसित हुई। योगतन्त्र कहता है कि परमात्मा को बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं। यह शरीर ही उसका आवास स्थल है। शिव और शक्ति के रूप में विभक्त होकर यह अपनी लीला कर रहा है मानव-शरीर में।

संयोगवश हमारे देश की परम्परा का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो गया है। आधुनिक दृष्टि हमें जिस दिन प्राप्त हुई, उस दिन हमें प्राचीनकाल के ज्ञान को परख लेने की दृष्टि नहीं रह गयी। अगर इस दृष्टि का स्वाभाविक विकास होता तो क्या होता? यह कहना कठिन है। मानवता यदि हमारी परम्परा के क्षेत्र में आविर्भूत होती तो क्या और कैसा परिणाम होता, कैसा फूल खिलता और उस फूल की क्या सुगन्ध होती? यह सब अब केवल अनुमान का विषय रह गया है अस्तु।

मानव-शरीर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग 'मेरुदण्ड'

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मानव-शरीर में साधना की दृष्टि से जितने महत्त्वपूर्ण अंग हैं, उनमें सर्वाधिक मूल्यवान् और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है—मेरुदण्ड। मेरुदण्ड यानि रीढ़ की हड्डी। जिन हड्डियों के छोटे-छोटे टुकड़ों से मेरुदण्ड का निर्माण होता है, उनकी संख्या भी चौरासी है। जिनका अगोचर सम्बन्ध जीवात्मा के ८४ लाख योनियों से बतलाया गया है। प्रत्येक अस्थिखण्ड में १ लाख योनियों के संस्कार विद्यमान हैं। ८४ अस्थिखण्डों की शृंखला वाले इस मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर 'स्थितिशील ऊर्जा' यानि परात्परतत्त्व—शिवतत्त्व—परमात्मतत्त्व—की स्थिति है। इसी प्रकार उसके नीचे वाले सिरे पर गतिशील ऊर्जा यानि शक्तितत्त्व अथवा पराशक्ति की स्थिति हैं। योग की भाषा में इन्ही दोनों सिरों को क्रमशः सहस्रारचक्र और

मूलाधारचक्र कहते हैं। इन दोनों चक्र-बिन्दुओं को तन्त्र ने **ऊर्ध्व त्रिकोण और अधो त्रिकोण** के रूप में परिकल्पित किया है। प्रथम चक्र-बिन्दु पर— जहाँ परात्पर तत्त्व की स्थिति है—शरीर और मन का मिलन होता है। इसी प्रकार दूसरे चक्र-बिन्दु पर—जहाँ पराशक्ति तत्त्व की स्थिति है—शरीर और आत्मा का मिलन होता है।

'मन और आत्मा का भी कोई मिलन केन्द्र होगा'—मैंने प्रश्न किया ?

हाँ है ! करुणामयी आनन्द बोलीं—हृदय मन और आत्मा के मिलन का केन्द्र है। योग की भाषा में इसी केन्द्र को अनाहतचक्र कहते हैं। सहस्रार, मूलाधार और अनाहत के अलावा चार और चक्र हैं—जिनकी चर्चा प्रसंगवश आगे की जायेगी। अस्तु तन्त्र के अनुसार ये तीनों महत्त्वपूर्ण चक्र 'महाचक्र' हैं। महाचक्र का सम्बन्ध 'ओम्' से बतलाया गया है। ॐ का ऊपरी भाग सहस्रार है, मध्य भाग अनाहत है और निम्न भाग मूलाधार है। ऊपर 'अ' की, मध्य में 'ऊ' की ओर नीचे 'म्' की स्थिति है। इस प्रकार पूरा मेरुदण्ड 'ॐ' से युक्त है। इन तीनों की संयुक्त ध्वनि को योगतन्त्र की भाषा में 'परावाक्' कहते हैं। शरीर के भीतर इन तीनों की अपने-अपने केन्द्रों में वैसे तो अलग-अलग ध्वनि उत्पन्न होती है। मगर एक विशिष्ट स्थान पर वे तीनों ध्वनियाँ आपस में मिलकर 'परावाक्' का रूप धारण कर लेती हैं। वह विशिष्ट स्थान कहाँ है ?

वह विशिष्ट स्थान है—नाभि। योग की भाषा में इस केन्द्र का नाम है—मणिपूरक चक्र। यह परावाक् पराशक्ति का ही एक रूप है। पराशक्ति ही परावाक् रूप में व्यक्त होकर स्वरों और बाद में वर्णाक्षरों का का निर्माण करते हैं। मगर उस निर्माण का अपना क्रम है—और उसी क्रम को परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। यदि इन चारों को परावाक् के चार रूप कहा जाय तो साधुतर होगा। स्वर और वर्णाक्षरों की उत्पत्ति की दिशा में परावाक् के ये चार रूप तो हैं हीं। मगर इनके अलावा उसके दो और गरिमायम रूप हैं। जिन्हें भाव और विचार कहते हैं। पहले भाव की उत्पत्ति होती है और फिर विचार की। विचार की जो शक्ति है, वह एकमात्र परावाक् अथवा पराशक्ति ही है।

कुण्डलिनी-शक्ति

तन्त्र में दो मत हैं—पहला है 'शैवमत' और दूसरा है 'शाक्तमत'। पहले मत में 'शिव' की और दूसरे मत में 'शक्ति' की प्रधानता है। दोनों मतों के अपने-अपने कई सम्प्रदाय हैं और उन सम्प्रदायों के अपने-अपने कई साधना-मार्ग और उनकी साधना-पद्धतियाँ हैं।

शाक्तमत में शक्ति की प्रधानता होने के कारण उसकी दृष्टि में देवता के दो स्वरूप हैं—शान्त और सक्रिय। सक्रिय रूप को ही 'शक्ति' कहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तन्त्र का सम्पूर्ण विषय, सम्पूर्ण साधना एकमात्र शक्ति का विषय और शक्ति की साधना है। वेद के बाद दूसरा कोई प्रकाशित ज्ञान है तो वह है—तन्त्र। जैसा कि कहा गया है—'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।' अर्थात् वैदिक और तान्त्रिक—ये दोनों प्रकाशित ज्ञान हैं। इसीलिए 'तन्त्र' को पाँचवा वेद कहा गया है। 'शिव' शरीर का और 'शक्ति' आत्मा का मार्ग है।

ज्ञान को कर्म में आयत्त करना अथवा कर्म में नियोजित करना तन्त्र का एकमात्र लक्ष्य है। और उस लक्ष्य की पूर्ति का साधन है—शक्ति। 'शक्ल' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'शक्ति' शब्द बनता है। कारण वस्तु में जो कार्य उत्पादन के लिए उपयोगी अपृथक् सिद्ध धर्मविशेष है, उसी को 'शक्ति' कहते हैं। तात्पर्य यह कि शक्ति वह वस्तु है, जो कारण के साथ अपृथक् सिद्ध रहकर कार्य के उत्पादन में उपयोगी सिद्ध होती है। शाक्तमत के अनुसार शक्ति के तीन रूप हैं—परमा, परा और अपरा। 'परमा' परब्रह्म की निजा शक्ति है। इसीलिए उसे परमात्म शक्ति भी कहा गया है। 'परा' ज्ञान शक्ति है। उपनिषद् ने इसे वैष्णवी शक्ति कहा है। ज्ञानरूपिणी परा शक्ति उपनिषद् की वैष्णवी शक्ति है। अपरा कर्म शक्ति अथवा अविद्या है। उपनिषद् ने इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। क्षेत्रज्ञ का मतलब है—जीवात्मा। कर्म-शक्ति के कारण ही क्षेत्रज्ञ यानि जीवात्मा जन्म-मृत्यु के बंधन में बंधा रहता है और कर्मानुसार विभिन्न योनियों में गमन किया करता है। क्रमशः स्थिरता, बलशीलता और गतिशीलता—इन तीनों शक्तियों का स्वभाव है। परमा का स्वभाव स्थिरता है, परा का स्वभाव बलशीलता है और अपरा का स्वभाव गतिशीलता है। शाक्तमत के आध्यात्मिक पक्ष के अनुसार ये तीनों क्रमशः पारलौकिक शक्ति, अलौकिक शक्ति और लौकिक शक्ति है।

शक्ति और उसके स्वभाव में कोई भिन्नता नहीं है। शक्ति ही स्वभाव है और स्वभाव ही शक्ति है—यदि यह कहा जाय तो साधुतर होगा। दोनों अद्वैतभावी हैं। और यही कारण है कि शाक्तमत की साधना अद्वैतभाव को लेकर शुरू होती है और अद्वैत में समाप्त हो जाती है। शाक्तमत में आदिशक्ति की आदिकल्पना शून्य से की गयी है। शून्य ही उसकी दृष्टि में आदिशक्ति का आदिरूप है। जिसे वह 'बिन्दु' भी कहता है। इसी बिन्दु की मैंने प्रारम्भ में चर्चा की है। अस्तु !

० ० ०

शाक्तमत का जो परमसाधना मार्ग है—वह है पूर्णरूप से अद्वैतभाव पर आधारित कौलसाधना मार्ग। इस मार्ग का जो अपना सम्प्रदाय है उसे कौल-सम्प्रदाय कहते हैं। शाक्तमत परा शक्ति को 'कुल' और परात्पर यानि शिव को 'अकुल' शब्द से सम्बोधित करता है। इन दोनों शब्दों के संयोग से

एक तीसरा शब्द बना है—कुण्डलिनी ! कुण्डलिनी तो वैसे लाक्षणिक शब्द है, मगर इससे शिव और शक्ति के सामरस्य अथवा दोनों के अद्वैतभाव का ज्ञान होता है। शाक्तमत का कौल-साधना मार्ग इसी कुण्डलिनी का साधना-मार्ग है। जैसा कि तन्त्र में कहा गया है—

'अयं तु परमः कौलमार्गः सम्यङ् महेश्वरी।
असिधाराव्रतसमो मनोनिग्रहः हेतुकः॥
स्थिरचित्तस्य सुलभः सफलस्तूर्णसिद्धिदः'।

तान्त्रिक साधना मार्ग की जितनी भी साधनाएँ हैं, उनमें कौलमार्ग और उसकी साधना सर्वश्रेष्ठ है। कौलमार्ग की साधना को तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर बतलाया गया है। और यही कारण है कि यह मार्ग योगियों के लिए भी अगम्य है।

० ० ०

अब तक की विषय चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि पराशक्ति ही कौलमार्ग की साधना-भूमि की कुण्डलिनी शक्ति है। इस आधार पर उसको परावाक् और विचारशक्ति भी कहा जा सकता है। कौलमार्ग का कहना है कि तन्त्र के शाक्तमत में जहाँ-जहाँ और जिस-जिस रूप में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है—वह सब रूप कुण्डलिनी शक्ति का एकमात्र रूप है।

वास्तव में कौलमार्ग ही एक ऐसा तान्त्रिक साधना का मार्ग है, जो 'योग' का आश्रय लेकर शैव और शाक्त दोनों मत के सिद्धान्तों को कर्म में आयत्त कर साधना में नियोजित करता है। और वह आयत्तीकरण तथा नियोजन जिस शक्ति के आधार पर होता है—वह है शाक्तमत की कुण्डलिनी शक्ति। योग का आश्रय लेने के कारण और पूर्णरूप से योग पर आधारित होने के फलस्वरूप उसे 'कुण्डलिनी योग' भी कहते हैं।

'योग' शब्द का अर्थ

'योग' शब्द संस्कृत के युज् धातु से बना है। जिसका अर्थ है—जोड़ना, युक्त करना, मिलाना। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अंग्रेजी का योक 'Yoke' शब्द भी इसी धातु से बना है। अंग्रेजी का योक 'Yoke' और संस्कृत का योग दोनों के शाब्दिक भाव एक ही हैं।

कुण्डलिनीयोग का लक्ष्य है मेरुदण्ड की दोनों सिराओं के बिन्दु पर स्थित परात्पर तत्त्व और शक्ति तत्त्व—यानि स्थितिशील ऊर्जा और गतिशील ऊर्जा को एक-दूसरे से युक्त कर देना। दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर देना। अथवा दोनों में अद्वैत की स्थिति उत्पन्न कर देना। तन्त्र इसी को सामरस्य महामिलन यानि शिव-शक्ति का अद्वैतभाव कहता है। कुण्डलिनी-साधना क्रम से प्राण, मन और आत्मा की साधना है। प्राण की साधना

हठयोग की साधना है। मन की साधना राजयोग की साधना है। और आत्मा की साधना ज्ञानयोग की साधना है। मतलब यह कि हठयोग का विषय प्राण; राजयोग का विषय मन और ज्ञानयोग का विषय आत्मा है। इससे स्पष्ट होता है कि कुण्डलिनी योग में हठयोग, राजयोग और ज्ञानयोग-- तीनों का समन्वय है।

प्राण पर संयम करना हठयोग का; मन पर संयम करना राजयोग का और आत्मा पर संयम करना ज्ञानयोग का उद्देश्य है। प्राण चंचल है। प्राण का मन से सम्बन्ध होने के कारण मन भी चंचल रहता है। इसी कारण मन को 'चित्त' भी कहते है। जब तक प्राण चंचल है तब तक मन भी अस्थिर हैं। अस्थिरता चित्त की दशा है। अस्थिर चित्त की दशा में आत्मस्वरूप को उपलब्ध करना असम्भव है।

प्राण और आत्मा के बीच में मन है। इसीलिए ज्ञानयोग के बाद राज-योग का सर्वाधिक महत्त्व है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान भी कह सकते हैं। सभी प्रकार की मानसिक बाधाओं को हटाकर मन को पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना इसका उद्देश्य है। इसके अभ्यास का अभिप्राय यह है कि इच्छा शक्ति को जगाना, तथा उसे जगाकर बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा शक्ति को भी जाग्रत् करके ध्यान और धारणा के द्वारा 'आत्मा' के समीप साधक को पहुँचा देना। इसीलिए राजयोग को योग का सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाया गया है। राजयोग का कहना है कि संसार में सर्वोपरि शक्ति मनःशक्ति है। यदि मन की शक्तियों को पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तु-विशेष पर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तु की जो वास्तविक सत्ता है वह प्रकट हो जायेगी। यदि हम एक बिन्दु पर अपनी समग्र मनःशक्ति को पुंजीभूत कर एकाग्र कर सके तो हम सहज ही उस वस्तुविशेष की, जिस पर हमने अपनी वृत्तियों को एकाग्र किया है, सारी विशेषतायें जान जायेंगे--चाहे वह वस्तु आध्यात्मिक हो, चाहे मानसिक हो या भौतिक हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजयोग की इन्हीं सब विशेषताओं के कारण ग्रीक देश के पाइथागोरस तथा प्लेटो जैसे प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं ने राजयोग की प्रशंसा की है। प्लाटिनस व प्रोक्यूलियस जैसे सम्प्रदाय के अनुयायियों ने, मिश्र देश के निवासियों ने, यहूदियों में इसेन सम्प्रदाय के अनुयायियों ने, ईसाइयों में ग्नोस्टिक सम्प्रदाय के लोगों ने, फारस के मनीचियन सम्प्रदाय वालों ने तथा यूरोप के मध्यकालीन रहस्यवादी ईसाइयों ने भी राजयोग की प्रशंसा की है।

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि राजयोग का अभ्यास रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की साधु-सन्यासिनें भी करती थीं। स्पिनोजा, कांट,

शॉपेनहार, एमर्सन आदि दार्शनिकों ने भी राजयोग की प्रशंसा की है। उनका कहना है कि राजयोग साधना का उद्देश्य प्रकृति तथा परमात्मा और साथ ही आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन करना है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर छिपी हुई शक्तियों को जाग्रत् करना है।

राजयोगियों का कहना है कि राजयोग के अभ्यास से वह शक्ति प्राप्त होती है--जो संसार की अन्य सभी शक्तियों का नियन्त्रण करने वाली है। उनका यह भी कहना है कि जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली--वह प्रकृति के समस्त व्यापारों पर शासन कर सकता है।

० ० ०

करुणामयी आनन्द ने कहा--तन्त्र की सगुणोपासना भूमि में प्राणशक्ति को महाकाली के रूप में, मनःशक्ति को महालक्ष्मी के रूप में तथा ज्ञानशक्ति को महासरस्वती के रूप में परिकल्पित किया गया है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो एक प्रकार से कुण्डलिनी योग की साधना महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की भी साधना है। इसमें सन्देह नहीं कि तन्त्र की जितनी भी गूढ़, गोपनीय और रहस्यमयी साधनाएँ हैं--उनमें कुण्डलिनीयोग की साधना सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता इस बात में निहित है कि इसमें तन्त्र के साधना पक्ष के अतिरिक्त आध्यात्मिक पक्ष, दार्शनिक पक्ष और यौगिक पक्ष का अद्भुत समन्वय है। इसका दार्शनिक पक्ष तो समुद्र की तरह इतना गम्भीर है कि उसे समझ पाना सभी के वश की बात नहीं। इसी प्रकार आध्यात्मिक पक्ष भी इतना गहन, गूढ़ और जटिल है कि उसे हृदयंगम करना सहज नहीं। इसका साधना पक्ष तो उपर्युक्त दोनों पक्षों से भी दुरूह और रहस्यमय है।

० ० ०

निश्चय ही करुणामयी आनन्द एक उच्चकोटि की संन्यासिनी ही नहीं, साधिका भी थीं। काशी के नारदघाट के ऊपर स्थित एक आश्रम में रहती थीं वह उन दिनों। सहज ही अनुराग हो गया था उनका मेरे प्रति। अगर वे मुझे न मिली होतीं और उनकी कृपा मुझ पर न हुई होती तो 'कुण्डलिनी शक्ति' जैसे जटिल, दुरूह और गम्भीर रहस्यमय यौगिक विषय पर लेखनी उठाना मेरे लिए असम्भव ही था।

सन् १९४५ ई० में जब मैंने तन्त्र पर शोध और अनुसंधान करना चाहा तो 'कुण्डलिनीयोग' का ही चयन किया। करुणामयी आनन्द के सम्पर्क में आकर मैं इस बात से भलीभाँति परिचित हो चुका था कि 'कुण्डलिनीयोग' ही एकमात्र ऐसा योग है--जिसमें भारत के अध्यात्म और दर्शन का विपुल भण्डार भरा हुआ है। जिनका अवलोकन करने का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा मुझे!

और जब अपने शोध और अनुसन्धान की चर्चा मैंने करुणामयी आनन्द से की तो थोड़ा गम्भीर हो गयी वह। फिर सहज भाव से कहने लगीं— अनुसन्धान होना ही चाहिए। कुण्डलिनीयोग पर अभी तक किसी भी दृष्टि से शोध, अन्वेषण अथवा अनुसन्धान नहीं हुआ है। और न तो अभी तक सम्बन्धित विषयों पर सम्यक् रूप से किसी ग्रन्थ का प्रकाशन ही हुआ है। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए—वह यह कि, आजकल अनुसन्धान विश्वास का परिपन्थी माना जाता है। मगर बात ऐसी नहीं है। अनुसन्धान का मतलब है कि जो जैसा दिखाई दे रहा है, उसे वैसा ही नहीं मानना चाहिए। संसार की वास्तविकता को—उसकी गहराई में जाकर खोजने की आवश्यकता है। जो कुछ जैसा दीख रहा है—उसका वही स्वरूप नहीं भी हो सकता है। प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कस कर देख लेना आवश्यक है। वास्तविक अनुसन्धान की लपेट में न धर्म बच सकता है, न आत्मा, न ईश्वर, न योग और न ही भक्ति। धर्म के रहस्य को वही जानता है और उसके वास्तविक स्वरूप से वही परिचित होता है—जो तर्क से अनुसन्धान करता है। जैसा कि कहा गया है—

'यस्तर्केणानुसन्धन्ते स धर्मं वेद नेतरः'।

ठीक है! मैं आपका संकेत समझ गया—मैंने कहा। इस कार्य में अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँगा मैं। कहने की आवश्यकता नहीं, अपने पूरे बीस वर्षों के शोध और अन्वेषण काल में—जहाँ मैंने प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न रूप से रहने वाले उच्चकोटि के योगियों और साधकों की खोज में पूरे भारत का भ्रमण किया—वहीं हिमालय के अतिरिक्त योगी और तान्त्रिकों के रहस्यमय देश तिब्बत की भी जीवन-मरणदायिनी हिम-यात्रा की। इस सिलसिले में मेरे जीवन में ऐसी-ऐसी विलक्षण और चमत्कारपूर्ण घटनाएँ घटीं और ऐसे-ऐसे अलौकिक एवं रहस्यमय अनुभव भी हुए मुझे, जिन पर सहसा कोई विश्वास न कर सकेगा इस युग में। कभी-कभी तो मैं स्वयं सोचने लगता हूँ कि क्या वे तमाम विलक्षण व चमत्कारपूर्ण घटनाएँ मेरे ही जीवन में घटी थीं। क्या वे सारे अलौकिक व रहस्यमय अनुभव मुझे ही हुए थे? सब कुछ सपना-सपना सा लगता है, अब?

प्रकरण : चार

परमज्ञानयोग और गुह्यज्ञान तन्त्र

असार से सार को खोज लेना अत्यन्त कठिन कार्य है और उससे भी कठिन कार्य है—सार में से भी सार को निकाल लेना।

'योग' परमज्ञान है और 'तन्त्र' है गुह्यज्ञान। 'योग' असार से 'सार' की खोज है। इसी प्रकार तन्त्र उस सार का भी सार है। बस, यही एकमात्र योग और तन्त्र में अन्तर है। मगर कुण्डलिनीयोग इस अन्तर को भी समाप्त कर देता है। इसीलिए इस योग को महायोग की संज्ञा दी गयी है। महायोग का मतलब है—जिसे जान लेने के पश्चात्—अब तक मनुष्य की प्रतिभा ने जो कुछ भी गहनतम जाना और समझा है, उसके द्वार खुल जायें। मगर सबसे खतरनाक बात तो यह है कि यह महायोग इतना सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। क्योंकि कोई भी विद्या जितनी सूक्ष्म हो जाती है—उतनी ही वह बुद्धि की पकड़ के बाहर भी हो जाती है। सत्य जितना शुद्ध होता है उतना ही हमारी समझ के बाहर भी हो जाता है। इसमें सत्य का कोई दोष नहीं है बल्कि हमारी समझ का ही दोष है। हमारी समझ इतनी अशुद्ध व दोषपूर्ण है कि सत्य जितना भी शुद्ध होगा, उतना ही हमारे और उसके बीच फासला बढ़ जायेगा—उसी अशुद्धि के कारण। इसलिए सत्य जितना सूक्ष्मतम है, वह उतना ही हमारे व्यवहार में आने योग्य नहीं रह जाता। इस देश में जीवन से सम्बन्धित जो सत्य खोजा गया और जो ज्ञान खोजा गया, हम केवल उसकी चर्चा करने में ही अपना समय व्यतीत कर देते हैं। उसे अपने जीवन में अपनाने या जीवन में उतारने का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। अगर हम अपनाना चाहें और उतारना चाहें भी तो हमें मार्ग नहीं मिलता। अपनाने और उतारने का निर्णय कर भी लें तो उस मार्ग पर पैर उठाने की दिशा ही नहीं सूझती। वह सत्य और वह ज्ञान इतना सूक्ष्मतम है कि उसे स्वीकार करने की आशा ही छोड़ देते हैं। बस अपने मन को समझाने के लिए और अपने आपको धोखा देने के लिए हम केवल उस सत्य की और उस ज्ञान की चर्चा करते रहते हैं।

मगर मैं उस महायोग पर अनुसन्धान करने की ओट में अपने मन को समझाना नहीं चाहता था। अपने आपको धोखा भी नहीं देना चाहता था। मैं तो केवल अनुसन्धान के साथ-ही-साथ उसके मार्ग पर चल कर सत्य और ज्ञान का स्वयं अनुभव करना चाहता था। तमाम अनुभूतियों से भर देना चाहता था अपनी आत्मा को।

कहने की आवश्यकता नहीं—इसी कामना ने और इसी लालसा ने पूरे पैंतालिस वर्षों के अन्तराल के बाद आज मुझे एक ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है—जहाँ मैं अपने-आप में असीम एकाकीपन का विचित्र अनुभव कर रहा हूँ। उस एकाकीपन ने मेरे भीतर एक गहन शून्य-सा भी भर दिया है—जिससे स्तब्ध हो गई है मेरी आत्मा। जी हाँ! बिल्कुल स्तब्ध। जीवन और जगत् का—एक सीमा तक सारा रहस्य अनावृत हो चुका है मेरे सामने। संसार मेरे लिए श्मशान तुल्य हो गया है और मैं संसार के लिए शववत् हो गया हूँ।

'हे माँ! क्या से क्या हो गया! सचमुच सत्य का ज्ञान, सत्य का अनुभव और सत्य का दर्शन मनुष्य को एक ऐसी मानसिक और आत्मिक स्थिति में लाकर खड़ा कर देता है, जिसका वर्णन शब्दों में करना असम्भव है।

° ° °

करुणामयी आनन्द से अनुसन्धान करने की बात तो कह दी थी मैंने। मगर मुझे उसके लिए कोई मार्ग सुझायी नहीं पड़ रहा था। और न तो कोई दिशा ही समझ में आ रही थी। जिसके फलस्वरूप मेरा मन उद्वेलित और व्यग्र हो उठा था बाद में। मैं पुस्तकों के जाल में उलझना नहीं चाहता था। दो-चार पुस्तकें पढ़कर भी अपने लक्ष्य को साकार करना नहीं चाहता था। मैं तो अपने संकल्प की सिद्धि के लिए ऐसे महापुरुषों का सान्निध्य चाहता था—जो सम्बन्धित विषयों का गूढ़ ज्ञान तो रखते ही हों, साथ ही उनके पास साधनाओं के गम्भीर अनुभवों का विपुल भण्डार भी हो।

अनुसन्धान के मार्ग में एक अतृप्त आत्मा का सहयोग

साँझ का समय था। एक विचित्र-सी खिन्नता भरी उदासी बिखरी हुई थी वातावरण में। मुझे बड़ा ही अच्छा लगता है ऐसा वातावरण। शून्य में आकण्ठ डूबे मेरे एकाकी मन को बड़ी ही शान्ति मिलती है। उस दिन अमावस्या थी। और हर अमावास्या की तरह उस दिन भी मैं राजा चेतसिंह के जीर्ण-शीर्ण और धूल-धूसरित किले की टूटी-फूटी बुर्जों पर उसके खम्भे से पीठ टिकाये चुपचाप बैठा था मौन साधे। अनुसन्धान की ही समस्या में उलझा हुआ था, मेरा मन उस समय।

साँझ की स्याही धीरे-धीरे रात की गहन कालिमा में बदलती जा रही थी। और उसी के साथ किले के वातावरण की खामोशी भी गहन होती जा रही थी। धीरे-धीरे समय गुजरता जा रहा था। सहसा नौ का घण्टा टन्-टन् कर बजा कहीं! और उसी के साथ गंगा के पार खेतों में सियारों के रोने की आवाज हवा में तैरती हुई सुनाई दी। और तभी भीनी-भीनी सुगन्ध से भर उठा मेरे आस-पास का वायुमण्डल।

हर अमावास्या की तरह उस अमावास्या की रात में भी उस अनिर्वचनीय सुगन्ध ने मेरे मन को और मेरी आत्मा को अस्थिर और चंचल कर दिया था। वह स्वर्गीय दिव्य सुगन्ध पूर्व परिचित थी मेरे लिए। पिछले चार वर्षों से हर अमावास्या की रात में इसी तरह मेरे चारों तरफ बिखर जाती थी मेरे मन को मथ देने वाली वह सुगन्ध और इस तरह वह मेरे मन को और मेरी आत्मा को अस्थिर और चंचल कर देती थी।

हर बार की तरह अमावास्या की उस रात में भी मैंने सिर घुमाकर अपने आस-पास देखा। गहन अन्धकार में आकण्ठ डूबे उस वातावरण में एक आकृति मेरे सामने उभरी। पहचानने में देर न लगी मुझे। वह ज्योतिर्मयी की आकृति थी। जी हाँ ! उसी ज्योतिर्मयी की आकृति—जिसकी आत्मा कभी किसी समय लक्ष्मी के रूप में मिली थी मुझे और मिलकर बिछुड़ गयी थी। काल के क्रूर हाथों ने मुझसे छिन लिया था हमेशा-हमेशा के लिए उसको। ज्योतिर्मयी का अपार्थिव रूप पार्थिव रूप में परिवर्तित होता जा रहा था शनैः-शनैः। अमावास्या की उस प्रगाढ़ कालिमा में भी उसके अपूर्व रूप और लावण्यमय सौन्दर्य को बिलकुल स्पष्ट देख रहा था मैं।

'आ गयीं तुम' !

'हाँ ! आ गयी मैं'—यह कहकर मेरे निकट बैठ गयी ज्योतिर्मयी। एक चिरपरिचित नारी का सुपरिचित स्पर्श पाकर मेरे क्लान्त और दारुण कण्ठ में डूबे हुए मन को थोड़ी शान्ति मिली। परिस्थितियों ने और कालचक्र ने मुझसे ज्योतिर्मयी को अलग अवश्य कर दिया था—यह सत्य है, लेकिन मन से, हृदय से और आत्मा से हम दोनों कभी भी अलग नहीं हुए थे। ईश्वर साक्षी है। जिस क्षण ज्योतिर्मयी की भटकती हुई आत्मा से मेरा सम्बन्ध जुड़ा था—उसी क्षण से एक दिन को भी भुला न सका था मैं उसे। एक महीने का समय मुझे पूरे एक वर्ष का समय लगता था। प्रतीक्षा की हर घड़ी मेरे लिए दारुण पीड़ा की घड़ी होती थी।

उस दिन भी मुझसे रहा नहीं गया था। भावाविष्ट होकर कहा था—'दुर्भाग्य ने मुझे तुमसे अलग अवश्य कर दिया है, पर हृदय से और आत्मा से मैं तुम्हें कभी अलग नहीं कर सका हूँ—विश्वास करो ज्योतिर्मयी—एक क्षण के लिए भी तुम्हें बिसार नहीं पाया मैं। अब तुम्हें भूल जाना क्या सम्भव है मेरे लिए ? तुम्हीं मेरी जिन्दगी थी और तुम्हीं मेरी जिन्दगी रहोगी भी हमेशा। इस धारणा को कोई भी मिटा नहीं सकता। तुम मुझे विश्वासघाती समझो या अधम, पर मेरे लिए तुम जो पहले थी, वही अब भी हो, और वही रहोगी। जब वे कष्ट और पीड़ा में डूबे दारुण दिन आये थे—तब भला कौन जानता था कि हम दोनों एक-दूसरे से बिछुड़ जायेंगे अनन्तकाल के लिए। पर क्या मन के बन्धन टूट सके हैं कभी ? मैं जानता हूँ—तुम्हारी आत्मा पर क्या-क्या

बीती होगी ? तुम्हारी आत्मा ने क्या-क्या सहा होगा ? निश्चय ही खूब व्यथायें सही होंगी। अपार पीड़ा सही होगी। पर अब ऐसा लगता है कि हमारे डूबे हुए नक्षत्र अब फिर से उभर आये हैं। शायद तुम्हारे कष्टों का अन्त हो जाय और तुमको फिर शरीर मिल जाय। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ—जब तुम शरीर प्राप्त कर मुझसे मिलोगी। ज्योतिर्मयी वेदना और व्यथा के अथाह सागर में जैसे डूबती हुई बोलीं—सचमुच तुमने बहुत रुलाया है मुझे। तुमसे अलग होकर तुमसे बिछुड़ कर न जाने कितने समय तक रोती रही थी मैं। फिर जैसे स्रोत ही सूख गया। आँखें सूनी हो गयीं। सब कुछ सूना हो गया। इतने लम्बे अर्से के बाद आज अचानक जैसे फिर उस सूखी नदी में बाढ़ आ गयी है। फिर रो रही हूँ। हमेशा इसी तरह रुलाते रहोगे तुम मुझे ? बोलो ! कुछ तो कहो !

विश्वासघाती तुमको कभी नहीं कहा मैंने ! अधम तुम कैसे हो सकते हो। तुम्हारा कहना सच है। मृत्यु मनुष्य को विवश कर देती है। मगर हृदय तो मिले हुए हैं। और हमेशा मिले ही रहेंगे।

सच, कितना आश्चर्य होता है। कितना सुख होता है। ऐसी मधुर, ऐसी पावन व्यथा है हम दोनों की—जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है। तुम शरीरधारी हो और मैं अशरीरी हूँ। मगर फिर भी उतना ही स्नेह है—उतना ही प्रेम है—और उतना ही मोह है, जितना कि पहले था। तुम तो मेरे लिए एक परदेशी ही थे न ! एक परदेशी पर इतनी श्रद्धा, इतनी प्रीति और इतना विश्वास कैसे हो गया था ? जैसे सब सपना हो कोई सुनहरा-सुनहरा और मीठा-मीठा। किसी कोमल-शीतल छाया तले खड़ी हूँ जैसे कि कोई चिन्ता ही नहीं अपनी। मेरे देवता, मेरे सर्वस्व, तुम ऐसे ही रहोगे न मेरे लिए। ऐसे ही शान्त, सौम्य, आवेशों से परे और सशक्त ? स्नेहमय, पर दुःख-कातर ?

इतना कहते-कहते ज्योतिर्मयी का गला भर आया। पल भर रुक कर आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए उसी भरे गले से, उसी अवरुद्ध कण्ठ से वह आगे कहने लगी—शरीर से अलग हो जाने के बाद न जाने किस अन्धकार में डूब गयी मेरी आत्मा। मगर जब चेतना लौटी तो पागलों की तरह तुम्हारी खोज में भटकने लगी मैं इधर-उधर।

वियोग के इस दीर्घ अन्तराल में तुम्हें कई बार शरीर मिला, जीवन मिला, पर मुझे नहीं। मैं तो देहातीत अवस्था प्राप्त कर तभी से भटक रही हूँ अपार्थिव जगत् के तिमिराच्छन्न अन्धकार में। कब तक इस तरह भटकती रहूँगी ? कब तक शरीरविहीन रहूँगी ? और कब तक तुमसे दूर रहूँगी ? कौन भला बता सकता है यह सब !

तुम मुझे एक-न-एक दिन अवश्य मिलोगे। एक-न-एक दिन तुमको मैं फिर पा लूँगी। बस इसी आशा का संवल है मुझे। थोड़ा रुक कर वह आगे बोली— तुम्ही बतलाओ। कब मैं जन्म लूँगी? कब मिलेगा मुझे शरीर? कब मिलोगे तुम मुझको? कुछ तो बोलो! कुछ तो कहो।

मगर मुझसे कुछ बोला न गया। कुछ कहा भी नहीं गया उस समय। सब कुछ सुनकर एक बार नजर घुमा कर ज्योतिर्मयी के अपूर्व रूप और स्निग्ध सौन्दर्य को केवल देख भर लिया मैंने। कमल के पत्ते पर बिखरी ओस की चमकीली बूँदों को बड़ी सावधानी और हिकमत से इकट्ठा कर पन्ने के गिलास में रख दिया गया हो—ऐसा ही लगा मुझे ज्योतिर्मयी का स्वर्गीय सौन्दर्य उस समय। काफी देर तक अपलक नीहारता रहा मैं उसकी ओर। फिर धीरे से बोला—तुमको कब शरीर मिलेगा? तुम्हारा जन्म कब होगा? यह तो मेरे लिए बतला सकना असम्भव है। मगर मैं इतना अवश्य जानता हूँ, इतना मुझे विश्वास अवश्य है कि कभी-न-कभी तुम मुझे अवश्य मिलोगी। कभी-न-कभी तुमसे मेरी भेंट अवश्य होगी और उस समय तुम मुझे पहचान लोगी और मैं भी तुमको पहचान लूँगा। अगर मेरे और तुम्हारे बीच कोई रुकावट है, कोई विघ्न है तो वह है प्रकृति का। जिस दिन प्रकृति की रुकावट और प्रकृति की बाधा समाप्त हो जायेगी—उस समय हम दोनों के मिलन को कोई रोक नहीं सकेगा—विश्वास रखो। और यह भी विश्वास रखो कि मेरे सूने और एकाकी जीवन में कोई प्रवेश नहीं करेगा। जब भी प्रबेश होगा, तुम्हारा होगा। और मैं उस समय की बराबर प्रतीक्षा करूँगा—जब तुम जन्म लेकर मेरे उदास रेगिस्तानी जीवन में प्रकृति की सारी हरीतिमा भर दोगी। और भर दोगी स्वर्ग का सारा सुख और सारा आनन्द। बस इससे अधिक मैं क्या कह सकता हूँ भला।

कुछ क्षण तक नीरवता छायी रही। सहसा उस नीरवता को भंग करती हुई ज्योतिर्मयी बोली—'तुम्हारा चित्त उद्विग्न क्यों है'? क्यों अशान्त है, तुम्हारा मन इस समय? बोलो क्या बात है?

'एक बहुत बड़ी समस्या है ज्योतिर्मयी'।

कौन-सी समस्या?···तुम्हारी समस्या के निवारण के लिए मुझसे जो कुछ हो सकेगा, करूँगी। सुनू तो क्या समस्या है तुम्हारी?

मैं अपने को रोक न सका। अपनी समस्या ज्योतिर्मयी के सामने स्पष्ट कर दी मैंने, और अन्त में कहा—कुण्डलिनी योग का विषय अत्यन्त गूढ़ है। उसकी साधना भी अत्यन्त रहस्यमय है। अभी तक किसी ने विस्तृत रूप से इस विषय पर कलम उठाने का साहस नहीं किया है। और न ही भविष्य में कोई कर सकेगा। मैं भी साहस कहाँ करता? न जाने किस भावावेश में आकर और न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर करुणामयी आनन्द को

वचन दे दिया मैंने इस दुस्साहसिक कार्य के लिए। समझ में नहीं आ रहा है कि अब मैं क्या करूँ ?

मेरी बात सुनकर ज्योतिर्मयी ने एक बार मेरी ओर गहरी नजर से देखा और फिर कहा—इसमें कौन-सी बड़ी बात है ? कौन बहुत बड़ी जटिल समस्या है यह ? मैं सहयोग दूँगी। मैं सहायता करूँगी तुम्हारी। परेशान मत होओ'।

'तुम सहयोग दोगी ! तुम सहायता करोगी' ?

'हाँ। इसमें आश्चर्य की क्या बात है' !

'मगर कैसे' ?

इस प्रश्न के उत्तर में ज्योतिर्मयी ने मुझे जो कुछ बतलाया—उसे सुनकर आश्चर्यचकित और स्तब्ध रह गया मैं।

उस दिन पहली बार मुझे मानवीय शक्ति की सीमा का पता चला। पहली बार मनुष्य की असहायता का ज्ञान हुआ। और पहली बार यह समझ में आया कि इस विश्वब्रह्माण्ड में मनुष्य कितना क्षुद्र प्राणी है। और साथ ही यह भी जान पाया कि शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाने पर मनुष्य की शक्ति किस सीमा तक बढ़ जाती है।

ज्योतिर्मयी ने बतलाया कि मुझ जैसी आत्माएँ जहाँ निवास करती हैं, वह वैश्वानर लोक है। विश्वब्रह्माण्ड में जितने भी लोक-लोकान्तर और जगत् हैं—उन सबसे उस लोक का सम्बन्ध है।

'वैश्वानर लोक आत्मा का चतुष्पाद है'।

'चतुष्पाद का क्या मतलब है'—मैंने पूछा।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—ये आत्मा के चार पाद कहलाते हैं। इनमें तुरीय चौथा पाद है। आत्मा की यह क्षुद्र अवस्था है। इसलिए इस पाद को चैतन्य अथवा 'चेतना' भी कहते हैं। चैतन्य मनस्तत्त्व, प्राणतत्त्व और वाक्तत्त्व की ऊर्जाओं का मिश्रण है। इस मिश्रण के फलस्वरूप तीन प्रकार की अग्नियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसे वड़वाग्नि, जठराग्नि और दावाग्नि कहते हैं। इन तीनों अग्नियों का जो मिश्रित ताप है, उसका नाम है—वैश्वानर अग्नि। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वैश्वानरलोक 'अग्निलोक' है। वास्तव में वैश्वानर अग्नि आत्मा का तेज है।

वैश्वानरलोक एक प्रकार से आत्मलोक है। इस लोक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ काल का केवल वर्तमान चरण ही है। न भूत है और न ही भविष्य है। जिसके फलस्वरूप इस लोक में निवास करने वाली आत्माएँ वर्तमान के पटल पर इच्छानुसार भूत और भविष्य को भी देख लिया करती हैं। इसी आधार पर मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। समझ गये न ! काशी के अलावा जहाँ-जहाँ और जिस-जिस रूप में योगी और साधक होंगे—

उन सबसे तुम्हारा अपने-आप सम्पर्क सध जायेगा। इतना ही नहीं, उन लोगों के द्वारा और उन लोगों की अहैतुकी कृपा से तुमको आध्यात्मिक अनुभव भी होगा — जैसा कि तुम चाहते भी हो।··· अच्छा। अब मैं चलती हूँ। मेरा जाने का समय हो गया। और फिर देखते-देखते उस निबिड़ अन्धकार में ज्योतिर्मयी का पार्थिव शरीर धीरे-धीरे विघटित होकर अपार्थिव सत्ता में लीन हो गया पूरे मास के लिए।

० ० ०

आप जानना चाहेंगे कि ज्योतिर्मयी थी कौन ?

वास्तव में यह जन्म-मृत्यु और पुनर्जन्म से सम्बन्धित एक ऐसी अद्भुत मर्मस्पर्शी कथा है — एक ऐसी अद्भुत और विलक्षण आध्यात्मिक घटना है — जिस पर सहज ही कोई विश्वास न कर सकेगा।

अगर महाकालञ्जयी योगी नरसिंह स्वामी से मेरा सम्पर्क न हुआ होता, उनके सान्निध्य में न आया होता तो भला मैं क्या जानता था कि ज्योतिर्मयी कौन है ? क्या है ? उससे मेरा क्या सम्बन्ध है और कैसा नाता-रिश्ता है ?

कौन थे नरसिंह स्वामी ?

सन् १९४०।

उन दिनों मेरे एक चचेरे भाई — जिनका नाम जनार्दन पाण्डेय था — कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग से सम्बन्धित थे। 'पोटेशियम सायनाइड' का नाम मेडिकल साइंस के क्षेत्र में नया-नया उभरा था। एक दिन प्रसंगवश पाण्डेयजी ने मुझे बतलाया कि पोटेशियम सायनाइड अत्यन्त तीक्ष्ण महाविष है। जिसका प्रभाव इतनी तीव्र गति से पड़ता कि प्राणी एक पल से भी कम समय में मृत हो जाता है। तत्काल इस संसार से दूसरे संसार में पहुँचाने के लिए इस महाविष का सूई की नोंक पर लगा सूक्ष्मतम कणमात्र ही पर्याप्त है। उस सूक्ष्मतम कणमात्र का जीभ से स्पर्श होते ही प्राणी निर्जीव हो जाता है। इसकी इसी प्रखर घातकता के फलस्वरूप ही आज तक कोई भी व्यक्ति इस महाविष का स्वाद न बता सका।

पाण्डेयजी ने कहा—वैसे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए आदिकाल से मानव अपनी जिज्ञासा की प्रेरणा पर दुस्साहस के साथ संघर्ष और बलिदान करता आया है। विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसे बलिदानी वीरों की कमी नहीं। कहते हैं कि 'पोटेशियम सायनाइड' का स्वाद बतलाने के लिए समय-समय पर तीन वैज्ञानिकों ने पूरी तैयारी करके अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। मगर वे शब्द क्या एक अक्षर से अधिक बतला पाने की प्रगति न कर सके।

लेकिन विज्ञान द्वारा प्रस्थापित इस विश्व-विश्रुत तथ्य को भारत के एक योगी ने असत्य प्रमाणित कर दिया था। सन् १९३२ में भारतीय महायोगी

श्रीनरसिंह स्वामी ने काफी बड़ी मात्रा में अनेक विषों और घातक पदार्थों के अतिरिक्त तीक्ष्णतम महाविष पोटेशियम सायनाइड को भी खाकर जीवित रहने का अद्‌भुत प्रदर्शन करके समस्त विश्व के वैज्ञानिकों में तहलका मचा दिया था।

कौन था वह महायोगी ?

क्या उसे अमरत्व की दुर्लभ सिद्धि प्राप्त थी ? क्या वह कालञ्जयी था ?

हाँ इसमें सन्देह नहीं। उस परमसाधक को निश्चय ही अमरत्व की दुर्लभ सिद्धि प्राप्त थी। वह निस्सन्देह कालञ्जयी था।

प्राणमयी जीवनी शक्ति से सम्पन्न उस महान् योगी की खोज वास्तव में की थी उस समय के कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग के रीडर डा० नियोगी ने।

कलकत्ता के निकट एक गाँव है—मधुपुर। अब तो वह एक बहुत बड़ा कस्बा हो गया है। मगर उन दिनों वह एक छोटा-सा गाँव था। डा० नियोगी की वहाँ रिश्तेदारी थी। एक बार किसी आवश्यक कार्य से वे अपनी उसी रिश्तेदारी में गये हुए थे। उन दिनों मधुपुर में योगी नरसिंह स्वामी की तपस्या और सिद्धियों की धूम मची हुई थी। गाँव के लोग उन्हें सन्त, महात्मा और योगी कहते थे और उनका काफी आदर करते थे। सभी लोग उनकी सिद्धियों और योगबल से चमत्कृत थे।

नरसिंह स्वामी ने पूरे तीस वर्षों तक हिमालय की दुर्गम कन्दराओं में रह कर कुण्डलिनीयोग की कठोर साधना कर 'हठयोग' की सिद्धि प्राप्त की थी। फिर लोक-कल्याण की भावना लेकर तपोभूमि की परम शान्ति से निकलकर सांसारिक कोलाहल के क्षेत्र में आ गये वह। मधुपुर में काली का एक प्राचीन मन्दिर है। उसी के निकट एक छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगे वह। काली मन्दिर के सामने पाकड़ और कदम्ब का वृक्ष था। स्वामीजी उसी के नीचे बैठ कर दीन-दुखी, रोगी, अपाहिज और असहाय लोगों की सेवा करने लगे। शीघ्र ही उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी। मधुपुर पहुँच कर डा० नियोगी ने भी स्वामीजी के चमत्कारों की कथा सुनी। स्वभावतः उनकी जिज्ञासा जाग उठी और एक दिन वह स्वामीजी की कुटिया पर जा पहुँचे और अपना विस्तार से परिचय दिया उन्होंने। स्वामीजी उनको अपने निकट बिठा कर मृदु स्वर में बात करने लगे। मगर कुछ ही देर बाद वह वार्तालाप एक सिद्ध योगी तथा कर्मठ विज्ञानवेत्ता के शास्त्रार्थ के रूप में बदल गया। तर्क-वितर्क प्रखर होता गया। थोड़ी देर बाद प्रसंगवश डा० नियोगी ने किञ्चित् आवेश के साथ यह चुनौती-सी दे डाली कि कोई भी मनुष्य अंगारे नहीं खा सकता। तेजाब नहीं पी सकता। जहर नहीं चाट सकता······।

यह सुनकर स्वामीजी मुस्कराये। फिर सहज स्वर में बोले—ये तीनों

काम मैं ही करके आपको दिखा सकता हूँ। लेकिन डा० नियोगी बिना प्रत्यक्ष प्रमाण पाये उस महान् योगी की क्षमता पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे। उनको उस समय घोर आश्चर्य हुआ जब कि स्वामीजी तुरन्त तैयार हो गये—उन तीनों असम्भव कृत्यों को दिखाने के लिए।

डा० नियोगी ने तत्काल कोयले के धधकते अंगारे, शुद्ध और तीक्ष्ण तेजाब और तीव्र विष की व्यवस्था की और उन्हें स्वामीजी के सामने प्रस्तुत कर दिया। स्वभावतः डा० नियोगी जानते थे कि कोई भी प्राणी इन प्राण-घातक पदार्थों से सुरक्षित नहीं रह सकता, अतः उन्होंने कुछ उपहास के साथ कहा—'लीजिये स्वामीजी! अब आप अपनी बातों को सच करके दिखायें, नहीं तो योगी का यह बाना उतार दें। डा० नियोगी की इस कड़ुवी बात को सुनकर भी वे मुस्कराते रहे। इस बीच डा० नियोगी की इस चुनौती की चर्चा चारों तरफ फैल चुकी थी। देखते-ही-देखते मधुपुर की श्रद्धालु जनता स्वामी जी का यह अद्भुत चमत्कार देखने के लिए काली मन्दिर की ओर उमड़ पड़ी।

नरसिंह स्वामी ने हजारों विस्फारित नेत्रों के सामने तीव्र विष उठाकर पी लिया। फिर तेजाब उठाकर हथेली पर उडेल लिया और सहज मुस्कान के साथ उसे इस प्रकार चाटने लगे मानो स्वाद ले-लेकर शहद चाट रहे हों। और अन्त में उन्होंने दहकते अंगारों को उठा-उठा कर इस तरह खाना शुरू किया मानों स्वादिष्ट रसगुल्ले खा रहे हों।

जैसा कि मैं पीछे आपको बतला चुका हूँ कि 'हठयोग' कुण्डलिनीशक्ति साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'हठयोग' के साधक का शरीर के सभी आन्तरिक अंगों पर अधिकार होता है। जिसके फलस्वरूप शरीर पर किसी भी पदार्थ का प्रभाव नहीं पड़ता, भले ही पोटेशियम सायनाइड ही क्यों न हो।

हठयोग-बल का यह विलक्षण प्रमाण देखकर डा० नियोगी एकबारगी स्तब्ध और चमत्कृत रह गये। वे भावावेश में भर कर स्वामीजी के चरणों में गिर पड़े। स्वामीजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और प्रसन्न मन से विदा किया।

मधुपुर से प्रस्थान करते समय डा० नियोगी ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि एक बार वे अपनी इस महान् योगविद्या का प्रदर्शन कलकत्ता विश्व-विद्यालय के प्रख्यात वैज्ञानिकों के सामने अवश्य करें। और स्वामीजी ने सहजभाव से डा० नियोगी के इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

विज्ञान् जगत में तहलका मचा देने वाले विश्व के अभूतपूर्व प्रदर्शन का का आयोजन शुरू हो गया। और अन्त में प्रदर्शन की तिथि निश्चित हुई १६ जनवरी १९३२ ई०! वह भव्य प्रदर्शन और चमत्कृत कर देने वाला आयोजन सर सी० वी० रमण की अध्यक्षता में किया जा रहा था—जो उस समय

भारत के ही नहीं बल्कि विश्व के महानतम वैज्ञानिकों की श्रेणी में भी पहुँच चुके थे।

उस विलक्षण, आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय प्रदर्शन के आयोजक थे—डा० नियोगी के अतिरिक्त फैकल्टी ऑफ साइन्स के डीन डा० भट्टाचार्य और केमिस्ट्री (रसायनशास्त्र) विभाग के हेड आफ द डिपार्टमेण्ट डा० सरकार। उस अवसर पर देश-विदेश के अनेक वैज्ञानिकों को भी आमन्त्रित किया गया था। आयोजन के अध्यक्ष की हैसियत के रूप में नियुक्त डा० रमण ने उस प्रदर्शन की सूक्ष्म जाँच-परख के निमित्त एक समिति का गठन किया था। जिसमें पाँच सदस्य थे—(१) ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (इंग्लैण्ड) के विज्ञान विभाग के अध्यक्ष, (२) पेरिस विश्वविद्यालय (फ्रांस) के साइन्स फैकल्टी के डीन; (३) न्यूयार्क विश्वविद्यालय (अमेरिका) के विज्ञान विभाग के रीडर; (४) मद्रास विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर तथा (५) कलकत्ता विश्वविद्यालय के रीडर डा० नियोगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय आयोजन की धूम सारे संसार में मच गयी थी। उस प्रदर्शन को देखने के लिए विश्व के तमाम देशों से वैज्ञानिकों तथा अन्य जिज्ञासुओं के दल के दल भारत आने लगे।

१६ जनवरी को प्रदर्शन स्थल पर निश्चित समय पर प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ। योगी नरसिंह स्वामी प्रदर्शन कक्ष में आ खड़े हुए। जनार्दन पाण्डेय भी एक जिज्ञासु के रूप में वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि उस समय स्वामीजी के निर्द्वन्द्व मुखमण्डल पर वही सहज एवं मृदु मुसकान थी। सबसे पहले समिति की ओर से डाक्टरों ने उनके शरीर का सूक्ष्म निरीक्षण किया। हर प्रकार से जाँच कर तलाशी ली गयी। यह निश्चित हो गया कि योगी नरसिंह स्वामी ने किसी छल-प्रपञ्च का आश्रय नहीं लिया है और न किसी प्रकार की ऐसी औषधि का ही सेवन कर रखा है, जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करती हो। सब कुछ सही और सामान्य पाया गया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला से पहले ही भयंकर से भयंकर विष मंगाकर रख लिये गये थे। इतना ही नहीं, विदेशों से आने वाले कई वैज्ञानिक भी अपने साथ भयंकरतम महाविष पोटेशियम सायनाइड लेकर आये थे। जाँच-समिति ने जब हर प्रकार से निरीक्षण करने के बाद उस महान् योगी को प्रदर्शन के लिए सामान्य पाया और सन्तुष्ट होकर अधिकृत घोषित कर दिया। तब आयोजन के अध्यक्ष डा० रमण ने योगी के सामने एक दस्तावेज रखते हुए अनुरोध किया कि प्रदर्शन के पूर्व इस पर हस्ताक्षर कर दें। कानून की दृष्टि से यह खानापूर्ति निश्चित रूप से बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। उस दस्तावेज में यह घोषणा थी कि योगी नरसिंह स्वामी स्वेच्छा से यह प्रदर्शन कर रहे हैं। और यदि इस दौरान उनकी मृत्यु हो जाती है तो प्रदर्शन

समिति पर उसकी कोई भी जिम्मेदारी नहीं होगी। अपनी मृत्यु के लिए वह स्वयं जिम्मेदार होंगे। अध्यक्ष ने कहा कि घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद ही यह खतरनाक प्रदर्शन सम्भव है।

डा० रमण की बात सुनकर स्वामी जी हँस पड़े और एक पल भी सोचे बिना उन्होंने दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिया।

फिर क्या हुआ ?

होगा क्या ? पाण्डेयजी बोले—उसके बाद प्रदर्शन का सबसे रोमाञ्च-कारी क्षण आया। समिति की ओर से सबसे पहले काँच की प्याली में भयंकर तेजाब स्वामीजी के सामने प्रस्तुत किया गया। किसी प्रकार की शंका की गुजांइश न रहे, अतः वहाँ उपस्थित वैज्ञानिकों से अनुरोध किया गया कि वे स्वयं परीक्षण करके देख लें कि तेजाब पूर्णतः तीक्ष्ण और शुद्ध है। वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तीक्ष्ण रासायनिक प्रतिक्रिया देख ली और सभी ने घोषणा कर दी कि तेजाब बड़ा ही घातक और पूर्णतया शुद्ध है।

नरसिंह स्वामी मुस्कराये। उन्होंने तेजाब हथेली पर उड़ेल लिया और उत्सुकता से फैली सैकड़ों जोड़ी आँखों के सामने उसे जीभ से चाट गये। दर्शकों का समूह स्तम्भित बैठा वह विलक्षण दृश्य देखता रह गया। स्वामीजी पर उस भयंकर तेजाब की कोई भी प्रतिक्रिया नहीं दिखायी पड़ी।

तब समिति की ओर से उन्हें एक तीक्ष्ण विष कार्बोलिक एसिड दिया गया। स्वामीजी सबके देखते-ही-देखते उसे भी शहद की तरह चाट गये। उन पर उस घातक विष का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे सहज भाव से खड़े मुस्कराते रहे। उसके बाद उन्हें बारी-बारी से धतूरे का चूर्ण, संखिया तथा कुचिला आदि घातक विषैले पदार्थ दिये गये। स्वामीजी ने पलमात्र को भी हिचके बिना उन्हें खा लिया और नीलकण्ठ की भाँति समस्त विषों को पचा कर मुस्कराते रहे।

प्रेसीडेन्सी कालेज के प्रदर्शन कक्ष में उपस्थित विश्व के कोने-कोने से आये वैज्ञानिकों का दल मूर्तिवत् बैठा उस चमत्कारी योगी को विस्फारित नेत्रों से देखता रहा।

अन्ततः वैज्ञानिकों की उस समिति ने सर्वसम्मति से योगी नरसिंह स्वामी को संसार का तीक्ष्णतम विष पोटेशियम सायनाइड देने का निश्चय किया। वहाँ उपस्थित हर व्यक्ति का कलेजा आशंका से धड़क उठा। कोई कल्पना में भी विश्वास नहीं कर पा रहा था कि इस घातक विष का पान करने पर भी योगी जीवित रहेगा।

लेकिन जब स्वामीजी ने 'जय माँ काली' कहकर पोटेशियम सायनाइड को भी निष्क्रिय पदार्थ की तरह खा लिया और निर्द्वन्द्व खड़े मुस्कराते रहे तो सम्पूर्ण प्रदर्शन कक्ष कुछ समय के लिए प्रस्तरीभूत-सा हो रहा था। वहाँ सूची-

भेद्य सन्नाटा छा गया था। हर व्यक्ति साँस रोक कर बैठा उस मूर्तिमान् आश्चर्य सिद्ध पुरुष की ओर देखता रह गया। जो अपनी इस विलक्षण शक्ति के कारण विश्व की अन्यतम घटना का नायक बन गया था। फिर सहसा हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा और काफी देर तक गूँजता रहा। विदेशी वैज्ञानिकों में स्वामीजी का फोटो खींचने की होड़-सी लग गयी। उन्होंने भी भारतीयों की भाँति उस महात्मा के चरणस्पर्श कर अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

पोटेशियम सायनाइड जैसे तीक्ष्ण महाविष को खा लेने के बाद भी स्वामीजी ने अपना प्रदर्शन रोका नहीं। तत्काल मृत्यु का ग्रास बना देने वाले विषों को व्यर्थ कर देने के बाद उन्होंने एक और भी भयंकर घातक पदार्थ का भक्षण किया। उन्होंने काँच पिसवा कर उसका चूर्ण भी फाँक लिया। काँच भी एक प्रकार से घातक विष का ही काम करता है। हाँ इसे खाने से आदमी धीमी, मगर घोर यंत्रणा सहते हुए मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

० ० ०

जनार्दन पाण्डेय बोले—विज्ञान अर्धसत्य को स्वीकार नहीं करता। तर्क की अन्तिम कसौटी पर भी किसी तथ्य को कसता है तभी कोई निश्चित धारणा बनाता है। तत्काल प्रभावकारी घातक विषों को खाकर भी नरसिंह स्वामी का जीवित रहना निश्चित ही आश्चर्यजनक था, किन्तु वैज्ञानिकों को उतने से भी सन्तोष नहीं था। वे योगी के शरीर पर विषैले पदार्थों तथा काँच के टुकड़ों के पश्चाद्गामी प्रभाव को भी देखने के लिए आतुर थे। एक और भी बात थी कि स्वामीजी तुरन्त वहाँ से जाकर विषों के प्रभाव को समाप्त करने वाली किसी औषधि या जड़ी-बूटी का सेवन न कर सकें। अतः उनसे तीन घंटे तक वहीं रुकने का अनुरोध किया गया। और स्वामीजी ने कोई आपति नहीं की।

तीन घंटे बाद दुबारा उनके शरीर की जाँच की गयी। वे पूर्णतः स्वस्थ एवं सहज थे। उनके शरीर का एक रेशा भी विष से प्रभावित नहीं हुआ था। तब पश्चिम के एक विख्यात डाक्टर ने योग की सहायता से स्वामीजी के पेट से सारे जहर निकाले। उस विदेशी डाक्टर को यह देखकर चक्कर आ गया कि उनके पेट में सारे विष पूरे-के-पूरे पड़े हुए थे। शरीर की सहज प्रक्रिया में उनका एक कण भी शोषित नहीं हुआ था। जबकि वह व्यक्ति जीवित था और वह भी पूर्णतः स्वस्थ। यह कैसे सम्भव है? विज्ञान के पास इसका कोई भी उत्तर नहीं था।

दूसरे दिन स्वामीजी के मल-मूत्र की भी जाँच की गयी और कुछ तो नहीं मिला। हाँ! उनकी विष्टा में काँच का सारा चूर्ण अवश्य मिल गया।

उस विलक्षण प्रदर्शन को देखते समय डा० सी० वी० रमन भी विस्मय से आविर्भूत होकर बोल उठे थे—'यह प्रदर्शन विज्ञान को चुनौती दे रहा है'।

सचमुच स्वामीजी के उस चमत्कार से विज्ञान स्तब्ध और हतप्रभ रह गया था।

विश्वभर के वैज्ञानिकों का समुदाय जब किसी भी तर्कसंगत निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका — तब उसने स्वामीजी की ही शरण ली। उनके आग्रह करने पर स्वामीजी ने अन्ततः उस अभूतपूर्व और अविश्वसनीय चमत्कार का रहस्य भी उन्हें बतला ही दिया — 'हठयोग'।

स्वामीजी ने बतलाया कि वह विष ग्रहण करने के पूर्व हठयोग की एक विशेष क्रिया द्वारा शरीर को इस स्थिति में ला देते हैं कि उस पर भंयकर से भयंकर विष भी सर्वथा प्रभावहीन सिद्ध होता है। विष खाने के बाद वह रात में समाधिस्थ हो जाते हैं और प्रातः चार बजे जब वह समाधि भंग करते हैं तो पेट में पड़ा सारा विष मिट्टी हो चुका होता है।

स्वामीजी का अभिनन्दन करने के लिए एक सार्वजनिक समारोह का आयोजन किया गया। और उस समारोह के अध्यक्ष बने स्वयं सर सी० वी० रमन। जिनकी अध्यक्षता में जिस समिति ने स्वामीजी की कठिनतम परीक्षा ली थी — उसने मृत्यु के घातक से घातक हथियारों को व्यर्थ करने वाले उस महान् योगी को श्रद्धापूर्वक 'मृत्युञ्जयी' की उपाधि से विभूषित किया। उस प्रदर्शन के कारण स्वामीजी की कीर्तिपताका सम्पूर्ण विश्व में लहरा उठी।

नरसिंह स्वामी से भेंट

पूरे आठ वर्ष के बाद सन् १९४० में नरसिंह स्वामी की यह चमत्कारपूर्ण अविश्वसनीय, अलौकिक कथा सुनाई थी मुझे पाण्डेयजी ने। जिसे सुनकर न जाने क्यों व्याकुल हो उठा मेरा चित्त उस महान् योगी के दर्शन के लिए। और उसी दर्शन की लालसा के वशीभूत होकर उसी सप्ताह रवाना हो गया था मैं मधुपुर के लिए।

बस, यहीं से शुरू होती है भारतीय संस्कृति और साधना के गूढ़ आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित कुण्डलिनीशक्ति की खोज-यात्रा और उस यात्रा से सम्बन्धित अद्भुत, अलौकिक, रोमाञ्चकारी और अविश्वसनीय सत्य घटनाओं की रहस्यमयी श्रृंखला जिसने इस दीर्घकाल में मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को और सम्पूर्ण आन्तरिक जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया।

० ० ०

जब मैं मधुपुर पहुँचा उस समय सांझ की स्याह कालिमा धरती पर धीरे-धीरे फैलने लगी थी। एक अबूझ-सी खिन्नता भरी नीरवता छायी थी वातावरण में। सब ओर साँय-साँय हो रहा था। साठ-सत्तर के लगभग कच्चे-पक्के मकान। सेवार से भरा एक बड़ा-सा कच्चा तालाब। जिसके किनारे बैठे तीन-चार लोग मछली का काँटा डाले बैठे थे। तालाब के बाद ही शुरू हो गया था आम, पाकड़, सेमल और कदम्ब का झुरमुट। केले के कई बगान भी थे

वहाँ। और उन्हीं बगानों के पीछे था काली मन्दिर। मध्यकालीन वास्तुशैली का बना वह मन्दिर काफी पुराना और जीर्ण-शीर्ण-सा लगा मुझे।

मन्दिर के ठीक सामने पंचवटी आसन। जिसके एक ओर था रातरानी, कृष्णचूणा, केतकी, जवा और मल्लिका के फूलों का काफी बड़ा बाग। वहाँ का वातावरण थोड़ा रहस्यमय लगा मुझे। जब मैं मन्दिर की आड़ी-तिरछी और धूल से भरी सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा तो देखा—पंचमुण्डी आसन पर शवारूढ़ा, चतुर्भुजा काली की अट्टहास करती हुई पाषाण प्रतिमा के सम्मुख एक अतिवृद्ध बंगाली पुजारी माँ की मंगला आरती कर रहा था। मन्दिर के द्वार पर भोग-प्रसाद की लालच में गाँव के चार-पाँच लड़के खड़े थे। उन्हीं से पूछने पर नरसिंह स्वामी की कुटिया का पता लगा। पूरे रास्ते बराबर यही सोचता रहा था कि शायद ही उस महायोगी का दर्शन-लाभ हो।······अब तक होंगे मधुपुर में वह? तेरह वर्ष का दीर्घ अन्तराल!······सम्भव है कहीं अन्यत्र चले गये हों!···मगर जब यह मालूम हुआ कि वह अभी भी मधुपुर में ही निवास कर रहे हैं तो सच पूछिए प्रसन्नता से भर उठा मैं।

मन्दिर के निकट ही थी स्वामीजी की पर्णकुटी! भीतर हलका प्रकाश हो रहा था। कुटिया के सामने मिट्टी का काफी लम्बा-चौड़ा और ऊँचा चबूतरा था—जिसके एक ओर कदम्ब का काफी बड़ा और घना वृक्ष था। उसी की छाया के नीचे विश्व का बहुचर्चित वह महान् तपस्वी साधक पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठा हुआ था एक तख्त पर।

हे भगवान्। कितना अपूर्व तेज था? कितनी आभा थी? और कितनी शान्ति थी स्वामीजी के मुख पर कि बतला नहीं सकता मैं।

सुगठित देहयष्टि। गौरवर्ण। शरीर पर काषाय वस्त्र। मस्तक पर त्रिपुण्ड्र। गले में रुद्राक्ष की माला। काफी देर बाद स्वामीजी ने आँखें खोलीं। सामने खड़े मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखा।

उफ, कितनी करुणा थी उन झील-सी गहरी आँखों में? कितना अगाध स्नेह था वहाँ? शब्द नहीं हैं मेरे पास वर्णन करने के लिए।

झुककर चरणस्पर्श किया! अपना परिचय दिया फिर और अन्त में अपने आने का प्रयोजन बतलाया मैंने। काशी से चलकर आया हूँ—यह सुनकर स्वामीजी प्रसन्न हुए। योग में मेरी रुचि है—यह भी सुनकर उनको प्रसन्नता हुई।

तभी वहाँ एक युवती आ गयी। साथ में उस युवती की उंगली थामे पाँच-छः साल की भोली-भाली प्यारी-सी एक लड़की भी थी।

आओ! सरस्वती! स्वामीजी ने उस बालिका की ओर देखते हुए युवती से पूछा—नमिता कैसी है? 'अच्छी है बाबा'—युवती ने मृदु स्वर में उत्तर दिया। आप के पास आने की जिद कर रही थी सो ले आई हूँ इसे।

स्वामीजी ने अपना दोनों हाथ फैला दिया। बालिका मुसकराती हुई जाकर बैठ गयी उनकी गोद में। समझते देर न लगी मुझे। बालिका का नाम नमिता था और साथ में आयी हुई उस युवती का नाम था सरस्वती।

सिर घुमाकर सरस्वती की ओर देखा मैंने। गोरा रंग। छरहरा शरीर। सूनी माँग। सूनी कलाई। मस्तक पर सफेद चन्दन का गोल टीका। गले में तुलसी की माला। चेहरे पर उदासी, वेदना और आन्तरिक पीड़ा की मिली-जुली गहरी छाया। आँखों में सूनापन। शरीर पर सफेद साड़ी। फिर भी मुझे सुन्दर लगी वह। आयु अधिक नहीं थी। बस यही तीस-पैंतीस के लगभग।

बाद में पता चला कि काली मन्दिर के सामने वाले पक्के मकान में एक भट्टाचार्य महोदय सपरिवार रहते थे। उनके परिवार की सबसे दीन-हीन प्राणी थी सरस्वती। सरस्वती भट्टाचार्य महाशय की पुत्री थी। विधवा थी वह। और विधवा होने के बाद पिता के आश्रम में आश्रय लेकर जीवन काटने के लिए चली आयी थी। नमिता उसकी एकमात्र पुत्री थी। नमिता पर स्वामी जी का अपार स्नेह था। जब तक वह नमिता को काली माँ का प्रसाद न दे देते, तब तक स्वयं अपने मुँह में दाना नहीं डालते थे। नमिता भी उनके स्नेह और अनुराग में पग कर उनकी ही हो गयी थी। स्वामीजी कभी कहीं बाहर यात्रा पर जाते तो नमिता को एक पल के लिए भी नहीं भूलते। और उसके लिए तरह-तरह का उपहार ले आते। नमिता पर उनका अगाध वात्सल्य देखकर सरस्वती कहती — बाबा जब नमिता ससुराल जायेगी तो क्या आप भी उसके साथ-साथ जायेंगे ?

स्वामीजी हँसकर कहते — जब नमिता यहाँ से चली जायेगी। तब मैं भी चोला बदल कर उसकी कोख से ही जन्म लूँगा।

प्रकरण : पाँच

मोह जब मृत्यु कारण बना

राजा, योगी और वेश्या — इन तीन के जीवन में मोह का कोई स्थान नहीं है। कोई महत्त्व नहीं है इन तीनों के जीवन में मोह अथवा आसक्ति का। यदि वे मोह अथवा आसक्ति के जाल में फँसते हैं तो उनका विनाश निश्चित है।

हमारे पाठकों के मन में यह कौतूहल होना स्वाभाविक है कि महायोगी नरसिंह स्वामी को जब यह अलौकिक कालञ्जयी शक्ति प्राप्त थी तो निश्चय ही काल उनको अपना ग्रास नहीं बना सकता था।……तो क्या स्वामीजी को देवताओं की तरह अमरत्व प्राप्त था ? यदि हाँ !……तो फिर वे गये कहाँ ?

इस सत्य के प्रति किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि ऐसे सिद्ध योगीगण काल के वश में नहीं होते ! वास्तव में मृत्यु उनके वश में होती है। निश्चय ही स्वामीजी को 'इच्छा मृत्यु' की दुर्लभ सिद्धि प्राप्त थी। कहने का मतलब यह कि उनकी मृत्यु तभी हो सकती थी, जब वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करें।

महाभारतकाल में यही सिद्धि महात्मा भीष्म को भी प्राप्त थी। अनुकूल समय में और वांच्छित मुहूर्त में उन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु का वरण किया था। निस्सन्देह स्वामीजी को यह अलौकिक शक्ति प्राप्त थी। उनकी वास्तविक आयु क्या थी ? यह किसी को नहीं मालूम था। मधुपुर के अस्सी-नब्बे वर्ष के वृद्धों का कहना था कि वे स्वामीजी को शुरू से ही इसी प्रकार देखते आये हैं — जैसे समय का अथवा कालचक्र का प्रभाव ही नहीं पड़ता था उन पर। वह हमेशा ही उसी अवस्था में और उसी रूप-रंग में स्थिर रहे। उतने ही स्वस्थ और उतने ही सक्रिय। अनेक तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि स्वामीजी सौ वर्ष की अवस्था तो पार कर ही चुके थे। उन्होंने १२५ वर्ष की आयु के बाद ही 'इच्छा मृत्यु' का वरण किया।

मृत्यु का वरण करने के पीछे एक करुण कथा है। वस्तुतः स्वामीजी की मृत्यु का एकमात्र कारण था मोह। एक कालञ्जयी सिद्ध महायोगी की मृत्यु का कारण 'मोह' सुनकर विचित्र-सा लगता है। सहज में विश्वास नहीं होता। मगर सच बात तो यह है कि स्वामीजी काम, क्रोध, मद और लोभ पर विजय प्राप्त कर चुकने के बावजूद भी मोह को जीत नहीं पाये थे। और अन्ततः इसी मोह के कारण ही उनकी मृत्यु का रूप ऐसा रहा कि वह एक प्रकार से आत्म-घात का प्रसंग लगता है।

संयोग कुछ ऐसा हुआ कि एक अनहोनी घटित हो गयी। माघ-पूष का महीना था। स्वामीजी अपने प्रदर्शन के सिलसिले में कहीं बाहर गये हुए थे। इधर नमिता को अचानक न्यूमोनिया हो गया। धीरे-धीरे उसकी हालत बिगड़ने लगी। रात को ही दोनों पसलियाँ चलने लगीं, साँस की गति भी अवरुद्ध होने लगी। घर में हा-हाकार मच गया। मधुपुर में भी हा-हाकार मच गया। डाक्टर-वैद्य का इलाज तथा झाड़-फूँक सभी कुछ कराया गया, लेकिन नमिता की हालत बिगड़ती ही चली गयी। उसे, बस एक ही रट थी—स्वामीजी ! स्वामीजी ! घर का हर व्यक्ति मन-ही-मन स्वामीजी को ही पुकार रहा था। सभी जानते थे कि स्वामीजी होते तो नमिता को यह यन्त्रणा न सहनी पड़ती। वह क्षण-भर में अपनी नमिता को उबार लेते। पर स्वामीजी को पाये तो कहाँ ? किसी को भी पता नहीं था कि वह कहाँ गये हैं ?

आखिर मृत्यु की छाया गहराती गयी और स्वामीजी······स्वामीजी की टेर लगाती नमिता एक हिचकी के साथ इस संसार से हमेशा के लिए विदा हो गयी। दोपहर को नमिता मरी और सायं को ही स्वामीजी मधुपुर आ पहुँचे। नमिता की मृत्यु का मर्मघाती समाचार पाते ही उस कालञ्जयी महापुरुष का हृदय छिद गया। तुरन्त पछाड़ खाकर गिर पड़े वह। उनके अचेत होते ही मधुपुर में हा-हाकार मच गया। पूरा मधुपुर दौड़ पड़ा। पानी के छींटे दिये गये। काफी देर बाद स्वामीजी को चेत आया। स्वामीजी सामान्य व्यक्ति की भाँति रोते हुए काँपते पाँवों से भट्टाचार्य के घर पहुँचे। दुखिया विधवा माँ सरस्वती देवी उनके चरणों से लिपट कर विलाप करने लगी—'बाबा ! मेरी नमिता को कहाँ छोड़ आये ? उसे मैं तुम्ही से लूँगी। नहीं दोगे तो सिर पटक-पटक जान दे दूँगी'।

स्वामीजी का मर्म छिद गया। वह और अधिक विकल होकर बालकों की तरह रोने लगे। वह समझ नहीं पा रहे थे कि सरस्वती यदि फिर रोती हुई नमिता को वापस माँगेगी तो कौन-सा मुँह दिखायेंगे······। बस, सम्भवतः मोह के उस प्रचण्ड आवेग के क्षणों में उन्होंने मृत्यु का आलिंगन करने का निश्चय कर लिया।

वस्तुतः उसी दिन अपने प्रदर्शन में स्वामीजी ने एक भयंकर विषधर नाग से बार-बार अपने शरीर में दंश करवाया था। इसके साथ ही तीक्ष्ण विष का भक्षण भी किया था। नियमानुकूल विष को प्रभावहीन करने के लिए उन्हें समाधिस्थ होना आवश्यक था। वह यही सोचकर मधुपुर आये भी थे। मगर यहाँ तो जैसे मृत्यु ने मृत्युञ्जयी की सबसे बड़ी धरोहर को डस कर उन्हें परास्त कर दिया था। इस पराजय के बाद स्वामीजी को संसार निरर्थक-सा लगने लगा।

वह पूरी रात भट्टाचार्य परिवार के बीच दुखिया सरस्वती के पास ही

बैठे रोते रहे—मानों सारी सुध-बुध बिसर गयी थी। समाधि लगाने की इच्छा ही नहीं रही। और शायद फिर याद भी न आयी।

विष सहज ही उनके शरीर ने फैलने लगा। ब्राह्म मुहूर्त में अपना अन्त निकट समझकर उन्होंने कहा—मैं चाहूँ तो सैकड़ों वर्ष तक जीवित रह सकता हूँ। किन्तु इस दारुण घटना ने मेरा हृदय छेद डाला। मुझे जीने की अब इच्छा ही नहीं रही। और उस शुभ वेला में उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया।

० ० ०

उस दिनों मैं कलकत्ता में था। भोर के समय मैंने स्वप्न में देखा कि स्वामीजी मेरे निकट खड़े मुस्करा रहे थे। मैंने पूछा—'स्वामीजी आप यहाँ कैसे'? स्वामीजी बोले—'नमिता मेरी आत्मा की खण्ड थी। अब मैं उस आत्मखण्ड के साथ जा रहा हूँ। बस यही कहने आया था मैं······'। इतना कह कर स्वामीजी अदृश्य हो गये और उसी के साथ मेरी नींद भी खुल गयी। अचकचाकर उठ बैठा मैं। सबेरा होने ही वाला था। सहसा स्वामीजी का एक वाक्य स्मरण हो आया मुझे उस समय। प्रसंगवश एक बार स्वामीजी ने कहा था—नमिता नहीं रहेगी तो मैं भी इस संसार में नहीं रहूँगा। ······तो क्या यह स्वप्न इसी सत्य की ओर संकेत कर रहा है।

मन उद्विग्न हो उठा मेरा। व्यग्रता से मेरा चित्त भर गया। अशान्त हो उठा मेरा हृदय। और उसी उद्विग्नता, उसी व्यग्रता और उसी अशान्ति के कारण रहा न गया मुझसे। दोपहर की गाड़ी से रवाना हो गया मैं तुरन्त मधुपुर के लिए।

भोर के समय देखा गया वह स्वप्न पूर्ण यथार्थ के रूप में अब मेरे सामने था। स्वप्न की सत्यता को साकार रूप में देखा मैने वहाँ। उस महान् योगी सन्त महापुरुष के पार्थिव शरीर को वहाँ उस समय 'भू-समाधि' देने की व्यवस्था हो रही थी। पूरे मधुपुर निवासियों की आँखों में आँसू थे। कोई ऐसा न था जिसके चेहरे पर दुःख, पीड़ा और वेदना की छाया न हो। कोई ऐसा न था जिसकी आँखों में व्यथा के आँसू न हो।

स्वामीजी और नमिता की मृत काया को एक साथ और एक ही स्थान पर अगल-बगल भूमिगत किया जा रहा था। कितने आश्चर्य की बात थी। एक पूर्ण ज्ञानी था और एक पूर्ण अज्ञानी। मगर दोनों का मार्ग एक ही था—महाप्रयाण का मार्ग। जहाँ किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहता। समान रूप से जो सभी के लिए खुला है।

० ० ०

मैंने देखा—जहाँ उस परम योगी के चेहरे पर चिरनिद्रा की परमशान्ति थिरक रही थी—वहीं उस भोली-भाली निश्छल बालिका के चेहरे पर एक

ऐसा भाव था जिसे देखकर लगता था मानो कभी किसी भी क्षण आर्त स्वर में पुकार बैठेगी वह। स्वामीजी को और उसके विगलित कण्ठ से निकले उस करुण पुकार को सुनकर दु:ख के अथाह सागर में डूब जायेगा सारा वातावरण। वह दृश्य बड़ा ही हृदय-विदारक और कारुणिक था — जब सरस्वती देवी उस कोमल बालिका के निर्जीव और निष्प्राण शरीर को अपने सीने से लगाते हुए करुण स्वर में चीत्कार कर उठी और रो-रोकर कहने लगी — 'नमी···मेरी प्यारी नमिता !···एक तेरा ही तो सहारा था और तू भी मुझे अकेला अनाथ छोड़ कर जा रही है, बाबा के साथ। कौन-सा अपराध था ? कौन-सा पाप किया था मैंने कि बाबा भी तुम्हारी तरह मुझे छोड़ कर हमेशा-हमेशा के लिए चले गये··· ।

० ० ०

साँझ की स्याह चादर फैल चुकी थी। आकाश में काले-भूरे बादल उमड़-घुमड़ रहे थे। ठण्डी शीतल हवा के तेज थपेड़ों से आम, पाकड़ और पीपल के बड़े-बड़े पेड़ बुरी तरह काँप रहे थे। काली मन्दिर के सूने वातावरण में जल रहे घी के दीपक की पीली रोशनी का दायरा कभी-कदा हौले से काँपता और फिर स्थिर हो जाता। वृक्षों के घने झुरमुटों के पार—आकाश के स्याह सीने पर कोई चमकीला, रूपहला नक्षत्र उग आया था और बादलों से आँख-मिचौली करने लगा था। पास ही सेमल और कचनार के पेड़ों पर पक्षियों के फड़-फड़ाने की आवाज डूबती साँझ की उदास स्याह कालिमा को जैसे दस्तक देने लगी थी। अपने-आप में डूबा अन्तर्मुखी-सा पंचवटी के धूल भरे चबूतरे पर गालों पर हाथ धरे उदास बैठा सोंच रहा था मैं — 'एक साल पहले ही तो आया था मैं मधुपुर। स्वामीजी का दर्शन कर और उनका सान्निध्य पाकर मेरे मन को और मेरी आत्मा को कितनी शान्ति और कितनी तृप्ति मिली थी उस समय ? और फिर एक-एक कर सारी स्मृति जाग्रत् हो गयी मानस-पटल पर।

उस समय स्वामीजी के सान्निध्य में आकर न जाने कितने जन्म-जमान्तरों की आध्यात्मिक पिपासा जाग्रत् हो उठी थी मेरे भीतर कि बतला नहीं सकता मैं। फिर सम्भाल न सका था मैं अपने आपको। और शायद उसी पिपासा के वशीभूत होकर एकबारगी एक साथ कई प्रश्न कर बैठा था मैं —

मैं कौन हूँ ?
कहाँ से आया हूँ मैं ?
क्यों जन्म लिया है मैंने ?
जन्म लेने का उद्देश्य क्या है मेरा ?
मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है ?
क्यों आया हूँ मैं इस संसार में ?

क्या सम्बन्ध है मेरा इस जगत् से ?

मैं क्यों मर जाऊँगा और मरने का बाद फिर कहाँ चला जाऊँगा ?······

मेरे ऐसे और ऐसे ही तमाम अन्य प्रश्नों को सुन कर स्वामीजी ने एक बार गहरी दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर सहज किन्तु गम्भीर स्वर में कहा — इस प्रकार के प्रश्नों का उदय होना स्वाभाविक है। ये तमाम जिज्ञासाएँ स्वाभाविक रूप से आत्मा में आविर्भूत होती हैं। लेकिन इन तमाम प्रश्नों का और इन तमाम जिज्ञासाओं का समाधान सहज और सरल नहीं। शास्त्रों के उपदेशों से न इनका ठीक-ठीक उत्तर दिया जा सकता है और न तो इनका समुचित समाधान ही किया जा सकता है। जब तक द्वन्द्व का नाश नहीं हो जाता, तब तक ऐसे तमाम प्रश्नों का समुचित उत्तर पाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है।

योगतान्त्रिक साधना का एकमात्र लक्ष्य 'द्वन्द्व' के मुक्ति

द्वन्द्व का प्रणाश होते ही स्वयं अपने-आप इन सभी प्रश्नों का उत्तर व्यक्ति को मिल जाता है।

'द्वन्द्व क्या है'—मैंने पूछा ?

दो वस्तुओं अथबा दो पदार्थों के आकर्षणात्मक-विकर्षणात्मक संघर्ष का नाम द्वन्द्व है। और यह द्वन्द्व समस्त विश्वब्रह्माण्ड में है। वास्तव में यह द्वन्द्व ही समस्त सृष्टि के मूल में है। सृष्टि द्वन्द्व से हुई है। इस तथ्य को एक स्वर में सभी ने स्वीकार किया है। तांत्रिकों ने इसे मैथुन की संज्ञा दी है। जबकि योगीगण इसे 'द्वन्द्व' कहते हैं। तांत्रिकों का मैथुन योगियों की भाषा में द्वन्द्व है। जो द्वन्द्व का अर्थ है, वही मैथुन का भी है। आकर्षणात्मक-विकर्षणात्मक संघर्ष-क्रिया का नाम मैथुन अथवा द्वन्द्व है। इसके मूल में जो शक्ति निहित है, उसका नाम है — कामशक्ति। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि कामशक्ति की लीला है। सम्पूर्ण विश्व कामशक्ति का ही एकमात्र विलास है। तंत्र में उसी कामशक्ति को पराशक्ति, आद्या शक्ति आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। जिसे वेदान्त माया और महामाया कहता है, वह यही कामशक्ति ही है। (कामशक्ति के सम्बन्ध में मैंने 'कुण्डलिनी-साधना-प्रसंग' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा है) माया से मुक्त होना आवश्यक है। माया से मुक्त होने का मतलब है—द्वन्द्व से मुक्ति। योगतांत्रिक-साधना का एकमात्र लक्ष्य है — द्वन्द्व से मुक्ति। यानि माया के बन्धन से मुक्ति। द्वन्द्व से मुक्त होना अथवा माया से मुक्त होना ही 'भवमुक्ति' है। भवमुक्ति का अर्थ है—जन्म-मरण के आवागमन से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना। निवृत्त हो जाना। इसी को कहते हैं — 'निर्वाण'।

० ० ०

आकर्षण-विकर्षण के मूल में कामशक्ति है। इसीलिए तांत्रिक लोग काम-शक्ति को आकर्षणशक्ति भी कहते हैं। क्योंकि जहाँ 'काम' है, वहाँ आकर्षण है और जहाँ आकर्षण है, वहाँ 'काम' है। दोनों एक-दूसरे के प्रतीक हैं और एक-दूसरे के पर्याय भी।

उनका यह भी कहना है कि जैसे भूमि पर गिरा हुआ व्यक्ति उठने के लिए भूमि का ही सहारा लेकर उठता है। वैसे ही जो वस्तु या पदार्थ मनुष्य को पतन के मार्ग पर ले जाते हैं, उससे मुक्त होने के लिए वही वस्तु और वही पदार्थ साधन के रूप में सहयोगी तथा उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिए 'काम' से मुक्त होने के लिए काम ही एकमात्र साधन है। काम से मुक्त होने का मतलब है—द्वन्द्व से मुक्ति। माया से मुक्ति। विश्व से मुक्ति। इसीलिए चारों पुरुषार्थों में 'काम' को भी एक पुरुषार्थ माना गया है।

'द्वन्द्व' से मुक्त होने के लिए 'काम' से मुक्त होना आवश्यक है। 'काम' तीसरा पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ के सफल होने पर ही चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की उपलब्धि होती है।

वैदिक मार्ग में 'काम' को 'पुरुषार्थ' के रूप में लिया गया है। जबकि तंत्र मार्ग में 'काम' को स्वीकार किया गया है साधना के रूप में। वैदिक मार्ग का पुरुषार्थ तंत्रमार्ग की साधना है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो तंत्र की कामसाधना 'पुरुषार्थ' ही है।

वास्तव में समस्त द्वन्द्वों का कारण एकमात्र काम ही है। और यही कारण है कि काम को सर्वत्र गरिमा मिली, महत्त्व मिला और सर्वोच्च स्थान मिला। क्योंकि 'काम' साधना से ही सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्ति सम्भव है।

काम का स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति

जैसा कि मैं बतला चुका हूँ—स्वामीजी बोले—काम तीसरा पुरुषार्थ है। अर्थ की तरह इसे भी इहलौकिक जीवन का एक आधारभूत साधन माना गया है। मगर दूसरी ओर उसे निकृष्ट मानकर उसे त्यागने की भी प्रेरणा दी गयी है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि योगतांत्रिक-साधना परम्परा में 'काम' को धर्म-साधन का एक आवश्यक उपकरण भी माना गया है। वह उपकरण जिसकी अवहेलना अवांछनीय है। आध्यात्मिक युक्ति की प्रक्रिया में 'काम' आवश्यक योग देता है।

० ० ०

इससे स्पष्ट है कि 'काम' लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों का साधन हैं। 'काम' का जो अर्थ है उसके अनुसार अभिलाषा, अभिलाषा पात्र, इच्छा (ऐषणा), अनुराग, प्रेम, इन्द्रिय-उपभोग के प्रति अभिलाषा, सम्भोग-सन्तुष्टि की अभिलाषा आदि 'काम' के ही रूप हैं। समस्त सृष्टि के मूल में

काम है। इसलिए वैदिक काल में 'काम' को आदिदेव की संज्ञा मिली। काम की जो निजा शक्ति है, उसे संज्ञा मिली 'रति' की। 'काम' पुरुषवाचक और 'रति' स्त्रीवाचक है। एक की अभिव्यक्ति पुरुष में तथा दूसरे की अभिव्यक्ति स्त्री में होती है। तंत्र में शिव और शिवा के लिए 'कामेश्वर' और 'कामेश्वरी' शब्द का प्रयोग किया गया है। क्योंकि दोनों आदि 'काम' हैं। दोनों के मिथुन-भाव से सृष्टि का आरम्भ हुआ है। सारे संसार के मूल में शिव-शक्ति का मिथुन सम्बन्ध है। जैसा कि तंत्र में कहा गया है—

'शिवशक्तिसमायोगाद् जायते सृष्टिकल्पना।'

तंत्र-मत के अनुसार आदिवासना निस्सन्देह वही है—जो आध्यात्मिक रूप में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध में अथवा आकर्षण से द्योतित होती है और जो शारीरिक रूप में स्त्री-पुरुष के सम्भोग में परिणत होती है।

तंत्र का यह भी कहना है—भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काम से ही प्रवृत्त होते हैं। मगर वह काम अस्तित्व का काम नहीं बल्कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धात्मक है।

तंत्र के इस गूढ़ विषय पर शिवपुराण में विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुसार सारा जगत् शैव-शाक्त जगत् है। जो शक्ति और शक्तिमान् से उत्पन्न हुआ है। विश्व का आविर्भाव स्त्रीतत्त्व और पुरुषतत्त्व के संयोग से हुआ है। परमात्मा शिव है और परमेश्वरी शिवा हैं। पुरुष परमेशान है और प्रकृति परमेश्वरी है। सभी पुरुष परमेश्वर हैं और सभी स्त्रियाँ परमेश्वरी हैं। इन्हीं दोनों का मिथुनात्मक सम्बन्ध मूलवासना है। वही आकर्षण है। वही काम है। यथा—

'पुरुषः परमेशानः प्रकृतिपरमेश्वरी।
शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी'॥

० ० ०

अब तक के विषय-प्रसंग से मुझे यह समझते देर न लगी कि स्वामीजी की योगतंत्र के गूढ़ विषयों में कितनी पैठ थी। निस्सन्देह वह उच्चकोटि के विद्वान् भी थे।

स्वामीजी ने कहा—अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो योग और तंत्र पर आधारित जितनी भी साधनाएँ हैं, उनके मूल में एकमात्र 'कामशक्ति' ही है।

'काम से आपका तात्पर्य क्या है'?—मैंने पूछा।

काम से तात्पर्य निकलता है—इन्द्रिय-सन्तुष्टि की अभिलाषा से। दस इन्द्रियाँ हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धीन्द्रिय हैं। इनके द्वारा मनुष्य को अथवा जीवात्मा को प्रतिबोध होता है—यानि उसे अपने पर्यावरण का ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रियों द्वारा वह कार्यरत होता है। रही मन की बात। मन दसों इन्द्रियों से अलग है। वह उनका स्वामी है।

सभी इन्द्रियाँ उसके अधिकार में हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—'आत्मा मनोमयः'। और फिर कहा गया है—'आत्मानं रथिनं सिद्धि शरीरं रथमेव च। इन्द्रियेभ्यः परं मनो।' इन्द्रियों से ज़ीवात्मा की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जैविक आवश्यकताओं के उत्पन्न होने पर जीवात्मा में जो शक्ति प्रवाहित होती है और उससे जो तनाव उत्पन्न होता है, उसका निरसन इन्द्रियों द्वारा ही होता है। तनाव के निरसन से जो तुष्टि की अवस्था आती है, उससे सुख का अनुभव होता है। भूख लगना तनाव है लेकिन भोजन करने के बाद जो तुष्टि की अवस्था आती है, वह सुख की अवस्था है। एक ओर सभी इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर से है और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध है—मन अथवा मानसिक प्रमेय से। और यही कारण है कि इन्द्रियों और उनकी स्वाभाविक क्रियाओं को शारीरिक तथा मानसिक सुख का आधार माना गया है। इस दृष्टिकोण से साधारणतः काम का तात्पर्य सुख से लिया जाता है। दूसरे अर्थ में काम से सम्भोग-ऐषणा या सम्भोग से लिया जाता है। लेकिन यह दृष्टिकोण एकांगी है। स्वामीजी ने कहा—तन्त्र-शास्त्र ने 'काम' को मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। उसके अनुसार काम का तात्पर्य उन ऐषणाओं से है, जो मानव में भोग और जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होती है। इन ऐषणाओं में यौन ऐषणा भी सामिल हैं। जिसके लिए साधारणतः 'काम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन्द्रिय-भोग और ऐषणाओं के दृष्टिकोण से 'काम' शब्द का अर्थ और अधिक व्यापक हो जाता है। प्राकृत आवेग, जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ, मानव ऐषणाएँ और मानव की प्राकृत-मानसिक प्रवृत्तियाँ 'काम' के अन्तर्गत आ जाती हैं। काम के अन्तर्गत वे सभी धारणाएँ आ जाती हैं, जिन्हें आधुनिक समाज-मनोविज्ञान में अभिलाषाओं, आवश्यकताओं, प्रेरकों, आन्तरिक उद्दीपनों या चालकों की धारणाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

भारतीय संस्कृति के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि मानव एक ऐसा प्राणी है, जिसकी आधारभूत आवश्यकताएँ अंशतः जैविक, सामाजिक व सांस्कृतिक हैं। जैविक के आधार पर ही सामाजिक व सांस्कृतिक का निर्माण हुआ है।

मनुष्य की जैविक आवश्यकताएँ तथा ऐषणाएँ अंशतः काम के अन्तर्गत तथा सामाजिक व सांस्कृतिक आवश्यकताएँ धर्म और मोक्ष के अन्तर्गत आती हैं। मानव की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजीकरण के द्वारा होती है। जिसके लिए हिन्दू धर्म में आश्रम-व्यवस्था तथा संस्कार का विधान किया गया है।

० ० ०

'काम' मनुष्य की आधारभूत जैविक आवश्यकताओं और ऐषणाओं में है, जिनकी अवहेलना या उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि बिना उसकी पूर्ति

के मानव-अस्तित्व ही असम्भव है। काम की तृप्ति आवश्यक है, वांछनीय है। काम-तृप्ति के बिना न तो जीवन तथा समाज का धारण हो सकता है और न तो धर्म का ही। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा तंत्र जैसी तमाम साधनाओं ने काम की आवश्यकता और महत्ता को अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों पुरुषार्थों की साधना का स्वाभाविक परिणाम है—सुख। सुख वांछनीय है, क्योंकि सुख 'स्व' की एक विशेषता है। सुख एक ओर मन की एक विशेष अवस्था है और दूसरी ओर है जीवन का आधार। लेकिन अपने इन दोनों पहलुओं के साथ—जहाँ सुख इहलौकिक हैं—वहाँ पारलौकिक भी हैं। सुख का एक रूप शरीरी है और दूसरा मानसिक है। भारतीय धर्म, संस्कृति और साधना में शरीर और मन की आवश्यकताओं की महत्ता को बराबर स्वीकार किया गया है। 'काम' जीवन का एक आदर्श है। 'काम' की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आवश्यक है। उसका दमन सामाजिक तथा मानसिक अव्यवस्थाओं को प्रोत्साहित करता है। काम को आदर्श के रूप में स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि जीवन-दर्शन के पारलौकिकि तथा इहलौकिक पक्षों का समन्वय हो सके।

० ० ०

भारतीय धर्म, संस्कृति और साधना में जहाँ ·एक ओर काम की महत्ता स्वीकार की गयी है और इस बात पर जोर दिया गया है कि पुरुषार्थ की साधना में काम-साधना एक आवश्यक आधार है—वहीं दूसरी ओर इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि काम केवल साधन है—किसी भी दशा में काम साध्य नहीं है। साध्य है—मोक्ष, निर्वाण, सामरस्य तथा अद्वैतलाभ। जिनका सहयोगी है आध्यात्मिक सुख—न कि शारीरिक सुख। शारीरिक सुख का अपना महत्त्व है, लेकिन वह आध्यात्मिक सुख के मार्ग की केवल एक सीढ़ी है। तान्त्रिक साधना-भूमि में शारीरिक सुख को आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने का आधार बतलाया गया है। तन्त्र की विभिन्न क्रियाओं के बल पर शारीरिक सुख को आध्यात्मिक सुख में परिवर्तित करना बतलाया गया है। तन्त्र के अनुसार शारीरिक सुख केवल वहीं तक वांछनीय है, जहाँ तक वह इन्द्रिय-लोलुपता को शान्त करने तथा आत्मा को प्रबुद्ध करके आत्मा को शरीरी बंधनों से छुड़ाने का एक उपकरण है। इसीलिए 'काम' की आवश्यकता, महत्ता तथा वांछनीयता की कसौटी है—धर्म। वही काम वांछनीय है, जो धर्मोन्मुख हो।

० ० ०

तन्त्र के अनुसार काम-परम्परा द्विभाजी विचारों का विषय रही है। एक विचार-परम्परा में काम को आवश्यक माना गया है—लेकिन आध्यात्मिक सुख के साधन के रूप में। इस परम्परा में काम को धर्मप्राण माना गया है

और इसमें काम की व्याख्या आध्यात्मिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में की गयी है।

तन्त्र आत्मशास्त्र के अलावा मनःशास्त्र भी है। उसके मनोविश्लेषण के अनुसार यह विचार-परम्परा काम के उदात्तीकरण के विचार का परिचायक है। इस विचार-परम्परा में आध्यात्मिकता तथा पारलौकिकता का प्राधान्य है। और इस पर जहाँ एक ओर वैराग्य तथा संन्यास का प्रभाव रहा है, वहीं दूसरी ओर गीता के निष्काम कर्मयोग का। धर्म की धारणा में व्याप्त धृति, क्षमा, दम, आस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, अभ्युदय तथा निःश्रेयस् जैसे विचारों का सम्बन्ध इसी विचार-परम्परा से है। यह परम्परा आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी है। और यही योगतन्त्र की समस्त साधनाओं की मूलभित्ति भी है।

काम सम्बन्धी दूसरी विचार-परम्परा एकदम इसके प्रतिकूल है। जिसके प्रतिनिधि हैं—लोकायत-सम्प्रदाय तथा चार्वाकदर्शन। इनका जीवन-दर्शन नितान्त भौतिकवादी तथा इहलौकिक है। इनकी दृष्टि में सब कुछ कल्पना है। और है पुरोहितवाद। वे शरीर को ही सब कुछ मानते हैं। शरीर और संसार के अलावा उनके लिए और कुछ नहीं है।

काम-साधना में नारी का स्थान

काम-परम्परा और उसके साधनों में नारी का मुख्य स्थान है। मुख्य भूमिका है। और इसी कारण काम धारणा सम्बन्धी विचार-परम्परा में नारी-सौन्दर्य के आदर्श और उसके रहस्य का काफी वर्णन है। नर-नारी के संसर्ग से उत्पन्न सुख का स्रोत विवाहित प्रेम के आदर्श में माना गया है। यही कारण है कि नारी के आदर्श सौन्दर्य का वर्णन पत्नी और माता के रूप में किया गया है। इसी आदर्श के आधार पर तन्त्र में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधनाएँ हैं। पहली है—भैरवी साधना और दूसरी है—मातंगिनी साधना। तन्त्र में पत्नी भैरवीरूपा अथवा भोग्या है तथा माता पूज्या है। एक भोग्यारूपा और दूसरी पूज्यारूपा। तन्त्र में एक ग्रन्थ है—'भैरवीकल्प'। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि वही स्त्री सच्ची भैरवी और सच्ची पत्नी है, जो अपने पति से मधुर वाणी में बोलती है। गृहकार्य के चतुर है। जिसका सत्त्व पति के सत्त्व के साथ मिल कर एकाकार हो गया है। और जो अपने पति के सुख के लिए अपने सत्त्व को अर्पित कर देती है। जो पत्नी कम भोजन करती है। कम लेकिन मधुर बोधती है। सदैव अपने पति में आसक्ति रखती है। अपने पति की प्रजनन इच्छाओं की पूर्ति के लिए सदैव तत्पर रहती है तथा गृहस्थी के सुख और समृद्धि के लिए दयामय सद्गुणी कार्यों में रत रहती है—वह पुरुष वास्तव में मनुष्य नहीं वरन् स्वर्ग का देवता है।

'काम' का नैसर्गिक आकर्षण

तान्त्रिक विचारधारा में नर-नारी के नैसर्गिक आकर्षण को काम का साधन माना गया है। नर-नारी का नैसर्गिक आकर्षण ही प्रेम है। जिसकी तीन प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है। नर-नारी के प्रेम की एक अभिव्यक्ति है—'दाम्पत्य जीवन'—जो गृहस्थाश्रम का आधार है। इस सन्दर्भ में—रुमानी प्रेम एक सतत अभिलाषा नहीं है, वरन् दाम्पत्य जीवन का पूर्वरूप है। शकुन्तला-दुष्यन्त, मालती-मालव, नल-दमयन्ती और शिव-शक्ति की कथाएँ इसके उदाहरण हैं।

इसका दूसरा रूप है—एक सतत आध्यात्मिक अभिलाषा का—जिसकी अभिव्यक्ति राधा-कृष्ण और उनकी लीलाओं तथा विद्यापति व चण्डीदास की गीतों में हुई है। तन्त्र में इसी आध्यात्मिक अभिलाषा को महत्त्व दिया गया है। उसमें इसी की साधना है। इस सन्दर्भ में नर-नारी को आदिपुरुष तथा आदिप्रकृति का रहस्यात्मक प्रमेय समझा गया है। नर-नारी का संसर्ग शरीर तथा आत्मा के नैसर्गिक संसर्ग का खेल है। 'काम' इसी रहस्य की आवश्यक अभिव्यक्ति है। जिसकी व्याख्या कामशास्त्र और तन्त्रशास्त्र में की गयी है। वास्तव से यह वह स्थल है, जहाँ दोनों महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का समन्वय हुआ है। खजुराहों के मन्दिरों में बने कामाभिव्यक्ति के मूर्ति चित्र इसी रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ है। साहित्य में इसी रहस्य को श्रृंगारिक शैली में व्यक्त किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही शैली आगे चलकर नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, कामकला आदि वर्णन की साहित्यिक परम्परा में प्रस्फुटित हुई। गोपी और तन्त्र की 'त्रिपुरसुन्दरी' इसी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति से उत्पन्न धारणाएँ हैं।

श्रृंगारिक अभिव्यक्ति के दो आधार

तन्त्र के अनुसार श्रृंगारिक अभिव्यक्ति का एक आधार आध्यात्मिक है और दूसरा है इहलौकिक। इहलौकिक श्रृंगारिक अभिव्यक्ति का प्रतीक है—गणिका। भारतीय संस्कृति और साधना में नारी के दो रूप हैं—एक पत्नी का और दूसरा गणिका का। गणिका नर-नारी के नैसर्गिक आकर्षण की तीसरी अभिव्यक्ति है। कृष्ण की गोपी और तन्त्र की त्रिपुरसुन्दरी यदि अध्यात्मोन्मुख प्रेमिका के धारणात्मक रूप हैं—तो गणिका इहलौकिक रुमानी प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन है। गणिका की धारणा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आम्रपाली, नगर-वधू, विषकन्या तथा देवदासी उसके मुख्य रूप हैं। भारतीय संस्कृति में गणिका का लम्बा इतिहास है। जिसका प्रारम्भ वैदिक काल से होता है। बौद्ध-ग्रन्थों में गणिका और उसके कृत्यों का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने गणिका को समाज का एक अंग माना है और कूटनीति, गुप्तचर और दूतों के कार्यों में उसके महत्त्व को स्वीकार किया

है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में गणिका और उसकी कलाओं का विशद् वर्णन करके उसके संसर्ग से मिलने वाले सुख को वांछनीय माना है।

जब भारत में इस्लाम का प्रभाव बढ़ा तो उसके अन्तर्गत नारी के गणिका रूप को और भी प्रधानता मिली। इस्लाम युग में समाज की सुसंस्कृत रुचियों का केन्द्र नर्तकी, गायिका, वेश्या और गणिका हो गयी।

आपने 'कीथ' का नाम सुना होगा। संस्कृत नाटकों की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ बहुपत्नीत्व की विलासिता से साथ-साथ पुरुष के लिए गणिका से संसर्ग की विलासिता भी वांछनीय है। यहाँ पुरुष की बौद्धिक रुचियों का केन्द्र पत्नी नहीं गणिका है। 'अमरकोश' में वेश्याओं के समूह को 'गाणिक्य' कहा गया है। यथा--'गणिकादेस्तु गाणिक्यं.....'।

साहित्य, कला, संगीत, नृत्य और नाटक का बौद्धिक सुख पुरुष को गणिका और उसके सहयोगी के संसर्ग से मिलता है। तन्त्र में जहाँ पत्नी को भैरवी की संज्ञा दी गयी है, वहीं गणिका को 'उपभैरवी' की।

पत्नी, प्रेमिका और गणिका

स्वामीजी ने कहा—इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू विचार-धारा में व्याप्त नारी के प्रति द्विविधापूर्ण विचारों को समझा जा सकता है। नारी एक ओर पत्नी है, पुरुष की पूरक तथा अर्धांगिनी है और दूसरी ओर प्रेमिका है। प्रेमिका के रूप में—एक ओर नारी प्रतीक है—एक सतत रहस्यात्मक अभिलाषा की—पुरुष के प्रति सतत आकर्षित प्रकृति की—या चैतन्य को आकृष्ट करने वाली माया की और दूसरी ओर गणिका अथवा इहलौकिक प्रेमिका की—वह प्रेमिका जो पुरुष के बौद्धिक उद्दीपन का संवल है। पत्नी के रूप में नारी केवल त्याग और तपस्या की साकार मूर्ति है। उसका सत्त्व केवल पति में है। पतिव्रता का आदर्श ही यही है कि मन, वचन और कर्म से पत्नी अपने को पति में लीन कर दे और अपंग पति का अपमान न करे। किन्तु गणिका के समक्ष पुरुष का सत्त्व नहीं है। हिन्दू विचारधारा में पत्नी और प्रेमिका अलग-अलग रही हैं। यही कारण है कि जहाँ नारी पत्नी है, माँ है, पूज्या है, वहीं वह प्रमदा भी है।

तन्त्र की दृष्टि में प्रेमिका के दो रूप हैं। पहला रूप 'गणिका' का है—जो इहलौकिक सुख अथवा बौद्धिक सुख का साधन है। जिसे इहलौकिक प्रेमिका की संज्ञा दी गयी है। गणिका इहलौकिक प्रेमिका है।

दूसरी प्रेमिका वह है—जो पुरुष के लिए आध्यात्मिक उन्नति का साधन है। जिसे अध्यात्मोन्मुख प्रेमिका कहते हैं। और जिसे पारलौकिक प्रेमिका की भी संज्ञा दी जा सकती है। कृष्ण की राधा इसी कोटि की प्रेमिका है।

तन्त्र में अध्यात्मोन्मुख अथवा पारलौकिक प्रेमिका को महाभैरवी पद से सम्बोधित किया गया है। तन्त्र में 'श्यामा' और 'बामा' ये दो शब्द अति

महत्त्वपूर्ण हैं। स्वामीजी ने कहा—इन दोनों शब्दों का प्रयोग इन्हीं दोनों प्रेमिकाओं के लिए किया गया है। इहलौकिक सुखों से सम्बन्धित प्रेमिका 'श्यामा' और पारलौकिक व आध्यात्मिक सुखों से सम्बन्धित प्रेमिका 'वामा' है।

'भैरवी के लिए भी किसी ऐसे दो शब्द का प्रयोग किया गया होगा'—मेरे यह पूछने पर स्वामीजी बोले—'हाँ' तन्त्र में भैरवी को 'रामा' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। श्यामा, वामा और रामा ! भैरवी, उपभैरवी और महाभैरवी। तन्त्र की साधना-भूमि में नारी के ये विशिष्ट रूप हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो तन्त्र के जितने भी सम्प्रदाय हैं और उन सम्प्रदाओं की जितनी भी साधनाएँ या सिद्धियाँ हैं—चाहे वे लौकिक हों या पारलौकिक—उनकी मूलभित्ति नारी के ये तीन रूप हैं। नारी का आश्रय पग-पग पर लिया गया है तन्त्र में। नारी महाशक्ति है। विश्ववासना की साकार मूर्ति है। उसके विभिन्न रूपों को आधार मानकर उसके माध्यम से प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर तथा द्वैत से अद्वैत की ओर अग्रसर होना ही तन्त्र-साधना मार्ग का एकमात्र लक्ष्य है। जब साधक आध्यात्मिक भूमि में प्रवेश करता है तो उस अवस्था में उसके लिए नारी के ये तीनों रूप मातृ रूप हो जाते हैं। और उनके प्रति भोग्या के स्थान पर पूज्या भाव हो जाता है। तन्त्र की मातंगी-साधना का यही रहस्य है।

रस-सिद्धान्त का आविर्भाव

काम-परम्परा की विचारधारा ने साहित्य में सुखानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए 'रससिद्धान्त' को जन्म दिया। 'सौन्दर्य' सुख का उद्दीपक है। अतः सौन्दर्यशास्त्र को काम-परम्परा की विचारधारा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कविता, नाटक, चित्रकला तथा संगीत आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। सौन्दर्य-सुख का आधार है—रस-सिद्धान्त। 'रस' का तात्पर्य है—मानव-मस्तिष्क में निहित भाव-प्रकारों से। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत—ये आठ रस हैं। शान्त रस बौद्धों द्वारा निर्धारित किया गया है। रस की अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा होती है। लेकिन रस की अनुभूति के लिए रसिक का होना आवश्यक है, क्योंकि रस से उत्पन्न सुखानुभूति मानव-मस्तिष्क की वस्तु है। भारतीय संस्कृति और साधना में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि यहाँ सौन्दर्य-सुख को जीवन का एक अंग माना गया है। किन्तु साथ ही साथ अवांछनीय भी। इसका प्रमाण बौद्धधर्म है। बौद्ध विहारों में।

० ० ०

संसार में जितने भी पदार्थ और जितनी भी वस्तुएँ है; उन सब की स्थिति द्विविधापूर्ण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी स्थिति का नाम

'द्वैत' है । एक ही वस्तु में और एक ही पदार्थ में अच्छाई-बुराई दोनों हैं । आकर्षण भी है, विकर्षण भी है । उसके प्रति प्रवृत्ति का भी भाव है और साथ ही साथ निवृत्ति का भी है । 'काम' और उसके समस्त साधनों के प्रति भी ऐसी ही द्विविधापूर्ण स्थिति है । ऐसी ही विचारधारा है । हमें इसी स्थिति से अपने आपको मुक्त करना है । योग-तन्त्र का कहना है कि मानव-जीवन में भौतिक सुखों की साधना वांछनीय आवश्यकताएँ हैं । मगर इस सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि संसार माया है । भ्रम है । सांसारिक सुख क्षण-भंगुर है । नश्वर है । यहाँ तक कि शरीर भी । मानव-जीवन में यदि कोई वस्तु साश्वत है, अनाशवान् है, श्रेयस्कर है, तो वह है एकमात्र—आत्मा ! और उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है, जब हम आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करेंगे । और वह प्रवेश भी तभी सम्भव है, जब हम 'काम' को और 'काम' के साधनों को साधन के रूप में अपनायेंगे और वह भी निर्लिप्त भाव से । निष्काम भाव से । निरपेक्ष भाव से । और अन्त में उनका भी त्याग कर देंगे । हम मानते हैं कि 'काम' पुरुषार्थ है । मगर वह मोक्ष का, निर्वाण का, कैवल्य का और अद्वैत-स्थिति की उपलब्धि का साधन है ।

आध्यात्मिक जगत्

'आपका आध्यात्मिक जगत् से क्या तात्पर्य है ?'

स्वामीजी बोले — आध्यात्मिक जगत् का मतलब है आत्मसत्ता में प्रवेश । कोई भी साधना चाहे वह योग की हो या तन्त्र की हो — भौतिक जगत् से शुरू होती है और पारलौकिक जगत् का अतिक्रमण करती हुई आध्यात्मिक जगत् में प्रविष्ट होती है ।

स्वामीजी ने इसी सन्दर्भ में बतलाया कि मुख्य रूप से तीन ही जगत् हैं — भौतक जगत्, पारलौकिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् । कहने की आवश्यकता नहीं — इन्हीं तीनों जगत् में सारा विश्वब्रह्माण्ड समाहित है ।

साधना-भूमि में सर्वप्रथम भौतिक जगत् का अतिक्रमण होता है । जिसके परिणामस्वरूप समस्त इन्द्रियों से 'मन' का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है । इसके बाद पारलौकिक जगत् का अतिक्रमण होता है । जिसके परिणामस्वरूप बुद्धि से मन का सम्बन्ध टूट जाता है । साधना के तीसरे चरण में साधक का प्रवेश आत्मजगत् में होता है । जिसकी उपलब्धि है — मन और आत्मा का सम्बन्ध भंग होगा । मन से आत्मा का सम्बन्ध टूटने पर ही उसका बोध होता है । और वह आत्मबोध जिस वातावरण में यानि जिस स्थिति में होता है, वह है—अध्यात्म । मगर अध्यात्म जगत् में प्रवेश के मार्ग में इन्द्रिय, मन और बुद्धि बाधक हैं । इन तीन बाधाओं का निवारण आवश्यक है । और यह तभी सम्भव है, जब हम तीनों के अस्तित्व का बोध अलग-अलग करेंगे । साधा-

रणतः हम तीनों का बोध एक साथ करते हैं। अलग-अलग बोध होना अति कठिन कार्य है। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे, अस्तु !

आत्मबोध की अवस्थाएँ

जब तक 'मन' का अस्तित्व आत्मा के साथ जुड़ा रहेगा, तब तक आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं। आत्मानुभव के मार्ग में मन सबसे बड़ा बाधक है। मन की तीन अवस्थाएँ हैं—ठोस, तरल और ऊर्जा। पहली अवस्था में मन का सम्बन्ध इन्द्रियों और उनके माध्यम से भौतिक जगत् से रहता है। इसी को आत्मा की जाग्रत् अवस्था भी कहते हैं। दूसरी अवस्था में मन का सम्बन्ध बुद्धि और उसके माध्यम से पारलौकिक जगत् से रहता है। यह आत्मा की स्वप्नावस्था है। इसी प्रकार तीसरी अवस्था में मन का सम्बन्ध आत्मा से रहता है। मन अपनी ऊर्जा की अवस्था में बराबर आत्मा से जुड़ा होता है। यह आत्मा की सुषुप्ति अवस्था है। मन के अलग होते ही आत्मा की सुषुप्ति भंग हो जाती है और साधक को अपनी आत्मा का बोध होता है। आत्मबोध ही अन्तिम उपलब्धि नहीं है। उसके बाद दो और अवस्थाएँ है, जिनमें क्रम से—आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार होता है। तीनों अवस्थाएँ अलग-अलग हैं और उनकी उपलब्धि भी अलग-अलग है। योग-तान्त्रिक साधना के जितने भी लक्ष्य हैं—उनमें क्रम से आत्मबोध, आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार सबसे महत्त्वपूर्ण है।

प्रकरण : छः

आत्मबोध की उपलब्धि

बोध और अनुभूति में भिन्नता है। बोध बाह्य विषय से और अनुभूति आन्तरिक विषय से सम्बन्धित है। सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व का बोध होता हैं, आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है, तदनन्तर अनुभूति होती है।

अनुभूति किसकी होती है ?

आत्मा की और उसके बाद आत्मखण्ड की। इस विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे सामने अग्नि है। उसे देखना केवल उसके अस्तित्व मात्र का बोध अथवा ज्ञान है। अग्नि का स्पर्श करना उसकी अनुभूति है।

इसी प्रकार आत्मा के अस्तित्व को जानना, समझना, देखना आदि उसका मात्रबोध है। उसके आन्तरिक स्वरूप, गुण-धर्म आदि से परिचित होना तथा आत्मस्वरूप को उपलब्ध होना और साथ-ही-साथ 'आत्मखण्ड' से भी परिचित होना — आत्मानुभूति के विषय हैं।

'आत्मखण्ड' से आपका क्या तात्पर्य है ?

'देखो !' स्वामीजी बोले — कोई भी आत्मा पूर्णात्मा नहीं है। पूर्णात्मा केवल परमेश्वर है। आत्मा नाम की वस्तु तो एक ही है। लेकिन देश, काल व पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न विशेषण उसके साथ लग जाने के कारण वह मनुष्यात्मा, देवात्मा, जीवात्मा, भौतिक आत्मा, प्रेतात्मा आदि संज्ञा धारण कर लेती है। फिर भी रहती है खण्डित।

स्वामीजी बोले — सृष्टि के प्राक्काल में जैसे मूल परमतत्त्व ने दो खण्डों में विभाजित होकर शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व की संज्ञा धारण कर ली। उसी प्रकार उसी परमतत्त्व अखण्ड विराट् अनन्त सत्ता से निर्गत होने वाली आत्मा सबसे पहले 'अहं' के रूप में स्फुटित हुई और साथ-ही-साथ उसका प्रतिद्वन्दी — जिसे आत्मा की प्रकृति कहा जाता है—'इदं' रूप में अवतरित हुआ। 'अहं' आत्मा है और 'इदं' है आत्मा की प्रकृति। पहला पुरुषतत्त्व प्रधान और दूसरा स्त्रीतत्त्व प्रधान। दोनों एक ही वस्तु के दो रूप और दो खण्ड हैं। यह अध्यातम शास्त्र का अति गम्भीर विषय है। इसी प्रसंग में मन के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए। मन क्या है ? इस पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। योगी के लिए, तान्त्रिक के लिए, ज्योतिषी के लिए और वैद्य के लिए मन का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। कोई-कोई लोग मन को पदार्थ के रूप में भी स्वीकार करते हैं। मगर जहाँ तक 'कुण्डलिनीयोग' का सम्बन्ध है — उसमें 'मन' को आत्मा का ही एक भाग माना गया है। वास्तव में

आत्मा और मन एक ही वस्तु के दो रूप हैं । जो रूप स्थिर है, निष्क्रिय है—वह आत्मा है । और जो रूप क्रियाशील है, चैतन्य है, वह है—मन । उसकी जो क्रियाशीलता और चैतन्यता है वह उसकी साक्षिणी आत्मा है । बस, आत्मा और मन में यही भेद या अन्तर है । मूल में दोनों एक ही सत्ता का प्रतिपादन करते हैं । आत्मा की तरह मन के भी दो प्रधान रूप हैं । पहला रूप आत्मा के पुरुषतत्त्व प्रधान 'अहं' के साथ और दूसरा रूप उसके स्त्रीतत्त्व प्रधान 'इदं' के साथ संयुक्त है । मन का अस्तित्व मात्र मनुष्य में है—इसलिए वह मनुष्य है । मानवेतर प्राणियों में केवल प्राण का आभास है । मन का अस्तित्व नहीं है उनमें ।

अपने-अपने मन के साथ आत्मा के दोनों खण्ड—'अहं' और 'इदं' सृष्टि के उन्मेष काल में ही काल के प्रवाह में पड़कर एक-दूसरे से अलग हो गये । दोनों का वियोग कब, कैसे और किस अवस्था-विशेष में हुआ—यह नहीं बतलाया जा सकता । मगर इतना तो निश्चित है कि दोनों खण्ड एक दूसरे से मिलने के लिए सदैव व्याकुल रहा करते हैं । और फिर उसी वियोग जन्य व्याकुलता के फलस्वरूप पुनर्मिलन की आशा में 'अहं' पुरुष-शरीर में और 'इदं' स्त्री-शरीर में बार-बार जन्म ग्रहण करता रहता है । यह क्रम आदिकाल से चला आ रहा है । आपके कहने का मतलब यह है कि 'अहं' आत्मा का पहला खण्ड है और दूसरा खण्ड है 'इदं' । पहला पुरुषयोनि में और दूसरा स्त्रीयोनि में बराबर जन्म लेता रहता है ।

'हाँ' ! स्वामीजी बोले—दोनों खण्डों का मिलना आवश्यक है, तभी पूर्णात्मा होगी । और पूर्णात्मा होने का मतलब है—जन्म-मरण से मुक्ति, आवागमन से मुक्ति और भवचक्र से मुक्ति । तान्त्रिक लोग इसी अवस्था को सामरस्य भाव अथवा अद्वैत स्थिति-लाभ कहते हैं । भोगियों का परम निर्वाण भी यही है ।

० ० ०

इस संसार में कौन किसकी आत्मा का खण्ड है ? यह कोई नहीं जानता । न कोई बतला ही सकता है । धार्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक धरातल पर स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में अथवा प्रेमी-प्रेमिका के रूप में जुड़ता अवश्य है । मगर दोनों में एक ही आत्मा के खण्ड नहीं होते । कोई किसी की आत्मा का और कोई किसी की आत्मा का खण्ड होता है । इसी को योग में 'आत्मवैषम्य' कहते हैं । स्त्री-पुरुष के बीच, पति-पत्नी के बीच, अथवा प्रेमी-प्रेमिका के बीच—जो मतभेद है, जो विचार-भेद है और जो गहन शून्यता है—उन सबका एकमात्र कारण यही 'आत्मवैषम्य' है । प्रेमी-प्रेमिका हो या पति-पत्नी, दोनों केवल एक-दूसरे को जानते हैं, किन्तु समझते नहीं । जानने और समझने में काफी अन्तर है । स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के तीन तल

हैं—शारीरिक तल, मानसिक तल और आत्मिक तल। शरीर के तल पर गहन वासना का गहन आकर्षण है। प्रायः लोग शारीरिक आकर्षण की सीमा के आगे नहीं बढ़ पाते। लाखों में कोई ऐसा होता है, जो शरीर के वासनाजन्य आकर्षण की सीमा का भेदन कर मानसिक तल पर पहुँच पाता है। आत्मिक तल पर पहुँचना दुस्साध्य है। उच्च अवस्था प्राप्त योगी अथवा साधकगण ही आत्मिक तल पर पहुँच पाते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मिक तल पर ही वास्तविक रूप में और सच्चे अर्थों में प्रेम का आविर्भाव होता है और तब उसकी सुगन्ध से आत्मा विभोर हो उठती है। इसी अवस्था को 'आत्मानन्द' की संज्ञा दी गयी है।

स्वामीजी ने कहा—जितने प्रकार के योग हैं, उनमें एक 'प्रेमयोग' भी है। जिसका एकमात्र लक्ष्य है—आत्मतल पर पहुँच कर अपने आत्मखण्ड के मिलन से उत्पन्न नैसर्गिक आनन्द का अनुभव प्राप्त करना।

शारीरिक मिलन के आनन्द में तो स्वार्थ और वासना की दुर्गन्ध रहती है। मानसिक मिलन से वह दुर्गन्ध की मात्रा कम अवश्य होती है। मगर कामना का प्राबल्य अधिक रहता है। जबकि आत्म-मिलन में विशुद्ध प्रेम और शाश्वत प्रेम का दिव्य भाव रहता है—जिसके गर्भ से वास्तविक श्रद्धा का जन्म होता है। प्रेम और श्रद्धा एक-दूसरे के पूरक हैं और हैं एक-दूसरे के पर्याय।

० ० ०

इस संसार में कोई किसी को नहीं जानता है और न तो समझता ही है। प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री अपने-आप में एकाकी, अकेला और शून्य से भरा है। पत्नी जिसे अपना पति समझती है—वह न जाने कितनी स्त्रियों का पति रह चुका होता है। इसी प्रकार पति जिसे अपनी पत्नी समझता है अपनी अर्धांगिनी समझता है—वह भी न जाने कितने पुरुषों की पत्नी रह चुकी होती है।

आत्मवियोग की तरह मन का भी वियोग

स्वामीजी ने कहा—आत्मा, आत्मा का वियोग ही वियोग नहीं है। मन, मन का भी वियोग है। 'अहं' के साथ संयुक्त मन 'इदं' के साथ संयुक्त मन की खोज में भटकता रहता है। दोनों 'मन' का मिलना एक अपूर्व आनन्दप्रद घटना है। कभी किसी काल में और कभी किसी अवस्था-विशेष में अहं और इदं से संयुक्त मन एक-दूसरे से मिल पाते हैं। आत्मा की ही तरह किस पुरुष के भीतर किसके मन का खण्ड है और किस स्त्री के भीतर किसके मन का खण्ड है—यह भी नहीं बतलाया जा सकता। वास्तव में प्रकृति की यह लीला अति रहस्यमय है। मनःखण्ड के न मिलने के कारण ही पति-पत्नी और

प्रेमी-प्रेमिका के बीच मनमुटाव, मानसिक संघर्ष तथा मानसिक तनाव उत्पन्न होता है। एक-दूसरे को एक-दूसरे से मानसिक शान्ति इसी कारण नहीं मिल पाती। सच्चा सुख भी नहीं मिल पाता। आपस में विचार-भेद और मतभेद का भी यही कारण है। दोनों अपने-आप में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। एक-दूसरे के प्रति शून्य रहते हैं। जब कभी सच्चे अर्थों में दो मिलते हैं, वहाँ ये सब कुछ नहीं रहता। वहाँ रहता है—त्याग और बलिदान।

० ० ०

'मेरी आत्मा के खण्ड ने कहाँ जन्म लिया है? मेरे मन का दूसरा खण्ड कहाँ विद्यमान है? इसका ज्ञान कैसे सम्भव है'—मैंने प्रश्न किया?

इसके लिए केवल एक ही मार्ग है और वह मार्ग है—समाधि! स्वामीजी बोले—बारह प्रकार की समाधियाँ हैं। पहली है—सहज समाधि अथवा भाव समाधि! और अन्तिम है नर-मेध समाधि। इन दोनों के बीच में दो उच्च अवस्था की समाधियाँ हैं—जिसे सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि कहते हैं। ध्यान की गहन पराकाष्ठा की अवस्था में सर्वप्रथम जिस समाधि का आविर्भाव होता है वह है—भाव समाधि अथवा सहज समाधि। बीच की समाधियों की सीमा का अतिक्रमण करते हुए जब वही सहज अथवा भाव समाधि अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है तो उसे सविकल्प अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में विचार, बुद्धि व प्रज्ञा का अभाव रहता है। केवल 'मन' बना रहता है। और उस मन के द्वारा बना रहता है 'अहं' का बोध। यह वही अवस्था है, जिसमें साधक का सम्बन्ध मनोमय लोक अथवा मनोमय जगत् से स्थापित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं, इसी अवस्था में साधक को अपने मन:खण्ड का भी बोध होता है और इस बात का उसे ज्ञान हो जाता है कि उसके मन के खण्ड की स्थिति कहाँ और किस रूप में है? और यह बोध और ज्ञान होते ही मन की सारी चंचलता, सारी उद्विग्नता और सारी अस्थिरता—जिसके कारण उसे 'चित्त' की संज्ञा दी गयी है—एकबारगी समाप्त हो जाती है हमेशा-हमेशा के लिए। यही कारण है कि सविकल्प अवस्था प्राप्त योगियों का मन शान्त और चित्त स्थिर रहता है—हर अवस्था में।

० ० ०

सविकल्प समाधि के बाद निर्विकल्प समाधि है। योग की सर्वोच्च स्थिति है यह। योगियों को इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए लगातार कई जन्मों तक योगाभ्यास करना पड़ता है।

निर्विकल्प समाधि में मन का अस्तित्व पूर्णरूप से आत्मा में लीन हो जाता है। केवल आत्मबोध रहता है। इस बोध के समय योगियों का सम्बन्ध

आत्मलोक से रहता है। इसी अवस्था में वे अपने आत्मखण्ड के अस्तित्व का भी बोध करते हैं। आत्मखण्ड ने यदि कहीं जन्म लिया है तो वे उसका भी पता लगा लेते हैं और बाद में उसकी खोज में निकल पड़ते हैं।

अगर आत्मखण्ड ने संसार में जन्म नहीं लिया है तो उस अवस्था में उन्हें स्वयं इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह कहाँ और किस स्थिति में है। और फिर उससे सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि अगर आत्मखण्ड किसी अभौतिक क्षेत्र में है तो योगी गण उसकी संसार में जन्म लेने की भी प्रतीक्षा करते हैं। अगर जन्म लेने की सम्भावना किसी कारणवश नहीं रहती तो वे स्वयं अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर वहाँ उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं—जहाँ उनका आत्मखण्ड रहता है।

मनोलोक और आत्मलोक की विशेषताएँ

आत्मलोक 'आत्मा' का चतुष्पाद है—यानि तुरीयपाद। योगियों का कहना है कि 'तुरीय' की दो अवस्थाएँ हैं, जिनको दूसरे शब्दों में सविकल्प अवस्था और निर्विकल्प अवस्था कहते हैं। पहली अवस्था का सम्बन्ध मनोलोक से तथा दूसरी अवस्था का सम्बन्ध आत्मलोक से बतलाया गया है। ये दोनों महत्त्वपूर्ण लोक वैश्वानर जगत् की सीमा के अन्तर्गत हैं।

मनोलोक और आत्मलोक की जितनी विशेषताएँ हैं, उनमें एक है—त्रिकाल ज्ञान और त्रिकाल दर्शन। वहाँ काल खण्ड नहीं अखण्ड है। उसके अखण्ड प्रवाह में तीनों काल—भूत, भविष्य और वर्तमान एक साथ भासते हैं। जिसके फलस्वरूप मनोलोक में एक साथ ही एक समय और एक अवस्था में तीनों काल का ज्ञान अथवा बोध होता है।

० ० ०

काल का प्रवाह अक्षुण्ण है। काल का ही दूसरा नाम जीवन है। काल की तरह जीवन का प्रवाह भी अक्षुण्ण है। योगी के लिए न जन्म है और न मृत्यु। वह जन्म और मृत्यु के बीच की अवधि को जीवन नहीं मानता। वह तो जीवन को एक सतत प्रवाहशील धारा के रूप में देखता है। उस सतत प्रवाहशील जीवनधारा का मूल स्रोत, मूल उद्‌गम कहाँ है? उसका आदि कहाँ है? अन्त कहाँ है? कहाँ जाकर समाप्त होती है वह? यह सब कोई नहीं बतला सकता।

० ० ०

सविकल्प अवस्था में मनोलोक में प्रवेश होनेपर जो सर्वोपरि उपलब्धि है, वह है—त्रिकालबोध यानि त्रिकाल ज्ञान। योग की भाषा में इसी को 'कालसिद्धि' कहते हैं।

सविकल्प अवस्था में प्रवेश करने वाले कालसिद्ध योगीगण भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त घटनाओं को करतलवत् देख सकने में समर्थ होते हैं।

इतना ही नहीं वे अपने जन्म-जन्मातरों की सारी कथा और सारा विवरण तो जानते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे आवश्यकता पड़ने पर किसी भी व्यक्ति के पिछले और अगले जन्म के सम्बन्ध में विस्तार से सब कुछ बतला सकते हैं। (कालसिद्धि प्राप्त एक विलक्षण योगी की कथा आगे पढ़िए)

० ० ०

स्वामी जी बोले — आत्मलोक तो मनोलोक से भी उन्नत है। जैसे मनोलोक में 'मन' की अथाह शक्ति का प्रभाव है—उसी प्रकार वहाँ आत्मशक्ति का विस्तार है।

आत्मलोक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने वाले योगीगण वहाँ तीनों काल से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को दृश्य रूप में विस्तार से देखते हैं। यह आत्मलोक की सर्वोपरि उपलब्धि है। जिसे योग की भाषा में 'कालदर्शन-सिद्धि' कहते हैं। इस दिव्य सिद्धि को प्राप्त करने वाले योगीजन अपने अगले और पिछले जन्म की घटनाओं को चलचित्रवत् देखते ही हैं। इसके अतिरिक्त वे किसी भी व्यक्ति के पिछले या अगले जन्म की सारी कथाओं को और सारी घटनाओं को चलचित्र की भाँति देख सकने में भी समर्थ होते हैं। वास्तव में यह योग की सबसे अधिक विलक्षण सिद्धि है।

'कालदर्शन-सिद्धि' को उपलब्ध कुछ ऐसे भी योगी होते हैं—जो अपने विशिष्ट योगबल से किसी भी व्यक्ति को — उसके अगले अथवा पिछले जन्म की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को चलचित्रवत् दिखला सकते हैं।

वह अनिर्वचनीय अनुभव

कहने की आवश्यकता नहीं कि अब तक स्वामीजी के मुख से निकले प्रत्येक शब्द ने मेरे मन, प्राण और आत्मा को एकबारगी झकझोर दिया था। उस रात सो न सका था। पूरी रात करवटें बदलता रहा मैं। और बराबर यही सोचता रहा कि काश ! कोई ऐसा योगी मिल जाता जो अपने योगबल से मेरे पिछले जन्म की कथा को चलचित्र की भाँति मुझे दिखला सकता। भट्टाचार्यजी के मकान में ही मेरे ठहरने की व्यवस्था कर दी गयी थी। कई बार कमरे में झाँक कर सरस्वती देवी मुझे जागता हुआ देख गयी थीं। सबेरे-सबेरे चाय को प्याली मुझे थमाती हुई बोली—कल रात आप जागते क्यों रहे ? क्या बात थी ?

भला क्या जबाब देता ? कैसे बतलाता अपने मन की बात ? बस मुस्करा-कर रह गया मैं। उन्होंने एक बार स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर चाय का खाली प्याला लेकर चली गयी कमरे के बाहर। और मैं जाते हुए देखता रहा उनको। कितनी सरल चित्त और कितनी भावुक है यह युवती ?

वैधव्य-दु:ख के बावजूद भी कितनी शान्ति, कितनी सौम्यता और कितना तेज है चेहरे पर ?

०   ०   ०

पूरा दिन मेरा चित्त अशान्त और मन उद्विग्न रहा। बार-बार ऐसा लगता था कि मानो कोई मुझे करुण स्वर में पुकार रहा हो। उस दिन भी नींद न आयी मुझे। भोर के समय थोड़ी-सी झपकी लगी और उसी हलकी तन्द्रिल अवस्था में मैंने अपने चारों तरफ एक हलके गुलाबी रंग का प्रकाश देखा। वह प्रकाश कभी काफी दूर तक फैल जाता था तो कभी सिकुड़ कर एक गोलाकार पिण्ड का रूप धारण कर लेता था। सहसा मेरी दोनों आँखों के बीच में — जहाँ दोनों भौहें मिलती हैं—भयानक पीड़ा होने लगी। और उस असीम पीड़ा के कारण न जाने कब चेतनाशून्य हो गया मैं। और दूसरे पल मेरी अन्तश्चेतना जाग्रत् और एकबारगी चैतन्य हो उठी। और उसी अवस्था में अपने पार्थिव शरीर से अपने-आप को अलग अनुभव करने लगा मैं। विचित्र स्थिति थी मेरी। अपने पार्थिव शरीर को विस्तर पर मृतवत् पड़ा हुआ देख रहा था मैं। और अब वह गोलाकार प्रकाश-पिण्ड बिलकुल सिमट कर मेरे सामने गुब्बारे की तरह हवा में तैरने लगा था। उसमें एक विचित्र-सा आकर्षण था। सम्मोहित-सा में अपलक निहारता रहा उसकी ओर। सहसा वह प्रकाश-पिण्ड मानवाकृति में परिवर्तित होने लगा और देखते-ही-देखते उस ज्योतिर्मय प्रकाश-पिण्ड के स्थान पर एक महात्मा प्रकट हो गये मेरे सामने। उनको देखते ही भावविह्वल हो उठा मैं एकबारगी। लगा जैसे मैं उस महापुरुष से पूर्व परिचित हूँ। उनकी दृष्टि में कुछ ऐसा ही भाव था, जिसे देखकर लगता था कि वह महापुरुष भी मुझको भलीभाँति जानते हैं। न जाने कब तक वह मुझे देखते रहे और न जाने कब तक मैं देखता रहा उन्हें। बतलाया नहीं जा सकता।

एकाएक महात्मा पीछे की ओर घूमे और तीव्र गति से आगे बढ़ने लगे। कहने की आवश्यकता नहीं — न जाने किस आकर्षण के वशीभूत होकर सम्मोहित-सा मैं भी चल पड़ा महात्मा के पीछे-पीछे। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि महात्मा धरती पर नहीं, बल्कि बादलों के ऊपर आकाश में तैरते हुए चल रहे हैं और मैं भी उसी प्रकार तैरता हुआ जा रहा हूँ उनके साथ। काफी देर बाद मैं महात्मा के साथ एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश था। और कुहरे जैसा गहरा धुन्ध छाया हुआ था। वातावरण में गहरी निस्तब्धता थी। गहन शून्य-ही-शून्य था चारों ओर। और उस गहन निस्तब्धता और उस गहन शून्यता में असीम शान्ति का अनुशव कर रही थी मेरी आत्मा।

सहसा मुझे अपने समीप उस महात्मा का अमृततुल्य कोमल स्वर सुनाई पड़ा। वह कह रहे थे—ठीक से नहीं पहचाना तुमने मुझे ?···मैं तुमको पिछले

दो सौ वर्षों से खोज रहा था। यदि मैं मधुपुर के ऊपर आकाशमार्ग से न गुजरता तो सम्भवतः तुम अभी भी न मिलते मुझको।

वह महात्मा कौन थे? क्यों मुझे पिछले दो सौ वर्षों से खोज रहे थे? मेरी समझ में नहीं आया कुछ। अभी मैं इसी पर सोच ही रहा था कि तभी उस गहन धुन्ध के बीच मुझे एक काफी बड़ा और सुन्दर मन्दिर दिखलायी पड़ा। मन्दिर के भीतर एक ओर सिंहवाहिनी की और दूसरी ओर मदन-गोपाल की पाषाण-मूर्ति स्थापित थी। और उन मूर्तियों के सामने सफेद सिल्क की साड़ी पहने एक सुन्दर युवती बैठी केतकी और कृष्णचूड़ा के फूलों की माला गूँथ रही थी। जब माला तैयार हो गयी तो मदनगोपाल के गले में डाल कर अपलक दृष्टि से त्रिभंगी मुद्रा में खड़े वंशीधर को देखने लगी वह युवती। न जाने क्या सोच रही थी वह उस समय। धीरे-धीरे उसकी तन्मयता बढ़ती ही जा रही थी। आँखें बन्द थीं। और उन बन्द आँखों से आँसूओं के मोती एक-एक कर ढुलक रहे थे गुलाबी गालों पर। कुछ क्षण बाद राधा कृष्ण की युगल मूर्ति के चरणों में सिर टेक कर फफक-फफक कर रो पड़ी वह। फिर करुण और विगलित स्वर में कहने लगी—'भगवन्! मुझे शान्ति दो। अब मुझसे नहीं रहा जाता है। प्रभु! कब तक अशान्त मन और दुःखी, सन्तप्त आत्मा का बोझ ढोती रहूँगी। राधावल्लभ! कितना समय व्यतीत हो गया? प्रतीक्षा करते-करते थक गयी मैं। उस निर्मोही को जरा-सी भी सुधि नहीं आयी मेरी। कब भेंट होगी उस विरक्त संन्यासी से? कब मिलेगा दयानिधान उसका आश्रय मुझे? इतना कहकर गालों पर ढुलक आये आँसुओं को आँचल से पोछने लगी वह।

कौन है यह युवती? किसकी प्रतीक्षा में दुःखी है यह? किस निर्मोही ने, किस निर्दयी ने इसकी कोमल भावनाओं पर कुठाराघात किया है? सोचने लगा मैं। और तभी लगा—जैसे उस युवती को पहचानता हूँ मैं। कहीं देखा है मैंने उसको? कभी मिला भी हूँ मैं उससे?···मगर कब और कहाँ? और उसी समय न जाने कैसे नींद खुल गयी मेरी। सबेरा हो चुका था। काली मन्दिर में मंगला आरती हो रही थी उस समय।

० ० ०

रहा नहीं गया मुझसे। रात में स्वप्नवत् जो कुछ देखा था और अनुभव किया था, वह सब विस्तार से बतला दिया मैंने स्वामीजी को। सब कुछ सुनने के बाद उनका चेहरा गम्भीर हो उठा। काफी देर तक वे मौन रहे और न जाने क्या-क्या सोचते-विचारते रहे। फिर बोले—निश्चय ही उस आकाशचारी सिद्ध महात्मा से तुम्हारा कोई-न-कोई पूर्व अगोचर सम्बन्ध है। सम्भवतः इसी को स्पस्ट करने के लिए वे तुमको अपने साथ आकाशमार्ग से वैश्वानर लोक के उस भाग में ले गये थे—जहाँ काल के विशाल चित्रपट पर मानव-जीवन की

सूक्ष्मतम भावना-प्रधान की समस्त घटनाएँ अंकित रहती हैं—जो भविष्य में घटने वाली होती हैं। इसी प्रकार वे घटनाएँ भी अंकित रहती हैं, जो भूतकाल में घट चुकी होती हैं। थोड़ा रुक कर कुछ सोचते हुए स्वामीजी आगे बोले—सम्भव है तुमने अपने पिछले किसी जन्म से सम्बन्धित घटनाओं के किसी महत्त्वपूर्ण दृश्य को काल के चित्रपट पर देखा हो। स्वामीजी की इन रहस्य-मयी बातों ने मुझे और अधिक उलझन में डाल दिया। शायद वे मेरी उलझन समझ गये। उन्होंने अपने समीप बैठने को कहा और जब मैं बैठ गया तो उन्होंने अपने दाहिने हाथ के अँगूठे से मेरी दोनों आँखों के बीच के उस स्थान का स्पर्श किया जहाँ पिछली रात पीड़ा का अनुभव किया था मैंने। स्पर्श का अनुभव होते ही मेरी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं। और आँखों के बन्द होते ही वहाँ उस स्थान पर एक 'ज्योति' को देखा मैंने। वह ज्योति गहरे नीले रंग की थी और उसमें से उसी रंग की किरणें भी फूट रही थीं।

वह युवती कौन थी ?

धीरे-धीरे मेरा चित्त उस रहस्यमयी नीलाभ ज्योति पर एकाग्र होता जा रहा था अपने-आप। और उसी एकाग्रतावस्था में मैंने जो कुछ देखा—उस नीलाभ ज्योति के भीतर—सचमुच उस पर सहसा कोई विश्वास न कर सकेगा। चलचित्र की भाँति मैंने जो कुछ देखा वास्तव में वह निस्सन्देह अवर्ण-नीय और साथ ही अविश्वसनीय था। सबसे पहले मैंने देखा एक बहुत बड़ा तालाब ! जिसके दक्षिणी छोर पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था। मन्दिर के भीतर सिंहवाहिनी और राधा-कृष्ण की मूर्ति स्थापित थी। जिसे देखते ही मैं पहचान गया। मुझे आश्चर्य उस समय हुआ जब देखा कि वही युवती राधा-कृष्ण की मूर्ति के सामने बैठी माला गूँथ रही थी। उस युवती को पहचानने में भूल नहीं हुई थी मुझसे। वही अपूर्व रूप, वही कमनीय सौन्दर्य और वही वेशभूषा।

माला गूँथ कर मदनगोपाल के गले में डाल कर अपलक दृष्टि से त्रिभंगी मुद्रा में खड़े वंशीधर को देखने लगी थी वह। न जाने क्या सोच रही थी वह उस समय। मैंने देखा, आँसुओं से भींग रही थी फूल-माला।

आखिर यह विधवा युवती है कौन ? कौतूहल और जिज्ञासा से भर उठा मैं।...

और यह जिज्ञासा उत्पन्न होते ही मेरे सामने से वह करुण दृश्य लुप्त हो गया। उसके स्थान पर जो दृश्य उभरा, वह था—किसी जमीन्दार की आलीशान और भव्य हवेली का। हवेली के भीतर कचहरी लगी हुई थी उस समय। सामने ऊँची तख्त पर मनसद के सहारे एक प्रौढ़ वय का व्यक्ति बैठा हुआ था। उसके सिर पर लाल रंग की रेशमी पगड़ी थी, जिस पर सोने का

हीरा जड़ा तमगा लगा था। उसके चेहरे पर तेज था और आँखें जवाकुसुम की तरह लाल थीं। निश्चय ही वह जमीन्दार थे—समझते देर न लगी मुझे।

कचहरी में काफी भीड़-भाड़ थी। लोग जमीन्दार गंगानारायण का नाम लेकर जै-जैकार कर रहे थे। अचानक उसी जय-जयकार के बीच एक अलग आवाज गूँज उठी—'जै शिवशंकर त्रिपुरारी···बम···बम।' और उसी के साथ गूँज उठी शंखध्वनि भी।

सिर घुमाकर देखा मैंने—लाल रंग का चोंगा पहने और हाथ में कमण्डल लिये जटा-जूटधारी एक संन्यासी तन कर खड़ा था। शंख-ध्वनि से हवेली और कचहरी काँप उठी। सब लोग दौड़े आये। जमीन्दार गंगानारायण भी तख्त से उठ आये। हवेली के आंगन में बने चण्डीमण्डप के सामने खड़े होकर संन्यासी बार-बार शंख-ध्वनि कर रहा था। दिव्य आभा थी उसके मुख पर। लम्बी-चौड़ी देह। गौरवर्ण। मस्तक पर लाल सिन्दूर का तिलक। लाल लाल आँखें। गले में रुद्राक्ष और स्फटिक की माला जिसके सिरे पर नर-शिशु की छोटी-सी खोपड़ी झूल रही थी।

उस संन्यासी को देखकर लगा—जैसे उसे भी पहचानता हूँ मैं। तभी मेरे मुख से निकल पड़ा—अरे ! ये तो वही महात्मा हैं जो मुझे आकाशमार्ग से लेने आये थे। उसी समय मुझे यह भी याद आया कि उनके सान्निध्य में बहुत समय व्यतीत कर चुका हूँ मैं। हे भगवन् ! यह सब क्या है ? फिर मेरा मस्तिष्क न जाने क्यों सनसनाने लगा।

संन्यासी की ओर ताक कर जमीन्दार गंगानारायण भी क्षणभर के लिए स्तब्ध रह गये। फिर चण्डी-मण्डप के उसी धूल-धूसरित स्थान पर झुककर संन्यासी को साष्टांग प्रणाम किया उन्होंने।

संन्यासी ने कमण्डल का जल उन पर छिड़ककर कहा—'ओम् शान्ति। उठो'। फिर हाथ थाम कर जमीन्दार गंगानारायण को उठा कर उसने कहा—मन को शान्त रखो। मैं कापालिक तन्त्र साधक हूँ। मैं तुम्हारे छोटे भाई की विधवा पत्नी के लिए भगवती चामुण्डा का आदेश पाकर यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। छोटी रानी माँ का नाम ज्योतिर्मयी है न ?

'हाँ ! महाराज' !—जमीन्दार गंगानारायण सिर झुकाये बोले।

आकाश की ओर शून्य में ताकते हुए संन्यासी कहने लगा—ज्योतिर्मयी दिव्य आत्मा है। वह पति-परायण सिद्ध हुई है। विधवा का जो संयम है—उसका नियम से पालन कर रही है वह। व्रत, उपवास, कथा-श्रवण और अतिथि-सत्कार में उसका समय व्यतीत होता है। प्रति दिन पति की चरण-पादुकाओं को अर्घ्य देकर जल ग्रहण करती है। पूरा दिन सिंहवाहिनी के मन्दिर से व्यतीत होता है उसका। एकाग्र मन से पूजा की थाली सजाकर माँ चामुण्डा का भोग लगाती है। उनकी आरती करती है। अपनी आन्तर्

दृष्टि से मैं सब कुछ जान गया हूँ। फिर थोड़ा रुक कर आगे कहने लगा संन्यासी—गंगानारायण मैं छोटी रानी ज्योतिर्मयी की एकाग्रता, तन्मयता और साधना देखकर दंग रह गया हूँ। इस प्रकार की आत्मा काफी प्रतीक्षा के बाद इस संसार में अवतरित होती है। उसका दर्शन करने तथा साथ ही तुम्हारा कल्याण करने के उद्देश्य से मेरा यहाँ आना हुआ है। 'माँ' की प्रेरणा समझो इसे। भविष्य में तुम पर म्लेच्छों द्वारा भारी विपत्ति आने वाली है। चारों ओर तुम्हारे शत्रु हैं। थोड़ी-सी भूमि दान करो। मैं देवी कालरात्रि की प्रतिष्ठा करूँगा तभी कल्याण होगा।

० ० ०

अब मेरे सामने था—वही विशाल मन्दिर जिसे मैंने कुछ समय पहले देखा था। मन्दिर के भीतर का वातावरण अत्यन्त आध्यात्मिक था। अपनी तान्त्रिक साधना के बल पर संन्यासी ने वहाँ साधनपीठ प्रस्तुत किया था। और शवासन पर बैठकर माँ कालरात्रि की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी उसने।

निश्चय ही वह अमावास्या की घोर रात्रि थी। माँ कालरात्रि के सम्मुख गजारूढ़ पंचमुखी दीप प्रज्वलित था। जिसका स्निग्ध प्रकाश शवारूढ़ा महाभीमा, मुण्डमालिनी देवी कालरात्रि के अट्टहास करते मुख पर पड़ रहा था। रोम-रोम सिहर उठा मेरा। रात्रि का मध्य प्रहर था। कुछ समय पहले पशु की बलि दी गयी थी। जिसके उष्ण शोणित से भूमि लाल हो रही थी। वह कापालिक तंत्र साधक नेत्र बन्द किये पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठा था। और उसके सामने बैठे थे हाथ में अंजलि पुष्प लिये जमीन्दार गंगा-नारायण। उसी समय मैंने देखा—वह विधवा युवती पूजा का सामान लेकर वहाँ आ पहुँची। तो क्या यही छोटी रानी ज्योतिर्मयी हैं? हाँ। वह विधवा युवती और कोई नहीं, जमीन्दार गंगानारायण के छोटे भाई की विधवा पत्नी ज्योतिर्मयी ही थीं।

गंगानारायण विस्मित हुए।

छोटी रानी ज्योतिर्मयी इतनी रात गये, एक परिचारिका के साथ! छोटी रानी का मुख देखकर और भी चकित हुए गंगानारायण!

स्वप्नालु नेत्र लगभग मुंदे हुए किन्तु स्निग्ध। और अपूर्व महिमा से मण्डित भी। छोटी रानी ज्योतिर्मयी के मुखमण्डल से एक दिव्य और स्वर्गीय आभा फूट रही थी उस समय। एकाग्रचित्त से शिवस्तोत्र का पाठ करती हुई मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ती आयी वह। पूजा की सामग्री लिये परिचायिका पीछे-पीछे चली आ रही थी।

संकेत द्वारा रानी ज्योतिर्मयी से बैठने को कहकर उस कापालिक तन्त्र साधक ने रानी के द्वारा लायी गयी पूजन सामग्री और पंचमुखी जवापुष्पों से माँ कालरात्रि का आवाहन किया। अंजलि दी। फिर संन्यासी उल्लासित हो

उठा। आसन से उठकर रानी ज्योतिर्मयी के पैर पकड़ते हुए उसने कहा—तुम साक्षात् कात्यायनी तो। इस मन्दिर के द्वार हमेशा खुले हैं तुम्हारे लिए माँ। शास्त्र के नियमों के अनुसार तन्त्रसाधक के मन्दिर में नारी का प्रवेश निषिद्ध है। किन्तु समय बीत जाने पर भी देवी की प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा न कर पाया मैं। जितनी बार भी माँ कालरात्रि का आवाहन करके मैंने पुष्पाञ्जलि दी—हर बार अञ्जलि अस्वीकार हुई। मैं चिन्तित हुआ। एकाएक देवी रुष्ट क्यों हो गयीं ? तांत्रिक क्रिया और मंत्रोच्चार में कापालिक तंत्र साधक भैरवानन्द से कभी कोई त्रुटि नहीं होती। फिर आखिर कहाँ गलती रह गयी ? मैंने ध्यान लगाया और तब देखा कि तुमने आज उपवास किया है और देवी की अर्चना के लिए पुष्प चुन कर ला रही हो। देवी ने मुझसे थोड़ी देर और ठहरने को कहा। और तुम्हारी लायी हुई पूजन-सामग्री और जवापुष्प से आवाहन करते ही देवी की प्रतिमा हिल उठी—देवी में प्राण-प्रतिष्ठा हो गयी। उज्ज्वल आलोक-छटा देवी के मुखमण्डल पर छा गयी है। इस स्थान पर देवी का आविर्भाव हो गया है।

वह सुदर्शन युवा संन्यासी

निस्तब्ध प्रान्तर् गूँज उठा पंचमुखी शंख की ध्वनि से। पूजा समाप्त होने के बाद छोटी रानी ज्योतिर्मयी यज्ञ का प्रसाद ग्रहण कर हवेली में लौट आयीं।

सोलह वर्ष की अल्पायु में भाग्य द्वारा छली गयी ज्योतिर्मयी पर भाग्य मुसकराया। उनका पूरा दिन देवी कालरात्रि के मन्दिर में ही व्यतीत होने लगा। जब सायंकाल की मंगला आरती हो जाती ओर संन्यासी से प्रसाद ले लेती—तभी अपनी परिचारिका मातंगिनी के साथ हवेली में लौटती वह।

० ० ०

सम्भव है आपको विश्वास न हो। मैं वह सब कुछ उसी प्रकार देख रहा था—जैसे कोई चलचित्र देखता है, तन्मय होकर। एक के बाद एक दृश्य बदल जाते। मगर तारतम्य बराबर बना रहता। अब मैं देख रहा था—मन्दिर में एक युवा सुदर्शन संन्यासी को। अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक था वह युवा संन्यासी। गौरवर्ण के सुगठित शरीर पर कषाय वस्त्र बड़ा अच्छा लग रहा था। उसकी छाती चौड़ी थी। कंधा ऊँचा था। घने काले घुँघुराले बाल कंधे पर झूल रहे थे। आँखे बड़ी-बड़ी थीं।—जिसमें सम्मोहन का भाव था। मुख पर ब्रह्मचर्य और साधना का मिला-जुला तेज था। साथ ही गम्भीरता थी।

एकाग्र मन से वह युवा सुदर्शन संन्यासी सुगंधित कपूर से आरती कर रहा था माँ कालरात्रि की। होश-हवास खोये हुए था। और डूबा हुआ था अपने-आप में वह।

आरती समाप्त हुई। युवा संन्यासी ने आरती की थाली रखकर पीछे पलट कर देखा।···भौंहें सिकोड़ीं। मन्दिर में ज्योतिर्मयी को देख कर उसके

मुख पर उपेक्षा का भाव उभर आया। उसी प्रकार भौंहें सिकोड़ कर उसने कहा—इस मन्दिर में नारी का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिए।

मन्दिर में एक तरफ बिस्तर पर कापालिक तंत्र साधक संन्यासी भैरवानन्द अशक्त अवस्था में लेटा हुआ था। शरीर जर्जर हो चुका था उसका। वृद्धावस्था की सीमा पर था वह। निश्चय ही वह युवा संन्यासी उसका शिष्य था।

युवा संन्यासी की बात सुन कर संन्यासी भैरवानन्द के मुख से निकल पड़ा—'क्यों'?

गुरुदेव! आपने मुझे स्वयं ही तो शिक्षा दी थी कि तंत्र-साधना में नारी का कोई स्थान नहीं है। साधन-मार्ग में पतन होने की आशंका रहती है। नारी वर्जित है तंत्र-मार्ग में।

'तुम ठीक कहते हो। नारी पराशक्ति का अंश है। शक्ति के रूप में उसका चिन्तन करने से ही निष्काम तंत्र की साधना होती है। तुम परीक्षा में उत्तीर्ण न हो पाये तो मैं समझूँगा कि तुम पूर्ण संन्यासी नहीं हुए हो। तुम्हारी साधना में अब भी कोई कमी है। रानी ज्योतिर्मयी स्वयं कात्यायनी है। साक्षात् माँ कालरात्रि का स्वरूप है।

'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है गुरुदेव।' पूजा समाप्त कर साष्टांग प्रणाम करके वह युवा सुदर्शन संन्यासी मन्दिर के बाहर निकल आया।

ज्योतिर्मयी मन्दिर के सिंहद्वार से बाहर जाते हुए गौरवर्ण और सुगठित देह के युवा संन्यासी को अपलक ताकती रही। मन-ही-मन अपने-आप से प्रश्न किया उसने—यह युवक संसार से विरक्त होकर संन्यास क्यों ले बैठा? क्या अभाव था? क्या दुःख था और क्या कष्ट था इसे? यहाँ क्यों आया है यह?' और मन्थर गति से मन्दिर की सीढ़ियाँ उतर कर ज्योतिर्मयी परिचारिका के साथ हवेली में लौट गयी।

० ० ०

अब मैं जो कुछ देख रहा था—पिछले दृश्य से उसमें काफी अन्तराल था। लेकिन फिर भी कहीं तारतम्य टूटा हुआ परिलक्षित नहीं हुआ मुझे। भोर का समय था। युवा संन्यासी तन्मय होकर माँ की आरती कर रहा था उस समय। मगर यह क्या? उसकी आँखें लाल और सूजी हुई क्यों थीं? क्या वह रात में सो नहीं पाया था? किसकी आरती कर रहा था वह। देवी की मूर्ति तो वह नहीं थी? उसे तो वहाँ रानी ज्योतिर्मयी दिखलायी दे रही थीं! बार-बार आँखें मलकर देवी की प्रतिमा को देख रहा था। बार-बार छोटी रानी ज्योतिर्मयी की मूर्ति आँखों के सामने आ-जा रही थी। वही अनिन्द्य सुन्दर मुखमण्डल और आयताकार लोचन। यह देखकर समझते देर न लगी मुझे। युवा संन्यासी के हृदय में साधना और वासना का द्वन्द्व मचा हुआ था उस समय। अपने-आप पर और अपनी आत्मा पर जैसे उसका नियन्त्रण

नहीं रह गया था। उसकी मानसिक स्थिति पागलों जैसी हो रही थी। मैंने देखा— वह पूजा-आरती कर पंचमुण्डी आसन की ओर चला गया और वहाँ फूट-फूटकर रोने लगा। यह क्या हो गया?

उसी क्षण—एकाएक मुझे ऐसा लगा मानों मैं उस युवा संन्यासी और उसके जीवन में घटने वाली तमाम घटनाओं से भलीभाँति परिचित हूँ। उसके सम्बन्ध में विस्तार से सब कुछ जानता हूँ मैं। उसका नाम भी याद आ गया मुझे। नाम था वीरेश्वर ब्रह्मचारी। आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले गुरु कापालिक तंत्र साधक भैरवानन्द संन्यासी का योग्य शिष्य था वह। आसाम में ब्रह्मपुत्र के श्मशान में बैठकर कठोर शव-साधना द्वारा तंत्र की अत्यन्त दुर्लभ सिद्धि प्राप्त की थी उसने। देवी वीरेश्वर ब्रह्मचारी की परीक्षा ले रही थी या कि उसे छल रही थीं? उसका यह कैसा मानसिक अधःपतन हो रहा था?

मैंने देखा—वह उठकर फिर अस्वस्थ गुरु की शय्या के पास जाकर बैठ गया और फिर गुरु के चरण पकड़कर रोता हुआ कहने लगा—गुरुदेव! इस मन्दिर के गुरुतर उत्तरदायित्व से मुझे मुक्त कीजिये।

'ऐसा नहीं हो सकता वत्स! तुम्हे इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही होगा। इतना जान लो कि रानी ज्योतिर्मयी के पुष्पार्घ्य से देवी में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है'।

'सब सुन चुका हूँ गुरुदेव! किन्तु मुझे मुक्ति दीजिये। मैं वापस मठ में लौट जाना चाहता हूँ'।

'ऐसा नहीं हो सकता वीरेश्वर!'

० ० ०

शरद पूर्णिमा की रात थी! कदम्ब के पेड़ के पीछे से रुपहला चाँद झाँक रहा था। स्निग्ध एवं शान्त वातावरण में चाँदनी बिखरी हुई थी चारो तरफ। पंचमुण्डी आसन के चबूतरे पर बैठा वीरेश्वर श्यामा गीत गा रहा था, वीणा पर! सहसा श्यामा गीत छोड़कर अनजाने में ही वह विरह-कातर श्री राधिका का प्रणय-निवेदन गाने लगा। चन्द्रावती की व्याकुलता से भर गया वातावरण!

एकाएक वीरेश्वर को अपने पैरों पर उष्ण जल का स्पर्श हुआ। और वह चौंक पड़ा। उसके पैरों को किसकी घनी केशराशि घेरे हुए थी। मैंने देखा— छोटी रानी ज्योतिर्मयी संन्यासी के दोनों पैरों को अपने सीने से लगाये रो रही थी। संगीत की मूर्च्छना ने विह्वल बना दिया था ज्योतिर्मयी को। उसके अन्तर् में सोयी हुई चेतना को जगा दिया था उस विरहकातर गीत ने।

'रानी माँ! अब चलिये। आधी से अधिक रात्रि व्यतीत हो चुकी है'।

'चलती हूँ संन्यासी ! लेकिन जाने से पहले एक बार फिर वही गीत सुना दो तुम। कृष्ण के विरह में कातर राधा की व्याकुलता'।

एकबारगी चौंक कर उठ खड़ा हुआ वीरेश्वर ! इस एकान्त में और इस निर्जन स्थान में क्यों आयी है ज्योतिर्मयी उसकी साधना में विघ्न उपस्थित करने ? क्यों आ जाती है ऐसे समय में नित्य ? आखिर क्या चाहती है यह ? बिजली छू गयी हो जैसे। तेज कदमों से वह मन्दिर के अन्दर चला गया। चन्दन की लकड़ी का पट भीतर से बन्द करके करालवदना कालरात्रि का पीठासन दोनों हाथों से पकड़ कर लोट-लोट कर रोने लगा वह ! अपना सिर आसन पर पटक-पटक कर कहने लगा वह—यह कैसी परीक्षा ले रही हो माँ ? तुम्हारी सेवा में मैंने कौन-सी ऐसी त्रुटि की है, जिसका यह दण्ड तुम मुझे दे रही हो ? बोलो माँ, सर्व रिपुओं पर विजय पाने वाले वीरेश्वर ब्रह्मचारी को पराजित करके ही क्या तृप्ति होगी तुम्हें ? क्या लाभ होगा तुमको इस तृप्ति से ? कापालिक तंत्र साधक संन्यासी भैरवानन्द का श्रेष्ठ मंत्र-दीक्षित शिष्य हूँ मैं। उनको मुझ पर गर्व है। मुझे शक्ति दो देवी !

और इतना कह वीरेश्वर ब्रह्मचारी फिर अपना सिर धुनने लगा। देवी के पीठासन पर ! दूसरे क्षण उसके सिर में बहे खून से लाल हो उठा पीठासन।

सबेरा होने ही वाला था अब। शरद पूर्णिमा का दूधिया चाँद सुदूर पहाड़ियों के पीछे छिप गया था। पूरब का स्याह आकाश—जिस पर बृहस्पति का रुपहला नक्षत्र झिलमिलाने लगा था—धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। वृक्षों पर पक्षी कलरव करने लगे थे।

माँ महामाया का पट अभी भी भीतर से बन्द था।

प्रकरण : सात

वह वेदना और करुणामयी दृश्य

अब मेरे सामने जो दृश्य उभरा वह अत्यन्त कारुणिक और वेदनामय था। निबिड रात्रि की गहरी निस्तब्धता को भंग करता हुआ गीत दूर-दूर तक सुनाई पड़ रहा था। ऐसा लग रहा था, जैसे कीट-पतंग और पशु-पक्षी सभी सर्तक और चौकन्ने होकर एकाग्र मन से वह देव दुर्लभ संगीत सुन रहे थे। श्वेत-शुभ्र रेशमी साड़ी पहने छोटी रानी ज्योतिर्मयी आहिस्ता-आहिस्ता मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़कर पंचवटी-चबूतरे के निकट पहुँची। जहाँ वीरेश्वर बैठा एकाग्र मन से गाता जा रहा था। उसकी आँखें मुंदी हुई थीं। जैसे साधना में लीन हो वह। ज्योतिर्मयी आकर संन्यासी के चरणों के निकट बैठ गयी। उनकी दोनों आँखों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं।

संन्यासी का आत्म-सम्मोहित भाव दूर हुआ। चेतना लौटी। उदात्त कण्ठ से उसने उच्चारण किया—हे माँ! जगज्जननी, परमेश्वरी।···सहसा पैरों पर एक कोमल स्पर्श का अनुभव कर चौंक पड़ा वह!

'यह क्या? रानी ज्योतिर्मयी? तुम फिर आ गयीं। मैंने कई बार मना किया कि तुम यहाँ न आया करो'।

'किन्तु यह गीत, यह स्वर मुझे पागल बना देता है संन्यासी। इसे सुनकर मैं किसी तरह भी अपने को रोक नहीं पाती। तुम इसे मत गाया करो। तुम नहीं गाओगे तो मैं भी नहीं आऊँगी'—अश्रुपूरित थी रानी ज्योतिर्मयी की आँखें। उठकर खड़ी हो गयी वह।

'कहाँ? मैं गा ही कहाँ रहा हूँ? चिरसमाधि में प्रवेश करने के पूर्व गुरुदेव मनाकर गये हैं मुझे गाने के लिए। इस विषग्र में चेतावनी भी दे गये हैं वे मुझे'।

'तुम नहीं जानते। पंचवटी के आसन पर बैठकर रोज रात को तुम मधुर स्वर में गाते हो। और उसी गीत की मूर्च्छना मुझे यहाँ आने पर विवश कर देती है'।

'मैं तन्त्र-साधक हूँ। पिशाच सिद्ध है मुझे। तेरह वर्षों से लगातार शव-साधना करता आ रहा हूँ मैं। तुम मुझे पथभ्रष्ट करने पर तुली हुई हो।

'तो फिर सुनो युवा संन्यासी। मैं तुम्हें आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ'। लम्बे-लम्बे दस वर्षों तक विधवाओं के लिए उचित कठोर संयम का पालन करने के बाद जिस दिन मैंने पहले-पहल तुम्हारे मुँह से नारी की अवज्ञा की

बात सुनी—जाने क्या हुआ कि उसी दिन मैं तुम्हें पराजित करने की प्रतिज्ञा कर बैठी'।

'शान्त हो जाओ। और मन्दिर की सीमा के बाहर चली जाओ। तुम मेरे ध्यान, धारणा, आचार, निष्ठा और साधना की च्युति का कारण बन रही हो। मेरी तेरह वर्ष की कठोर साधना की सिद्धि का तुम्हारी सम्मोहन शक्ति से अधःपतन होने जा रहा है। जब मैं माँ का भजन करता हूँ तो अनजाने में श्रीकृष्ण के विरह में कातर श्रीराधिका की मनोवेदना अभिव्यक्त होने लगती है। तुम मेरे में बराबर विघ्न उपस्थित कर रही हो। तुम जाओ यहाँ से'—यह कह कर संन्यासी उठ खड़ा हुआ।

धीर, शान्त और दृढ़ स्वर में रानी ज्योतिर्मयी बोली—तांत्रिक संन्यासी महाराज! इसमें दोष किसका है? मैंने तो तुमको पहले चाहा नहीं था। तुम यहाँ आये ही क्यों? किसका इशारा था तुम्हारे यहाँ आने में?

रानी ज्योतिर्मयी! मैं संसार-त्यागी संन्यासी हूँ! मुझे अपने आकर्षण के मायाजाल में फँसाने का प्रयास मत करो। कोई लाभ तुमको नहीं होगा। और यह कहकर संन्यासी तालाब में स्नान करने के लिए चला गया।

क्षण भर तक संन्यासी की ओर ताक कर रानी ज्योतिर्मयी उठ खड़ी हुई।

भोर होने वाली थी। पूरब के आकाश के वक्ष पर शुक्र तारा झिलमिलाने लगा था।

० ० ०

अब मैं जो दृश्य देख रहा था, वह भी भोर के समय का ही था। पंचवटी पर बैठकर संन्यासी तन्मय भाव से गा रहा था। रानी ज्योतिर्मयी ध्यान-पूर्वक गायन सुनती रही। राग वसन्तबहार शुरू हुआ। युवा संन्यासी का मीठा स्वर वायु-लहरियों पर गिरता हुआ आकर रनिवास में रानी ज्योतिर्मयी के शयनकक्ष से टकराने लगा। रानी ज्योतिर्मयी विचलित हो उठी। पास खड़ी परिचारिका मातंगिनी से रानी की बेचैनी छिपी न रह सकी। बोली—दीदी रानी! क्या आपकी पूजन-थाली सजा दूँ?

नहीं, मातंगिनी। संन्यासी ने मना कर दिया है आने के लिए।

तो मत जाइए आप।

किन्तु मातंगिनी यह जीवन अब मेरे लिए असह्य हो उठा है। यह अभिनय मुझे अब अच्छा नहीं लगता। युवा संन्यासी ने मुझे पागल बना दिया है। क्या तू भी मेरे मन की बात नहीं समझती? रोकर रानी ज्योतिर्मयी ने मातंगिनी की गोद में अपना मुँह छिपा लिया।

समझती हूँ दीदी रानी। आखिर मैं भी स्त्री हूँ। किन्तु समाज के नियम तो मानने ही पड़ते हैं। समाज तो देह का ऊपरी आवरण देखता है।

उसके भीतर तो नहीं देखता। संन्यासी का करुण आह्वान सुनो। अपने अनजाने में नित्य इसी प्रकार आवाहन करता है। अच्छा ! तू मेरे बदले चली जा और संन्यासी को मेरी पूजा-थाली दे दे। मातंगिनी को भेज कर रानी ज्योतिर्मयी जाकर खिड़की की छड़ें पकड़ कर खड़ी हो गयीं। और संन्यासी का गायन सुनती रही। युवा संन्यासी की विरहकातर आत्मा का क्रन्दन सुन कर रानी ज्योतिर्मयी की आँखों से झर-झर कर आँसू गिरने लगे।

मातंगिनी ने संन्यासी के पास पहुँच कर कहा—'महाराज' !

'कौन ? मातंगिनी'—संन्यासी के स्वर में आकुलता फूट पड़ी। लेकिन अपनी आकुलता के भाव को दबा कर उसने कहा—मेरे मना करने पर रानी नहीं आयी, अच्छा किया। उन्हें भविष्य आने से मना ही कर देना मातंगिनी। संन्यासी विमर्षभाव से बोला—उनसे कहना कि वे स्वयं को कर्म में नियोजित करे। उसी से उन्हें मुक्ति मिलेगी। यहाँ मन्दिर में आने का प्रयोजन नहीं है।

'यह पूजा का सामान है, महाराज।' कम्पित स्वर में मातंगिनी बोली—रानी ने चरणामृत मँगवाया है। आरती करके, माँ का चरणामृत देकर मातंगिनी को बिदा किया संन्यासी ने और कहा—रानी ज्योतिर्मयी से कह देना कि मैं तुम्हारे द्वारा ही नित्य चरणामृत भेज दिया करूँगा।

वह हृदयविदारक कारुणिक दृश्य

थोड़े से अन्तराल के बाद मैंने देखा कि संन्यासी की गोद में मुँह छिपा कर रानी ज्योतिर्मयी फफक-फफक कर रो रही थी। और रोते हुए कह रही थी—'बोलो संन्यासी ! मेरे लिए क्या आदेश है' ?

'शान्त रहो'। तुमने सोच लिया है इस बीच ? फिर शान्त और स्थिर दृष्टि से संन्यासी ने रानी ज्योतिर्मयी की ओर देखा।

हाँ ! मैंने निश्चय कर लिया है। मेरे इस जीवन की कामना, वासना और आराध्य देवता तुम्ही हो। अन्तर्द्वन्द्व में हार चुकी हूँ मैं।

'क्या जाने माँ की क्या इच्छा है' ?—संन्यासी ने गहरी साँस लेकर कहा। वह सोचने लगा—कौन-सा मार्ग चुने वह ? साधना का मार्ग या वासना का मार्ग ? तेरह वर्ष की कठोर तांत्रिक साधना क्षण भर में नष्ट हुई जा रही है। परलोक की चिन्ता कभी की नहीं थी। मैंने तन्त्र-साधक के रूप में मर्त्यलोक के श्रेष्ठत्व की अलौकिक शक्ति पर अधिकार करने की बात भर सोची थी।

सत्पथ कौन-सा है—महाराज ! इसका विवेचन आज तक कोई नहीं कर पाया। और नारी ही शक्ति है—इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जानता हूँ कि नारी ही शक्ति है। किन्तु जिस मार्ग पर मैं हूँ उससे

उसका सतत विरोध है। नारी सभी कार्यों में विघ्न उपस्थित करती है। इसलिए साधना में नारी का कोई स्थान नहीं है।

नारी यदि सभी कार्यों में विघ्न उपस्थित करती तो विधाता शायद उसकी सृष्टि ही न करते। दोनों के समन्वय में ही सृष्टि का रहस्य और माहात्म्य है। इसलिए शक्ति के रूप में नारी का आवाहन किया जाता है।

सामने खड़ी रानी ज्योतिर्मयी को दोनों हाथों से हटाकर युवा तांत्रिक संन्यासी उठ खड़ा हुआ। उसका मन विक्षिप्त था उस समय। धीरे-धीरे वह मानसिक दुर्बलता का अनुभव कर रहा था। अपने-आप पर नियन्त्रण नहीं रह गया था उसका। रुआँसी हो आयी रानी ज्योतिर्मयी को पंचमुण्डी आसन पर छोड़कर वह तेज कदमों में मन्दिर में प्रविष्ट हुआ।

'माँ कालरात्रि मुझे रास्ता दिखाओ। मुझे शक्ति दो करुणामयी। देह और विवेक के द्वन्द्व में मैं क्लान्त हो उठा हूँ। मेरी आत्मा दुर्बलता का अनुभव कर रही है'। देवी के चरण-युगल टेक कर रोने लगा वह। मुझे निर्देश दो माँ। मैं आज ही इस राज्य का त्याग कर बंगाल के बाहर चला जाऊँगा। जीवन भर की तपस्या, साधना और सप्त विभूतियों का विसर्जन कर दूँगा। तुम्हारे सामने अपनी बलि दे दूँगा। और सचमुच बलि देने वाला विशाल खड्ग उठा लिया संन्यासी ने। दूसरे क्षण 'खच्' की भयानक आवाज हुई और उसी के साथ मन्दिर के निस्तब्ध वातावरण में एकबारगी गूँज उठा मानव कण्ठ से निकला मन-प्राण को प्रकम्पित कर देने वाला एक भयंकर आर्तनाद। दिल को दहला देने वाली एक रोमाञ्चकारी घटना घट गयी थी क्षणमात्र में।

मैंने देखा—मन्दिर के संगमरमरी फर्श पर खून-ही-खून फैल रहा था चारों तरफ। भावावेश में आकर अपनी बलि दे दी थी उस युवा तन्त्र साधक ने। बड़ा ही हृदय-विदारक और बड़ा ही कारुणिक दृश्य था वह। संन्यासी का कटा हुआ सिर माँ करुणामयी कालरात्रि के चरणों के निकट पड़ा था। जिसके रक्त से माँ के चरण भींग उठे थे। और भींग उठी थी—उनके गले में पड़ी जवाकुसुम की माला भी। संन्यासी के नेत्र बन्द थे। उज्ज्वल आनन्द से उद्भासित हो रहा था उसका मुखमण्डल। हवन वेदिका के समीप संन्यासी का औंधा पड़ा था रक्तरंजित निष्प्राण, मृत शरीर।

सहसा सारा दृश्य गायब हो गया और उसके बाद मेरे सामने जो दृश्य उभरा—वह और भी अधिक लोमहर्षक, हृदय-विदारक और रोमाञ्चकारी था। जिसे देखकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। संन्यासी के कटे सिर के बगल में रानी ज्योतिर्मयी का भी कटा हुआ सिर पड़ा था। निश्चय ही उसने भी अपनी बलि दे दी होगी माँ महामाया के सम्मुख। गजाधार पर जलते घी के चौमुखे दीपक का स्निग्ध प्रकाश पड़ रहा था उस समय दोनों के खण्डित

मुण्ड पर। रानी ज्योतिर्मयी का विवर्ण पांशु मुखमण्डल। नेत्रों में उस समय भी आँसू थे। और थी मिलन की आकुलता।

० ० ०

मैं अभी वह लोमहर्षक दृश्य देख ही रहा था कि अचानक सब कुछ लुप्त हो गया मेरे सामने से। धीरे-धीरे आँखें खोली मैंने। सिर में भयंकर दर्द हो रहा था उस समय। मैंने देखा—स्वामीजी मेरे सामने बैठे हुए थे। मगर उनका हाथ मेरे मस्तक पर से हट चुका था। मेरी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे वह।

स्वामीजी ने जो कुछ कहा था वह पूर्ण सत्य था। चलचित्र की भाँति अब तक मैंने जो कुछ देखा था और सुना था—वह सब मेरे किसी पिछले जन्म से सम्बन्धित था, इसमें सन्देह नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं—उस सत्य ने मेरी आत्मा को, मेरे मन को और मेरे प्राणों को झकझोर दिया था एकबारगी। अपना अतीत देखकर स्तब्ध रह गया था मैं। मेरी आत्मा हतप्रभ-सी हो गयी थी।

ज्योतिर्मयी की आत्मा से सम्बन्ध

कहने की आवश्यकता नहीं—इस विलक्षण घटना से मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि मानव-जीवन में 'संस्कार' सबसे महत्त्वपूर्ण है। अपने पूर्व जन्म के संस्कार से ही प्रेरित होकर योग-तन्त्र के कठिनतम मार्ग पर चलने का साहस कर सका हूँ मैं। इसमें सन्देह नहीं।

मधुपुर से वापस लौटने के बाद मुझे एक अति आवश्यक कार्य से मीर्जापुर जाना पड़ गया। वहाँ मेरे एक सुपरिचित तांत्रिक बन्धु मिल गये। उनके अनुरोध पर अष्टभुजा में ठहर गया मैं। सावन-भादों का महीना था। सबेरे से ही अनवरत वर्षा हो रही थी। शाम के समय वर्षा और अधिक तेज हो गयी। तांत्रिक महोदय अपने किसी अनुष्ठान में व्यस्त थे। मैं कमरे में अकेला था। सांझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे रात के निबिड़ अंधकार में परिवर्तित हो गयी थी। चारो तरफ घने अंधेरे का विस्तार। घनघोर वर्षा का अनवरत शोर। अंधेरे वृक्षों में सिर पटकती हवा का चीत्कार। झींगुरों की झंकार। सब मिल-जुल कर एक विचित्र-सा हा-हाकार भर दिया था उस क्लान्त, आच्छन्नता से भरे वातावरण में। सहसा श्यामल आकाश की छाती को चीरती हुई बिजली चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा ओर-छोर-विहीन आसमान के एक कोने से दूसरे कोने तक कौंध गयी। प्रखर आलोक से उद्भासित हो उठा विस्तार। अंधेरी गुफा जैसे उस छोटे से कमरे में जल रही लालटेन बरसाती गीली हवा के एक झोंके से अचानक बुझ गयी और उसी के साथ अंधकार में डूबे हुए कमरे में ठंडी-गीली हवा फैल गयी। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा

बैठा रहा चारपायी पर ! करता भी क्या ? तांत्रिक महोदय आधी रात के पहले अष्टभुजा मन्दिर से आने वाले नहीं थे । काश उनकी बातों में न आकर शाम को ही वापस बनारस लौट गया होता—सोचने लगा मैं । और तभी बिजली चमकी । दूर दिगंत तक चमकीली रेखा खिंच गयी । वर्षा ने और जोर पकड़ लिया । हे भगवन् ! अब क्या होगा ? और तभी वह अंधेरा कमरा सुगन्धित फूलों की सुगन्ध से भर उठा । उस सुगन्ध के साथ ही एक और सुगन्ध थी जो कदापि किसी फूल की नहीं थी । किसी और चीज की थी । मगर थी काफी तीव्र । फूलों की सुगन्ध के साथ मिली-जुली वह अपरिचित सुगन्ध से धीरे-धीरे मेरा मस्तिष्क आछन्न होता जा रहा था । तन्द्रिल स्थिति हो गयी मेरी । लेकिन उस स्थिति में एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव हो रहा था मेरे मन-प्राण को । वर्षा का एकरस शोर अंधेरे की छाती पर जुगुनुओं के जलते-बुझते रहने का खेल ! अपने तुमुल रव से धरती को कँपाती हुई बिजली फिर कौंधी । राशि-राशि बिखरे अंधकार में धुँधले उजाले का दायरा एक बार सिमट कर फैला और फिर फैलता ही गया अष्टभुजी की पहाड़ी पर । मेरी तन्द्रिल अवस्था धीरे-धीरे गहरी होती जा रही थी । और उसी अवस्था में मैंने एक लम्बा सपना देखा । और उस सपने में मैंने जो कुछ देखा उससे और अधिक विह्वल हो उठी मेरी आत्मा ।

कभी-कभी सोचता हूँ—क्या वह सचमुच सपना ही था या कुछ और ? नहीं, वह सपना नहीं था । सोया कहाँ था मैं ? केवल मेरी आँखें भर बन्द थीं । बादलों की गर्जना, बिजली की कड़कड़ाहट, अनवरत वारिश का शोर और साथ-ही-साथ अष्टभुजा माँ के मन्दिर में बज रहे नगाड़े और शंख-घंटे की आवाज बराबर सुन रहा था मैं ।

और उसी तन्द्रिल अवस्था में मैंने अपने कमरे में सामने रानी ज्योतिर्मयी को खड़ी देखा । एकबारगी चौंक पड़ा मैं । पहचानने में भूल नहीं हुई थी मुझसे । वही ज्योतिर्मयी थी जिसे मैंने मदनगोपाल के लिए फूलों की माला गूँथते हुए देखा था । युवा संन्यासी के चरणों में गिर कर रोते हुए देखा था । प्रणय-निवेदन करते हुए देखा था । और देखा था—माँ कालरात्रि के मन्दिर में रक्तरंजित कटा हुआ उसका सिर ।

गुलाब के फूल जैसा ताजा खिला हुआ चेहरा । दूध में महावर मिला हो, ऐसा शरीर का रंग । काले घने बाल । अजीब-सी सम्मोहन से भरी कल्पना से स्निग्ध स्वप्नालु आँखें । स्थिर दृष्टि से अपलक न जाने कब तक निहारता रहा मैं ज्योतिर्मयी की बाँकी छवि को !

• ० ०

अब आपको मैं अनबुझी प्यास की वह कथा सुनाने जा रहा हूँ, जिसका इतिहास में कोई उल्लेख नहीं होता, सुलेखक जिस पर कुछ लिखते नहीं और

अखबारों में जिसकी कोई चर्चा भीं नहीं होती। वास्तव में यह विलक्षण कथा तन की प्यास की, मन की अशान्ति की और आत्मा की अतृप्ति की एक मर्म-स्पर्शी कथा है। खैर ! क्लान्त आच्छन्नता से भरा चित्त। जिसमें वर्षा का अनवरत शोर, अंधेरे दरख्तों पर सिर पटकती हवा के चीत्कार और झींगुरों की झंकार ने मिल-जुल कर एक विचित्र-सा हा-हाकार भर दिया था उस समय।

ज्योतिर्मयी की बाँकी छवि देखने में मैं इतना लीन हो गया था कि अपने तन-मन की सुधि भी नहीं रही मुझे। और तभी फिर बादलों से अटकर काले पड़ गये आकाश का वक्ष चीरती हुई सौदामिनी चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा अनन्त आकाश के एक कोने से दूसरे कोने तक कौंध गयी। हजारों मैग्नीशियम के तारों जैसे प्रखर आलोक से उद्भासित हो उठा सृष्टि का विस्तार और उसी के साथ मेरे सामने से सहसा लुप्त हो गया ज्योतिर्मयी का अस्तित्व। तन्द्रा भंग हो गयी मेरी। छाती के भीतर कुछ खाली-खाली-सा प्रतीत हो रहा था मुझे उस समय। अंधकार में आकण्ठ डूबे कमरे से बाहर निकल कर दालान में चला आया मैं। वर्षा बराबर हो रही थी जोर-शोर से। बीच-बीच में बिजली भी चमक उठती थी कड़-कड़ाकर। उस भयानक रव के बीच न जाने कैसी अनुभूति हो रही थी मुझे? बतला नहीं सकता ! मैंने कलाई घड़ी देखी। रेडियम-टच अंक हरी आग की तरह जैसे दप् से जल उठे। ग्यारह पैंतीस ! स्तब्ध-सा खड़ा रहा। मेरे तांत्रिक मित्र अभी तक मन्दिर से वापस नहीं लौटे थे। मैंने सिर घुमाकर चारों तरफ देखा—उस अन्धकाराच्छन्न निर्जन प्रान्त में वर्षा का शोर और बिजली का कड़कड़ाता स्वर और उसकी दाहक चमक के अलावा और कुछ नहीं था। सोचने लगा—किसी तरह सबेरा हो और चलूँ यहाँ से। मैं कमरे में वापस लौटने लगा कि तभी अंधकार में डूबे वातावरण में खड़ाऊँ की खट-पट की आवाज सुनाई दी मुझे। ठिठक कर खड़ा हो गया। फिर पीछे मुड़कर देखा। हाथ में मिट्टी के तेल की चिमनी लिये कोई आ रहा था सामने से। आँखों में विस्मय भरे देखने लगा मैं एकटक उधर। कुछ क्षण बाद चिमनी की हलकी पीली रोशनी में उभरा एक अस्पष्ट-सा चेहरा। गौर से देखने पर शरीर की रेखायें स्पष्ट हो गयीं। लम्बा, दुबला, जीर्ण-शीर्ण-सा शरीर। तीखी नाक। विस्फारित भाव-हीन-सी आँखें। आँखों के किनारे गहरी स्याही। जटा-जूट से सिर के बाल। घनी दाढ़ी-मूँछें। विवर्ण रक्तहीन-सा मुख। शरीर पर सिर्फ एक लुंगी। हाथ में खप्पर और कमण्डल। आयु यही साठ-पैंसठ के लगभग। न जाने कैसी निगाह से देख रहा था वह व्यक्ति कि डर लग आया !

बात मैंने ही शुरू की। कहा—हम बनारस से चलकर यहाँ अपने एक तांत्रिक मित्र के साथ आये हैं। उन्हीं की है यह कोठरी भी।···आप कौन हैं? जैसे दुविधा हो रही हो—ऐसी निगाह से देखता रहा वह मेरी ओर फिर

क्षीण हँसी हँस कर बोला—आप यहाँ इस निबिड़ रात्रि में अकेले हैं। आइए चलिये मेरे साथ। बगल में ही मेरी कुटिया है। फीकी रोशनी का दायरा कसमसाया और फिर आगे सरका। उसी के पीछे-पीछे चल पड़ा मैं।

बाहर की दुनिया से वह अनजाना लोक परे-सा प्रतीत हो रहा था। दीमक और घुन से खोखले हुए दो जर्जर खम्भों पर टिका बरामदा। मिट्टी की जगह-जगह से टूटी हुई दीवार! कच्चे आँगन में उगे जंगली पौधे। एक किनारे डरावना-सा आँवले का घना पेड़। ध्वस्त कमरों से होकर फूस के छप्पर पर फैल गयी लौकी और ककड़ी की बेलें। काँपते उजाले के पीछे-पीछे बरामदे से कमरे की ओर जाते हुए गौर किया कि कच्चे आंगन, अहाते और उस सारे धूसर परिवेश में न जाने कैसे ध्वंस की गंध है? एक ओर एक छोटा-सा कमरा। काठ के पुराने किवाड़ों का जर्जर दरवाजा। सिर झुकाकर भीतर घुसा। धुँआ उगलती चिमनी ने भीतर रखी वस्तुओं को स्पष्ट कर दिया। अरगनी पर टंगी लाल-पीले रंग की मैली-कुचैली चादरें। गोबर से लिपे फर्श पर एक कोने में एक काफी लम्बा त्रिशूल रखा था। जिसके सिरे पर किसी मानव की खोपड़ी बंधी लटक रही थी।

कुछ खिसकाये जाने की आहट हुई। देखा काठ के दो मोढ़े सामने पड़े थे। उन्हीं की ओर संकेत करते हुए वह बोला—'बैठिये।' फिर खूँटी पर टंगी चादर को उतार कर उसे भलीभाँति अपने बदन पर लपेटते हुए कहा—अब कहिए।

वह रहस्यमयी कापालिक

मुझे आश्चर्य हुआ। इस निबिड़ बरसाती रात में मेरे सम्बन्ध में संक्षिप्त में सब कुछ सुनने के बाद अब क्या जानना चाहता है यह? अंधकाराच्छन्न प्रान्तर के इस स्थान पर रात्रि में ठहरने की बात बतलाने के बाद अब और आगे बतलाने को रह ही क्या गया था?

मैंने कहा—आपको बतला ही चुका हूँ कि मैं बनारस का रहने वाला हूँ। अपने एक तांत्रिक मित्र के साथ यहाँ आया हूँ। और सबेरे वापस चले जाने का विचार है। मगर आप···।'

मैं माधवानन्द हूँ। कापालिक माधवानन्द। लगा, जैसे आँगन के आँवले के पेड़ पर चोंच रगड़ता कोई पक्षी कर्कश स्वर में चींख उठा। किसी चमगादड़ के पर फड़फड़ाने की आवाज सुनाई दी।

मैंने भीत दृष्टि से सामने बैठे कापालिक माधवानन्द की ओर देखा। एकटक बिना पलक झपकाये वह मेरी ओर देख रहा था। जीर्ण क्लान्त चेहरा, राख जैसा रंग और अजीब से सम्मोहन मैं भरी वह निगाह? क्या था उस दृष्टि में, कह नहीं सकता।

उस विवर्ण चेहरे की ओर ताक कर मैंने कहा—आप अकेले रहते हैं यहाँ ?

वह हँसा। बोला—आपने देखा नहीं, यह पूरा इलाका निर्जन और सुनसान है। यहाँ कोई नहीं रहता। केवल मैं भर रहता हूँ।

सचमुच उस समय अष्टभुजी का इलाका घनघोर जंगल था। निर्जन था। सुनसान था। बस, गुह्यसाधना करने वाले भगवती भक्त तांत्रिकों की दस-बीस झोपड़ियाँ भर थीं वहाँ उस इलाके में! मगर जहाँ वह रहता था—वह सबसे अलग-थलग, सबसे अधिक सुनसान और निर्जन स्थान था। दिन में भी वहाँ लोग जाने में डरते थे। मुझे विस्मय हुआ। तो सिर्फ आप ही रहते हैं इस बियावान में ?

उसने सिर हिलाकर कहा—हाँ। वास्तव में मुझे एकान्त स्थान अच्छा लगता है। जब मैं यहाँ इस इलाके में आया था तो उस समय पच्चीसों कोस तक कोई आबादी नहीं थी। घनघोर जंगल ही जंगल था, यहाँ चारों तरफ। हिंसक पशुओं से भरा था यह जंगली इलाका।

'आप कब आये थे यहाँ'—मैंने पूछा।

'बहुत समय बीत गया। अब तो मुझे स्वयं याद नहीं है कि मेरा यहाँ कब आना हुआ था'?—इतना कहकर अजीब-सी हँसी हँसा वह!

भय-विस्मय और संशय के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन। उस निबिड़ गीली रात में उस व्यक्ति की उपस्थिति बड़ी विचित्र लगी। पूछा—'आप—'।

किन्तु मेरा वाक्य पूरा होने नहीं दिया उसने। वैसी ही क्षीण, म्लान हँसी हँस कर बोला—अष्टभुजी पहाड़ी का यह इलाका वाममार्गीय तंत्रसाधकों का है। यहाँ कठोर तंत्रसाधना करने वाले लोगों के अलावा कोई और नहीं रहता। रहना भी यहीं चाहता। साधारण आदमी इधर आने का साहस भी नहीं करता।

गीली बरसाती हवा का एक तेज झोंका आया और ठण्डी हवा भीतर फैल गयी। कोने में जलती पीली मद्धिम चिमनी की लौ एक बार सिहर कर चमक गयी। रोशनी का दायरा फिर कसमसाया।

मैंने कहा—'मगर आप…'।

उस व्यक्ति का विषण्ण, भावहीन तथा रक्तहीन चेहरा जाने कैसे आवेग से थम्-थम् करने लगा। नथुने फूल आये। विफर कर बोला—भयंकर तांत्रिकों के भुतहे अभिशाप से बँधा इलाका है तो क्या हुआ—यह झोपड़ी तो मेरी अपनी है। पूरे छः सौ वर्षों से रहता आया हूँ और आगे रहूँगा। आप पूछने वाले कौन हैं ?

यह रूप देखने की आशा नहीं थी। स्तम्भित हो गया मेरा मन। डरा, सहमा हुआ तो था ही। जब सुना कि वह छः सौ वर्षों से यहाँ रह रहा है तो वह सब बड़ा विचित्र, इहलोक से परे का-सा प्रतीत हुआ। मैंने कहा—'न, मेरा मतलब यह नहीं था। क्षमा करिये। आप छः सौ वर्षों से यहाँ निवास कर रहे हैं, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी'।

धीरे-धीरे उत्तेजना का भाव शान्त हो गया। हताश स्वर में माधवानन्द ने कहा—'हाँ! इतना ही समय हो गया यहाँ। कब मुक्ति मिलेगी? और कब मिलेगी आत्मा को शान्ति? बतलाया नहीं जा सकता।

मैंने उसकी ओर देखा। अजीब-सी वेदना का भाव उभर आया था उसके चेहरे पर। सूनी-सूनी आँखों में दुःख की छाया थी।

मैंने कहा—आपकी बात समझ न सका मैं। कैसी मुक्ति? और कैसी शान्ति? थोड़ा विस्तार से बतलाने की कृपा करें।

आँवले के पेड़ पर फिर चोंच रगड़े जाने की आवाज सुनाई दी। पीछे की झाड़ियों में हवा के झोके सरसराये।

वह बोला—अपनी मुक्ति और अपनी शान्ति के सम्बन्ध में बहुत दिनों से कहने की सोच रहा था। किन्तु कोई ऐसा मिलता ही नहीं था, जिसके सम्मुख कह सकता। आज आप मिल गये। सोचता हूँ कि थोड़ा-बहुत बतलाकर अपने मन को शान्त कर लूँ। शायद फिर कभी मौका न मिले। अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है मैंने। उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा मुझे। उसका प्रायश्चित्त भी तो मुझे ही करना होगा। आपको बतला दूँ—एक भयंकर कापालिक हूँ मैं। पिशाच, बेताल, हाकिनी, डाकिनी आदि तमोगुणी जीव सिद्ध हैं मुझे। तंत्र में जिनको दुर्लभ सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं—वे सब मुझे उपलब्ध हैं। लेकिन अपने जीवन काल में उन तमाम अलौकिक और दुर्लभ तांत्रिक सिद्धियों के द्वारा कभी किसी का कल्याण नहीं, बल्कि अकल्याण ही किया है मैंने। यदि उस समय मुझे इस बात का जरा-सा भी संकेत मिलता कि तांत्रिक शक्तियों का दुरुपयोग करने का यह परिणाम सामने आयेगा तो सच मानिये, सपने में भी ऐसा न करता मैं।

उसके बोलने का ढंग और उसकी बातें बड़ी ही रहस्यमयी लगी मुझे। मैंने कहा—कौन-सा और कैसा परिणाम सामने आया आपके?

वह व्यक्ति हँसा। बारिश का एकरस शोर। झिंगुरों की अनवरत झंकार। भयंकर अंधकार और निर्जन सुनसान इलाका। उसकी वह हँसी भी बड़ी रहस्यमयी लगी उस समय।

थोड़ा हँसने के बाद वह बोला—परिणाम!···परिणाम जानना चाहते हैं आप?···तो सुनिये! मैं कापालिक माधवानन्द अवश्य हूँ। मगर इस समय आपके सामने जो शरीर है—वह शरीर माधवानन्द का नहीं है।

क्या कहा आपने ? यह शरीर आपका नहीं है !···तो···फिर किसका है ? भय से जड़वत्-सा हो गया मैं। अब मुझे उस अंधेरी गुफा जैसे वातावरण में सब कुछ अप्रिय प्रतीत होने लगा था। उस व्यक्ति की उपस्थिति भी अनोखी लगने लगी थी। उसकी हँसी तो पहले ही मुझे डरावनी लगी थी। मन में बार-बार यही हो रहा था कि उठकर बाहर चला जाऊँ! मगर यह तो असम्भव हो गया था। उसके बाद आगे उसने जो कुछ बतलाया उसे सुनकर एकबारगी स्तब्ध और रोमाञ्चित हो उठा मैं।

माधवानन्द कापालिक ने अपनी किसी तांत्रिक साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए एक शुचि यौवना षोडशी कन्या को अपनी भैरवी बनना चाहा था। मगर ऐसा सम्भव न हो सका था। वह कन्या किसी परदेशी से प्रेम करने लगी थी और अन्त में उसने अपने उसी प्रेमी से विवाह भी कर लिया एक दिन। कापालिक माधवानन्द को सहन नहीं हुआ यह सब। जिस अक्षत यौवना को वह अपनी साधना के लिए भैरवी दीक्षा देना चाहता था वह किसी और से प्रेम करे और विवाह करे। यह कैसे सम्भव हो सकता था ? विक्षुब्ध हो उठा कापालिक माधवानन्द। उस अक्षत यौवना के दाहक रूप-सौन्दर्य ने उसके भीतर जो कामाग्नि प्रज्वलित कर दी थी, उसके ताप के कारण अपना आपा खो बैठा वह। और उसने हत्या कर दी युगल प्रेमियों की। सुहागरात के समय ही दोनों की हत्या की थी उसने। कितना मर्मस्पर्शी और हृदय-विदारक दृश्य रहा होगा वह। अगर वहीं सब कुछ समाप्त हो जाता तो ठीक था ? लेकिन ऐसा न हो सका। उस सद्यः यौवना की हत्या करने के बाद भी वह दुर्धर्ष कापालिक अपनी तामसिक तंत्र-साधना के बल पर उसे प्राप्त करने का बराबर प्रयास करने लगा और उसी प्रयास में एक दिन उसकी भी मृत्यु हो गयी। पर मृत्यु के बाद भी उस कन्या को पाने की अदम्य लालसा ने उस तामसिक तंत्र-साधक का पीछा नहीं छोड़ा और उसी अदम्य लालसा के वशीभूत होकर वह पूरे छः सौ वर्षों से अशरीरी आत्मा के रूप में भटक रहा था। कापालिक माधवानन्द की अशरीरी आत्मा ने बतलाया कि उसका नाम लक्ष्मी था। सचमुच वह लक्ष्मी थी। क्या रूप था ? क्या सौन्दर्य था ? और क्या था उन्मत्त कर देने वाला यौवन ? वर्णन करना सम्भव नहीं।

कापालिक के कहने के भाव से मैं समझ गया कि लक्ष्मी के अपूर्व सौन्दर्य ने उसके मन में जो एक आग लगा दी थी—उससे भीतर-ही-भीतर झुलसता ही गया होगा वह। दिन बीतते गये होंगे। वह दिन-दिन क्षार होता गया होगा। विष भरी आग की तरह लक्ष्मी उसके मन-प्राणों पर छा गयी होगी। हर समय सर्वत्र उसको लक्ष्मी की ही रूप छवि नजर आती रही होगी उस समय। निश्चय ही पागल हो गया होगा वह।

• • •

बिजली चमकी। दूर दिगन्त तक चमकीली रेखा खिंच गयी। वारिश ने और जोर पकड़ लिया।

मैंने पूछा—'फिर! फिर क्या हुआ ?'

उसने मेरी ओर देखा। धुँधले उजाले में विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली उसकी अधूरी और एकांगी प्रणय कथा कुछ अजीब-सी लगी मुझे।

मेरी ओर देखने के बाद वह बोला——मैं तो शरीर धारण न कर सका। देहविहीन अवस्था में बराबर भटकता रहा इधर-उधर। आज भी अशान्त मन लिये भटक रहा हूँ। मगर इस दीर्घ अन्तराल में लक्ष्मी ने दो सौ वर्ष पूर्व केवल एक बार जन्म लिया था। उस जन्म में भी उसने वही किया, जो पिछले जन्म में किया था। एक युवा संन्यासी से फिर प्रेम कर बैठी वह। और फिर प्रेम में असफल होने पर स्वयं अपने हाथों से ही अपनी बलि दे दी उसने। यह सुनकर एकबारगी चौक पड़ा मैं। और उसी के साथ कुछ कौंध-सा गया मेरे मस्तिष्क में।

'क्या नाम था उसका'?

'ज्योतिर्मयी'।

नाम सुनते ही स्तब्ध और अवाक् रह गया मैं। मेरे मानस-पटल पर उभर आयी ज्योतिर्मयी की उद्दाम यौवन से तरंगित देहयष्टि। जिसकी अपूर्व मोहक छवि ने उसी निर्जन इलाके में कुछ समय पहले उद्भ्रान्त-सा कर दिया था मेरे मन-प्राणों को।

ज्योतिर्मयी पिछले जन्म में लक्ष्मी थी। दोनों की आत्मा एक ही है—यह समझते देर न लगी मुझे। क्षीण स्वर में वह बोला—जैसे मैं इतने समय से उसे खोज रहा हूँ, वैसे ही वह भी इस समय उसी युवा संन्यासी के लिए भटक रही है इधर-उधर। कुछ समय पहले मुझे मालूम हुआ था कि वह इधर इसी प्रान्त में आयी है। मैं उसे नहीं छोड़ूँगा मित्र! एक-न-एक दिन उसे प्राप्त कर अपनी कामना को और अपनी साधना को अवश्य पूर्ण करूँगा। और तभी मिलेगी मुझे शान्ति और तभी मिलेगी मुझे मुक्ति भी।

यह सुनकर काँप गया मैं। जब उसको यह पता है कि ज्योतिर्मयी की आत्मा इसी प्रान्त में है तो उसे यह भी मालूम होगा कि वह मुझसे मिली भी है!···तो क्या सब जान-बूझ कर यह उन्मत्त कापालिक मुझे यहाँ पकड़ लाया है अपने साथ? मुझे यह सब बड़ा ही अस्वाभाविक और बड़ा ही अप्रिय-सा लग रहा था।

अपनी अतृप्त कामना और उद्दाम वासना की संक्षिप्त कथा समाप्त कर कापालिक माधवानन्द का कातर क्षीण स्वर धीरे-धीरे हवा की साँय-साँय में खो गया। विषण्ण दृष्टि से मेरी ओर ताक कर सिर झुकाये बैठा रहा वह। मैं जानता था कि उसकी आत्मा ने जो उस समय अपनी प्रबल वासना के

वेग से भौतिक रूप धारण कर लिया है––वह अब अधिक समय तक नहीं ठहरेगा। सबेरा होने के पहले बिखर कर वायु में विलीन हो जायेगा वह।

एक गहरा सन्नाटा छा गया था वहाँ। सन्नाटा नहीं अपितु मन में खिन्नता और क्षोभ उत्पन्न कर देने वाली बेचैनी।

क्या आपको पूर्ण विश्वास है कि लक्ष्मी को आप कभी-न-कभी किसी-न-किसी रूप में प्राप्त कर लेंगे—मैंने पूछा ?

यह सुनकर कापालिक ने मेरी ओर देखा। उफ् वह निगाह ! जीवन-पर्यन्त तक नहीं भूल पाऊँगा उसे। लगा, जैसे प्रेतपुरी का दावानल सुलग रहा हो वहाँ। चेहरा भी एकदम स्याह हो गया। बोला—हाँ ! मुझे पूर्ण विश्वास है। कभी-न-कभी अपनी भैरवी बनाकर रहूँगा उसे। आखिर वह जायेगी कहाँ ? और फिर एक विकट अट्टहास किया उसने।

भय और आतंक से बुरी दशा हो रही थी मेरी। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आ रहा था। सारा शरीर पाषाणवत्-सा हो गया था मेरा। और तभी हवा का एक तेज झोंका आया और झोपड़ी का जर्जर दरवाजा खुल गया····। पानी के थपेड़े भीतर आ गये और सहसा खड़ा हो गया कापालिक। एक अलौकिक भाव से रंग गया तमाम चेहरा। खुले दरवाजे की ओर उन्मुख हो आवाहन की मुद्रा में हाथ उठाकर उसने कहा—आओ ! आखिर तुमको पा ही लिया मैंने ! अब नहीं छोड़ूँगा मैं तुझको।······

मेरे प्राण आतंक से हिम हो गये जैसे। उस अभूतपूर्व क्षण में क्या घटित होने जा रहा था ? क्या प्रेतलीला ? लगा जैसे मूर्च्छित हो जाऊँगा मैं। हिम शीतल हवा का मर्म-भेदी रुदन भर गया वातावरण में। तभी हवा के एक झोंके में धुँधली, काली हुई चिमनी भी बुझ गयी। ऐसा लगा जैसे दरवाजे के भीतर आया कोई।

आतंक से सिहर उठे मेरे प्राण। शिराओं, उपशिराओं में रक्त-प्रवाह रुकता-सा जान पड़ा।

गर्दन घुमाकर दरवाजे की ओर देखने की कोशिश की मैंने। पहले तो कुछ नजर नहीं आया मुझे। अन्धकार-ही-अन्धकार। फिर धीरे-धीरे वह गहरा अँधियारा क्षीण होने लगा। मोम की तरह गलने लगी वह स्याही। और फिर उस अजीब से धुँधले पट पर धीरे-धीरे एक नारी-मूर्ति प्रकट होने लगी। आँखें फाड़कर देखने की कोशिश की मैंने। और फिर जैसे सुषुम्ना तक एक हिम प्रवाह दौड़ गया। हू-ब-हू वही आकृति थी। जैसी मैंने उस रात के पहले प्रहर में देखी थी।

उद्दाम यौवन से तरंगित देहयष्टि––आग जैसी दाहक छवि––लेकिन कैसा तो आसुरी रूप। आँखों में एक विचित्र सम्मोहन––रक्तिम होंठ––रक्तिम गाल। बिलकुल वही। ज्योतिर्मयी को पहचानने में भूल नहीं हुई थी मुझसे।

उसके चेहरे पर उस समय क्रोध, आक्रोश, घृणा और द्वेष का ऐसा मिला-जुला भाव था जिसे देखकर प्राण कँपा देने वाली भयंकर अराजकता भरी रात में असीम आतंक से अवश हो गया मेरा सारा शरीर। लगा जैसे प्राण निकल जायेंगे। और तभी ज्योतिर्मयी के भयानक अट्टहास से गूँज उठा सारा वातावरण।

'सुन ! माधवानन्द !' ज्योतिर्मयी कह रही थी--मुझे जिसे पाना था उसे मैंने पा लिया। लेकिन तू मुझे कभी किसी जन्म में न पा सकेगा। तुझे कभी इस पिशाच योनि से मुक्ति नहीं मिलेगी। तू इसी तरह अशान्त और अतृप्त रहेगा।

और फिर एक क्षण। एक क्षण का भी सौवाँ हिस्सा। उसके बाद ही खुले हुए दरवाजे की ओर बढ़ गयी ज्योतिर्मयी। और तभी लगा--जैसे भयातुर कण्ठ से आर्तनाद किया हो कापालिक माधवानन्द ने और उस आर्तनाद को सुनकर वहाँ रुका न गया मुझसे। उठकर भागा। अँधेरे में गिरता-पड़ता न जाने कहाँ तक चलता गया और अन्त में बेहोश होकर गिर पड़ा मैं।

प्रकरण : आठ

वह अवर्णनीय दृश्य

क्या सचमुच बेहोश हो गया था मैं ? बेहोशी में तो मन जड़ीभूत हो जाता है। चित्त भी स्थिर और निष्क्रिय हो जाता है।

नहीं, बेहोश नहीं हुआ था मैं। बाह्य चेतना भले ही लुप्त हो गयी थी मेरी। लेकिन आन्तर चेतना जाग्रत् थी उस अवस्था में। और उसी अचेतन अवस्था में एक अवर्णनीय अपूर्व दृश्य देखा मैंने। बड़ा ही मनमोहक और आत्मा को स्पर्श कर लेने वाला दृश्य था वह। सबसे पहले मैंने कल-कल निनाद करती हुई भागीरथी की धवल धारा को देखा। फिर देखा उसके तट पर बसे 'नवद्वीप' को। शरद पूर्णिमा का रुपहला चाँद बहुत ऊपर आ गया था आकाश में। वातावरण में घोर निस्तब्धता थी। चाँदी जैसी रुपहली चाँदनी में आकण्ठ डूबा हुआ उस नीरव, निस्तब्ध वातावरण में रात्रि के समय नवद्वीप बिलकुल स्वप्नलोक-सा प्रतीत हो रहा था। और जब मैं उस स्वप्नलोक में डूबा हुआ था--उसी समय मेरी दृष्टि भागीरथी गंगा की धवल धारा के बीच में स्थिर खड़े एक बजरे पर पड़ी। जिसके दरवाजे और छोटी-छोटी खिड़कियों पर ढाके की मलमल और किनखाब के रंग-बिरंगे पर्दे झूल रहे थे। और उन झूल रहे रंग-बिरंगे पर्दे से छनकर रोशनी बाहर बिखर रही थी। नव परिणीता दुलहन की तरह सजे उस बजरे को देखकर मैंने पहले सोचा कि नवद्वीप का कोई धनी और प्रतिष्ठित युवक शरद पूर्णिमा की इस रात्रि में अपनी मधुचन्द्रिका का आयोजन किया होगा। मगर नहीं। जब मेरी दृष्टि बजरे के भीतर गयी तो देखा--फर्श पर बिछे ईरानी कालीन पर एक नवयुवती के साथ दो व्यक्ति बैठे हुए थे। पहला व्यक्ति युवा था। मगर दूसरा प्रौढ़ था और देखने में कोई महापण्डित लग रहा था। उसके गौरवर्ण शरीर पर पीताम्बर था। मस्तक पर चन्दन का टीका लगा था। गले में रुद्राक्ष की माला और जनेऊ पड़ा था। सिर सफाचट था और पीठ पर लम्बी शिखा झूल रही थी। वह बड़े मनोयोग से कोई वैदिक मंत्र का उच्चारण कर रहा था। युवक भी काफी आकर्षक और सुन्दर था। रेशमी धोती और पीले रंग का रेशमी कुर्ता पहने था वह। उसके चौड़े ललाट पर लाल चन्दन का प्रलेप था। बाल घने और घुँघराले थे। आँखें बड़ी-बड़ी और स्वप्निल थीं। गले में पन्ने-पुखराज-माणिक और मोतियों की मूल्यवान् मालाएँ लटक रही थीं।

उस सुन्दर युवक के बगल में सटकर वह युवती भी बैठी हुई थी। नारंगी रंग की रेशमी साड़ी और किनखाब की चादर में लिपटी हुई वह किसी नववधू-सी लग रही थी। चेहरे पर लम्बा-सा घूँघट पड़ा था उसके।

महापण्डित के संकेत पर युवती ने अपना दाहिना हाथ चादर के बाहर निकाला। बड़ा ही सुन्दर और कोमल हाथ था वह। गोरी और पतली कलाई में काँच की लाल चूड़ियाँ और रत्नजड़ित सोने का कंगन और जैतून की शाखा की तरह पतली और लम्बी उँगलियों में हीरे-पन्ने की अँगूठियाँ थीं। युवक का हाथ थामकर महापण्डित ने धीरे से युवती के बाहर निकले हुए हाथ पर रख दिया और फिर उस पर गंगाजल, लाल फूल, अक्षत, सुपाड़ी और एक चमकती हुई असर्फी रखकर मंत्र पढ़ा और उसके बाद दोनों को सम्बोधित करते हुए गम्भीर स्वर में कहा--इस पवित्र मंगलमयी पवित्र वेला में देवनदी गंगा के तट पर देवताओं को साक्षी देकर गन्धर्व रीति से मैंने तुम दोनों का विवाह सम्पन्न कराया है। आज इस क्षण से तुम दोनों पति-पत्नी हो। तुम लोगों का जीवन सुखमय और आनन्दमय हो--यही मेरी कामना है। यह सुनकर युवक-युवती दोनों एक साथ उठ खड़े हुए और झुककर महापण्डित के चरणों का स्पर्श किया।

महापण्डितने दोनों के सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'सर्वे भवन्तु सुखिनः···।' और जब आशीर्वाद देकर महापण्डित चले गये तो युवक ने दुलहन का घूंघट धीरे से हटाया और बड़े ही कोमल स्वर में हौले से पुकारा—'लक्ष्मी'! घूंघट के बादल से चाँद-सा मुखड़ा निकल आया। हिरनी जैसी स्वनिल आँखों में काजल की रेखा। माँग में दप्-दप् करता हुआ लाल सिन्दूर। माथे पर लाल सिन्दूर की गोल बिन्दिया। गुलाबी गाल, जवापुष्प की तरह रक्ताभ होंठ और मुख पर बिखरे लावण्य के कण।

उस अपूर्व रूप और उस स्वर्गीय सौन्दर्य को देखकर कुछ क्षण के लिए स्तब्ध रह गया मैं! एक नारी में इतना सारा सौन्दर्य? सहसा विश्वास न कर सका मैं। और जब मैं अग्निशिखा-से जलते उस रूप और सौन्दर्य के रस का मन-ही-मन पान कर रहा था—तभी बिजली की तरह मेरे मस्तिष्क में कौंध-सा पड़ा कुछ और दूसरे ही क्षण अपने-आप से कह उठा मैं—'अरे! यह तो ज्योतिर्मयी है। हाँ, ज्योतिर्मयी ही थी वह। पहचानने में जरा-सी भी भूल नहीं हुई थी मुझसे। कहीं कोई वैषम्य नहीं था। वही रूप, वही रंग, वही सौन्दर्य और वही मादकता! और फिर सब कुछ स्पष्ट हो गया मेरे मानस-पटल पर। वासना और कामना की आग में जल रहे माधवानन्द कापालिक ने मुझे अपनी जो व्यथा-कथा सुनाई थी, उसी का अंश था वह—जिसे मैंने अभी देखा था अतीत के स्याह पटल पर!···तो लक्ष्मी ने ही ज्योतिर्मयी के रूप में जन्म लिया था दो सौ वर्ष पूर्व। और प्रेम व वासना की वेदी पर अपनी बलि देकर अब वह अशरीरी आत्मा के रूप में भटक रही थी पागलों की तरह सूक्ष्म जगत् में।

मैं लक्ष्मी को पुकारना चाहा—मगर तभी मेरे सामने सारा दृश्य एकाएक गायब हो गया और उसी के साथ मेरी चेतना भी लौट आयी। देखा अस्पताल के विस्तर पर पड़ा हूँ मैं। बाद में पता चला कि पूरे तीन दिन के बाद होश आया था मुझको। कहने की आवश्यकता नहीं—उस रहस्यमयी और अविश्वसनीय घटना के बाद मुझमें न जाने कैसा आन्तरिक परिवर्तन होने लगा। उस परिवर्तन का विलक्षण अनुभव तो कर पाता था, लेकिन शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति कर सकने में असमर्थ पाता था अपने-आप को मैं। सचमुच एक विचित्र मानसिकता में जी रहा था मैं उस समय। और उसी अनिर्वचनीय स्थिति में न जाने कैसे और कब समाधि लग गयी मेरी! पता न चला मुझे। पहली बार समाधि का अनुभव हुआ था मेरी आत्मा को।

समाधि और मृत्यु दोनों के अनुभव में कोई वैषम्य नहीं है। भौतिक जगत् में मनुष्य अपने स्थूल शरीर के द्वारा अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का अनुभव करता है। जगत् और आत्मा के बीच इन्द्रियाँ काम किया करती हैं। मगर मैं उस अवस्था में बिना देह के माध्यम से अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप में बोध कर रहा था। जिस वातावरण में बोध कर रहा था, वहाँ मात्र केवल भावना का प्रवाह था, जो अत्यन्त सूक्ष्म और तरल था और जिसके सागर में मानों मैं धीरे-धीरे डूबता जा रहा था। भौतिक जगत् और भौतिक शरीर से भी मेरा कोई सम्बन्ध है और मेरा जीवन भी भौतिक है—इन सबका उस समय मुझको जरा-सा भी ज्ञान नहीं था।

मेरे चारों तरफ के वातावरण में एक सुनहले रंग की पारदर्शक आत्मा फैली हुई थीं। जो बाद में घनीभूत होकर एक स्थान पर गोलाकार पिण्ड के रूप में बदल गयी थी। आग के उस पिण्ड के भीतर एकाएक दृश्य उभरने लगे। पहले तो वे धुंधले थे, पर बाद में बिल्कुल स्पष्ट हो गये। सबसे पहले मैंने देखा—भागीरथी का पूर्वी तट और उस तट पर बसे नवद्वीप को। उसके बाद उभरा नवद्वीप का लम्बा-चौड़ा स्नानघाट। उत्तर से दक्षिण की ओर सीढ़ियों की कतारें चली गयी थीं। वे सीढ़ियाँ काफी चौड़ी थीं। और जहाँ उनका सिलसिला समाप्त होता था, वहाँ से कच्चे-पक्के मकानों की शृंखला शुरू होती थी। जिनके सामने छोटी-बड़ी बहुत-सारी नावें बँधी हुईं थीं।

मैंने देखा—स्नान घाट पर काफी भीड़-भाड़ थी। निश्चय ही उस दिन कोई महत्त्वपूर्ण पर्व रहा होगा। स्नान करने वालों में सबसे अधिक संख्या थी घुटे हुए सिर वाले यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मणों और प्रौढ़ा स्त्रियों की। तरुणी बहुएँ और कुमारी युवतियों की भी संख्या कम नहीं थी। पर्दा-प्रथा जैसी उस समय कोई चीज नहीं थी। यौवन की मादकता से बोझिल देह की शालीनता की रक्षा करने का प्रयास मात्र किया जा रहा था। क्योंकि गीली साड़ियाँ देह से चिपक कर यौवन की मर्यादा की विशेष रक्षा नहीं कर पा रही थीं। उस

समय बंगाली लड़कियों में शारीरिक सौन्दर्य को छिपाकर रखने का संस्कार भी अधिक प्रबल नहीं था। गृहस्थों की युवा कन्याओं में चोली पहनने का अधिक रिवाज नहीं था। कामदेव का रसकलश सदैव उन्मुक्त और स्वतंत्र ही रहता था।

सुनहली आत्मा के उस गोलाकार पिण्ड में भूतकाल के पटल पर अंकित जो दृश्य मैं उस समय देख रहा था—वह नवद्वीप के अतीत का इतिहास था। शक-सम्वत् १४२६ का इतिहास !

उस समय बंगाल में भयानक संकट के बादल छाये हुए थे। राजशक्ति पठानों के हाथों में थी। धर्म और समाज के बंधन कई युगों की अवहेलना के बाद सड़ी हुई रस्सी की तरह टूट रहे थे। देश में अराजकता फैली हुई थी। कोई किसी का शासन नहीं मान रहा था। मृत बौद्धधर्म के शव से निकले हुए तंत्रवाद में शाक्त और शैवमत के मिल जाने से जो बीभत्स वामाचार फैल रहा था, उसी के नशे में चूर बंगाली समाज अधःपतन के मार्ग पर डगमगाते कदमों से बढ़ता जा रहा था।

तंत्र के सहजिया साधना के नाम पर जो बीभत्स और उच्छृंखल अनाचार हो रहा था, उस पर भी कोई रोक-टोक नहीं थी। मना करता भी कौन और किसको ? जो शक्तिशाली थे, वे ही उच्छृंखलता में भी अगुआ थे। स्वाभाविक मानवता की चर्चा ही देश से उठ गयी थी जैसे।

आज से लगभग छः सौ वर्ष पहले संवत् १४२६ के काल में निस्सन्देह बंगाल में वामाचार के नाम पर सहजिया साधना और शाक्त तंत्र-मंत्र के नाम पर भयंकर व्यभिचार, अनाचार, पापाचार आदि फैल रहा था।

उस समय बंगाल के प्रसिद्ध धर्मसमाजी रघुनन्दन स्मार्त ने आचार-विचार को धर्म के प्रगाढ़ बंधन में बांध कर समाज-शुद्धि का संस्कार आरम्भ नहीं किया था। उस समय बंगाल के ही प्रसिद्ध तर्कशास्त्री काणभट्ट मिथिला-विजय करके लौट आये थे। लेकिन नवद्वीप उस समय भी विद्या का केन्द्र नहीं बना था। पश्चिम बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् निमाई पण्डित उस समय नवद्वीप में व्याकरण की पाठशाला चलाते थे। और तरह-तरह का बचपना करते-फिरते थे। उस समय तक बंगाल की भूमि में हरिचरण से प्रवाहित प्रेम की धारा प्रवाहित नहीं हुई थी।

मैंने समाधि की अवस्था में काल के उस पटल पर रघुनन्दन स्मार्त, काण भट्ट और निमाई पण्डित को बिलकुल स्पष्ट रूप से देखा। निमाई पण्डित को तो मैं तुरन्त पहचान गया। वे वही महापण्डित थे, जिन्होंने बजरे पर उन युगल प्रेमियों का गन्धर्व विवाह कराया था।

घाट पर एक ओर नाईयों की कतार बैठी थी। बहुत से भट्टाचार्य और गोसाईं छौर-क्रिया करा रहे थे। घाट के बुर्ज के चबूतरे पर कमर में केवल

गमछा लपेटे अधनंगे बदन वाले पण्डितों का एक दल तेल-मालिश करता हुआ उससे भी अधिक वेग से तर्क कर रहा था।

तेल से चिकने हुए पण्डितों के तर्क, न्यायशाखा की सीमा को लाँघ कर अराजकता के प्रदेश में प्रवेश करने का उपक्रम कर रहे थे। लगभग पच्चीस साल की आयु का एक युवक पास ही खड़ा उन पण्डितों का तर्क-कुतर्क सुनते हुए मुसकरा रहा था। उसके किंचित् रक्ताभ बड़े-बड़े नेत्रों से तीक्ष्ण बुद्धि-पाण्डित्य का अभिमान और कौतुक एक साथ झड़ रहा था।

उसी समय एक युवक टहलता हुआ वहाँ आ गया। उसकी वेश-भूषा किसी धनी और सम्भ्रान्त परिवार जैसी थी। स्नानघाट पर नजर पड़ते ही थमक कर खड़ा हो गया वह। उसने देखा कि गौर वर्ण का एक स्वस्थ सुन्दर युवक एक काने पण्डित से कुछ बातें कर रहा था। उस गौरांग युवक का अपूर्व देह-सौष्ठव देख कर वह मुग्ध हो गया एकबारगी। उसने काफी दुनिया देखी थी। लेकिन ऐसी असाधारण, सुन्दर तेजोदीप्त पुरुषाकृति उसने पहले कभी नहीं देखी थी।

एक मछुए से जो पास ही बैठा जाल बुन रहा था, युवक ने धीरे से पूछा—'यह कौन है ?'

मछुए ने नजर उठाकर कहा—'ये निमाई महापण्डित हैं।'

युवक ने सोचा—महापण्डित ! इतनी कम आयु में महापण्डित ! युवक की अपनी कोई दिलचस्पी पाण्डित्य में नहीं थी। वह तो वणिक् पुत्र था और अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर ही सिंहल, कोचीन, जावा, सुमात्रा सभी देख आया था और ढेर सारा सोना कमाकर नवद्वीप में कुछ दिन निवास करने के विचार से आया था। निवास का उद्देश्य एकमात्र विश्राम था। वह एक बार और निमाई पण्डित की अनिंद्य देहकान्ति पर दृष्टिपात कर सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

उस व्यापारी युवक का नाम था चन्दन कुमार !

वह स्वयं अच्छा-खासा सुन्दर युवक था। आयु यही पच्चीस साल के लगभग थी। वह बुद्धिमान्, वाक्पटु और विजयी था। एक वणिक् पुत्र में जो भी गुण होने चाहिए—वे सभी उसमें थे। पैरों में सिंहली चप्पलें थीं। चम्पई रंग की रेशमी धोती और सिल्क का कुर्ता पहने था वह। बड़े-बड़े घुंघराले बाल कन्धों तक झूल रहे थे। दोनों कानों में हीरे की लौंगें थीं और गले में सोने के तारों में पिरोई हुई हीरे-पन्ने और पुखराज की मालाएँ।

० ० ०

अब मेरे सामने नवद्वीप नगर का दृश्य था। हर मार्ग पर नाटचशाला, पाठशाला, देवमन्दिर, हर मकान की चोटी पर धातु के चमचमाते कलश, हर एक दरवाजे पर नक्काशीदार किवाड़। सजे-धजे सुन्दर बाजार। मार्ग

सँकरे अवश्य थे मगर उससे नगर की शोभा और अधिक घनीभूत हो उठी थी। मुख्य मार्ग पर यातायात काफी व्यस्त था। जिसने नगर को और अधिक सजीव बना दिया था।

मैंने देखा चन्दन कुमार धीरे-धीरे चारों तरफ देखता हुआ उसी मुख्य मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। मगर कुछ दूर जाने के बाद अचानक वह रुक गया और मंत्रमुग्ध-सा एक ओर देखने लगा। चन्दन कुमार व्यापारी था। धन भी काफी कमाया था। खूब लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी की थीं। मगर बेचारे ने विद्यापति का काव्य नहीं पढ़ा था। इसलिए वह मुँह बाये खड़ा रह गया पाषाणवत्! सुबह न जाने किसका मुँह देखकर उठा था कि एक अपूर्व सुन्दर चेहरा उसे नजर आ गया। जिसे देखकर उसका माथा चकरा गया। वह और भी मंत्रमुग्ध हो गया।

जिसे देखकर चन्दन कुमार का सिर चकरा गया था, और मंत्रमुग्ध हो उठा था—वह एक युवती थी! शायद स्नान करने के लिए घाट की ओर जा रही थी वह युवती। वह पूर्ण यौवना षोडशी थी। उसके सौन्दर्य का वर्णन करना कठिन था। उस युवती के प्रत्येक पदक्षेप के साथ दर्शक का मन झूम उठता था। जैसे दर्शकों के हृदय पर एक-एक क़दम रखती हुई वह बढ़ रही थी। उसकी मदिरा-भरे नयनों की कटाक्ष से मन में मधुर मादकता उमड़ उठती थी। लेकिन इतने रूप की स्वामिनी होते हुए भी युवती का चाँद जैसा चेहरा कुम्हलाया हुआ था। जैसे काले मेघ की छाया पड़ रही हो उस पर। वह सिर नीचा किये और आँखें झुकाये धीरे-धीरे चल रही थी। उसके काले घुँघराले बाल खुलकर पीठ पर बिखरे हुए थे। वह चौड़े लाल पाढ़ की रेशमी साड़ी पहने हुए थी। शरीर पर कोई आभूषण नहीं था। सिर्फ दोनों हाथों में शंख की एक-एक चूड़ीभर थी। युवती के साथ एक प्रौढ़ स्त्री भी थी। वह देखने में बिलकुल चरित्र-भ्रष्ट लग रही थी। उसका बदन दोहरा था। चेहरा गोल था। उसकी कलह-प्रिय बड़ी-बड़ी आँखें जैसे हर समय घूर ही रही थीं। चन्दन कुमार मुँह बाये रास्ते में खड़ा हो गया। युवती उसके बगल से निकल गयी और बगल से निकलते समय उसने एक बार नजर उठाकर चन्दन कुमार की ओर देखा और फिर तुरन्त सिर झुका लिया। प्रौढ़ा स्त्री ने कठोर दृष्टि से चन्दन कुमार की ओर देखा और उसकी आत्म-विस्मृत विह्वलता पर शायद उसने कुछ कहना चाहा। लेकिन कुछ न कहकर अपनी देह से व्यभिचारिणी स्त्रियों जैसी एक मुद्रा प्रकट की। फिर वह युवती के पीछे-पीछे चली गयी।

चन्दन कुमार वैसे ही लौट पड़ा। नगर घूमने की बात ही नहीं रही अब उसके मन में। युवती की ओर अपलक नीहारता रहा वह। युवती ने भी कई कदम आगे बढ़कर एक बार पीछे मुड़कर देखा। चन्दन कुमार का सर्वनाश होने में जो बाकी था—वह भी हो गया। वह युवती के पीछे-पीछे चलता

गया। जरा देर बाद वह घाट के सामने पहुँच गया। वहाँ चन्दन कुमार को फिर निमाई पण्डित दिखायी पड़े। वह शायद नहाकर घर लौट रहे थे। भींगा गमछा लपेटे थे। चन्दन कुमार ने लक्ष्य किया कि उस युवती पर नजर पड़ते ही निमाई पण्डित के चेहरे पर एक क्षुब्ध करुणा का भाव जरा देर के लिए प्रकट हुआ और फिर मिट गया। वह दूसरी तरफ मुँह फेर कर तेज कदमों से चल पड़े। उन दोनों स्त्रियों ने घाट पर जाकर स्नान किया और जब वे लौटने लगीं तो चन्दन कुमार फिर उनके पीछे हो लिया। सचमुच उसका दिल बेकाबू हो गया था। वह युवती के बारे में सब कुछ जान-समझ लेने के लिए जैसे व्याकुल था। रास्ते पर कई मोड़ पार कर लेने के बाद युवती एक गली में घुसी। गली में कुछ दूर आगे बढ़कर युवती एक छोटे-से इकमंजिले मकान की सीढ़ी चढ़कर अन्दर चली गयी। मकान पक्का होते हुए भी बेहद पुराना और श्रीहीन था। मकान के सामने आकर चन्दन कुमार ने देखा एक वृद्धा स्त्री सिर पर हाथ रखे चुपचाप बैठा कुछ सोच रही थी।

चन्दन कुमार के सामने विकट समस्या थी। उसने युवती का किसी खास मतलब से पीछा नहीं किया था। वह सौन्दर्य के आकर्षण की अदृश्य डोर से खिंचकर चला आया था। लेकिन अब क्या करे वह ? क्या सिर्फ युवती का मकान देखकर वापस लौट जाय ? यही सब सोंचता हुआ उसने मकान के सामने कई बार चक्कर लगाया और फिर वृद्धा के सामने कई बार चक्कर लगाया और फिर वृद्धा के सामने जाकर खड़ा हो गया। वृद्धा की तन्द्रा भंग हो गयी जैसे ! उसने आँखें उठाकर देखा। कोई छैल-छबीला होता तो बुढ़िया अवश्य झाड़ देती उसे। पर उस कान्तिवान् सुदर्शन सुन्दर युवक की विदेशियों जैसी वेश-भूषा देखकर वह कुछ प्रभावित हुई। धीरे से बोली—'क्या बात है बेटा ? आओ बैठो'। चन्दन कुमार तो यही चाहता था। तुरन्त बुढ़िया के बगल में जाकर बैठ गया वह।

'क्या नाम है तुम्हारा'—बुढ़िया ने प्रेम से पूछा।

'चन्दन कुमार !'

'बड़ा सुन्दर नाम है तुम्हारा। मगर बेटा, तुम्हें तो पहले मैंने यहाँ देखा नहीं। कहाँ के रहने वाले हो ?

'वाराणसी का'—चन्दन कुमार ने कहा और फिर अपना पूरा परिचय दिया बुढ़िया को।

बुढ़िया बेहद प्रसन्न होकर बोली—अच्छा; तब तो तुम अपनी ही बिरादरी के हो। कार्तिक की पूर्णिमा जैसा तेज है तुम्हारे चाँद जैसे मुखड़े पर। जीते रहो बेटा। तुम्हारी शादी कहाँ हुई है बेटा।

'अभी शादी नहीं हुई है नानी'—चन्दन कुमार ने जबाब दिया। फिर

बातों के सिलसिले में उसने बतलाया—व्यापार के दो साल बाद वाराणसी लौट रहा हूँ। सोचा, नवद्वीप में रुक कर दो-चार दिन आराम कर लूं!

बुढ़िया बोली—अच्छा किया बेटा। इसी बहाने तुम्हारे चाँद जैसे मुखड़े को भी देख लिया मैंने। फिर उसने एक लम्बी साँस ली। उसके मन में हाय-हाय मच गयी। काश कि सम्भव हो पाता किसी प्रकार। अचानक चन्दन कुमार पूछ बैठा—नानी और कोई नहीं है क्या तुम्हारे?

सिर्फ एक पोती है बेटा। पर उसका भी भाग्य अच्छा नहीं है—कहकर बुढ़िया ने आँचल से आँसू पोंछ लिये।

'पोती' चन्दन कुमार चौंक पड़ा। तो अभी-अभी जिस युवती को देखा था उसने, वह बुढ़िया की पोती ही थी।

बुढ़िया निराश और उदास स्वर में आगे बोली—उसके दुर्भाग्य की लम्बी कहानी है बेटा। किसे दोष दूँ और किसको सुनाऊँ? उसका रूप और सौन्दर्य ही उसके दुर्भाग्य और दोष का कारण बन गया है। समझ में नहीं आता कि क्या करूँ?

चन्दन कुमार का मन उत्तेजना और कौतूहल से भर उठा। बोला—'क्या बात है नानी? साफ-साफ बताओ न!' बुड़िया रुआँसी होकर बोली—क्या करोगे बेटा मेरी दर्द में डूबी शर्मनाक कहानी सुनकर! तुम भी कुछ न कर पाओगे। बेकार में दुःखी होओगे।

'क्यों न कर पाऊँगा कुछ। तुम बतलाओ तो सही नानी'।

'नहीं बेटा! कोई कुछ नहीं कर सकता···मुझे अपनी पोती की सोने जैसी मूरत अगली अमावास्या की रात में सौंप देनी पड़ेगी उस चाण्डाल के हाथों में'—यह कहकर बुढ़िया मुँह से आँचल सटा कर रो पड़ी।

यह देखकर चन्दन कुमार से रहा न गया। बुढ़िया का हाथ थाम कर बोला—बतलाओ तो सही! क्या कष्ट है तुम्हारी पोती को?

बुढ़िया कुछ बोल पाती कि इससे पहले ही उसके रोने की आवाज सुनकर वह अधेड़ औरत बाहर निकल आयी और उसने कर्कश स्वर में पूछा—रो क्यों रही है बुढ़िया? क्या बात है?

बुढ़िया ने चालाकी से काम लिया। झटपट आँखें पोंछ कर बोली—कुछ नहीं, चम्पा। यह मेरा नाती है। काफी दिनों बाद देखा है, इसीलिये—

यह सुनकर चम्पा ने चन्दन कुमार की ओर घूर कर देखा और फिर कहा—तुमको तो आज रास्ते में देखा था न!

'चन्दन कुमार साफ झूठ बोल गया। हकलाते हुए बोला—'कहाँ? नहीं तो!···'

चम्पा ने तीखी नजरों से एक बार फिर उसका निरीक्षण किया और

फिर बदमाश औरतों की तरह जरा-सा हँसकर बोली—शायद मुझसे ही ही गलती हो गयी होगी।

चम्पा के चले जाने के बाद चन्दन कुमार ने पूछा—यह कौन है नानी ?

राक्षसी है बेटा। डर लग रहा था कि कहीं मार न बैठे मुझे। तुम जाओ। अब मत ठहरो यहाँ ! अगर तुम अपना भला चाहते हो तो तुरन्त चले जाओ यहाँ से।

'क्यों क्या बात है ?'

अगर इस राक्षसी ने कहीं जाकर माधवानन्द से कुछ कह दिया तो भयंकर विपत्ति में पड़ जाओगे तुम। मेरी भी दुर्दशा करेगा वह दानव।

बुढ़िया के मुँह से माधवानन्द का नाम सुनकर एकबारगी चौंक पड़ा मैं। कहीं, वही माधवानन्द तो नहीं है जिसने अपने विफल प्रेम और विफल वासना की कथा सुनाई थी मुझे उस निबिड रात्रि में !···हाँ ! वही माधवानन्द था।

चन्दन कुमार हँसकर बोला—वाह नानी ! नाती को इस तरह भगाया जाता है। एक पान तक नहीं खिलाओगी अपने नाती को। कैसी नानी हो तुम ?

इस बार हँस पड़ी बुढ़िया। चन्दन कुमार की जितनी ही बातें सुनती थी वह, उतना ही स्नेह से भींग उठता था उसका मन। जरा-सी आशा हुई उसे ! शायद मनोकामना पूरी हो जाय उसकी। निराशा के घनघोर अन्धकार में इस युवक को भेजकर हो सकता है भगवान् ने उस पर कृपा की हो। फिर बुढ़िया ने एक निश्चय कर लिया मन में। बोली—पान की कीमत दे सकोगे बेटा ?

'कितनी कीमत है पान की ?'

जीवन, प्राण, मन और यौवन—सब देने पर भी पान सस्ता ही है।

चन्दन कुमार को आश्चर्य हुआ। बोला—पहले पान तो खिलाओ नानी।

लो अभी खिलाती हूँ—बुढ़िया बोली। फिर उसने आवाज दी—लक्ष्मी ! इधर तो आ बेटी !

लक्ष्मी नाम सुनते ही बिजली का स्पर्श हो गया मुझे जैसे। और उसी के साथ पिछली बार मूर्च्छा की अवस्था में देखा गया पाणिग्रहण का सारा दृश्य घूम गया एकबारगी मेरे सामने। चलचित्र की भाँति जो अभिनय चल रहा था, वह ज्योतिर्मयी के पूर्व जन्म से सम्बन्धित था—यह समझते देर न लगी मुझको। दादी की पुकार सुनकर लक्ष्मी दरवाजे पर आकर खड़ी हो गयी। चन्दन कुमार को देखकर एकबारगी चौंक कर अपने सीने पर हाथ रख लिया उसने। फिर थोड़ा किवाड़ की ओट में चली गयी। चन्दन कुमार उसी ओर देख रहा था। उसने देखा कि लक्ष्मी के कमल जैसे गालों पर किसी ने कच्चा सिन्दूर बिखरा दिया। फिर लाज से आँखें झुक गयीं उसकी।

चन्दन कुमार समझ गया कि लक्ष्मी उसे पहचान गयी है। रास्ते की उस मौन मुलाकात को भूली नहीं थी वह।

लक्ष्मी ने धीरे से सिर उठाया और फिर आहिस्ता-आहिस्ता हट गयी वह चन्दन कुमार की प्यासी आँखों के सामने से। मगर चन्दन कुमार देखता रहा काफी देर तक दरवाजे की ओर। फिर कुछ देर बाद पान का बीड़ा लेकर आयी लक्ष्मी ! धीरे से अपना हाथ आगे बढ़ा कर चन्दन कुमार ने पान का बीड़ा ले लिया। पान लेते समय लक्ष्मी की उँगलियों का स्पर्श हो गया उसे। झनझना उठा मन-प्राण उसका।

पान देकर तुरन्त भीतर चली गयी लक्ष्मी, फिर रुकी नहीं। और न तो देखा फिर चन्दन कुमार की ओर उसने। 'सचमुच पान बहुत कीमती है नानी'—पान का बीड़ा मुँह में रखते हुए बुढ़िया की ओर देखकर चन्दन कुमार बोला।

'पान की नहीं, पान खिलाने वाली की कीमत है बेटा'—बुढ़िया ने हँसकर कहा।

'मगर नानी ! तुमने यह नहीं बतलाया कि लक्ष्मी पर कौन-सी विपत्ति है ? उसकी अब तक शादी भी क्यों नहीं हुई'। बुढ़िया कुछ बोलती कि इसके पहले भीतर से आवाज आयी—'क्या करोगे यह सब जान समझ कर ?' भीतर वाले कमरे में गालों पर हाथ धरे लक्ष्मी गुमसुम बैठी सोच रही थी—इस अपरिचित युवक को इतना कुतूहल क्यों है ? इसे अपनी कहानी बताने से लाभ ही क्या है ? क्या करेगा सुनकर मेरी कहानी !

० ० ०

दिन का उजाला साँझ की स्याही में बदल चुका था अब तक। बुढ़िया ने भोजन करके जाने का आग्रह किया चन्दन कुमार से। जिसे टाल न सका वह। लक्ष्मी के कोमल हाथों से पान खाने को मिला था और अब उन्हीं हाथों से भोजन करने का सौभाग्य मिल रहा था उसे।

भोजन काफी स्वादिष्ट बना था। खाते समय सोच रहा था चन्दन कुमार—काश, हमेशा इसी प्रकार भोजन मिलता लक्ष्मी के हाथों से पका हुआ। और हमेशा खिलाती इसी तरह प्रेम से वह···। यह सोचते-सोचते मधुर कल्पना के अथाह सागर में डूब गया उसका अवश मन।

थोड़ी देर के लिए जान-बूझकर बुढ़िया वहाँ से हट गयी। चन्दन कुमार को अवसर मिल गया। भोजन छोड़कर उठ खड़ा हुआ वह। और फिर धीरे-धीरे कदम उठाता हुआ भीतर कमरे में चला गया वह। और धीरे से पुकारा—लक्ष्मी।

चन्दन कुमार को सामने खड़ा देखकर लक्ष्मी का चेहरा लाल हो गया। चन्दन कुमार कुछ बोलता या कुछ कहता कि उसके पहले ही संकोच भरे अधीर स्वर से प्रश्न कर बैठी लक्ष्मी—'कौन हो तुम ? कहाँ से आये हो ? क्या करोगे मेरी व्यथा भरी कथा सुनकर ?'

क्षणभर के लिए हत् वाक् हो गया चन्दन कुमार। फिर उसका दोनों हाथ थाम कर और उसके चेहरे पर दृष्टि गड़ा कर शान्त और संयत स्वर में उसने कहा—'लक्ष्मी ! मैं तुम्हारा स्वजातीय हूँ। मैं तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ कि मनुष्य जो कुछ भी कर सकता है—वह सब करूँगा मैं तुम्हारे लिए। मैं नहीं जानता कि तुम पर क्या विपत्ति है और कौन-सा कष्ट है तुम्हें—लेकिन फिर भी अगर मैं तुम्हारी सहायता करना चाहूँ तो क्या उसे स्वीकार नहीं करोगी तुम ? बोलो लक्ष्मी ! कुछ तो बोलो।

लक्ष्मी का चेहरा सफेद हो गया क्षणभर के लिए। उसकी सूनी आँखों में परित्राण की व्याकुलता भरी आकांक्षा और आशा की किरणें फूट पड़ीं जैसे। काफी देर तक उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। फिर सधे हुए स्वर में मगर भींगी वाणी में उसने कहा—'क्यों झूठी आशा दिलाते हो तुम मुझे...?' और फिर दाँतों से होंठ दबाकर सिसक पड़ी लक्ष्मी। चन्दन कुमार व्याकुल हो उठा। वह कुछ कहने ही जा रहा था कि तभी बाधा पड़ी।

गली में घोड़े की टापों की आवाज सुनाई दी। लक्ष्मी किसी तरह अपनी चीख दबाकर भागकर दूसरे कमरे में घुस गयी और कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया भीतर से उसने।

प्रकरण : नौ

कापालिक माधवानन्द

दूसरे क्षण मकान के सामने आकर एक घुड़सवार ने घोड़ा रोका। घुड़सवार लाल रंग का चोंगा और काले रंग की लुंगी पहने हुए था। कमर में लम्बी तलवार लटक रही थी। सिर सफाचट था। मूँछ-दाढ़ी भी सफाचट थी। चौड़े सपाट मस्तक पर लाल सिन्दूर का बड़ा-सा गोल टीका लगा था। आँखें चढ़ी हुईं और सुर्ख थीं। निश्चय ही उसने आकण्ठ मदिरा पी रखी थी। उमर पचास साल से ऊपर ही थी उसकी। मगर शरीर पुष्ट और ताकतवर था। गले में रुद्राक्ष की माला। नर-मुण्ड की भी माला पहन रखी थी उसने जो उसकी चौड़ी छाती पर काफी नीचे तक झूल रही थी। उस भयानक आकृति वाले व्यक्ति के चेहरे पर ही जीवनव्यापी दुष्कर्म और पाप की रेखाएँ अंकित थीं। ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं था, पाप नहीं था और कोई ऐसा जघन्य कार्य नहीं था—जिसे उसने नहीं किया है और न कर सकता हो।

वह व्यक्ति एक ही छलांग में घोड़े से उतर कर दालान में चढ़ गया। सामने चन्दन कुमार हतप्रभ-सा खड़ा था। लाल-लाल आँखों से सिर से पैर तक उसे निहार कर भयंकर और कर्कश स्वर में उस व्यक्ति ने पूछा—'कौन है तू ?'

उस दुर्धर्ष व्यक्ति के अचानक आ जाने से चन्दन कुमार की याचना चौपट हो गयी थी। इसलिए वह भीतर-ही-भीतर क्रोध से उबल रहा था। मगर उसने अपने क्रोध को प्रकट नहीं किया। वह सोचने लगा कि इस स्थिति में क्या किया जाय ?

'बोल कौन हूँ तू' ? दुबारा फिर ककर्श स्वर में पूछा उस व्यक्ति ने। और बिलकुल करीब आकर खड़ा हो गया वह चन्दन कुमार के।

'तुम क्या करोगे यह जानकर'—अपने-आप पर नियन्त्रण रखते हुए चन्दन कुमार ने जवाब दिया। वह व्यक्ति एक भद्दी-सी गाली देकर बोला—'क्या चाहता है तू ! बोल ! जल्दी बोल !...' चन्दन कुमार और धीरज न रख सका। उसका युवा खून खौल उठा और जवाब में उस व्यक्ति की नाक पर वज्र जैसा एक घूँसा जमाकर बोला वह—'यह चाहता हूँ'। इस निरीह से युवक से उस व्यक्ति को इतने बड़े दुस्साहस की आशा नहीं थी। वह चकरा-कर जमीन पर गिर पड़ा औंधे मुँह। मगर दूसरे ही क्षण जंगली भैंसे की तरह हुंकार कर उठ खड़ा हुआ वह। चन्दन कुमार ने देखा कि अब वहाँ

रुकना खतरे से खाली नहीं है। इसलिए वह लपक कर दौड़ा और घोड़े की पीठ पर जा बैठा और भाग निकला वहाँ से।

वह व्यक्ति गरज कर बोला—भाग कर जायेगा कहाँ ? तू नहीं जानता कि मैं कौन हूँ। मेरा नाम माधवानन्द कापालिक है। मेरी प्यासी तलवार तेरे उष्ण रक्त से अपनी प्यास बुझाकर रहेगी। हाँ! वह माधवानन्द कापालिक ही था। उसे भी पहचानने में भूल नहीं हुई मुझसे।

कापालिक माधवानन्द की भयंकर तामसिक साधना, पैशाचिक शक्ति और क्रूर पाशविक वृत्ति से पूरा नवद्वीप त्रस्त और भयभीत था। न जाने कितनी नवयुवतियों, कुमारी अक्षतयौवना कन्याओं और नव-परिणीता बधुओं का पैशाचिक तंत्र साधना और पैशाचिक सिद्धियों की प्राप्ति के नाम पर अपनी वासना की पूर्ति का साधन बनाया था उसने अब तक।

कोई लुक-छिप कर पाप करता है। लेकिन कापालिक माधवानन्द जैसे लोग समाज और धर्म के प्रति विद्रोह करके पाशविक बल से प्रकट रूप में पाप करते हैं—उन्हें रमणियों का सर्वनाश करके ही सन्तोष नहीं होता। वे अपने पापाचार के साथ पाखण्ड का मिश्रण कर उसमें एक नवीन रस और विलासिता का संचार करने का प्रयास करते हैं।

माधवानन्द कापालिक का गुरु था कापालिक दिव्यानन्द। वह कापालिक सम्प्रदाय का अपने समय का बड़ा भारी और दुर्धर्ष साधक था—इसमें सन्देह नहीं। इक्यावन शिशुओं की नर-बलि देकर श्मशान काली की तमोगुणी सिद्धि प्राप्त की थी उसने। शासन और समाज के अलावा हर वर्ग के लोग उसकी सिद्धि, उसके पाखण्ड और उसके आडम्बर के वशीभूत थे। वामाचार, कौलाचार आदि तांत्रिक साधनाओं के नाम पर बंगाल से जितना व्यभिचार, अत्याचार और पापाचार उस पाखण्डी ने फैलाया, उतना अन्य किसी ने नहीं। उसके आदेशों का पालन न करने का परिणाम था मृत्यु! किसी भी वर्ग और किसी भी जाति की कन्या को युवती होते ही उसके अनुचर उठा ले जाते थे। विरोध करने का साहस कोई न करता। फिर पूरी-पूरी रात साधना के नाम पर उस अस्पर्शीय अक्षत नवयौवना कुमारी कन्या के साथ कापालिक दिव्यानन्द अपनी वासना की पूर्ति करता। अपने प्रिय शिष्य को कापालिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित तंत्र-दीक्षा के साथ-साथ नवयौवना कुमारी कन्याओं और नव-परिणीता कुलवधुओं के जीवन को इस प्रकार नष्ट करने की भी दीक्षा दी उस नराधम साधक ने।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि ऐसे पाखण्डी साधकों के कारण ही सभी मार्ग की तांत्रिक साधना समय-समय पर उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखी गयी। खैर!

तांत्रिक साधना के नाम पर सबसे पहले कापालिक माधवानन्द की वासना-पूर्ति का साधन बनी चम्पा। हाँ! चम्पा! चम्पाकली। नवद्वीप के जमींदार

बकुलराय चौधरी की एकमात्र युवती कन्या चम्पाकली। सोने जैसा रंग। यौवन से भरपूर देह। देवकन्याओं को भी मात कर देने वाला रूप और कमनीय सौन्दर्य। सारा शरीर जैसे साँचें में ढला था चम्पाकली का। मानों संगमरमर की तराशी हुई कोई मूर्ति हो। उसकी कजरारी आँखें यौवन के मद से भरी हुई थी। बातें करते समय जब वह भोलेपन से मुस्कराती तो उसके गालों पर गुलाबी इस तरह झिलमिला उठती जैसे सरोवर के जल पर साँझ के समय डूबते हुए सूरज की लालिमा। वह हँसती तो उसके दाँत मोती की तरह उठते और चेहरा शरद पूर्णिमा के चाँद की तरह दमक उठता।

पहल ही नजर में अपना आपा खो बैठा कापालिक माधवानन्द और उसी रात चम्पाकली पहुँचा दी गयी उसके पास ! उस रात खूब छक कर उसके अक्षत यौवन के रस का पान किया कापालिक माधवानन्द ने ! फिर लगातार पूरे दस वर्षों तक अपनी अदम्य वासना का खेल खेलता रहा वह उसके साथ और जब अत्यधिक मदिरापान और सम्भोग क्रीड़ा से उसका शरीर जर्जर हो गया और वासना का वेग शिथिल पड़ गया तो माधवानन्द ने उसे दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकाल कर बाहर फेंक दिया। मगर चम्पाकली प्रौढ़ावस्था में अब जाती कहाँ ! उसके लिए तो अब घर-परिवार और समाज के सारे दरवाजे, सारे द्वार और सारे मार्ग बन्द हो चुके थे। फिर एक दुर्धर्ष कापालिक की भैरवी को स्वीकार करने का दुस्साहस भी भला कौन करता उस जमाने में। न जाने क्या सोच-समझकर फिर अपना लिया माधवानन्द ने चम्पाकली को—मगर भैरवी के रूप में नहीं, बल्कि प्रधान परिचारिका के रूप में। माधवानन्द की वासना की बलिवेदी पर उत्सर्ग हुई युवतियों की देखभाल करना, उन पर नियन्त्रण रखना और कहीं वे भाग न जायें, इसका ख्याल रखना—बस अब यही काम था चम्पाकली का।

० ० ०

चन्दन कुमार के भाग जाने के बाद माधवानन्द लक्ष्मी का बन्द दरवाजा बुरी तरह पीटने लगा। मगर लक्ष्मी ने दरवाजा नहीं खोला। वह जानती थी कि उसका क्या परिणाम होगा ? तभी दुर्भाग्यवश बुढ़िया आ गयी वहाँ।

माधवानन्द ने दरवाजा पीटना बन्द कर बुढ़िया का झोंटा पकड़ लिया और उसे घसीटते हुए दूसरे कमरे में ले गया। और वहाँ पटक कर उसकी छाती पर चढ़ बैठा वह और बोला—'बोल हरामजादी, कौन था वह बदमाश छोकरा ?'

भय और आतंक से बुढ़िया की जान सूख गयी थी। सर्वनाश सामने देख कर पण्डितों ने आधे का त्याग करने का विधान बतलाया है। उसी के अनुसार बुढ़िया ने आधी बात छिपाकर यानि असली बात दबाकर चन्दन कुमार का परिचय माधवानन्द को दे दिया।

चम्पाकली ही माधवानन्द को सूचित करने गयी थी। बुढ़िया के आने के कुछ ही देर बाद वह भी आ गयी वहाँ। चम्पाकली ने जो कुछ माधवानन्द को बतलाया था—उससे बुढ़िया की बातों की पुष्टि हो गयी थी! इसलिए उसने छोड़ दिया बुढ़िया को। फिर इधर-उधर ताक पर माधवानन्द ने कड़क कर बुढ़िया से पूछा—'लक्ष्मी कहाँ है'? बुढ़िया काँपते स्वर में बोली—'अपने कमरे में'। माधवानन्द को जब विश्वास हो गया तो उसने चम्पाकली को आदेश दिया कि लक्ष्मी पर पूरी नजर रखे और अमावास्या की महानिशा में उसे उपस्थित करे साधनामण्डप में।

व्यभिचारिणी स्त्रियों की तरह आँखें नचाकर चम्पाकली ने कहा—ठीक है। इन्तजार करना। फिर हँस पड़ी वह।

जब माधवानन्द बाहर निकला तो एक बार सोचा कि उसी रात लक्ष्मी के अक्षत यौवन के रस का पान कर ले—फिर उसने सोचा कि इतने सालों से वह जो चरम विलास का आयोजन कर रहा था, वह बेकार हो जायेगा। अतः इससे बेहतर यही होगा कि पहले उस दुस्साहसी युवक को रास्ते से हटा दिया जाय, जिसने उसका इतना घोर अपमान किया है। यह भी तो एक प्रकार की विलासिता ही थी।

० ० ०

उस रात बेचैन रहा चन्दन कुमार। दूसरे दिन भी अशान्त और उद्विग्न रहा वह। रात हुई। अपने-आप को रोक न पाया वह। लक्ष्मी से मिलने के लिए व्याकुल हो उठी उसकी आत्मा। रात का पहला प्रहर गुजर चुका था। रास्ते सुनसान हो गये थे। धीरे-धीरे चल कर गली में घुसा वह। चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा था। और जब मकान के सामने पहुँचा तो देखा उसने कि दरवाजा आधा खुला हुआ था। उसने धीरे से पूरा दरवाजा खोला और भीतर चला गया। मकान के भीतर श्मशान जैसी खामोशी छायी हुई थी। वह कुछ सोचे-समझे कि उसके पहले ही उस गहरी खामोशी में बिलकुल मद्धिम स्वर सुनाई पड़ा—'बेटा! तुम!' वह बुढ़िया का स्वर था। वह जानती थी कि चन्दन कुमार अवश्य आयेगा। इसीलिए रात में दरवाजा खोलकर इन्तजार कर रही थी वह।

'हाँ! नानी! मैं चन्दन कुमार'।

बुढ़िया अँधेरे में चन्दन कुमार का हाथ पकड़कर कमरे में ले गयी। चम्पाकली देशी ठर्रा पीकर बेहोश पड़ी सो रही थी आँगन में। उसे कुछ भी मालूम नहीं हुआ। चन्दन कुमार को कमरे में बिठाकर बुढ़िया ने उसके उस दिन चले जाने के बाद की सारी बातें पहले उसे बतलायी और फिर अवरुद्ध कण्ठ से बोली—'बेटा! तुम उद्धार करोगे लक्ष्मी का'।

'करूँगा नानी! प्राण-प्रण से चेष्टा करूँगा'।

'ठीक है। तुम जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी लक्ष्मी को लेकर भाग जाओ नवद्वीप से। करोगे ऐसा न ?'

'करूँगा नानी ! जान हथेली पर रखकर करूँगा। आगे बोलो'।

बुढ़िया धीमे स्वर में आगे बोली—तुम भी जवान हो और लक्ष्मी भी युवती है। तुम उसे भगाकर ले जाओगे। फिर··· ।

चन्दन कुमार जिज्ञासा के भाव से देखता रहा !

'फिर उससे शादी कर लेना विधि-विधान से बेटा। कर लोगे न बेटा' !

यह सुनकर चन्दन कुमार का चेहरा दमक उठा। अपनी प्रसन्नता को दबाने की चेष्टा करते हुए बोला—'जरूर करूँगा। इसके लिए तो हर समय और हर पल तैयार हूँ मैं'।

'जीते रहो बेटा' ! बुढ़िया ने गद-गद स्वर में आर्शीवाद दिया।

चन्दन कुमार थोड़ा चुप रहा। फिर बोला—नानी तुमने मुझे आर्शीवाद तो दे दिया—मगर लक्ष्मी के पीछे माधवानन्द इस प्रकार क्यों पड़ा है ? क्या चाहता है वह ? यह तुमने नहीं बतलाया मुझे।

'उस समय लक्ष्मी सिर्फ दस साल की थी' बुढ़िया ने कहना शुरू किया—एक दिन बाहर दरवाजे पर खेल रही थी वह। उसी समय घोड़े पर बैठा हुआ माधवानन्द उधर से गुजरा। उसकी कलुषित नजर लक्ष्मी पर पड़ी। घोड़े से उतर कर उसने लक्ष्मी को अपने पास बुलाया। वह सहमी-सहमी-सी जाकर खड़ी हो गयी उस राक्षस के सामने। उसने लक्ष्मी की ठोढ़ी उठाकर उसका चेहरा देखा और फिर घर में घुसकर उसका परिचय पूछा।

मैंने डरते-डरते लक्ष्मी का परिचय दे दिया उस पापी को। सुनकर आदेश भरे स्वर उसने कहा—इसका विवाह नहीं होगा। इसे तांत्रिक साधना भूमि में अर्पित किया जायेगा। सोलह वर्ष तक यह कुँवारी रहगी। और फिर मैं इसे आकर अपने साथ स्वयं ले जाऊँगा। इतनी सुन्दर कन्या का जन्म तांत्रिक साधना में नियोजित करने के लिए हुआ है। मैं छः वर्ष तक प्रतीक्षा करूँगा। समझी बुढ़िया।

० ० ०

घर में रोना-पीटना मच गया—माधवानन्द का आदेश सुनकर। तांत्रिक साधना का मतलब सभी समझते थे। अपनी भैरवी बनाकर वासनापूर्ति कर लेने से बाद माधवानन्द ने कितनी कुमारी कन्याओं का सर्वस्व नाश किया था—यह भी सभी लोग जानते थे। भैरवी के आसन से परित्यक्त होने के बाद उन लड़कियों के लिए घर-परिवार और समाज का दरवाजा हमेशा के लिए बन्द हो जाता था। उन्हें भ्रष्ट समझा जाता था और ऐसी भ्रष्ट और परित्यक्ता कुमारियों को भला कौन अपनाता ? कौन उनसे शादी करता ?

ऐसी विषम परिस्थिति में वे या तो आत्महत्या कर लेती थीं या फिर किसी विदेशी व्यापारी के साथ उसकी रखैल बन कर चली जाती थीं।

नवद्वीप का वणिक् समाज माधवानन्द के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में असमर्थ था। इसलिए उल्टे लक्ष्मी को जाति-बिरादरी से बाहर कर दिया। लक्ष्मी के माता-पिता इस महा आघात को सहन न कर सके। और एक दिन एक साथ दोनों ने विषपान कर आत्महत्या कर ली। थोड़ा थमकर बुढ़िया आगे बोली—मैं लक्ष्मी को लेकर कहीं भाग न जाऊँ, इसलिए माधवानन्द ने चम्पाकली को निगरानी करने के लिए यहाँ रख छोड़ा है। पाँच साल इसी तरह कट गये। और इस लम्बे अर्से में बराबर हर क्षण मेरे और लक्ष्मी के सिर पर नंगी तलवार लटकती रही। कल जाते समय माधवानन्द चम्पाकली को आदेश दे गया है कि लक्ष्मी को वह अमावास्या की रात्रि में साधना में उपस्थित करे। चम्पाकली उसके आदेश का पालन अवश्य करेगी। और चम्पाकली के आदेश का पालन करना पड़ेगा लक्ष्मी को।

'आदेश क्या होगा' ?

बुढ़िया बोली—उसके आदेश के अनुसार पहले गंगा-स्नान करना होगा। लाल रेशमी साड़ी पहननी पड़ेगी। मस्तक पर लाल सिन्दूर का टीका लगाना होगा। गले में जवापुष्प की माला पहननी होगी। और इतना ही नहीं बेटा ! उसे आकण्ठ मदिरा पान भी करना होगा। और फिर उसके बाद सर्वस्व नाश हो जायेगा लक्ष्मी का।

० ० ०

यह कथा सुनकर चन्दन कुमार के सीने में आग-सी धधकने लगी। दाँतों से ओंठ चबाकर बोला—नानी कल चतुर्दशी है और परसों अमावास्या ! मैं कल ही शादी करूँगा लक्ष्मी से।

बुढ़िया गद्गद हो उठी। बोली—बेटा ! मैं क्या कर सकती हूँ ? तुम लक्ष्मी का उद्धार कर सको तो कर लो। तुम्हारे अलावा अब लक्ष्मी का कोई नहीं है इस संसार में। नानी तुम चिन्ता मत करो। मैं कल ही शादी की व्यवस्था करूँगा।

दरवाजे की ओट में खड़ी लक्ष्मी का कलेजा धुक्-धुक् करने लगा तेजी से।

बुढ़िया काँपने लगी। इतने दुस्साहस की कल्पना भी नहीं कर सकती थी वह। कम्पित स्वर में वह बोली—लेकिन बेटा, शादी कैसे होगी ? कौन करायेगा शादी ?

'क्या कोई पुरोहित नहीं है' ?

'है तो जरूर मगर माधवानन्द के भय से कोई भी विवाह कराने के लिए तैयार न होगा। मगर सुना है कि जगत्तारण ठाकुर के बेटे भवतारण ठाकुर

जिन्हें लोग निमाई पण्डित के नाम से जानते हैं—वे किसी से नहीं डरते। वे बहुत निडर हैं। लेकिन क्या वे तैयार होंगे ? उम्मीद कम ही है'।

चन्दन कुमार कुछ देर तक सोचता रहा। फिर उत्साहित होकर खड़ा हो गया। बोला––मैं जाता हूँ निमाई पण्डित के यहाँ।

'अगर वे तैयार न हुए तो···

'निमाई पण्डित राजी हों या न हों। मैं कल रात में किसी समय आऊँगा। शादी न भी हुई तो मैं लक्ष्मी को कल रात ही अपने साथ ले जाऊँगा। और घर ले जाकर विधि से शादी कर लूँगा।

यह सुनकर बुढ़िया के चेहरे पर आशंका की छाया एक बार उभरी और फिर दूसरे क्षण गायब हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगी—चन्दन कुमार से बिलकुल अपरिचित है वह। आखिर कैसे विश्वास किया जाय कि वह लक्ष्मी को घर ले जाकर विधि से शादी कर ही लेगा।

उसी समय लक्ष्मी दरवाजे की ओट से बाहर निकल आयी। संशय और संकोच करने का समय नहीं था अब। एक तरफ निश्चित सर्वनाश था और दूसरी तरफ उसकी आशंका मात्र थी। उसने सजल नेत्रों से चन्दन कुमार की ओर ताक कर काँपते स्वर में कहा—कल रात को जरूर आना तुम ! अगर निमाई पण्डित राजी नहीं भी हुए तो भी तुम्हारे ईमान और धरम पर पूरा विश्वास करके तुम्हारे साथ चलूँगी मैं।

यह सुनकर चन्दन कुमार अपलक और अवाक् निहारता रहा लक्ष्मी के चेहरे की ओर और फिर बिना कुछ बोले एक झटके से बाहर निकल गया वह।

० ० ०

दूसरे दिन सवेरे नगर की गलियों में चक्कर लगाता हुआ चन्दन कुमार निमाई पण्डित का मकान खोजने लगा। धूप काफी तेज थी। चारो तरफ सन्नाटा था। एक गली में काफी दूर जाने के बाद एक लड़का गुल्ली-डण्डा खेलता हुआ दिखाई पड़ा।

चन्दन कुमार ने उससे पूछा—'निमाई पण्डित का मकान जानते हो' ?

'हाँ !' लड़का बोला।

'मुझे उनके घर पहुँचा दो'।

'मैं तो खेल रहा हूँ'।

'मैं तुमको एक पैसा दूँगा'।

'लाओ दो।'

जेब से निकाल कर चन्दन कुमार ने एक पैसा रख दिया उसके हाथ पर।

लड़का बोला—आओ।

थोड़ी दूर जाने के बाद लड़के ने एक मकान की ओर इशारा किया और वापस लौट गया।

चन्दन कुमार ने एक बार सतर्क दृष्टि से चारो तरफ देखा और फिर निमाई पण्डित के मकान में घुस गया।

खपरैल के नीचे कच्चे दालान में बैठे थे निमाई पण्डित। उनके सामने एक नयी पुस्तक जो ताडपत्र में थी, रखी थी। वे उसे बड़े मनोयोग से पढ़ रहे थे उस समय।

चन्दन कुमार का पदचाप सुनकर निमाई पण्डित ने दृष्टि उठाई। उस समय शास्त्र-चिन्तन में डूबे हुए थे वह। किसी प्रकार शास्त्र-चिन्तना जनित स्वप्नाच्छन्नता को दूर कर उन्होंने पूछा—'किससे मिलना चाहते हो' ?

'निमाई पण्डित से'—चन्दन कुमार बोला ?

'मैं ही हूँ निमाई पण्डित ! कहिये·······'।

जूता उतार कर चन्दन कुमार ने निमाई पण्डित का चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया।

निमाई पण्डित आशीर्वाद देकर बोले—'आपकी ही नावें न घाट पर लगी हुई हैं !'

'जी हाँ !' फिर अपना पूरा परिचय देते हुए चन्दन कुमार आगे बोला—आप ब्राह्मण हैं और महापण्डित भी हैं। मुझे आप कहकर सम्बोधित न करें।

'अच्छा क्या कार्य है ? बतलाओ।'

मैं आपका सहयोग लेना चाहता हूँ। सुना है कि आप अपराजेय पण्डित ही नहीं, सत्कार्य करने का साहस भी है आपमें।

निमाई पण्डित बोले—तुम्हारी नम्रता और विनय देखकर डर लग रहा है। क्या कहना चाहते हो ?

'आप लक्ष्मी को जानते हैं ?'

तीक्ष्ण दृष्टि से चन्दन कुमार की ओर देखकर निमाई पण्डित बोले—जानता हूँ। नवद्वीप के सभी लोग उसे जानते हैं।

'फिर भी कोई उसके उद्धार का प्रयत्न नहीं करता।'

'निमाई पण्डित मौन रहे'।

चन्दन कुमार बोला—मैं लक्ष्मी से विवाह करना चाहता हूँ। आप करेंगे मेरी सहायता ?

पोथी को एक तरफ रखकर निमाई पण्डित विस्मय के साथ बोले—लक्ष्मी के विषय में सारी बातें जानते हो तुम ?

'जानता हूँ'—कहकर चन्दन कुमार ने नाव से उतरने के बाद की सारी बातें एक-एक कर सुना दीं। फिर कहा—इस नगरी में लक्ष्मी निस्सहाय है और मैं भी अकेला हूँ। अगर आप मेरी सहायता करेंगे तो उसे भी जीवन में सहारा मिल जायेगा और मेरा भी अकेलापन दूर हो जायेगा। नहीं तो सर्वनाश हो जायेगा एक भोली-भाली युवती का।

निमाई पण्डित भौंहें सिकोड़ कर विचारमग्न हो गये। फिर बोले—मैं तुम्हारी सहायता अवश्य करूँगा। तुम्हारा साहस प्रशंसनीय है। यद्यपि इसमें तुम्हारा स्वार्थ है। पर इससे तुम्हारा महत्त्व कम नहीं हो जाता। बल्कि महत्त्व और भी बढ़ जाता है तुम्हारा। मैं तुम दोनों का पाणिग्रहण-संस्कार कराने के लिए सहर्ष तैयार हूँ। मगर वह गन्धर्व रीति से ही सम्भव हो सकेगा। जब देश-काल-परिस्थिति प्रतिकूल हो तो गन्धर्व-विवाह ही एकमात्र सम्भव है।

ठीक है। आप जैसा उचित समझे करें। परन्तु एक निवेदन है—अन्त में चन्दन कुमार बोला—'बड़ी प्यास लगी है। ब्राह्मण का घर है। यहाँ थोड़ा पादोदक मिल जाता तो—'

'तुमने अभी कुछ खाया नहीं है क्या ?' चौंककर निमाई पण्डित बोले।

'जी नहीं ! परसों केवल लक्ष्मी के हाथ का बना खाना खाया था मैंने। तब से—'

'कैसे आश्चर्य की बात है। तुमने अब तक मुझे बतलाया क्यों नहीं। ठहरो। मैं देखता हूँ'—कहकर निमाई पण्डित झटपट अन्दर गये।

तीसरा प्रहर था वह। निमाई पण्डित की धर्मपत्नी विशालाक्षी परिवार के सभी लोगों को खिलाकर स्वयं भोजन करने जा रही थीं उस समय। तभी निमाई पण्डित ने आकर कहा—एक अतिथि आया है। उसे कुछ खाने के लिए दे सकोगी ?

सिर हिलाकर विशालाक्षी बोली—हाँ ! हाँ ! फिर झटपट दालान में गंगाजल छिड़क कर पीढ़ा बिछाकर अपनी थाली उन्होंने अतिथि के लिए वहाँ रख दी और पति की ओर देखा।

निमाई पण्डित खड़े देख रहे थे सब कुछ। फिर मुसकराते हुए चन्दन कुमार को बुलाने चले गये थे। मौनकर्तव्यपरायणा, पतिप्रता, अनादृत पत्नी को देखकर क्षणभर के लिए विष्णु-पत्नी लक्ष्मी की याद हट गयी उनके चित्त से !

एक विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण के घर चन्दन कुमार ने पूर्ण तृप्त होकर प्रसाद पाया।

परामर्श करते-करते अपराह्ण का समय व्यतीत हो गया। योजना पूरी हो गयी।

निमाई पण्डित के यहाँ से निकलकर चन्दन कुमार ने अपनी सारी नावें और व्यापार की सारी कीमती वस्तुएँ तुरन्त नवद्वीप से रवाना कर दीं। केवल उसका अपना बजरा रह गया। उस बजरे में दैनिक उपयोग की वस्तुएँ और सुख-सुविधा के सभी सामान थे। सांझ होते ही निमाई पण्डित उस बजरे को लेकर नवद्वीप से काफी दूर निकल गये और एकान्त में एक जगह उसे रोक कर चन्दन कुमार की प्रतीक्षा करने लगे। अमावास्या की स्याह कालिमा धीरे-धीरे घनीभूत होने लगी।

लक्ष्मी को चम्पाकली तैयार करने लगी। उसके आदेश पर लक्ष्मी ने गंगास्नान किया। सारे शरीर में इत्र मिश्रित चन्दन का लेप लगाया। मस्तक पर लाल सिन्दूर का टीका लगाया। गले में लाल जवापुष्प की माला डाली और फिर लाल चौड़े पाड की रेशमी साड़ी धारण कराई। सचमुच किसी कापालिक की सद्यः यौवना भैरवी-सी लग रही थी उस समय लक्ष्मी।

लक्ष्मी को पूरी तरह तैयार कराकर चम्पाकली साधना का इन्तजाम करने माधवानन्द के मठ में चली गयी।

० ० ०

अब मेरे सामने मठ के प्रमोद उद्यान का दृश्य था। काफी लम्बा-चौड़ा विशाल मठ था वह। मैंने देखा प्रमोद उद्यान दुलहन की तरह सजा हुआ था। उद्यान के चारों तरफ बकुल, कुन्द, मौलश्री, पारिजात, केतकी और आम-जामुन के पेड़ थे। उनके बाद विभिन्न रंगों के सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों के पौधे और लताएँ थीं। उद्यान के एक ओर स्वर्णमण्डित स्फटिक का एक बड़ा-सा सिंहासन था। जिस पर पद्मासन की मुद्रा में बैठा माधवानन्द कापालिक स्फटिक के पारदर्शक गिलास में धीरे-धीरे मदिरा पान कर रहा था। लाल रेशमी वस्त्र धारण किये था वह। गले में स्फटिक और रुद्राक्ष के अलावा विभिन्न प्रकार के रत्नों की मालाएँ झूल रही थीं। नर-मुण्ड भी लटक रहा था वहाँ।

सिंहासन के बगल में एक ऊँचे दीपाधार पर नरमुण्ड में घी का दीप जल रहा था। सिंहासन के दूसरी ओर एक अर्धनग्ना युवती कन्या हाथ में मदिरापात्र लिये खड़ी थी। पास ही एक और युवती खड़ी थी, जो चँवर डुला रही थी माधवानन्द पर। उसके बाल खुलकर पीठ पर बिखरे हुए थे। और यौवन से भरपूर देहयष्टि बिलकुल अनावृत थी। शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं था मर्यादा की रक्षा के लिए।

गिलास की मदिरा समाप्त होते ही पहली वाली युवती पुनः उसमें मदिरा उडेल देती थी। शायद इसी कार्य के लिए वह वहाँ उपस्थित थी।

मदिरा पान करते समय कापालिक माधवानन्द कभी उस शाकी की ओर तो कभी उद्यान के मुख्य फाटक की ओर देख लिया करता था। उसका चित्त जैसे आकुल था उस समय। तभी उसकी दृष्टि चम्पाकली पर पड़ी। उसे देखते ही वह बोला—'सब ठीक है न चम्पाकली'।

उत्तर में केवल मुसकरा दिया चम्पाकली ने ! फिर वह गुप्त साधना की व्यवस्था करने के लिए मण्डप की ओर चली गयी।

० ० ०

अब मेरे सामने दूसरा दृश्य उभरा।

रात का पहला प्रहर ! चारों तरफ गहन अन्धकार। चन्दन कुमार नि:शब्द जाकर बुढ़िया के बरामदे में खड़ा हो गया। अन्धकार में आँखें गड़ा कर देखा उसने। दरवाजा खुला था। धीरे-धीरे पैर उठाकर मकान के भीतर चला गया वह। तभी किसी का स्पर्श अनुभव हुआ उसे। फिर किसी का मृदु स्वर सुनाई दिया—'तुम आ गये' ?

'हाँ ! लक्ष्मी मैं आ गया'।

लक्ष्मी ने काँपते स्वर में कहा—'तुमने आने के लिए कहा था। इसलिए में अभी तक जाग रही थी'। किसी दूसरे समय यह बात किसी अभिसारिका की प्रणय वाणी जैसी लगती, लेकिन उस समय घोर विपत्ति के बीच चन्दन कुमार को केवल ऐसा लगा कि ऐसी मधुर शब्द समष्टि उसने और कभी नहीं सुनी थी। लक्ष्मी का चेहरा देखने की दुर्दम आकांक्षा जाग उठी उसके मन में। पर गहन अन्धकार में कुछ भी दिखलायी नहीं पड़ रहा था उसे। लक्ष्मी के कान में धीरे से बोला चन्दन कुमार—'लक्ष्मी एक बार रोशनी नहीं कर सकती ?···तुम्हें देखने को जी कर रहा है।' अँधेरे में दोनों एक-दूसरे का हाथ थामे खड़े थे। लक्ष्मी क्षणभर सोचकर बोली—'ठीक है ! रोशनी करती हूँ'। और फिर चन्दन कुमार का हाथ थाम कर चल पड़ी वह और भीतर वाले कमरे में जाकर उसने दीप जलाया। मिट्टी के दीपक के क्षीण प्रकाश में लक्ष्मी का चेहरा देखकर एकबारगी चौंक पड़ा चन्दन कुमार ! लक्ष्मी की दोनों कजरारी आँखें लाल थीं जवापुष्प की तरह। और आँखों के नीचे स्याह धब्बे उभर आये थे। आशा, आशंका और तीव्र उत्कण्ठा के द्वन्द्व में लक्ष्मी का अनुपम रूप जैसे कुम्हला गया था चन्द घण्टों के अन्दर ही।

चन्दन कुमार का हृदय पीड़ा से भर उठा। भर्राये स्वर में उसने कहा—'लक्ष्मी'।

लक्ष्मी रुँधे कण्ठ से बोली—'तुम्हारी नावें चली जाने का समाचार सुनकर बहुत डर लगा था मुझे'। 'अब डरो मत। तुम्हारे उद्धार का पूरा प्रबन्ध कर लिया है मैंने। यह बतलाओ तैरना जानती हो तुम'—चन्दन कुमार ने पूछा। अपने आँचल से गालों पर ढुलक आये आँसू को पोछते हुए लक्ष्मी बोली—'जानती हूँ ! इसीलिए तो कई बार कोशिश करने पर भी डूबकर मर न सकी'। चन्दन कुमार का मन हुआ कि कसकर लक्ष्मी को अपनी बाँहों में समेट ले। पर उस लोभ को संवरण करके उसने कहा—हिम्मत रखो लक्ष्मी अब तो मैं आ गया हूँ। क्या मुझे देख करके भी तुममें हिम्मत नहीं होती ?

लक्ष्मी एकटक देखती रही चन्दन कुमार को। शायद कहना चाहा उसने कि वही तो उसका अब एकमात्र सहारा है। पर कह कुछ न पायी वह।

चन्दन कुमार ने संक्षेप में सारी योजना बतला दी। सब कुछ सुनती रही लक्ष्मी। फिर आँसू बहने लगे उसकी आँखों से।

चन्दन कुमार सारी बातें समझाने के बाद चुप हो गया। लक्ष्मी के मन में अन्तर्द्वन्द्व मचा हुआ था। अपने उस उद्धारकर्ता युवक के प्रति उसके मन में क्या भाव थे—यह वह स्वयं भी ठीक से समझ नहीं पा रही थी। चन्दन कुमार के पैरों पर झुक पड़ी और फिर दोनों हाथों से चन्दन कुमार के पैर थाम कर बोली—'एक बात बताओ' ?

'क्या ?'

'तुम मुझसे विवाह करोगे न ? छलोगे तो नहीं मुझको' ?

चन्दन कुमार का गला भर आया। रुँधे कण्ठ से और काँपते स्वर में बोला वह—लक्ष्मी ! मैं तुमसे शादी ही करूँगा। मेरा और कोई इरादा नहीं है। अगर तुमसे मैंने आत्मा की गहरायी से प्रेम किया है तो उसी प्रेम की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं तुमसे शादी करूँगा और आज की ही रात में करूँगा। सारी तैयारी पूरी कर ली है मैंने। निमाई पण्डित भी सहायता के लिए तैयार हो गये हैं।

'सच···!'

'बिलकुल सच लक्ष्मी !'

लक्ष्मी ने फिर माथा टेक दिया चन्दन कुमार के चरणों में। 'अगर विवाह के समय किसी प्रकार का विघ्न पड़ा तो···फिर···'—लक्ष्मी नें शंका प्रकट की। चन्दन कुमार ने जेब से एक काले रंग की शीशी निकालते हुए कहा—इसका भी इन्तजाम कर लिया है—यह महाविष है'। फिर स्नेह-सिक्त स्वर में बोला वह—लक्ष्मी। अन्तिम क्षणों में इसका प्रयोग करना तुम। उसके पहले नहीं।

लक्ष्मी की आँखें चमक उठीं।

लक्ष्मी के दोनों हाथों को अपने सीने से लगाकर चन्दन कुमार बस एक ही शब्द कह पाया—लक्ष्मी। और उत्तर में लक्ष्मी ने आँसू भरी आँखों से केवल चन्दन कुमार को निहारा और एक फीकी-सी मुस्कान चेहरे पर लाते हुए कहा—मेरे देवता···!

० ० ०

रात का दूसरा प्रहर !

साधनामण्डप में बैठा माधवानन्द बड़ी बेसब्री से इन्तजार कर रहा था लक्ष्मी का। मगर जब चम्पाकली को अकेली आते हुए देखा तो क्रोध से विफर पड़ा वह। खूनी शेर की तरह दहाड़ते हुए बोला—'लक्ष्मी कहाँ है ? कहाँ है लक्ष्मी ?'

'सरकार ! लक्ष्मी घर पर नहीं है। उसकी दादी का भी कहीं पता नहीं है'—भय से काँपते हुए चम्पाकली ने कहा।

वास्तविकता समझते देर न लगी माधवानन्द को। फिर उसने दहाड़ा—'कुलानन्द...' !

दूसरे ही क्षण एक भीमकाय कापालिक आकर वहाँ खड़ा हो गया और सिर झुका कर बोला—'आज्ञा महाराज'।

'मेरे सभी कापालिक शिष्यों से कहो कि नवद्वीप के सभी घाटों की नाकेबन्दी कर दें। चन्दन कुमार और लक्ष्मी भागने न पाये।'

यह आज्ञा देकर माधवानन्द स्वयं एक तेज घोड़े पर सवार होकर तीर की तरह घाट की ओर भागा।

अब मेरे सामने सुदूर अतीत का जो दृश्य उभरा वह निस्सन्देह करुणाजनक, हृदयस्पर्शी और अविस्मरणीय था।

प्रकरण : दस

वह लोमहर्षक दृश्य

अमावास्या की घनी काली रात !

गहन अन्धकार के गहन अन्तराल में डूबा हुआ नवद्वीप का स्नानघाट !

दो आकृतियाँ भागीरथी के जल में तैरती हुई जल्दी-जल्दी आगे बढ़ रही थीं। समझते देर न लगी मुझे। एक आकृति चन्दन कुमार की थी और दूसरी थी लक्ष्मी की।

तैरते हुए चन्दन कुमार धीरे से बोला—लक्ष्मी ! अगर थक गयी हो तो मेरा कन्धा थाम लो।

नहीं। थकी नहीं हूँ। नाव तक पहुँच जाऊँगी मैं—लक्ष्मी बोली।

नवद्वीप से लगभग चार-पाँच मील दूर चन्दन कुमार का बजरा लंगर डाले खड़ा था। बजरे की खिड़कियों पर रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रों के पर्दे पड़े थे और भीतर प्रकाश हो रहा था। मैंने देखा—निमाई पण्डित चिन्तन की मुद्रा में बैठे हुए थे भीतर मलमल के आसन पर और उनके सामने रखा था चाँदी की थाली में पूजन का सामान। कभी वे उन सामानों की ओर देख लेते थे तो कभी खिड़की की ओर। थोड़ी ही देर बाद चन्दन कुमार और लक्ष्मी पहुँच गये बजरे पर। वे दोनों काफी थक गये थे और हाँफ रहे थे। लक्ष्मी गीले वस्त्रों में लिपटी लाज और संकोच से सिमटी-सिकुड़ी एक कोने में खड़ी हो गयी। निमाई पण्डित ने हँस कर कहा—'कपड़े तो बदल लो'। बजरे में दो कक्ष थे। पहले में हीरे-मोती-जेवरात भरे थे और दूसरा शयनकक्ष था। जिसके फर्श पर कीमती कालीन बिछा था और एक ओर उसी कालीन पर शयन के लिए गद्दा लगा हुआ था। दोनों कपड़े बदलने के लिए शयन कक्ष में चले गये और जब बाहर निकले तो निमाई पण्डित हँस कर बोले—मेरा विचार है कि तुम दोनों घर जाकर विधिवत् विवाह कर लो।

चन्दन कुमार बड़े भोलेपन से बोला—नहीं महाराज लक्ष्मी कहीं और कुछ न समझ बैठे। और बजरे में भी एक ही शयन कक्ष है।

निमाई पण्डित बोले—विवाह सम्पन्न कराने के लिए सम्यक् उपकरण भी तो होना चाहिए। इसके अलावा माता-पिता, अग्नि, ब्राह्मण आदि का साक्षी भी प्राप्त होना चाहिए। यह अति आवश्यक है।

आप बंगाल के महापण्डित हैं। साधारण पुरोहित तो हैं नहीं। आप चाहें तो बिना प्रचुर उपकरण के और बिना किसी साक्षी के ही हम दोनों का विवाह करा सकते हैं और जीवन भर के लिए हम दोनों को दाम्पत्य-सूत्र में बांध सकते हैं।

निमाई पण्डित कुछ नहीं बोले ।

लक्ष्मी का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे ले आया चन्दन कुमार निमाई पण्डित के सामने । रेशमी वस्त्र और कीमती आभूषण पहने थी लक्ष्मी । लाल रेशमी वस्त्र का दुपट्टा पड़ा था उसके सिर पर । उसकी दृष्टि नत थी ।

चन्दन कुमार मानेगा नहीं । आज विवाह करके ही छोड़ेगा – निमाई पण्डित लक्ष्मी की ओर देखकर बोले ।

यह सुनकर लक्ष्मी के कपोल रक्तिम हो उठे ।

निमाई पण्डित फिर बोले—अच्छा ! फूल-माला तो मिलेगी नहीं । दो हार ही ले आओ ।

चन्दन कुमार भीतर से कीमती मोतियों की दो मालायें ले आया ।

कन्यादान का संकल्प कराने के बाद एक-एक हार दोनों को देते हुए निमाई पण्डित बोले – एक-दूसरे को हार गले में पहना दो तुम दोनों ।

दोनों ने एक-दूसरे को हार पहना दिये ।

निमाई पण्डित ने हाथ उठाकर दोनों को आशीर्वाद दिया । लक्ष्मी और चन्दन कुमार दोनों ने एक साथ श्रद्धापूर्वक झुककर निमाई पण्डित की चरण-धूलि ली । फिर चन्दन कुमार ने मोहरों से भरी एक थैली निमाई पण्डित के चरणों पर रख दी और कहा—यह आपकी दक्षिणा है, महाराज !

निमाई पण्डित इस बार जोर से हँस पड़े और बोले – यह न ले सकूँगा ।

जैसी आपकी इच्छा । पर आज आप काफी थके हुए हैं । पाँच-छः मील तक बराबर नाव खेते रहे हैं । अतः आज रात बजरे पर ही विश्राम करें ।

नहीं, लौटना आवश्यक है । घर न पहुँचने पर पत्नी चिन्तित होगी और फिर तुम्हारी नौका में एक ही शयनकक्ष है–-कहकर हँसे धीरे से निमाई पण्डित । उसके बाद अमावास्या की उस काली अँधेरी रात में बजरे के बाहर निकल गये और जाते समय चन्दन कुमार से कहते गये कि लक्ष्मी की दादी को शीघ्र बुला लेगा वह । क्योंकि उनके आश्रम में बुढ़िया का अधिक समय तक रहना निरापद नहीं था । स्वयं उनके लिए भी हानिकारक था । पता लगने पर कुछ भी कर सकता था माधवानन्द ।

अभी निमाई पण्डित को गये कुछ ही मिनट हुआ होगा कि उस घोर काल रात्रि के अंधकार में सहसा एक भयंकर आर्तनाद गूँज उठा ।

लक्ष्मी और चन्दन कुमार दोनों एक साथ शयन कक्ष के बाहर निकल आये अर्तनाद सुनकर । अभी वे दोनों कुछ सोचे-समझे कि उस स्याह अन्धकार में न जाने किधर से एक विष बुझा बरछा सनसनाता हुआ आया और चन्दन कुमार के सीने को बेधता हुआ बजरे में धँस गया । चन्दन कुमार जोर से चींखा एक बार और फिर शान्त हो गया हमेशा के लिए । दूसरे क्षण उसका शरीर झूल गया धँसे हुए बर्छे का सहारा लेकर ।

इसके बाद ही चारों तरफ से बजरे पर चढ़ आये भयंकर आकृति के कई कापालिक। सभी ने मदिरा पी रखी थी। एक ने लपककर कोने में स्तब्ध अवाक् और पाषाणवत् खड़ी लक्ष्मी का हाथ कस कर पकड़ लिया और घसीटते हुए दूसरी ओर ले जाने लगा वह। मुझे उस भयंकर नर-पशु को पहचानते देर न लगी। वह था कापालिक माधवानन्द।

अपने को मुक्त करने का बराबर प्रयास कर रही थी लक्ष्मी। मगर सफलता नहीं मिली उसे। तभी उसे कुछ याद हो आया। चेहरा चमक उठा उसका। एक बार उसने पति के निर्जीव शरीर की ओर देखा और फिर मुँह खोलकर बायें हाथ की मुट्ठी में दबी शीशी मुँह में उडेल ली उसने। महाविष खा लिया था लक्ष्मी ने। क्षणभर के लिए लक्ष्मी का सारा शरीर जोर से काँपा, कदम लड़खड़ाये और फिर सब कुछ शान्त हो गया हमेशा-हमेशा के लिए।

० ० ०

पक्षी कलरव करने लगे थे।

अमावस की वह काली अँधेरी रात सिमटने लगी थी और पूरब का आकाश धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। सबेरा होने ही वाला था। और भोर के उस धुँधले प्रकाश में मैंने भागीरथी के विस्तृत वक्ष पर एक साथ तीन लाशें तैरती हुई देखीं। दो लाशें तो आपस में इस प्रकार लिपटी हुई थीं जैसे आलिंगनबद्ध हों। वे आलिंगनबद्ध लाश एक चन्दन कुमार की थी और दूसरी थी लक्ष्मी की। तीसरी लाश जो थोड़ी ही दूर पर बह रही थी वह थी नवद्वीप के प्रकाण्ड विद्वान् निमाई पण्डित की।

देश-काल, समाज-संस्कृति और तमाम शास्त्रों की अवहेलना कर दो प्रेमियों को परिणय-सूत्र में बाँधने का यह फल मिलेगा—इसे कभी सोचा था उस महापण्डित ने? कभी इस बात की भी कल्पना की थी उन्होंने कि नित्य भोर के समय जिस भागीरथी के पवित्र तट पर वे सन्ध्या-वन्दन करते थे—उसी पवित्र, निर्मल और अकलुषित जल में एक दिन उनका पार्थिव शरीर शव में परिवर्तित हो कर बहेगा? नहीं कभी नहीं सोचा था और न तो कल्पना ही की थी उस पण्डितराज ने। सभी का भाग्य पढ़ने वाला और सभी का भविष्य जानने वाला नवद्वीप का वह निष्णात् विद्वान् स्वयं अपने भाग्य को न पढ़ सका। और न जान सका अपने भविष्य को। कितनी भारी विडम्बना थी यह!

मैंने देखा—आगे बहुत दूर जाकर वे तीनों लाशें एक में मिल गयी थीं भागीरथी की धारा में। विषण्ण मन लिये न जाने कब तक अपलक देखता रहा मैं एक में जुड़ी हुई उन तीनों लाशों को और तभी समाधि भंग हो गयी। मेरा आन्तरिक अस्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व अपने-आप प्रकृति की सीमा

और शरीर की मर्यादा में बंध गया और बंधते ही मैंने अपने को पार्थिव शरीर और पार्थिव जगत् में पाया। ऐसा लगा, मानो कोई लम्बा सपना देख कर जागा हूँ मैं। अब तक मेरी आत्मा जिस इन्द्रियातीत अनुभूतियों के अथाह सागर में डूबी हुई थीं—उनका वर्णन शब्दों में करना असम्भव है मेरे लिए। पूरे आठ घण्टे समाधि में था मैं। जैसा कि बतलाया जा चुका है—समाधि की विशेष अवस्था में जब आत्मा पहुँच जाती है तो प्राण मन में और मन आत्मा में लीन हो जाता है। इस स्थिति में जीवन और मृत्यु का अन्तर समाप्त हो जाता है। मृत्यु के सभी लक्षण धीरे-धीरे प्रकट हो जाते हैं शरीर में। समाधि और मृत्यु के भेद अथवा अन्तर को समझना अत्यन्त जटिल और दुरूह कार्य हैं। ऐसा ही हुआ उस समय भी। परिवार के लोगों ने मुझे मृत समझ लिया था। और मृत समझकर मेरे अन्तिम संस्कार की तैयारी कर रहे थे वे। अगर समाधि भंग न हुई होती तो निश्चय ही मेरा पार्थिव शरीर चिताग्नि में भस्म हो गया होता और मैं अपने अस्तित्व का अनुभव इस संसार के बजाय किसी और ही संसार में करता।

शोध-अनुसन्धान में ज्योतिर्मयी का सहयोग

ज्योतिर्मयी के दो जन्मों की मर्मस्पर्शी दारुण कथा अब यहीं समाप्त हो जाती है। लेकिन ज्योतिर्मयी के छः सौ वर्षों के कारुणिक इतिहास से मेरा अतीत जुड़ा होने के कारण सन् १९४५ से १९६३ तक मेरा सम्बन्ध बराबर जुड़ा रहा ज्योतिर्मयी से। लगभग अठारह वर्ष का वह समय मेरे लिए अति मूल्यवान् और अतिशय महत्त्वपूर्ण रहा। इसमें सन्देह नहीं। उस अवधि में मेरे आध्यात्मिक जीवन, साधनामार्ग, चिन्तन-मनन, शोध-अनुसंधान व अन्वेषण में बराबर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया था और गोचर-अगोचर रूप से सहायता और प्रेरणा भी दी थी ज्योतिर्मयी ने!

इस शताब्दी के महान् योगी श्री नरसिंह स्वामी की अहैतुकी कृपा व अनुकम्पा के फलस्वरूप ज्योतिर्मयी के आत्म अस्तित्व के साथ मेरे आन्तर व्यक्तित्व का जुड़ना—मेरी बहुत बड़ी उपलब्धि समझी जायेगी। अगर वह सम्बन्ध न जुड़ता तो भारतीय संस्कृति और साधना की मूलभित्ति योगतंत्र के अथाह गम्भीर सागर में डुबकी लगाने का कदापि अवसर न मिलता मुझे। यही नहीं, प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न भाव से भारत के अतिरिक्त हिमालय की गिरि गुहाओं तथा तिब्बत के दुर्गम मानवहीन हिमाच्छादित प्रदेशों में निवास करने वाले मानवेतर शक्ति-सम्पन्न सिद्ध योगियों, साधकों, सन्त-महात्माओं तथा उच्चकोटि के दिव्य महापुरुषों के सान्निध्य में भी न आता और न तो आता सम्पर्क में ही मैं।

निश्चय ही ज्योतिर्मयी पर उसके गुरु भैरवानन्द कापालिक की अहैतुकी कृपा थी। तभी तो वह मुझे पहले ही बतला दिया करती थी कि किस योगी,

किस साधक, किस सन्त-महात्मा और किस महापुरुष में कौन-सी सिद्धि है ? उनका कौन-सा साधना मार्ग है ? उनकी साधना-पद्धति क्या है ? और कैसी है उनकी मति गति ? इन सब के अतिरिक्त वह यह भी बतला दिया करती थी कि वे लोग किस रूप में, किस वेश-भूषा में, कहाँ और किस स्थान पर निवास करते हैं ? और उनसे कैसे मिला जा सकता है ? कैसे सम्पर्क साधा जा सकता है?

योगी कालीपद गुहा महाशय

प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न रूप से निवास करने वाले योगी और तंत्रसाधकों का गढ़ रहा है वाराणसी ! ज्योतिर्मयी ने मुझे बतलाया कि काशी के देवनाथ-पुरा के शिव-शिवा काली का एक अति प्राचीन मन्दिर है। पंचमुण्डी आसन पर स्थापित शिव-शिवा काली सिद्ध हैं। उनका नित्य दर्शन करने के लिए रात्रि के समय एक योगी आते हैं। नाम है कालीपद गुहा। उच्च अवस्था प्राप्त योगी हैं गुहा महाशय।

कुण्डलिनी क्या है ? कुण्डलिनी शक्ति क्या है ? और क्या है उस कुण्डलिनी शक्ति की साधना ? ऐसे प्रश्नों और ऐसी अन्य तमाम जिज्ञासाओं को लेकर मेरे अन्तराल में कितना भयंकर झंझावात उठ रहा था उन दिनों कि मैं आपको बतला नहीं सकता। क्योंकि उसे बतलाने के लिए न मेरे पास भाव है और न ही शब्द हैं। एक दिन वही झंझावात हृदय में दबाये शिव-शिवा मन्दिर के गेरु से पुते टूटे-फूटे दालान के फर्श पर अपना सिर अपनी ही गोद में छिपाये चुपचाप बैठा था। मन्दिर के वातावरण में गहरी नीरवता छायी हुई थी। और रात भी काफी गहरा गयी थी। माँ शिव-शिवा की पूजा-आरती कर और मन्दिर के गर्भगृह का पट बन्द कर पुजारी खुदीराम कभी का चला गया था। और जाते समय एक बार सिर घुमाकर उसने मेरी ओर देखा और आहिस्ते से कहा था—शर्मा बाबू आप पिछले १०-१२ दिनों से बराबर आ रहे हैं। मगर आज आपको क्या हो गया है ? इस तरह आप कब तक बैठे रहेंगे ? शीत अधिक है। घर चले जाइयेगा शीघ्र !···

मेरा घर कहाँ है खुदीराम ? और कौन-सा है मेरा परिवार ? किस घर का दरवाजा खुला है मेरे लिए ? और कौन-सा परिवार मेरी प्रतीक्षा करेगा ? आज तक न समझ सका भाई ! अपने आपको सदैव आश्रयहीन और एकाकी ही समझा है मैंने। स्वयं अपने-आप से इतना बोलकर मैं फिर उसी तूफान में खो गया। मौन में ही कहीं अधिक निकटता पाता है हृदय। शब्द हृदय के जिन घावों को नहीं भर सकते, मौन एकबारगी उन्हें भर देता है। आध्यात्मिक तृष्णा ने मेरे भीतर जो अशान्ति उत्पन्न कर दी थी—उसी की आग में जल रहा था मैं। मुझे शान्ति की आवश्यकता थी—आध्यात्मिक शान्ति की। और मैं मौन साधे अपने आप में डूबा हुआ उसी शान्ति को प्राप्त करने के

सम्बन्ध में सोच-विचार कर रहा था उस समय। और तभी मुझे मन्दिर के मुख्य दरवाजे के खुलने की आहट लगी। आहट के साथ ही मुझे कहीं से टन्-टन् कर दो बजने की आवाज भी सुनाई दी।

कौन है? कौन इतनी रात को मन्दिर का दरवाजा खोल रहा है? भला इस समय किसको आवश्यकता पड़ गयी मन्दिर में आने की? गोद में छिपे सिर को ऊपर उठा कर दरवाजे की ओर देखा मैंने! उस गहरे स्याह अंधेरे में पहले तो मुझे कुछ भी दिखलायी नहीं पड़ा। मगर कुछ क्षणों के बाद मेरे सामने एक आकृति उभरी।

वह किसी लम्बी-चौड़ी काठी के व्यक्ति की आकृति थी। अंधेरे में आँखें गड़ाकर मैंने देखा—उस भीमकाय व्यक्ति का सिर मुड़ा हुआ था। गले में स्फटिक की माला पड़ी हुई थी, जो उस समय चमक रही थी अंधेरे में। वह केवल एक लुंगी पहने हुए था। शरीर का ऊपरी भाग बिलकुल अनावृत था।

वह रहस्यमय व्यक्ति सिर झुकाये अपने-आप में लीन धीरे-धीरे चलकर मेरे करीब से गुजरा। मन्दिर का रहस्यमय वातावरण एकाएक चन्दन के दिव्य गन्ध से भर उठा।

'हे भगवान्! कौन है यह व्यक्ति? इतनी रात को क्या करने आया है मन्दिर में? क्या चाहता है यह?

उस व्यक्ति ने सिर उठाकर एक बार मेरी ओर देखा और फिर गह्वर के सामने जाकर चुपचाप खड़ा हो गया।

गह्वर के भीतर माँ के सामने रखी यूथिका पर दीपक उस समय भी जल रहा था। पट की जाली से छनकर बाहर आ रहे उसके मन्द-मन्द प्रकाश में उसका भावहीन और निर्विकार चेहरा बिलकुल साफ दिखलायी पड़ रहा था। वह नेत्र बन्द किये मौन खड़ा था। ऐसा लगा मानो वह माँ के पट के खुलने की प्रतीक्षा कर रहा हो। तभी चन्दन की सुगन्ध से भरे उस वातावरण में पायल की मधुर झंकार गूँज उठी एकबारगी और उसी के साथ मैंने देखा—माँ के गह्वर का पट अपने-आप धीरे-धीरे खुल रहा था। कौन खोल रहा था बन्द पट को? कौन-सी अदृश्य शक्ति अपने अदृश्य हाथों से खोल रही थी उसे? भय और आतंक से भर उठा मेरा मन। मेरा रोम-रोम काँप उठा। मगर मैंने अपने-आप को सँभाल लिया तुरन्त।

पायल की मधुर ध्वनि भीतर से आ रही थी और जब पट पूरी तरह खुल गया तो मैंने देखा—एक छोटी-सी लड़की वहाँ खड़ी मुसकरा रही थी। बारह वर्ष से अधिक आयु नहीं थी उस बालिका की। शरीर का रंग बिलकुल काला था। मगर उस श्याम वर्ण में भी एक विशेष आकर्षण था। उसके शान्त और सौम्य चेहरे पर विलक्षण तेज था। उसकी बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों में करुणा, दया, अनुकम्पा का अथाह सागर लहरा रहा था। वह लाल चौड़े

पाट की रेशमी साड़ी पहने थी। उसके सिर के बाल खुलकर सावन की काली घटा की तरह पीठ पर बिखरे हुए थे। चौड़े मस्तक पर लाल सिन्दूर का गोल टीका। गले में जवापुष्प की माला। कलाईयों में शंख के वलय। और पैरों में नूपूर ! कौन थी वह कन्या ?

मेरी आत्मा को विचित्र-सी अनुभूति हुई। मैं मोहाविष्ट होकर न जाने कब तक अपलक निहारता रहा उस लावण्यमयी अपूर्व सुन्दरी श्याम वर्णा कन्या को। न जाने कब और कैसे मेरी फिसलती हुई नजर उसके पैरों पर आकर टिक गयी। कितने सुन्दर और कितने कोमल थे उस देवकन्या के चरण, उँगलियों के रक्ताभ नख और महावर में डूबे हुए चरण तल। मन करता था बस उन कोमल सुन्दर चरणों को बराबर देखता ही रहूँ। मगर तभी शहद़ में डूबा हुआ मधुर स्वर सुनाई पड़ा—'बाबा…… । तू आ गया।' एकबारगी चौंक पड़ा मैं। देखा—वह व्यक्ति उस लड़की के कोमल चरणों को दोनों हाथों से पकड़ कर जमीन पर पड़ा था और वह देवकन्या-सी लड़की खड़ी मुसकरा रही थी।

मगर यह क्या ?…

देखते-ही-देखते सारा दृश्य मिट गया। अब न वह लड़की थी और न तो वह रहस्यमय व्यक्ति ही था वहाँ। वहाँ केवल चन्दन की भीनी-भीनी सुगन्ध थी, जो अभी तक मन्दिर के रहस्यमय और बोझिल वातावरण में बिखरी हुई थी।

० ० ०

सबेरा होने वाला था। भोर की पूजा-आरती के लिए खुदीराम गंगाजल लिये आ गया था। मुझे देखकर एकबारगी चौंक पड़ा वह। आश्चर्य में डूबे स्वर में बोला—आप अभी तक यहीं पर हैं ? घर नहीं गये क्या ?

नहीं, खुदीराम। घर नहीं गया। अगर चला गया होता तो रात को वह अनिर्वचनीय स्वर्गीय दृश्य को कैसे देख पाता मैं ?

'कौन-सा दृश्य, कैसा दृश्य शर्मा बाबू ?…'

जब मैंने रात की सारी घटना एक-एक करके खुदीराम को बतलायी तो पहले वह मुँह बाये कुछ देर तक मेरी ओर देखता रहा। फिर बोला—'समझ गया।'

'क्या समझ गया ?'

'आपने रात को कालीपद बाबू को देखा था ! आप नहीं जानते। काली पद बाबू काशी के बहुत बड़े योगी हैं। हर अमावास्या की रात को इस मन्दिर में माँ का दर्शन करने आते हैं। माँ महामाया उनको प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। बड़े भाग्यवान् हैं आप…'। यह सुनकर स्तब्ध रह गया एकबारगी मैं। ज्योतिर्मयी के संकेत पर जिस महापुरुष के दर्शन-लाभ के लिए मैं पिछले १०-१५ दिनों

से मन्दिर में बराबर आ रहा था, उसे पहचान न सका। बड़ी भूल हुई थी मुझसे। चित्त व्याकुल हो उठा मेरा। पूछा—कालीपद महाशय रहते कहाँ हैं?

नहीं, नहीं! मैं उनका पता आपको नहीं बतला सकूँगा। उन्होंने मना किया है—खुदीराम बोला।

'क्यों क्या बात है?'

वे बड़े रहस्यमय योगी हैं। उनकी साधना में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो, इसलिए बड़े ही गोपनीय ढंग से रहते हैं।

काफी अनुनय-विनय करने के बाद भी खुदीराम ने कालीपद बाबू का पता नहीं बतलाया मुझे। काफी क्लेश हुआ आत्मा को। एक परम योगी का सान्निध्य प्राप्त होकर भी अवसर हाथ से निकल गया था। जीवन का एक स्वर्ण अवसर गँवा बैठा था मैं। आध्यात्मिक दृष्टि से कितना मूल्यवान् था वह अवसर मेरे लिए? बतलाया नहीं जा सकता।

धीरे-धीरे समय व्यतीत होता गया। एक दिन सांझ के समय अहिल्याबाई घाट पर बैठा था कि तभी मेरी नजर अचानक मुंशी घाट की सीढ़ियाँ चढ़ रहे एक व्यक्ति पर पड़ गयी। वह व्यक्ति सिल्क का कुर्ता और रेशमी धोती पहने था। उसके चेहरे पर गम्भीरता थी। और आँखों में तेज था। जब वह व्यक्ति सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आया तो मैं चौंक पड़ा।

हे भगवान्! यह तो वही व्यक्ति था। मैंने देर नहीं की। तुरन्त लपककर उसके पास जा पहुँचा मैं। मगर उस व्यक्ति ने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मौनवत् आगे बढ़ता चला गया।

मुझसे रहा नहीं गया। पूछ ही बैठा—'आप कालीपद बाबू हैं न?'

मेरा प्रश्न सुनकर उस व्यक्ति ने एक बार गहरी दृष्टि से मेरी ओर देखा फिर धीरे से बोला—हाँ! मेरा नाम कालीपद है। लेकिन तुम कौन हो? कैसे जानते हो मुझे? मेरा नाम किसने बतलाया तुम्हें?

एक साथ इतने सारे प्रश्न सुनकर एकबारगी घबरा गया मैं। किसी प्रकार अपने को संभाला और फिर हकलाते हुए बोला—'मैं······मैं आपको जानता हूँ। आप बहुत बड़े योगी हैं। आप कुण्डलिनी साधक हैं। यह भी मैं जानता हूँ'।

धीरे से मुस्कराये मेरी बात सुनकर कालीपद बाबू और फिर बोले—ठीक है! ठीक है! लेकिन तुम मुझसे चाहते क्या हो?

कालीपद बाबू के इतना पूछने पर अपनी सारी कथा सुना डाली। फिर ज्योतिर्मयी की भी बात बतलायी उन्हें। अन्त में अपनी सारी वेदना और सारी पीड़ा उडेल कर रख दी शब्दों के माध्यम से उनके सामने मैंने। बोला—आप थोड़ा-सा अनुग्रह कर दें मुझ पर। और थोड़ी-सी जगह दे दें अपने पावन चरणों में मुझे। बस अनुगृहीत हो जाऊँगा। कृतार्थ हो जाऊँगा मैं।

चलते-चलते रुक गये कालीपद बाबू। एकाएक उनका चेहरा पहले से अधिक गम्भीर हो गया। एक बार उन्होंने नजर उठाकर आकाश की ओर देखा और फिर आगे बढ़ गये। मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैं भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। मुंशी घाट की गली पार कर लेने के बाद वे नारद घाट की गली की ओर मुड़े। उस समय साँझ की स्याह कालिमा नारद घाट की सँकरी, गन्दी और धुएँ से भरी गली में बिखर चुकी थी और उसी के साथ बिखर चुकी थी गहरी खामोशी भी ! गली के अन्तिम सिरे पर पहुँच कर कालीपद बाबू एक मकान के सामने खड़े हो गये। आवाज देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। दरवाजा अपने-आप खुल गया। कैसे खुला ? किसने खोला ? यह न जान सका मैं। उनके साथ मैं भी मकान के भीतर चला गया। सामने एक काफी लम्बा-चौड़ा कमरा था। कमरे के भीतर एक बड़ा-सा तख्त था, जिस पर केवल बड़ा-सा मृगचर्म बिछा हुआ था।

कमरे में घुसते ही सबसे पहले मैंने जिस चीज का अनुभव किया—वह थी अनिर्वचनीय शान्ति। मन और प्राणों पर छा जाने वाली शान्ति ! जिसके फलस्वरूप मैं अपने-आप में एक विशेष प्रकार का हलकापन भी महसूस करने लगा था।

कालीपद बाबू मृगचर्म पर बैठते हुए बोले—'तो तू कुण्डलिनी शक्ति के विषय में जानने-समझने के लिए व्याकुल है' ?

'जी हाँ !' मैंने सिर हिलाकर जबाब दिया।

शरीर और चक्र

प्रसंगानुसार शरीर और चक्र के सम्बन्ध में पीछे कुछ चर्चा की जा चुकी है। लेकिन कालीपद बाबू जैसे अनुभवी योगी ने इस विषय में जो कुछ बतलाया वह अपने-आप में अति महत्त्वपूर्ण था।

कालीपद बाबू ने कहा—योगियों ने साधना की दृष्टि से शरीर को सात भागों में विभक्त किया है। योगशास्त्र में वे भाग 'चक्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुण्डलिनी साधना का अर्थ है—उन्हीं भागों अर्थात् उन्हीं चक्रों के माध्यम से अन्तर यात्रा पर चलना ! वास्तव में वे चक्र एक प्रकार के सोपान हैं, जिन पर क्रम से चढ़ता हुआ योगी अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। लेकिन अन्तर यात्रा के मार्ग पर चलने के पूर्व उन भागों को, उन चक्रों को और उन सोपानों को जान-समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि उन्हें बिना जाने-समझे मार्ग में भटक जाने की सम्भावना है।

कुण्डलिनी साधना का एकमात्र लक्ष्य है—स्वयं तक पहुँचना। स्वयं को पहचानना। स्वयं से परिचित होना। और स्वयं को प्राप्त होना।

हम जिस शरीर से परिचित हैं। हम जिस शरीर को अपना कहते हैं।

और जिस शरीर को जाति मिली है, धर्म मिला है और मिला है नाम व रूप। वह शरीर अन्नरसों से बना अन्नमय शरीर स्थूल व पार्थिव है। हमको मालूम होना चाहिए कि यही शरीर केवल मात्र शरीर नहीं है। इसके पीछे भी कई शरीर हैं। स्थूल शरीर से बराबर तादात्म्य बनाये रखने वाला जो शरीर है, वह है—प्राणशरीर यानि विद्युत् शरीर। प्राणों में जो सबसे अधिक सूक्ष्मतम प्राण है, वह है—विद्युत्! वह विद्युत् सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त है। आज के वैज्ञानिक उसी विद्युत् को 'ईथर' कहते हैं।

कालीपद बाबू बोले—स्थूल शरीर का जो ताप है, वह विद्युत् शरीर का ही ताप है। उसी की ऊष्मा है। मृत्यु के समय पार्थिव शरीर से प्राणशरीर यानि विद्युत् शरीर के पृथक् होने के कारण ही पार्थिव शरीर शीतल हो जाता है। उसका ताप समाप्त हो जाता है। लेकिन पार्थिव शरीर से पृथक् होने के पश्चात् भी विद्युत् शरीर काफी समय तक अपना अस्तित्व बनाये रखता है। और पार्थिव शरीर से पुनः जुड़ने का बराबर प्रयास करता रहता है। उस प्रयास का कारण होता है—वासनाजन्य आकर्षण। और उसी आकर्षण को समाप्त करने के लिए हिन्दू धर्म में मृत शरीर को जलाकर भस्म कर देने का विधान है। जैसे ही मृत शरीर जल जाता है, विद्युत् शरीर का आकर्षण पार्थिव शरीर के प्रति समाप्त हो जाता है। अगर मृत शरीर को जलाया न जाय तो प्राणशरीर आत्मा को लिये उसी के आस-पास भटकता रहेगा। कब तक भटकता रहेगा? कब तक चक्कर काटता रहेगा? यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता।

वास्तव में प्राणशरीर अत्यन्त रहस्यमय और अद्‌भुत है। योगतंत्र की साधना में स्थूल शरीर का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। अगर कहीं कोई मूल्य और महत्त्व है तो केवल इतना ही कि जब तक वह है तब तक हम संसार से जुड़े हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो योगतंत्र की साधना प्राणशरीर से ही शुरु होती है। प्राणशरीर विद्युत् मय है। विद्युत् के दो रूप हैं—धन और ऋण। धन ऋण की ओर और ऋण धन की ओर प्रवाहित होता है। प्राण शरीर की धन विद्युत् धारा मस्तिष्क में प्रवाहित होती है और ऋण विद्युत् धारा शरीर के अन्य भागों में। दोनों विद्युत् धाराएँ जिस केन्द्र में मिलती हैं, वह है—हृदय। हृदय वह महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, जहाँ प्राणशरीर की दोनों विद्युत् धाराएँ मिलकर स्पन्द के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

० ० •

प्राणायाम की चरमावस्था में जब योगी प्रवेश करता है तो उसका सम्बन्ध प्राणशरीर से स्थापित होता है। प्राणायाम दो प्रकार का है—स्थूल प्राणायाम और सूक्ष्म प्राणायाम। पहले प्राणायाम का लक्ष्य है—प्राणशरीर से अधिकाधिक तादात्म्य स्थापित करना और सूक्ष्म प्राणायाम का लक्ष्य है—

प्राणशरीर को अधिकाधिक विद्युतमय कर उसकी ऊर्जा को बढ़ाना। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि पहले प्राणायाम की सफलता पर ही दूसरे प्राणायाम की सफलता निर्भर है। हमारा प्राणमय शरीर जितना अधिक विद्युत् मय होगा, उसकी ऊर्जा जितनी बढ़ेगी उतना ही हम आन्तर यात्रा में सफल होंगे। और अपनी साधना में उन्नति करेंगे। जैसे भौतिक विज्ञान के मूल में विद्युत् है, उसी प्रकार योगतंत्र के विज्ञान के मूल में भी विद्युत् है। दोनों विज्ञान विद्युत् पर आश्रित हैं।

प्राणायाम के बाद ध्यान है। ध्यान भी दो प्रकार का है—बाह्य ध्यान और आन्तर ध्यान। आन्तर ध्यान के तीन महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं—नाभि, हृदय और भ्रूमध्य। ये तीनों साधना की आन्तर यात्रा के तीन मुख्य द्वार हैं। पहला केन्द्र ज्ञान का, दूसरा केन्द्र इच्छा का और तीसरा केन्द्र क्रिया का स्थान है। साधारणतः प्राणशरीर की विद्युत् ऊर्जा बराबर हाथ-पैर की ऊँगलियों की शिराओं से, नेत्रों से, श्वास-प्रश्वास से और गुदा-मार्ग से विकीर्ण होती रहती है। लेकिन साधनावस्था में आन्तर ध्यान के समय वे अधिक-से-अधिक मात्रा में विकीर्ण होने लग जाती हैं। विकीर्ण होने का मतलब हैं प्राणशरीर की विद्युत् का क्षय और ह्रास। कहने की आवश्यकता नहीं, इसी क्षय और ह्रास को रोकने के लिए योगीगण साधनाकाल में अपने नेत्रों को बन्द रखते है। मुद्रा और आसन का प्रयोग करते हैं। गुदामार्ग से विकीर्ण होने वाली विद्युत् ऊर्जा सीधे भूमि में प्रविष्ट होती है। इसे रोकने के लिए योगीगण व्याघ्रचर्म या मृगचर्म के आसन का प्रयोग करते हैं। लकड़ी के तख्त पर बैठते हैं। ये तीनों विद्युत् ऊर्जा प्रवाह की विकीर्णता को रोक कर उसे नष्ट होने से बचाते हैं। यदि मुद्रा, आसन और व्याघ्रचर्म आदि का प्रयोग न किया जाय तो प्राणशरीर की विद्युत् समाप्त होकर साधक की मृत्यु का कभी भी कारण बन सकती है।

० ० ०

कालीपद बाबू ने बतलाया कि स्त्री-पुरुष के प्राणशरीर अलग-अलग होते हैं। सच तो यह है कि दोनों के शरीर के अन्तर का कारण एकमात्र प्राण-शरीर ही है। दोनों के स्थूल शरीर का भेद गौण है। वास्तविक भेद दोनों के प्राणशरीर में है। पुरुष के प्राणशरीर की विद्युत् धनात्मक और स्त्री के प्राण शरीर की विद्युत् ऋणात्मक है। एक का विधायक है और दूसरे का नकारात्मक है। और यही स्त्री और पुरुष के बीच आकर्षण का मूल कारण है। दोनों जहाँ एक-दूसरे के सामने आये कि दोनों की विद्युद्धारा एक-दूसरे की ओर अपने-आप प्रवाहित होने लग जाती है। लेकिन जब हम साधना काल में आन्तर ध्यान की अवस्था में होते हैं, उस समय हमारे प्राणशरीर का जो आकर्षण हैं—उसकी जो तीव्रता है—और उसकी जो विद्युत् ऊर्जा है—वह

बाहर की ओर प्रवाहित न होकर अन्तर्मुखी होने लगती है। और जिस समय विद्युत् ऊर्जा की धारा स्थूल शरीर की ओर प्रवाहित न होकर प्राण शरीर की ओर प्रवाहित होने लगती है, तो उस अवस्था में हम न पुरुष रह जाते हैं और न ही स्त्री रह जाते हैं।

० ० ०

प्रायः महापुरुष गण कहते हैं कि अपने को खोजो ! मगर सुनता कौन है ? हम सब किसी और की खोज में दौड़ते रहते हैं और वह खोज भी अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो अपने प्राणमय शरीर की ही खोज होगी। प्राणमय शरीर हर अवस्था में अधूरा है। या तो धनात्मक है या फिर ऋणात्मक। वह हमेशा दूसरे के शरीर की खोज में रहता है, ताकि उसके साथ मिलकर अपने आपको पूर्ण कर सके। आधा शरीर शेष आधे की खोज बराबर करता रहता है। यह उसकी प्राकृतिक माँग है। इसीलिए प्रत्येक पुरुष स्त्री की खोज में और प्रत्येक स्त्री पुरुष की खोज में भटक रहा है। एक-दूसरे की खोज चल रही है और बराबर चलती रहेगी।

प्रकरण : ग्यारह

कालीपद बाबू ने कहा—योगतंत्र से सम्बन्धित जितने भी प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य सुलभ हैं, उन सभी में कहीं-न-कहीं प्रसंगवश सातों चक्रों का वर्णन है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि उनका जैसा विशद विवेचन होना चाहिए वैसा कहीं भी नहीं किया गया है। सच पूछा जाय तो जिसे हम योगतांत्रिक साधना कहते हैं, वह वास्तव में उन्हीं सातों चक्रों की क्रमिक साधना है। लेकिन उन साधनाओं के विषय पर भी सन्तोषजनक और उपादेय प्रकाश कहीं नहीं डाला गया है।

इतना कहकर थोड़ा-सा हँसे कालीपद बाबू फिर बोले—इसमें किसी का दोष नहीं! सच तो यह है कि यह सब गुरुमुख-गम्य साधना है। केवल पुस्तकों का अध्ययन और सम्बन्धित विषयों का चिन्तन-मनन कर साधना को उपलब्ध नहीं किया जा सकता।

सातों चक्र क्या हैं? वास्तव में वे वह केन्द्र हैं, जहाँ प्राणशरीर स्थूलशरीर के साथ संयुक्त होता है। उसकी विद्युत् ऊर्जाएँ जहाँ स्पर्श करती हैं। जिसके फलस्वरूप हमारे स्थूलशरीर को शक्ति मिलती है, जीवन मिलता है और मिलता है प्राण।

उन चक्रों का अनुभव अथवा ज्ञान कैसे प्राप्त होता है—मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कालीपद बाबू बोले—ध्यान के द्वारा! एकमात्र ध्यान ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम अपने भीतर प्रवेश करते हैं और प्रवेश कर सातों चक्रों का अनुभव प्राप्त करते हैं। सच तो यह है कि ध्यान बाह्य जगत् से आन्तर जगत में प्रवेश करने का एकमात्र द्वार है। तुमको मालूम होना चाहिए कि सभी व्यक्तियों का साधारण रूप से कोई-न-कोई चक्र सक्रिय अवश्य रहता है। वे चक्र हमारे व्यक्तित्व के परिचायक भी हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध में विशेषरूप से भी जान-समझ लेना आवश्यक है। किसका कौन-सा चक्र सक्रिय है—यह ज्ञात हो जाने पर हम उसके भीतर प्रवेश कर सकते हैं और उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं। यदि स्वयं हमें यह मालूम हो जाय कि हमारा कौन-सा चक्र साधारण रूप से सक्रिय है, तो हमें अपने वास्तविक स्वरूप को और अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को जानने-समझने में आसानी होगी। जब हमें यह पता चल जायेगा कि हम इस प्रकार के व्यक्ति हैं! तो हम यह भी जान लेंगे कि हम कहाँ खड़े हैं? और हम जहाँ खड़े हैं, वहीं से हमारी साधना-यात्रा शुरू होगी। जिस व्यक्ति को स्वयं यह पता नहीं है कि वह कहाँ खड़ा है तो साधना-मार्ग पर वह फिर कैसे

चल सकेगा ? साधना-मार्ग पर चलने के पूर्व यह जान लेना परम आवश्यक है कि हम कहाँ और किस रूप में खड़े हैं ? मेरा आन्तरिक व्यक्तित्व क्या है ? वास्तव में यह न जानने-समझने के कारण ही किसी साधना में हम सफल नहीं होते। हमें कहाँ जाना है ? यह जानना काफी नहीं है। उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है यह जानना कि हम कहाँ हैं ? क्योंकि हम जहाँ हैं वहीं से हम चलेंगे उस दिशा में—जहाँ हमें पहुँचना है।

सक्रिय चक्र हमारे आन्तरिक स्वरूप और व्यक्तित्व के परिचायक

हमारे शरीर में जो सबसे अधिक रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण हैं—वे सात चक्र हैं। हम अपने स्थूलशरीर में उन्हें नाड़ी-गुच्छों के रूप में देख सकते हैं। तन्तु-समूहों के रूप में उनका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। मगर उनकी आन्तरिक प्रक्रियाओं और आन्तरिक सूक्ष्म प्रभावों को नहीं देख सकते हैं। हाँ ! उनका अनुभव अवश्य कर सकते हैं।

० ० ०

पहला चक्र मेरुदण्ड यानि रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से के अन्तिम सिरे पर स्थित है। यह काफी महत्त्वपूर्ण और अतिशय रहस्यमय है। अन्तिम यानि सातवाँ चक्र हमारे सिर के ऊपर है। उन दोनों के बीच में पाँच चक्र और हैं। दूसरा चक्र जननेन्द्रिय के पास है। वह काम को, वासना को प्रभावित और आन्दोलित करता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के प्राक् काल में जैसे ही मनुष्य को जननेन्द्रिय का महत्त्व मालूम हुआ, उसने उसे ढँकने, छिपाने का प्रयास किया। भले ही पत्तों से या जानवरों की खाल से छिपाया हो उसने। छिपाने का कारण अतिशय महत्त्वपूर्ण था। आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वह ऐसा केन्द्र है कि यदि उसे ध्यानपूर्वक स्थिरदृष्टि से देखा जाय तो वह तत्काल प्रभावित हो उठेगा और हो उठेगा चैतन्य भी। इसलिए शरीर के अन्य अंगों को खुला छोड़ रखने में मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं हुई। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान के चक्र को ढँक लेने की अनिवार्यता मालूम पड़ी उसे। क्योंकि सबसे अधिक सक्रिय वही चक्र है मानव शरीर में। प्रकृति को उसी की सबसे अधिक आवश्यकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि मनुष्य अपने-आप को उसी चक्र के द्वारा पुनर्स्थापित करता है। उसी के द्वारा मनुष्य सन्तान के रूप में नये शरीरों को जन्म देने की तीव्रता और आकुलता का भी अनुभव करता है अपने-आप में। जन्म की सारी प्रक्रिया उसी चक्र से चल रही है। जो मनुष्य उस चक्र के प्रभाव में सबसे अधिक है अथवा जिस मनुष्य का वह चक्र सबसे अधिक सक्रिय है, उसके जीवन में सिवाय काम के, सिवाय वासना के और कुछ भी नहीं होता। उसका सारा जीवन वासनामय होता है। उसके कर्म, उसके

व्यापार उसके साहित्य और उसकी सारी यश-कीर्ति और पद-प्रतिष्ठा के मूल में कामवासना की तृप्ति ही होती है। मतलब यह कि उसके जीवन का लक्ष्य वहीं केन्द्रित होता है।

अगर हम अपने आन्तरिक व्यक्तित्व के विषय में छान-बीन करना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम यह छान-बीन करनी चाहिए कि हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व का केन्द्र क्या है? हम कहाँ जीते हैं? और हमारे व्यक्तित्व का जो केन्द्र है—वह इस बात की सूचना होगी कि हमारे शरीर में कौन-सा चक्र सर्वाधिक सक्रिय और महत्त्वपूर्ण है। यह ध्यान रहे कि जो चक्र महत्त्वपूर्ण होगा, हमें उसी के माध्यम से अपने सम्पूर्ण जीवन को देखना और पहचानना होगा। यह तुमको मालूम होना चाहिए कि हम वही देखते हैं, जो हम हैं। जो हम नहीं हैं वह हम नहीं देख सकते। यह सारा जगत् हमारे भीतर का ही प्रोजेक्शन है। सारा जगत् एक परदा है। उस पर हम वही देखते हैं जो हमारे भीतर छिपा हुआ है। अगर किसी मनुष्य को जीवन में चारों तरफ काम यानि वासना ही दिखलायी पड़ती है तो उसे समझ लेना चाहिए कि उसके आन्तरिक व्यक्तित्व में 'कामकेन्द्र' सर्वाधिक सक्रिय है। जैसा कि हमने बतलाया कि प्रकृति को अन्य केन्द्रों की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी की कामकेन्द्र की आवश्यकता है। क्योंकि वह उसी के द्वारा नये शरीरों को जन्म दे सकती है। सारी सृष्टि के मूल में एकमात्र वही कामकेन्द्र है। कामकेन्द्र ही सृष्टि का द्वार है। मानवेतर प्राणियों यानि समग्र जीव-जन्तुओं व पशुओं में भी वही एक केन्द्र सक्रिय है और कोई केन्द्र सक्रिय नहीं है। मनुष्यों में भी सर्वाधिक कामकेन्द्र सक्रिय मिलेगा तुमको। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। पशु और मनुष्य दोनों में केवल कामकेन्द्र ही सक्रिय है। जब तक उसे निष्क्रिय नहीं किया जायेगा तब तक अन्य केन्द्र सक्रिय नहीं हो सकेंगे। और उसे निष्क्रिय करने का एकमात्र उपाय है—ब्रह्मचर्य। पशु और मनुष्य में यहीं से भेद शुरु होता है। पशु ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। इसलिए वह पशुता से ऊपर भी नहीं उठ सकता। मगर मनुष्य चाहे तो ब्रह्मचर्य का पालन कर पशु की श्रेणी से ऊपर अवश्य उठ सकता है। ब्रह्मचर्य का केवल इतना ही उद्देश्य है कि कामकेन्द्र निष्क्रिय हो जाय। और कामकेन्द के ब्रह्मचर्य के द्वारा निष्क्रिय होते ही अन्य चक्रों के सक्रिय होने की सम्भावना तत्काल उत्पन्न हो जाती है।

० ० ०

कामकेन्द्र के बाद जो दूसरा केन्द्र है, वह है—नाभि का केन्द्र। वह भय का केन्द्र है। जब हम किसी प्रकार भयभीत होते हैं तो हमारी नाभि डाँवाडोल हो जाती है। मल-मूत्र भी छूट जाता है। भय के कारण नाभि इतनी सक्रिय हो जाती है कि पेट का खाली होना आवश्यक हो जाता है। किसी-किसी

मरणासन्न व्यक्ति को देखा जाता है कि मरते समय उसके मल-मूत्र छूट जाते हैं। उसका कारण और कुछ नहीं—मृत्यु का भय होता है। मृत्यु के भय के कारण मल-मूत्र छूट जाटे हैं। जब हम किसी कारणवश भयभीत और चिन्तित होते हैं तो हमारी पाचन-क्रिया खराब हो जाती है।

० ० ०

कालीपद महाशय थोड़ा ठहर कर आगे बोले—चक्रों का प्रभाव शुरु से ही विश्व-सभ्यता और संस्कृति पर भी पड़ा। चक्रों के आधार पर ही विश्व-सभ्यता और संस्कृति की क्रमिक उन्नति अब तक हुई है। दोनों के अभ्युदय काल में सर्वाधिक सक्रिय कामकेन्द्र था। सृष्टि के मूल में 'काम' होने के कारण उस समय 'काम' को महत्त्व दिया गया था। उसे गरिमा प्रदान की गयी थी। देवता की संज्ञा भी दी गयी थी। 'काम' को 'कामदेव' कहा गया था। यही सब एकमात्र कारण है कि उस समय की सभ्यता और संस्कृति ने जिस धर्म और जिस साधना-उपासना को जन्म दिया, वह पूर्णरूप से काम और उसकी विभिन्न कलाओं पर आधारित था। और यही कारण है कि जितने भी प्राचीन धर्म हैं—उनके जो प्रतीक हैं—वे जननेन्द्रिय के प्रतीक हैं। हमारे देश का सबसे प्राचीन धर्म शैवधर्म और शाक्तधर्म है। शैवधर्म का प्रतीक शिव का शिवलिंग और शाक्तधर्म का प्रतीक शिवा यानि शक्ति का प्रतीक योनि है। बाद में जब वे दोनों धर्म मिले तो उनके समन्वय स्वरूप को शैव-शाक्त धर्म की संज्ञा मिली। जिसका प्रतीक बना अर्घा-युक्त शिवलिंग। अर्घा शाक्तधर्म का प्रतीक योनि है।

यूनान, रोम, मिस्र, मेसोपोटामिया, बेबीलोन, सीरिया आदि प्राचीन देशों के अलावा हड़प्पा, मोहिंजोदड़ों में जो सबसे प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। वे सब भी जननेन्द्रिय के ही प्रतीक हैं। वे सब लैंगिक है।

इस समीक्षा से ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग बीस हजार वर्ष पहले संसार में जो भी सभ्यता थी, वह जानवरों से बहुत आगे विकसित नहीं हुई थी। इसलिए भगवान् अथवा देवी-देवताओं का प्रतीक भी जननेन्द्रिय हो सकती थीं। वही केन्द्र सर्वाधिक सक्रिय था। कालान्तर में जब सभ्यता विकसित हुई और मनुष्य वासना की सीमा से बाहर निकला—उस अवस्था में उसने जो सोचना-समझना शुरु किया और उसने जो चिन्तन-मनन किया—उसके आधार पर भगवान् अथवा देवी-देवताओं की जो मूर्तियाँ बननी शुरु हुईं वे सब भयंकर थीं। भयभीत करने वाली थीं। डरावनी थीं। उनके अस्त्र-शस्त्र और उनके वाहन आदि भी भयानक थे। आज के रुद्र, भैरव, काली आदि देवी-देवता उसी समय के थोड़े विकसित रूप हैं। जो आज भी भयभीत करने वाले और डराने वाले रूप समझे जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य का जो तीसरा केन्द्र—नाभिकेन्द्र, भय का केन्द्र—उसी ने भयभीत करने वाले भयानक

रूप-रंग के देवी-देवताओं को जन्म दिया है—इसमें सन्देह नहीं। ऐसे ही देवी-देवताओं के सम्मुख हाथ जोड़कर, सिर नवा कर प्रार्थना करने वाले लोग कहते हैं—भगवन्! रक्षा करो! मुझे बचाओ! मेरे शत्रुओं का नाश करो। भय, कष्ट और दुःखों का निवारण करो। मुझे चिन्ता से मुक्त करो। कहने की आवश्यकता नहीं, ऐसे शब्दों का प्रयोग करने वाले लोग स्वयं भयभीत और चिन्तित रहते हैं। निश्चय ही उनका नाभिकेन्द्र सर्वाधिक सक्रिय होगा।

अपने स्वभाव के अनुसार थोड़ा रुककर फिर हँसते हुए कालीपद महाशय आगे बोले—तुमने कभी यह सोचा है कि मन्दिरों में पुरुषों से अधिक स्त्रियों की संख्या क्यों अधिक रहती है? इसका कारण अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुषों से अधिक स्त्रियों का नाभिकेन्द्र क्षीण होता है। इसलिए स्त्रियाँ अधिक भयभीत और चिन्तित रहती हैं। उनका नाभिकेन्द्र इसलिए क्षीण होता है, क्योंकि उन्हें गर्भ धारण करना पड़ता है।

० ० ०

नाभिकेन्द्र के बाद जो केन्द्र है—वह है हृदय केन्द्र। यह चौथा केन्द्र राग, मोह, आकर्षण का केन्द्र है। इस केन्द्र से प्रभावित व्यक्ति को राग, मोह, आसक्ति अधिक होगी। वह किसी ऐसे भक्ति-मार्ग को अपनायेगा, जिसमें राग, मोह और आसक्ति की अधिकता होगी।

० ० ०

हृदय केन्द्र के बाद जो केन्द्र है—वह है कण्ठ का केन्द्र। यह वाणी और विचार का केन्द्र है। इस केन्द्र से प्रभावित व्यक्ति प्रायः विचारों में ही डूबा रहता है और अधिक बोलता भी है। उसका सारा जीवन विचार करने और बातें करने में ही समाप्त हो जाता है। इस केन्द्र को निष्क्रिय करने का एकमात्र उपाय है—'मौन'!

० ० ०

छठा केन्द्र हमारे दोनों भौंहों के बीच में है। योगशास्त्र में इसे आज्ञाचक्र कहा गया है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चक्र है। लेकिन वह अतिक्षीण होता है। इस चक्र के द्वारा व्यक्ति अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर उसका विकास कर सकता है। आज्ञाचक्र संकल्प का केन्द्र है। चक्र की क्षीणता अथवा शिथिलता के कारण हमारा संकल्प भी शक्तिहीन और क्षीण होता है। हम संकल्प करते अवश्य हैं लेकिन शक्ति के अभाव में उसे साकार नहीं कर पाते। हमारी संकल्प-शक्ति तभी सक्रिय हो सकती है, जब हम आज्ञाचक्र पर चित्त को एकाग्र करेंगे और उस पर ध्यान करेंगे। ध्यान के द्वारा आज्ञाचक्र की क्षीणता और शिथिलता समाप्त होती है और संकल्प में शक्ति का संचार होता है। तब हम जो निर्णय करेंगे, वह निश्चित रूप से पूर्ण होगा (इस

विषय पर विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी — ले०)। आज्ञाचक्र की सक्रियता का मतलब है विचारों में सजीवता और संकल्पशक्ति का उदय। ऐसी अवस्था में संकल्प के साथ व्यक्त किये गये विचारों में सजीवता आ जाती है। उसमें एक ऊर्जा और एक शक्ति आ जाती है। अस्तु।

० ० ०

हम भगवान् के सामने रोते-गिड़गिड़ाते हैं। प्रार्थना करते हैं। नमस्कार-प्रणाम करते हैं। पूजा-पाठ करते हैं। जप-तप करते हैं। मगर सब सन्दिग्ध ही रहता है। उन सबका कोई सार्थक परिणाम नहीं निकलता है। तब हम कहते हैं कि सब कुछ व्यर्थ है। क्यों? इसलिए कि हमारा आज्ञाचक्र क्षीण है। शिथिल है। अगर सक्रिय हो तो वह सब पूर्ण रूप से सार्थक होगा। उन सबका फल भी मिलेगा।

० ० ०

जैसा कि संकेत किया जा चुका है — चक्रों को सक्रिय करने का एकमात्र उपाय है — ध्यान। जिस चक्र पर हम ध्यान केन्द्रित करेंगे, वही चक्र सक्रिय हो जायेगा। ध्यान चक्रों का भोजन है। एकमात्र शक्ति है। जो चक्र ध्यान के फलस्वरूप सक्रिय होगा वह गर्म हो जायेगा। उसका स्थान गर्म हो जायेगा। यही सक्रियता की पहचान है।

० ० ०

आज्ञाचक्र के बाद जो चक्र है, उसका नाम है—सहस्रारचक्र। इसे ब्रह्म-चक्र भी कहते हैं। यह भी निष्क्रिय है। अगर यह सक्रिय हो जाय तो हम स्थूलशरीर से सूक्ष्मशरीर या मनोमय शरीर को अलग कर सकते हैं। किसी दूसरे के स्थूल शरीर में प्रवेश भी कर सकते है। इसी को परकाया प्रवेश कहते है। योगतंत्र की अति दुर्लभ सिद्धि है यह। ब्रह्मचक्र के सक्रिय होने पर हमें ज्ञात होता है कि हम यह शरीर नहीं हैं। हम कुछ और ही हैं। हमारा अस्तित्व कुछ और ही है। हम अपने-आप का बोध शरीर से अलग होकर करने लग जायेंगे।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि सातों चक्र एक-दूसरे के ऊपर अव-स्थित हैं। जो चक्र जितना ऊपर है, वह उतना ही ऊपरी विकास का प्रमाण है। ब्रह्मचक्र को सक्रिय करने का उपाय भी ध्यान है। लेकिन ध्यान के समय 'मैं कौन हूँ' का भी मन-ही-मन उच्चारण होना चाहिए। 'मैं कौन हूँ' के साथ किये गये ध्यान से ब्रह्मचक्र सक्रिय होता है। इसकी सक्रियता का प्रमाण यह है कि 'मैं कौन हूँ' का उत्तर मिल जाता है। और अपने वास्तविक स्वरूप का बोध भी हो जाता है।

० ० ०

हमने सात चक्रों की चर्चा तुमसे की है—कालीपद बाबू बोले—जिनमें कामकेन्द्र शक्ति के निष्कासन का केन्द्र है और आज्ञा का केन्द्र यानि आज्ञाचक्र शक्ति के आमन्त्रण का केन्द्र है। इन दोनों के बीच तीन केन्द्र हैं—नाभिकेन्द्र, हृदयकेन्द्र और कण्ठकेन्द्र। ये तीनों शरीर की आन्तर क्रिया के केन्द्र हैं। जो शरीर की भीतरी क्रियाओं को गतिमान रखते हैं।

कामकेन्द्र के ठीक नीचे एक गुप्त और अत्यन्त रहस्यमय केन्द्र है—जिसे योग की भाषा में मूलाधारचक्र कहते हैं। मूलाधारचक्र शक्ति का केन्द्र है। उस शक्ति का जिसे हम कुण्डलिनी-शक्ति कहते हैं। कामशक्ति कहते हैं। ब्रह्मशक्ति कहते हैं। और कहते हैं आदिशक्ति महामाया। इसी प्रकार सातवाँ केन्द्र ब्रह्म-चक्र यानि सहस्रारचक्र भी शक्ति का केन्द्र है। किन्तु मूलाधार की शक्ति और सहस्रार की शक्ति में अन्तर है। मूल में दोनों एक ही हैं, लेकिन उनके अभि-व्यक्तिकरण की दिशा भिन्न है। मूलाधार की शक्ति ऋणात्मक और सहस्रार की शक्ति धनात्मक है। तंत्र में इन दोनों को शिवा-शक्ति और शिव-शक्ति कहते हैं। ये ही दोनों शक्तियाँ तंत्र की साधना-भूमि में शिव और शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ही दोनों शक्तियाँ अपने समिष्ट रूप में सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में भी व्याप्त हैं और ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के रूप में क्रियाशील हैं। और आज्ञाचक्र के मार्ग से प्रवेश कर सहस्रार केन्द्र और मूलाधार केन्द्र में व्यष्टि रूप में अव-स्थित हैं। किन्तु प्रसुप्त अवस्था में है। अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रसुप्त नहीं हैं। दोनों का कुछ अंश जाग्रत् और सक्रिय भी है। मूलाधार की शक्ति का जाग्रत् अंश कामवासना के रूप में सक्रिय है। शुक्र-बिन्दु उसका स्थूल रूप है। इसी प्रकार सहस्रार की शक्ति का जाग्रत् अंश ज्ञानशक्ति के रूप में सक्रिय है। रजो बिन्दु उसका स्थूल रूप है। तंत्र में ये दोनों बिन्दु रक्तबिन्दु और श्वेतबिन्दु के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, यह तंत्र का अतिगूढ़ गोपनीय एवं रहस्यमय विषय है…। समय अधिक हो गया है। फिर इस पर चर्चा होगी। वास्तव में समय काफी हो गया था। घड़ी की ओर देखा—रात के दस बज रहे थे। मैं उठा और कालीपद बापू का चरण-स्पर्श कर बाहर निकल आया।

वह कृष्णवर्णा कन्या कौन थी ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि अब मुझे खोज की सही दिशा मिल गयी थी। उस रात सो न सका मैं। पूरी रात जागता रहा। बराबर कालीपद बाबू के एक-एक शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे। मन में जो थोड़ी-बहुत शान्ति बची थी, अब वह भी समाप्त हो गयी थी। अशान्त और उद्विग्न हो उठा था मेरा चित्त। भोर के समय थोड़ी-सी झपकी लगी और उसी तन्द्रिल अवस्था में मैंने एक लड़की को देखा, जिसे मैंने शिवशिवा मन्दिर में देखा था। वही कृष्णवर्णा रूप ! वही अपूर्व सौन्दर्य ! वही माधुर्य और वही घनी केशराशि !

कहीं कोई अन्तर नहीं था। उसके चारों ओर एक स्निग्ध शुभ्र प्रकाश फैल रहा था उस समय। वह कृष्णवर्णा कन्या मेरी ओर निहारती हुई मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। और उसी प्रकार मुस्कराती हुई धीरे से बोली—तू अशान्त क्यों है ? साधना का एक ही अर्थ है और वह यह कि प्रकृति जिस विकास को लाखों, करोड़ों वर्षों में पूर्ण कर पाती है, साधक उसे अति तीव्रता से, अति शीघ्र, अल्प समय में पूर्ण कर लेता है, लेकिन शान्त चित्त से। साधना के लिए शान्त मन और स्थिर चित्त का होना आवश्यक है। अन्धकार से प्रकाश की ओर—मृत्यु से अमृत की ओर—असत् से सत् की ओर चलना आत्मा की आकांक्षा है। और यही आकांक्षा लेकर वह बार-बार जन्म ग्रहण करती है। यदि तुम शान्त हो तो तुम्हें समझना चाहिए कि तुम उसी आकांक्षा की पूर्ति के मार्ग पर अग्रसर हो। और यदि तुम अशान्त हो तो तुम्हें समझना चाहिए कि तुम उसके विपरीत दिशा में जा रहे हो। शान्ति और अशान्ति दोनों लक्ष्य नहीं हैं। दोनों सूचक हैं। दोनों लक्षण हैं। शान्त मन इस बात का सूचक है कि तुम जीवन की अनुकूल दिशा में चल रहे हो। अशान्त मन इस बात का सूचक है कि तुम जीवन की विपरीत दिशा में चल रहे हो। शान्ति और अशान्ति इस बात के लक्षण हैं कि तुम्हारे जीवन के विकास को सम्यक् दिशा मिली है या असम्यक् दिशा। शान्ति लक्ष्य नहीं है। अगर तुम शान्ति को लक्ष्य बनाते हो तो समझ लो कि तुम कभी भी शान्त न हो पाओगे। अशान्ति को भी सीधा मिटाना सम्भव नहीं है। अगर तुम अशान्ति को मिटाने में लग जाओगे तो और भी अशान्त होते चले जाओगे।

उस लावण्यमयी श्यामवर्णा षोडशी कन्या की वाणी में कितनी मधुरता थी बतला नहीं सकता मैं। उसके प्रत्येक शब्द मेरी आत्मा को झकझोर दे रहे थे।

अगर तुम यह सोचते हो कि तुम्हारे पास धन-सम्पत्ति, वैभव आदि नहीं हैं, इसलिए अशान्ति है जीवन में, तो यह सोचना तुम्हारा भ्रम है। अगर तुमको ये सब प्राप्त भी हो जायेंगे तब भी तुम्हारी अशान्ति समाप्त नहीं होगी, बल्कि बढ़ जायेगी। दरिद्र व्यक्ति उतना अशान्त नहीं होता, जितना कि समृद्ध व्यक्ति अशान्त और अस्थिर होता है।

मानव-जीवन के तीन तल हैं—शरीर का तल, मन का तल और आत्मा का तल। इन तीन तलों पर आधारित है—मानव-जीवन। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों की अपनी-अपनी आवश्यकताएँ हैं। रोटी, कपड़ा, मकान—ये शरीर की आवश्यकताएँ हैं। अगर शरीर की आवश्यकता पूरी न हो तो उसकी यात्रा कष्ट और पीड़ा की यात्रा बन जायेगी। शरीर का अभाव जीवन को कष्ट से भर देगा। अशान्ति से नहीं कष्ट से भर जायेगा। सम्भव है एक व्यक्ति कष्ट में हो और अशान्त न हो। यह भी सम्भव है कि वह कष्ट में भी हो और अशान्त भी हो। लेकिन प्रायः यही होता है कि जो व्यक्ति कष्ट में होता

है उसको अपनी अशान्ति का पता ही नहीं चलता। वह कष्ट में इतना उलझ जाता है कि अशान्ति की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा पाता। जब व्यक्ति के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं, तभी उसे अशान्ति का ज्ञान होता है। दरिद्र व्यक्ति कष्ट में होता है और समृद्ध व्यक्ति अशान्ति में होता है। कष्ट का सम्बन्ध शरीर से है। अगर शरीर के अभाव की पूर्ति हो जाय तो सारे कष्ट समाप्त हो जायेंगे अपने-आप। लेकिन तुम यह समझ लो कि शरीर के तल पर सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं। कष्ट का अभाव सुख नहीं है। मगर व्यक्ति उसे ही सुख समझ लेता है। यह उसका भारी भ्रम है। शरीर दुःख दे सकता है। सुख कभी भी नहीं दे सकता। इसलिए जो शरीर के तल पर जीवित रहते हैं उन्हें सुख का अनुभव कभी नहीं हो सकता। ऐसे लोगों को दुःख का अनुभव होता है और दुःख से बचने का अनुभव होता है। रोटी, कपड़ा, मकान मिल गया और उनका दुःख समाप्त हो गया। कष्ट समाप्त हो गया। शरीर बस, यहीं ठहर जाता है।

० ० ०

शरीर के भीतर मन है। मन की आवश्यकता है—साहित्य, कला, दर्शन, संगीत आदि। उस कन्या ने हँसकर कहा—यदि ये सब चीजें तुमको न मिले तो तुमको क्या कोई कष्ट होगा? नहीं! नहीं होगा कष्ट। क्योंकि मन के जगत् में इतनी सारी वस्तुएँ हैं कि जिनका तुमको ज्ञान नहीं है। मन की आवश्यकताएँ अनन्त हैं। उसकी कोई सीमा नहीं है। अगर मन की अनन्त आवश्यकताओं का ज्ञान अथवा अनुभव तुमको नहीं है तो कष्ट न होगा। हाँ! यदि उनका ज्ञान और अनुभव हो तो सुख अवश्य मिलेगा तुमको। कालिदास का सरस साहित्य नहीं पढ़ा है। किसी संगीतकार का सितार नहीं सुना है। वेदान्तदर्शन का अध्ययन नहीं किया है। किसी कलाकार की कला का आनन्द नहीं लिया है—तो कष्ट न होगा। यदि पढ़ा है, सुना है, अध्ययन किया है और आनन्द लिया है तो अवश्य सुख मिलेगा।

शरीर के तल पर सुख नहीं है। केवल दुःख का अभाव है। मन के तल पर सुख है और सुख का अभाव है। समझ गये न! क्योंकि शरीर में पुनरुक्ति दोष है, जबकि मन में पुनरुक्ति दोष नहीं है। लेकिन मन की एक अपनी विशेषता है और वह यह कि मन के तल पर जो सुख मिलते हैं, वह क्षणिक होते हैं। क्योंकि मन को जो सुख एक बार मिला वह सुख उसकी पुनरुक्ति में नहीं मिलेगा। एक ही वस्तु को बार-बार दुहराने से मन में ऊब पैदा हो जाती है। मन घबड़ा जाता है। मन प्रत्येक बार नये सुख की आकांक्षा करता है। शरीर हमेशा पुराने सुख की आकांक्षा करता है। शरीर और मन की आवश्यकताओं में बस यही अन्तर है। शरीर एक प्राकृतिक यंत्र है। मन प्राकृतिक यंत्र नहीं है। शरीर नित्य पुनरुक्ति चाहता है। वह उसमें किसी प्रकार का

अन्तर नहीं चाहता। जबकि मन प्रति पल नवीनता की अभिलाषा करता है। पुराने से ऊब जाता है। घबड़ा जाता है। शरीर के तल पर किसी प्रकार की ऊब नहीं। ऊब है मन के तल पर। मन जितना विकसित होगा, ऊब भी उतनी ही बढ़ती जायेगी। सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य ही अकेला प्राणी है, जो ऊबता है और हँसता है। ऊबना और हंसना केवल मनुष्य ही जानता है। पशु ऊबना और हँसना नहीं जानते। पक्षी भी ऊबना और हँसना नहीं जानते। जो ऊबता नहीं है, वह हँसता भी नहीं है। वास्तव में हँसी ऊब को मिटाने का उपाय है। न कोई पशु-पक्षी ऊबता है, न कोई पशु-पक्षी हँसता ही है। यह भी तुमको समझ लेना चाहिए कि कोई पशु-पक्षी आत्महत्या भी नहीं करता। आत्महत्या भी मनुष्य ही करता है। क्योंकि वह ऊबता है। जब ऊब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तभी मनुष्य आत्महत्या करता है। तभी अपने जीवन को समाप्त करता है।

० ० ०

जो व्यक्ति मन और शरीर के बीच जीवित रहता है, वह हमेशा अशान्त ही रहेगा। जिसे शाश्वत सुख की झलक न मिली हो, वह शान्त कैसे रह सकेगा? शाश्वत सुख में ही शान्ति है। शाश्वत सुख की उपलब्धि न शरीर के तल पर सम्भव है और न तो मन के तल पर ही। लेकिन फिर भी शरीर के तल पर जीने वाला व्यक्ति एक अर्थ में शान्त अवश्य मालूम पड़ेगा। लेकिन उसकी शान्ति मरी हुई शान्ति होगी। शान्ति दो प्रकार की होती है—जीवित और मृत। तुमको श्मशान में, मरघट में और कब्रिस्तान में भी शान्ति मिलेगी। क्यों कि वहाँ कोई है ही नहीं जो अशान्त हो सके। मरघट, श्मशान और कब्रिस्तान की शान्ति मृत शान्ति है। जो लोग शरीर-तल पर जीवित रहते हैं, उनकी शान्ति वास्तव में मरघट, कब्रिस्तान और श्मशान की मृत शान्ति के समान है। उनकी शान्ति श्मशान की शान्ति है। इसी अर्थ में वे शान्त हैं। शरीर-तल की आवश्यकताओं की पूर्ति से प्राप्त सन्तोष मृत शान्ति को ही जन्म देता है। ऐसा सन्तोष केवल चेतना का अभाव है। होश नहीं है भीतर। भीतर बेहोशी भरी है।

जो लोग शरीर के तल पर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनकी स्थिति पशुओं से अधिक भिन्न नहीं हो सकती। पशु का अर्थ है—शरीर के तल पर ही सन्तुष्ट हो जाना। शान्त हो जाना। मनुष्य का अर्थ है—मन के तल पर अशान्त हो जाना। देवता का अर्थ है—आत्मा के तल पर शान्त हो जाना।

शरीर और आत्मा के बीच 'मन' है। शायद तुमने कभी अनुभव किया होगा कि अचानक मन को एक पल के लिए सुख की, आनन्द की झलक मिल जाती है। तुमने कभी यह सोचा है कि उस सुख की झलक कहाँ से आती है? वह झलक आती है आत्मा से। जब कभी मन एक पल के लिए, एक

क्षण के लिए स्थिर हो जाता है, मौन हो जाता है तो उस समय आत्मा से निकल कर वह झलक मन में अपने-आप उतर आती है। उसी प्रकार जैसे काली अँधेरी रात में एक क्षण के लिए बादल की बिजली चमक जाय तो उजाला हो जाता है और फिर घोर अंधकार छा जाता है पहले की तरह। मन तो अन्धकार है। लेकिन किन्हीं क्षणों में जब वह मौन हो जाता है, स्थिर हो जाता है तो उसके पीछे छिपी आत्मा का प्रकाश उसमें उतर आता है।

शान्ति और आनन्द दोनों तुम्हारे भीतर हैं। इसलिए ये तुमको बाहर कहीं नहीं मिलेंगे। कितना खोजो बाहर, कभी नहीं मिलेंगे। जब भी मिलेंगे भीतर ही मिलेंगे। क्योंकि दोनों आत्मा की वस्तु है। आत्मा का गुण है। आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का विषय है। वह इसीलिए प्राप्त नहीं होता क्योंकि बीच में मन है। और मन अस्थिर है। उसी अस्थिरता के कारण मनुष्य को दोनों की उपलब्धि नहीं होती। मन स्थिर हो जाय, चित्त एकाग्र हो जाय तो तत्काल दोनों का अनुभव होगा। अगर वास्तव में शान्ति, सुख और आनन्द को उपलब्ध करना चाहते हो तो मन को, चित्त को स्थिर करो, एकाग्र करो। और इसके लिए एकमात्र उपाय है—'ध्यान'। ध्यान मन को स्थिर करने का, चित्त को एकाग्र करने का साधन है। स्थिर मन में आत्मा का प्रकाश स्वयं उतर आता है। स्वयं आत्मा से निकल कर शान्ति छा जाती है मन के आकाश पर।

० ० ०

शान्ति मानसिक घटना नहीं है। मन के तल पर केवल अधिक-से-अधिक समायोजन हो सकता है उसका। शान्ति आध्यात्मिक घटना है। आध्यात्मिक उपलब्धि की छाया है। शरीर के तल पर घोर अन्धकार है। मन के तल पर घोर आवाजें हैं। बहुत सारी ध्वनियाँ हैं। मन एक विस्तार है। तुमने जो भी जाना-समझा है, तुमने जो भी जीया है और जो भी अनुभव किया है—वहाँ उस विस्तार से वह सब कुछ उपस्थित है। जीवित है। विद्यमान है। तुम्हारे सैकड़ों-हजारों जन्मों का इतिहास मन के उस विस्तार पर लिखा है। वह कभी भी मिटने वाला नहीं। तुम्हारा मन तुम्हारे अनन्त जन्मों का अद्भुत संग्रह है। इसीलिए तुमको मन के तल पर केवल भीड़ मिलेगी। ध्वनियाँ मिलेंगी। आवाजें मिलेंगी। जिससे तुम घबरा जाओगे। पागल हो जाओगे। अशान्ति, अशान्ति और अशान्ति के अलावा और कुछ वहाँ नहीं मिलेगा तुम्हें। समझ गये न। वास्तविक शान्ति और सच्चे अर्थों में शान्ति की उपलब्धि तभी हो सकती है जब कि तुम आत्मा के तल में प्रवेश करोगे। जैसे शरीर की आवश्यकता रोटी है और मन की आवश्यकता सुख है। उसी प्रकार आत्मा की भी कुछ आवश्यकता है। और वह आवश्यकता है—परमात्मा। परमात्मा आत्मा का भोजन है। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने

भोजन को पाने के लिए आत्मा भटक रही है न जाने कितने जन्म-जन्मातरों से। बार-बार उसका जन्म लेने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो।

जब जिस समय तुम आत्मा के तल पर प्रवेश करोगे, उसी क्षण तुम्हें अपनी आत्मा में परमात्मा की अनुभूति होगी। और वह अनुभूति जिस शान्ति और जिस आनन्द की सृष्टि करेगी, वही वास्तविक शान्ति होगी। और होगा वास्तविक आनन्द। योगीगण उसी शान्ति को परमशान्ति कहते हैं। उसी आनन्द को परम आनन्द कहते हैं। परमशान्ति ही जीवित शान्ति है। और अन्य प्रकार से उपलब्ध शान्तियाँ मृत शान्ति है। श्मशान की, मरघट की, कब्रिस्तान की शान्ति है। अशान्ति का अर्थ है—बाहर घूमना। शान्ति का अर्थ है—भीतर प्रवेश करना। आत्मा के तल में प्रवेश करना; और वह प्रवेश एकमात्र ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। ध्यान की गहरी अवस्था—जिसे योगीगण समाधि की संज्ञा देते हैं—में ही शरीर और मन की सीमा पार कर आत्मा के तल पर प्रवेश किया जा सकता है। अगर तुम वास्तव में शान्ति चाहते हो, वास्तव में आनन्द का अनुभव करना चाहते हो तो ध्यान की गहरी अवस्था में, समाधि की अवस्था में प्रवेश करो। प्रवेश करना ही होगा तुम्हें··· । और इस अन्तिम शब्द के साथ मैंने देखा—वह कृष्णवर्णा रहस्यमयी कन्या एक शुभ्र नीलाभ प्रकाशपुन्ज में बदल गयी और फिर वह प्रकाश धीरे-धीरे चारों तरफ फैलता-फैलता अन्त में क्षीण हो गया। और उसी के साथ मेरी आँखें भी खुल गयीं अपने-आप। देखा पूरब का आकाश सफेद हो रहा था। सबेरा होने वाला था। पक्षी चहचहाने लग गये थे। कौन थी वह कृष्णवर्णा कन्या? कौन थी वह? अपने-आप से प्रश्न कर बैठा मैं। एक-एक शब्द गूँज रहे थे मेरे मस्तिष्क में उस समय उस कन्या के। ऐसा लगा मानों मैंने कोई सपना देखा हो मधुर और कल्याणमय।'

प्रकरण : बारह

साधिका योगमाया

कल की तरह साँझ की स्याह कालिमा बिखरी हुई थी गली में। वातावरण में चारों तरफ गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी। मकान के सामने जाकर खड़ा हो गया मैं। कल की ही तरह अपने-आप दरवाजा खुल गया और भीतर चला गया मैं। देखा, अपने कमरे में आसन पर कालीपद बाबू ध्यानमुद्रा में मौन साधे बैठे हुए थे। तख्त के नीचे जमीन पर बिछी चटाई पर एक युवती बैठी हुई थी।

साधारण वेश-भूषा और साधारण रूप-रंग। मगर आँखें बड़ी ही विलक्षण थीं। झील की तरह गहरी, स्थिर और साथ ही तीक्ष्ण और तपोमयी भी। दिव्य आभा से युक्त मुखमण्डल लेकिन निर्विकार।

यह योगमाया है—मेरी ओर भावहीन दृष्टि से देखते हुए कालीपद बाबू बोले। देवनाथ पुरा में रहती है। एकाकी है। कभी-कभी साधना-चर्चा के निमित्त चली आती है मेरे निकट। एक प्रकार से उच्च अवस्था प्राप्त कर ली है इन्होंने साधना में।

बाद में मुझे योगमाया के विषय में बहुत-कुछ ज्ञात हुआ। सब कुछ कालीपद बाबू ने ही बतलाया मुझे।

'योगमाया' गुरु-प्रदत्त नाम था उसका। परिवार का दिया हुआ नाम था 'प्रज्ञा'! दुर्गाचरण नाग की पुत्री थी प्रज्ञा। बंगाल के 'नदियाँ' ग्राम के प्रसिद्ध योगी थे श्रीदुर्गाचरण नाग। बाल्यावस्था में ही शक्तिपात दीक्षा प्रदान कर प्रज्ञा को योगमार्ग में प्रविष्ट करा दिया था नाग महाशय ने। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रज्ञा को उन्होंने कुण्डलिनी की दीक्षा प्रदान की थी, जिसके फलस्वरूप उसकी कुण्डलिनी जाग्रत् हो गयी। प्रखर शक्ति के प्रखर तेजोमय आलोक से उद्भासित हो उठा उसका मुखमण्डल। और साथ ही यौवन से भरपूर देहयष्टि दिव्य गंध से भर गयी। लावण्यमयी कान्ति से दप्-दप् करने लगी उसकी कंचन काया। उसी समय से समाधि की उच्च अवस्था में रहने लगी वह। लगातार हफ्तों तक बैठी ही रह जाती एक आसन पर और एक ही मुद्रा में।

और उसी स्थिति में एक दिन।

कार्तिक का महीना था। बंगाल में गुलाबी ठंड पड़ने लग गयी थी। साँझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में बदल चुकी थी। गहरी नीरवता छायी हुई थी वातावरण में। कदम्ब के पेड़ के नीचे बने

तुलसी चौरे पर जल रहे दीपक की ज्योति अभी भी झिलमिला रही थी। सहसा पुरुवा हवा बहने लगी और कदम्ब का पेड़ हवा की ताल पर झूमने लगा। भर-भराकर एक साथ बहुत सारे कदम्ब के फूल गिर कर दीपक के चारों ओर बिखर गये। और उसी समय एक दिव्य आभा से सम्पन्न एक महापुरुष अचानक न जाने किधर से आकर वहाँ उपस्थित हो गये। ऐसा लगा मानों वे आकाश से सीधे नीचे उतर आये हों।

बड़ा ही दिव्य, तेजोमय और आकर्षक व्यक्तित्व था उस रहस्यमय महापुरुष का। सुगठित भव्य शरीर पर गैरिक रंग के सिल्क का लम्बा-सा चोंगा था। गले में स्फटिक व रुद्राक्ष की मालायें थीं। दोनों भुजाओं और दोनों कलाईयों में भी रुद्राक्ष की वेणियाँ थीं। सिर पर जटाजूट था। दो-तीन लम्बी-लम्बी जटायें पीठ पर भी झूल रही थीं।

महापुरुष के नेत्र बड़े-बड़े और स्थिर थे। तेजोमय मुखमण्डल साधना की प्रखर आभा से चमक रहा था। निश्चय ही वे कोई सिद्ध योगी थे, इसमें सन्देह नहीं। उस समय सामने वाले छोटे से कमरे में नित्य की भाँति समाधिस्थ बैठी थी प्रज्ञा। महापुरुष धीरे-धीरे चलकर कमरे में पहुँचे और प्रज्ञा के सामने जाकर खड़े हो गये। पहले वे कुछ क्षण तक उसके मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहे, फिर अपना दाहिना हाथ उसके सिर पर रखकर काफी देर तक स्थिर भाव से खड़े रहे वे। बाद में ज्ञात हुआ कि वे दिव्य महापुरुष और कोई नहीं, आकाशचारी स्वामी कुलानन्द परमहंसदेव थे। हिमालय-स्थित सिद्ध योगाश्रम ज्ञानगंज मठ से आकाश-मार्ग द्वारा आकर प्रज्ञा को कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण के निमित्त गुह्यनी दीक्षा प्रदान करने के लिए वहाँ उपस्थित हुए थे वे।

सिद्धयोगाश्रम ज्ञानगंज मठ

योगी-समाज में सिद्ध योगाश्रम ज्ञानगंज मठ की अत्यधिक चर्चा है। विश्व-प्रसिद्ध विद्वान् म० म० डा० गोपीनाथ कविराजजी ने भी अपनी पुस्तकों में इस रहस्यमय अलौकिक मठ की चर्चा यत्र-तत्र की है। उनके गुरु स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव ने इसी मठ में दीक्षा ग्रहण कर साधना की थी।

योगी समाज द्वारा मुझे ज्ञानगंज मठ का जो विवरण प्राप्त हुआ है—उसके अनुसार उसकी भौगोलिक स्थिति बतलाना असम्भव है। लेकिन यह निश्चित है कि यह मठ हिमालय की एक ऐसी रहस्यमयी दुर्गम हिमघाटी में स्थित है, जिसका परिक्षेत्र चुम्बकीय है और चतुर्थ आयाम के अन्तर्गत है। इसलिए उस घाटी में प्रवेश करना एक प्रकार से असम्भव ही है। एक फ्रांसिसी महिला थी मिस नील। योगी और तांत्रिकों की खोज में वह दो बार तिब्बत गयी थीं। उन्होंने मुझे बतलाया कि उस रहस्यमयी हिमघाटी में जाने के लिए एक मार्ग अवश्य है। लेकिन उस मार्ग से तिब्बत के कुछ लामा ही परिचित

हैं। मेरे पूछने पर मिस नील ने बतलाया कि उस घाटी का नाम संग्रीला घाटी है। काफी विस्तृत है संग्रीला घाटी। भौतिक जगत् की सीमा से परे और काल के प्रभाव से मुक्त अत्यन्त रमणीक एवं मनोहर छटाओं से युक्त अत्यन्त अद्भुत है वह घाटी। मिस नील अत्यन्त साहसी महिला थीं। योगी और तांत्रिकों के रहस्यमय देश तिब्बत में वे कई वर्षों तक रही थीं। बाद में बौद्ध-धर्म की दीक्षा भी ग्रहण कर ली थी उन्होंने।

मिस नील की लिखी हुई एक पुस्तक है—'माई जर्नी टू ल्हासा'। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने तिब्बत के अनेक यौगिक और तांत्रिक चमत्कारों का आँखों देखा वर्णन किया है। संग्रीला घाटी के प्रसंग में उन्होंने मुझे बतलाया कि उसकी अपनी कई विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता यह है कि उस घाटी में यदि कोई व्यक्ति प्रवेश कर जाय तो तत्काल उसकी मानसिक और वैचारिक शक्ति तीव्र हो उठेगी। प्राणशक्ति भी अत्यन्त प्रखर हो जायेगी। दूसरी विशेषता यह है कि यदि प्रवेश के समय उसकी युवावस्था है तो वह जब तक घाटी में रहेगा, तब तक युवा ही बना रहेगा। काल अथवा समय का प्रभाव न उसके शरीर पर पड़ेगा और न तो पड़ेगा मन पर ही। जिसके फलस्वरूप उसकी सोचने, समझने और विचार करने की क्षमता भी बढ़ जायेगी। शरीर पर काल यानि समय का प्रभाव न पड़ने के कारण शरीर की आवश्यकताएँ भी समाप्त हो जायेंगी (संग्रीला घाटी के विषय में आगे विस्तृत विवरण दिया जायेगा)।

० ० •

वैसे तो केवल तिब्बत में लगभग तीन सौ मठ हैं। लेकिन हिमालय की पृष्ठभूमि में और तिब्बत की उत्तरी सीमा पर स्थित संग्रीला घाटी में केवल तीन-चार मठ हैं। जिनसे ज्ञानगंज मठ का अपना विशेष महत्त्व और गरिमा हैं। योगीजनों के द्वारा प्राप्त विवरण के अनुसार ज्ञानगंज मठ में दो प्रकार के योगी निवास करते हैं। पहले प्रकार के योगीगण वहाँ के स्थायी निवासी हैं। वे कब से मठ में हैं? कहाँ से आये हैं? और उनका यौगिक स्वरूप क्या है? यह कोई नहीं बतला सकता। उनकी आयु की कोई सीमा नहीं है। उनकी अवस्था सैंकड़ों-हजारों वर्षों की है, लेकिन फिर भी वे युवा हैं। अपने आत्म-शरीर द्वारा इच्छानुसार शून्यमार्ग से गमन करते हैं वे। कभी-कभी अन्य लोक-लोकान्तरों में भी संचरण-विचरण किया करते हैं वे लोग।

दूसरे प्रकार के वे योगी हैं—जिन्होंने योगमार्ग पर चलकर साधना की सर्वोच्च अवस्था तो प्राप्त कर ली है, लेकिन परमनिर्वाण, परममुक्ति अथवा मोक्ष को अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। वे लोग इसी अन्तिम उपलब्धि की प्रतीक्षा में वहाँ निवास करते हैं। ऐसे ही प्रतीक्षारत कोई-कोई योगी अध्यात्म का प्रचार करने के ध्येय से संसार में जन्म भी ग्रहण कर लिया करते हैं। किन्तु उनकी योगकाया उस मठ में तब तक सुरक्षित रहती है, जब तक कि वे

भौतिक शरीर का त्याग कर पुनः उस शरीर में प्रवेश नहीं कर जाते। उनका सांसारिक जीवन जलकमलवत् रहता है। आध्यात्मिक प्रचार के अलावा उनका दूसरा उद्देश्य होता है—संसार से योग्य पात्र को अपने साथ ले जाकर मठ में योग की शिक्षा-दीक्षा देना और साधना का उचित मार्ग प्रशस्त करना। योग्य पात्र का मतलब है—जिसने पिछले जन्मों में साधना तो की है, मगर वर्तमान में अपने स्वरूप को भूल गया है। विस्मृति के अन्धकार में डूब गयी है जिसकी आत्मा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मठ के योगीगण ऐसे योग्य पात्रों की खोज में किसी-न-किसी रूप में संसार का बराबर भ्रमण किया करते हैं।

डा० गोपीनाथजी के गुरु स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव ऐसे ही योग्य पात्र थे। बचपन में उनका नाम था भोलानाथ! एक बार बाल्यावस्था में भोलानाथ को एक पागल कुत्ते ने काट लिया था। जिससे वह भयंकर रूप से अस्वस्थ हो गये थे। और उसी अस्वस्थता की स्थिति में एक दिन गंगा तट पर जा पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट एक संन्यासी से हुई। जिसके चेहरे पर विलक्षण तेज था। उसने भोलानाथ को एक औषधि खाने को दी और सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। थोड़ी ही देर बाद भोलानाथ की हालत सुधर गयी और वे पूर्णरूप से स्वस्थ हो गये। उनके लिए यह बहुत बड़ा चमत्कार था।

दूसरे दिन वे फिर उस संन्यासी से गंगातट पर मिले और दीक्षा देने की प्रार्थना की उनसे। संन्यासी बोले—तुम्हारे गुरु हम नहीं हैं। जब समय आयेगा तो मैं तुमको तुम्हारे गुरु के पास पहुँचा दूँगा।

उस संन्यासी का नाम था स्वामी नीमानन्द परमहंस। वे ज्ञानगंज मठ के प्रतीक्षारत योगी थे। दो वर्ष बाद पुनः भोलानाथ से उनकी भेंट हुई। इस बार वे भोलानाथ के आग्रह को टाल न सके। उन्होंने भोलानाथ की आँखों में पट्टी बाँधी और अपने साथ ज्ञानगंज मठ में ले गये। वहाँ भोलानाथ को दो दिव्य शरीरधारी योगियों के दर्शन हुए। वे दोनों योगी थे—भृगुराम और श्यामानन्द परमहंस। भृगुराम ने भोलानाथ को योग की उच्चतम दीक्षा दी और उनका नाम रखा स्वामी विशुद्धानन्द। उनको जहाँ भृगुराम से योग की शिक्षा-दीक्षा मिली और मिला साधना का निर्देश—वहीं स्वामी श्यामानन्द परमहंसदेव से मिला सूर्य-विज्ञान का अलौकिक चमत्कारपूर्ण दुर्लभ ज्ञान और सिद्धि।

स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव का सूर्यविज्ञान और उसका चमत्कार

योग पर आधारित ६४ प्रकार की तांत्रिक विद्याएँ हैं और उन ६४ विद्याओं के अपने-अपने विज्ञान हैं। उन विद्याओं में एक विद्या है—'सावित्री विद्या'! और उसका विज्ञान है—सूर्य-विज्ञान। सूर्य-विज्ञान सृष्टि का मूल है। यानि सृष्टि का निर्माण, स्थायित्व और विनाश—सूर्य-विज्ञान है। वह प्रकृष्ट विज्ञान

है। ज्ञानविशेष है। वास्तव में विज्ञान वही है, जिसके सिद्धान्त शाश्वत और अपरिवर्तनीय हों। आज जिस विज्ञान की चर्चा है, वह वास्तव में 'आविष्कार' है, विज्ञान नहीं। उसे किसी भी तरह विज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें परिवर्तन सम्भाव्य है।

सूर्य-विज्ञान वास्तव में सूर्य की विभिन्न वर्णा रश्मियों का विज्ञान है। सूर्य-रश्मियों के संयोजन और नियोजन से अणु-परमाणु का संघटन-विघटन कर किसी भी वस्तु या पदार्थ को किसी अन्य वस्तु या पदार्थ में स्थायी रूप से परिवर्तित किया जा सकता है। इतना ही नहीं उसके स्वभाव व गुण को भी परिवर्तित किया जा सकता है।

० ० ०

पूरे सोलह वर्ष के पश्चात् जब स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव ज्ञानगंज मठ से वापस लौटे तो उनकी अलौकिक सिद्धि और यौगिक चमत्कारों की सुगन्ध सर्वत्र फैलते देर न लगी। थोड़े ही समय में उनके हजारों शिष्य हो गये। जिनमें बुद्धिजीवी एवं दार्शनिक के अलावा वैज्ञानिकों की भी संख्या कम न थी। वे सभी परमहंसदेव के अलौकिक चमत्कारों से पूर्ण प्रभावित थे। उसी समय इंग्लैण्ड से एक युवा लेखक और पत्रकार भारत आया। उसका नाम था पाल ब्रण्टन। उसने केवल भारत-भ्रमण के उद्देश्य से इतनी लम्बी यात्रा नहीं की थी। उसका लक्ष्य काफी ऊँचा था। तथा वह दर्शनशास्त्र और रहस्यवाद के गूढ़ तत्त्वों से परिचित होना चाहता था। उसने निस्सन्देह हजारों मील की लम्बी यात्रा अपनी ज्ञान-पिपासा की शान्ति के लिए ही की थी। और अपने इसी उद्देश्य को लेकर वह परमहंसदेव से मिलना चाहता था। उस समय वे मलदहिया स्थित विशुद्धानन्द कानन में रहते थे। जहाँ उन्होंने नवमुण्डी महा आसन की स्थापना की थी। तंत्र में नवमुण्डी महा आसन का भारी मूल्य और महत्त्व है। जिस स्थान पर आसन की स्थापना होती है, उस स्थान से दैवी राज्य का सम्बन्ध जुड़ जाता है। जिसके फल-स्वरूप वहाँ हमेशा के लिए आध्यात्मिक वातावरण बन जाता है। हर समय, हर व्यक्ति परमहंसदेव से भेंट नहीं कर सकता था। जब पाल ब्रण्टन आश्रम के फाटक पर पहुँचा तो दरबान ने उसे रोक दिया। पाल ब्रण्टन ने महायोगी से मिलने की इच्छा प्रकट की, परन्तु दरबान किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुआ। उसने कहा—मैं आपको जानता नहीं तो कैसे भीतर जाने दूँ?

एक अंग्रेज को महायोगी से भला क्या काम हो सकता है? यह दरबान की समझ में नहीं आ रहा था। जब पाल ब्रण्टन ने विस्तार से सब कुछ बतलाया और उसकी आपत्तियों को दूर किया तो उसको भीतर जाने की आज्ञा मिल गयी।

पाल ब्रण्टन ने देखा—एक बहुत बड़े हालनुमा कमरे में एक आकर्षक,

सौम्य और शान्त प्रकृति का वृद्ध ऊँचे आसन पर बैठा हुआ है। उसके चेहरे पर तेज था। और आँखों में प्रखर ज्योति थी। उसके समीप भूमि पर कई लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान् और भद्र पुरुष बैठे हुए थे। यही व्यक्ति स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस देव हैं—पाल ब्रण्टन को यह समझते देर न लगी। उसने आदर से सिर झुकाकर दोनों हाथ जोड़कर महायोगी को प्रणाम किया और आज्ञा पाकर भूमि पर एक तरफ पलथी मार कर बैठ गया, फिर उसने वहाँ अपनी उपस्थिति का प्रयोजन बतलाया और अन्त में कहा—मैं भारत के दर्शन और ज्ञान का विद्यार्थी तथा लेखक हूँ। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि उच्चकोटि के योगी अपनी शक्ति, अपनी सिद्धि और अपने ज्ञान का प्रदर्शन शीघ्र नहीं करते। मुझे आपके देश के प्राचीनतम ज्ञान में गहरी रुचि है। अतः मैं आप से प्रार्थना करूँगा कि आप कृपा कर मुझे इस विषय में कुछ बतलायें और मेरा मार्ग-दर्शन करें।

उपस्थित सभी लोगों की नजरें एक साथ पाल ब्रण्टन की ओर उठ गयीं। फिर आश्चर्य से लोगों ने एक-दूसरे की ओर देखा।

पाल ब्रण्टन की बात सुनकर परमहंसदेव की आँखें उस पर आकर टिकीं तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उन आँखों से कोई अद्‌भुत-सी शक्ति निकल कर उसके हृदय को बेधती हुई सारे शरीर में फैल रही है।

उपस्थित एक सज्जन द्वारा महायोगी ने घोषणा करवायी कि वे तब तक उससे बातें नहीं करेंगे जब तक वह संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य को अपने दुभाषिये के रूप में नहीं लायेगा। वे प्रधानाचार्य थे डा० वेनिस। वे महायोगी के पुराने शिष्य थे और अंग्रेजी, हिन्दी एवं संस्कृत पर उनका पूरा और समान अधिकार था।

दूसरे दिन पाल ब्रण्टन डा० वेनिस को साथ लेकर महायोगी के निवास पर पहुँचा। उस समय भी महायोगी अपने शिष्यों से घिरे हुए थे।

'म्लेच्छ होने के कारण तुम योग और तंत्र के अधिकारी नहीं हो'—परम-हंसदेव गम्भीर स्वर में बोले—विज्ञान के अधिकारी अवश्य हो। क्या तुम विज्ञान का चमत्कार देखना चाहते हो?

पाल ब्रण्टन को आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी। उसने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—यदि गुरुदेव की कृपा हो तो अवश्य ही देखना चाहूँगा।

उस समय अस्ताचल सूर्य की तीखी धूप कमरे की खिड़की से होकर भीतर आ रही थी। महायोगी ने एक लेन्स निकाला और धूप के सामने कर दिया, फिर पाल ब्रण्टन की ओर मुँह घुमाकर कहा—तो लाओ एक रेशमी रुमाल दो। मैं तुम्हें सूर्य की किरणों का इस लेन्स से प्रयोग कर तुम्हारी मन-पसन्द सुगन्ध उत्पन्न कर तुम्हें सुँघा दूँगा। पाल ब्रण्टन ने तुरन्त जेब से रुमाल निकाल कर महायोगी को दे दिया।

महायोगी ने उस रुमाल पर तपता हुआ लेन्स रख दिया। लगभग दो मिनट के लिए सूर्य की प्रखर किरणें रुमाल पर सहसा चमकीं और फिर गायब हो गयीं। फिर वह रुमाल महायोगी ने पाल ब्रण्टन को वापस दे दिया। पाल ब्रण्टन ने रुमाल सूँघकर देखा तो उसमें से चमेली की सुगन्ध निकल रही थी।

पाल ब्रण्टन को काफी आश्चर्य हुआ। उसके चेहरे के भाव से ऐसा लगता था कि उसे विश्वास नहीं हो पा रहा है। उसकी यह हालत देखकर महायोगी ने वही प्रयोग पुनः करके उसे दिखाया। इस बार उन्होंने गुलाब की सुगन्ध उत्पन्न की थी। पाल ब्रण्टन चकित था। उसकी हैरानी और उत्सुकता को देखकर महायोगी ने स्वयं कहा—अब मैं एक ऐसे फूल की गन्ध पैदा करूँगा जो तुम्हारे ही देश में खिलता है। परमहंसदेव ने एक बार फिर वही क्रिया की और रुमाल पाल ब्रण्टन को थमा दिया। इस बार रुमाल में से एक ऐसी सुगन्ध उठ रही थी जिसे केवल पाल ब्रण्टन ही पहचानता था। वह उसके देश के एक काफी कीमती फूल की गन्ध थी। मगर फिर भी पाल ब्रण्टन को विश्वास नहीं हो रहा था कि योगी किसी रहस्यमयी शक्ति की सहायता से गन्ध उत्पन्न करता है। उसने रुमाल जेब में रख लिया और सोचने लगा—क्या उसने सचमुच किसी रहस्यमय विज्ञान का चमत्कार देखा था ?

परमहंसदेव पाल ब्रण्टन के मन की बात समझ रहे थे। उन्होंने हँस कर कहा—जो फूल तुमको पसन्द हो, उसे मेरे बाग से तोड़ कर ले आओ। फिर तुमको एक इससे बढ़कर चमत्कार दिखलाऊँगा।

पाल ब्रण्टन ने ऐसा ही किया। वह बाग से जवा का एक फूल तोड़ लाया। महायोगी ने उस खिले हुए जवा पुष्प को सूर्य की रश्मियों की सहायता से चम्पा के फूल में परिवर्तित कर दिया।

यह अलौकिक चमत्कार पाल ब्रण्टन के सामने हुआ था। उसके कौतूहल और आश्चर्य की सीमा का फिर कोई पारावार न रहा।

महायोगी ने पहले की तरह हँसकर कहा अब मैं तुमको एक विलक्षण चमत्कार दिखलाऊँगा। वैसे इस प्रयोग के लिए मुझे गुरुदेव की आज्ञा नहीं है।

योगी का वह चमत्कार मृत को जीवित करने का था। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या यह सम्भव है ? वैसे तो यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। किन्तु जिस मृतक प्राणी की आयु शेष है, उसके प्राणों के अणु-परमाणुओं को संघटित कर कुछ काल के लिए उसे पुनर्जीवित अवश्य किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए विशेष इच्छा-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। महायोगी ने बतलाया कि वे अपना यह प्रयोग किसी छोटे जीव पर ही कर सकते हैं। एक शिष्य उनका आदेश पाकर एक गौरैया को मार कर ले आया। वह एक घंटे तक मृतवत् पड़ी रही जमीन पर। पाल ब्रण्टन ने बड़े ध्यान से गौरैया

को देखा। वह मरी हुई थी। जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं था उसमें। एक घंटे के बाद महायोगी ने अपना लेंस उठाया और सूर्य की रश्मियों को गौरैया की एक आँख पर केन्द्रित किया। परमहंस देव एकाग्र होकर गौरैया पर झुके हुए थे। उनकी बड़ी-बड़ी ज्योतिर्मयी आँखें अपलक गौरैया पर जमी हुई थीं। उस समय उनका चेहरा बिल्कुल निर्विकार था।

लगभग १०-१५ मिनट में ही गौरैया के पैर हिलने लगे। देखते-ही-देखते गौरैया अपने पैरों पर खड़ी हो गयी और फर्श पर फुदकने लगी। फिर उसने अपने पंख फैलाये और करीब एक घंटे तक कमरे में इधर-उधर उड़ती रही।

पाल ब्रण्टन आश्चर्य के मारे अवाक् था। उसे यह सब इतना अविश्वसनीय और अद्भुत लगा कि वह काफी देर तक हत्बुद्धि-सा गौरैया को देखता रहा। जब वह आश्चर्य के सागर से बाहर निकला, तब उसकी बुद्धि ने स्वीकार किया कि यह सब-कुछ जो वह देख रहा है सत्य है। कोई सम्मोहन, स्वप्न या आँख का धोखा नहीं। उसे वातावरण में एक तनाव-सा भी अनुभव हुआ। फिर अचानक वह जादू टूट गया। गौरैया जमीन पर गिर पड़ी और फिर निश्चेष्ट हो गयी हमेशा के लिए। पाल ब्रण्टन ने जाँच की तो पाया कि वह मर चुकी थी।

पाल ब्रण्टन के यह पूछने पर कि क्या चिड़िया को और अधिक समय तक जीवित नहीं रखा जा सकता, तो इसके उत्तर में महायोगी ने कहा—यह सम्भव है, मगर इसके लिए विशेषरूप से प्रयोग करना पड़ेगा। डा० वेनिस ने पाल ब्रण्टन से कहा कि गुरुदेव इस विज्ञान के द्वारा सब कुछ कर सकने में समर्थ हैं। आप उनसे ऐसी आशा न रखें कि वे गली में तमाशा दिखाने वालों की तरह अपने चमत्कार दिखाते जायेंगे।

पाल ब्रण्टन तार्किक था। भारत की इस विद्या पर उसे विश्वास तो हो चुका था, किन्तु उसके सम्बन्ध में अभी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई थी उसकी। उसने बड़े सहज ढंग से पूछा—आपने मुझे जो चमत्कार दिखलाया है, उसका वैज्ञानिक सिद्धान्त क्या है? पाल ब्रण्टन का प्रश्न सुनकर परमहंसदेव मुस्कराये फिर अपने हाथों के दोनों जंघों को एक-दूसरे में फँसाते हुए बोले—मैंने जो कुछ दिखलाया है वह योग का परिणाम नहीं है। यह विशुद्ध विज्ञान है, यानि सूर्य-विज्ञान। इस विज्ञान के अन्तर्गत नक्षत्र-विज्ञान, क्षण-विज्ञान, काल-विज्ञान, चन्द्र-विज्ञान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विज्ञान हैं। मगर सबके मूल में है सूर्य-विज्ञान। जिन लोगों ने सूर्य-रश्मियों को अलग-अलग पहचानना और समझना जान लिया है, वे ही इस विज्ञान के रहस्य को उद्घाटित कर सकते हैं। (इस विषय पर संक्षिप्त में आगे चर्चा की जायेगी।)

'क्या योग और विज्ञान एक ही धरातल की विद्याएँ है'—पाल ब्रण्टन ने प्रश्न किया।

महायोगी मुसकराये। बोले—दोनों में काफी अन्तर है। काफी भेद है। किन्तु दोंनों से सृष्टि सम्भव है। इच्छा-शक्ति के पूर्ण विकास का ही नाम योग है। फिर भी उसमें ज्ञान की आवश्यकता है। विज्ञान में भी ज्ञान की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान के बिना न योग है और न ही विज्ञान। पश्चिम के देशों में जिस विज्ञान की उन्नति हो रही है, उसके मूल में अज्ञान है। इसे इसी उदाहरण से समझा जा सकता है कि आज तक पश्चिम के किसी भी वैज्ञानिक ने उद्देश्य लेकर किसी भी वस्तु का आविष्कार नहीं किया है और न तो भविष्य में करेगा ही। उद्देश्य कुछ और होता है तथा आविष्कार कुछ और ही हो जाता है। जो आविष्कार हुआ भी, या हो रहा है—उसके मूल में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ हैं। जिन्हें दूर करने के लिए फिर कोई-न-कोई सिद्धान्त जन्म ले लेता है।

प्रकृष्ट विज्ञान में ऐसी कोई बात नहीं। उसके सिद्धान्त अपरिवर्तनीय होते हैं। इसलिए प्रकृष्ट विज्ञान में किसी भी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती। प्रकृष्ट विज्ञान के मूल में तीन शक्तियाँ हैं—इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति। इन तीनों शक्तियों के समन्वय से जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है वह विशिष्ट ज्ञान है और विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। योग में 'इच्छाशक्ति' द्वारा योगी सृष्टि करता है। उस सृष्टि में योगी की प्रबल इच्छाशक्ति काम करती है। विज्ञान के द्वारा जो सृष्टि होती है, उसमें भी इच्छाशक्ति की प्रधानता है। लेकिन साथ ही बाहरी उपादान का भी सहयोग लिया जाता है। जैसे मेरा यह लेन्स है। यह उपादान है सूर्य-विज्ञान का। पर यह उपादान गौण है। मुख्य तो इच्छाशक्ति ही है। और उस शक्ति के मूल में है ज्ञान।

इच्छाशक्ति कैसे प्राप्त होती है? और उसका विकास भी कैसे होता है? पाल ब्रण्टन ने फिर प्रश्न किया।

इच्छा एक अलग वस्तु है और शक्ति एक अलग वस्तु है। साधारण मनुष्य के पास इच्छा तो रहती है मगर शक्ति नहीं रहती। योगी के पास दोनों रहती हैं। इच्छा भी और शक्ति भी।

'वह शक्ति कैसे प्राप्त की जाती है?'—पाल ब्रण्टन ने पूछा।

मन की एकाग्रता से और चित्त की वृत्तियों को रोकने से शक्ति प्राप्त होती है। योगी लोग जब इच्छाशक्ति का पूर्ण रूप से विकास कर लेते हैं तो उससे काम लेते समय उसे मस्तिष्क में केन्द्रित करते हैं। मस्तिष्क ज्ञान का केन्द्र है और वही ज्ञानशक्ति व इच्छाशक्ति को 'कर्म' के रूप में परिवर्तित करता है।

थोड़ा रुककर महायोगी आगे बोले—यह विज्ञान कोई नया नहीं है। प्राचीन काल में योगीगण इससे भलीभाँति परिचित थे। किन्तु आज हमारे देश में कुछ ही महापुरुषों के पास यह विज्ञान है।

पाल ब्रण्टन मन-ही-मन सोच रहा था कि पश्चिम वाले कभी भी भारत

के इन चमत्कारों का रहस्य समझ नहीं पायेंगे। 'क्या आप मुझे अपना शिष्य बना सकते हैं ?' पाल ब्रण्टन ने प्रश्न किया।

'मैं अपने गुरु के आदेश के बिना किसी को अपना शिष्य नहीं बना सकता।'

'आप अपने गुरु से कैसे सम्पर्क स्थापित करते हैं ?'

हम दोनों का आन्तरिक रूप से हमेशा सम्बन्ध बना रहता है।'

पाल ब्रण्टन शायद योगी की यह रहस्यमयी बात समझ न सका। तब योगी ने स्वयं समझाते हुए कहा—योगाभ्यास से ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान-प्राप्ति के लिए व्यक्ति तैयार हो जाता है तो सद्गुरु स्वयं आकर मिलते हैं। मनुष्य विचार भी करता है और क्रिया भी करता है। इसीलिए 'योग' में दोनों की दीक्षा है। शरीर का प्रभाव मस्तिष्क पर और मस्तिष्क का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। इसलिए योग में दोनों की साधना है—इतना कहकर योगी परमहंसदेव मौन हो गये।

म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव के अन्तरंग शिष्यों में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज का नाम सर्वोपरि समझा जायेगा। कविराजजी से मेरा साक्षात्कार सन् १९४७-४८ के आस-पास हुआ था। उस समय उनके पुत्र श्रीजितेन्द्रनाथजी रासनिंग विभाग में मार्केटिंग इन्स्पेक्टर के पद पर कार्यरत थे। उनसे मेरा अच्छा परिचय था। उन्हीं के साथ मैं पहली बार कविराजजी के दर्शनार्थ उनके निवास पर गया था। सायंकाल का समय था। कविराजजी अपने कमरे में विचारपूर्ण मुद्रा में बैठे हुए थे। जब मैंने अपना परिचय देकर अन्त में यह बतलाया कि योग और तंत्र मेरा शोध विषय है तो पूर्व अतिप्रसन्न हुए वह। बोले—ये दोनों ऐसे शास्त्र हैं, जिनमें बिना पूर्व जन्म के संस्कार के रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती।

कहने की आवश्यकता नहीं, उस दिन से प्रायः रोज ही मेरा कविराजजी के निकट जाना होने लगा। एक दिन मेरे सूर्य-विज्ञान के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने संक्षेप से बतलाया कि योग का एक विषय है—'जात्यन्तर परिणाम'। जिसका तात्पर्य यह है कि जगत् में सर्वत्र सत्ता रूप में सूक्ष्म भाव से सभी पदार्थ विद्यमान हैं। जिस पदार्थ की मात्रा अधिक प्रस्फुटित हो जाती है, वही पदार्थ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है। जिस पदार्थ में ऐसा नहीं होता, वह अभिव्यक्त नहीं होता और न हो सकता है। इनकी व्यञ्जना-कौशल का ज्ञान हो जाने पर किसी भी स्नान से किसी भी वस्तु का आविर्भाव किया जा सकता है। अभ्यासयोग और साधना का यही मूल रहस्य है। हम व्यवहार जगत् में जिस पदार्थ को जिस रूप में पहचानते हैं—वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है। हम जिस रूप में जिसे पहचानते हैं—वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है। हम जिस रूप में जिसे पहचानते हैं, उतना ही वह है—यह बात किसी को

नहीं समझनी चाहिए। मेरे गुरुदेव का कहना था कि लोहा लोहा ही है—ऐसी बात नहीं। उसमें सारी प्रकृति अव्यक्त रूप में निहित है। परन्तु लौहभाव की प्रधानता से अन्यान्य समस्त भाव उसमें विलीन होकर अदृश्य रहते हैं। किसी भी विलीन भाव को जैसे सोना—प्रबुद्ध करके उसकी मात्रा बढ़ा दी जाय तो उसका पूर्व रूप स्वभावतः ही अव्यक्त हो जायेगा। और सोने के प्रबुद्ध भाव के प्रबल हो जाने से वह वस्तु फिर उसी नाम और रूप में परिचित होगी। वास्तव में लोहा सोना नहीं हुआ। वह तो अव्यक्त हो गया। वैसे यही समझ में आयेगा कि लोहा ही सोना हो गया है। परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। कहना न होगा कि यही योगशास्त्र का 'जात्यन्तर परिणाम' है। प्रकृति के आपूरण से एकजातीय वस्तु अन्य जातीय वस्तु में परिणत होती है। यह कैसे सम्भव है? इसे भी योगशास्त्र ने स्पष्ट किया है।

कविराजजी ने कहा—मेरे गुरुदेव प्रत्यक्षवादी थे। मेरे जिज्ञासा भाव को देखकर उन्होंने सामने रखे गुलाब के एक फूल को हाथ में लेकर मुझसे पूछा—बोलो इस फूल को किस फूल में परिवर्तित कर दिया जाय? मैंने उसे जवा-पुष्प बना देने का आग्रह किया। उन्होंने अपने लेन्स द्वारा सूर्य-रश्मियों को गुलाब के फूल पर संहत कर उसे दो-चार सेकेण्ड में ही जवापुष्प बना दिया। उस फूल को मैं काफी दिनों तक अपने पास रखे रहा। बाद में वह मुरझा गया।

गुरुदेव ने कहा—इसी प्रकार समस्त जगत् में प्रकृति का खेल हो रहा है। जो इस खेल के तत्त्व को समझते हैं वही वास्तव में ज्ञानी हैं। अज्ञानी इस खेल से मोहित होकर आत्मविस्मृत हो जाता है। योग के बिना इस ज्ञान या विज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार विज्ञान के बिना वास्तविक योग पद पर आरोहण नहीं किया जा सकता। मेरे यह पूछने पर कि तब तो योगी के लिए सभी कुछ सम्भव है, तो उन्होंने कहा—हाँ। योगी के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। जो यथार्थ योगी हैं, उनकी सामर्थ्य की कोई इयत्ता नहीं नहीं है। क्या हो सकता है और क्या नहीं? इसकी कोई निर्दिष्ट सीमा-रेखा नहीं है। परमेश्वर ही एकमात्र आदर्श योगी है। उनके सिवा महाशक्ति का पूरा पता और किसी को प्राप्त नहीं है और न प्राप्त हो ही सकता है। जो निर्मल होकर परमेश्वर की शक्ति के साथ जितना युक्त हो सकता है, उसमें उतनी ही ऐसी शक्ति की स्फूर्ति होती है। वह युक्त होना एक दिन में नहीं होता। क्रमशः होता है। इसीलिए शुद्धि के तारतम्य के अनुसार शक्ति का स्फुरण भी न्यूनाधिक होता है। शुद्धि या पवित्रता जब सम्यक् प्रकार से सिद्ध हो जाती है तब ईश्वर-सायुज्य की प्राप्ति होती है। तब योगी की शक्ति की कोई सीमा नहीं रहती। उसके लिए असम्भव भी सम्भव हो जाता है। उसकी इच्छा के उत्पन्न होते ही उसकी पूर्ति महाशक्ति तत्काल कर देती है।

थोड़ा रुककर कविराजजी बोले—मैंने गुरुदेव से पूछा कि इस फूल का परिवर्तन आपने योगबल से किया या किसी अन्य उपाय से ? गुरुदेव ने कहा—उपाय मात्र ही तो योग है। दो वस्तुओं को एकत्र करने को ही तो योग कहा जाता है। यथार्थ योग अवश्य ही इससे पृथक् है। अभी मैंने यह पुष्प सूर्य-विज्ञान द्वारा बनाया है। योगबल या शुद्ध इच्छाशक्ति से भी सृष्टि हो सकती है। परन्तु इच्छाशक्ति का प्रयोग न करके विज्ञान-कौशल से भी सृष्टि की जा सकती है।

सूर्य-विज्ञान के सम्बन्ध में गुरुदेव ने कहा—सूर्य ही जगत् का प्रसविता है। जो व्यक्ति सूर्य की रश्मि अथवा वर्णमाला को भलीभाँति पहचान गया है और वर्णों को शोधित करके परस्पर मिश्रित करना सीख गया है, वह सहज ही सभी पदार्थों का संघटन या विघटन कर सकता है। वह देखता है कि सभी पदार्थों का मूल बीज इस रश्मिमाला के विभिन्न प्रकार के संयोग से ही उत्पन्न होता है। वर्ण-भेद से और विभिन्न संयोग-भेद से भिन्न-भिन्न पद उत्पन्न होते हैं। वैसे ही रश्मिभेद और विभिन्न रश्मियों के मिश्रण-भेद से जगत् के नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्थूल दृष्टि से यह बीज-सृष्टि का एक रहस्य है। सूक्ष्म दृष्टि से अव्यक्त गर्भ में बीज ही रहता है। बीज न होता तो इस प्रकार संस्थान-विशेष का जनक रश्मि-विशेष के संयोग-वियोग से और इच्छाशक्ति या सत्यसंकल्प के प्रभाव से भी सृष्टि की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए योग और विज्ञान के एक होने पर भी, एक प्रकार से दोनों का किंचित् पृथक् रूप में व्यवहार होता है। रश्मियों को शुद्ध रूप से पहचान कर उनकी योजना करना ही सूर्य-विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सभी स्थूल और सूक्ष्म कार्य करने में समर्थ होते हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, काम-क्रोध-लोभ-मोह-प्रीति-भक्ति आदि सभी चैतसिक वृत्तियाँ और संस्कार भी रश्मियों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल वस्तु के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। अतएव जो इस योजना-वियोजना की प्रणाली को जानते-समझते हैं—वे सब कुछ कर सकते हैं। निर्माण भी कर सकते हैं और संहार भी। परिवर्तन की तो बात ही नहीं। यही 'सूर्य-विज्ञान' है। इस प्रसंग के अन्त में कविराजजी ने कहा—परमहंसदेव जैसे योगी का दर्शन होना अति कठिन है। उनकी योगशक्ति और विज्ञानशक्ति का वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। जिनका उनके साथ थोड़ा-बहुत अन्तरंग सम्बन्ध हुआ है, वे हजारों प्रकार से उनके अलौकिक ज्ञान, विभूति, करुणा, और वात्सल्य गुणों से परिचित हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध में चर्चा

कविराजजी जब तक पार्थिव काया में रहे तब तक उनसे मेरा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बराबर सम्बन्ध बना रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं। उनकी

करुणा, कृपा और अनुकम्पा की अमृत वर्षा बराबर होती रही मुझ पर। इसमें भी कोई सन्देह नहीं।

एक दिन सहसा उन्होंने मुझसे प्रश्न किया—योग-तंत्र के किस विषय पर तुम शोधकार्य कर रहे हो? प्रश्न सुनकर संकोच के अथाह सागर में डूब गया मैं। किसी प्रकार अपने को सँभाला और फिर विनम्र स्वर में बोला—कुण्डलिनी-शक्ति, कुण्डलिनी-जागरण और कुण्डलिनी-साधना—ये तीन विषय हैं मेरे शोध और अनुसंधान के।

मेरा उत्तर सुनकर काफी देर तक कविराजजी मौन रहे। फिर गम्भीर स्वर में बोले—यह अति कठिन और जटिल कार्य है।

है तो अवश्य; लेकिन यदि आपका आशीर्वाद प्राप्त हुआ और मुझ पर आपकी छत्रछाया रही तो निश्चय ही मेरा अनुष्ठान पूर्ण हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं। फिर थोड़ा रुक कर धीमे स्वर में मैं बोला—यदि आपके मुखारवृन्द से इस दुरूह विषय पर थोड़ा-सा प्रकाश पड़ जाता तो मैं अपने आपको सौभाग्यशाली समझता।

स्वभाव के अनुसार कुछ समय तक कविराजजी मौन रहे। फिर बोले—ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। यह सर्वविदित है। कुण्डलिनीशक्ति को बिना जाग्रत् किये और बिना उद्‌बुद्ध किये कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि किसी भी साधनामार्ग में सफलता सम्भव नहीं। कोई भी साधन दुःख की निवृत्ति अथवा किसी भी प्रकार की मुक्ति के उपाय रूप में परिणत नहीं हो सकता। जो कर्म, जो ज्ञान और जो भक्ति अथवा उपासना-साधना कुण्डलिनीशक्ति के जागरण में सहायता करे, सहयोग दे—वे ही यथार्थ में कर्म हैं, ज्ञान है और भक्ति है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग उसी के पदवाच्य हैं।

चार पुरुषार्थ के अतिरिक्त एक और पुरुषार्थ है और वह है—कुण्डलिनी-जागरण। यह पंचम पुरुषार्थ के रूप में योगी समाज में प्रसिद्ध है।

ज्ञान के अभाव में सब कुछ निष्फल है। कर्म भी निष्फल है। इस तथ्य को किसी-न-किसी रूप में सभी सम्प्रदाय के लोगों ने स्वीकार किया है। जो कुछ भी हो—ज्ञान हो या भक्ति; जो साक्षात् भाव से मुक्ति के कारण माने जाते हैं, वे किस प्रकार स्वायत्त किये जा सकते हैं—इसका समाधान ही कुण्डलिनी का मुख्य विषय है।

० ० ०

कुण्डलिनी-जागरण को लक्ष्य बनाकर किया गया कर्म ही वास्तव में कर्मयोग है। यदि यह लक्ष्य नहीं है तो समस्त कर्मादि व्यर्थ प्रयास के कारण हैं। कुण्डलिनी ही एकमात्र 'ज्ञानशक्ति' है। बिना कुण्डलिनीशक्ति को जाग्रत् किये सभी प्रकार की साधना, सभी प्रकार की उपासना, सभी प्रकार की

भक्ति और सभी प्रकार के कर्म व्यर्थ हैं। कुण्डलिनी की निद्रा भंग हुए बिना आत्मा की परमात्मा में स्थिति भी सम्भव नहीं।

० ० ०

कुण्डलिनी-साधना परम साधना है। यह पूर्णरूपेण मौलिक और स्वतन्त्र साधना है। वह स्वयं अपना मूलस्रोत है। और एकमात्र यही कारण है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार उसकी आलोचना कहीं नहीं की गयी है। वेदानुकूल दर्शनशास्त्रों में भी कुण्डलिनी-साधना को ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ तक कि पातञ्जलयोगशास्त्र में भी कुण्डलिनी और षट्चक्रों का उल्लेख नहीं किया गया है। बौद्ध और जैन साहित्य में भी स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी की चर्चा नहीं की गयी है। योगी समाज का कहना है कि कुण्डलिनीयोग मुक्ति का उपाय विशेष है। इसके मार्ग का अनुसरण करने पर मोक्ष-लाभ सन्दिग्ध नहीं रह जाता। मेरे एक प्रश्न के उत्तर में कविराजजी ने कहा—कुण्डलिनीयोग कितना प्राचीन है, यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सकता। लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि जब भारतवर्ष में अक्षर उपासना के विषय में आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उसी समय कुडलिनीयोग की साधना का प्राधान्य भी स्थापित हुआ था। वास्तव में कुण्डलिनी योगपरक तंत्रशास्त्र की अन्तरंग साधना का विषय है। कुण्डलिनी का दूसरा नाम हैं आधारशक्ति। यह जगत् के सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उसकी मूल सत्ता के रूप में वर्तमान रहती है। इसके चैतन्य सम्पादन से यह निराधार और निरालम्ब होकर अपने शुद्ध चैतन्य रूप में स्थित हो जाती है। और जिस समय कुण्डलिनी आधारशून्य हो जाती है, उस समय संसार की समस्त वस्तुएँ भी निराधार हो जाती हैं। इसी प्रकार जब कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर चिन्मय रूप धारण करती है, उस समय समस्त विश्व भी चैतन्य रूप धारण कर लेता है। कुण्डलिनी-जागरण, सर्वं खल्विद ब्रह्म, ब्रह्मसाक्षात्कार और चैतन्य के अनुभव का साक्षात्कार सभी एक ही विषयवस्तु है।

कुण्डलिनी-जागरण की तीन अवस्थाएँ है। पहली अवस्था कर्मयोगी की, दूसरी अवस्था ज्ञानयोगी की और तीसरी अवस्था भक्तयोगी की। तात्पर्य यह कि कुण्डलिनी का जागरण कर्म, ज्ञान और भक्ति की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। जब कुण्डलिनी का जागरण पूर्ण हो जाता है, उसी समय परिपूर्ण अद्वैततत्त्व की सिद्धि होती है। अद्वैततत्त्व की सिद्धि ही 'कुण्डलिनी योग' का चरम लक्ष्य है।

कुण्डलिनी योग के क्रमशः चार अंग हैं—कुण्डलिनी के स्वरूप का ज्ञान, कुण्डलिनी का जागरण, कुण्डलिनी का उत्थान और षट्चक्रों का भेदन, तदनन्तर सहस्रार में उसकी पूर्णरूपेण स्थिति। इन चारों अंगों को ध्यान में रखकर शोध कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। तभी पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकेगी।

प्रकरण : तेरह

आकाशचारी कुलानन्द परमहंसदेव और ज्ञानगंज मठ का आध्यात्मिक वातावरण

कुलानन्द परमहंसदेव की थोड़ी चर्चा पीछे की जा चुकी है। स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव की तरह आकाशचारी कुलानन्द परमहंसदेव भी इस ज्ञानगंज मठ के एक सिद्ध महापुरुष थे। वे कालञ्जयी थे। उनकी आयु कितनी है ? इसे ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। एक बार प्रज्ञा के निवास स्थान पर उस दिव्य महापुरुष के दर्शन-लाभ का सौभाग्य प्राप्त हुआ था मुझे। कालीपद बाबू से ज्ञात हुआ था कि परमहंसदेव प्रत्येक वर्ष गुरु पूर्णिमा के पर्व पर अर्धरात्रि के समय आकाशमार्ग से अपने आत्मशरीर द्वारा अपनी परम शिष्या प्रज्ञा के निवास-स्थान पर उपस्थित होते हैं।

उस दिन साँझ होते ही आकाश काले-भूरे बादलों से अटकर काला हो गया। पहले तो टप-टप कर बूँदें गिरीं और फिर झम्-झम् कर बरसने लगे मेघ। पूरी रात उसी प्रकार वर्षा होती रही। मगर मेरे मन में शान्ति नहीं थी। मैं तो व्याकुल हो रहा था परमहंसदेव के दर्शन के लिए। आधी रात के समय किसी प्रकार पानी में भींगता हुआ देवनाथ पुरा पहुँचा। मकान के निचले तल्ले में रहती थी प्रज्ञा। कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द था। लेकिन सामने वाली खिड़की थोड़ी-सी खुली हुई थी। उसी में से चुपचाप झाँक कर देखा—भीतर जीरो पावर के बल्ब का हलका प्रकाश हो रहा था। कमरे के फर्श पर पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठी हुई थी प्रज्ञा। उनके सामने लाल मखमल का आसन लगा हुआ था और उसके निकट अगरबत्तियाँ जल रही थीं। जिसके फलस्वरूप कमरे का निस्तब्ध वातावरण और अधिक रहस्य-मय हो रहा था। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि मखमल के आसन के ऊपर सहसा एक ज्योति प्रकट हुई। ज्योति का रंग हीरे की तरह शुभ्र था और उसमें से रुपहली और सुनहली किरणें निकल रही थीं। वह ज्योति पहले तो स्थिर थी, लेकिन बाद में उसमें कम्पन होने लगा। धीरे-धीरे कम्पन बढ़ने लगा और उसी के साथ ज्योति का आकार भी बढ़ने लगा अपने स्थान पर।

आँखें फाड़े आश्चर्य से देख रहा था मैं उस रहस्यमयी ज्योति को। धीरे-धीरे बढ़ते हुए अन्त में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष के किशोर बालक का रूप धारण कर लिया उसने। वह किशोर बालक और कोई नहीं, स्वामी कुलानन्द परमहंसदेव हैं—यह समझते देर न लगी मुझे। देखने में वह बालक-स्वरूप थे, लेकिन सिर पर काफी लम्बा जटाजूट था। दाढ़ी के बाल भी कम लम्बे न

थे। नेत्र उन्मीलन अवस्था में थे। लगता था मानो सहज समाधि में हों वह। गले में रुद्राक्ष की माला थी। कमर में केवल मृगचर्म बँधा था और सारा शरीर अनावृत था। शरीर का रंग गुलाबी था और स्फटिक की तरह चमक रहा था। चेहरे पर दीप्त आभा थी। कोई भाव नहीं था वहाँ। पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए थे वह। सामने जल रही अगरबत्तियों की धूम बृत्ताकार रूप में उनके दिव्य शरीर का स्पर्श करती हुई ऊपर उठ रही थी। कमरे का वातावरण अब अत्यधिक सम्मोहक और स्वप्निल हो उठा था।

कुछ क्षणों के बाद परमहंसदेव के नेत्र खुले और उन खुले हुए नेत्रों में से नीलवर्ण की एक प्रकाश-रेखा निकलकर सामने बैठी प्रज्ञा के भ्रूमध्य में समाने लगी। बड़ा ही अपूर्व और विलक्षण दृश्य था वह। एक दिव्य आत्म-शरीरधारी महात्मा का आविर्भाव मेरे चर्मचक्षु के सामने हुआ है—इसका विश्वास नहीं हो पा रहा था मुझे। लगभग पन्द्रह-बीस मिनट बाद परमहंस देव की पारदर्शी काया पुनः ज्योति के रूप में परिवर्तित हो गयी। फिर अन्त में गायब हो गयी।

० ० ०

ज्ञानगंज मठ में कुण्डलिनी-साधकों का अपना अलग समाज है। उसी समाज के अधिष्ठाता थे स्वामी कुलानन्द परमहंसदेव। जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् होकर षट्चक्रों को बेधती हुई सहस्रारचक्र में स्थित हो जाती है, उस अवस्था में साधक को अद्वैत-लाभ के निमित्त गुह्यनी दीक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से परमहंसदेव आकाशमार्ग से उपस्थित हुआ करते हैं। योगतांत्रिक साधना-मार्ग में गुह्यनी दीक्षा का स्थान सर्वोच्च है। इस परम दीक्षा में सम्पन्न होने पर नरमेध समाधि की उपलब्धि होती है। यही स्थितप्रज्ञ अवस्था है।

० ० ०

योगतंत्र में सर्वोच्च अवस्था प्राप्त परमहंसदेव जैसे महापुरुषों को केवल दो ही शरीर उपलब्ध रहता है—स्थूलशरीर और आत्मशरीर। दोनों के बीच के शरीर—वासनाशरीर, सूक्ष्मशरीर और मनोमय शरीर का पूर्णतया अभाव रहता है। यही कारण है कि ऐसे योगियों और साधकों का सम्बन्ध केवल भौतिक जगत् और आत्मजगत् से ही रहता है। वासना जगत्, सूक्ष्म जगत् और मनोमय जगत् से नहीं। पाँचों शरीरों में आत्मशरीर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक मूल्यवान् है। इसलिए कि इस शरीर को उपलब्ध होने पर द्वैत अथवा 'द्वन्द्व' का हमेशा के लिए प्रणाश हो जाता है और अद्वैत-लाभ होता है। इसी परम अवस्था को प्राप्त करना कुण्डलिनी-शक्ति के साधकों का अन्तिम लक्ष्य होता है।

आत्मशरीर ब्रह्माण्डीय प्रकाश की ऊर्जा के कणों से निर्मित प्रकाशमय होता है। इसलिए उसकी गति भी प्रकाश की गति के समान होती है। प्रकाश

की गति प्रति सेकेण्ड १८५००० मील है। आत्मशरीर उपलब्ध योगीगण प्रकाश की गति से इच्छानुसार तत्काल हजारों मील की यात्रा कर सकने में समर्थ होते हैं। वे किसी भी स्थान पर तत्क्षण पहुँच जाते हैं।

आत्मशरीर का केन्द्र विशुद्ध चक्र है। इसी चक्र के द्वारा आत्मा क्रम से मनःशरीर, सूक्ष्मशरीर, वासनाशरीर और अन्त में स्थूलशरीर से जुड़ती है। योगीगण इसी चक्र की सहायता से अपने पार्थिव शरीर को छोड़ कर आत्म-शरीर द्वारा संचरण-विचरण किया करते हैं।

बीच के तीनों शरीरों के अभाव के कारण योगियों में कामना, वासना, इच्छा, विचार, भाव, भावना आदि का पूर्ण अभाव रहता है। क्योंकि ये सब तीनों शरीरों के विषय हैं। रही स्थूलशरीर की बात तो उसका सम्बन्ध प्रारब्ध कर्मों से है। प्रारब्ध कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगने के लिए आत्मा को स्थूलशरीर की आवश्यकता पड़ती है। इसी के लिए वह बार-बार जन्म ग्रहण किया करती है। क्योंकि अन्य शरीर भोगशरीर है। यहाँ तक कि देवशरीर भी।

योगियों का स्थूलशरीर में बने रहने का कारण

यह निर्विवाद सत्य है कि किसी भी साधना की कोई भी अवस्था प्रारब्ध कर्म और उसके शुभाशुभ फलों को नष्ट नहीं कर सकती। उनका नष्ट होना भोग द्वारा ही सम्भव है। और भोग के लिए शरीर आवश्यक है। स्थूल-शरीर की जितनी विशेषताएँ हैं, उनमें एक विशेषता यह भी है कि वह कर्म-शरीर तो है ही, उसके अतिरिक्त वह भोगशरीर भी है। हम अपने संचित कर्म अथवा प्रारब्ध कर्म का वर्तमान शरीर में फल भी भोगते हैं और कर्म भी करते हैं; जिसके फल को भोगने के लिए हमें अगले जन्म में पुनः नया शरीर धारण करना पड़ता है। शरीर का नियम प्राकृतिक है। उसका पालन सभी को करना है। चाहे वह योगी हो या भोगी हो। उच्च अवस्था-प्राप्त योगीगण अपने संचित कर्म अथवा प्रारब्ध कर्म के शुभाशुभ फलों को भोगने के लिए परकाया-प्रवेश नहीं करना चाहते। गर्भ की यातना सहकर पुनर्जन्म भी स्वीकार करना नहीं चाहते। क्योंकि इनसे साधना में व्यवधान पड़ने की आशंका बनी रहती है। इतना ही नहीं साधना-मार्ग में भ्रम और व्यतिक्रम उत्पन्न होने के अतिरिक्त मार्गच्युत अथवा मार्गभ्रष्ट होने की भी सम्भावना रहती है। इसलिए योगीगण वर्तमान शरीर में ही बने रहना पसन्द करते हैं। लेकिन अपने स्थूलशरीर के प्रति उनके हृदय में किसी भी प्रकार की मोह-माया और आसक्ति नहीं रहती। आत्मशरीर में स्थित होने के फलस्वरूप स्थूलशरीर पर समय का, काल का अथवा आयु का प्रभाव अत्यन्त मन्द गति से पड़ता है। यदि संचित अथवा प्रारब्ध कर्म का क्षय चार सौ वर्षों में होने वाला है, तो उनका स्थूलशरीर पूरे चार सौ वर्षों तक बना रहेगा। यही मूल कारण

है कि योगीगण बराबर एक ही अवस्था में रहते हैं। एक ही शरीर में सैकड़ों-हजारों वर्ष जीवित रहते हैं। वे कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करते। भोग भोगते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होते और संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहते हैं। वास्तव में वे संसार और शरीर में रहते हुए भी मृतक तुल्य रहते हैं। इसी को जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ अवस्था कहते हैं (इस अवस्था पर हम आगे विचार करेंगे) अस्तु !

० ० ०

मुझसे कई पाठकों ने पत्र द्वारा पूछा है कि योगियों के रुग्ण होने, भयंकर रोग से ग्रस्त होने और अल्पायु में मरने का रहस्य क्या है ?

वास्तव में यह कोई गम्भीर बात नहीं है। योगियों का अल्पायु में मरने का कारण केवल इतना ही है कि उतनी ही आयु में संचित अथवा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो गया उनका। इसलिए स्थूल शरीर की आवश्यकता भी समाप्त हो गयी। इसी अवस्था को 'भवमुक्ति' कहते हैं। जिसका अर्थ है—हमेशा के लिए स्थूल शरीर की आवश्यकता का समाप्त हो जाना, यानि जीवन और मृत्यु दोनों से मुक्त हो जाना।

योगीगण रुग्ण अथवा भयंकर रोग से ग्रस्त इसलिए होते हैं कि अपने पिछले किसी जन्म के असत् कर्मों के फल को वे किसी भयंकर रोग अथवा व्याधि के रूप में भोग लेना चाहते हैं, ताकि उसके लिए पुनः शरीर धारण करना न पड़े। क्योंकि पाप और पुण्य दोनों को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। जैसे वे असत् कर्मों के फल को रोग-व्याधि के रूप में भोगते हैं, उसी प्रकार वे सत् कर्मों के फल को भी यश, ख्याति, प्रतिष्ठा आदि के रूप में भोगते हैं।

शंकराचार्य का ३३ वर्ष की और विवेकानन्द की ३६ वर्ष की आयु में शरीर त्यागने और इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंसदेव का अनेकों बीमारियों से घिरे रहने तथा महर्षि रमण का कैंसर रोग से पीड़ित होने का एकमात्र यही रहस्य है। अस्तु।

० ० ०

स्वामी कुलानन्द परमहंसदेव प्रज्ञा को दीक्षा प्रदान कर उसे अपने साथ ज्ञानगंज मठ में भी ले गये थे। प्रज्ञा ने मुझे बतलाया कि आश्रम में प्रवेश करते ही अपने शरीर के प्रति मेरा बोध समाप्त हो गया। मैं अपने व्यक्तित्व का, अपने अस्तित्व का और अपने 'मैं-पन' का तो बोध कर रही थी, लेकिन अपने शरीर का नहीं। मेरा शरीर भी है। मेरे शरीर की कोई आवश्यकता भी है—यह सब विस्मृत हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं, मेरी जैसी ही अवस्था प्रायः वहाँ के सभी लोगों की थी। शरीर के बोधशून्य जीवन का

आनन्द निश्चय ही मेरे लिए अत्यन्त रोमाञ्चकारी था। वहाँ के वातावरण में चारों तरफ हमेशा कुहरे जैसा गहरा धुन्ध छाया रहता था। और उस धुन्ध में मठ ऐसा लगता था जैसे वह धरती पर नहीं बल्कि आकाश में बादलों के ऊपर स्थित हो। वह विशाल मठ पारदर्शक स्फटिक का बना था। मठ में कई बड़े-बड़े प्रकोष्ठ और साधना-कक्ष थे। मुख्यरूप से मठ तीन भागों में विभक्त था। पहला भाग ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था। दूसरे भाग में योग और तंत्र की दीक्षा-शिक्षा की व्यवस्था थी। इसी प्रकार तीसरे भाग में उच्च कोटि की रहस्यमयी गुह्य विद्याओं की दीक्षा-शिक्षा की व्यवस्था थी।

प्रज्ञा ने बतलाया कि ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र काफी बड़ा था। उसमें सूर्य-विज्ञान, सौर-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, क्षण-विज्ञान, शब्द-विज्ञान, काल-विज्ञान चन्द्र-विज्ञान आदि की दीक्षा-शिक्षा की व्यवस्था थी। 'विज्ञान' शब्द से साधारणत: हम जो कुछ समझते हैं और जिसका समुन्नत रूप आजकल दिखलायी पड़ता है—ज्ञानगंज मठ का विज्ञान ठीक उसी प्रकार का नहीं है। वहाँ वे विज्ञान हैं जो प्राचीन काल में ऋषियों को अवगत थे। और आवश्यकता पड़ने पर जिनके द्वारा वे अनेकों प्रकार के कार्य-साधन करने थे। मठ में निवास करने वाले लोकातीत कार्य करने में सक्षम योगियों और साधकों की योगशक्ति और विज्ञानशक्ति का वर्णन करना असम्भव है। यदि किसी प्रकार उनका वर्णन किया भी जाय तो साधारण लोग उसे असम्भव ही मानेंगे। और सहसा उन पर विश्वास करने में भी समर्थ न होंगे। यदि मैं आपसे यह कहूँ कि मठ में निवास करने वाले योगी और साधकों में कुछ ऐसे भी हैं, जो अपने पार्थिव शरीर को वहाँ छोड़कर अपने आत्मशरीर और अपने सूक्ष्मशरीर के द्वारा संसार में बराबर संचरण-विचरण किया करते हैं तो क्या आपको विश्वास होगा? क्या आप इस पर विश्वास करेंगे कि वहाँ कुछ ऐसे भी महायोगी हैं जिनकी आयु हजारों-हजार वर्ष की है। और वे एक ही आसन पर और एक ही मुद्रा में सैकड़ों वर्षों से समाधिस्थ बैठे हुए हैं। नहीं, कभी नहीं विश्वास होगा इन सब बातों पर आपको।

० ० ०

मठ के व्यवस्थापक थे महातपा! उन्हीं के संचालन में सारा कार्य होता था। उन्हीं के आदेश पर नये प्रवेश करने वाले साधकों को योगतंत्र आदि की दीक्षा दी जाती थी। सर्वप्रथम मुझे उन्हीं के सम्मुख उपस्थित किया गया था। काफी लम्बा-चौड़ा कक्ष था वह। कक्ष की दीवारें सुनहले रंग की थीं। जिनमें से सुनहले रंग का प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा था। ओंकार की मन्द-मन्द ध्वनि भी गूँज रही थी वहाँ पर। वह ध्वनि कहाँ से निकल रही थी, यह मेरी समझ में नहीं आया। मगर यह निश्चित था कि वह किसी व्यक्ति के

कण्ठ से नहीं फूट रही थी। उसका उद्गम कुछ और ही था, जो मेरे लिए अज्ञात था।

कक्ष के मध्य में रक्तवर्ण और पीतवर्ण के पारदर्शक स्फटिक पाषाण का शतदल कमल पुष्प था, जो स्वयं प्रकाशित हो रहा था। मैंने देखा — उस स्वप्रकाशित कमल पुष्प पर एक दिव्य महापुरुष पद्मासन की मुद्रा में विराजमान थे। वही महातपा थे। देखने में वे बिलकुल बालक प्रतीत हो रहे थे। लेकिन उनकी आयु सबसे अधिक थी। उनका शरीर भी गुलाबी रंग का और पारदर्शक था। और था पूर्ण अनावृत। गले में मोतियों जैसी माला थी, जिसमें से शुभ्र वर्ण की रश्मियाँ निकल रहीं थीं। दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल सफाचट थे। वे बिना पलक झपकाये सामने की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे थे। तेजोमय मुखमण्डल पर किसी भी प्रकार का भाव नहीं था।

प्रज्ञा ने कहा — उस दिव्य महात्मा के कक्ष में प्रवेश करते ही मेरी आत्मा को जिस आनन्द और जिस शान्ति का अनुभव हुआ उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती मैं। निश्चय ही उसी आनन्द और उसी शान्ति को परम आनन्द और परम शान्ति कहते होंगे योगीगण।

उसी आनन्द और उसी शान्ति के सागर में आकण्ठ डूबी हुई मैं जब उस दिव्य महापुरुष की ओर निहार रही थी, उसी समय न जाने कब, कैसे और कहाँ से आकर मेरे गले में सुन्दर खिले हुए ताजे गुलाब के फूलों की माला झूल गयी। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। तीव्र सुगन्धमय गुलाब के फूल इतने बड़े-बड़े और सुन्दर थे कि उन्हें इस संसार का नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही वे किसी अज्ञात लोक के पुष्प थे, इसमें सन्देह नहीं।

दीक्षाकक्ष का वह रहस्यमयी दीप

प्रज्ञा ने बतलाया कि इस प्रकार आश्चर्यमय और रहस्यमय ढंग से गुलाब पुष्प की माला का प्राप्त होना इस बात का संकेत था कि मुझे दीक्षा की आज्ञा महातपस्वी और परम योगी महातपा की ओर से प्राप्त हो गयी है। मैं साधना का योग्य पात्र हूँ। उसके बाद मुझे दीक्षा कक्ष में ले जाया गया। वहाँ भी एक महायोगी पद्मासन पर बैठे हुए दिखलायी पड़े मुझको। वे भी बालक सदृश थे। लेकिन उनकी आयु काफी थी। उनके नेत्र बन्द थे। चेहरे पर असीम अलौकिक दिव्य तेज था। मुझे बतलाया गया कि उनका नाम कैवल्यपाद है और सैकड़ों वर्षों से इसी प्रकार वे समाधिस्थ बैठे हुए हैं।

कैवल्यपाद का जहाँ आसन था, उसके समीप स्फटिक की एक गोलाकार वेदी थी। मैंने देखा उस वेदी पर स्वर्ण का लगभग दो फुट ऊँचा दीपाधार था। और उस दीपाधार पर अष्टधातु के पात्र में एक दीप प्रज्वलित था। पात्र में तेल के स्थान पर कोई अज्ञात तरल द्रव भरा हुआ था, जिसका रंग सोने की तरह था। दीप की ज्योति में किसी प्रकार का कम्पन नहीं था। वह

बिलकुल स्थिर थी। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस स्थिर ज्योति का प्रकाश अत्यन्त तीव्र था और पूरे कक्ष में फैल रहा था। बाद में ज्ञात हुआ कि वह दीप इसी प्रकार पिछले कई सौ वर्षों से जल रहा है और निरन्तर प्रकाश बिखेर रहा है।

० ० ०

उस रहस्यमय दीपक की जैसी चर्चा प्रज्ञा ने की थी, उसी प्रकार का दीपक इटली के नसीवा द्वीप के एक कब्र में भी मिला था। कब्र का दरवाजा काफी मजबूत था। जब उसे तोड़ा गया तो भीतर अन्धकार के बजाय तेज प्रकाश फैला हुआ था। वह प्रकाश शव के पास रखे एक दीपक से निकल रहा था। एक व्यक्ति उस दीपक को बाहर उठा लाया। उसकी बत्ती बिलकुल ताजी लग रही थी। शीशे के जार में रखा वह दीपक बाहर ले आने पर भी बराबर जलता रहा। कब्र में कब से वह दीपक बिना तेल और हवा के जल रहा था, यह कोई जान न सका। वस्तुतः वह आश्चर्य की बात थी।

इसी प्रकार एस्टेनाग के प्राचीन नगर हचूबा में मैक्समस की कब्र में भी शताब्दियों से जल रहा एक दीपक पाया गया था। जिसकी चर्चा प्राचीन इतिहासकार येसे लाइस ने अपनी पुस्तक में की है। चर्चा के अनुसार वह दीपक सोने और चाँदी के हौज में—जिसमें एक अज्ञात तरल पदार्थ भरा हुआ था—जल रहा था। उस हौज पर खुदे हुए लेख से पता चला कि वह दीपक एक यूनानी देवता प्लोटों को भेंट किया गया था। उस पर यह भी लिखा गया था कि—'होशियार ! इस दीपक के साथ छेड़खानी न करें। क्योंकि इसके अन्दर सभी तत्त्वों को गुप्त ढंग से एकत्र किया गया है और इस दीपक को शताब्दियों तक निरन्तर जलने रहने की योग्यता प्रदान की गयी है'। दीपक की आयु उस समय पाँच सौ वर्ष थी। चौथी शताब्दी में किसी समय जलाया गया होगा उसे।

अंग्रेज इतिहासकार विलियम कैमडन ने १५८२ में प्रकाशित होने वाली अपनी पुस्तक 'ब्रिटेन' में लिखा है कि गत वर्ष एक कब्र में ऐसा दीपक पाया गया जो एक दीर्घावधि से निरन्तर जल रहा था। उस कब्र में सम्राट कांस्टेट्स को दफनाया गया था। दीपक में तेल के स्थान पर पिघला हुआ सोना था। जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीनकाल के वैज्ञानिक सोने को ऐसे द्रवपदार्थ में बदल देने की कला जानते थे, जिससे दीपक को शताब्दियों तक बराबर जलाया जा सके।

सन् ३२४ से ३३४ के बीच लिखी अपनी एक पुस्तक में सेंट आगस्टाइन ने कहा है कि सौन्दर्य की देवी वीनस के मन्दिर में सदा जलते रहने वाला एक ऐसा दीपक था जिस पर वर्षा, हवा आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

ऐसा ही एक दीपक सन् १८४० में स्पेन के कुर्तवा नामक स्थान पर एक रोमन परिवार की संयुक्त कब्र में मिला था।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक इस प्रकार के दीपकों जैसे प्रकाश का आविष्कार करने में सफल रहे हैं। मगर वह प्रकाश केवल तीन-चार सप्ताह तक ही कायम रह सका था। उस प्रकाश के लिए उन्होंने इंधन के रूप में 'मिथाइल नाइट्रेट' का उपयोग किया था। उस प्रयोग के बाद यह प्रश्न उभरा कि क्या प्राचीन काल के वैज्ञानिक 'ठण्डे प्रकाश' के सिद्धान्त से परिचित थे? 'ठण्डे प्रकाश' के सिद्धान्त का प्रयोगात्मक प्रदर्शन प्राग के प्रोफेसर हॉजमोलश ने १९१४ में वियना की वैज्ञानिक प्रदर्शनी में किया था। वह प्रकाश इक्कीस दिनों तक कायम रहा।

जोडो पैन्सी रोलिस (१५२३ से १५९९) अपने काल का प्रसिद्ध विधिवेत्ता और अनुसंधानकर्ता हुआ है। उसने इतिहास के बारे में अपनी कई रचनाओं में प्राचीनकाल में उपयोग में आने वाली अनेक ऐसी चीजों का वर्णन किया है जिसे वर्तमान युग फिर से अपनाने लगा है। उदाहरण के रूप में न मिटने वाली नीली स्याही, एसबस्टस और सूत के कपड़े आदि। रोलिस ने दो अन्य चीजों का वर्णन भी किया है—कभी नष्ट न होने वाली दीपक की बत्तियाँ और जलने के बावजूद भी न समाप्त होने वाला तेल।

रोलिस की इस बात की पुष्टि पलेनी की प्रसिद्ध पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री' से भी होती है। पलेनी ने भी लिखा है कि रोम के निवासी 'एसबस्टस' से परिचित थे। प्रख्यात यूनानी इतिहासकार और भूगोलवेत्ता 'अस्ट्रावो' ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। रोलिस अपने इस दावे के प्रमाण में कि सदा जलने वाले दीपकों में एसबस्टस की बत्तियों का उपयोग किया जाता था; वह सम्राट कांस्टेट क्लोर्स के राज्यकाल का एक उदाहरण देता है। क्लोर्स ने एक विशेष प्रकार के पत्थर की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इस पत्थर से कभी नष्ट न होने वाला वस्त्र तैयार करवाया जाय, जिससे दीपक की बत्तियाँ भी बनाई जा सकें। पैंसी का कहना है कि वह पत्थर वास्तव में एसबस्टस था। पैंसी के अनुसार कांस्टेट इसी प्रकार के सदा जलने वाले दीपकों से चार लाख चालीस हजार वर्ग गज के क्षेत्र में फैले हुए अपने महल को चौबीसो घंटे प्रकाशित रखता था। पैंसी ने एक जगह लिखा है कि प्राचीन काल में लोग एक ऐसा तेल बनाना जानते थे जो उपयोग करने के बावजूद भी खर्च नहीं होता था। इस प्रकार के तेल से जलता हुआ एक दीपक हमारे अपने काल में सिसरा की बेटी तोलिया की कब्र में भी पाया गया है। वह दीपक डेढ़ हजार वर्ष तक जलता रहा।

० ० ०

आधुनिक वैज्ञानिक आज तक यह पता न लगा सके कि वे दीपक किस

धातु के बने थे ? और उनमें कौन से पदार्थ का उपयोग होता था, जो वर्षों तक बराबर जलता रहता था। ये सारी बातें अभी रहस्य के आवरण में छिपी हुई हैं। खैर ! यह तो हुईं प्राचीन काल की बातें। प्रज्ञा ने स्वयं अपनी आँखों से ज्ञानगंज मठ में जिस रहस्यमय दीपक को बराबर प्रज्वलित देखा था, वह भी अपने-आप में कम चमत्कारी नहीं था। उस दीपक का क्या वैज्ञानिक आधार था—प्रज्ञा के यह पूछने पर वहाँ के किसी ने कुछ नहीं बतलाया।

° ° °

ज्ञानगंज मठ में प्रज्ञा पूरे तीन वर्ष रही। दीक्षा के बाद परम्परा के अनुसार उसके गुरु ने नया नाम रखा—योगमाया। प्रज्ञा जब वापस लौटी तो वह प्रज्ञा नहीं, योगमाया थी। नदियाँ आने पर उसे ज्ञात हुआ कि नाग महाशय अब इस संसार में नहीं हैं। मगर इस समाचार से विचलित नहीं हुई योगमाया। कदम्ब की छाया में बैठकर काफी देर तक अपलक निहारती रही आकाश की ओर शून्य में वह। जब वह निर्विकार भाव से इस तरह बैठी हुई थी कि उसी समय शरद मित्र आ गये वहाँ। नाग महाशय के एक मित्र थे, जो पड़ोस में ही रहते थे। नाम था फणीन्द्रनाथ मित्र। शरद मित्र उन्हीं का इकलौता पुत्र था। कलकत्ता में पढ़ता था। कालीपूजा की छुट्टी में घर आया था वह। प्रज्ञा को इस प्रकार एकान्त में बैठी देखकर शरद मित्र उसके निकट चला गया और हौले से पुकारा—प्रज्ञा !

प्रज्ञा एकबारगी चौंक पड़ी। सिर उठाकर शरद मित्र की ओर देखा और फिर उठते हुए उसने पूछा—कब आना हुआ कलकत्ता से ?

कल ही तो आया हूँ—यह कहकर शरद मित्र पहले की तरह धीरे से मुस्कराया और प्रज्ञा का हाथ अपने हाथ में लेते हुए बोला—तुम्हारे बिना अब मुझसे नहीं रहा जाता। जल्दी से जल्दी शादी कर लेना चाहता हूँ मैं। बोलो, क्या विचार है ? कब करोगी शादी ? शरद मित्र को भला क्या मालूम था कि जिस प्रज्ञा से वह बात कर रहा है—उसमें विलक्षण आध्यात्मिक परिवर्तन आ चुका है।

विवाह की बात सुनकर पहले तो प्रज्ञा कुछ देर तक मौन रही, फिर गम्भीर स्वर में बोली—योगी के जीवन में प्रेम, आकर्षण, मोह-माया और किसी भी प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों का कोई भी महत्त्व नहीं है शरद ! तुमने मुझसे प्रेम किया है और मैं भी तुम्हारे प्रति आकर्षित रही। मगर अब मुझसे किसी भी प्रकार की आशा मत रखो तुम। इस संसार और इस शरीर में रहते हुए भी नहीं हूँ मैं। संसार मेरे लिए श्मशान है और यह शरीर अब मेरे लिए शवतुल्य है। समझ गये न। इतना कहकर प्रज्ञा ने एक लम्बी सांस ली, आकाश की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे पैर उठाती हुई अपने कमरे में चली गयी वह।

स्तब्ध खड़ा भौंचक्का-सा देखता रहा शरद मित्र प्रज्ञा को जाते हुए। उससे न कुछ बोला गया और न तो कुछ कहा ही गया। आँखें सजल हो आईं उसकी। दूसरे दिन पता चला कि आत्महत्या कर ली शरद मित्र ने। गले में फाँसी लगाकर आत्महनन कर लिया था उसी रात उसने। प्रज्ञा को जब यह समाचार मिला तो एकबारगी स्तब्ध रह गयी वह। उसने सपने में भी कभी न सोचा था कि उसके 'ना' कर देने से आत्महत्या कर लेगा शरद मित्र। कहने की आवश्यकता नहीं—ये सारी बातें कालीपद बाबू ने ही बतलायी थीं मुझे। मेरे यह पूछने पर कि फिर क्या हुआ? तो वे दोनों हाथों की उंगलियों को एक में फँसाते हुए बोले—होगा क्या? उसी दिन नदियाँ को हमेशा-हमेशा के लिए छोड़कर काशी चली आयी प्रज्ञा। पूरे साठ वर्ष का लम्बा अर्सा व्यतीत हो गया। तब से वह काशी में ही है।

साठ वर्ष!···आश्चर्यचकित होकर बोला मैं।

हाँ। साठ वर्ष! तीस वर्ष की आयु में आयी थी प्रज्ञा काशी।

····तो क्या उसकी आयु पूरे नब्बे वर्ष की है? मगर देखने में तो पच्चीस से अधिक नहीं दीखती वह।

मेरी बात सुनकर कालीपद बाबू थोड़ा हँसे और फिर बोले—कुण्डलिनी-शक्ति के चैतन्य होकर ऊर्ध्वगमन करने पर उसका सबसे पहले शरीर और मन पर प्रभाव पड़ता है। जिसके फलस्वरूप आयु तो अपने स्थान पर बढ़ती ही जाती है। लेकिन शरीर और मन से उसका स्पर्श नहीं होता। साधक मृत्युपर्यन्त चिरयौवन-सम्पन्न और पूर्ण स्वस्थ बना रहता है। मन भी सदैव प्रफुल्ल, प्रसन्न और विकार रहित रहता है। किसी भी प्रकार की शारीरिक और मानसिक रोग-व्याधि उत्पन्न नहीं होती। निश्चय ही नब्बे वर्ष की अवस्था में भी प्रज्ञा अक्षय यौवन-सम्पन्न थी, इसमें सन्देह नहीं। काल और आयु का प्रभाव नहीं पड़ा था उसकी कंचन काया पर अभी तक। वही अपूर्व रूप, वही सुगठित देहयष्टि और वही मादक सौन्दर्य—सब कुछ वही, कोई अन्तर नहीं। सन् १९५२ की शरद पूर्णिमा की रात्रि में चिर समाधि ग्रहण की प्रज्ञा ने। उस समय उसकी अवस्था एक सौ बीस वर्ष की थी। मनुष्य की पूर्ण आयु से दस वर्ष अधिक। उस महायोगी के महाप्रयाण के समय केवल मैं ही उपस्थित था वहाँ। प्रज्ञा ने स्वयं कहा था—मेरे शरीर छोड़ने का समय अति निकट है। यह मेरा अन्तिम त्याग होगा। इसके बाद शरीर ग्रहण नहीं करेगी मेरी आत्मा। उस अवसर पर केवल तुम ही रहोगे मेरे समीप।

ऐसा ही हुआ। पार्थिव शरीर से एक परम योगी की जीवन्मुक्त आत्मा किस प्रकार पृथक् होकर स्वधाम गमन करती है—उसे प्रत्यक्ष देखा मैंने। निश्चय ही वह अपूर्व दृश्य था और अनिर्वचनीय अनुभव।

ब्राह्ममुहूर्त का समय । शरद पूर्णिमा के चाँद की रुपहली चाँदनी सिमटने लगी थी अब । पूरब के आकाश के क्षितिज पर शुक्रतारा झिलमिलाने लगा था । साधना कक्ष में गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी उस समय । मन्द-मन्द जल रहे घी के दीपक का हलका पीला प्रकाश फैल रहा था कक्ष में । जमीन पर बिछे काले कम्बल के आसन पर शवासन की विशेष मुद्रा में स्थिर लेटी हुई थी प्रज्ञा । पूरा शरीर अनावृत था । केवल कमर में एक काषाय वस्त्र लिपटा हुआ था । कंचन काया बिलकुल निश्चेष्ट पड़ी थी । अध्यात्म की अपूर्व आभा से दप्-दपा रहे मुखमण्डल पर खुली खिड़की से छनकर आती हुई चाँदनी पड़ रही थी । गले में गुलाब के फूलों की माला, मस्तक पर लाल चन्दन का प्रलेप और बिखरी हुई केशराशि ।

दूर कहीं टन्-टन् कर चार का घण्टा बजा । मैंने देखा प्रज्ञा के अनावृत शरीर के प्रत्येक अंग से एक साथ कुहरे जैसा सफेद भाप निकलने लगा था । और निकल कर एक स्थान पर धीरे-धीरे एकत्र होने लगा था । क्या था भाप जैसा वह ? बाद में ज्ञात हुआ कि वह पंचप्राणों का मिश्रित रूप था—जो बाद में एक मानवाकृति में परिवर्तित हो गया । वह आकृति बिलकुल प्रज्ञा के शरीर की तरह थी । वह कभी छोटी हो जाती तो कभी काफी बड़ी । निश्चय ही वह प्रज्ञा का पंचप्राण निर्मित सूक्ष्म शरीर था, इसमें सन्देह नहीं ।

उसी समय छोटी सुपाड़ी के आकार का एक ज्योतिपुञ्ज प्रकट हुआ नाभिकेन्द्र के निकट । जिसका रंग गहरा नीला था और उसमें से इतनी प्रखर किरणें निकल रहीं थीं कि उस पर आँखें स्थिर नहीं हो पा रही थीं । कुछ क्षण बाद वह रहस्यमय नीलाभ ज्योतिपुञ्ज शनैः-शनैः ऊपर उठने लगा और हृदय केन्द्र का स्पर्श करते हुए आज्ञाचक्र पर स्थिर हो गया । लेकिन वहाँ से जैसे ही वह कपाल प्रदेश की ओर बढ़ा, उसी समय छोटे बच्चों जैसी किलकारी की आवाज उस निस्तब्ध आध्यात्मिक वातावरण में गूंज उठी एकबारगी । निश्चय ही वह किलकारी प्रज्ञा के मुख से निकली थी ।

मैंने देखा—वह ज्योतिपुञ्ज हवा में तैरता हुआ प्रज्ञा के पंचप्राण निर्मित सूक्ष्म शरीर में समा गया । अब वह सूक्ष्म शरीर वाष्पीय नहीं रह गया था । ज्योतिपुञ्ज के समा जाते ही वह भी एकबारगी प्रकाशवान् हो उठा था । और उसमें से सुनहली, रुपहली रश्मियाँ निकल रही थीं । वह रश्मिमय ज्योति-पुञ्ज प्रज्ञा की विशुद्ध आत्मा थी—यह समझते देर न लगी मुझे ।

दिव्य आत्मा के दिव्य आलोक से उद्भासित प्रज्ञा का वह प्रखर तेजोमय सूक्ष्म शरीर तीव्र गति से खिड़की से बाहर निकल कर निरभ्र आकाश में लीन हो गया । अब उस कक्ष में मेरे सामने प्रज्ञा का पार्थिव शरीर पड़ा था निश्चेष्ट, प्राणहीन ।

प्रकरण : चौदह

साधक वामाचरण घोषाल

वाराणसी शुरू से ही भारतीय संस्कृति और विभिन्न साधनाओं का केन्द्र रही है। कभी किसी समय वाराणसी के शिवालाघाट से दशाश्वमेध घाट तक के भीतरी मुहल्लों में उच्चकोटि के योगी और साधक निवास किया करते थे। विशेषकर वंगदेशीय शाक्त-साधकों का एक प्रकार से पुराना गढ़ ही था वह सारा इलाका। आज भी वाराणसी में उच्चकोटि के योगी, सन्त, महात्मा और साधक गण प्रछन्न रूप से निवास करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी वेश-भूषा और रहन-सहन से उन्हें न कोई शीघ्र जान सकता है और न तो पहचान ही सकता है। आज के जनमानस में योगी और साधकों का जो स्वरूप है, निस्सन्देह उसे काल्पनिक ही कहा जायेगा। सच्चे अर्थों में जो योगी और साधक हैं, वे ऐसा स्वरूप, ऐसा रहन-सहन और ऐसी वेश-भूषा रखते ही नहीं कि जिनसे लोग पहचान सकें। उनकी मति, गति और गति-विधि ऐसी होती है कि जिससे उनके वास्तविक स्वरूप को समझ पाना अत्यन्त कठिन होता है। उन्हें तो वे ही लोग पहचान सकते हैं और भलीभाँति समझ सकते हैं, जिन्होंने योग, तंत्र का गहरायी से अध्ययन किया है और जो अनुभवी दृष्टि रखते हैं।

योगमाया के पश्चात् अपने खोज प्रसंग में जिस महापुरुष के सम्पर्क में मैं आया — वह थे साधक वामाचरण घोषाल। वाराणसी के पातालेश्वर मुहल्ले में निवास करते थे घोषाल महाशय। कुण्डलिनी योग के अच्छे साधक थे वह। जिस मकान में वह रहते थे वह काफी पुराना और जीर्ण-शीर्ण था। उसके भीतर एक तहखाना था। जिसमें योगीश्वरी की मूर्ति स्थापित थी। काले पाषाण की वह मूर्ति काफी भव्य और आकर्षक थी।

घोषाल महाशय की अवस्था अस्सी-नब्बे से कम न थी। लेकिन उतनी आयु के प्रतीत नहीं होते थे वह। शान्तिपुरी धोती, बनारसी सिल्क का कुर्ता, उंगलियों में कीमती पत्थरों की अँगूठी, गले में स्फटिक की माला और सोने की सिकड़ी, घने काले बाल, योग के तेज से दप्-दप् करता चेहरा और बड़ी-बड़ी आँखें — सब कुछ मिलाकर एक आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व — जिसे देखकर एकबारगी मुग्ध हो गया था मैं।

स्थूलशरीर का भौतिक मूल्यांकन

वामाचरण घोषाल निश्चय ही एक परम अनुभवी साधक थे। कुण्डलिनी योग पर उनका गहरा अध्ययन था। उनकी अपनी तात्त्विक दृष्टि भी थी।

उनका कहना था कि उपभोगवादी दृष्टि से पंचतत्त्व से निर्मित मानव-शरीर का मूल्य बस इतना ही है कि उसमें इतनी चर्बी है, जिससे साबुन की ७ टिकिया बनाई जा सके। कार्बन की कालिख भी मुश्किल से १३-१४ किलो कोयले की बोरी भर निकलेगी और चूना भी इतना निकलेगा कि एक छोटे कमरे की पुताई की जा सके। अग्नितत्त्व में फास्फोरस काफी है, जिससे २२०० माचिसें बनाई जा सकती हैं। संसार की हर आपत्ति-विपत्ति से लोहा लेने को तैयार मनुष्य के शरीर में लोहा बस इतना है कि एक इंच लम्बी मात्र एक कील बनाई जा सके बाकी एक चम्मच भर गंधक और एक ही भर लोहे के अतिरिक्त शेष धातुयें। पानीदार इतनी कि मानव देह का ६० प्रतिशत पानी है। इस प्राकृतिक यंत्र को जीवन भर चलाने के लिए औसतन ५० टन खाद्य सामग्री और ११००० गैलन पेय पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है।

बड़ा ही विचित्र है मानव काया का मायाजाल। जन्म के समय शिशु के शरीर में ३०५ हड्डियाँ होती हैं। जो बड़े होने पर घट कर लगभग २०५ ही रह जाती हैं। बाकी क्या हुईं ? कुछ हड्डियाँ बाद में जुड़ जाती हैं। उनकी एक यात्रा मानव-शरीर के भीतर भी चलती रहती है। धमनियों, शिराओं और कोशिकाओं को मिलकर मानव-शरीर की सभी नसों की लम्बाई ९६५० किलोमीटर है। हृदय प्रति मिनट १० पाइंट खून फेंकता है। प्राणवायु ऑक्सीजन को धारण कर रग-रग में पहुँचाने का काम करती है। खून में उपस्थित लगभग २५ खरब लाल कोशिकाएँ यानि रक्ताणु और रोगाणु से लड़ने को तैयार रहती हैं सफेद कोशिकाएँ यानि श्वेताणु। अन्तिम सांस लेने तक मनुष्य कोई ५ अरब बार सांस ले चुका होता है।

ये समस्त अंग त्वचा के एक थैले में सजा दिये गये हैं। जो २० वर्ग फुट से अधिक लम्बी चौड़ी नहीं होती। वह स्पर्शेन्द्रिय भी है। त्वचा में ४० लाख स्पर्श संवेदी कोशिकाएँ होती हैं। सिर के समेत ५० लाख बाल होते हैं। जीवन का भरपूर स्वाद लेने के लिए ९ हजार स्वाद कलिकायें होती हैं।

मानव-शरीर में जीवन भर कायान्तरण चलता है। त्वचा झर-झर कर तीन साल में नयी हो जाती है। खून की सफेद कोशिका का जीवन-चक्र तो १२ घंटे का होता है। लाल कोशिकाएँ १२० दिन चलती हैं। बाकी कोशिकायें भी मरती-जनमती रहती हैं। कोई सात वर्ष में सारी देहकोशिकाएँ किशोरावस्था के बाद मस्तिष्क की कोशिकाओं को छोड़कर नयी हो जाती हैं। हर रोज तो कम-से-कम ६० बाल झड़ जाते हैं। बढ़ते नाखून काटने का मतलब है १० हजार कोशिकाओं की हत्या। मुँह के भीतर का पतला अस्तर तो खान-पान के साथ घुल-मिलकर पच जाता है और उसकी जगह नया अस्तर बन जाता है। यही हाल आँखों के अस्तर की कोई ७ अरब कोशिकाओं का होता हैं। मानव-शरीर के भीतर जीवन-मरण का यह खेल बराबर चलता रहता है।

शैशव से बालपन, फिर किशोरावस्था और यौवन तथा प्रौढ़ावस्था के बाद की अन्तिम वृद्धावस्था में कितना कुछ बदल जाता है। जैसे एक ही जन्म में पाँच बार पुनर्जन्म हुआ हो। खैर, अब मूल प्रश्न यह है कि पंचतत्त्व निर्मित मानव-शरीर के यंत्र स्वचालित हैं? कहने की आवश्यकता नहीं—यही वह स्थल है, जहाँ रहस्यवाद का जन्म होता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मनुष्य अपने-आप में स्वयं एक रहस्य है। उसका सामाजिक व्यवहार, उसकी शारीरिक क्रियायें और इन सबसे बढ़कर उसका मस्तिष्क इस सृष्टि की सबसे अधिक आश्चर्यजनक और रहस्यमय वस्तु है। प्रायः संसार के सभी धर्मों ने मानव-मस्तिष्क की संरचना को विचित्र बतलाते हुए उसकी कार्य-प्रणाली पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने यह खोजने का प्रयास किया है कि मानव-मस्तिष्क के पीछे संचालक शक्ति कौन-सी है? और उन्होंने उसे एक नाम दिया है—चेतना! उसी के द्वारा शरीर के सभी यंत्र भी संचालित होते हैं। वह चेतना एकाकी चेतना नहीं है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतना का अंग है और हर अवस्था में वह उससे अपना तादात्म्य बनाये रखती है।

ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतना विराट् चेतना, परम चेतना है। और मानव मस्तिष्क को संचालित करने वाली चेतना परा चेतना है। हमारे धर्माचार्यों ने इन्हीं दोनों को परमात्मा और आत्मा की संज्ञा दी है। विराट् परम चेतना परमात्मा है। परा चेतना घट-घट व्यापी आत्मा है। परमात्मा समष्टि है और उसका व्यष्टि रूप आत्मा है। आत्मा के साथ मन भी है। इसलिए आत्मा को परा मानसिक चेतना भी कहते हैं।

परमात्मा और आत्मा दोनों अपने-अपने स्थान पर तटस्थ और निरपेक्ष हैं। लेकिन दोनों की ऊर्जाएँ अपनी-अपनी सीमा अथवा परिधि में बराबर काम किया करती हैं। हमारे मनीषियों और तत्त्ववेत्ताओं ने उन ऊर्जाओं को 'मन' की संज्ञा दी है। सर्वत्र व्याप्त ब्रह्माण्डीय ऊर्जा परमात्मा की ऊर्जा अथवा उसका मन है। जिसे विराट् मन या समष्टि मन भी कह सकते हैं। ब्रह्माण्ड के लघु संस्करण मानव-पिण्ड में क्रियाशील ऊर्जा आत्मा की ऊर्जा है। जिसे मानव मन या व्यष्टि मन कह सकते हैं।

परामानसिक चेतना का महत्व

घोषाल महाशय बोले—परमात्मा की बात छोड़ दें। उसमें उलझने की आवश्यकता नहीं है। हमें यहाँ यह देखना है कि जिस विषय पर तुम शोध और अन्वेषण कार्य कर रहे हो वह विज्ञान के कितना समीप है और वैज्ञानिक दृष्टि में उसका स्वरूप क्या है? मूल्य क्या है?

जहाँ तक ब्रह्माण्ड और उसमें चारों ओर समान रूप से फैली हुई ब्रह्माण्डीय ऊर्जा अथवा तत्त्व की धारणा है—उसे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार कर लिया है। वैज्ञानिकों के सामने इस ब्रह्माण्ड की अनेक गुत्थियों में से एक

गुत्थी यह भी है कि मानव चेतना का मूल स्वरूप क्या है ? और उसका ब्रह्माण्ड की चेनना से क्या सम्बन्ध है ? इनके अतिरिक्त उनके सामने एक और विकट प्रश्न है। वह यह कि क्या व्यक्त चेतना से परे मनुष्य किसी अव्यक्त चेतना का भी स्वामी है ? जो इस भौतिक अथवा पदार्थ जगत् के नियमों से ऊपर है और जो मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों से परे कहीं अधिक सूक्ष्म ऐसी पराभौतिक शक्तियाँ प्रदान कर देती हैं, जिनके फलस्वरूप वह दुर्लभ, अलौकिक और पारलौकिक सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।

व्यक्त और अव्यक्त चेतना क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में घोषाल महाशय ने बतलाया कि अव्यक्त चेतना उसे कहते हैं, जो निराकार है। जो अनुभव के भी परे है। और जो किसी पदार्थ, किसी वस्तु या किसी अन्य साधन द्वारा प्रकट अथवा व्यक्त नहीं हुई है। व्यक्त चेतना वह है जो किसी वस्तु, किसी पदार्थ अथवा किसी अन्य साधन द्वारा प्रकट हो गयी है। अभिव्यक्त हो गयी है। तुमको मालूम होना चाहिए कि मानव पिण्ड में चेतना की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होने के कारण ही मनुष्य को व्यक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसमें चेतना की अभिव्यक्ति सर्वाधिक है—वह व्यक्ति है, मनुष्य है।

० ० ०

वैज्ञानिकों ने अपने दीर्घकालीन अनुसंधान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि धर्म की दृष्टि में जो पराचेतना है—वह सत्य है। और मनुष्य का जाग्रत् मन उस विराट् मन का एक छोटा-सा भाग है, जिसका एक बड़ा अंश एक रहस्यमय आवरण में बराबर छिपा रहता है। वैज्ञानिकों ने उसी को परा मन, उपचेतन मन, अचेतन मन और परा-साइकिक तत्त्व कहा है।

चेतन मन और अचेतन मन

घोषाल महाशय की योगतंत्र के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि थी, इसमें सन्देह नहीं। वे उसी दृष्टि से योगतंत्र के गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या और विवेचना किया करते थे। उनका कहना था कि इस युग में ऐसा आवश्यक है। तभी आज का जनमानस भारत के आध्यात्मिक साधना तत्त्वों को भलीभाँति समझ सकेगा और उसे हृदयंगम भी कर सकेगा।

घोषाल महाशय ने कहा—विज्ञान की दृष्टि में जगत् मानव से निरपेक्ष है और मानव जगत् से। ऐसा मानने पर दोनों अपने-अपने स्थान पर निरर्थक हो जाते हैं। लेकिन आधुनिक युग के वैज्ञानिक जीवन और जगत् में अर्थ खोजना चाहते हैं। पर उनकी कठिनाई यह है कि इस दिशा में कदम बढ़ाते ही वे अपने-आप को एक ऐसे क्षेत्र में पाते हैं—जहाँ उनके सभी वैज्ञानिक साधनों और सभी प्रयोगों की सीमा समाप्त हो जाती है और उन्हें अपनी सीमाओं का आभास होने लगता है।

आधुनिक विज्ञान की एक सीमा तो यही है कि वह अभी तक पदार्थ की मूल इकाई — इलेक्ट्रान के विश्लेषण में नितान्त असमर्थ रहा है। वैज्ञानिक इलेक्ट्रान की केवल मात्र कल्पनामात्र ही कर सकते हैं। उसे देखने के लिए उनके पास कोई विधि या किसी प्रकार का यंत्र नहीं है। उनकी दृष्टि में इलेक्ट्रान उसी प्रकार रूपहीन है, जैसे धर्म की दृष्टि में ब्रह्म रूपहीन है। पदार्थ की ही भौतिक सत्ता को सर्वोपरि मानने वाले वैज्ञानिकों को जब पदार्थ की मूल इकाई — इलेक्ट्रान की गतिविधियों में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता नहीं मिली तो उन्हें यह स्वीकार करने को विवश होना पड़ा कि भौतिक सत्ता से आगे शायद एक अभौतिक सत्ता भी है। एक शान्त नीरव चैतन्य है। जिसमें प्रवेश कर उन्हें उन उच्चतम वैज्ञानिक सत्यों का साक्षात्कार हो सकता है—जो भौतिक और चेतना के स्तर पर नहीं हो पाया था। और वह अभौतिक सत्ता बाह्य जगत् में नहीं, बल्कि स्वयं मानव मन में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही क्षेत्र है परामनोविज्ञान का, जिसकी ओर आधुनिक विज्ञान के ठिठकते-झिझकते कदम धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं।

जब आधुनिक मनोविज्ञान का आविर्भाव हुआ, तभी वैज्ञानिकों को इस बात का पता चला कि मन के दो रूप हैं — चेतन और अचेतन। अचेतन—जो मन का दो-तिहाई भाग है — की क्रिया-कलापों से मनुष्य सर्वथा अपरिचित और अनभिज्ञ ही रहता है। परामनोविज्ञान का गहरायी से अध्ययन करने के बाद वैज्ञानिकों को ज्ञात हुआ कि अचेतन मन में विश्वास से परे अकल्पनीय शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। जिनका अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। और जब वे शक्तियाँ किसी भी प्रकार अचेतन की सीमा लांघ कर चेतन मन में प्रकट होती हैं तो उनके अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक कौतुक लोगों को एक-बारगी हतप्रभ कर देते हैं। ऐसे ही कौतुक को हम दैवी चमत्कार की संज्ञा देते हैं। लेकिन वास्तव में वह होती है अचेतन मन की असाधारण क्रियायें ही। जिन्हें समझने में हम लोग अभी असमर्थ हैं।

परा मनोविज्ञान का आविर्भाव

मनोविज्ञान चेतन मन का और परामनोविज्ञान अचेतन मन का विज्ञान है। परामनोविज्ञान मानव मन से सम्बन्धित चमत्कारों की तर्कयुक्त व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। परामनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मन की शक्ति पदार्थ की शक्ति से कहीं अधिक है। निस्सीम है। उनका यह भी विश्वास है कि मानव मन ऐसी चमत्कारिक और रहस्यपूर्ण शक्तियों का भण्डार है। परन्तु उसकी अनुभूति के मार्ग में स्वयं उसका चेतन मन ही बाधक बनता है। एकमात्र यही कारण है कि हमें यह अनुभूति तभी होती है, जब हमारा मन निष्क्रिय रहता है। जैसे स्वप्नावस्था, मूर्च्छावस्था या नशे की अवस्था। ये सभी अवस्थाएँ अज्ञान की अवस्थाएँ है। ज्ञान की अवस्थाएँ है — ध्यानावस्था

और समाधि की अवस्था। ये दोनों अवस्थाएँ उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से परे है। ध्यान जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है तो चेतन मन अपने-आप निष्क्रिय हो जाता है। और उसके निष्क्रिय होते ही अचेतन मन का द्वार खुल जाता है और द्वार खुलने का मतलब है समाधि में प्रवेश।

० ० ०

परामनोविज्ञान की सर्वप्रथम चर्चा तब हुई थी जब सन् १९३४ में अमेरिकी विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्राध्यापक डा० जोसेफ राइन की पुस्तक 'एक्स्ट्रा सेंसरी पर्सेप्शन' का प्रकाशन हुआ था। उन्होंने पहली बार परामनोविज्ञान को विज्ञान की एक शाखा मान कर कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। इसीलिए डा० राइन को परामनोविज्ञान का जनक माना जाता है।

जब परामनोविज्ञान को वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त हुई

योग की जितनी सिद्धियाँ हैं, उनमें एक सिद्धि है—'विचार-संप्रेषण' यानि दूरबोध। पूर्णरूप से मानसिक शक्ति उपलब्ध होने पर ही यह सिद्धि योगी को प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह अपने विचारों और भावों को सुदूर बैठे किसी भी व्यक्ति को संप्रेषित कर सकता है और स्वयं उसके विचारों और भावों को ग्रहण भी कर सकता है। यह तो हुई योगी की बात। वैसे इस सिद्धि की झलक कोई भी व्यक्ति अपने मन को एकाग्र अथवा स्थिर कर प्राप्त कर सकता है। लेकिन इसमें सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मानव की अन्तरिक्ष यात्रा में जिन पुरानी मान्यताओं की पुष्टि हुई है, उनमें एक विचार-संप्रेषण अथवा दूरबोध भी है। फरवरी १९७१ में अपोलो–१४ में तीन यात्री अन्तरिक्ष यात्रा पर गये थे। जिनमें एक एडगर मिशेल भी थे। उन्होंने सर्वप्रथम दूरबोध का प्रयोग किया था। जिसमें उनको भारी सफलता मिली थी। जिस पर मिशेल ने स्वयं कहा था कि—यह निश्चित हो चुका है कि दूरबोध (टेलीपैथी) एक पुष्ट संकल्पना है। अन्य वैज्ञानिक धारणाओं की भाँति इसके विषय में गम्भीर अनुसंधान की आवश्यकता है। कहने की आवश्यकता नहीं, यदि यही प्रयोग २० वर्ष पूर्व किया गया होता तो निश्चय ही वैज्ञानिक उसकी हँसी उड़ाते। प्लेटो ने कहा था कि ज्ञानेन्द्रियों के अलावा मस्तिष्क में किसी अन्य माध्यम से कुछ भी संप्रेषित नहीं होता। यह बात वैज्ञानिकों के मन-मस्तिष्क पर धुंध की तरह छायी रही और उस धुंध को हटाने के लिए जो भी प्रयास किये गये—वे उनका मजाक ही उड़ाते रहे। एक बार डा० राइन ने कहा था कि आदमी की मनोवृत्ति आमतौर पर यही होती है कि पहले वह किसी भी नई बात की खिल्ली उड़ाता है फिर वह उसे कुछ-कुछ समझने लगता है और अन्त में उसे अपनाने लगता है। परामनोविज्ञान अब खिल्ली उड़ाये जाने की स्थिति से गुजर चुका है। अपने

दूसरे चरण में भी वह काफी सीमायें पार कर चुका है। अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रों से अलग इसका अपना क्षेत्र भी बन चुका है। अनुसंधान की नयी प्रणालियाँ खोजी जा चुकी हैं। विश्व के बड़े-बड़े वैज्ञानिक आत्मिक शक्तियों के महत्त्व और गरिमा को मानने लगे हैं। और उनके विषय में अधिक से अधिक जानने समझने के लिए आतुर हैं।

० ० ०

जो प्रयोग मिशेल ने किया था, उसी प्रयोग को डा० राइन ने भी किया था पहली बार। जिससे वे इन निष्कर्षों पर पहुँचे—'भौतिक माध्यमों और संचार-व्यवस्था के अभाव में भी एक मन दूसरे मन को प्रभावित कर सकता है। बिना किसी ज्ञात संवेदी यंत्र की सहायता के मन पदार्थ से सक्रिय ज्ञानात्मज सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इस प्रकिया में दिक्काल की ओर से कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। मन भौतिक पदार्थों को इच्छानुसार प्रभावित करने में सक्षम है।

० ० ०

कभी किसी समय रूस में परामनोविज्ञान को मन की कल्पना समझा जाता था। आज उसी रूस के अनेक वैज्ञानिक परामनोविज्ञान के प्रयोगों में व्यस्त हैं। वे लोग इस प्रश्न का युक्तिसंगत उत्तर पाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं कि कुछ लोगों में दूरबोध, दूरविचार-संप्रेषण और परचित्त को इच्छानुसार प्रभावित करने की अलौकिक शक्ति अथवा योग्यता क्यों और कैसे आ जाती है?

मन : एक रहस्यमय प्रसार केन्द्र

अतीन्द्रिय शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उनकी आँखों, उंगलियों की शिराओं और नासिका के अग्रभाग से एक विशेष प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें बराबर निकलती रहती हैं। वैज्ञानिकों ने ऐसे व्यक्तियों को रेडियो तरंगों, क्ष-किरणों और विद्युत् चुम्बकत्व के प्रभाव से मुक्त रख कर यह जानने का प्रयत्न किया कि इसके बाद भी उनकी दूरबोध की शक्ति कायम रह पाती है या नहीं।

योग के अनुसार मन की तीन अवस्थाएँ हैं—ठोस अवस्था, तरल अवस्था और ऊर्जा अवस्था। जागरण के समय मन पहली अवस्था में, स्वप्न के समय दूसरी अवस्था में और सुषुप्ति के समय तीसरी अवस्था में रहता है। इन तीनों अवस्थाओं में मन से बराबर अतिसूक्ष्म और अदृश्य तरंगें निकलती रहती हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि उन्हीं तरंगों के कारण मन कभी-कभी ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन बन जाता है और कोई दूसरा मन बन जाता है 'रिसीविंग स्टेशन'।

मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगें

योग के अनुसार अति दीर्घ रेडियो-तरंगों के समान मस्तिष्क में से भी तरंगें बराबर निकला करती हैं। वैज्ञानिकों ने अब एक ऐसा यंत्र बना लिया है, जो इन तरंगों को सम्प्रेषित कर सकता है।

अब तक योग के जिन विभिन्न स्तरों की वैज्ञानिक परख हुई है, उनमें से एक समाधि भी है। वैज्ञानिकों का कहना है कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था में अल्फा तरंगें अधिक मात्रा में निकलती हैं। सविकल्प समाधि की अवस्था में अल्फा तरंगें छोटी लेकिन काफी तीव्र होती हैं। ध्यानावस्था के समय चित्त से वीटा, थीटा और डेल्टा तरंगें निकलती हैं।

किसी भी प्रकार के मंत्र के जप के समय मन, बुद्धि और अहंकार तीनों एकाकार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन से विशेषकर अल्फा तरंगें अत्यधिक मात्रा में निकलती हैं। वे ही तरंगें सूक्ष्मतम प्राण यानि ईथर में मंत्र के अधिष्ठातृ देवता के रूप और आकार-प्रकार का निर्माण करती हैं।

योगशास्त्र में 'अनाहतनाद' की काफी चर्चा की गयी है। अनाहतनाद वास्तव में शरीर की प्राणवाहिनी नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले प्राणों के कम्पन से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ हैं। जिसको मस्तिष्क के वैद्युत उत्तेजन यानि इ० एस० बी० (इलेक्ट्रिकल स्टिम्युलेशन ऑफ ब्रेन) से सुना जा सकता है।

० ० ०

परामनोविज्ञान योगविज्ञान के अत्यधिक समीप है। दोनों के सिद्धान्त प्रायः मिलते-जुलते हैं। योगविज्ञान के अनुसार मनुष्य असंख्य परमाणुओं का महायोग है। वह ऐसी तरंगें विकीर्ण करता रहता है, जिसे रेडियो अणुवीक्षण यंत्रों से भी नहीं देखा जा सकता। परामनोविज्ञान के अनुसार दूरबोध अथवा विचार-सम्प्रेषण इन्हीं अदृश्य तरंगों के कारण होता है। परामनोविज्ञान — जिसमें भौतिक ज्ञान-विज्ञान और अवचेतन का सत्य; जिसे धर्म की भाषा में 'ब्रह्म' कह सकते हैं, दोनों विद्यमान हैं — भविष्य में जिस भौतिकी को जन्म देगा, वह निश्चय ही हमारे योगविज्ञान का पूर्णरूप से समर्थन करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। परामनोविज्ञान के जन्मदाता डा० राइन ने अपनी 'द रीच आफ माइण्ड' में एक स्थान पर कहा है — परामनोविज्ञान ने मानव मन के बारे में जो भी तथ्य उद्घाटित किये हैं, उनका सीधा सम्बन्ध धर्म से है। उस धर्म से जो इस सत्य की प्रतीति बहुत पहले ही करा चुका है। हजारों वर्ष पूर्व हमारे महर्षि कह चुके हैं — 'पुरुष एवेद असर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (यजुर्वेद अ० ३१) अर्थात् इस सम्पूर्ण सृष्टि में जो वर्तमान है, जो व्यतीत हो चुका है और भविष्य में जो होगा — वह सब पुरुष = ब्रह्म ही है।

प्रकरण : पन्द्रह

साधक राखालचन्द्र भट्टाचार्य

उन दिनों वाराणसी के पीताम्बर पुरा मुहल्ले में एक साधक रहते थे। नाम था राखालचन्द्र भट्टाचार्य। घोषाल महाशय के द्वारा ही उनसे मेरा परिचय हुआ था। उन्होंने मुझे बतलाया कि राखाल बाबू उच्च कोटि के तंत्र-साधक तो हैं हीं, इसके अतिरिक्त विचार-संप्रेषण में भी सिद्धहस्त हैं।

राखाल बाबू जिस मकान में रहते थे, वह काफी पुराना और जीर्ण-शीर्ण था। मकान के भीतर एक छोटा-सा मन्दिर था, जिसमें श्मशान काली की मूर्ति स्थापित थी पंचमुण्डी आसन पर। काली की वह पाषाण प्रतिमा बिल्कुल सजीव और जाग्रत् थी। सुनने में आया था कि कभी किसी समय हर वर्ष दीपावली की महारात्रि में उस प्रतिमा के सम्मुख नरबलि दी जाती थी।

साधक राखालचन्द्र भट्टाचार्य ढाका विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर थे। बाल्यावस्था से ही माँ काली के प्रति आकर्षण था उनके मन में। विज्ञान के स्नातक होते हुए भी धर्मभीरु थे वह। ढाका में एक अति प्राचीन शक्तिपीठ है, जो आज भी ढाकेश्वरी देवी के नाम से प्रसिद्ध है। राखाल बाबू नित्य ढाकेश्वरी देवी का दर्शन-पूजन करने जाते थे। और कभी-कदा काफी देर तक माँ की मूर्ति को अपलक निहारने लग जाया करते थे वह। उस समय उनकी आँखों से अनायास अश्रुपात होने लगता था। एक दिन ऐसी ही स्थिति में माँ का दर्शन-लाभ हुआ उन्हें। आविर्भूत हो उठे राखाल बाबू। माँ ने उन्हें आदेश दिया कि तुम काशी चले जाओ। वहाँ तुमको सद्‌गुरु का दर्शन-लाभ होगा। कहने की आवश्यकता नहीं, राखाल बाबू उसी दिन रवाना हो गये सर्वस्व त्याग कर वाराणसी के लिए। एक दिन सायंकाल के समय गंगातट पर बैठे हुए थे वह। तभी उनकी दृष्टि एक संन्यासी पर पड़ी। लम्बी-चौड़ी काठी के उस संन्यासी का व्यक्तित्व काफी आकर्षक और भव्य था। चेहरे पर साधना का प्रखर तेज था। आँखें भी तेजोमयी थीं। शरीर पर काषाय वस्त्र था। गले में रुद्राक्ष की मालाएँ थीं। सिर पर जटाजूट था। चौड़े मस्तक पर भस्म का त्रिमुण्ड और लाल सिन्दूर का गोल टीका था। हाथ में कमण्डल लिये, खड़ाऊँ पहने खट्-खट् कर सीढ़ी चढ़ते हुए ऊपर आ रहे थे वह और तभी उन पर दृष्टि पड़ी थी राखाल बाबू की। अभी वह कुछ सोच ही रहे थे कि एकाएक उनके सामने आकर खड़े हो गये वह संन्यासी महाशय। कुछ क्षण तक तो वह देखते रहे उनकी ओर अपलक। फिर गम्भीर स्वर में बोले — 'तुम राखाल हो। ढाका से आये हो न?'

राखाल बाबू ने सिर हिला कर कहा—हाँ। ढाका से ही आया हूँ मैं एक महीने पूर्व।

संन्यासी महाशय ने फिर कुछ नहीं पूछा। एक बार फिर गहरी दृष्टि से राखाल बाबू की ओर देखकर सीढ़ियाँ चढ़ने लगे वह।

यही संन्यासी उनके गुरु हैं—यह समझते देर न लगी राखाल बाबू को। झटपट उठे और संन्यासी के पीछे-पीछे चलने लगे वह।

संन्यासी का नाम था ताराप्रपन्न शाक्त। उनका निवास उसी मकान में था, जिसमें अब राखाल बाबू रहते थे। पंचमुण्डी आसन पर काली की जो मूर्ति स्थापित थी, उसमें तारा ताराप्रपन्न शाक्त ने ही नरबलि देकर प्राण प्रतिष्ठा की थी। उसी के सम्मुख एक दिन उन्होंने शक्तिपात दीक्षा दी राखाल बाबू को। तांत्रिक साधनामार्ग में शक्तिपात दीक्षा को सर्वोपरि माना जाता है। इस दीक्षा का उद्देश्य है—कुण्डलिनीशक्ति का जागरण। पूरे बीस वर्ष गुरु की सेवा में रहे राखाल बाबू। इस अवधि में तांत्रिक साधना के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर कई अलौकिक तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली उन्होंने। उन्हीं सिद्धियों में एक सिद्धि थी विचार-संप्रेषण की सिद्धि।

राखाल बाबू मुझसे काफी प्रसन्न रहते थे। मुझ पर उनका काफी स्नेह भी था। मैं भी उनका सम्मान करता था। एक बार सत्संग के बीच विचार-संप्रेषण की चर्चा चल पड़ी। राखाल बाबू बोले—जितनी भी प्रकार की योग-तांत्रिक सिद्धियाँ हैं, उनके मूल में एकमात्र संकल्पशक्ति ही काम किया करती है। साधारण लोगों के पास संकल्प तो होता है, लेकिन उनमें शक्ति का अभाव होता है और इसीलिए संकल्प साकार नहीं होता। 'संकल्प को शक्ति कहाँ से उपलब्ध होती है?' मेरे इस प्रश्न के उत्तर ने राखाल बाबू ने कहा—कुण्डलिनी-जागरण से। संकल्प को, विचार को, इच्छा को, ज्ञान को और क्रिया को तभी शक्ति उपलब्ध होती है, जब कि कुण्डलिनी चैतन्य होती है। सच बात तो यह है कि जिसे हम संकल्पशक्ति, विचारशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति, कहते हैं—वह वास्तव में एकमात्र कुण्डलिनीशक्ति के ही विभिन्न परिष्कृत रूप हैं। यदि हम दृढ़ संकल्प के साथ अपने चित्त को एकाग्र कर एक दिशा में अपने विचार को संप्रेषित करें तो वह तुरन्त उस दिशा में पहुँच जाता है। यदि उधर कोई योग्य व्यक्ति उस संप्रेषित विचार को ग्रहण करने के लिए तैयार हो तो वह व्यक्ति संप्रेषित विचार के अनुसार कार्य करेगा। इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए राखाल बाबू ने मुझे 'ग्राहक' बनाया। उन्होंने कहा—तुम कलकत्ता जाने वाले हो न?

'जी हाँ। कल ही पंजाब मेल से जा रहा हूँ'—मैंने जवाब दिया। वे बोले—ऐसा करना कि रोजाना शाम के समय ६ से ७ बजे तक किसी एकान्त स्थान पर मेरा ध्यान करना। उसी समय अपने विचार को तुम्हारे पास

संप्रेषित करूँगा मैं। वैसा ही किया मैंने। कलकत्ता पहुँच कर नित्य सायंकाल के समय एक घंटा एकान्त स्थान में बैठने लगा मैं। दो दिन तो कुछ नहीं हुआ। तीसरे दिन जब ध्यान में बैठा था—उसी समय मेरे अन्तराल में यह विचार उठा कि राखाल बाबू को कलकत्ते की सन्देश मिठाई और एक जोड़ी बढ़ियाँ शान्तिपुरी धोती देनी चाहिए। जब एक सप्ताह बाद वाराणसी वापस लौटा तो सन्देश मिठाई और एक जोड़ी धोती भी लेता आया उनके लिए। दोनों चीजें मेरी अटैची में बन्द थीं। मुझे देखकर राखाल बाबू मुस्कराये। फिर हँसकर बोले—मिठाई और धोती ले आये न। 'हाँ ले आया हूँ। क्या आपने सन्देश मिठाई और शान्तिपुरी धोती के लिए अपने विचार को संप्रेषित किया था?' मेरे यह पूछने पर राखाल बाबू ने स्वीकारोक्ति से सिर हिलाते हुए कहा—'हाँ।

राखाल बाबू का कहना था कि विचार की तरंगें वस्तुओं और पदार्थों को भी प्रभावित करती हैं। उन्हें रूपान्तरित भी करती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व को भी प्रकट करती हैं। एक दिन इसका भी चमत्कार देखा मैंने। राखाल बाबू किसी भी व्यक्ति की किसी भी वस्तु का स्पर्श कर उसके विषय में सविस्तार सब कुछ बतला दिया करते थे। मेरे एक मित्र थे। वे एम० ए० परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाने के फलस्वरूप काफी दुःखी थे। एक दिन बिना किसी को बतलाये न जाने कहाँ चले गये। पूरा एक वर्ष व्यतीत हो गया। उनका कहीं कोई पता न चला। परिवार के सभी लोग दुःखी थे। एक दिन इसकी चर्चा राखाल बाबू से की मैंने। उन्होंने कहा—अपने मित्र की कोई ऐसी वस्तु ले आओ जो बराबर उनके पास रही हो। दूसरे ही दिन मैं अपने मित्र की गंजी लेकर गया। राखाल बाबू ने गंजी का स्पर्श किया और तुरन्त कहा—तुम्हारा मित्र जीवित है। बम्बई में नौकरी कर रहा है। एक मास के अन्दर ही आने वाला है। लेकिन उसके साथ एक औरत भी होगी जो उसकी पत्नी होगी।

राखाल बाबू का कथन पूर्णतः सत्य सिद्ध हुआ। एक मास के भीतर मेरे मित्र महोदय बम्बई से आ गये। वहाँ वे एक बिस्कुट कम्पनी में नौकरी कर रहे थे। उनके साथ उनकी पत्नी भी थी। उन्होंने वहाँ कोर्ट मैरिज कर ली थी। इसी प्रकार एक बार राखाल बाबू को एक ऐसे व्यक्ति की कलम दी गयी, जिसकी मृत्यु अत्यन्त रहस्यमय ढंग से और अज्ञात परिस्थितियों में हुई थी। राखाल बाबू ने कलम का स्पर्श किया। तुरन्त बोले—जिस व्यक्ति की यह कलम है उसकी मृत्यु स्वयं उसकी पत्नी के हाथों हुई है। पत्नी ने विष दिया है। और विष की शीशी अभी भी उसके सन्दूक में है। पत्नी ने क्यों विष दिया? इसके उत्तर में राखाल बाबू बोले—उसका सम्बन्ध पति के छोटे भाई से है। दोनों ने मिलकर यह हत्या की है। जब गहरायी से इन सबका

पता लगाया गया तो सारी बातें सच निकलीं। देवर-भाभी दोनों ने अपना-अपना अपराध स्वीकार कर लिया। 'आपको स्पर्शमात्र से कैसे सब कुछ मालूम हो जाता है ?' मेरे इस प्रश्न के उत्तर में राखाल बाबू ने कहा—जो वस्तु सदा तुम्हारे साथ बनी रहती है, वह बराबर तुम्हारे विचारों की तरंगों को पीती रहती है। शोषित करती रहती है। वे तरंगे इतनी सूक्ष्म और इतनी ग्रहणशील होती हैं कि उस वस्तु या पदार्थ में उनका अस्तित्व सैकड़ों क्या हजारों साल तक बना रह सकता है।

कुण्डलिनीशक्ति में वैज्ञानिक दृष्टि

इस सन्दर्भ में राखाल बाबू ने आगे बतलाया कि विश्वब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक पदार्थ में सिहरन का गुण है। ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण गतिशील है। हर पल हर कण का, हर वस्तु का और हर पदार्थ का का स्वभाव और स्वरूप बदलता रहता है। इस बात को वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

हमारे शरीर की हर कोशिका हर क्षण बदल रही है। पुरानी कोशिकायें मर जाती हैं और नयी कोशिकायें उनका स्थान ले लेती हैं। यही स्थिति हमारे विचारों की भी है। लोग दूरबोध, विचार-संप्रेषण और परामनोविज्ञान पर विश्वास करें या न करें। लेकिन यह सत्य है कि हर पल, हर क्षण मनुष्य पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों के विचारों का प्रभाव बराबर पड़ता रहता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम इन विचारों के अच्छे-बुरे प्रभावों को पूर्व बोध या संयोग कहकर टाल देते हैं। पर वास्तविकता यह है ब्रह्माण्ड कारण और परिणाम के नियम के अनुसार चल रहा है। और बिना किसी कारण के कोई परिणाम नहीं होता। यह तो तुम जानते ही हो कि मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का लघु रूप यानि लघु संस्करण है। और यह भी तुमको मालूम है कि मानव-शरीर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग मस्तिष्क है।

ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त है और उसके अनुसार मानव-मस्तिष्क भी तीन भागों में विभक्त है। जिसे मुख्य मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और अधः लघु मस्तिष्क कहते हैं। इन तीनों में 'अधः लघु मस्तिष्क' यानि मेडुला ऑब्लाँगटा अति रहस्यमय है। उसका आकार मुर्गी के अण्डे के समान है और उसके भीतर कोई अज्ञात द्रव पदार्थ भरा होता है, जिसमें सूक्ष्मतम ज्ञानतन्तुओं का एक समूह—जो अपने स्थान पर गोलाकार छल्ले की तरह एक हजार बार घूमा हुआ है और जिसे योग की भाषा में 'सहस्रार' कहते हैं—बराबर तैरता रहता है। मस्तिष्क के बाद किसी का विशेष महत्त्व है तो वह है—'मेरुदण्ड'। वह भी अति रहस्यमय अंग है। मेरुदण्ड के भीतर से आने वाली तीन महत्त्व-पूर्ण नाड़ियों—इडा, पिंगला और सुषुम्ना में से इडा और पिंगला तो मुख्य मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क के केन्द्रों से मिल गयी है। लेकिन तीसरी सुषुम्ना

नाड़ी अधः लघु मस्तिष्क के अज्ञात द्रव पदार्थ में तैरने वाले सूक्ष्मतम ज्ञान तन्तुओं के समूह के एक सिरे से जुड़ी हुई है और उस समूह का दूसरा सिरा जुड़ा हुआ है 'ब्रह्मरन्ध्र' से।

'ब्रह्मरन्ध्र' क्या है? इसके उत्तर से राखाल बाबू ने बतलाया कि हिन्दू धर्म में जहाँ शिखा रखने की प्रथा है, वहाँ सूई की नोंक के बराबर एक छिद्र है। योग की भाषा में उसी को 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं।

० ० ०

राखाल बाबू ने कहा—योगतांत्रिक साधना का प्रमुख केन्द्र मस्तिष्क के बाद एकमात्र मेरुदण्ड ही है। मेरुदण्ड के रहस्यमय आन्तरिक स्वरूप को जिसने ठीक-ठीक समझ लिया है, उसके साधना-मार्ग में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होता। तंत्र में जिन षट्चक्रों का उल्लेख है—वे मेरुदण्ड में ही स्थित है। उसके ऊपरी सिरे पर अधः लघु मस्तिष्क है और निचले सिरे पर ढाई अंगुल लम्बा लाल रंग का एक अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यमय नाड़ीतन्तु हैं। वह रहस्यमय नाड़ी तन्तु सर्पिणी की कुण्डलिनी की तरह घूमा हुआ है जिसके एक सिरे से तो इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ निकल कर मेरुदण्ड के भीतर से होती हुई ऊपर की ओर गयी हैं और उसके दूसरे सिरे से एक अति महत्त्वपूर्ण नाड़ी, जिसे योगीगण गुह्यनी नाड़ी कहते हैं, निकलकर नाभि और हृदय के केन्द्रों का स्पर्श करती हुई भ्रूमध्य-स्थित आज्ञाचक्र से जुड़ गयी है। इसी प्रकार लघु मस्तिष्क के केन्द्र से निकल कर एक नाड़ी मुख्य मस्तिष्क के केन्द्र से होती हुई आज्ञाचक्र में गुह्यनी नाड़ी से जुड़ गयी है। वे दोनों नाड़ियाँ आपस में जहाँ मिली हैं वहाँ एक गाँठ है और उसी गाँठ को 'पिनियल ग्लैण्ड' कहते हैं।

० ० ०

चेतन मन का स्थान और उसके क्रिया-कलाप का क्षेत्र तो मस्तिष्क है। लेकिन अचेतन मन का अस्तित्व जहाँ जिस आवरण में छिपा हुआ है—वह है मेरुदण्ड के निचले सिरे पर स्थित वही रहस्यमय नाड़ीतन्तु। कहने की आवश्यकता नहीं, उसी लाल रंग के सूक्ष्मतम तन्तु में अचेतन मन की असीम अलौकिक शक्तियाँ सुषुप्तावस्था में विद्यमान हैं। जिसे विज्ञान परामानसिक चेतना और पराशक्ति कहता है। और योग कहता है आत्मशक्ति।

राखाल बाबू बोले—सर्पिणी की कुण्डलिनी के आकार के नाड़ीतन्तु में अवस्थित होने के कारण उसी परामानसिक चेतना, परामानसिक तत्त्व अथवा पराशक्ति को 'तंत्र' में 'कुण्डलिनीशक्ति' कहा गया है। सर्पिणी की कुण्डलिनी की तरह उस तन्तु के होने के फलस्वरूप उसमें अवस्थित शक्ति को 'कुण्डलिनी शक्ति' कहते हैं। तुमको यह भी मालूम होना चाहिए कि अचेतन मन की परामानसिक शक्ति के विभिन्न व्यक्त और अव्यक्त रूप हैं। और उन्हीं विभिन्न

रूपों की एकमात्र साधना तांत्रिक साधना है और है योगसाधना। सच पूछा जाय तो भारतीय संस्कृति के रहस्यवाद के मूल में यही परामानसिक शक्ति है और आधारभित्ति है सम्पूर्ण साधना की भी। अब तुमको मैं संक्षेप में सुषुम्ना नाड़ी के विषय में बतला देना चाहता हूँ। क्योंकि कुण्डलिनीशक्ति साधना के मार्ग में इस नाड़ी का अपना विशेष महत्त्व है। सच पूछा जाय तो सुषुम्ना नाड़ी पोली है। उसके भीतर कुछ भी नहीं है। बिलकुल रिक्त है वह। इसलिए उसे योग में शून्य नाड़ी भी कहते हैं। लेकिन योग में शून्य का अर्थ अभाव नहीं पूर्णता है। योग के अनुसार जहाँ कुछ नहीं है, वहाँ कुछ-न-कुछ भयंकर अवश्य है। यही कारण है कि सुषुम्ना नाड़ी को अति रहस्यमयी बतलाया गया है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। रेलगाड़ी में एक वैकूम ब्रेक रहता है। वह ब्रेक हवा के बल पर काम करता है। इंजन से गार्ड के डब्बे तक एक मोटी-सी नली लगी हुई होती है। उस नली में कुछ नहीं होता। वह सुषुम्ना नाड़ी की तरह भीतर से पोली होती है। जब गाड़ी को रोकने की आवश्यकता पड़ती है, उस समय गार्ड वैकूम ब्रेक को दबा देता है। जिसके फलस्वरूप तीव्र गति से दौड़ती हुई गाड़ी तत्काल रुक जाती है। समझने की बात है—जिस नली में कुछ भी नहीं था, उसमें इतनी शक्ति कहाँ से और कैसे आ गयी ? ऐसा ही सुषुम्ना नाड़ी के विषय में भी समझना चाहिए। वैसे तो उसमें कुछ भी नहीं है। लेकिन फिर भी वह एक ऐसी अव्यक्त शक्ति की वाहिका है, जिसे तंत्रशास्त्र जगन्नियन्त्रणकारिणी शक्ति कहता है।

सुषुम्ना नाड़ी के महत्त्व का पहला कारण यह है कि वह अधः लघु मस्तिष्क में स्थित सहस्रार से कुण्डलिनीशक्ति-केन्द्र 'मूलाधार' को जोड़ती है। दूसरा कारण यह है कि कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् और चैतन्य होकर इसी नाड़ी मार्ग से सहस्रार में प्रवेश करती है, जहाँ उसका संयोग शिवतत्त्व से होता है और जिसे तंत्र की भाषा में सामरस्य महामिलन अथवा सामरस्य भाव कहते है। तंत्र का यही अद्वैतसिद्धि-लाभ है। तीसरा कारण यह है कि इसी नाड़ी द्वारा षट्चक्रों का भेदन भी होता है। जिसकी सहायता से साधक क्रमिक उन्नति करता है साधना क्षेत्र में। चौथा कारण यह है कि सुषुम्ना के भीतर एक महत्त्वपूर्ण नाड़ी है, जिसे चित्रिणी नाड़ी कहते हैं। चित्रिणी नाड़ी ज्ञानशक्तिवाहिनी नाड़ी है। यह कुण्डलिनी से निकल कर लघुमस्तिष्क के केन्द्र में उस नाड़ी से जुड़ती है, जो उस केन्द्र से निकलकर आज्ञाचक्र में गुह्यनी नाड़ी से मिलती है।

चित्रिणी नाड़ी ही एक ऐसी नाड़ी है, जो अचेतन मन को चेतन मन से जोड़ती है। इसी नाड़ी-मार्ग से अचेतन मन की अविश्वसनीय और अकल्पनीय शक्तियाँ चेतन मन की सीमा लांघकर चेतन मन में कभी-कदा प्रकट होती है। जिसके कौतुक को देखकर हम सब हतप्रभ हो जाया करते हैं। इसके अलावा

इसी नाड़ी के द्वारा मानव मस्तिष्क को वह ज्ञानशक्ति प्राप्त होती है, जिसका आविर्भाव कुण्डलिनी में होता है और जो मस्तिष्क की रहस्यमयी कोशिकाओं में क्रमशः मेधा, धी, विवेक, बुद्धि एवं संकल्प आदि शक्तियों को जन्म देती है।

तुमको मालूम होना चाहिए—राखाल बाबू आगे बोले—हमारी पृथ्वी ब्रह्माण्ड के जिस भाग में है, उसे हमारे धर्मग्रन्थों में वैश्वानर जगत् कहते हैं। वैश्वानर जगत् तीन महत्त्वपूर्ण भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में अनेक लोक-लोकान्तर हैं। हमारे चारों तरफ के वायुमण्डल में मानवी विचारों की अदृश्य तरंगों के अलावा उन लोक-लोकान्तरों में निवास करने वाले अज्ञात प्राणियों के विभिन्न प्रकार के विचारों की भी तरंगें बराबर तैरती रहती हैं। वे अदृश्य तरंगें हमारे अधः लघुमस्तिष्क से लगातार सामूहिक रूप से टकराती रहती हैं। जिन्हें हमारा अचेतन मन हर क्षण, हर पल ग्रहण करता रहता हैं। वह जिस माध्यम से ग्रहण करता है—वह है एकमात्र सुषुम्ना नाड़ी। यह उसके महत्त्व का पाँचवा कारण है।

सर्वप्रथम वे अदृश्य तरंगें ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से होकर अधः लघुमस्तिष्क स्थित ज्ञानतन्तु-समूह में प्रवेश करती है और वहाँ से सुषुम्ना मार्ग द्वारा अचेतन मन में प्रविष्ट होती है। यही नहीं—वे तरंगें पुनः विचारों में परिवर्तित होकर चेतन मन के द्वारा प्रकट होना चाहती हैं। लेकिन अचेतन मन इसके लिए बाधक बन जाता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि अचेतन मन बाधक न बने तो हम उन विचार-तरंगों के सतत आक्रमण से कभी के समाप्त हो गये होते। अगर समाप्त न भी होते तो पागल अवश्य ही हो जाते। वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि वायुमण्डल में तैर रही विचार-तरंगों के अस्तित्व को किसी भी अवस्था में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैसे उन्हें नष्ट अथवा निष्क्रिय करने के लिए रेडियो और टेलीविजन की तरंगें सतत प्रयत्नशील रहती हैं।

योग के इस सिद्धान्त को अब वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि अचेतन मन भले ही अवरोधक हो, लेकिन कभी-कदा उसकी सीमा को तोड़कर अच्छे-बुरे बाह्य विचार चेतन मन में प्रकट हो ही जाते हैं। वे जितने ही प्रखर और भावनापूर्ण होते हैं—उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही प्रखर और आवेशमय होती है। कभी-कभी देश-काल एवं पात्र के अनुसार बाह्य विचार ऐसे रहस्य-मय ज्ञान के रूप में प्रकट होते हैं जिन्हें हम 'अन्तर्ज्ञान' कहते हैं।

'अन्तर्ज्ञान से आपका क्या तात्पर्य है'—मैंने पूछा ?

बिना इन्द्रिय की सहायता के जो ज्ञान प्राप्त हो, वह अन्तर्ज्ञान है। जहाँ तक प्रकृति का साम्राज्य है, वहाँ तक मानवी प्रज्ञा काम करती है। प्रकृति और मानवी प्रज्ञा से परे जो है—वही सत्य है। और उस सत्य की उपलब्धि अन्तर्ज्ञान से ही सम्भव है। आइंस्टीन का नाम तुमने सुना होगा। उन्होंने एक बार कहा था कि जब हम जीवन और ब्रह्माण्ड के रहस्यों को जानने का प्रयत्न करते हैं तो मन भय और आशंकाओं से घिर जाता है। पर हमें कभी

किसी जिज्ञासा को कुण्ठित नहीं होने देना चाहिए। किसी अज्ञेय वस्तु या विचार का हमें थोड़ा भी ज्ञान है तो यही बहुत है। मैं मानता हूँ कि वैज्ञानिक-प्रगति केवल अन्तर्ज्ञान से ही सम्भव है। भगवान या परम सत्य की खोज वैज्ञानिक विधियों से ही सम्भव है—ऐसा मैं मानता हूँ। ज्ञान वैज्ञानिक के लिए आवश्यक है। फिर भी ज्ञान हमारा वहीं तक साथ देता है या दे सकता है—जहाँ तक वह जानता और सिद्ध कर सकता है। पर एक स्थिति ऐसी भी आती है—जहाँ मस्तिष्क अचानक बोध के उच्चतर स्तर पर पहुँच जाता है। इस स्थिति को सहजोपलब्धि या अन्तर्ज्ञान—कुछ भी कहा जा सकता है। संसार के सभी महान् अविष्कार मानव प्रज्ञा के आगे की इस रहस्यमयी अनुभूति द्वारा ही सम्भव हुए हैं।

सत्य की खोज योगी भी करता है और वैज्ञानिक भी करता है। मगर दोनों की खोज का मार्ग और साधन भिन्न-भिन्न होता है। जिस परम सत्य की खोज में वैज्ञानिक लगे हैं—वह यथार्थता नहीं है, जो हमें आँखों से दिखलाई देती है। बल्कि वह यथार्थता है जो यथार्थ में निहित है। यदि बोध-क्षमता के मार्गों को स्वच्छ और निर्मल रखा जाय तो हमें सब कुछ वैसा ही दिखाई देगा जैसा कि वह है—अनन्त, अमित और अपार। जब तक ऐसा नहीं होता सत्याभास, यथार्थता और नित्य-अनित्य एक जैसे प्रतीत होते हैं। अस्तु।

'हाँ ! अब मैं तुमको सुषुम्ना नाड़ी के महत्त्व का एक और कारण बतला दूँ। जो सूत्र ब्रह्माण्ड से मानवपिण्ड को जोड़ता है और जिस माध्यम से विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त समाष्टिरूपा विराट् चेतना अथवा परम चेतना का सम्बन्ध मानवपिण्ड स्थित व्यष्टिरूपा पराचेतना से जुड़ता है—वह सूत्र और वह माध्यम एक मात्र 'सुषुम्नानाड़ी' ही है।

कुण्डलिनी-साधना के चार क्रम हैं। प्रथम क्रम में कुण्डलिनीशक्ति का जागरण होता है। वह चैतन्य होती है। द्वितीय क्रम में कुण्डलिनीशक्ति का उत्थान होता है। तृतीय क्रम में कुण्डलिनीशक्ति द्वारा क्रम से षट्चक्र-भेदन होता है। चतुर्थ क्रम में उसका ब्रह्माण्ड स्थित शिवाशक्ति यानि शिवतत्त्व से सामरस्य भाव स्थापित होता है। इन चारों क्रम में कुण्डलिनीशक्ति का एकमात्र उपादान—'सुषुम्नानाड़ी' है। एकमात्र सहयोगिनी है वह।

० ० ०

अब तक की विषय-विवेचना से यह स्पष्ट है कि अचेतन मन की असीम अलौकिक शक्ति यानि परामानसिक चेतना ही योगतंत्र की एकमात्र कुण्डलिनी शक्ति है। सर्पिणी की कुण्डली के आकार के तन्तु में रहने के कारण ही उसे 'कुण्डलिनीशक्ति' की संज्ञा दी गयी है। इसका अन्य कोई कारण नहीं है। इसीलिए आगमशास्त्र में कहा गया है—'कुण्डलेऽस्यास्त इति कुण्डलिनी'।

प्रकरण : सोलह

योगी शशिभूषण गोस्वामी

काशी के योगी और सिद्ध समाज के चर्चा प्रसंग में एक बार कविराजजी ने मुझे बतलाया था कि प्रच्छन्न भाव से काशी में एक महात्मा निवास करते हैं। नाम है शशिभूषण गोस्वामी। अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न एक सिद्ध कुण्डलिनी साधक हैं वह। पर काशी में रहते हैं ? यह निश्चित रूप से बतलाया नहीं जा सकता। प्रयत्न करो। सम्भव है दर्शन-लाभ हो जाय तुम्हें उनका।

मैंने विनम्र स्वर में कहा—यदि आपकी कृपा रही तो निस्सन्देह गोस्वामीजी का दर्शन-लाभ और सत्संग-लाभ दोनों होगा।

पूरे एक साल तक खोजता रहा मैं गोस्वामीजी को काशी की गलियों और घाटों में घूम-घूम कर। आखिर हार-थक कर बैठ गया मैं।

एक दिन अस्सीघाट की सीढ़ियों पर हताश-निराश बैठा था मैं चुपचाप। दिसम्बर का महीना था और दोपहर का समय। अचानक मैंने एक व्यक्ति को अपनी ओर आते देखा। गौरवर्ण, स्थूल शरीर और घुटा हुआ सिर। गले में झूलती हुई रुद्राक्ष की माला। बड़ी-बड़ी स्याह आँखें। तेजोमय दिव्य मुख-मण्डल। अवस्था यही साठ-पैंसठ के आस-पास। बड़ा ही आकर्षक और सम्मोहक व्यक्तित्व था उसका। मेरी ओर अपलक देख रहा था वह। थोड़ी देर बाद धीरे-धीरे चलकर वह मेरे करीब आया और फिर उसने धीमे स्वर में पूछा—क्या तुम्हारा नाम अरुण कुमार शर्मा है ?

'जी हाँ ! मेरा यही नाम है। कहिये क्या बात है' ?

'क्या तुम शशिभूषण महाशय से भेंट करना चाहते हो ?' एकबारगी चौंक पड़ा मैं। वह व्यक्ति मेरा नाम कैसे जान गया ? और यह भी कैसे जान गया कि गोस्वामीजी से मिलना चाहता हूँ मैं। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। किसी प्रकार अपने को संभालकर बोला—जी हाँ ! आप ठीक कहते हैं। मैं उनको एक साल से खोज रहा हूँ। पर दुर्भाग्यवश उनके दर्शन नहीं हुए मुझको। क्या आप उन्हें जानते हैं ? मिला सकते हैं आप उनसे ?

हाँ हाँ ! क्यों नहीं ! इसीलिए तो आना पड़ा है तुम्हारे पास। फिर उस अपरिचित व्यक्ति ने हाथ से इशारा कर आगे कहा—'वह देखो, उस सामने वाले मकान में रहते हैं शशिभूषण गोस्वामी। चले जाओ। इस समय भेंट हो जायेगी उनसे।

मैं जल्दी-जल्दी अस्सीघाट की सीढ़ियाँ चढ़कर लगभग दौड़ते हुए उनके बतलाये मकान के सामने जा पहुँचा। तुलसीघाट के ऊपर एक सुनसान गली में मकान था वह। गली में चारों तरफ साँय-साँय हो रहा था। मकान का मुख्य द्वार बन्द था। एक काले रंग का मोटा-ताजा कुत्ता वहाँ बैठा ऊँघ रहा था। मुझे देखकर एकबारगी सतर्क हो उठा वह। उसकी लाल आँखें मुझे रहस्यमयी लगीं। तभी द्वार धीरे से खुला और एक युवती ने सिर निकालकर बाहर झाँका और अपनी स्वप्निल आँखों से एक बार मेरी ओर देखा और फिर कोमल स्वर में बोली वह—'चलिये! ऊपर चलिये! स्वामीजी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं'। इतना कहकर उसने पूरा दरवाजा खोल दिया।

यह स्वामीजी कौन हैं? एकाएक खयाल आया कि हो सकता है कि शशिभूषण गोस्वामी को ही लोग स्वामीजी कहते हों। मगर वे यह कैसे जान गये कि मैं उनसे मिलने आया हूँ? एक बार और आश्चर्य हुआ मुझे। मकान तीन मंजिला था। बीच वाली मंजिल के एक कमरे में स्वामीजी रहते थे। जब भीतर घुसा और सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर जाने लगा तो वह काला कुत्ता भी मेरे पीछे-पीछे आ गया। उसकी उपस्थिति मुझे विचित्र-सी लग रही थी। कमरे का दरवाजा खुला हुआ था। और उस पर हरे रंग का रेशमी पर्दा लटक रहा था। युवती मुझे भीतर जाने का संकेत कर ऊपर चली गयी। जब मैं पर्दा हटाकर भीतर गया तो एकबारगी स्तब्ध रह गया। आश्चर्य से आँखें खुली की खुली रह गयीं मेरी। मेरे सामने तख्त पर वही व्यक्ति बैठा हुआ था—जिसे मैंने घाट पर देखा था और जिसने मुझे गोस्वामी महाशय का स्थान बतलाया था। मगर वे मेरे पहुँचने के पहले कैसे आ गये? मेरी आँखों में आश्चर्य और विस्मय का भाव देखकर स्वामीजी मुस्करा पड़े। फिर बोले—'मैं ही हूँ शशिभूषण गोस्वामी। बैठो'। जब मैं जमीन पर बिछी चटाई पर बैठ गया तो वे कहने लगे—तुम मुझे एक साल से खोज रहे थे न? इस समय तुम्हें घोर आश्चर्य और कुतूहल हो रहा है। मगर नहीं, इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। मुझ जैसे लोग जब मनोमय शरीर के द्वारा कुण्डलिनी साधना करते हैं तब उस अवस्था में उनके लिए ऐसा कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता। वे हजारों मील की दूरी पर बैठे किसी भी व्यक्ति के मनोभावों और विचारों को तत्काल जान-समझ सकते हैं। इतना ही नहीं एक ही समय में अपने आपको कई स्थानों में भी प्रकट कर सकते हैं। यह कुण्डलिनी शक्ति की विशेष सिद्धि है।

जब गोस्वामी महाशय इस प्रसंग पर बातें कर रहे थे उसी समय वह युवती कमरे में आ गयी। इस बार मैं उसे ठीक से देख सका। लगभग बीस-इक्कीस वर्ष की आयु, गोरा रंग, छरहरी देह, बड़ी-बड़ी झील जैसी गहरी स्याह आँखें, काली घनी भौंहें, गुलाब की पंखुड़ियों की तरह लाल स्निग्ध

होंठ, उन्नत मस्तक और उभरे हुए उन्नत वक्ष। मानों किसी स्वप्नसुन्दरी की छवि स्पष्ट कर रहे थे। घने काले बाल खुलकर पीठ पर सावन-भादों की घटा की तरह बिखरे हुए थे।

गोस्वामीजी युवती की ओर इशारा कर बोले—यह पद्मा है, मेरी शिष्या। यह भी मेरे निर्देशन में कुण्डलिनीशक्ति साधना के मार्ग पर अग्रसर है।

बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक नाम था युवती का। मन मुग्ध हो गया सुनकर। उस रात सोया न जा सका मुझसे। करवटें बदलता रहा पूरी रात। बार-बार पद्मा का अपूर्व यौगिक सौन्दर्य आँखों के सामने थिरक उठता था।

कुण्डलिनी योगसाधना

कहने की आवश्यकता नहीं, उस दिन से प्रायः नित्य ही जाने लगा गोस्वामीजी के यहाँ। कुण्डलिनी योग के विषय में उनकी अपनी अनुभव दृष्टि थी। उन्होंने कहा—वास्तव में कुण्डलिनी-साधना क्रम से प्राण, मन और आत्मा की साधना है। जहाँ तक कुण्डलिनी योग का प्रश्न है वह हठयोग, राजयोग और ज्ञानयोग का समन्वय रूप है। हठयोग द्वारा प्राण की साधना, राजयोग के द्वारा मन की साधना और ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा की साधना सम्पन्न होती है। हठयोग का विषय प्राणायाम है। 'हठ' शब्द का 'हकार' श्वास का और 'ठकार' प्रश्वास का बोधक है। श्वास का मतलब है प्राण और प्रश्वास का मतलब है अपान। श्वास-प्रश्वास यानि प्राण और अपान वायु। दूसरी ओर 'हठ' शब्द का प्रयोग इडा और पिंगला नाड़ी के लिए भी किया गया है। 'ह' यानि इडा नाड़ी और 'ठ' यानि पिंगला नाड़ी। श्वास का प्रवाह इडा नाड़ी में और प्रश्वास का प्रवाह पिंगला नाड़ी में होने के कारण ही सम्भवतः 'हठ' शब्द का प्रयोग उन दोनों नाड़ियों के लिए किया गया है। तीसरी महत्त्वपूर्ण नाड़ी 'सुषुम्ना' है। यह नाड़ी शून्य नाड़ी है। शून्य शब्द शक्ति का वाचक है। अतः सुषुम्ना नाड़ी शक्तिवाहिनी नाड़ी है। इस नाड़ी में एकमात्र शक्ति का प्रवाह है। यहाँ शक्ति का मतलब चेतना से समझना होगा। मानव-शरीर में कुल ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। सुषम्ना मार्ग से शक्ति प्रवाहित होकर चेतना के रूप में उन ७२ हजार नाड़ियों के जाल में फैली हुई रहती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण की साधना हठयोग का मुख्य लक्ष्य है।

० ० ०

अब राजयोग को लीजिए। राजयोग का विषय है—ध्यान। ध्यान का सम्बन्ध मन से समझना चाहिए। ध्यान के द्वारा मन पर अधिकार प्राप्त करना राजयोग का मुख्य उद्देश्य है। ध्यान का मतलब है वैज्ञानिक आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व का आमूल रूपान्तरण और बाह्य जगत् से आन्तर जगत् में प्रवेश। ध्यान ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा आन्तर जगत् में प्रवेश किया

जा सकता है और एकमात्र यही कारण है कि सभी साधना-सम्प्रदायों ने ध्यान को स्वीकार किया है। संसार के सभी धर्मों में विवाद है। केवल एक बात के सम्बन्ध में विवाद नहीं है और वह है—ध्यान। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध आदि सभी के सिद्धान्त बहुत भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन ध्यान के सम्बन्ध में इस संसार में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। जीवन के आनन्द का मार्ग ध्यान से होकर जाता है। परमात्मा तक यदि कोई कभी पहुँचा है तो एकमात्र ध्यान की सीढ़ियों पर चढ़कर ही पहुँचा है। चाहे जीसस हों, चाहे मुहम्मद हों, चाहे महीवीर हों या चाहे बुद्ध हों।

गोस्वामीजी बोले—ध्यान के सम्बन्ध में तुमको दो-तीन बातें बतलाऊँगा। पहली बात तो यह है कि साधारणतः जब हम बोलते हैं तभी हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कौन-सा विचार चल रहा है। ध्यान का विज्ञान इस स्थिति को—जब हम बोलते हैं तभी हमें पता चलता है कि हमारे भीतर क्या था—चित्त की अत्यन्त ऊपरी अवस्था मानता है। अगर एक व्यक्ति न बोले तो हम पहचान नहीं पायेंगे कि वह कौन है? और क्या है? शब्द हमारे बाहर प्रकट होता है, तभी हमें पता चलता है कि हमारे भीतर क्या था? ध्यान का विज्ञान कहता है कि यह चित्त की ऊपरी अवस्था है। जब हम बोलते नहीं होते, तब भी हमारे भीतर विचार चलता रहता है। अन्यथा बोल ही नहीं सकते। बिना विचार के बोलना असम्भव है। अगर हम कहते हैं 'राम' तो इसके पहले हमारे भीतर किसी स्थान पर 'राम' शब्द का निर्माण हो जाता है। यह व्यक्तित्व की गहरायी की दूसरी अवस्था है। साधारणतः मनुष्य पहली अवस्था में ही जीता है। उसे दूसरी अवस्था का कोई पता नहीं होता। उसके बोलने के जगत् के नीचे भी एक सोचने का जगत् है, उसको इसका कोई ज्ञान नहीं रहता। अगर हमें अपने सोचने के जगत् का पता चल जाय तो हम हैरान हो जायेंगे। जितना हम सोचते हैं, उसका थोड़ा-सा हिस्सा वाणी के रूप में प्रकट होता है। हमारे वैचारिक जीवन का नब्बे प्रतिशत भाग किसी गहन अंधकार में डूबा रहता है और दस प्रतिशत भाग दिखाई पड़ता है। इसलिए प्रायः ऐसा हो जाता है कि आप क्रोध कर चुकते हैं तब आप कहते हैं, यह कैसे सम्भव हुआ? एक व्यक्ति हत्या कर देता है और फिर पश्चाताप करता है। कहता है कि मैंने हत्या कैसे की? उसे यह ज्ञात नहीं कि 'हत्या' आकस्मिक नहीं है। वह तो बहुत पहले उसके भीतर निर्मित हो चुकी थी। जहाँ उसका निर्माण हुआ था वह व्यक्तित्व की गहरायी की दूसरी अवस्था है, जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। ध्यान-विज्ञान के अनुसार पहली अवस्था को 'वैखरी' और दूसरी अवस्था को 'मध्यमा' कहते हैं। 'वैखरी' वाणी का जगत् है और 'मध्यमा' है विचार का जगत्। इन दोनों अवस्थाओं के नीचे भी एक अवस्था है, जिसको 'पश्यन्ति' कहते हैं। 'पश्यन्ति'

भाव का जगत् है। यहाँ विचारों के भाव निर्मित होते हैं। पहले भाव का निर्माण होता है तत्पश्चात् उसके आधार पर निर्माण होता है विचार का। लेकिन इस तीसरी अवस्था 'पश्यन्ति' से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो पहली अवस्था 'वैखरी' से ही परिचित था। ये तीनों अवस्थाएँ वाणी के तीन तल हैं। पहला तल बोलने का तल है। दूसरा तल सोचने-विचारने का तल है। तीसरा तल है दर्शन का यानि भाव का। पश्यन्ति का अर्थ है—देखना। जहाँ शब्द 'साकार' रूप में देखे जाते हैं, वह है भावजगत्—व्यक्तित्व की तीसरी गहरी अवस्था। मुहम्मद कहते है कि मैंने कुरान देखी-सुनी नहीं। वेदों के ऋषि कहते हैं कि हमने ज्ञान देखा-सुना नहीं। मूसा का कहना है कि उन्होंने टेन कमाण्डमेण्ट्स को अपने सामने प्रकट रूप में देखा-सुना नहीं। यह तीसरी अवस्था तीसरे तल की बात है, जहाँ विचार चलचित्र की भाँति दिखायी पड़ते हैं, सुनाई नहीं पड़ते। ध्यान-विज्ञान का कहना है कि यह तीसरी अवस्था और तीसरा तल ही अन्तिम नहीं है। एक चौथी अवस्था और एक चौथा तल और भी है, जिसे 'परा' कहते हैं। 'परा' भावातीत जगत् है। जहाँ विचार दृश्यरूप में न तो दिखायी पड़ते हैं और न सुनाई ही पड़ते हैं। 'परा' शब्दशक्ति का केन्द्र है। उस शक्ति का केन्द्र है, जो क्रम से भाव-विचार और फिर शब्द अथवा वाणी के रूप में प्रकट होती है। जब हम देखने और सुनने से भी नीचे उतर जाते हैं—तभी हमें इस चौथी अवस्था का और चौथे तल का पता चलता है। ध्यान-विज्ञान का यह भी कहना है कि इस चौथे जगत् के पार भी एक और जगत् है, जिसे ध्यान का जगत् कहते हैं। जिसके भीतर हमारी आत्मा है। चारों अवस्थाओं और चारों तलों के पार ध्यान के जगत् में हमारी आत्मा निवास करती है। हम इन चारों अवस्थाओं और चारों तलों के बाहर जीते हैं। हमारा सारा जीवन शब्दों के तल पर ही समाप्त हो जाता है। हमें एक पल के लिए इस बात का स्मरण नहीं होता कि खजाना हमारे ही भीतर है, बाहर नहीं। बाहर तो केवल मार्गों की धूल है।

जीवन का वास्तविक सुख और वास्तविक आनन्द बाहर नहीं अपितु भीतर है। भीतर काफी गहरायी में वह दबा हुआ है। जहाँ पहुँचने का एक ही मार्ग है और वह मार्ग है—ध्यान का मार्ग। जिसे हम सुख और आनन्द कहते हैं—वह थोड़े समय के लिए किसी तनाव से मुक्ति है। इसके अलावा और कुछ भी नहीं। हम शराब पी लेते हैं और सोचते हैं हम सुखी हैं, आनन्द में हैं। हम सम्भोग करते हैं और सोचते है हम आनन्द में हैं। हम संगीत सुन लेते हैं। हँसी-मजाक कर लेते हैं। गप-शप कर लेते हैं। और सोचते हैं कि हम बहुत सुखी हैं। बहुत आनन्द में हैं। यदि सच पूछा जाय तो इन सबका सम्बन्ध न सुख से है और न तो है आनन्द से ही। वास्तविक सुख और वास्तविक आनन्द—एक विधायक स्थिति है, नकारात्मक नहीं। दोनों का

विधायक अनुभव है। लेकिन बिना ध्यान के वैसा विधायक सुख और आनन्द का अनुभव किसी को नहीं हो सकता।

सारी शिक्षा, सारी सभ्यता और संस्कृति मनुष्य को दूसरों से कैसे सम्बन्धित हों, यह तो सिखा देती है लेकिन अपने से वह कैसे सम्बन्धित हो—यह नहीं सिखाती। अपने-आप से सम्बन्धित होना तो सिखाता है एकमात्र ध्यान। जीवन में जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण है—वह प्रयोजन में मुक्त है। उसका संसार में कोई मूल्य नहीं है। संसार में क्या प्रेम का मूल्य है? आनन्द का मूल्य है? प्रार्थना का मूल्य है? परमात्मा का क्या मूल्य है? नहीं। कोई मूल्य नहीं है।

० ० ०

जिस जीवन में प्रयोजन से मुक्त यानि अनुपयोगी मार्ग नहीं होता—उस जीवन में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। सब कुछ खो जाता है। कुछ भी नहीं बचता। अगर कुछ बचता है तो केवल संसाररूपी बाजार। ऐसे जीवन में काम के अलावा तनाव, परेशानी और चिन्ता के अलावा कुछ नहीं बचता। जीवन तनावों, परेशानियों और चिन्ताओं का जोड़ नहीं है। लेकिन हमारा जीवन उन सब का जोड़ है। ध्यान हमारे जीवन में उस आयाम की खोज है—जहाँ हम बिना किसी उपयोग के, बिना किसी प्रयोजन के केवल अपने होने मात्र से सुखी और आनन्दित होते हैं। जहाँ हमें स्वयं अपने होने मात्र से यह उपलब्ध होता है और वह है ध्यान का अपना स्वतंत्र जगत्।

० ० ०

मैंने प्रश्न किया कि क्या निराकार वस्तु का ध्यान हो सकता है? और यदि हो सकता है तो क्या निराकार ही बना रहेगा?

उत्तर में गोस्वामी महाशय ने कहा—ध्यान का निराकार और साकार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। और न तो ध्यान का किसी प्रकार की वस्तु से सम्बन्ध है। ध्यान है—विषय-वस्तुरहित प्रगाढ़ निद्रा की भाँति। लेकिन निद्रा में चेतना नहीं है और ध्यान में चेतना पूर्णरूपेण है। कहने का मतलब यह कि निद्रा अचेतन ध्यान है और ध्यान सचेतन निद्रा है। प्रगाढ़ निद्रा में भी हम वहीं होते हैं जहाँ ध्यान में होते हैं—लेकिन मूर्च्छित। ध्यान में भी हम वहीं होते हैं जहाँ निद्रा में होते हैं—लेकिन जाग्रत्। समझ गये न। जागते हुए सोना ध्यान है अथवा सोते हुए जागना ध्यान है। बात एक ही है। जो जाना जाता है वह न साकार है और न तो है निराकार। वह है साकार में निराकार या निराकार के साकार। वास्तव में वहाँ द्वन्द्व है ही नहीं। पूर्णरूप से वहाँ द्वैत का नाश है। और इसीलिए हमारे शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। वहाँ न ज्ञाता है और न तो है ज्ञेय। न दृश्य है न तो है द्रष्टा। वहाँ क्या है? यह कहना

असम्भव है। कठिन नहीं, बल्कि असम्भव है। ध्यान है मन की मृत्यु। और भाषा है मन की अर्धांगिनी। वह मन के साथ ही सती हो जाती है। वह जीना चाहे भी तो जी नहीं सकती। क्योंकि मन के पार जो है वह उसके लिए उत्सुक नहीं है।

प्रश्न — ध्यान किसे कहते हैं? और उसके करने की क्या विधि है?

निर्विचार चेतना ध्यान है और निर्विचारणा के लिए विचारों के प्रति जागना ही विधि है। विचारों का सतत प्रवाह है मन। इस प्रवाह के प्रति मूर्च्छित होना, अजाग्रत् होना साधारणतः हमारी स्थिति है। इस मूर्च्छा से जन्म लेता है 'तादात्म्य'। 'मैं'-पन ही मालूम होने लगता है। जागें और विचारों को देखें। जैसे कोई राह चलते लोगों को किनारे खड़ा होकर देखता है। बस! इस जाग कर देखने से एक विलक्षण क्रान्ति घटित होती है। विचारों से स्वयं का तादात्म्य टूटता है। इस तादात्म्य-भंग के अन्तिम छोर पर ही निर्विचार चेतना का जन्म होता है। उसी प्रकार जैसे बादल हट जायें तो आकाश दिखलाई पड़ता है। विचारों से रिक्त चित्ताकाश ही स्वयं की भौतिक स्थिति है। और यही स्थिति 'समाधि' है।

ध्यान है विधि और समाधि है उपलब्धि। लेकिन ध्यान के सम्बन्ध में सोचें मत। ध्यान के सम्बन्ध में विचारना भी विचार है। उसमें तो जायें और डूबें। ध्यान को सोचें मत। चखें, स्वाद लें। मन का काम है — सोना और सोचना। जागने से उसकी मृत्यु है। और ध्यान है जागना। इसलिए मन कहता है — चलो! ध्यान के सम्बन्ध में ही सोचें। यह उसकी आत्म-रक्षा का अन्तिम उपाय है। इससे सावधान रहना चाहिए। सोचने के स्थान पर देखने पर बल देना चाहिए। विचार नहीं दर्शन। बस यही मूलभूत सूत्र है। दर्शन बढ़ता है तो विचार क्षीण होते हैं। साक्षी जागता है तो स्वप्न विलीन होता है। ध्यान आता है तो मन जाता है। मन संसार का द्वार है और ध्यान है मोक्ष का द्वार। मन से जिसे पाया है, ध्यान में वह खो जाता है। मन से जिसे खोया है, ध्यान में वह मिल जाता है।

० ० ०

गोस्वामीजी ने कहा—जैसे राजयोग का विषय ध्यान है, उसी प्रकार ज्ञानयोग का विषय है—समाधि। समाधि के द्वारा आत्मा को उपलब्ध होना ज्ञानयोग का एकमात्र लक्ष्य है।

कुण्डलिनीयोग की साध्य वस्तु है — प्राण, मन और आत्मा। और उसका साधन है — प्राणायाम, ध्यान और समाधि! जैसा कि बतलाया जा चुका है — कुण्डलिनीयोग हठयोग, राजयोग और ज्ञानयोग का समन्वय योग है। इसीलिए इसे महायोग भी कहते हैं। तीनों योगों के अपने-अपने छः छः आयाम

हैं। प्रत्येक आयाम अपने-आप में स्वयं एक 'योग' है। इस प्रकार कुल १८ योग हैं, जिनका आश्रय लेकर गीता के १८ अध्यायों की रचना हुई है। गीता के प्रत्येक अध्याय का विषय एक योग है। मगर सर्वश्रेष्ठ योग 'ज्ञानयोग' है। क्योंकि समस्त कर्मों का अन्त 'ज्ञान' में ही होता है। और इसीलिए गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'सर्वंकर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते।' संसार में जितने ज्ञान उपलब्ध हुए हैं—वे सब समाधि के द्वारा ही उपलब्ध हुए हैं। इसीलिए ज्ञानयोग का विषय समाधि है। गोस्वामीजी ने कहा है—समाधि का विषय अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है। योगतांत्रिक साधना भूमि की जितनी अवस्थाएँ है—उनमें समाधि सर्वोच्च और अन्तिम अवस्था है। उसके पश्चात् कैवल्य, परमपद, अद्वैतलाभ एवं मोक्ष आदि की सम्भावनाएँ हैं।

प्रकरण : सतरह

योग तान्त्रिक साधना की सर्वोच्च अवस्था समाधि

विशेष कार्य आ जाने के कारण पूरे दो सप्ताह बाद गोस्वामीजी के निकट जा सका मैं। और जब उस दिन गया तो पता चला कि गोस्वामीजी पद्मा को लेकर मानसरोवर की यात्रा पर चले गये हैं। बड़ा क्लेश हुआ इस समाचार से। समाधि के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ थीं और थे अनेक प्रश्न। अब कौन करेगा मेरी जिज्ञासाओं का समाधान और देगा मेरे प्रश्नों का उत्तर? उसी समय संयोगवश एक महात्मा से भेंट हो गयी मेरी। महात्मा का नाम था स्वरूपानन्द ब्रह्मचारी। ब्रह्मचारीजी कुण्डलिनी योग के साधक थे। साधना मार्ग में एक विशेष अवस्था प्राप्त की थी उन्होंने। वे रहते थे केदार घाट में। समाधि के प्रसंग में ब्रह्मचारीजी बोले—समाधि साधक के साधना जीवन की परम घटना है। जैसे रात का सपना दिन में झूठा हो जाता है, उसी प्रकार समाधि में सारा जीवन झूठा सिद्ध हो जाता है। जो कुछ भी है—वह समाधि तक ही है। उसके बाद क्या है? यह आज तक कोई भी बतला नहीं सका है। अपनी-अपनी कल्पनाओं के आधार पर तत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि समाधि के पार जो कुछ है, वह परम मुक्ति की, निर्वाण की, मोक्ष की और परमपद की सम्भावनाएँ हैं।

ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि समाधि चार प्रकार की है—जड़ समाधि, प्राणमय समाधि, मनोमय समाधि और आत्ममय समाधि। इनमें जड़ समाधि वह है जो भूमि के अन्दर बैठ कर लगायी जाती है। इस समाधि का सम्बन्ध स्थूल शरीर से समझना चाहिए। इस समाधि से शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं, विशेषकर प्राणवह नाड़ियाँ और मस्तिष्क की सूक्ष्म नाड़ीतन्तुएँ। जब यह समाधि पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है, तब प्राणमय समाधि में प्रवेश होता है। जैसे जड़ समाधि का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, उसी प्रकार इस समाधि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। प्राणवहा नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि साधक को अपने सूक्ष्म शरीर का पता चलता है और पता चलते ही स्थूल शरीर के प्रति उसका मोह अथवा आकर्षण समाप्त हो जाता है और सूक्ष्म शरीर के प्रति वैसा ही मोह अथवा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। मगर वह स्थायी नहीं होता। फिर भी उससे एक लाभ यह होता है कि साधक अपने सूक्ष्म शरीर में उसी प्रकार जीने का अभ्यासी हो जाता है, जैसे कि वह अपने स्थूल शरीर में रहने का अभ्यासी था।

प्रश्न—इस अवस्था में स्थूल शरीर का क्या होता है?

होगा क्या—ब्रह्मचारी जी बोले—वह किसी भी अवस्था में रहे? किसी

स्थिति में रहे। किसी भी वातावरण में रहे। इनसे साधक का कोई नाता-रिश्ता नहीं। वह तो अपने-आप में मग्न और अपने-आप में लीन रहता है। शरीर स्वस्थ है तब भी उससे उसका कोई मतलब नहीं। शरीर अस्वस्थ है तब भी उससे उसका कोई मतलब नहीं।

प्राणमय समाधि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। कहने का मतलब यह कि साधक अपने सूक्ष्म शरीर में रहकर जिस समाधि को उपलब्ध होता है, वह है—प्राणमय समाधि। इस समाधि का सबसे बड़ा प्राप्तव्य यह है कि साधक को अपने तीसरे शरीर जिसे मनोमय शरीर कहते हैं, का ज्ञान होता है। मनोमय शरीर का अपना एक विशिष्ट आकर्षण है। इस शरीर में रहकर जिस समाधि को साधक उपलब्ध होता है, वह है—मनोमय समाधि। मनोमय समाधि की दो अवस्थाएँ है––सविकल्प अवस्था और निर्विकल्प अवस्था। पतञ्जलि ने इन्हीं दोनों अवस्थाओं का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। सविकल्प अवस्था का सम्बन्ध है चेतन मन से और निर्विकल्प अवस्था का सम्बन्ध है अचेतन मन से। निर्विकल्प अवस्था में परिपक्व हो जाने पर सविकल्प अवस्था में प्रवेश होता है। यह परम अवस्था है। 'परम' इसलिए कि इसी अवस्था में साधक को अपने आत्मशरीर का बोध होता है। और बोध होते ही वह मनोमय शरीर का मोह त्याग कर अपने आत्मशरीर में सन्तरण कर जाता है। आत्मशरीर में रहकर वह जिस समाधि को उपलब्ध होता है वह है––आत्ममय समाधि। इसी को धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं। योगतांत्रिक साधना अथवा कुण्डलिनी योग की यह सर्वोच्च अवस्था है। जिसका परिणाम है––सामरस्य भाव। इसके बाद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर है—नेति, नेति। ब्रह्मचारीजी आगे बोले—इन चारों प्रकार की समाधियों का सम्बन्ध क्रम से स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्, मनोमय जगत् और आत्म जगत् से समझना चाहिए। साधक जिस समाधि की अवस्था में रहता है, उस समाधि से सम्बन्धित जगत् से उसका सम्पर्क अपने-आप स्थापित हो जाता है।

योग-विधान : वैज्ञानिक कसौटी पर

समाधि प्रसंग को लेकर ब्रह्मचारीजी के पश्चात् मैं जिस महापुरुष से मिला वे थे––स्वामी विद्यारण्य परमहंस ! काशी के शिवाला घाट स्थित एक आश्रम में रहते थे स्वामीजी। वैसे उनका पितृ स्थान गुजरात था। लेकिन काशी के प्रसिद्ध विद्वान्, साधक और चिन्तक महामहोपाध्याय डा० प्रमथनाथ तर्कभूषण के आग्रह पर काशी में स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। योग-साधना मार्ग का गहन अनुभव तो स्वामीजी को था ही। इसके अतिरिक्त योग के विभिन्न अंगों के प्रति उनकी अपनी वैज्ञानिक दृष्टि भी थी।

उनका कहना था कि कितनी विचित्र बात है कि विज्ञान के आधुनिक युग में भी समाधि पर वैज्ञानिक परीक्षण नहीं हुए और हुए भी तो नहीं के बराबर।

क्या समाधि का वैज्ञानिक परीक्षण सम्भव है ? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी बोले--अन्य समाधियों की बात तो मैं नहीं करता। लेकिन जड़ समाधि का तो वैज्ञानिक परीक्षण पूर्णतया सम्भव है।

जिन दिनों स्वामीजी से मेरा परिचय हुआ था, उसी समय उनके एक साधक मित्र थोड़े दिनों के लिए काशी आये हुए थे। उनका नाम था स्वामी गीतानन्दजी। गीतानन्दजी साधक और विद्वान् तो थे ही, इसके अतिरिक्त शल्य-चिकित्सक भी थे। उन्होंने अमेरिका में लगभग ४०० से भी अधिक सफल ऑपरेशन किये थे। वे मेरे शोधकार्य से काफी प्रभावित हुए थे। उनका कहना था कि योग और तंत्र के गूढ़ विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। योगाभ्यास के विभिन्न स्तरों के विषय में जो बातें योग-शास्त्र विहित हैं, उनकी वैज्ञानिक परख के अनुसार निर्विकल्प समाधि की अवस्था में मस्तिष्क से अलफा तरंगें तथा सविकल्प समाधि की अवस्था में भी वही तरंगें निकलती हैं--लेकिन वे छोटी, कम ऊँची और तीव्र होती हैं। इन तरंगों को 'इलेक्ट्रो एसफेलोग्राफ पत्र' की सहायता से रेखांकित होने वाले ग्राफों में देखा जा सकता है। योग में जिन चक्रों की चर्चा की गयी है, वे भी विज्ञान से अनुमोदित हैं। योगीगण जो अनाहतनाद सुनते हैं--वह मस्तिष्क के वैद्युत उत्तेजन यानि 'इलेक्ट्रिकल स्टिमुलेशन आफ ब्रेन' से ही सुनते हैं। रही नरमेध-समाधि की बात—इस समाधि की अवस्था में 'बीटा, डेल्टा और थीटा—ये तीनों तरंगें एक साथ तीनों प्रकार के मस्तिष्कों से निकलती हैं, जो ब्रह्माण्डीय ऊर्जा में मिश्रित होकर एक विशेष प्रकार की चुम्बकीय तरंगों में परिवर्तित हो जाती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं—योगीगण समाधि की अवस्था में उन्हीं की सहायता से सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड से सम्पर्क स्थापित किया करते हैं और इच्छानुसार किसी भी लोक या जगत् को करतलवत् देख लिया करते हैं। इतना ही नहीं वे उन्हीं तरंगों के माध्यम से ब्रह्माण्ड के किसी भी स्थान पर स्वयं स्थूल शरीर के अतिरिक्त अपने अन्य किसी शरीर से पहुँच जाया करते हैं। और बैठे-ही-बैठे वे वहाँ के दृश्यों को उसी प्रकार देखते हैं, जैसे हम सब लोग टी० वी० पर चलचित्र दृश्यों को देखते हैं।

स्वामी गीतानन्दजी ने इसी प्रसंग में आगे कहा—शरीर-रचना और शरीर-क्रिया—ये दोनों आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के परम अंग हैं। उनके अनुसार समाधि के प्रयोग का वैज्ञानिक विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है कि प्राणायाम द्वारा मनोबल की वृद्धि और चित्त को एकाग्र करने से बुद्धि के केन्द्र जो कि मस्तिष्क के प्रवाह्यक (सेरिब्रल काण्टेक्स) में स्थित है—उपद्दक चेता पिण्ड (हाइपोथैलमस) का नियमन करते हैं और फिर उपद्दक चेता पिण्ड स्वायत स्नायुमण्डल (आटोनामिक नर्वस सिस्टम) का नियमन करता है और वह स्वतंत्र स्नायुमण्डल (प्राणेशा चेता नर्व) का नियमन करता है।

और एक 'प्राणेशा चेता नर्व' हृदय की गति एवं मुख्य पाचन क्रिया के अंगों का नियमन करता है। इस प्रकार इच्छा के दमन से प्रवाह्यक प्रभावित होता है। जिससे उपद्दक चेता पिण्ड पर भी प्रभाव पड़ता है। जिसके फलस्वरूप हृदय की गति पर भी प्रभाव पड़ सकता है। इस प्रकार उपद्दक चेता पिण्ड और मस्तिष्क पुच्छ (मेडुला आब्लोंगटा) का नियन्त्रण करके क्रियान्वित करने को ही कुण्डलिनी जाग्रत् करना कह सकते हैं। खैर।

योग-विधान : एक दूसरा पक्ष

स्वामीजी की इस वैज्ञानिक विवेचना पर ब्रह्मचारीजी को आपत्ति थी। उनका कहना था कि चित्, मन, बुद्धि और अहंकार का विभेद-दर्शन असंगत है। मन, बुद्धि और अहंकार ये चित्त की ही प्रमुख वृत्तियाँ हैं। अतः मनोविद्युत्-लेखन (इलेक्ट्रो एन्सेफेलोग्राम) का चित्त को उसी के अंगभूत—मन, बुद्धि एवं अहंकार से विभिन्न बतलाना अयुक्त, असम्भव एवं भ्रामक है। मन, बुद्धि तथा अहंकार कोटीय उद्वेलनों से विमुक्त 'चित्त' आत्मचिन्तन करता है। मनोविद्युत् तरंगों के प्रकार यथा—अल्फा, बीटा, डेल्टा आदि तथा आयाम एवं दैर्घ्य, चैतन्य की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा ध्यानजन्य अवस्थाओं पर आधारित एवं उनसे प्रभावित होते हैं। इन चारों अथवा पाँचों अवस्थाओं में अन्तःकरण-चतुष्टय के विभिन्न उपर्युक्त घटकों की क्रियमाणता न्यूनाधिक्य रूप में विद्यमान रहती हैं। ब्रह्मचारीजी ने इसी सन्दर्भ में आगे कहा कि षट्चक्रों को पेल्विक, प्लेक्सस, सोलर प्लेक्सस तथा कार्डियक प्लेक्सस मानना भी नितान्त असंगत कल्पना है। प्रत्येक चक्र का वर्ण एवं दल संख्या आदि के समानानुरूपी रचनाएँ भी उक्त जालकों यानि 'प्लेक्सस' में नहीं मिलती। विभिन्न चक्रों पर ध्यानजन्य प्रभावों के योगसाहित्यगत विवरण भी परिकल्पित जालिकाओं के शरीर-क्रियात्मक ज्ञात प्रभावों से कोई तालमेल नहीं रखते। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध लेखकों आर्थर एवेलन एवं डा० वसन्त रेले के अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रकाशित चित्रों का कोई शरीर-रचना विज्ञानात्मक आधार नहीं है। वास्तव में योग में वर्णित चक्रों का विवरण ध्यानावस्थित योगीजनों द्वारा अनुभूत संवेदनाओं पर आधारित है। 'चित्रिणी नाड़ी' क्या हैं—यह ज्ञात वैज्ञानिकों द्वारा दिये वैज्ञानिक तथ्यों से निरूपणीय नहीं है। मस्तिष्क के किस भाग के वैद्युत से वह नाद उत्पन्न होता है, जिसे अनाहतनाद कहते हैं।

एक सीमा तक मैं ब्रह्मचारीजी के विचारों से सहमत था। यह सत्य है कि आधुनिक विज्ञान की चमत्कारी प्रगति ने योगाभ्यास अथवा योगसाधना जन्य अनेक उपलब्धियों का सत्यापन किया है। किन्तु जब तक और अधिक ज्ञात नहीं हो जाता, तब तक विज्ञानप्रसूत तथ्य अथवा तथ्यसाम्यों को केवल उक्तिवैचित्र्य अथवा सनसनी उत्पन्न हेतु विचार का प्राकट्य सर्वथा अमान्य ही कहा जा सकता है, अवैज्ञानिक तो वह होता ही है।

ऋषि-मुनियों के दीर्घायु होने का रहस्य

मेरे यह पूछने पर कि 'भूमि पर बैठकर भी तो जड़ समाधि लगायी जा सकती है' ? विद्यारण्य परमहंस ने कहा--धरती के ऊपर बैठकर ध्यानावस्थित होना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए धरती के भीतर समाधि लगायी जाती है। यही कारण है कि जड़ समाधि को भू-समाधि भी कहते हैं।

'जड़ समाधि अथवा भू-समाधि की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है' ?

विद्यारण्य परमहंस बोले--सबसे बड़ी उपलब्धि है दीर्घायु होना। ज्ञात हो कि कुछ ऐसे जीव-जन्तु हैं, जो पर्यावरण के अनुसार अपनी शारीरिक क्रिया की गति बहुत कम कर लेते हैं। जैसे मेंढक सर्दी में करीब छः मास तक शीत समाधि में चले जाया करते हैं। और उनके शरीर की क्रियागति बहुत मन्द हो जाया करती है। तथा वे बहुत ही कम ऑक्सीजन का प्रयोग करते हैं। प्राचीन काल में ऋषि-मुनिगण सैकड़ों वर्ष तक जिस समाधि में रहा करते थे, वह इसी भू-समाधि में ही रहा करते थे। जिसके फलस्वरूप वे दीर्घजीवि हुआ करते थे। शारीरिक क्रियागति की मन्दता एवं प्राणवायु का कम-से-कम प्रयोग आयुवृद्धि का एकमात्र कारण है। भू-समाधि लेने से आधार चयापचय अर्ध यानि 'बेसल मेटाबोलिक रेट' बहुत कम हो जाया करती है। जिससे शरीर का तापक्रम कम हो जाता है। जिसके फलस्वरूप शरीर की कोशिकाएँ काफी दिनों तक जीवित रह सकती हैं और मनुष्य की आयु बढ़ सकती है।

शरीर से सबसे महत्त्वपूर्ण 'स्वायत्त स्नायुमण्डल' हैं। उसको वश में करके हृदयगति पर अधिकार कर समाधिस्थ होना एक बहुत ही कठिन कार्य है। ऐसा ही भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (अध्याय ६ के ३५-३६वें श्लोक) में कहा है कि इन्द्रियों को वश में करके योगाभ्यास करना अति कठिन है। परन्तु एक बार यदि सफलता मिल जाय और स्वायत्त स्नायुमण्डल पर किसी भी प्रकार नियन्त्रण हो जाय तो मनुष्य को सर्दी-गर्मी-वर्षा और सुख-दुख आदि किसी बात का आभास नहीं होगा। क्योंकि स्वायत्त स्नायुमण्डल ही उन केन्द्रों का नियमन करता है, जो सर्दी-गर्मी, सुख-दुख आदि का अनुभव कराती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (अध्याय ६ के ७वें श्लोक) में कहा है कि योगियों को कोई भी ऋतु प्रभावित नहीं कर पाती।

मैंने स्वयं हिमालय में कुछ ऐसे योगियों को देखा था, जो केवल एक कौपीन धारण किये हुए थे और उनका सारा शरीर निर्वस्त्र था। सबसे अधिक शीत तिब्बत में पड़ती है। वहाँ भी मैंने कुछ ऐसे योगियों को देखा जो हिमवर्षा के बीच समाधिस्थ बैठे थे।

धर्ममेघ समाधि

पातञ्जल ने सविकल्प और निर्विकल्प समाधि में अपने 'योगसूत्र' को समाप्त कर दिया। उसके आगे वे न बढ़ सके। इसका कारण यह है कि

उसके आगे की जो भी उपलब्धि है, वह विशिष्ट तांत्रिक क्रियाओं पर आधारित 'कुण्डलिनीयोग' की उपलब्धि है। सामरस्य के पूर्व उसकी सबसे बड़ी जो उपलब्धि है, वह है—धर्ममेघ समाधि। इस समाधि के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा गया है—

'वृत्तयस्तु तदानीमप्य ज्ञाता आत्मगोचराः।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः' ॥

इस समाधि के समय समस्त वृत्तियाँ आत्मस्वरूप विषय वाली होती हैं। इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म एकत्र कर लिये जाते हैं। पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं। इसीलिए इस महासमाधि को उत्तम योगवेत्ता 'धर्ममेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्मरूपी हजारों धाराओं की वर्षा करती है—

'धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधियोगवित्तमाः।
वर्षत्वेष यथाः धर्माऽमृतधाराः सहस्रशः' ॥

इसी समाधि की परम अवस्था में 'तत्त्वमसि' वाक्य सर्वप्रथम परोक्ष ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है और फिर हाथ में रहे आमला की तरह अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है—

'वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षाऽवभासते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते' ॥

० ० ०

नरमेध समाधि परम घटना है। उसके पार शब्द का जगत् नहीं है। उसके पार क्या है—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस समाधि के द्वार पर जो खड़ा हो जाता है, वह उसे भी देख लेता है, जो दिखलायी नहीं देता। उसे भी जान लेता है, जिसे जानना असम्भव है। उससे उसका मिलन हो जाता है, जिसके बिना मिले ही सारा दुःख, सारा सन्ताप, सारा कष्ट और सारी पीड़ा है। वह जो अज्ञेय है, वह ज्ञेय बन जाता है और जो 'परमरहस्य' है वह खुल जाता है। सारी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। परमसत्य प्रकट हो जाता है और उस परम से चैतन्य एकाकार हो जाता है। और फिर साक्षी का अनुभव होता है।

० ० ०

हमारा मन सदैव भास उत्पन्न करता रहता है। भास का मतलब है—साँप को रस्सी समझ लेना और रस्सी को साँप। भास आरोपित है। ये सारे भास भी उस परमसत्य में लीन हो जाते हैं। जैसे ही साक्षी का अनुभव होता है, हमारे संसार का सारा विस्तार सिमट कर उन साक्ष्यों में लीन हो जाता है।

'साक्षी से आपका क्या तात्पर्य है'?

विद्यारण्य महाशय बोले—'आत्मा'। वही साक्षी है और वही है परम

तत्त्व। वह परम तत्त्व एक स्वरूप है। उसमें कोई भेद नहीं है। आध्यात्मिक रहस्यों की खोज करने वाले लोगों ने मनुष्य की तीन अवस्थाएँ बतलायी हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। मानव चित्त की ये तीन अवस्थाएँ हैं। समझ गये न। प्रातः उठने पर जो अवस्था होती है—वह है जाग्रत् अवस्था। सोने पर जो चित्रों और दृश्यों की जो कतार लग जाती है—वह है स्वप्न। कभी-कभी निद्रा में क्षणभर के लिए एक ऐसी भी अवस्था आती है जब कि स्वप्न भी नहीं होता और जागृति भी नहीं होती। तब केवल रह जाती है गहरी निद्रा। और वही गहरी निद्रा—तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। सुषुप्ति का अर्थ है—स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा। सुषुप्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। रह ही नहीं सकता। क्योंकि भेद मन में उत्पन्न होता है। मन भेद को आविर्भूत करता है। जब हम जागते हैं, तब भेद मन में रहते हैं—मेरा मकान, पड़ोसी का मकान, मेरे मित्र, मेरे शत्रु, मैं काला हूँ, पड़ोसी गोरा है। इस प्रकार के हजारों भेद मन निर्मित करता है। यह बात नहीं कि सपने में भेद नहीं रहता। भेद रहता है, लेकिन भेद की सीमा-रेखा नहीं रहती। वह ठोस न रहकर तरल हो जाता है। सपने में हम मित्र को देखते हैं। अचानक वह शत्रु दिखलाई देने लग जाता है। क्या कारण है इसका? कारण बस इतना ही है कि मित्र व शत्रु के बीच जो सीमा रेखा है, जो भेद रेखा है, वह तरल है। उसी के फलस्वरूप हमें सन्देह भी नहीं होता। सपने में यह भी नहीं लगता कि यह कैसे हो गया? अथवा यह कैसे हो सकता है? मित्र दिखलायी पड़ा और फिर सहसा शत्रु हो गया। सपने में आदमी से बातें कर रहे थे कि अचानक वह घोड़ा हो गया; फिर भी उस समय यह शक नहीं होता कि आदमी घोड़ा कैसे हो गया? जैसा कि कहा—इसका कारण बस इतना ही है कि सपने में भेद रेखा बिलकुल तरल हो जाती है। जो जाग्रत् में ठोस थी, वह सपने में तरल हो गयी। जाग्रत् में मन का अस्तित्व बराबर बना रहता है। इसीलिए सब कुछ अलग-अलग और साफ-सुथरा दिखलायी पड़ता है। सपने में मन की स्थिति डाँवाडोल रहती है—जैसे कि पानी में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बन रहा हो और फिर किसी ने पानी को हिला दिया हो तो चन्द्रमा हजार टुकड़े होकर बिखर गया, फैल गया और बस, चाँदनी रह गयी। चन्द्रमा नहीं रहा। टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, फैल गया। ऐसे ही सपने में मन भी डाँवाडोल, अस्थिर और कम्पित होकर बिखर जाता है, फैल जाता है। और जिसके फलस्वरूप सारी भेदरेखाएँ मिट जाती हैं। सारे दृश्य और सारी वस्तुएँ गडमड हो जाती हैं। कुछ पता नहीं चलता कि कौन क्या है? 'आ' क्या है 'ई' क्या है? 'क' क्या है और 'ख' क्या है? कब 'क' 'ख' हो जाता है। और कब 'ख' 'क' हो जाता है। सपना कोई तर्क नहीं मानता। सपने में कोई नियम काम नहीं करता। सारे नियम भंग हो जाते हैं।

तीसरी अवस्था सुषुप्ति है, जिसमें सपने का पूर्ण अभाव हो जाता है। जहाँ सपना नहीं होता, वहाँ मन भी नहीं रहता। जहाँ विचार नहीं वहाँ मन का अस्तित्व भी नहीं। प्रत्येक पदार्थ के तीन रूप हैं—ठोस, द्रव यानि तरल और वाष्पीभूत, जिसे ऊर्जा भी कहा जा सकता है। भारतीय मनीषियों ने 'मन' की भी तीन अवस्थाएँ बतलायी हैं। आयुर्वेद ने 'मन' को पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। 'मन' पदार्थ है—विशेष पदार्थ। जाग्रत् अवस्था में 'मन' ठोस होता है। स्वप्न की अवस्था में मन होता है तरल। सुषुप्ति अवस्था में किसी भी प्रकार का बोध नहीं रह जाता। क्योंकि बोध करने वाला मन अपनी वाष्पीभूत अवस्था में रहता है। इस अवस्था में जगत् एक हो जाता है।

आप गहरी नींद में यानि सुषुप्ति की अवस्था में वहीं पहुँच जाते हैं, जहाँ ज्ञानी समाधि में पहुँचते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि ज्ञानी होश में रहता है और आप रहते हैं बेहोश। सुषुप्ति और समाधि दोनों समान हैं। लेकिन यह अन्तर जरा-सा होते हुए भी बहुत भारी है।

आप सोते समय यानि निद्रा की स्थिति में कभी-न-कभी गहरी सुषुप्ति में पहुँचते है अवश्य। तब आप प्रातःकाल उठकर कहते हैं कि बड़ी नींद आयी। बड़ी सुखद निद्रा थी। अगर रात भर सपने चलते रहते हैं तो आप कभी नहीं कहते कि सुखद नींद आयी। तब आप कहते हैं कि पूरी रात बेचैनी थी। सपने-ही-सपने थे। ठीक से सो न सका। जब तक सपने हैं—तब तक गहरी और सुखद निद्रा नहीं। सपनों के अभाव का मतलब है गहरी नींद, सुखद नींद। लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि जब आप गहरी नींद में होते हैं तो आपको पता नहीं चलता कि सुखद है वह। इसलिए पता नहीं चलता है कि आप उस समय बेहोश थे। आपका 'मन' वाष्पीभूत अवस्था में होता है। जब आप प्रातः जागते हैं—तब कहते हैं कि सुखद नींद आयी। बड़ी गहरी नींद थी। केवल इतना ही पता चलता है कि नींद 'सुखद' थी। आज तक किसी ने भी प्रातःकाल उठकर यह नहीं कहा कि रात गहरी नींद थी, बड़ा दुःख पाया। क्योंकि ऐसा हुआ ही नहीं था अतः कहेगा भी कोई कैसे। सुखद निद्रा 'सुखरूप' है। वहाँ दुःख होता ही नहीं। इसलिए उस सुख को हम सुख न कहकर 'आनन्द' कहते हैं। क्योंकि सुख के तो विपरीत दुःख होता है। आनन्द के विपरीत कुछ नहीं होता। इसलिए 'सुषुप्ति' आनन्द है। एक ही भाव रह जाता है—आनन्द का भाव। उसमें कोई भेद नहीं रह जाता है।

जैसे सुषुप्ति एक रूप है, वैसे ही साक्षी का अनुभव भी एक रूप है। फिर आनन्द ही रह जाता है। और जैसे प्रलय का सागर भरा हो—सीमा रहित, तटहीन, कोई किनारा नहीं। ऐसा सुख, ऐसा आनन्द और कोई भेद नहीं।

प्रकरण : अठारह

कर्म और धर्म

उपनिषद् में दो शब्द अति मूल्यवान् हैं—पहला है 'कर्म' और दूसरा है 'धर्म'। जैसा कि निम्न श्लोक में उद्धृत है—

'अनादाविह संसारे सञ्चिता कर्म कोटयः।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधियोगविभ्रमाः'॥

इस अनादि संसार में हमारी जीवन-यात्रा कब से शुरू हुई है, यह बतलाया नहीं जा सकता और यह भी नहीं बतलाया जा सकता कि वह यात्रा कहाँ जाकर समाप्त होगी। लेकिन हम इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लेते हैं। पर धर्ममेघ समाधि में वे सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं।

कर्म और धर्म ! हम जो कराते हैं—वह कर्म है और जो हम हैं—वह धर्म है। धर्म का अर्थ है हमारा स्वभाव और कर्म का अर्थ है—हम जो करते हैं। हमारा स्वभाव अपने से बाहर जाता है। इसके ठीक विपरीत कर्म के द्वारा हम अपने से बाहर जगत् में उतरते हैं। कर्म का अर्थ है हम अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे से जुड़ते हैं। स्वभाव का अर्थ है दूसरे से अलग जगत् में बिना उतरे, बिना गये जो मैं हूँ, हमारा जो भीतरी होना है—मेरे करने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं क्या करता हूँ—इससे वह निर्मित नहीं होता; वह मेरे सब करने के पहले उपस्थित था—वह मेरा जो स्वभाव है।

कर्म में गलती और भूल-चूक हो सकती है। लेकिन धर्म में नहीं। यहाँ धर्म का अर्थ मजहब नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ है मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव और गुण। हम जितने कर्म करते हैं उतना ही हमारा स्वभाव भी आच्छादित होता जाता है। और दबता जाता है हमारा होना भी। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि हम यह भूल जाते हैं कि कर्मों के अतिरिक्त भी हमारा कोई 'होना' है।

हम अपना जो परिचय देते हैं—वह अपने कर्मों का परिचय देते हैं। कभी अपने होने का परिचय नहीं देते। क्योंकि उसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। हम इतना ही जानते हैं कि हम क्या करते हैं और क्या कर सकते हैं? स्वभावतः प्रतिदिन प्रतिपल हमारे द्वारा कर्म एकत्र किये जा रहे हैं। बराबर कर्म हो रहा है। कोई भी व्यक्ति कर्म छोड़कर भाग नहीं सकता, क्योंकि भागना भी कर्म है। कुछ भी करें। जहाँ करना है वहाँ कर्म है। न जाने कितने कर्म किये जा रहे हैं और उन कर्मों की छाया स्मृति और उन कर्मों के

संस्कार बराबर हमारे आत्मपटल पर अंकित होते जा रहे हैं। हमारी आत्मा उन सब की संगृहीत संहिता है। हमारे पिछले कितने जन्मों के कर्म-संस्कार के बीज हमारी आत्मा में एकत्र हैं—यह नहीं बतलाया जा सकता। सैकड़ों जन्मों का हो सकता है और हजारों जन्मों का भी हो सकता है।

क्या कर रहे हैं आप? कल भी वही किया। आज भी वही किया। कल भी वही करियेगा। वही क्रोध, वही झगड़ा, वही लोभ, वही मोह, वही काम—सब-का-सब वही। इसीलिए तो जीवन में इतनी ऊब है। होगी ही ऊब। क्योंकि आपके जीवन में कुछ नया होता ही नहीं कि अपने जीवन के इतिहास के पृष्ठों को पलटें। अपने जीवन में झाँक कर देखें। क्या किया है आपने? अपने जीवन में नया कुछ भी नहीं किया है। एक ही बात को दुहराते हैं आप बार-बार। पुनरुक्त होता गया है आपका जीवन। पुनरुक्त दोष से भरे हैं आप और आप के सारे कर्म। इसी को भारतीय मनीषियों ने 'आवागमन' कहा है। पिछले जन्म में वही, इस जन्म में वही और अगले जन्म में भी वही। भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल में वही सब कुछ। कुछ भी नया नहीं। वही कामवासना, वही क्रोध-घृणा, वही प्रेम, वही मित्रता, वही शत्रुता, वही धन कमाना, शादी करना, बाल-बच्चे पैदा करना, वही नौकरी, वही मकान बनाना, वही दम्भ, अहंकार और फिर सब कुछ वही करके संसार से एक दिन चल देना। बच्चों को ताश का महल बनाते हुए देखा होगा आपने। बच्चे काफी मनोयोग से बनाते हैं उसे। लेकिन हवा का झोंका लगा कि वह गिरा। गिरने के बाद बच्चे फिर उसी लगन से और उसी मनोयोग से बनाने लग जाते हैं, ताश का महल। उसी प्रकार नया जन्म लेकर आप भी सब कुछ वही करने लग जाते हैं, जिन्हें आपने पिछले जन्म में किया था। इसी को कहते हैं—'संसार'। संसार का अर्थ है 'चक्र' यानि पहिया, जो एक ही धूरी पर बराबर घूमता रहता है।

० ० ०

आप सोचते हैं कि बुरे कर्म अच्छे कर्म से नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट हो जाते हैं पुण्य से। आपका यह सोचना भारी भ्रम है। भारी गलती है। बुरा कर्म और उसका फल अपने स्थान पर है और अच्छा कर्म और उसका फल अपने स्थान पर है। पाप और पुण्य भी अपने-अपने स्थान पर हैं। किसी से किसी का मतलब नहीं। बुरे कर्मों को अच्छे कर्मों से तथा पाप को पुण्य से कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता। बुरे कर्म बने रहेंगे, अच्छे कर्म और एकत्र हो जायेंगे। बस इतना ही होगा। पाप बना रहेगा। पुण्य अवश्य बढ़ जायेंगे।

कर्म से कर्म नहीं कटता। वह कटता है अकर्म से। कर्म से कर्म और भी

सघन हो जाता है। कटता नहीं। वह तो कटता है अकर्म से; और अकर्म उपलब्ध होता है समाधि में।

'यह कैसे सम्भव है' — मैंने प्रश्न किया।

'अकर्म' का मतलब है — जिसमें कर्ता का भाव अथवा कर्ता का बोध न हो। समाधि में कर्ता रह ही नहीं जाता। समाधि की स्थिति में हम चेतना की उस अवस्था में पहुँचते हैं, जहाँ केवल 'होना' ही है। 'करना' बिल्कुल ही नहीं है। जहाँ करने का भाव भी नहीं उठता। जहाँ केवल 'होने' का ही अस्तित्व है। जहाँ 'बीइंग' हैं 'डूइंग' नहीं। उस क्षण में हमें पता चलता है कि जो कर्म हमने किया था — उसे हमने किया ही नहीं था। कुछ कर्म थे जिसे शरीर ने किया था। कुछ कर्म थे जिसे मन ने किया था। शरीर जाने और जाने मन। हमने तो कोई कर्म ही नहीं किया था। ऐसा बोध होता है समाधि में। और इसी बोध के साथ ही समस्त कर्मों का जाल कट जाता है। समाधि में यही आत्मभाव जन्म लेता है। इसी आत्मभाव का बोध होता है। आत्मभाव का मतलब है — समस्त कर्मों का कट जाना। आत्मभाव के अभाव के ही कारण हमें यह भ्रम होता है कि हमने कर्म किया। कोई भी कर्म या तो शरीर करवाता है या फिर करवाता है मन। कुछ लोग शरीर की उस अवस्था में हो जाते हैं कि चोरी करनी ही पड़ती है। झूठ बोलना ही पड़ता है। खून करना ही पड़ता है। एक व्यक्ति भूखा है। भूख के निवारण के लिए शरीर चोरी करवा देता है। आत्मा कभी भी चोरी नहीं करती। भूख है तो पीड़ा है और पीड़ा है तो परेशानी है। जिसके वशीभूत होकर वह व्यक्ति चोरी करता है।

शरीर के द्वारा कर्म और मन के द्वारा कर्म

यह चोरी शरीर के द्वारा किया गया कर्म समझा जायेगा। दोनों प्रकार के कर्मों में क्या अन्तर है? इसे अभी तक बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक भी समझ नहीं पाये हैं। क्योंकि शरीर का चोर अपराधी नहीं है। मन का चोर अपराधी है। शरीर के चोर का मतलब है कि समाज अपराधी है। मन का चोर अलग चीज है। एक व्यक्ति है जिसके घर में तिजोरी भरी है। लेकिन रुपये की थैली यदि सड़क पर पड़ी मिल जाय तो उसे उठाकर वह जेब में रख लेगा। वह जो व्यक्ति है — मन का चोर है। शरीर का चोर नहीं है। शरीर उससे चोरी करने यानि थैली उठाने के लिए नहीं कह रहा है। उसका लोभ कह रहा है -- थैली उठा लो, चोरी कर लो। और लोभ पैदा किया है मन ने। लोभ मन में पैदा होता है शरीर में नहीं।

शरीर की प्रेरणा से किया गया कर्म शारीरिक कर्म और मन की प्रेरणा से किया गया कर्म मानसिक कर्म कहलाता है। घर में करोड़ों रुपये हैं और और यदि सड़क पर पड़े पैसे को उठाने की नियत है तो वह है वास्तविक चोर

और है वास्तविक अपराधी। पर समस्या यह है कि वह पकड़ में नहीं आता। पकड़ में आता है शरीर का अपराधी। घर में तिजोरी भरी है अतः शरीर के तल पर चोरी करने की आवश्यकता नहीं उत्पन्न हो सकती। मगर वह चोरी कर रहा है। क्योंकि चोरी करना उसकी आदत है। उसका लोभ है। चोरी में उसे रस मिलता है। चोरी में उसे मिलता है आनन्द। मनोविज्ञान इसी को कहता है—क्लेप्टोमेनिया।

किसी भी कर्म के लिए आत्मा की उपस्थिति अनिवार्य

उन दिनों मैं पुरातत्त्व विभाग से सम्बद्ध था। पुरातत्त्व विभाग के एक उच्च अधिकारी थे। मेरे मित्र भी थे। काफी पढ़े-लिखे सुशिक्षित व्यक्ति थे। अमेरिका से भी उपाधि लेकर लौटे थे। वेतन बहुत अधिक था। किसी बात का अभाव नहीं था। लेकिन इन सबके बावजूद भी वे महाशय रास्ते में पड़ी हुई चीजों को उठाकर अपनी जेब में रख लेते थे। क्लेप्टोमेनिया के शिकार थे महाशय। इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं था कि 'वह क्या है'? बस चोरी में उनका रस था। आनन्द था। जिसका शरीर से कुछ भी लेना-देना नहीं था। लेकिन कोई भी चोरी हो—शरीर के तल की चोरी हो या मन के तल की चोरी हो—आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसका। आत्मा कोई चोरी नहीं करती। और जिस दिन आप आत्मभाव को उपलब्ध होंगे, उसी दिन आप अचानक पायेंगे कि वह चोरी तो मैंने कभी की ही नहीं। कोई अच्छा-बुरा कर्म तो मुझसे हुआ ही नहीं जीवन में कभी। हाँ, उन कर्मों में उपस्थित अवश्य था मैं। यह सच है कि वे कर्म मेरे बिना नहीं हो सकते थे। और यह भी सच है कि वे कर्म मैंने नहीं किये थे। यहाँ दो बातों को ध्यान में रखना है। पहली यह कि आपके बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। दूसरी यह कि आपने कोई कर्म किया ही नहीं। आपको मालूम होना चाहिए कि विज्ञान एक शब्द का प्रयोग करता है और वह एक शब्द है—'कैटलेटिक एजेण्ट'। यदि आप पानी को तोड़ें तो उसमें आपको उद्जन और ऑक्सीजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। 'एच$_2$ ओ' उसका फार्मूला है। उद्जन के दो परमाणु और ऑक्सीजन का एक परमाणु मिलकर पानी बनता है। लेकिन आप उन दोनों के परमाणुओं को मिलाकर पानी बनाना चाहें तो नहीं बनेगा। स्वभावतः बनना चाहिए लेकिन बनेगा नहीं। इसलिए क्योंकि इसका एक कारण है। वह कारण है एक वस्तु जिसकी उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। उसकी उपस्थिति अनिवार्य है। तभी पानी बन सकेगा। मगर आश्चर्य की बात यह है कि वह आपको फिर पानी में नहीं मिलेगी। आप जानते हैं कि वह आवश्यक और अनिवार्य वस्तु क्या है? वह है—बिजली। बिजली की उपस्थिति में दोनों के परमाणुओं से पानी बनने की घटना घटती है। अगर बिजली न रहे तो कभी भी पानी नहीं

बनेगा। बिजली 'कैटेलेटिक एजेण्ट' है। आपने देखा होगा कि आकाश में जब बिजली चमकती है तभी पानी बरसता है। बादलों में बिजली की उपस्थिति अनिवार्य है। वह कुछ नहीं करती पर उसकी उपस्थिति से बादल पानी बन जाता है और वर्षा होने लग जाती है। आश्चर्य है कि आपको उस पानी में बिजली के कहीं भी दर्शन न होंगे। क्योंकि वह पानी में प्रवेश करती ही नहीं। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के बीच जैसे ही बिजली कौंधती है—पानी बन जाता है। फिर पानी को तोड़ा जाय तो बिजली नहीं मिलेगी। मिलेंगे वही हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणु। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि बिजली भीतर प्रवेश ही नहीं करती पानी के निर्माण में। लेकिन पानी का निर्माण हो ही नहीं सकता बिना बिजली की उपस्थिति के। इसी महत्त्वपूर्ण घटना को वैज्ञानिक कहते हैं—'कैटेलिक एजेण्ट' यानि वह वस्तु जिसकी उपस्थिति से घटना घटे। लेकिन उस घटना से उस वस्तु का कोई लगाव न हो। कोई सम्बन्ध न हो।

........तो आप चोरी नहीं कर सकते बिना आत्मा के। क्योंकि आत्मा कैटेलिक एजेण्ट है। हर प्रकार के कर्म में चाहे वह कर्म शरीर के तल का हो या हो मन के तल का—आत्मा की उपस्थिति अनिवार्य है। तभी कर्म होगा।

० ० ०

शरीर अकेला चोरी नहीं कर सकता। एक लाश की जेब में रुपया डाल दीजिये। क्या होगा? क्या इसे चोरी कहा जायेगा? नहीं, लाश का चोरी से क्या सम्बन्ध? वह तो लाश है। उससे कर्म हो ही नहीं सकता। अकेला मन भी चोरी नहीं कर सकता। वह कितना भी सोचे—उससे कोई कर्म नहीं हो सकेगा। अगर आत्मा न हो तो मन सोच भी न सकेगा। आत्मा की उपस्थिति अनिवार्य है। उसकी उपस्थिति में ही चोरी हो सकती है। कर्म अच्छा है या बुरा—आत्मा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह जहाँ उपस्थित हुई कि कर्म अपने-आप होने लग जाता है। अपने-आप घटना घटने लग जाती है। लेकिन जब आप आत्मभाव को उपलब्ध होंगे तब आपको पता चलेगा कि आत्मा की उपस्थिति में सारे कर्म घटित हुए जीवन में। पर उसका किसी कर्म में प्रवेश नहीं था। किसी कर्म से उसका कोई लगाव नहीं था। वह केवल उपस्थित थी। वास्तव में आत्मा की उपस्थिति इतनी शक्तिशाली होती है कि घटनाएँ अपने-आप घटने लग जाती हैं। कर्म अपने-आप होने लग जाते हैं। शरीर अपने-आप सक्रिय हो जाता है। मन भी अपने-आप सक्रिय हो उठता है। कर्मयात्रा शुरू हो जाती है।

समाधि में जब आप आत्मभाव को उपलब्ध होते हैं, उस दिन आप सारे कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। उनके सारे फलों से भी आप को छुटकारा मिल जाता है। हमारे कहने का यह आशय नहीं है कि कर्मों ने आपको बाँधा

था। कर्म नहीं बाँधता। कर्म ने आपको कभी बाँधा ही नहीं था। और आप अपनी आत्मा तक कभी पहुँचे ही नहीं थे कि समझ पाते कि मैं अनबँधा हूँ।

० ० ०

कुण्डलिनी योग पूर्णतया उपनिषदों पर आश्रित है। जो नीतिवादी हैं—वे कहेंगे कि बुरे कर्म को अच्छे कर्म से काटो। बुरा कर्म मत करो। अच्छे कर्म करो। उपनिषद् कहता है—कर्म करते हैं, यही बुरा है। अच्छा कर्म करते हो कि बुरा—यह तो गौण बात है। कर्म करने का आपको खयाल है। आप कर्ता हैं—बस यही बुराई है। आप कर्ता भाव से कर्म करते हैं, यही भारी भ्रान्ति है। आप केवल उपस्थित हैं और कर्म हो रहा है। आप केवल मात्र साक्षी हैं। आप कर्ता नहीं है। साक्षी हैं। जिस दिन कर्ता भाव समाप्त हो जायेगा और साक्षी का भाव जाग जायेगा उसी दिन आप पायेंगे कि जो कुछ भी अब तक हुआ वह सब मेरे आस-पास हुआ। मैं उनसे अछूता ही रह गया था। सारे कर्म आपको स्वप्नवत् लगेंगे।

समाधि में सारा जीवन स्वप्नवत्

रात में आप अपना देखते हैं। प्रातः जागने पर कहते हैं सपना देखा। मगर आप सपने में घटी घटनाओं से अछूते रह जाते हैं। सपने में हो सकता आपने चोरी की हो। पुलिस ने पकड़ा हो और आप जेल चले गये हों। सपने में सब कुछ हो सकता है। लेकिन प्रातःकाल होते ही सपना ऐसे तिरोहित हो जाता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। कोई घटना ही न घटी हो। प्रातः आप अपने-आप को चोर होने का, अपने पकड़े जाने का और अपने जेल जाने का अनुभव नहीं करते।

लेकिन कभी आपने सोचा है कि बिना आपके सपना हो सकता था? आप थे तभी सपना हो सका। सपने में वे तमाम घटनाएँ घट सकीं। आप न होते तो···। लाश को सपना नहीं आता। आप थे तभी स्वप्न घटित हुआ। आपकी उपस्थिति अनिवार्य थी। फिर भी प्रातः आप उठ कर ऐसा अनुभव नहीं करते कि अब क्या करें? रात को सपने में चोरी कर ली। चोरी करना पाप है। और उस पाप के प्रायश्चित्त के लिए व्रत रखें, उपवास करें, कोई दान करें, कोई त्याग करें।···क्या करें? कुछ भी अनुभव नहीं करते। जागने के दो मिनट बाद स्वप्न याद भी नहीं रहता, खो जाता है धुँए की लकीर की तरह।

० ० ०

रात सपने में आप सम्राट थे कि एक परम संन्यासी थे कि चोर-हत्यारे थे कि गृहस्थ थे—प्रातः उठकर चाय पीते समय इन चारों बातों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। चारों व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा नहीं कि सम्राट रहे

तो बड़ी अकड़ से चाय पी रहे हैं। ऐसा नहीं कि चोर-हत्यारे थे तो चाय में बिलकुल स्वाद नहीं आ रहा है। तिक्त तिक्त मालूम पड़ रही है। ऐसा नहीं कि संन्यासी थे तो चाय न पीयें। मगर पी रहे हैं आप चाय। कैसा जघन्य कृत्य····। नहीं प्रातः जब आप चाय पीते हैं तो सपने धुँए की लकीर की तरह विलीन हो जाते हैं।

स्वामी विद्यारण्य ने कहा — ठीक इसी प्रकार समाधि की अवस्था में प्रवेश करने पर सारा जीवन स्वप्नवत् लगता है। आपने अपने सैकड़ों-हजारों जीवन में जो-जो जिया और जो-जो किया — वह सब सपना-सपना-सा प्रतीत होता है। अन्त में वह भी धुँए की लकीर की तरह विलीन हो जाता है।

विषय को और स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने आगे कहा कि नींद से जागने की अवस्था और समाधि में प्रवेश की अवस्था एक दृष्टि से समान है। जैसे नींद से जागने पर स्वप्न असत्य हो जाता है, उसी प्रकार समाधि में प्रवेश करने पर सारा जीवन और सारा जगत् असत्य हो जाता है। इतना ही नहीं, आप अपने पिछले सैकड़ों-हजारों जन्मों में कैसा-कैसा जीवन व्यतीत किया है, क्या-क्या किया है और आप क्या-क्या रहे हैं — वह सब चलचित्र की भाँति आपके सामने एक के बाद एक करके आने लगता है। उस समय आप जो सोचते हैं, वह यही सोचते हैं कि कितना जीवन स्वप्न जैसा था। कितना समय नष्ट हो गया व्यर्थ। उस अवस्था में आपके पास पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नहीं होता। अन्त में वही पश्चात्ताप परम वैराग्य में परिवर्तित हो जाता है। जिसकी अग्नि में आपकी आत्मा तप्त होकर स्वच्छ और निर्मल हो उठती है। महामुनि पतञ्जलि ने जिस परम वैराग्य की चर्चा की है — वह यही परम वैराग्य है।

कैवल्य की उपलब्धि

भारतीय योगदर्शन के अध्ययन करने वाले लोग 'कैवल्य' शब्द से अवश्य परिचित होंगे। वास्तव में कैवल्य न कोई पद है और न तो है कोई विशेष यौगिक अवस्था। सच पूछा जाय तो वह एक बोध विशेष है। समाधि में पहुँचा हुआ योगी पहली बार जानता है कि मैं केवल हूँ! केवल मैं! अनन्त जन्मों के कर्म घटे हैं स्वप्न की तरह। उनकी जरा-सी भी चिन्ता नहीं करता वह और न तो करता है पश्चात्ताप ही। इतना ही नहीं, उनकी न आत्मप्रशंसा रह जाती है और न तो रह जाती है आत्मस्तुति कि मैंने अच्छे कर्म किये मैंने बड़े कर्म किये। नहीं, सब विलीन हो जाता है उस अवस्था में।

अब आप 'मैं केवल हूँ' वाक्य पर ध्यान दीजिये। इसमें इस वाक्य में 'केवल' शब्द अति सारगभित और अर्थपूर्ण है। जिस समय सारा जीवन और सारे कर्म स्वप्न के समान प्रतीत होते हैं, वे व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं और

धुँए की लकीर की भाँति विलीन हो जाते हैं। उस अवस्था में 'केवल मैं हूँ' या 'मैं केवल हूँ' का बोध शेष रह जाता है। यहाँ केवल का अर्थ है—भाव-शून्यता और विचारशून्यता। योगी का न कोई जीवन रह जाता है और न रह जाता है कोई कर्म। उसके पास न अपना कोई भाव रह जाता है और न तो रह जाता है अपना कोई विचार। यदि कुछ शेष रह जाता है तो 'केवल' मात्र वह रह जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं; बाद में आगे चलकर यही 'केवल' कैवल्य शब्द में परिवर्तित हो गया। कैवल्य यानि 'केवल'। जहाँ कर्म को कौन कहे, भाव और विचार भी शेष नहीं रह जाते। बस रह जाती है केवल आत्मा। इसी 'कैवल्य' में सर्वप्रथम अपने-आप का और अपनी अवस्था का बोध होता है। इसीलिये इसे बोध-विशेष अवस्था कहते हैं।

० ० ०

वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'समाधि' योगमार्ग का अन्तिम महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। जिस पड़ाव पर पहुँचकर जिनको हमने बड़े-बड़े कर्म, छोटे कर्म, अच्छे कर्म, बुरे कर्म कितने-कितने बाँटे थे, विभाजित किये थे—नीति और अनीति—सदाचार और अनाचार—सब-के-सब बेमानी हो जाते हैं। व्यर्थ हो जाते हैं। लगता है एक सपना था—एक बड़ा लम्बा सपना था, अनन्तकालीन, अनादि···लेकिन स्वप्न था और 'केवल' मैं उपस्थित था। मैं प्रविष्ट नहीं हुआ था। बाहर ही खड़ा था।

इस प्रकार जब सारे कर्म कट जाते है तो 'धर्म' का उदय होता है और तब हमें पता चलता है—जो हम हैं, जो हमारा होना है, जो हमारा स्वभाव है।

तात्पर्य यह कि आपका 'होना' अथवा आपका स्वभाव ही आपका धर्म है। जिसका ज्ञान और जिसका बोध आपको तब होता है, जब सारे कर्म कट जाते हैं। 'स्वभाव' ही धर्म है।

इसीलिए उत्तम योगीगण इस समाधि को 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं। क्योंकि वह मेघ की तरह धर्मरूप हजार धाराओं की वर्षा करती है योगी पर।

० ० ०

धर्म से आपका तात्पर्य 'स्वभाव' और 'अपने होने' से है—यह तो समझ गया मैं। लेकिन उसके साथ 'मेघ' शब्द का प्रयोग किस उद्देश्य से किया गया है—मेरे इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी बोले—यहाँ 'मेघ' शब्द प्रतीक है, घटना इससे भी बड़ी है। जैसे वर्षा काल में मेघ पानी बरसाता है और उस पानी से सूखी प्यासी धरती तृप्त होती है—उसी प्रकार 'धर्ममेघ समाधि' को उपलब्ध होने वाले योगी के धर्म की यानि स्वभाव की वर्षा स्वयं उसी पर होने लग जाती है। और न जाने कितने जन्मों की प्यासी उसकी आत्मा तृप्त हो उठती है।

धर्म यानि स्वभाव और मेघ यानि वर्षा। यहाँ मेध का तात्पर्य वर्षा से हैं। इसीलिए सभी समाधियों में 'धर्ममेघ समाधि' को उत्तम और श्रेष्ठ बतलाया गया है।

धर्ममेघ समाधि की उपलब्धियाँ

स्वभाव और पर भाव—ये दो भाव हैं। स्वभाव का मतलब अपने होने से है। 'स्व' माने अपना और 'भाव' माने होना। इसी प्रकार 'परभाव' का मतलब है—दूसरे का होना। 'पर' माने दूसरा और 'भाव' माने होना।

आपने कभी इस पर विचार किया है कि संसार में आपका अस्तित्व कितना नगण्य है? क्या है आपका इस संसार में? इस पर भी कभी सोचा है आपने। यहाँ तक की आप का शरीर, जिसे आप अपना समझते हैं—वह भी आपका नहीं है। वह तो आपके माता-पिता द्वारा दिया गया दान है। उनकी कृपा है। उनका अनुग्रह है। जिसके फलस्वरूप आपकी आत्मा को शरीर मिला है भोगने के लिए संसार में।

शरीर की बात जाने दें। आपने अपने जीवन में अब तक जो कुछ भी जाना—वह सब परभाव था। जीवन में आपको कहीं सौन्दर्य दिखायी दिया तो किसी और में। कभी आपको प्रेम मिला तो किसी और से। सुख मिला तो किसी और से। दुःख मिला तो किसी और से। ज्ञान मिला तो किसी और से। विचार मिला तो वह भी किसी और से। सब जानकारी और सारी उपलब्धि किसी और की थी। अपना कोई अनुभव नहीं था। कोई और—कोई और—कोई और—हमेशा ही वह दूसरा ही महत्त्वपूर्ण था।

यह सब एक जीवन की बात नहीं है। आपने जब-जब जन्म लिया—तब तब की बात है। विचार करिये—आपने कितनी बार जन्म लिया होगा और कितना जीवन जीया होगा। मगर हर बार, हर जन्म में और हर जीवन में 'वह दूसरा' यानि 'परभाव' महत्त्वपूर्ण था आपके लिए। लेकिन जब आप 'धर्ममेघ समाधि' में प्रवेश करेंगे, उसको उपलब्ध होंगे—तब पहली बार 'वह दूसरा' यानि 'परभाव' हमेशा-हमेशा के लिए हट जायेगा। समाप्त हो जायेगा। उस स्थिति में रह जायेगा केवल 'स्वभाव' यानि धर्म। रह जायेगा मात्र केवल आपका अपना अस्तित्व। ओर उस अस्तित्व में न कोई भाव रहेगा, न विचार रहेगा और न तो रहेगा किसी भी प्रकार की विषयवस्तु का बोध। आप निर्भाव हो जायेंगे। निर्बोध हो जायेंगे। आपकी कोई सम्पत्ति न रह जायेगी आपके पास—न कर्म-सम्पत्ति, न कर्मफल-सम्पत्ति, न विचार-सम्पत्ति और न तो भाव-सम्पत्ति। आप परमशून्य हो जायेंगे। जागतिक शब्दों में यदि कहा जाय तो उस अवस्था में आप जैसा दीन-हीन और दरिद्र कोई दूसरा न होगा। वास्तव में जन्म-जन्म के सारे कर्म, सारे कर्मों की धूल, अनन्त-अनन्त यात्राओं का उपद्रव, सारा कचरा एकत्र हुआ रहता है—वह

सब एकबारगी एक साथ बह जाता है उस समय। रह जाती है केवल आपकी सहजता। रह जाते हैं आप 'स्वयं'। इसके अलावा आपके पास कुछ भी नहीं बचता।

एक प्रकार से हम आपको कह सकते हैं 'परम धन्य'। इसलिए कि आपने योगसाधना की चरम अवस्था प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से हम कह सकते है आपको परम सम्पदावान्। इसलिए कि आप विपुल आध्यात्मिक सम्पदा के स्वामी हो गये हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं आपको परम दरिद्र। इसलिए कि सांसारिक दृष्टि से आप परम दरिद्र हो गये होते हैं।

वास्तव में आत्मा का परम धन है 'स्व' का ज्ञान। इसी 'स्व' ज्ञान को योगीगण आत्म ज्ञान और परम ज्ञान कहते हैं। यही परम ज्ञान समाधि की अवस्था में उपलब्ध आप की परम सम्पदा है। जिसके एकमात्र स्वामी आप ही होते हैं। जीसस ने इसी धर्ममेघ समाधि के लिए कहा है––'पावर ऑफ स्पिरिट'। जब कोई इस स्थान पर पहुँचता है तो सब प्रकार से द्ररिद्र हो जाता है। उसके पास अब कुछ भी नहीं बचता सिवाय अपने के। 'स्वयं' के सिवाय और कुछ न बचा––इसको ही कहेंगे दरिद्रता। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध ने धर्ममेघ समाधि को उपलब्ध अपने संन्यासियों को 'स्वामी' नहीं कहा 'भिक्षु' कहा। बड़ा रहस्य है इसमें। 'स्वामी' और 'भिक्षु'––दोनों शब्द वास्तव में एक ही अर्थ रखते हैं। अगर सांसारिक दृष्टि से देखा जाय तो आप हो गये होते हैं भिखारी, भिक्षु। अगर आत्मा की, परमात्मा की और अध्यात्म की दृष्टि से देखा जाय तो आप हो गये होते हैं स्वामी।

हिन्दू लोग दूसरी दृष्टि से देखते हैं। इसलिए संन्यासियों को 'स्वामी' शब्द से सम्बोधित करते हैं। बौद्ध लोग पहली दृष्टि से देखते है। इसलिए वे अपने संन्यासियों को भिक्षु शब्द से सम्बोधित करते हैं। बात दोनों एक ही है। एक ही अर्थ रखती है।

'क्या आप इस प्रसंग को और थोड़ा स्पष्ट करेंगे'।

स्वामी जी हँसकर बोले—इसमें स्पष्ट क्या करना है। धर्ममेघ समाधि में प्रवेश करने के पूर्व उसकी सर्वोत्तम अवस्था प्राप्त करने के पूर्व आप आध्यात्मिक दृष्टि से भिखारी ही थे ना। शरीर के लिए और मन से लिए तो सब कुछ था आपके पास। मगर आत्मा के लिए क्या था? कुछ भी तो नहीं था। जन्म-जन्मातर से हाथ जोड़े, हाथ फैलाये आत्मा का भिक्षा पात्र लिये घूम रहे थे आप संसार में। उस भिक्षापात्र में कभी कोई ज्ञान का, आध्यात्म का, साधना का और अनुभवों का सड़ा-गला-बासी और जूठा टुकड़ा डाल देता था। फेंक देता था। और उन्हीं उधार के टुकड़ों को अपनी सम्पदा समझ लिया करते थे––हर बार, हर जन्म में और हर जीवन में। लेकिन हर बार, हर जन्म में और हर जीवन में आपकी आत्मा प्यासी-की-प्यासी ही रह जाया करती थी।

आत्मा का भिक्षा पात्र खाली-का-खाली ही रह जाया करता था। इसे क्या कहा जायेगा ? इस अवस्था में आपको भिखारी ही तो कहा जायेगा न । जरा सोचिये । लेकिन जब आप धर्ममेघ समाधि को उपलब्ध होते हैं तो 'स्वभाव' से वे ही वस्तुएँ आपके भीतर स्वयं प्राप्त हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप आपकी आत्मा का भिक्षा पात्र, जो अभी तक रिक्त था, परिपूर्ण हो जाता है और आप एक महान् आध्यात्मिक सम्पदा के अधिकारी यानि स्वामी हो जाते हैं। इसीलिए भारतीय अध्यात्म ने संन्यासियों के लिए 'स्वामी' शब्द का प्रयोग किया और ठीक इसके विपरीत बौद्ध संस्कृति ने संन्यासियों के लिए प्रयोग किया भिक्षु शब्द का । यह उचित भी था । क्योंकि अब तक जो भी था, सारा संसार, सारा वैभव, सारी सम्पदा, सारी धन-सम्पत्ति छूट जाती है एकबारगी उस परम अवस्था में। पराया कुछ भी नहीं बचता । बचता है तो केवल अपना 'स्व' ।

सारांश यह कि संसार की तरफ से आप हो जाते हैं--भिक्षु । और परमात्मा की तरफ से हो जाते हैं—स्वामी । धर्ममेघ समाधि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आपको एक ओर भिखारी बना देती है तो दूसरी ओर बना देती है आपको सम्राट् ।

कुण्डलिनीयोग कहता है कि इस समाधि द्वारा हजारों जन्मों की वासनाओं का समूह नष्ट हो जाता है। पाप-पुण्य नाम के कर्मों का समूह भी जड़-मूल से उखड़ जाता है । यहाँ इस बात को चखें--पाप-पुण्य दोनों । कुण्डलिनी योग की गहरी चिन्तना है इस सम्बन्ध में । पुण्य और पाप दोनों का समूह । आपने जो अच्छा किया था वह भी और जो बुरा किया था वह भी—दोनों का समूह जड़ से नष्ट हो जाता है । समझ गये न आप ।

संसार की भाषा में पाप-पुण्य, ऊँच-नीच है। पाप बुरा कर्म है और पुण्य है अच्छा कर्म । समाज की दृष्टि में यह बिलकुल ठीक है । लेकिन कुण्डलिनी योग की दृष्टि में पाप-पुण्य दोनों ही व्यर्थ हैं । क्योंकि उसकी दृष्टि में कर्ता होना ही सबसे भारी पाप है और अकर्ता होना भारी पुण्य है । जो अकर्ता है—जो निरहंकारी है--जो निर्धन है--वही उस 'तत्त्वमसि' को उपलब्ध होकर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। जिसे योगियों ने दुर्लभ बतलाया है ।

प्रकरण : उन्नीस

कुण्डलिनीशक्ति और स्त्रैणगरिमा

अपने शोध और अन्वेषण काल में जिन कुण्डलिनी साधकों से मैं मिला— उनमें से एक थे स्वामी उमानन्द गिरि। गिरि महाशय कुण्डलिनीयोग-मार्ग के अनुभवी यात्री थे। वैसे वे जोरहट (आसाम) के रहने वाले थे। वहाँ उनका आश्रम था। लेकिन कुछ समय के लिए काशीवास के उद्देश्य से आये हुए थे उन दिनों।

लम्बी-चौड़ी काठी का स्वस्थ शरीर। गौर वर्ण। साधना की दिव्य आभा से दप्-दप् करता मुखमण्डल। शरीर पर श्वेत शुभ्र रेशमी वस्त्र। गले में रुद्राक्ष की माला। मस्तक पर श्वेत चन्दन का प्रलेप। हाथ में कमण्डल और पैरों में खड़ाऊँ।

प्रथम दर्शन में ही प्रभावित हो गया था मैं स्वामी उमानन्द गिरि से। फिर तो नित्य ही साधना विषयों पर चर्चा होने लगी उनसे मेरी। एक बार प्रसंगवश गिरि महाशय ने बतलाया कि 'कुण्डलिनी' केवल पुरुष में होती है। स्त्री में वह कीर्ति, धृति और क्षमा—इन तीनों में प्रकट होती है। इन तीनों रूपों में 'कीर्ति' सर्वश्रेष्ठ रूप है कुण्डलिनीशक्ति का। गीता का अध्ययन तो तुमने किया होगा— गिरि महाशय आगे बोले—भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ'। इन प्रतीकों में श्रीकृष्ण ने स्त्रियों का प्रतीक सर्वप्रथम उल्लिखित किया है। यदि स्त्रियों में भी परमात्मा का दर्शन करना हो तो उसका कहाँ दर्शन होगा ? उसकी झलक कहाँ मिलेगी उनमें ? कीर्ति में। और कीर्ति से स्त्री का क्या सम्बन्ध है ? और कीर्ति क्या है ? स्त्री को जब भी हम देखते हैं— विशेषकर आज के युग में तो स्त्री दिखाई नहीं पड़ती— केवल वासना दिखाई पड़ती है। स्त्री को हम सब देखते ही हैं विषयवासना की दृष्टि से। स्त्री को हम सब देखते ही हैं ऐसे, जैसे बस वह भोग्य है। जैसे उसका अपना कोई अर्थ और अपना कोई अस्तित्व नहीं है। और स्त्री को भी बराबर एक ही विचार बना रहता है— वह है भोग्य होने का। उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, उसकी बातचीत और उसके वस्त्राभूषण— सब जैसे पुरुष की वासना को उद्दीप्त करने के लिए ही होते हैं लगभग। भले ही स्त्री को इस बात की सचेतना भी न हो कि वह जिन वस्त्रों को पहनकर रास्ते में चल रही है— वह पुरुष के धक्के खाने का आमन्त्रण भी है। सम्भव है धक्का खाकर वह नाराज भी हो। शायद रोष भी व्यक्त करे। लेकिन उसे इस बात

का खयाल भी नहीं होता कि उस धक्के में उसका भी अपना उतना ही हाथ है, जितना कि मारने वाले का है। उसके वस्त्र, उसका ढंग, उसके शरीर को सजाने और श्रृंगार की व्यवस्था—अपने लिए नहीं मालूम पड़ती, किसी और के लिए मालूम पड़ती है। इसलिए यदि उसी स्त्री को घर-परिवार में देखें, पति के सामने देखें तो उसे देखकर विराग होगा और उसी स्त्री को बाजार में देखें, भीड़ में देखें तो उसे देखकर राग पैदा होगा। साधारणतः पति इसलिए विरक्त हो जाते हैं कि स्त्रियाँ उन्हें जिस रूप में दिखलायी पड़ती हैं—कम-से-कम उनकी स्त्रियाँ··· । पड़ोसियों की स्त्रियों में आकर्षण बना रहता है। लेकिन उनकी स्त्रियाँ जिस रूप में दिखलायी पड़ती हैं···· । क्योंकि स्त्री भी धीरे-धीरे 'टेकन फार ग्राण्टेड' जैसी हो जाती हैं कि ठीक है। लेकिन जब स्त्री भीड़ में निकलती है तो उसकी सारी-की-सारी दृष्टि अपने-आप को एक कामवासना का विषय मानकर चलती है। और दूसरे पुरुष भी उसको यही मानकर चलते हैं।

'कीर्ति' का अर्थ है—ऐसी स्त्री जो अपने-आप को वासना का विषय मानकर नहीं जीती। जिसके व्यक्तित्व से वासना की गन्ध नहीं निकलती। वासना की झंकार नहीं निकलती। ऐसी स्त्री को एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य उपलब्ध होता है और वही सौन्दर्य उसकी कीर्ति है। उसका यश है। आज के युग में इस प्रकार की स्त्रियों के दर्शन दुर्लभ हैं।

'कीर्ति' एक आन्तरिक गुण है। एक आन्तरिक सौन्दर्य है। जिसे देखकर वासना शान्त हो जाती है। भड़कती नहीं आग की तरह। यहाँ एक कठिन समस्या है और वह यह कि अगर स्त्री वासना को प्रज्वलित कर सकती है तो उसे शान्त क्यों नहीं कर सकती? कर सकती है। वह वासना को उत्तेजित करती है तो अपने ढंग से उसे शान्त भी करने में समर्थ है वह। वह शान्त करने वाला ऐसा सौन्दर्य है कि दूसरा व्यक्ति जो कामातुर और वासनातुर होकर भी आ रहा हो तो स्त्री की आँखों से—उस सौन्दर्य का जो दर्शन है उसके व्यक्तित्व से—उसकी जो छाया और झलक है—वह उसकी वासना की अग्नि पर पानी डाल दे। कामाग्नि को बुझा दे। उसका नाम कीर्ति है।

'कीर्ति' स्त्री के भीतर उस गुणवत्ता का नाम है जहाँ वासना पर पानी गिर जाता है। कीर्ति का अर्थ है कि जिस स्त्री के निकट जाने पर वासना अपने-आप तिरोहित हो जाय। काम की भावना ही न उत्पन्न हो। इसीलिए भारतीय संस्कृति ने 'माँ' को इतना मूल्य और महत्त्व दिया। कीर्ति के कारण ही मातृत्व की गरिमा है। प्राचीन काल में ऋषिगण नववधुओं को आशीर्वाद देते समय कहते थे—जब तक तेरा पति-पुत्र न हो जाय तब तक तू जानना कि तूने स्त्री की परम गरिमा उपलब्ध नहीं की।

० ० ०

निश्चय ही अति दुर्लभ गुण है कीर्ति। उसे खोजना अति कठिन कार्य है। योगियों का कहना है कि वह अति गहरी साधना से ही उपलब्ध होती है।

आपको मालूम होना चाहिए कि जब किसी पुरुष में वासना तिरोहित होती है तो ब्रह्मचर्य फलित होता है। और जब किसी स्त्री में वासना तिरोहित होती है तो कीर्ति फलित होती है। जैसे पुरुष में ब्रह्मचर्य का फूल खिलता है, उसी प्रकार स्त्री में कीर्ति का फूल खिलता है। मगर दोनों में अन्तर है। और उस अन्तर का कारण है।

जब पुरुष ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है तब उसकी सारी बिन्दु-ऊर्जा आत्मसात् होने लगती है। लेकिन जो स्त्री की बिन्दु-ऊर्जा है—वह अनिवार्य रूप से उसके मासिकधर्म के रूप में बाहर निकल जाती है। क्योंकि वह यंत्रवत् है। इसलिए स्त्री की बिन्दु-ऊर्जा उस प्रकार से अन्तस् में तिरोहित नहीं हो सकती, जिस प्रकार पुरुष की बिन्दु-ऊर्जा तिरोहित हो सकती है। पुरुष की बिन्दु ऊर्जा जब अन्तस् में तिरोहित हो जाती है तो तेज का आविर्भाव होता है। और वही तेज ब्रह्मचर्य है। स्त्री के शरीर की आन्तरिक व्यवस्था भिन्न है। मासिकधर्म उसकी स्वेच्छा का अंग नहीं है।

'इसे थोड़ा विस्तार से समझाइए'—मैंने कहा।

गिरि महाशय बोले—पुरुष की कामशक्ति उसकी स्वेच्छा पर निर्भर है, जबकि स्त्री की कामशक्ति उसकी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। वह स्वेच्छा से उसमें कुछ भी नहीं कर सकती। क्योंकि वह उसके शरीर का महत्त्वपूर्ण भाग है। इसलिए स्त्री को जब ब्रह्मचर्य में प्रवेश करना होगा तो उसकी ब्रह्मचर्य-साधना पुरुष की ब्रह्मचर्य-साधना से भिन्न होगी। पुरुष की ब्रह्मचर्य-साधना में बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण होता है। क्योंकि वह धनात्मक है। आक्रामक है। लेकिन फिर भी स्वेच्छा पर निर्भर है। लेकिन स्त्री की कामशक्ति का ऊर्ध्वीकरण नहीं होता है। क्योंकि यह उसकी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। इसीलिए महावीर ने कहा था कि स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं। उन्हें मोक्ष उपलब्ध न हो सकेगा। क्योंकि वे ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर देते थे। उनका कहना था कि स्त्री को मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक बार पुरुष रूप में जन्म लेना होगा। तभी वह मुक्त हो सकेगी। स्त्री के लिए स्त्री-शरीर से मुक्ति कदापि सम्भव नहीं।

लेकिन कीर्ति की साधना भिन्न है। वह ठीक ब्रह्मचर्य के समान है। अगर कोई स्त्री कीर्ति को उपलब्ध हो जाय तो पुरुष-शरीर की उसे फिर आवश्यकता नहीं। स्त्री-शरीर से ही मोक्ष प्राप्त कर लेगी वह। लेकिन कीर्ति की प्रक्रिया भिन्न होगी। बिलकुल अलग होगी।

कीर्ति की प्रक्रिया का अर्थ है कि स्त्री के मन में तीव्रता से मातृत्व का भाव गहन हो जाय। उसकी साधना 'माँ' की साधना होगी। वह सम्पूर्ण जगत्

की माँ हो जाय। उसके हृदय में, उसके मन में एकमात्र 'माँ' होने का भाव ही तरंगित होता रहे। स्त्री होने का भाव हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। पत्नी होने की भावना भी हमेशा के लिए नष्ट हो जाय। केवल 'माँ' होने का भाव गहन होता चला जाय। जिस दिन स्त्री के हृदय के भीतर माँ होने की भावना और माँ होने की धारणा इतनी गहन हो जाय कि अगर कोई कामातुर पुरुष भी उसके पास आकर उसको आलिंगनबद्ध कर ले तो भी उसे अपने पुत्र का ही स्मरण हो। वह उसके सिर पर उसी प्रकार हाथ फेरे जैसे उसका पुत्र ही आ गया हो उसकी गोद में। उसके भीतर न कोई भय उत्पन्न हो, न चिन्ता उत्पन्न हो और न कोई घबराहट ही हो। वह उसको पुत्र की तरह हृदय से लगा ले।

वास्तव में यदि कोई भी स्त्री किसी पुरुष को पुत्र की तरह हृदय से लगा ले तो पुरुष की वासना तत्काल क्षीण हो जायेगी, क्योंकि स्त्री का जो आमन्त्रण रूप है, वह अगर न हो तो पुरुष तत्काल अपने-आप में शान्त हो जायेगा। इस गुण का नाम है कीर्ति। जब यह गुण स्त्री में विकसित होता है तो उसमें एक विशेष प्रकार का तेज आ जाता है। एक विलक्षण सौन्दर्य का आविर्भाव हो जाता है। जिसका सम्बन्ध शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से होता है।

कुरूप-से-कुरूप स्त्री में भी अगर कीर्ति फलित हो जाय तो उसकी सारी शारीरिक कुरूपता के भीतर से सौन्दर्य की आभा फूटने लगेगी। उसके भीतर का सौन्दर्य इतना प्रभावी हो जायेगा कि लोग उसकी कुरूपता को देख ही न पायेंगे। और सुन्दरतम स्त्री को भी यदि कीर्ति उपलब्ध न हो तो उसका सारा सौन्दर्य चमड़ी का ही सौन्दर्य रह जायेगा। जिसके नष्ट हो जाने पर कभी किसी समय भी भीतर की सारी कुरूपता प्रकट हो सकती है। सारी गन्दगी बाहर झाँक सकती है।

गिरि महाशय बोले--पश्चिम के देशों की ओर देखो। वहाँ स्त्री-पुरुष के सारे सम्बध टूट गये हैं। दो-तीन दिन से अधिक टिकते नहीं उनके सम्बन्ध। मास-दो-मास टिक जायें तो काफी लम्बे हैं। साल-दो-साल टिक जायें तो इसे महान घटना मानना चाहिए। उसका कारण केवल इतना ही है कि वहाँ स्त्री का सौन्दर्य चमड़ी का सौन्दर्य है। छिछला सौन्दर्य है। जिसके भीतर वासना की सारी दुर्गन्ध भरी होती है। हम यह मानते हैं कि पश्चिमी देशों में सुन्दर स्त्रियों का अभाव नहीं है। लेकिन उनका सौन्दर्य छिछला है। चमड़ी का है। जितनी चमड़ी की गहरायी उतनी उनके सौन्दर्य की गहरायी। और जैसे ही कोई व्यक्ति समीप आता है, कुछ ही दिनों बाद चमड़ी के सौन्दर्य के पार जो कुरूपता छिपी हुई होती है, वह दिखलायी देनी शुरू हो जाती है। वही सारे सम्बन्धों को और सारी प्रतिज्ञाओं को तोड़ जाती है।

० ० ०

कीर्ति के 'श्री' है। 'श्री' भी स्त्रैण गुण है। कीर्ति एक गहन साधना है। जब कीर्ति केवल मातृत्व नहीं रह जाती। बल्कि जब वह बोध भी समाप्त हो जाता है कि मैं 'स्त्री' हूँ। क्योंकि 'माँ' का बोध भी तो स्त्री का ही बोध है···। कितनी ही ऊँची और कितनी ही महान् माँ क्यों न हो—है तो वह 'स्त्री' ही। 'माँ' होने के बावजूद भी वह स्त्री तो बनी ही रहती है। लेकिन कभी कीर्ति के आगे ऐसी घटना घटती है जब स्त्री को अपने स्त्री होने का बोध भी समाप्त हो जाता है, तब उसमें 'श्री' का फूल खिलता है। तब उसमें 'श्री' का सौन्दर्य प्रकट होला है। 'श्री' की सुगन्ध प्रस्फुटित होती है। वह सौन्दर्य और वह सुगन्ध अपार्थिव होती है। और वह अपार्थिव सौन्दर्य और वह अपार्थिव सुगन्ध कभी मीरा में प्रकट होती हैं तो कभी मरियम में। लेकिन यह जान लेना चाहिए कि 'श्री' का वह फूल बड़ी मुश्किल से, बड़ी कठिनाई से खिलता है। लेकिन जब खिलता है तो स्त्री स्त्री नहीं होती। पुरुष के प्रति स्त्री होने की भावना भी समाप्त हो जाती है। हमार देश को महान् होने के जितने गौरव प्राप्त हैं उनमें एक गौरव यह भी है कि उसमें इस 'श्री' को उपलब्ध करने की क्षमता है। और एकमात्र यही कारण है कि हमारे देश ने ईश्वर की, परमेश्वर की और परमात्मा की धारणा स्त्री रूप में की और माँ के रूप में की। सरस्वती, लक्ष्मी, काली, दुर्गा आदि देवियाँ उसी धारणा का परिणाम हैं। तंत्र में परमेश्वर की शक्ति परमेश्वरी स्वयं कहती हैं कि—'स्त्रियः समस्ता सकला जुगुप्सु···। मातृरूपेण संस्थिता··· ।'

सच बात तो यह है कि हमारे देश में आन्तरिक और आत्मिक रूप से परमात्मा की जो धारणा है, वह स्त्री रूप में है। इसलिए कि वह 'श्री' को उपलब्ध है। और यही कारण है कि हम अपने देश की भूमि को मातृभूमि कहते हैं। 'मदर लैण्ड' कहते हैं। विश्व में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जो मदर लैण्ड है। शेष समी देश फादर लैण्ड हैं। इसका भी कारण है।

'क्या कारण है' ?

पश्चिम में पुरुष के गुणों ने काफी गहनता से विकास किया, जब कि हमारे देश ने स्त्री के गुणों का बड़ी गहनता से विकास किया। दोनों के गुणों का विकास अपनी-अपनी चरम सीमा पर हुआ। आपको मालूम होना चाहिए कि पुरुष के गुणों के चरम विकास का परिणाम युद्ध है और स्त्री के गुणों के चरम विकास का परिणाम है शान्ति। क्योंकि पुरुष के सारे गुण 'योद्धा' होने के गुण है। और स्त्री के सारे गुण शान्त, सौम्य, क्षमा, दया और स्नेह के होने के गुण हैं। समझे ! पुरुष का जो परम ऐश्वर्य है—वह योद्धा होने में प्रकट होता है। स्त्री का जो परम ऐश्वर्य है, वह प्रकट होता है—शान्ति में, क्षमा में, दया में, सौम्यता में, कृपा में और परम स्नेह में।

अब पश्चिम के मनोवैज्ञानिक कहने लगे हैं कि हमें पुरुषों के गुणों के

साथ-साथ स्त्रियों के गुणों को विकसित करना चाहिए, नहीं तो सन्तुलन टूट जायेगा। हमारे देश ने स्त्री के गुणों को काफी गहरायी से परखा और विकसित किया है। गिरि महाशय बोले — मैं मानता हूँ कि अगर दोनों में चुनाव करना हो तो स्त्रियों के गुणों को ही विकसित करना चाहिए। क्योंकि सभी पुरुषों को स्त्री से ही उत्पन्न होना पड़ता है। और अगर स्त्री अविकसित हो तो पुरुष कभी भी विकसित नहीं हो सकता। सभी पुरुषों को स्त्री के निकट रहकर ही बड़ा होना पड़ता है। पुरुष का सारा जीवन स्त्री के आस-पास ही व्यतीत होता है। चाहे वह माँ हो। चाहे वह पत्नी हो। चाहे वह बहन हो। चाहे वह बेटी हो। स्त्री के आस-पास ही घूमता है। पुरुष परिधि है। स्त्री केन्द्र है। वह स्त्री के चारों तरफ वर्तुलाकार घूमता है।

जिस समाज में स्त्री के गुण विकसित नहीं होते, वह समाज हीन हो जाता है। 'श्री' स्त्री का चरमोत्कर्ष है। वह उसकी आत्मा है। जब उसमें स्त्रैणता का भान भी नहीं रह जाता है तब वह दिव्य हो जाती है।

० ० ०

कीर्ति और श्री के बाद 'वाक्' है। कुण्डलिनीशक्ति वाग्रूपिणी भी है। कृष्ण ने भी कहा है कि 'स्त्री में वह मैं हूँ'। स्त्रियों को आप सब बातचीत करते देखते ही हैं। शायद बातचीत ही उनका व्यापार है। लेकिन 'वाक्' का सम्बन्ध उस बात में नहीं है। वह स्त्री के गुण की विकृति है, जो दिखलायी पड़ती है। स्त्रियाँ मौन बैठी रहें तो समझें कि भारी चमत्कार है।

'वाक्' बातचीत नहीं है। वाक् तब प्रकट होता है जब स्त्री अपने अस्तित्व में परम मौन को उपलब्ध होती है। जब वह बिलकुल मौन हो जाती है तब उसकी जो वाणी है, वह मूल्यवान् हो जाती है। तब उसकी वाणी ऋचाएँ बन जाती हैं। लेकिन जो स्त्री मौन नहीं हो सकती, वह कभी भी वाक् को उपलब्ध नहीं हो सकती। इसलिए स्त्री का एक गुण मौन होना भी है। उसका इतना मौन होना है कि पता ही न चले कि उसके पास वाणी है। स्त्री में सब कुछ अच्छा लगता है। लेकिन उसकी बातचीत उबाने वाली होती है। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री भी अगर बराबर बातें करती चली जायें तो बहुत घबराने वाली हो जाती हैं।

मौन की अपनी एक गरिमा है। वास्तव में शब्द भी एक अनाक्रमण ही ही है। हमारे देश में एक बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। जिनका नाम है वाचस्पति मिश्र। वाचस्पति मिश्र विवाह करके आये। पर वे धुनी आदमी थे। अपनी धुन में वे पूरे बारह साल तक अपनी पत्नी को भूले रहे। पत्नी भी घर में है — इसका उन्हें ख्याल ही नहीं रहा। वाचस्पति मिश्र लिख रहे थे, ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका। वे सारा दिन और सारी रात टीका लिखने में ही डूबे रहते थे। पूरे बारह वर्ष तक उन्हें ख्याल ही नहीं रहा कि उनका विवाह भी हुआ है।

पत्नी घर में आ गयी है। उन्होंने एक निर्णय लिया था कि जिस दिन टीका पूरी हो जायेगी, उसी दिन संन्यास ले लेंगे।

बारह वर्ष बाद आधी रात के समय टीका पूरी हो गयी। अचानक वाचस्पति मिश्र की आँखें टीका छोड़कर इधर-उधर गयीं। देखा कि एक सुन्दर-सा गोरा हाथ, जिसकी कलाई में सोने की चूड़ियाँ चमक रहीं थीं, पीछे से आकर दीपक की ज्योति को मन्द कर रहा है। वाचस्पति मिश्र ने पीछे सिर घुमा कर देखा। आश्चर्य हुआ उनको। इस आधी रात में एक सुन्दर तरुणी उनके पीछे। पूछा — 'तू कौन है' ? स्त्री ने कहा कि धन्य है मेरे भाग्य कि आपने पूछा। बारह वर्ष पूर्व आप मुझे विवाह करके ले आये थे। तब से मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ कि कभी आप अवश्य पूछेंगे कि 'तू कौन है' ? वाचस्पति मिश्र बोले — इतने समय तू कहाँ थी ? उसने कहा — मैं रोज आती थी। जब जब दीपक की ज्योति कम होती तो उसे बढ़ा जाती थी। दीपक को सायंकाल जला जाती थी। प्रातः हटा ले जाती थी। आपके कार्य में बाधा न पड़े, इसलिए आपके सामने कभी नहीं आयी। और यह भी मैंने प्रयत्न नहीं किया कि बताऊँ मैं भी हूँ। मैं थी और आप अपने काम में थे।

यह सुनकर वाचस्पति मिश्र का गला भर आया। आँखों में आँसू आ गये। बोले—अब तो बहुत देर हो गयी। मैंने तो निर्णय किया है कि जिस क्षण टीका पूर्ण हो जायेगी, उसी क्षण सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लूँगा। अब मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ। तुमने बारह वर्ष प्रतीक्षा की और आज की रात मेरे जाने का समय है। एक पल घर में ठहर नहीं सकता अब।

उनकी स्त्री का नाम था 'भामती'। इसलिए उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र की टीका नाम भामती रखा। भामती का टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन फिर भी टीका का नाम भामती है। बड़ी अद्‌भुत टीका है।

वाचस्पति मिश्र अद्‌भुत व्यक्ति थे। उन्होंने कहा कि बस, तेरी स्मृति में अपनी टीका का नाम भामती रख देता हूँ। और घर से चला जाता हूँ। लेकिन तू दुःखी होगी। मेरे अभाव का क्लेश बराबर बना रहेगा तेरे जीवन में। भामती ने कहा — दुःखी ! नहीं मुझसे अधिक धन्यभागिनी कौन होगी। कोई नहीं हो सकता। इतना क्या कम है कि मेरे लिए आपकी आँखों में आँसू आ गये। गला भर आया। मेरा जीवन कृतार्थ हो गया।

बस इतनी-सी बात वाचस्पति मिश्र की अपनी पत्नी से हुई थी। लेकिन वह भी बारह वर्ष के मौन के पश्चात्। बारह वर्ष की मौनता के पश्चात निकले इतने ही शब्द काफी मूल्यवान् थे। हम उसे वाणी कह सकते हैं। 'वाक्' कह सकते हैं।

० ० ०

कुण्डलिनीशक्ति स्मृतिरूपिणी भी है। श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं स्त्री में स्मृति रूप में हूँ। स्त्री और पुरुष की स्मृति में भिन्नता होती है। मनोवैज्ञानिक भले ही न माने। मगर पुरुष की स्मृति एक तरह की होती है और स्त्री की स्मृति होती है दूसरे तरह की। स्त्री-पुरुष के पास एक ही तरह का कुछ भी नहीं होता। पुरुष की स्मृति बौद्धिक होती है और स्त्री की स्मृति होती है अस्तित्व गत। अगर पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है तो उसकी स्मृति में केवल इतना ही रह जाता है कि उसने प्रेम किया था। लेकिन किसी स्त्री ने किसी पुरुष से प्रेम किया है तो उस प्रेम की स्मृति उसके रोम-रोम में समाई रहती है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में रम जाती है प्रेम को स्मृति। जब वह अपने प्रेम-प्रसंग की स्मृति में डूबती है तो वह बौद्धिक बात नहीं होती। उसमें पूरा अस्तित्व समाहित होता है। वह पूर्णरूप से उसमें उपस्थित होती है। इसलिए पुरुष चाहे तो बहुत सी स्त्रियों से प्रेम कर सकता है। मगर स्त्रियों के लिए बहुत पुरुषों से प्रेम करना स्वभावतः कठिन और असम्भव है।

पुरुष के लिए सारी घटनायें बुद्धि में हैं। बुद्धि एक हिस्सा है। स्त्री के लिए सारी घटनायें उसके पूरे व्यक्तित्व में है। कामशास्त्र के अनुसार पुरुष की कामवासना उसके कामकेन्द्र में निहित होती है। लेकिन स्त्री की कामवासना का केन्द्र उसका सारा शरीर होता है। स्त्री का पूरा शरीर ही काममय है। प्रत्येक अंग-प्रत्यंग कामकेन्द्र है।

स्त्री की स्मृति पूरी है। उसकी स्मृति में बौद्धिक स्मरण ऐसा नहीं है। और जो स्मृति पूरी हो—इतनी कि उससे उसका गुण ही दूसरा हो जाता है। उसका आयाम, उसका अर्थ और उसका अभिप्राय दूसरा हो जाता है। स्त्री याद करती है—बुद्धि से नहीं, विचार से नहीं, बल्कि अपने पूरे होने से करती है। एक पिता है। एक माता है। पिता एक बिलकुल औपचारिक संस्था के समान है। न भी हो तो चल सकता है। पशुओं में नहीं भी होता तो भी चलता है। लेकिन माँ कोई औपचारिक संस्था नहीं है। माँ और बेटे का सम्बन्ध बुद्धि की केवल स्मृतिमात्र नहीं है। एक सारे अस्तित्व का लेन-देन है। माँ के लिए उसका बेटा उसका ही टुकड़ा होता है। अगर बेटे की हत्या हो जाय और माँ को उसका पता न हो तब भी उसके प्राण आन्दोलित हो उठते हैं अपने आप। भले ही वह हजारों मील दूर पर हो। बेचैन हो उठती है उसकी आत्मा। पिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पिता का अस्तित्वगत सम्बन्ध नहीं है। 'मेरा बेटा' है—यह एक बौद्धिक स्मृति है। अगर कल पिता को यह मालूम हो जाय कि बेटा उसका नहीं किसी और का है तो पिता का सारा सम्बन्ध टूट जायेगा। विलीन हो जायेगा। क्योंकि वह सम्बन्ध बहुत गहरा और आन्तरिक नहीं होता। इसलिए कोई पुरुष पिता न भी बने तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई भेद नहीं पड़ता। व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं आती। इसीलिए पुरुष

की उत्सुकुता पिता बनने की कम और पति बनने की अधिक होती है। स्त्री की उत्सुकुता अगर पत्नी बनने की हो तो समझ लें कि उसे अपने स्त्री होने का पता नहीं है।

स्त्री की सारी उत्सुकता 'माँ' बनने में होती है। अगर वह पति को भी स्वीकार करती है तो माँ बनने में मार्ग पर। अगर कोई पुरुष पिता बनना भी स्वीकार करता है तो पति की मजबूरी में। कोई उत्सुकुता पुरुष को पिता बनने की वैसी नहीं है। और अगर कभी रही भी है तो उसके कारण अवान्तर रहे हैं। जैसे धन है, सम्पत्ति है, जायदाद है—सब किसका होगा? क्या होगा उसका? पुत्र चाहिए। वह सब सम्हालेगा। पर फिर क्रियाकाण्ड और धर्म के कारण कि अगर पिता मर जायेगा और पुत्र न होगा तो अन्तिम क्रिया कौन करेगा? कौन श्राद्ध करेगा? कौन पानी देगा? कौन प्रेतयोनि से मुक्ति दिलायेगा? लेकिन ये सब गणित के सम्बन्ध हैं। इन सबमें हिसाब है। माँ-पुत्र का सम्बन्ध निष्प्रयोजन है। वह उसी के अस्तित्व का विस्तार है। अगर पुत्र मरता है तो सबसे अधिक माँ का हृदय पीड़ित और दुःखी होता है। पशुओं की माँ भी किसी अज्ञात मार्ग से प्रभावित होती है, इसमें सन्देह नहीं। कोई इतनी गहरी स्मृति है, जिसको हम 'बायोलाजिकल' कह सकते हैं, साइको-लाजिकल नहीं। मतलब कि हम उसे जैविक कह सकते हैं, मानसिक नहीं। अगर कोई व्यक्ति ऐसी ही स्मृति से परमात्मा की ओर भर जाय तो ही उसे उपलब्ध होता है। केवल राम-राम कहने से कुछ नहीं होता। कुछ हो भी नहीं सकता। जब तक रोम-रोम न कहने लगे। कहना ही न पड़े बल्कि भीतर सर्वत्र गूँजने लगे। होना ही उनका स्मरण बन जाय तब राम उपलब्ध होते हैं। तब परमात्मा के दर्शन होते हैं।

० ० ०

स्मृति के बाद धृति है। कुण्डलिनीशक्ति धृतिरूपिणी भी है। धृति का अर्थ है—धीरज, धैर्य, स्थिरता। पुरुष बहुत अधीर प्राणी है। शायद जैविक कारण भी है। शायद उसकी बिन्दु-ऊर्जा जो है वह भी अधीर और अस्थिर है। इसीलिए उसका सारा शरीर ही अधीर है, सारा व्यक्तित्व अस्थिर है। जब कि स्त्री शान्त है, स्थिर है, धीरज से भरी है। पुरुष शक्तिशाली है—अभी तक यही धारणा रही है। एक दृष्टि से है भी। पेशीगत सामर्थ्य अधिक है। अगर लड़ने जाय तो स्त्री से अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगा। लेकिन यह मापदण्ड की बात है। और किसी दृष्टि से स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिशालिनी है। जहाँ तक स्थिरता का प्रश्न है, जहाँ तक सहनशक्ति का प्रश्न है, जहाँ तक धैर्य का प्रश्न है—वह स्त्री में पुरुष से अधिक है। एक माँ अपने पुत्र को नौ मास पेट में ढोती है। एक पुरुष को नौ दिन भी ढोना पड़े तो पता चले। अगर पुरुष को भी स्त्री की तरह गर्भ ढोना पड़ जाय तो गर्भपात नियम बन

जाय। गर्भधारण के विरोध में जन आन्दोलन हो जाय। एक रात आप एक छोटे बच्चे को अपने विस्तर पर सुला कर देखें। तब आपको पता चलेगा कि क्या दुर्दशा होती है आपकी। वह आपको पागल बना देगा।

गिरि महाशय ने हँसते हुए बतलाया कि एक बार एक बगीचे में वे टहल रहे थे। सायंकाल का समय था। एक सज्जन अपने बच्चे को गोद में लिये वहाँ हवा खाने के लिए आये। बच्चा जोर-जोर से रो रहा था। वे सज्जन बार-बार कह रहे थे—चन्दू चुप हो जा, शान्त हो जा। शान्त हो जा चन्दू ! मगर बच्चा था कि शान्त होने का नाम ही नहीं ले रहा था। मैंने करीब जाकर पूछा—आपका बेटा तो बड़ा सुन्दर और प्यारा है। क्या इसका नाम चन्दू है? उस सज्जन ने कहा—इसका नाम है मुन्ना। चन्दू तो मेरा नाम है। और मैं अपने-आप से कह रहा हूँ कि शान्त हो जा। मन तो इसकी गर्दन दबाने का हो रहा है। मैं अपने-आप से कह रहा हूँ कि चन्दू चुप हो जा। यह तो मेरी खोपड़ी खाये जा रहा है।

० ० ०

एक अर्थ में स्त्री का धैर्य अनन्त है। उसकी सहने की क्षमता भी बहुत है। आप जिस कष्ट में टिक न सकेंगे, उसमें स्त्री टिक सकेगी। इसलिए आपको मालूम होना चाहिए कि औसतन स्त्रियों की आयु पुरुषों की आयु से पाँच वर्ष अधिक होती है। स्त्रियाँ कम बीमार पड़ती हैं पुरुषों के बजाय। और अगर बीमार पड़ती भी हैं तो उसका कारण शारीरिक कम, मानसिक अधिक होता है। पुरुष बहुत जल्दी बीमार हो जाता है। क्योंकि उसकी मस्कुलर स्ट्रेंथ अधिक होती है। लेकिन मैं कहूँगा कि मस्कुलर स्ट्रेंथ का भी समय चला गया। न तो अब शेर से लड़ने जाना पड़ता है और न तो लकड़ी काटने जाना पड़ता है। पुरुष के काम अब मशीन करने लगी है। लेकिन स्त्री का कोई काम मशीन करने में असमर्थ है। सम्भव है इसी के फलस्वरूप भविष्य में स्त्रियों की शक्ति पुरुष की शक्ति से अधिक हो जाय।

० ० ०

धृति की तरह कुण्डलिनीशक्ति क्षमारूपिणी भी है। स्त्री में वह क्षमारूप में स्थित है। स्त्री के व्यक्तित्व में जितना प्रेम होगा, उतनी क्षमा भी होगी। जितना अधिक धैर्य होगा, उतनी अधिक क्षमा भी होगी। जितना अधिक मातृत्व होगा उतनी अधिक उसमें क्षमा भी होगी। पुरुष को क्षमा का अभ्यास करना पड़ता है। जबकि क्षमा स्त्रियों का गुण है। स्वभाव है। उसके लिए सहज है। लेकिन अब तक ऐसा हुआ कि मानव ने पुरुषों को केन्द्र मानकर काम चलाया। इसीलिए हम कहते हैं—मनुष्य जाति। स्त्री जाति नहीं कहते। क्योंकि सब पुरुषों के नाम हैं। स्त्री को हम पुरुष में सम्मिलित कर लेते हैं। लेकिन मानव समाज की सबसे बड़ी भूल है। स्त्री का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व

है पुरुष से बिल्कुल भिन्न। स्त्री के व्यक्तित्व के जिन गुणों का वर्णन गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है, वे जब तक इस पृथ्वी पर पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो जाते तब तक संसार असन्तुलित ही रहेगा। वर्तमान समय में पुरुष का पलड़ा भारी होते हुए भी नीचे बैठ गया है। दूसरी ओर स्त्रियों के गुण विकसित नहीं हो पा रहे हैं।

वर्तमान समय में एक भयानक दुर्घटना घट रही है। स्त्रियाँ इस परेशानी से पीड़ित होकर एक प्रतिक्रिया में उतर रही हैं। वे पुरुषों जैसी हो जाने का प्रयत्न कर रही हैं। यह भयानक दुर्घटना है—जो कभी भी मनुष्य जाति के ऊपर घट सकती है। बात-व्यवहार से, वस्त्रों से, चाल-चलन से, ढंग से और व्यक्तित्व से स्त्रियाँ पुरुषों जैसी होने का प्रयत्न कर रही हैं। जो व्यवस्था पुरुषों की है, वही व्यवस्था उनकी भी होनी चाहिए। यह भारी भूल है। इसमें भारी खतरा है। क्योंकि स्त्रियों के व्यक्तित्व में मौलिक रूप से भिन्नता है। उसे भी हक होना चाहिए स्वयं को विकसित करने का। उतना ही जितना पुरुष को है। लेकिन स्त्रियों के लिए पुरुषों जैसा होने का हक काफी मँहगा है। अगर स्त्रियाँ पुरुष जैसी हो जाती हैं, तो यह सारा संसार आकर्षण-हीन हो जायेगा। कुछ महत्त्वपूर्ण गुण एकबारगी नष्ट हो जायेंगे, जो मात्र केवल स्त्रियों में ही हो सकते हैं।

आज पश्चिम की स्त्रियों में कीर्ति, श्री, स्मृति, धृति, क्षमा आदि गुणों का आविर्भाव असम्भव है। कदापि नहीं हो सकता आविर्भाव। इसलिए वे हर काम में, हर बात में और हर मामले में पुरुष जैसा होने के प्रयत्न में है। जानते हैं—इसमें नुकसान किसका होगा भविष्य में? स्त्रियों का ही होगा। पुरुषों का नहीं। क्योंकि वे नम्बर दो का ही पुरुष हो सकेंगी। पुरुष तो हो ही नहीं सकेंगी। और नम्बर दो का पुरुष होकर वह बिलकुल कुरूप और विकृत हो जायेंगी। स्त्रियाँ पुरुष जैसा कपड़ा पहने, उठे-बैठे-चले, व्यवसाय करे, पुरुष के ढंग से जीये, सिगरेट और शराब पीये, गालियाँ दे, पुरुषों की ही तरह अपशब्दों का प्रयोग करे, तो जो पुरुष के अत्याचार से नहीं मिटा था वह उनकी इस प्रकार की नासमझी से मिट जायेगा।

इसलिए कृष्ण ने उचित ही किया कि स्त्रियों के गुणों को अलग से गिनाते हुए कहा कि मुझे खोजना हो तो उन्हीं गुणों में देख लेना। तन्त्रशास्त्र का अमोघ और सर्वोत्तम ग्रन्थ है—'दुर्गासप्तशती'। पूरे सात सौ श्लोक हैं उसमें। प्रत्येक श्लोक अपने आप में सिद्ध और चमत्कारी है। दुर्गासप्तशती में कुण्डलिनीशक्ति ही 'दुर्गा' के रूप में अवस्थित है। एक स्थान पर देवताओं ने उनकी स्तुति स्त्री के उपर्युक्त गुणों से की है। जो अपने-आप में गरिमामय और महिमामय है।

प्रकरण : बीस

सर्वोपरि कुण्डलिनी साधना

'कुण्डलिनीशक्ति' के प्रकाशन के दौरान बहुत से पाठकों ने हमसे पूछा है कि क्या वे किसी भी तांत्रिक साधना के योग्य समझे जा सकते हैं ? क्या वे कुण्डलिनी की साधना कर सकते हैं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकेगा कि अब तक के अपने शोध और अन्वेषण से हमने यही निष्कर्ष निकाला कि जैसे वेद परमज्ञान है, उसी प्रकार 'तन्त्र' गुह्यज्ञान है। वह अपने-आप में अत्यन्त रहस्यमय है। तांत्रिक साधना का मतलब है—शक्तिसाधना। शक्ति निरपेक्ष है। इसलिए उसकी साधना और उपासना अत्यन्त कठिन और दुरूह है। शक्ति के तत्त्व को बिना समझे और बिना शक्ति के स्वरूप से परिचित हुए उसके कठोर साधना मार्ग पर चलना और लक्ष्य प्राप्त करना असम्भव ही है। रही कुण्डलिनी साधना की बात—जितनी भी तांत्रिक साधनाएँ हैं, उनमें कुण्डलिनीशक्ति की साधना सर्वोपरि है। उसका मार्ग सभी साधना मार्गों से भिन्न है। पृथक् है। साधकों ने कुण्डलिनीशक्ति की गोपनीयता को देखकर बार-बार उसकी साधना को गम्भीर बतलाया है। और साथ ही यह भी बतलाया है कि बिना योग्य गुरु के सहयोग से उसकी गोपनीय और रहस्यमयी साधना के सागर में प्रवेश कर पाना भी कठिन है। वास्तव में यही एकमात्र कारण है कि उस महाचिन्मयी शक्ति के साधनामार्ग पर अग्रसर होना सबके बस की बात नहीं है। बिरले ही किसी के लिए सम्भव है। बिरले ही किसी के चरण पड़ते हैं उसकी साधना के मार्ग की धूल पर। वैसे तो तांत्रिक साधनाएँ अपनी रहस्यमयता, गोपनीयता और अपनी जटिलता, दुरूहता आदि के लिए प्रसिद्ध ही है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'योग' के जितने भी आयाम विकसित हुए हैं—जैसे हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, लययोग, स्वरयोग, नादयोग—उनमें कुण्डलिनीयोग का स्थान सर्वोपरि समझा जायेगा। भारतीय योगविद्या ही एकमात्र ऐसी विद्या है—जिसने बौद्ध-साधना, इस्लाम-साधना, सूफी-साधना, ताओ-साधना, क्रिश्चियन-साधना के रूप में दूर-दूर के देशों में लम्बी यात्राएँ की है।

भारतीय साधना और संस्कृति में योग के विविध आयामों में कुण्डलिनी साधना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुई है। कुण्डलिनी की अन्तर्यात्रा स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हीती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म का अतिक्रमण कर परम सत्य तक पहुँचती है। कुण्डलिनी साधना अपने विकास की

ऊँचाइयों, योग के अनेक आयामों और विविध प्रक्रियाओं को अपने में समाहित कर लेती हैं ? इसलिए इस साधना को सिद्धयोग और महायोग कहते हैं। कुण्डलिनी साधना आन्तरिक रूपान्तरण और आन्तरिक जागरण की एक विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया है। जिसका परिणाम है—परम शान्ति, परम आनन्द और परम सुख।

कुण्डलिनी साधना एक लम्बी यात्रा है, जो कई जन्मों में जाकर समाप्त होती है। लेकिन यात्रा पर आप तभी निकल सकते हैं अर्थात् निर्विघ्न यात्रा आप तभी कर सकते हैं जबकि आपके मन का महाभारत समाप्त होगा। बिना मन का महाभारत समाप्त हुए कुण्डलिनी साधना क्या, आप किसी भी साधना में सफल नहीं हो सकते।

कौरव और पाण्डवों का महाभारत तो अपने युग में समाप्त हो गया था। लेकिन आपके मन का जो महाभारत है—वह न कभी प्रारम्भ होता है और न तो कभी होता है उसका अन्त। वह तो मनुष्य के अज्ञान के साथ चलता रहता है। मनुष्य का अज्ञान ही मन का महाभारत है।

मन का महाभारत

हमारा सारा जीवन अज्ञान के अन्धकार में डूबा हुआ है। हम गहन मूर्च्छा में हैं। मूर्च्छा में लड़ना ही जीवन मालूम होता है हमें। हम चौबीस घंटे अपने-आप से लड़ रहे हैं। जीवन में एक क्षण भी ऐसा नहीं है कि जब हमारे भीतर किसी-न-किसी अर्थों में संघर्ष न चल रहा हो। यही कारण है कि हम जीवन भर अशान्त ही रहते हैं। जहाँ संघर्ष है वहाँ भला शान्ति कैसे होगी और जहाँ शान्ति न होगी वहाँ साधना कैसे होगी ? समझने की बात है। हम कितनी छोटी-छोटी बातों पर लड़ते हैं। कभी हमने ध्यान दिया है इस पर ? लड़ने के लिए हम कोई-न-कोई बहाना बना लिया करते हैं। हमें लड़ने के क्षण दिखलाई नहीं पड़ता कि किस क्षुद्रता के लिए हमने बहाना खड़ा कर लिया है। जब तक अहंकार सघन है, अन्धकार गहन है, अज्ञान गहन है; तब तक हमारी समझ में यह कभी नहीं आयेगा कि पूरा जीवन कलह के अलावा और कुछ नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त हम जीते नहीं केवल लड़ते हैं। अपने-आप से संघर्ष करते हैं।

वास्तविक प्रश्न युद्ध का नहीं है। वास्तविक प्रश्न हमारी युद्ध से भरी चित्तदशा का है और इस चित्तदशा को हम थोड़ी गहरायी से समझने का प्रयत्न करें। क्योंकि इस चित्तदशा का जो प्रथम आधारबिन्दु है वह है—अपने-आप से लड़ना। लड़ाई में हमारा जीवन जितना बीतता जाता है—उतना ही क्रोध भी बढ़ता जाता है। क्योंकि मन के महाभारत के कारण जीवन के आनन्द का अनुभव ही न कर पाये। संसार में आये और गये। ऐसे ही खो गये—सारे अवसर। संसार सुख, शान्ति और आनन्द का सागर है।

जिसमें आने के लिए देवता तक तरसते हैं। बड़े-बड़े महात्मा और योगी आने के लिए आतुर रहते हैं। एक हम हैं कि आते हैं, लेकिन जीवन भर रह जाते हैं—अतृप्त, अपूर्ण, अधूरे और फिर संसार से जाने का समय आ जाता है। मृत्यु समीप आ जाती है। गीता में श्रीकृष्ण का अर्जुन से यही उपदेश है कि तू अपने से मत लड़। तू अपने को स्वीकार कर। तू क्षत्रिय है। तू ब्राह्मण होने की चेष्टा मत कर। वह तेरा गुण-धर्म नहीं है। वह तेरा स्वभाव नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण अन्य सभी महात्माओं से विपरीत हैं, भिन्न हैं। यही कारण है कि महात्मा लोग श्रीकृष्ण का नाम लेने में भी जरा डरते हैं। यदि लेते भी हैं तो अपनी व्याख्या और अपनी धारणाएँ उन पर थोप देते हैं।

श्रीकृष्ण का अर्जुन के लिए मूल सन्देश क्या है? एक छोटी-सी बात श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं—'तुम्हारा स्वधर्म तुम्हारी वीरता में और क्षत्रियत्व में है। आज तू सहसा ब्राह्मण होने की भावना से भर रहा है। सहसा तू अपने क्षत्रियत्व से लड़ने जा रहा है'। अर्जुन सोच रहा है कि वह बहुत बड़े युद्ध से बच रहा है। लेकिन श्रीकृष्ण देख रहे हैं कि वह महाभारत के युद्ध से भी भयंकर युद्ध की तैयारी कर रहा है। बाहर से ऐसा लगेगा कि अर्जुन युद्ध से अलग होना चाहता है। वह शान्ति चाहता है, युद्ध नहीं। लोगों को यही समझ में आयेगा कि अर्जुन शान्तिवादी है और श्रीकृष्ण हैं युद्धवादी। क्योंकि कृष्ण कहते हैं कि तू लड़। मगर विचारपूर्वक देखा जाय तो वास्तविकता कुछ और ही है। अर्जुन बाहरी युद्ध से तो अपने को बचाना चाहता है और भीतरी युद्ध में पड़ने का प्रयत्न कर रहा है। कृष्ण उसी भीतरी युद्ध से यानि मन के महाभारत से उसे बचाना चाहते हैं।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः····

बाहर के युद्ध तो केवल प्रतिध्वनियाँ है। वास्तविक युद्ध तो भीतर है। उसी युद्ध से श्रीकृष्ण अर्जुन को बचाना चाहते हैं। क्योंकि बाहर का युद्ध तो एक-न-एक दिन समाप्त हो जाता है। मगर भीतर का युद्ध कभी भी समाप्त होने वाला नहीं। वह जीवन भर चलेगा। मरने के बाद भी चलेगा। कभी समाप्त न होगा। अर्जुन स्वभाव से क्षत्रिय है और वह उसी क्षत्रियत्व को अस्वीकार कर रहा है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने एक अद्‌भुत वचन का प्रयोग किया है और वह अद्‌भुत वचन है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'।

अपने स्वभाव में, अपने स्वधर्म में, अपने होने में, अपने ढंग में और अपनी शैली में मर जाना श्रेयस्कर है। 'परधर्मो भयावहः' यानि दूसरे के धर्म में और दूसरे की शैली को स्वीकार करना बड़ा भयावह है। अर्जुन! तू चूक जायेगा। ब्राह्मण होना तेरी नियति और तेरा स्वधर्म नहीं है। क्षत्रिय होना तेरी नियति है और तेरा स्वधर्म है। उसी के लिए तेरा निर्माण हुआ है। वही तुम्हारी आत्मा भी है। तू अपने निजस्वरूप को मत झुठला। अगर

संन्यास लेकर तू जंगल में भी चला जायेगा तो वहाँ भी कभी किसी हरिण को देखकर अगल-बगल अपने धनुष-बाण को टटोलने लगेगा कि कहाँ है वह। हरिण को देखकर कविता जन्म न लेगी तेरे मन में। धनुष-बाण की खोज शुरू हो जायेगी। क्योंकि तेरा रोम-रोम क्षत्रियत्व से भरा है। वही तेरा स्वधर्म है। वही तेरा गुण-धर्म है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' को समझो। अगर तुम गृहस्थ हो तो उसी में तेरा सुख और तेरी शान्ति निहित है। वही तुम्हारी नियति है। संन्यासियों का मत सुनना। होगा उनका स्वधर्म। संन्यास तुम्हारा नहीं है।

० ० ०

सम्राट् अशोक के जीवन में घटी एक विलक्षण कथा है। आपको सुनाना चाहता हूँ उसे। वर्षा काल की एक सन्ध्या। पाटलीपुत्र में सम्राट् अशोक गंगा तट पर खड़े थे। उसके साथ उसके मंत्रीगण और अमात्य जन भी थे। गंगा में उस समय भयंकर बाढ़ आयी हुई थी। सीमायें तोड़ कर गंगा बह रही थी। बड़ा विराट्, भयंकर ताण्डव करता हुआ रूप था उसका। सहसा अशोक के मन में क्या आया कि उसने अपने मंत्रियों तथा अमात्यों से कहा—'क्या यह सम्भव है कि गंगा उलटी बह सके। क्या कोई ऐसा उपाय है कि उसे उलटी बहाया जा सके'? सभी ने एक स्वर में कहा—असम्भव। एक वेश्या भी वहाँ उपस्थित थी। राजनर्तकी थी वह। नाम था बिन्दुमति। वह 'असम्भव' शब्द सुनकर हँसने लगी। बोली—महाराज! यदि आप आज्ञा दे तो मैं गंगा को उलटी बहा सकती हूँ। अशोक चौंक पड़ा। आश्चर्य से पूछा—क्या ढंग है? क्या मार्ग है? क्या उपाय है उलटी गंगा बहाने का? तेरे पास कौन-सी कला है? बिन्दुमति बोली—मेरी निजता का सत्य। मेरे जीवन का सत्य। मेरा सामर्थ्य। मेरे जीवन के सत्य की बड़ी ऊर्जा भरी है मेरे भीतर। जिसका उपयोग मैंने कभी नहीं किया। अगर आप चाहे तो गंगा उलटी बहेगी—मेरे आदेश पर बहेगी। मुझे अपने पर पूर्ण विश्वास है। क्योंकि मैं अपने सत्य से कभी नहीं डिगी।

सम्राट् को विश्वास नहीं हुआ। उसने कहा—देखें। वेश्या ने आँखें बन्द की और गंगा की धारा उलटी बहने लगी। सम्राट् तो चरणों पर गिर पड़ा वेश्या के और उसने कहा—बिन्दुमति! मुझे तो कभी पता ही न चला कि तू वेश्या के अतिरिक्त कुछ और भी है। यह रहस्य तूने कहाँ से सीखा? कहाँ से प्राप्त हुआ तुझे यह ज्ञान? यह कार्य तो बड़े-बड़े सिद्ध पुरुष भी नहीं कर सकते हैं। वेश्या ने हँस कर कहा—मुझे सिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं हैं। मुझे उनका कोई पता नहीं है। मैं तो एक सिद्ध वेश्या हूँ। मेरी सिद्धि ही मेरे जीवन का परम सत्य है।

'क्या है तेरे जीवन का सत्य? स्पष्ट रूप से बतला मुझे'—सम्राट् ने कहा।

बिन्दुमति बोली — वेश्या होना ही मेरे जीवन का परम सत्य है। परम नियति है। मेरी शैली है। वेश्या होना ही मेरा परम धर्म है। स्वधर्म है। जीवन में कभी 'वेश्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होना चाहा मैंने। अन्यथा की इच्छा भी उत्पन्न नहीं होने दी मैंने अपने भीतर। मैं पूर्ण हूँ। समग्र हूँ। मैं सिर से पैर तक वेश्या हूँ। मेरा रोम-रोम वेश्या है। वेश्या के अतिरिक्त मेरा और कोई व्यक्तित्व नहीं है। वेश्या के धर्म से मैंने कभी किसी क्षण अपने को च्युत नहीं किया। सम्राट् अशोक बिन्दुमति की बातें सुनकर अवाक् रह गया। आश्चर्य से पूछा — क्या है वेश्या का धर्म ? वेश्या का भी कोई धर्म होता है ? मैं तो वेश्या को अधार्मिक ही समझता था। मैं तो यही मानता था कि तुम कितनी सुन्दर हो। लेकिन तेरे भीतर कितनी कुरूपता और कितनी दुर्गन्ध है। क्योंकि तू अपने शरीर को, अपने यौवन को और अपने सौन्दर्य को बेच रही है। इससे क्षुद्र तो कोई भी व्यवसाय नहीं है।

बिन्दुमति बोली -- व्यवसाय क्षुद्र और बड़े नहीं होते। सब व्यवसायी पर निर्भर होता है। मेरे जीवन का सत्य यह है कि मेरे गुरु ने—जिसने मुझे वेश्या होने की शिक्षा-दीक्षा दी — मुझसे कहा कि एक सूत्र को बस सम्भाले रखना जिससे तेरा मोक्ष कभी कोई छिन नहीं सकता तुझसे। तेरी मुक्ति फिर निश्चित है।

'वह सूत्र क्या है' ? — सम्राट् ने पूछा।

बिन्दुमति ने बतलाया कि वह सूत्र यह है कि चाहे धनी आये, चाहे गरीब आये, चाहे शूद्र आये, चाहे ब्राह्मण आये, चाहे सुन्दर पुरुष आये, चाहे कुरूप पुरुष आये, चाहे युवा आये, चाहे वृद्ध आये, कोढ़ी आये, रुग्ण आये — जो भी तेरा मूल्य दे, पैसा दे, तू अपने मूल्य पर पैसे पर ही ध्यान देना और व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करना। न कोढ़ी से, न रोगी से घृणा करना और न सुन्दर से प्रेम करना। घृणा करना और प्रेम करना वेश्या का काम नहीं हैं। हर वातावरण में और हर परिस्थिति में तू तटस्थ रहना। वेश्या का काम है बस पैसे लेना। अपना मूल्य लेना। तेरा सारा ध्यान पैसे पर ही रहे। तेरे स्थान पर ब्राह्मण आये तो तू अतिशय श्रद्धा से उसके पैर मत छूना और शूद्र आये तो तू इनकार मत कर देना। सभी के प्रति समभाव रखना ही वेश्या का धर्म है। वही वेश्या का सम्यक्त्व है। वही वेश्या का परम सत्य भी है। राजन् ! मैंने उसे सम्भाला है। मैंने न किसी से प्रेम किया, न किसी के प्रति आसक्ति प्रगट की, न किसी के प्रति मोह किया, न मैंने किसी से घृणा की, न जुगुप्सा। हमेशा तटस्थ भाव से मैं दूर खड़ी रही हूँ। वेश्या का यही परम संन्यास भाव है। इस भाव को उपलब्ध वेश्या संन्यस्थ हो जाती है। कृष्ण कहते हैं — 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'

सारांश यह कि यदि आप अपनी निजता को छोड़ कर किसी और के पीछे चलेंगे, किसी और की सुनेंगे, किसी और के आदर्श को स्वीकार करने

जायेंगे तो आपके भीतर भयंकर द्वन्द्व उत्पन्न हो जायेगा और जिस व्यक्ति के भीतर द्वन्द्व पैदा हो गया — वही वास्तविक युद्ध है। युद्ध का अर्थ है — द्वन्द्व। फिर एक संघर्ष शुरू होता है। जिसका कोई अन्त नहीं है। क्योंकि आप स्वयं अपने से ही लड़ते हैं। अन्त हो ही कैसे सकता है ? कोई क्रोध से लड़ रहा है। कोई लोभ से लड़ रहा है। क्रोध भी आपका है। लोभ भी आपका है। लड़ने वाले भी आप ही हैं। करेंगे क्या ? क्या विजय सम्भव है ? नहीं। आप जो हैं — उससे अन्यथा होने का कोई उपाय नहीं है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि आपके जीवन में क्रान्ति न होगी। जिस दिन आप स्वीकार कर लेंगे कि आप 'जो हैं' — उससे 'अन्यथा' होने का उपाय नहीं है — उसी दिन आप अपने धर्म को, अपने परम सत्य को उपलब्ध हो जायेंगे।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का मतलब है — आप अपने को स्वीकार कर लें। अपने को परिपूर्ण रूप से स्वीकार कर लें। तब आप भी गंगा को उलटी बहा सकते हैं। अगर आप अखण्ड हैं तो आपमें बड़ी ऊर्जा है। वह वेश्या निश्चय ही अखण्ड रही होगी। और उसने बड़ी निष्णात कुशलता से सम्यक्त्व को साध लिया होगा। वेश्या का प्रश्न नहीं है। न संन्यासी होने का प्रश्न है। क्योंकि वह हो सकता है। संन्यासी जंगल में बैठा हो और वेश्या का विचार करे तो समझिये उसके भीतर द्वन्द्व है। संघर्ष है। युद्ध है। कुरुक्षेत्र है। इसी प्रकार अगर वेश्या वेश्यालय में बैठकर संन्यास की धारणा करे तो उसके भीतर भी द्वन्द्व है। संघर्ष है। युद्ध है। कुरुक्षेत्र है। आप जहाँ हैं वहाँ आप पूर्ण रहें। आपकी समग्रता ही आपको मोक्ष की ओर, मुक्ति की ओर ले जायेगी और ले जायेगी परम निर्वाण की ओर। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस दिन आप अपने को परिपूर्ण स्वीकार कर लेंगे, उसी दिन आपके भीतर क्रान्ति भी शुरू हो जायेगी। जिसने अपने क्रोध को स्वीकार कर लिया समझ लें वह क्रोध का अतिक्रमण कर गया। उसका स्वीकार ही अतिक्रमण है। उसके स्वीकार में ही अतिक्रमण निहित है। वह क्रोध से ऊपर उठ गया। वह क्रोध के पार चला गया। उस स्वीकार में ही वह उससे अलग हो गया। साक्षी हो गया क्रोध का।

जिस वेश्या की मैंने कथा सुनायी है—वह अपने वेश्यापन को स्वीकार कर साक्षी हो गयी थी। भिन्न हो गयी थी। सब खेल रह गया था। लीला रह गयी थी। इसीलिए तो कोढ़ी में, रोगी में, युवा में, वृद्ध में, धनी में, गरीब में कोई अन्तर या कोई भेद नहीं रह गया था। सब खेल, सब नाटक, सब लीला हो गयी थी। वह दूर खड़ी हो गयी थी। आप भी अपने से मत भागिये। अपने से कोई भी भाग नहीं पाया है कभी। अपने से भाग कर आप जायेंगे भी तो कहाँ ? जहाँ जायेंगे वहाँ आप ही आप रहेंगे। जिसने अपने को समरूप में स्वीकार कर लिया है, उसके जीवन में सन्तोष की वर्षा होने लग जाती है। सन्तोष के गुलाब खिलने लग जाते हैं। जिसकी सुगन्ध से क्रान्ति

घटित होती है। क्रान्ति का जन्म होता है। आप तटस्थ भाव से, अनासक्त भाव से और फलाकांक्षा से शून्य होकर बस साक्षी बन जाइये! फिर देखें क्या होता है? जरा प्रयत्न करके देखिये। जन्मों-जन्मों से लड़कर के देख लिया, क्या मिला? भले ही पिछले जन्म की लड़ाई आपको याद न हो। लेकिन इस जन्म में आपने लड़कर प्रयत्न तो कर लिया। आप, बस एक साल के लिए मेरी बात मान लें कि आप लड़िये मत। अपनी निजता में जीयें। संसार कुछ भी कहे। लोग कितना भी समझाये। लोग कितना भी कहें कि आपको बुद्ध होना है। महावीर होना है। राम होना है। कृष्ण होना है। पर आप किसी का मत सुनिये। आपको कुछ भी न सुनना है और न तो समझना है। आपको न बुद्ध बनना है, न महाबीर बनना है, न राम बनना है और न तो बनना है कृष्ण। वे सब विजातीय हैं आपके लिए। अगर आप प्रयत्न कर राम हो भी गये तो झूठे रामलीला के राम हो जायेंगे। उससे अधिक नहीं। जिसका न कोई मूल्य है और न तो महत्त्व है। रामलीला में लोग राम के पैर छूते हैं। सम्भव है आपके भी छूयें। आपको भी श्रद्धा और भक्ति से प्रणाम करें। लेकिन उसमें कोई सार नहीं है। उसका कोई महत्त्व नहीं है। आप तो आप ही होने के लिए पैदा हुए है इस संसार में। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों से अधिक मूल्यवान् और गरिमामय अनुशासन की व्यवस्था कोई दूसरी नहीं है। जिसने व्यक्ति को उसकी निजता के परम स्वीकार के लिए आग्रह किया हो। अगर आप चाहते हैं कि मन का महाभारत न हो तो आपके हाथ में केवल इतना ही है कि किसी का अनुकरण मत करिये। कोई और होने का प्रयत्न मत करिये। आप वही हो सकते हैं, जो आप हैं। आपको प्रकृति ने पूर्ण बनाया है। कुछ भी अधूरा या अपूर्ण नहीं है। कुछ कमी नहीं है आपमें। समझ गये न। बस! आप केवल साल भर तक अपने को स्वीकार करके देख लें। आप पायेंगे कि आपके चारों तरफ कितनी अनिर्वचनीय शान्ति बिखरी हुई है। कितने आनन्द की वर्षा हो रही है और आप उस शान्ति और उस आनन्द के बीच साक्षीभाव से समाधिस्थ बैठे हुए हैं।

आप जब इस शान्ति और इस आनन्द को उपलब्ध होंगे तभी किसी भी साधना-मार्ग पर सकुशल और निर्विघ्न अग्रसर हो सकेंगे। चाहे वह योग-साधना हो, चाहे तंत्रसाधना हो या चाहे हो कुण्डलिनी-साधना।

उत्तर पीठ

कुण्डलिनीशक्ति की अन्तर्यात्रा स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म का भी अतिक्रमण कर परम सत्य तक पहुँचाती है। कुण्डलिनी-साधना में व्यक्तित्व की समस्त सम्भावनाओं का सर्वांगीण विकास सम्भव है।

० ० ०

कुण्डलिनी-साधना अपनी विकास की ऊँचाइयों में योग के अनेक आयामों को और विविध प्रक्रियाओं को अपने में समाहित कर लेती है। इसलिए इस साधना को सिद्धयोग और महायोग भी नाम दिया गया है।

प्रकरण : इक्कीस

संन्यासिनी पद्मा भारती

अपनी अब तक की खोजयात्रा में मुझे जो अलौकिक अनुभव हुए थे, जो चमत्कारपूर्ण अनुभूतियाँ हुई थीं और जीवन में जो अविश्वसनीय घटनाएँ घटी थीं, उन सबने उद्वेलित और विचलित कर दिया था मेरे मन-प्राण को एकबारगी। स्तब्ध रह गयी थी मेरी आत्मा एकबारगी। पहले से और अधिक तीव्र हो उठी थी मेरी आध्यात्मिक तृष्णा। कुण्डलिनी शक्ति और कुण्डलिनी योग के विषय में और अधिक जिज्ञासा और कौतूहल की सृष्टि हो गयी थी मेरे मन में। अपनी खोज और अनुसंधान को अभी अधूरा ही समझ रहा था मैं।

संयोगवश उसी समय एक दिन पद्मा भारती से मेरी भेंट हो गयी अचानक। पूरे बारह वर्ष के बाद शशिभूषण गोस्वामी की इस शिष्या पद्मा भारती से फिर कभी भेंट होगी और वह भी संन्यासिनी के रूप में—इसकी कल्पना सपने में भी नहीं की थी मैंने। उस लावण्यमयी, चिरयौवना, तन्वंगी साधिका के अपूर्व रूप को निहारता ही रह गया था मैं अपलक! पूरे बारह वर्ष का अन्तराल! लेकिन कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा था, उस चिरयौवना में। वही रूप, वही सौन्दर्य और वही लावण्य! अगर कुछ बदला था तो मात्र केवल परिवेष! मगर उस गैरिक वस्त्र में भी उसका व्यक्तित्व और निखर आया था।

अस्सी घाट वाले मकान में ही ठहरी हुई थी पद्मा भारती। शशिभूषण गोस्वामी महाशय अभी काशी नहीं आये थे। पद्मा भारती ने बतलाया कि चतुर्मास व्यतीत करने के लिए पन्द्रह दिन बाद आयेंगे वह।

पद्मा भारती मुझसे बहुत सारी बातें करना चाहती थीं और मैं भी उनके आध्यात्मिक अनुभवों से परिचित होना चाहता था। इसलिए हम दोनों लाली घाट की सीढ़ियों पर आकर बैठ गये।

फागुन की साँझ।

सिहरन से भरी और अलसायी हुई।

उसकी सुरमयी कालिमा हलके कुहरे की परतों में लिपटी हुई धीरे-धीरे फैलती जा रही थी। पूरब का स्याह नीला आकाश अब सफेद हो चला था। चतुर्दशी का रूपहला चाँद अब झाँकने ही वाला था। कुछ ही क्षणों के बाद उसकी रूपहली चाँदनी गंगा की लहरों पर झिलमिला उठी और फिर पूरा चाँद निकल आया।

सत्संग

सिर घुमा कर मैंने पद्मा की ओर देखा—वह अपने आप में डूबी हुई शान्त एवं स्थिर नेत्रों से चाँद की ओर अपलक निहार रही थी।

जीवन के जब तमाम रहस्य अनावृत हो जाते हैं तो आत्मा पूरी तरह शान्त हो जाती है या फिर पूरी तरह अशान्त।

साधना की ऊँचाई पर पहुँच कर तुमको अब कैसा लगता है जीवन—मैंने प्रश्न किया पद्मा से।

यथार्थ, बिल्कुल सत्य—थोड़ा हँसकर उत्तर दिया पद्मा ने। मगर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गम्भीर हो उठा। और उसी गम्भीर मुद्रा में वह आगे कहने लगी—जीव एक समस्या है और जीवन उसका हल। शंकराचार्य जैसे भारतीय दार्शनिकों ने संसार को भ्रम और माया कहा है। उनके लिए संसार अथवा जगत् एक स्वप्न के सिवाय और कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में जीवन और जगत् और उन दोनों से सम्बन्धित समस्त समस्याएँ भी माया है। ऐसे लोगों ने उन समस्याओं को हल करने में किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं दिया है। यदि सहयोग दिया भी है तो उन्हें भुलाने में। जीवन की समस्याएँ वास्तविक हैं।

पद्मा का कहना सर्वथा उचित था। समस्याएँ संसार की हैं। समस्याएँ संसार में रहने वाले लोगों की हैं। भारत की जो प्रतिभा है वह मोक्ष की ओर है। समस्या शरीर की है, मगर हमारे भारतीय दार्शनिकों का ज्ञान 'आत्मा' के नीचे बात ही नहीं करता। वे जीवन को 'माया' के अतिरिक्त और कुछ समझते ही नहीं। समस्या जीवन की है और है जगत् की। लेकिन वे स्वर्ग और मोक्ष की इस तरह हमारी समस्याएँ एकत्र होती गयीं। भारतीय ज्ञानियों और मनीषियों ने उन्हें हल करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया, जबकि दूसरी ओर भारतीय प्रतिभाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं। उनका विकास होता गया। ये दोनों घटनाएँ एक साथ ही घट गयीं। भारत ने बुद्ध, महावीर जैसे प्रतिभा-शाली लोगों को पैदा किया। लेकिन हमारी समस्या से उनकी प्रतिभाओं का कोई ताल-मेल नहीं है। इसका कारण है और वह यह कि हमारा जीवन कहीं और है और हमारा मन कहीं और। हम बातें कुछ और करते हैं और जीते कहीं और हैं। हमारे जीवन और हमारे विचार में जमीन-आसमान का अन्तर है। दोनों में भारी विरोधाभास है। हमारा जीवन एक तरफ चलता है और विचार दूसरी तरफ। इसीलिए विचार विकसित होता जाता है और जीवन अपनी अविकसित अवस्था में ही रह जाता है। सबसे पहली और सबसे बड़ी समस्या यही है कि हमारे विचार और हमारे जीवन में कोई ताल-मेल नहीं हैं। हमारे विचार जीवन के सत्य का और जीवन के यथार्थ का स्पर्श करने वाले नहीं हैं। और बराबर हम उन लोगों से समाधान पूछते हैं जो समस्याओं

से ही इनकार करते हैं। जिनसे हम जीवन की समस्याओं का हल पूछते हैं—वे लोग वास्तव में स्वयं गलत हैं। क्योंकि ये वे लोग हैं जो कहते हैं—जीवन असार है और जिन लोगों ने यह समझ रखा है कि जीवन असार है और संसार माया है—वे जीवन की समस्याओं का हल कैसे कर सकते हैं? जब जीवन ही असार है तो समस्याएँ भी असार हैं। और असार समस्याओं का समाधान भला कहीं खोजना पड़ता है? उन्हीं समस्याओं का समाधान खोजना पड़ता है, जिनमें सार होता है। जब जीवन ही असार है तो उसकी कोई समस्या भी फिर सार्थक नहीं है।

हमारा देश पिछले हजारों वर्षों से उन महापुरुषों से समाधान माँग रहा है, जो जीवन और जगत् को भ्रम और माया तथा मोक्ष को सत्य कहते हैं। जिनकी दृष्टि में जो सत्य है—वह मृत्यु के बाद है। जीवन में नहीं।

हमारी पहली समस्या यही है कि हम गलत जगह समाधान खोज रहे हैं। जो लोग जीवन और जगत् को यथार्थ और सत्य नहीं मानते—क्या उनसे जीवन की किसी भी समस्या का समाधान सम्भव है? कदापि नहीं। समाधान तो वे ही लोग कर सकते हैं, जो मृत्यु के बाद के सत्य को स्वीकार करने के साथ ही साथ जीवन और जगत् को भी यथार्थ और सत्य समझते हैं। उनका कहना है कि जीवन और जगत् के माध्यम से ही मृत्यु के बाद के सत्य को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

परमात्मा और प्रकृति ये दोनों अपने-अपने स्थान पर पूर्ण सत्य हैं। परमात्मा साध्य है और प्रकृति है साधन। प्रकृति की गहरायी में उतर कर ही परमात्मा को जाना और समझा जा सकता है। अगर परमात्मा सत्य है तो हमारे भीतर भी सत्य होना चाहिए। हमारा शरीर सत्य होगा तो संसार भी सत्य होगा और सत्य होगी संसार की समस्त वस्तुएँ भी। जो इन सत्यों को जान लेता है वही परमात्मा को भी जान और समझ लेता है। दार्शनिकों और अध्यात्मवादियों ने अपने बुद्धि-चातुर्य और अपने तर्कों से असत्य को ही सत्य सिद्ध करने का बराबर प्रयास किया है। जबकि 'सत्य' को 'सत्य' सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

सत्य और परम सत्य

चतुर्दशी का चाँद काफी ऊपर चढ़ आया था। वातावरण और गहरा गया था। ठंडक भी बढ़ गयी थी। उस शान्त निस्तब्ध वातावरण में मुझे पद्मा के सान्निध्य में एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति हो रही थी।

परमात्मा, आत्मा, जीवन और जगत्—सब सत्य है। मगर उस सत्य को कैसे जाना जा सकता है? कौन-सा साधन है इसके लिए? मैंने पूछा।

'योग' एकमात्र योग—पद्मा ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—पहला सत्य है 'शरीर'। इसके द्वारा पहले संसार की सत्यता को जाना जाता है। इसके

बाद है दूसरा सत्य 'मन'। शरीर और संसार की सत्यता प्रकट हो जाने पर मन की सत्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है। तीसरा सत्य है 'आत्मा'। वह स्वयं सिद्ध है। मन केवल उसके स्वरूप की सत्यता की मात्र अनुभूति करा देता है। इसके बाद है 'परमात्मा'। परमात्मा परम सत्य है। जिसका ज्ञान, जिसकी अनुभूति और जिसका साक्षात्कार आत्मा के माध्यम से होता है। शरीर, संसार, मन, आत्मा और परमात्मा—ये पाँचों सत्य हैं अपने-अपने स्थान पर। एक के अस्तित्व से दूसरे के अस्तित्व का बोध, अनुभव और ज्ञान होता है। इनकी सत्यता और इनका साक्षात्कार एकमात्र कुण्डलिनी-साधना द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।

परमात्मा परम सत्य है और इस परम सत्य के पाँच क्रमिक भेद हैं—भगवान्, ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म और परब्रह्म। इसी प्रकार 'आत्मा' के भी पाँच भेद हैं—जीवात्मा, प्रेतात्मा, सूक्ष्मात्मा, दिव्य आत्मा और विशुद्ध आत्मा।

कुण्डलिनी साधना वास्तव में देखा जाय तो शरीर, संसार, मन, आत्मा और परमात्मा—इन पाँचों की ही क्रमिक साधना है।

जहाँ शरीर है वहाँ संसार भी है। वहाँ दोनों को मिलाने वाला मन भी है। इसी प्रकार जहाँ मन है वहाँ आत्मा का भी अस्तित्व है और जहाँ आत्मा का अस्तित्व होगा वहाँ परमात्मा की भी सत्ता होगी। रात अधिक हो गयी थी। पद्मा को पहुँचाकर मैं घर चला गया। उसके बाद फिर पूरे तीन महीने भेंट नहीं हुई पद्मा से। उसके प्रति न जाने कैसा आकर्षण उत्पन्न हो गया था मेरे मन में?

बरसात आ गयी। सावन-भादों के काले-भूरे मेघ उमड़-घुमड़ कर बरसने लगे पुरुवा हवा की लय पर। साँझ का समय था। एकाएक हवा का तेज झोंका आया और कमरे का बन्द दरवाजा खुल गया और उसी के साथ वातावरण में चन्दन की सुगन्ध बिखर गयी पूरे कमरे में। मैं कुछ समझने की कोशिश करूँ कि इसके पहले मेरी नजर अपने-आप घूम गयी दरवाजे की तरफ। देखा, वहाँ पद्मा खड़ी थी।

इस वेला में, इस मौसम में और बरसते हुए पानी में—आश्चर्य हुआ मुझे। मगर यह क्या? वह जरा-सी भी भींगी नहीं थी। कपड़े भी गीले नहीं हुए थे उसके। उठ कर बत्ती जलाने के लिए आगे बढ़ा मगर रोक दिया पद्मा ने। नहीं, प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं।

अपनी खोज और अब तक की उपलब्धियों के सम्बन्ध में सोच-विचार कर रहे हो न? एकाएक पद्मा पूछ बैठी।

हाँ! उसी के विषय में विचार कर रहा था। मगर तुम पहले यह बतलाओ कि इतने दिनों रही कहाँ? तुम्हारे अभाव में बार-बार अकुला उठता

था मेरा मन। हर समय थिरकता रहता था तुम्हारा रूप। हर समय तुम्हारी ही मनोहर छवि छायी रहती थी मस्तिष्क में ! एक ही साँस में इतना सब कह डाला मैंने।

हम दोनों का यौगिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के अतिरिक्त मैं तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकती और तुम्हें भी इस प्रकार के व्यावहारिक प्रश्न मुझसे नहीं करने चाहिए।

जब से तुम मिली हो तबसे न जाने क्या हो गया है मुझे। तुमसे बहुत पहले शायद पिछले किसी जन्म में मिल चुका हूँ—ऐसा लगता है मुझे कभी-कभी।

हाँ ! काल के तिमिराच्छन्न अन्तराल में बहुत कुछ छिपा है। मगर उन्हें अभी जानने-समझने की आवश्यकता नहीं। समय आने पर अपने आप सारा रहस्य अनावृत हो जायेगा तुम्हारे सामने। फिर एक लम्बी साँस लेकर पद्मा ने आगे कहा--तमाम उन्हीं रहस्यों को अपनी आत्मा में समेट कर ले आयी हूँ मैं काशी।

थोड़ा रुककर पद्मा ने एक बार मेरी ओर देखा और फिर कहा--तुमने अपने पूर्व संस्कार के वशीभूत होकर अध्यात्म के जिस विषय का चयन किया है खोज के लिए--वह इतना गहन और गम्भीर है कि उसकी थाह पाना अत्यन्त कठिन है। मैं पूरे बारह वर्ष तक हिमालय में साधना कर वापस लौटी हूँ, लेकिन मुझसे कोई पूछे कि क्या अनुभव हुए अथवा क्या उपलब्धि हुई ? तो उत्तर में मैं यही कहूँगी कि जो प्राप्त होना चाहिए--वह अभी बहुत दूर है। उपलब्धि की सीमा पर पहुँचने के लिए शायद कई जन्म लेना पड़े मुझे। साधनामार्ग में तृष्णा की वृद्धि स्वाभाविक है। अध्यात्म के प्रति अतृप्ति शुभ है। होनी ही चाहिए अतृप्ति।

थोड़ा रुक कर आगे बोली पद्मा--कुण्डलिनी के सम्बन्ध में बहुत सारे विषय ऐसे हैं, जिनसे अभी अपरिचित हो तुम। जैसे 'ध्यान' ! सारी साधनाओं के मूल में 'ध्यान' है। तुमको मालूम होना चाहिए कि योग, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि का अविष्कार ध्यान की विशेष अवस्थाओं में हुआ है। तथा ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न आसन और मुद्राएँ बन जाती हैं, जिन्हें देखकर साधक की स्थिति बतलायी जा सकती है। इसके विपरीत यदि वे आसन और मुद्राएँ सीधे की जायें तो ध्यान की वही भावदशा बन सकती है। अब प्रश्न यह है कि क्या आसन, प्राणायाम, मुद्रा और बन्धों के अभ्यास से ध्यान उपलब्ध हो सकता है ? ध्यान-साधना में उसका क्या उपयोग है ?

ध्यान में घटित घटनाएँ : विशिष्ट आन्तरिक रूपान्तरणों के लक्षण

आध्यात्मिक भूमि से अवगत लोगों का एक स्वर में कहना है कि प्रारम्भिक

रूप से ध्यान ही उपलब्ध हुआ। लेकिन ध्यान के अनुभव से ज्ञात हुआ कि शरीर बहुत-सी आकृतियाँ लेना शुरू करता है। वास्तव में जब भी मन की एक दशा होती है तो उसके अनुकूल शरीर भी एक आकृति लेता है। जैसे जब कोई व्यक्ति प्रेम में होता है तो उसका चेहरा और ढंग का होता है। वही व्यक्ति जब क्रोध में होता है तो और ढंग का हो जाता है। ऐसे ही कोई व्यक्ति क्षमा में होता है तो उसकी मुट्ठी कभी नहीं बँधती, हाथ खुला हुआ होता है। क्षमा का भाव अगर किसी आदमी में हो तो वह क्रोध की भाँति मुट्ठी बांध कर नहीं रह सकता। मुट्ठी बाँधना दूसरे को भय देना है। मुट्ठी खोलकर खुला हाथ कर देना अभय देना है। शरीर का उपयोग ही यही है कि मन जिस अवस्था में हो शरीर तत्काल उस अवस्था के योग्य हो जाय। शरीर मन का अनुगामी है। वह पीछे अनुगमन करता है। तो साधारण स्थिति में हमें पता है कि एक आदमी क्रोध में क्या करेगा? यह भी पता है कि प्रेम में क्या करेगा? यह भी पता है कि क्षमा और श्रद्धा में क्या करेगा? लेकिन इससे भी गहरी स्थितियों का हमें कोई पता नहीं है। जब आन्तरिक चित्त में वे गहरी स्थितियाँ पैदा होती हैं तब भी शरीर में बहुत कुछ होता है। मुद्रायें बनती हैं––जो मन की बहुत बड़ी सूचक हैं। जो भीतर की सूचना देती है। आसन भी बनते हैं, जो कि परिवर्तन के सूचक हैं। वास्तव में भीतर की स्थितियों की तैयारी के समय तो बनते हैं—आसन और भीतर की स्थितियों की सूचना देने के समय बनती है––मुद्राएँ। भीतर जब एक परिवर्तन चलता है तो शरीर को भी उस नये परिवर्तन के योग्य सन्तुलन खोजना पड़ता है।

जब कुण्डलिनी भीतर जाग जाती है तो उसके लिए मार्ग देने के लिए शरीर आगे-तिरछे न मालूम कितने रूप लेता है। कुण्डलिनी को अपने लिए अनुकूल मार्ग प्राप्त करने के प्रयास में शरीर की रीढ़ को कई स्थानों से तोड़ना पड़ता है। इसी प्रकार जब कुण्डलिनी जाग रही होती है, उस समय सिर भी कई स्थितियाँ लेता है। शरीर को भी ऐसी स्थितियाँ लेनी पड़ती हैं, जो उसने कभी नहीं ली। जैसे जब हम जागते हैं तो शरीर खड़ा होता है या बैठता है। जब हम सोते हैं तब खड़ा और बैठा नहीं रह पाता। उसे लेटना पड़ता है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि हमारे शरीर की स्थितियाँ हमारे चित्त की स्थिति के अनुकूल बनती हैं।···तो हमारे भीतर की ऊर्जा के जागरण और विभिन्न रूपों में गति करने से आसन बनने शुरू हो जाते हैं। विभिन्न चक्र भी शरीर को विभिन्न आसनों में ले जाते हैं और मुद्राएँ पैदा होती हैं। जब साधक के भीतर की स्थिति बनने लगती है, तब भी उसके हाथ-पैर चेहरा, आँख, पलकें सबकी मुद्राएँ बदल जाती हैं। यह सब ध्यान में होता है।

लेकिन इससे विपरीत बात भी स्वाभाविक रूप से खयाल में आयी है कि यदि हम इन सारी क्रियाओं को करें तो ध्यान उपलब्ध हो जायेगा ? इसे समझना आवश्यक है। ध्यान में ये क्रियाएँ होती हैं, लेकिन फिर भी अनिवार्य नहीं हैं। यानि ऐसा नहीं है कि सभी साधकों की एक-सी क्रिया हो। एक बात खयाल में रखना आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक साधक के चित्त की, शरीर की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। तो सभी साधकों का एक जैसा होना सम्भव नहीं है। अब जैसे किसी साधक के चित्त में, मस्तिष्क में खून की गति कम है और कुण्डलिनी जागरण के लिए मस्तिष्क में खून की गति की अधिक आवश्यकता है--तो इस स्थिति में वह शीर्षासन में चला जायेगा। लेकिन सभी नहीं चले जायेंगे। क्योंकि सभी के मस्तिष्क में खून की स्थिति और अनुपात अलग-अलग है। सबकी अपनी आवश्यकता भी अलग-अलग है। सबकी स्थितियाँ एक जैसी नहीं हैं।

आसनों और मुद्राओं से क्या चित्त में परिवर्तन सम्भव है ?

सर्वप्रथम फर्क यह पड़ेगा कि जब कोई ऊपर से आसन करेगा तो उसे इस बात का पता नहीं चलेगा कि वह उसकी आवश्यकता है या नहीं है। आसन कभी सहायता भी पहुँचा सकता है और कभी नुकसान भी पहुँचा सकता है। यदि उसकी आवश्यकता नहीं है तो नुकसान होगा। अगर आवश्यकता है तो लाभ हो जायेगा। लेकिन यह अनिश्चिय का मामला होगा। यह एक कठिनाई है। दूसरी कठिनाई यह है कि जब भीतर कुछ घटित होता है और उसके साथ बाहर भी कुछ घटित होता है तब तो भीतर की ऊर्जा बाहर की ओर सक्रिय होती है। लेकिन जब हम बाहर कुछ करते हैं तब वह केवल अभिनय होकर रह जाता है।

पद्मा बोली--जैसा कि मैंने कहा कि जब हम क्रोध में होते हैं तो मुट्ठियाँ अपने आप बँध जाती हैं। लेकिन मुट्ठियाँ बँध जाने से क्रोध नहीं आ सकता। हम मुट्ठियाँ बाँधकर बिलकुल अभिनय कर सकते हैं, लेकिन उस अभिनय के भीतर क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता। क्रोध आयेगा ही नहीं। फिर भी अगर भीतर क्रोध लाना हो तो मुट्ठियाँ बाँधना सहयोगी सिद्ध हो सकता है। अनिवार्यतः भीतर क्रोध जन्म लेगा, यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन मुट्ठी न बँधने और बँधने में अगर चुनाव करना हो तो मुट्ठी बाँधने में क्रोध के पैदा होने की सम्भावना बढ़ जायेगी, बजाय मुट्ठी खुली होने के। इतनी थोड़ी-सी सहायता मिल सकती है। अब जैसे एक आदमी शान्त स्थिति में आ गया है, तो उसके हाथ की शान्त मुद्रा बनेगी। लेकिन एक आदमी हाथ की शान्त मुद्राएँ बनाता रहे तो चित्त अनिवार्यरूप से शान्त होगा, यह निश्चित नहीं हैं। हाँ ! फिर भी शरीर को विशेष स्थिति में चित्त को शान्त होने में सहायता मिलेगी। क्योंकि शरीर तो अपनी अनुकूलता प्रकट कर देगा कि हम तैयार

हैं। अगर चित्त को बदलना हो तो बदल जाय। लेकिन फिर भी केवल शरीर की अनुकूलता से चित्त नहीं बदल पायेगा। और इनका कारण मात्र यही है कि चित्त तो आगे है और शरीर सदा उसका अनुगामी है। इसलिए चित्त बदलता है तब तो शरीर बदलता ही है। लेकिन शरीर के बदलने से केवल चित्त के बदलने की सम्भावना भर पैदा होती है। निश्चित रूप से बदलाहट हो नहीं जाती।

केवल आसन-मुद्राओं के अभ्यास से चित्त में परिवर्तन का भ्रम

इसलिए भ्रान्ति का भय है कि कोई आदमी आसन ही करता रहे। मुद्राएँ ही सीखता रहे। और समझ ले कि बात पूरी हो गयी। ऐसा हुआ है। हजारों वर्षों से ऐसा ही हो रहा है कि लोग आसन और मुद्राएँ कर रहे हैं और समझ रहे हैं कि 'योग' साध रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे योग से ध्यान तो खयाल से उतर गया। अगर आप किसी से कहो कि अमुक स्थान पर योग की साधना होती है तो आपके मन में तुरन्त खयाल आयेगा कि निश्चय ही वहाँ आसन-प्राणायाम इत्यादि होता होगा। इसलिए मैं अवश्य कहूँगी कि अगर साधक की आवश्यकता समझी जाये तो उसके शरीर की कुछ स्थितियाँ उसके लिए सहयोगी बनायी जा सकती है। लेकिन इनका कोई अनिवार्य परिणाम नहीं है। इसलिए कुण्डलिनी योग यही कहता है कि साधना भीतर से शुरू होनी चाहिए, बाहर से नहीं।

आन्तरिक रूपान्तरण की ध्यान प्रक्रिया : योग विद्या का स्रोत

यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि जितने भी योगासन हैं—वे सब ध्यान की स्थितियों में आकस्मिक रूप से ही उपलब्ध हुए हैं। उन्हें किसी ने सोच-समझकर निर्मित नहीं किया है। वह तो ध्यान की अवस्था में शरीर ने वैसी स्थितियाँ ले ली है और तब पता चला कि वे स्थितियाँ हैं। और तब धीरे-धीरे इस रहस्य का भी पता चला कि जब मन एक दशा में जाता है तब शरीर भी उसी दशा में चला जाता है। तब फिर खयाल आता है कि अगर शरीर को इस दशा में ले जाया जाय तो मन भी उस दशा में चला जायेगा।

जैसे हमें पता है कि अगर भीतर से रोना आ जाय तो आँखों में आँसू अपने-आप आ जाते हैं। अगर आँखों में आँसू भर जायें तो भीतर से रोना आ जायेगा। ये एक ही वस्त्र के दो छोर हो गये। जैसा कि कहा गया है—हमें क्रोध आता है तो किसी के सिर के ऊपर हमारा हाथ उसे मारने को अपने आप उठ जाता है। मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। दाँत भिंच जाते हैं। आँखें लाल हो जाती हैं। और जब प्रेम उत्पन्न होता है तब न मुट्ठी बँधती है, न दाँत भिंचते हैं और न तो आँखें लाल होती हैं। तब कुछ और ही होता है।

तब क्रोध के समय का कोई भी भाव प्रकट नहीं होता। प्रेम की अपनी व्यवस्था है। ऐसे ही ध्यान की प्रत्येक स्थिति में भी शरीर की अपनी व्यवस्था है। इसको ऐसा समझें कि अगर शरीर की उस व्यवस्था में आपने बाधा डाली तो भीतर चित्त की व्यवस्था में भी बाधा पैदा हो जायेगी। जैसे कोई आपसे कहे कि क्रोध करिए, मगर आँखें लाल न हो, दाँत न भिचें और मुट्ठी न बँधे। तो क्या आप क्रोध कर पायेंगे? नहीं! क्योंकि शरीर का यह आनुषंगिक हिस्सा है। इसके बिना आप कैसे क्रोध कर पायेंगे? कोई कहें, आप केवल प्रेम करिए? प्रेम से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का भाव प्रकट मत होने दीजिये। तो आप कहेंगे, कठिन है यह। ऐसा नहीं हो सकता है।

योगासन और मुद्राओं का सहज प्रकटीकरण

गहरे ध्यान की स्थितियों में शरीर विशेष रूप से मुड़ने लगे और घूमने लगे—उस समय यदि आप उसे रोकते हैं तो भीतर की स्थिति को भी आप पंगु कर देंगे। अगर एक बार वह स्थिति पंगु हो गयी तो फिर आगे नहीं बढ़ेगी।

जितने योगासन हैं—वे सब ध्यान की स्थितियों में ही उपलब्ध हुए हैं। मुद्राओं का बहुत विस्तार हुआ है। आपने अनेक प्रकार की बुद्धमूर्तियाँ देखीं होंगी। बहुत मुद्राओं में देखी होंगी। वे सभी मुद्रायें भी मन की किन्हीं विशेष अवस्थाओं में उत्पन्न हुई हैं। आगे चल कर फिर तो मुद्राओं का एक शास्त्र ही बन गया। बाहर से देखकर कहा जा सकता है—अगर आप झूठ न कर रहे हो और ध्यान में सीधे बह जायें तो आपकी जो मुद्रा बनेगी, उसे देखकर भी बाहर से कहा जा सकता है कि भीतर आपकी क्या स्थिति है? ध्यान की अवस्था में जो स्थिति भीतर उत्पन्न होती है—उसे रोकें मत। बाहर प्रकट होने दें। आसनों और मुद्राओं का निर्माण ऐसी अवस्था में जब होता है तब उनके द्वारा भीतर की स्थिति के अनुसार ऊर्जा प्रवाहित होती है। यदि आप भीतर की स्थिति को रोकते हैं तो ऊर्जा का प्रवाह बन्द हो जायेगा और ऊर्जा का प्रवाह बन्द होने पर आप उन्माद से भर जायेंगे। जो लोग इस तथ्य से परिचित नहीं हैं, वे कहेंगे—आप मस्त हो गये हैं, औलिया हो गये हैं। हर्षोन्माद से भर गये हैं। यह हो गये हैं। वह हो गये हैं। लेकिन वास्तव में आप हो जाते हैं पागल। आप स्वयं भी समझ नहीं पायेंगे कि क्या हो गया है मुझे। ऐसी अवस्था में आपकी प्रगति रुक जायेगी।

ध्यान बारह प्रकार का है और प्रत्येक ध्यान की अवस्था से सात-सात आसन और सात-सात मुद्राओं का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार ८४ आसन और ८४ मुद्राएँ हैं। जिन योगियों के द्वारा उन आसनों और मुद्राओं की अभिव्यक्ति हुई है, उन्हें चौरासी सिद्ध के नाम से सम्बोधित किया जाता हैं। योग में चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध हैं।

ध्यान-साधना द्वारा नृत्य-विद्या का जन्म

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो नृत्य का जन्म भी ध्यान द्वारा ही हुआ है। नृत्य का मूल स्रोत एकमात्र 'ध्यानयोग' ही है। जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण हैं — उसके मूल स्रोत कहीं-न-कहीं ध्यान से सम्बन्धित हैं। मीरा नृत्य सीखने कहीं नहीं गयी थी। और लोग सोचते होंगे कि मीरा ने नाच-नाच कर भगवान् को पा लिया तो वे गलत सोचते हैं। मीरा ने भगवान् को नाच-नाच कर पा लिया—यह बिलकुल दूसरी बात है। नाच-नाच कर कोई भगवान् को नहीं पाता है। लेकिन कोई भगवान् को पा लें तो नाच सकता है। जब किसी भिखारी के द्वार पर अनन्त खजाना टूट पड़े और भिखारी न नाचे तो क्या करें। भगवान् शिव के ताण्डव नृत्य को ले लें। उनके गहन ध्यान की अवस्था में प्रवेश करने पर ही उस ताण्डव नृत्य का सृजन हुआ था और वह भी अपने आप।

मानव-शरीर में ऊर्जा का विपुल भण्डार

सम्पूर्ण जगत् ऊर्जा का विस्तार है और ऊर्जा का सघन हो जाना जीवन है। जो हमें पदार्थ की भाँति दिखलाई पड़ता है—वह भी ऊर्जा या शक्ति है। जो हमें जीवन की भाँति दिखलाई पड़ता है, जो विचार की भाँति अनुभव होता है, जो चेतना की भाँति प्रतीत होता है — वह भी उसी ऊर्जा, उसी शक्ति का रूपान्तरण है। जगत् में और जीवन में जो है — वह सब एक ही ऊर्जा और एक ही शक्ति का अनन्त-अनन्त रूपों में प्रकटन है।

हम कहाँ शुरू होते हैं और कहाँ समाप्त होते हैं—यह कहना कठिन है। हमारा शरीर भी कहाँ समाप्त होता है? यह भी कहना कठिन है। जिस शरीर को हम सीमा मान लेते हैं अपनी लेकिन वह भी हमारे शरीर की सीमा नहीं है। हमारा व्यक्तित्व और हमारा शरीर सम्पूर्ण जगत् से, सम्पूर्ण आकाश से और उस आकाश में विद्यमान सम्पूर्ण ग्रह-नक्षत्रों से एक विशेष ऊर्जा के माध्यम से जुड़ा हुआ है। कहाँ है हमारे शरीर का अन्त? कहीं नहीं! अनन्त और असीम है हमारा शरीर, सर्वत्र हमारे जीवन का केन्द्र है और हर जगह है विस्तार। लेकिन उस केन्द्र का और उस विस्तार का हमें बोध और अनुभव तभी होगा — जब हम स्वयं जीवन्त ऊर्जा बन जायेंगे और बन जायेंगे स्वयं एक जीवन्त शक्ति-पुञ्ज।

'मगर यह कैसे सम्भव है'?

जिस ऊर्जा की चर्चा ऊपर की गयी है––वह एक अति सूक्ष्म स्नायु-तन्तु––जिसे योग की भाषा में कुण्डलिनी कहते हैं — के भीतर प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है। जिसे ध्यान कहते हैं — वह हमारे भीतर उस प्रसुप्त ऊर्जा को जगा देने का नाम है। जब आप ध्यान की गहरायी में प्रवेश करेंगे, उस समय

आपके भीतर वह जो ऊर्जा है—जो शक्ति है—उसका विस्फोट होगा। उस ऊर्जा के विस्फोट का ही दूसरा नाम कुण्डलिनी-जागरण है। समझ गये न। और जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो सारा शरीर ऊर्जामय हो जाता है। अंग-प्रत्यंग से ऊर्जा का प्रवाह होने लग जाता है।

० ० ०

पानी का बरसना अब थम गया था, लेकिन आकाश में बादल अभी भी घिरे हुए थे। कभी किसी क्षण पानी फिर बरस सकता था। मेरा अनुमान ठीक ही निकला। अचानक बिजली चमकी। दूर दिगंत तक चमकीली रेखा खिंच गयी। बारिश ने फिर जोर पकड़ लिया। झर-झर कर बरसने लगा आसमान। उद्दाम हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा बारिश की लय-लय के साथ। गीली-बरसाती हवा का एक तेज झोंका आया और ठण्डी हवा कमरे के भीतर फैल गयी एकबारगी।

वह विचित्र अनुभव

पद्मा का व्यक्तित्व उस वातावरण में बड़ा ही रहस्यमय लग रहा था मुझे। दूसरे क्षण अपने बिलकुल निकट अनुभव किया मैंने पद्मा के अस्तित्व का। चन्दन की गन्ध और तीव्र हो उठी। उद्‌भासित हो गया तन-मन। न जाने कब की अस्थिर आत्मा शान्त हो गयी एकाएक। उसी समय पद्मा का स्वर सुनायी दिया—क्या तुम मेरे शरीर की ऊर्जा का चमत्कार देखोगे।

न जाने कैसे मेरे मुँह से निकल गया—हाँ !

दूसरे क्षण पद्मा के हाथ का स्पर्श हुआ मुझे अपने सिर पर। एक क्षण, दो क्षण, फिर अनगिनत क्षण···सहसा बाह्य चेतना लुप्त हो गयी मेरी। और जब चेतना वापस लौटी तो मैं पार्थिव शरीर और पार्थिव संसार से अलग था। अपने शरीर की ओर देखा—बैठा था शान्त और निर्विकार। सिर पर हाथ रखा था पद्मा का और वह भी अपने स्थान पर शान्त-निर्विकार बैठी थी। अपने शरीर को इस प्रकार अपने से अलग देखकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। एक बार मोह जगा उसके प्रति, मगर दूसरे क्षण विरक्त हो उठा मन। उस समय अपने-आप में मुझे एक विचित्र अनुभूति हो रही थी और उसी स्थिति में मैंने देखा कि पद्मा भी अपने पार्थिव शरीर से अलग हो गयी थी। उसने अलग होकर एक बार मेरी ओर देखा और उसको देखते ही मेरे सामने से मेरा और उसका पार्थिव शरीर गायब हो गया सहसा। अब मैं था और थी पद्मा और चारों ओर फैला हुआ था गुलाबी रंग का हलका-हलका-सा प्रकाश !

प्रकरण : बाईस

स्थूल शरीर और मूलाधार चक्र की सम्भावनाएँ

हम दोनों उस अवस्था में जिस शरीर में थे, वह पारदर्शक और कुहरे जैसा था। पद्मा ने कहा — जानते हो, हम और तुम जिस शरीर में हैं — वह वासना के कणों से निर्मित आकाशीय शरीर यानि भावशरीर है। इसे प्रेत-शरीर भी कह सकते हो। स्थूल शरीर के बाद मनुष्य का यह दूसरा शरीर है। इस शरीर के बीज का स्थान स्वाधिष्ठानचक्र है। इसी प्रकार पहले शरीर यानि भौतिक शरीर के बीज का स्थान मूलाधारचक्र है। इस अवस्था में तुमको मैं दोनों शरीरों और दोनों चक्रों के विषय में बतलाऊँगी। भौतिक शरीर और मूलाधारचक्र पहला शरीर और पहला चक्र है। मूलाधारचक्र भौतिक शरीर का केन्द्र है।

मूलाधारचक्र की दो सम्भावनाएँ हैं। पहली सम्भावना है — कामवासना और दूसरी सम्भावना है — ब्रह्मचर्य। पहली है प्रकृति-प्रदत्त और दूसरी है साधना-प्रदत्त। कामवासना प्राकृतिक है। लेकिन जब मूलाधारचक्र का भेदन होता है तो उस अबस्था में कामवासना तिरोहित हो जाती है और उसके स्थान पर फलित होता है ब्रह्मचर्य। वास्तव में कामवासना का रूपान्तरण है ब्रह्मचर्य। जितनी मात्रा में चित्त कामवासना में केन्द्रित होगा, उतना ही दूसरी सम्भावना ब्रह्मचर्य से वह दूर होगा।

ये दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति प्रकृति से प्राप्त हुई हैं हमें, जिसमें हम जीते हैं। यदि हम उसी में जीते रहें तो साधनामार्ग पर हम कभी भी आरूढ़ नहीं हो सकते। जो स्थिति साधना से उत्पन्न होती है वह यह कि हम उसे 'ब्रह्मचर्य' में रूपान्तरित करें। बस यही रूपान्तरण भौतिक शरीर की साधना है। मगर रूपान्तरण सम्भव कैसे है? इस सम्बन्ध में पद्मा ने बतलाया कि भौतिक शरीर की वास्तविक माँग है — ब्रह्मचर्य। मगर इसके लिए वासना का दमन होना चाहिए। लेकिन साधनामार्ग में 'दमन' बाधा है और इस बाधा के कारण कभी भी रूपान्तरण सम्भव नहीं।

'यदि दमन बाधा है तो व्यक्ति फिर साधक कैसे बनेगा? उसकी साधना भी क्या होगी'?

व्यक्ति की 'समझ' ही उसकी साधना का साधन बनेगा। जो व्यक्ति 'कामवासना' को और उसकी उपयोगिता की तमाम गहराइयों को जितना अधिक समझेगा, उतना ही अधिक उसके भीतर रूपान्तरण भी होगा, समझ गये न तुम।

इसका कारण क्या है—मैंने पूछा।

पद्मा ने कहा—प्रकृति के जितने भी मौलिक तत्त्व हमारे शरीर के भीतर हैं—वे सबके-सब सब मृत हैं और पड़े हैं पूर्ण अन्धकार में मूर्च्छित। अगर हम उनके प्रति जागरूक हो जायें और उनके रूप-गुण और उनकी उपलब्धियों को भलीभाँति समझ जायें तो अपने-आप कामवासना ब्रह्मचर्य में रूपान्तरित होने लग जायेगी धी-धीरे। और उसी के साथ हमें यह भी अनुभव होने लग जायेगा कि हमारे भीतर कोई ऐसी नयी चीज जन्म लेने लगी है जिसका ज्ञान हमें पहले कभी नहीं था। अगर हम वास्तव में अपनी कामवासना के प्रति पूरे भाव, पूरे चित्त और पूरी समझ के साथ काम लें तो हमारे भीतर कामवासना के स्थान पर ब्रह्मचर्य का आविर्भाव होना शुरू हो जायेगा। योग में इसके लिए बिन्दु-साधना और तंत्र में भैरवी-साधना है। इन दोनों साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य है—कामवासना को ब्रह्मचर्य में रूपान्तरित करना। मगर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उनका मार्ग अलग-अलग है। दोनों तपश्चर्या हैं। लेकिन बिन्दु-साधनामार्ग की जो तपश्चर्या है वह आन्तरिक है, जबकि भैरवी-साधनामार्ग की तपश्चर्या बाह्य है। तंत्रसाधक गण योग्य और दीक्षित भैरवी की सहायता से वासना का रूपान्तरण ब्रह्मचर्य में करते हैं। मगर यह बड़ा ही कठिन और दुस्साहस का मार्ग है। सभी के लिए सम्भव नहीं है यह। वास्तव में यह तंत्र की गुह्य-विद्या और गोपनीय साधना है। अन्त में यह समझ लेना चाहिए कि जब तक व्यक्ति मूलाधारचक्र का भेदन नहीं कर लेता और जब तक भौतिक शरीर पर कामवासना को ब्रह्मचर्य में रूपान्तरित अथवा परि-वर्जित नहीं कर लेता तब तक दूसरे शरीर यानि भावशरीर के साथ साधना करना कदापि सम्भव नहीं।

वासनालोक और तामसिक वृत्तियाँ

भौतिक जगत् और भौतिक शरीर के बाद है—वासना-जगत् और वासना-शरीर यानि प्रेत-शरीर। वासनालोक का ही दूसरा नाम प्रेतलोक है। उस समय में जिस शरीर में और जिस वातावरण में था—वह था वासना-शरीर और वासनालोक। चारों ओर मानवीय घृणा, हिंसा, द्वेष, क्रोध, भय आदि से भरा था वासनालोक का वासनामय वातावरण।

वहाँ मुझे एक नयी वात का पता चला—वह यह कि स्थूल जगत् में मानव की तमाम असद् वृत्तियाँ, असद् विचार और तमाम असद् भावनाएँ एकत्र होकर वासनालोक में बराबर घनीभूत होती रहती हैं। और घनीभूत होकर जब वे अपनी चरम सीमा पर पहुँचती हैं तब वे संसार में भयंकर तामसिक अथवा असत् प्राणी के रूप में जन्म ले लेती हैं और जन्म लेकर भयंकर संघर्ष, भयंकर रक्तपात एवं भयंकर युद्ध का वातावरण उत्पन्न कर देती हैं। इतना ही नही, उनके द्वारा समाज में घृणा एवं द्वेष के अतिरिक्त भयानक पापाचार,

व्यभिचार, बलात्कार आदि का भी सामूहिक ताण्डव नृत्य शुरू हो जाता है। धर्म का नाश होने लगता है। संसार और समाज की शान्ति और मर्यादा भंग होने लगती हैं। उनके सिद्धान्त और नियम भी टूटने लगने हैं। प्रकृति में विकृति भी उत्पन्न होने लगती है। सामूहिक नर-संहार जो होता है—वह अलग। रही धर्म की बात तो वह भी लुप्त हो जाता है—इस प्रतीक्षा में कि कोई महापुरुष अवतरित होकर उसकी रक्षा करेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं आज तक संसार में इस प्रकार की जितनी भी घटनाएँ घटी हैं और जिन लोगों के द्वारा घटी, उसके मूल में एक मात्र यही कारण रहा है। यह श्रृंखला कभी टूटने वाली नहीं है। आज भी वासनालोक की तमाम असद् और कुत्सित वृत्तियाँ घनीभूत होकर संसार में उन व्यक्तियों के रूप में जन्मी हैं, जिनके द्वारा प्राय: सभी देशों में भयंकर रक्तपात, सामूहिक नरसंहार के साथ-साथ भयंकर युद्ध का वातावरण भी पैदा हो गया है। (विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—परलोकविज्ञान)

एक चमत्कारी घटना

धीरे-धीरे गुलाबी रंग का वह हलका प्रकाश सिमटने लगा और उसी के साथ वासनालोक की सत्ता भी मेरे सामने से लुप्त होने लगी। जब मैं अपने भौतिक शरीर में वापस लौटा तो ऐसा लगा, मानों मैं गहरी नींद से जागा हूँ और उस स्थिति में मैंने लम्बा सपना देखा हो। विश्वास नहीं हो रहा था कि मैं जीते जी इस संसार से इस शरीर को छोड़ कर मृत व्यक्ति की तरह वासनालोक यानि प्रेतात्माओं की दुनिया में चला गया था। इस रहस्य के बारे में जब मैं सोच रहा था, तभी एकाएक पद्मा की याद आ गयी। सबेरा होने वाला था। मैंने कमरे में उस समय उसी अंधेरे में चारों तरफ नजर घुमा कर देखा, मगर पद्मा वहाँ नहीं थी। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। दरवाजा भीतर से बन्द था और सिटकिनी लगी हुई थी। बिना सिटकिनी खोले बिना दरवाजा खोले कमरे के बाहर कैसे गयी पद्मा? बाहर निकलने के लिए कोई दूसरा दरवाजा भी तो नहीं था।

पद्मा ने मेरे मन में जिन रहस्यों की अब तक सृष्टि की थी वह और घनीभूत हो उठी इस घटना से। दो महीने फिर दर्शन नहीं हुए पद्मा के। उन्हीं दिनों अपने एक आवश्यक कार्य से मुझे कलकत्ता जाना पड़ गया। एक साँझ को जब मैं नित्य की भाँति भूतनाथ और माँ कालीजी का दर्शन कर लौटा तो देखा, दरवाजे पर एक सुन्दर-सी किशोरी खड़ी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष से अधिक नहीं थी उसकी। गोरा रंग, लम्बा कद, इकहरी देह, झील-सी गहरी ओर बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बी नुकीली नाक और गुलाब की पंखुड़ियों जैसा कोमल और रक्ताभ होठ।

मुझे देखकर वह किशोरी धीरे से मुस्करायी और फिर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया उसने, फिर धीरे से बोली—आप ही अरुण कुमार शर्मा है ?

जी हाँ कहिए, क्या काम है ? उसकी ओर गहरी नजर से देखते हुए मैंने पूछा ।

मेरा नाम सुषमा है । मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट में रहतीं हूँ मैं । थोड़ा रुक कर फिर बोली वह—'आप पद्माजी को जानते हैं ?

हाँ ! हाँ, जानता हूँ । मगर तुम उनको कैसे जानती हो ?

यह सुनकर सुषमा मुस्कराकर बोली—भला मैं उनको कैसे न जानूँगी । वे मेरे ही परिवार की तो हैं ।

तुम्हारे परिवार की ?···कहाँ हैं वे ? जानती हो तुम ? व्यग्र होकर पूछा मैंने ।

यही तो बतलाने के लिए इतनी दूर से चलकर आयी हूँ मैं । उन्होंने ही तो भेजा है मुझे । कहा है साथ ही लेकर आना शर्माजी को ।

हे भगवान् ! कलकत्ता कैसे आ गयी पद्मा ? कैसे यह जान गयी कि मैं भी इस समय कलकत्ता में हूँ ? कलकत्ता का मेरा पता किसने बतलाया उनको ? कैसे जान गयी मेरा ठिकाना वह ? घोर आश्चर्य और कौतूहल से भर गया मेरा चित्त । रहस्य और गहरा हो गया पद्मा का । उसी समय चल पड़ा मैं सुषमा के साथ ।

साधक सिद्धेश्वर गोस्वामी

मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट ! थोड़ी दूर चलने के बाद एक सँकरी गली मिली । उसी गली में चार-पाँच मकान छोड़कर एक काफी लम्बा-चौड़ा हवेलीनुमा पुराना मकान था । मुझे उसी मकान की चौथी मंजिल पर ले गयी वह किशोरी ।

बाँयीं ओर हालनुमा एक बहुत बड़ा कमरा था । उसी कमरे में बैठी हुई थी पद्मा ! किसी भद्र पुरुष से बातें कर रहीं थी वह । मुझे देखकर मुस्करायी, फिर बैठने का संकेत किया उन्होंने ।

जिस भद्र पुरुष से वे बातें कर रही थी, वे मुझे असाधारण लगे । उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व किसी सिद्ध योगी पुरुष-सा लग रहा था मुझे । अनुमान सच निकला मेरा । योगमाया प्रज्ञा के पिता दुर्गाचरण नाग महाशय के गुरुभाई थे वे । एक बार प्रसंगवश योगमाया ने ही मुझे बतलाया था उनके विषय में । नाम था सिद्धेश्वर गोस्वामी । बंगाल के प्रसिद्ध योगी विजयकृष्ण गोस्वामी के वंश-परम्परा के थे वे । (विजयकृष्ण गोस्वामी का मठ वाराणसी के सुनार-पुरा मुहल्ले में आज भी विद्यमान है ।) उस समय कुण्डलिनी-साधना के अन्तर्गत भावशरीर और स्वाधिष्ठानचक्र का प्रसंग चल रहा था ।

भावशरीर और स्वाधिष्ठानचक्र की सम्भावनाएँ

जैसा कि बतलाया जा चुका है—मनुष्य का दूसरा शरीर भावशरीर है और उसका बीजस्थान स्वाधिष्ठानचक्र है। इस चक्र की भी दो सम्भावनाएँ हैं। प्रकृतिप्रदत्त जो सम्भावनाएँ हैं, वह है—भय, घृणा, द्वेष और हिंसा। ये चारों सम्भावनाएँ भावशरीर के गुण हैं। जो यथावसर भावशरीर में ही प्रकट होते हैं। इन चारों के ठीक प्रतिकूल जो सम्भावनाएँ हैं और जो साधनाप्रदत्त हैं, वे हैं—प्रेम, करुणा, अभय और मैत्री। ये चारों हमें स्वाधिष्ठानचक्र के भेदन से उपलब्ध होते हैं।

षट्चक्र-भेदन का उद्देश्य

इस सम्बन्ध से सिद्धेश्वर गोस्वामी ने बतलाया कि प्रकृति-प्रदत्त जितनी भी सम्भावनाएँ हैं, उनको लेकर जीना पशुभाव है। जब तक पशुभाव में मनुष्य रहता है, तब तक जीवन-मरण से मुक्ति सम्भव नहीं है उसके लिए। कुण्डलिनी-साधना का एक मात्र लक्ष्य है—पशुभाव से मुक्त होकर क्रम से वीरभाव और दिव्यभाव को उपलब्ध होना। वीरभाव का तात्पर्य है—प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करना और दिव्यभाव का तात्पर्य है—प्रकृति पर विजय प्राप्त करना। प्रकृति-विजय का परिणाम है—जन्म-मरण से मुक्ति।

प्रत्येक चक्र प्रकृतिप्रदत्त सम्भावनाओं और उनके विपरीत की सम्भावनाओं का केन्द्र है। दोनों प्रकार की सम्भवनाएँ दुर्गुण और सद्‌गुण के रूप में चक्र से सम्बन्धित शरीर में प्रकट होते हैं।

चक्र-भेदन होने पर दुर्गुणों का प्रणास और सद्‌गुणों का आविर्भाव होता है। भय, घृणा, द्वेष और हिंसा—ये चारों दुर्गुण हमारे भावशरीर में प्रकट होते हैं। लेकिन जब सम्बन्धित चक्र का भेदन होता है तो इनका प्रणास होकर उनके स्थान पर उसी शरीर में प्रेम, करुणा, अभय और मैत्री—ये चारों सद्‌गुण आविर्भूत होते हैं। लेकिन साधनामार्ग में सबसे बड़ी बाधा है—प्रकृतिप्रदत्त सम्भावनाएँ। जहाँ तक रूपान्तरण का प्रश्न है, उसमें भी भूल हो सकती है।

कैसी भूल—मैंने जिज्ञासा प्रकट की ?

कोई व्यक्ति चाहे तो क्रोध कर सकता है। कोई व्यक्ति चाहे तो क्रोध को दबा भी सकता है। पहले इसी सम्भावना पर विचार किया जाय। मनुष्य दोनों ही काम कर सकता है। भयभीत हो सकता है और भय को दबा कर बहादुरी भी दिखा सकता है। इन दोनों ही बातों से वास्तविक रूपान्तरण सम्भव नहीं। 'भय' है, इसलिए उसे स्वीकार करना पड़ेगा। उसे दबाने या छिपाने का कोई प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार 'हिंसा' को लें। हिंसा को अहिंसा का रूप दे देने मात्र से कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं। हिंसा है, वह

दूसरे शरीर यानि भावशरीर को प्रकृति से मिली हुई सम्भावना है। प्राकृतिक दृष्टि से उसका भी उपयोग है जीवन में। जैसे कामवासना का उपयोग है। वह प्रकृति से मिली हुई सम्भावना है। क्योंकि कामवासना के द्वारा ही हम दूसरे भौतिक शरीर का निर्माण कर सकते हैं और उसको जन्म दे सकते हैं। पहला भौतिक शरीर नष्ट होने के पहले ही दूसरे भौतिक शरीर का निर्माण कर देता है। यह उसकी प्राकृतिक परम्परा है। इसी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रकृति से कामवासना की सम्भावना मिली है मनुष्य को।

इसी प्रकार क्रोध, हिंसा, भय और घृणा भावशरीर के तल पर आवश्यक हैं और अनिवार्य हैं। वर्ना मनुष्य बच नहीं सकता जीवन में। ये जीवन-यात्रा में आवश्यक हैं। इनके अभाव में अपने आपको वह सुरक्षित नहीं रख सकता। क्रोध मनुष्य को संघर्ष के मैदान में उतारता है। हिंसा मनुष्य को साधन प्रदान करती है दूसरे की हिंसा से बचने के लिए। अगर कोई भय को गहरायी से समझ लें तो उसको अभय अपने आप उपलब्ध हो जायेगा। अगर कोई हिंसा को भी गहरायी से समझ लें तो वह अपने आप उसे अहिंसा प्राप्त हो जायेगी। इसी प्रकार क्रोध के स्वरूप और कारण को भलीभाँति समझ ले तो क्षमा स्वयं उपलब्ध हो जायेगी। वास्तव में भय, हिंसा, क्रोध, घृणा, एक पहलू है और जिसका दूसरा पहलू है—अभय, अहिंसा (करुणा), क्षमा और मैत्री। प्रकृति से हमें जो सम्भावनाएँ मिली हैं—उनका रूपान्तरण करना है और इसके लिए किसी को गुरु बनाकर उससे पूछने अथवा उससे जानने-समझने की आवश्यकता नहीं है। इस जगत् में हमारे लिए वही सत्य सार्थक सिद्ध होता है, जिसे पकड़ने के लिए, जिसे ग्रहण करने के लिए और जिसे भोग लेने के लिए हमारे भीतर ग्राह्य शक्ति पैदा हो जाती है।

सूक्ष्म शरीर और मणिपूरकचक्र की सम्भावनाएँ

भौतिक जगत् एवं भाव जगत् के बाद तीसरा जगत है—सूक्ष्म जगत्। जिससे सम्बन्धित शरीर है—सूक्ष्म शरीर यानि एस्ट्रल बाडी। इस शरीर का बीजस्थान है मणिपूरकचक्र। इस चक्र की भी दो सम्भावनाएँ है। पहली है—सन्देह और विचार। दूसरी है—श्रद्धा और विवेक। पहली सम्भावना हमें प्रकृति से मिली है और दूसरी मिलती है साधना यानि मणिपूरकचक्र के भेदन से। सन्देह का रूपान्तरण है श्रद्धा और विचार का रूपान्तरण है विवेक।

सन्देह को कभी भी दबाना नहीं चाहिए। सन्देह को दबाकर विश्वास कर लेने की सलाह सभी देते हैं। ऐसे ही विश्वास को अन्धविश्वास कहते हैं। जिसने सन्देह को दबाकर विश्वास कर लिया, उसे श्रद्धा कभी भी उपलब्ध नहीं हो सकती। उसके भीतर सदैव सन्देह उपस्थित रहेगा और वह बराबर

अपना काम करता रहेगा। एक दिन उसे सन्देह उस स्थान पर पहुँचा देता है, जहाँ सन्देह पर ही सन्देह होने लगता है। और जिस दिन और जिस क्षण सन्देह पर भी सन्देह होने लगता है—उसी दिन और उसी क्षण श्रद्धा की भी शुरूआत हो जाती है अपने आप।

० ० ०

विचार को छोड़कर कोई भी विवेक को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञानी और आध्यात्मिक पुरुष विचार न करने की सलाह दिया करते हैं। विचार को त्यागने की बात करते हैं। अगर कोई विचार को छोड़ देगा, विचार नहीं करेगा, तो अविचार यानि अन्धविश्वास को अपना लेगा। यह विवेक नहीं है। इसे कभी भी विवेक नहीं कहा जा सकता। विचार की सूक्ष्मतम प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही विवेक की उपलब्धि आत्मा को होती है।

विवेक का मतलब क्या है—मैंने पूछा ?

विचार में हमेशा सन्देह विद्यमान रहता है। विचार हमेशा अनिश्चयात्मक रहता है। इसलिए जो लोग सदैव बहुत सारे विचार किया करते हैं, वे कभी कुछ निश्चित नहीं कर पाते। जब भी वे कुछ निश्चित कर पाते हैं—तब वे विचारों के जाल से बाहर होते हैं। निश्चय हमेशा विचारशून्य मन में उत्पन्न होता है। यदि कोई विचार में ही पड़ा रहेगा तो कभी भी वह कोई निश्चय नहीं कर पायेगा। विचार के साथ 'निश्चय' का कोई सम्बन्ध नहीं। मनोविज्ञान का कहना है कि विचारहीन व्यक्ति बड़ा ही निश्चयात्मक होता है और विचारवान् व्यक्ति हमेशा निश्चयहीन होता है। मगर दोनों खतरनाक होते हैं। उनसे हमेशा खतरा समझना चाहिए। क्योंकि विचारहीन बहुत ही निश्चयवान् होते हैं। वे जो करते हैं—पूरी शक्ति व पूरी ताकत से करते हैं। क्योंकि उनमें विचार का अभाव होता है, जो सन्देह उत्पन्न कर दें। विचारहीन के मन में सन्देह कभी भी उत्पन्न नहीं होता। संसार में हठधर्मी और दुराग्रही जितने लोग हैं वे निश्चय ही बड़े कर्मठ होते हैं। क्योंकि उनमें सन्देह उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं। वे कभी विचार करते ही नहीं। यदि उनसे कोई कह दे कि एक हजार आदमियों के मारने से उन्हें स्वर्ग मिलेगा तो वे एक हजार आदमियों को मारने के लिए तुरन्त तलवार लेकर खड़े हो जायेंगे। वे रुकेंगे नहीं। एक बार भी उन्हें यह ख्याल नहीं आयेगा कि वे क्या करने जा रहे हैं।

विचार करने वाला व्यक्ति सोचता चला जाता है। सोचता ही रह जाता है। अगर कोई विचार के भय से विचार का द्वार ही बन्द कर दें तो केवल अन्धविश्वास की ही उसे उपलब्धि होगी। अन्धविश्वास खतरनाक है। साधनामार्ग में भयंकर बाधा है। भयंकर उपद्रव को जन्म देने वाला है। ऐसा विचार करना चाहिए—जिसमें 'निश्चय' हो। वही विवेक है। इसी को विवेक

कहते हैं। विचार से हम इतने गुजरे हैं कि सब विचारों में जो भी सन्देह की बातें थीं वे सब समाप्त हो गयीं। अब धीरे-धीरे अन्तिम निष्कर्ष में शुद्ध निश्चय ही रह गया है—इसी का नाम 'विवेक' है।

० ० ०

जैसा कि बतलाया जा चुका है—तीसरा चक्र मणिपूरक--तीसरे शरीर सूक्ष्म शरीर का चक्र है और उसकी भी दो सम्भावनाएँ है—सन्देह और श्रद्धा। सन्देह रूपान्तरित होकर श्रद्धा बन जाता है। श्रद्धा सन्देह का शुद्धतम और विकसित रूप है। वह अन्तिम सीमा है—जहाँ सन्देह एकबारगी समाप्त हो जाता है। क्योंकि सन्देह स्वयं के लिए सन्देह बन जाता है। जिसका परिणाम होता है श्रद्धा का जन्म।

एक अन्धे व्यक्ति की जिज्ञासा और गीता का आरम्भ

सिद्धेश्वर गोस्वामी बोले—-आपने गीता का तो अध्ययन अवश्य किया होगा। उसके पहले अध्याय को ही ले लीजिए, उसमें विचारों के युद्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। क्योंकि गीता की अद्भुत कथा एक अन्धे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होती है। अगर अन्धा आदमी न हो तो इस संसार की सारी कथाएँ बन्द हो जायें। जीवन की सारी कथाएँ अन्धे आदमी की जिज्ञासा से ही शुरू होती है। अन्धा आदमी भी देखना चाहता है, जो उसे दिखलाई नहीं पड़ता। बहरा भी सुनना चाहता है उसे, जो उसे सुनाई नहीं पड़ता। सारी इन्द्रियाँ भी सो जायें तब भी मन के भीतर छिपी हुई वृत्तियों का कोई विनाश नहीं होता है।

धृतराष्ट्र आँख के अन्धे हैं। लेकिन आँख न होने से वासना नहीं मिट जाती। काश सूरदास ने धृतराष्ट्र का खयाल कर लिया होता, तो आँखें फोड़ने की आवश्यकता न होती। सूरदास ने आँखें फोड़ ली थीं। इसलिए कि न रहेंगी आँखें और न उठेंगी मन में कामना। कामना उठती है मन में। इन्द्रियाँ मर जायें, समाप्त हो जायें लेकिन मन तो रहेगा और मन रहेगा तो उसमें कामवासना उठेंगी हो। उनका कोई अन्त नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं। लेकिन युद्ध के मैदान में क्या हो रहा है? मीलों दूर बैठे उनका मन उसके लिए उत्सुक, पीड़ित और आतुर है। दूसरी बात यह है कि धृतराष्ट्र को सौ पुत्र हैं। और अन्धे व्यक्तित्व की संतति आँख वाली नहीं हो सकती है। भले ही ऊपर से आँखें दिखलाई पड़ती हों। अन्धे व्यक्ति से जो जन्म पाता है⋯(और शायद अन्धे व्यक्तियों से ही लोग जन्म पाते हैं) तो भले ऊपर की आँख हो लेकिन भीतर की आँख पाना कठिन है। और यही कारण है कि धृतराष्ट्र से जन्मे हुए सौ पुत्र सब तरह से अन्धा व्यवहार कर रहे थे। आँखें उनके पास थीं, लेकिन भीतर की आँखें नहीं थीं।

अन्धे से अन्धापन ही पैदा हो सकता है। फिर भी वह पिता 'क्या हुआ ?' यह जानने के लिए व्यग्र है।

तीसरी बात यह है कि धृतराष्ट्र कहते हैं 'धर्म के उस कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए एकत्र हुए...।' जिस दिन धर्म के क्षेत्र में युद्ध के लिए एकत्र होना पड़े, उस दिन धर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र नहीं रह जाता है। और जिस दिन धर्म के क्षेत्र में भी लड़ना पड़ें, उस दिन धर्म के भी बचने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। 'रहा होगा कभी' वह धर्मक्षेत्र, है नहीं। 'रहा होगा कभी' पर आज तो वहाँ एक-दूसरे को मारने-काटने के लिए एकत्र हुए हैं।

गीता का प्रारम्भ बड़ा ही अद्‌भुत है। इसलिए अद्‌भुत है कि 'धर्मक्षेत्र की यह दशा है तो अधर्म के क्षेत्र में क्या होता होगा' इसकी कल्पना करना ही कठिन है।

धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं कि वहाँ युद्ध के लिए आतुर मेरे पुत्र और उनके विरोधियों ने क्या किया है? क्या कर रहे हैं?—यह मैं जानना चाहता हूँ।

धर्म का क्षेत्र इस पृथ्वी पर कभी भी बन नहीं पाया। क्योंकि धर्मक्षेत्र बनेगा तो युद्ध की सम्भावना समाप्त हो जानी चाहिए। युद्ध की सम्भावना सृष्टि के प्राक्काल से लेकर अब तक बनी हुई है। धर्मक्षेत्र भी युद्धरत हो जाता है। तो हम 'अधर्म' को क्या दोष दें। उसकी क्या निन्दा करें। सच तो यह है कि अधर्म के क्षेत्रों में शायद कम युद्ध हुए हैं। धर्म के क्षेत्रों में अधिक युद्ध हुए हैं। और अगर युद्ध और रक्तपात की दृष्टि से हम विचार करने चलें तो धर्मक्षेत्र अधिक अधर्मक्षेत्र मालूम पड़ेंगे बजाय अधर्मक्षेत्रों के।

यह व्यंग्य भी समझ लेने जैसा है कि धर्मक्षेत्र पर अब तक युद्ध होता रहा है और ऐसा भी न समझ लें कि वर्तमान समय में ही मन्दिर-मस्जिद युद्ध के अड्डे बन गये हैं, पहले नहीं थे। हजारों साल पहले जब हम कहे कि बहुत भले और सज्जन लोग थे धरती पर और राम, कृष्ण और बुद्ध जैसे अद्‌भुत व्यक्ति उपस्थित थे--तब भी मन्दिर-मस्जिद युद्ध के अड्डे थे और कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र पर लोग मारने-मरने के लिए एकत्र थे। यह मानव जाति की गहरे में युद्ध की जो जिज्ञासा है, यह मानव जाति की गहरे में विनाश की जो आकांक्षा है, यह मनुष्यत्व के भीतर जो पशुत्व छिपा है वह धर्मक्षेत्र में भी छूट नहीं पाता। वह वहाँ भी युद्ध की तैयारियाँ कर लेता है।

इसे स्मरण रखना चाहिए कि जब धर्म की आड़ मिल जाय लड़ने के लिए तो लड़ना और भी खतरनाक हो जाता है। क्योंकि तब वह न्यायसंगत भी मालूम होने लगता है।

यह अन्धे धृतराष्ट्र ने जो जिज्ञासा की है—उससे गीता रूपी धर्मग्रन्थ शुरू होता है। हँसिये मत, सभी धर्म-ग्रन्थ अन्धे व्यक्ति की जिज्ञासा से ही शुरू

होते हैं। जिस दिन संसार में अंधे व्यक्ति न होंगे, उस दिन सभी धर्म-ग्रन्थों की आवश्यकता भी नहीं रह जायेगी।

० ० ०

विचार, निर्विचार और विचारहीनता के सन्दर्भ में सिद्धेश्वर गोस्वामी गीता के प्रारम्भिक विषय पर अपना जो विचार व्यक्त कर रहे थे, वह निश्चय ही अपने आप में महत्त्वपूर्ण था।

क्या संजय को दूरदृष्टि और दूरश्रवण की शक्ति उपलब्ध थी ?

अन्धे धृतराष्ट्र को युद्ध के सम्बन्ध में बतलाने वाले संजय की गीता में क्या भूमिका है ? संजय क्या दूरदृष्टि और दूरश्रवण की शक्ति रखता था ? संजय की चित्तशक्ति की गंगोत्री कहाँ है ? क्या वह स्वयम्भू हो सकती है ?—मेरे इन प्रश्नों के उत्तर में सिद्धेश्वर गोस्वामी ने बतलाया कि संजय पर सन्देह उठना स्वाभाविक है। योग निरन्तर से यह मानता आया है कि जो आँखें हमें दिखलायी देती हैं, केवल वे ही आँखें नहीं है। और भी आँखें हैं। जो समय, और क्षेत्र की सीमाओं को लाँघकर देख सकती हैं। पर मन को सन्देह होता है कि इतनी दूर संजय कैसे देख पाता था ? क्या वह 'सर्वज्ञ' था ?

नहीं।

पहली बात तो यह है कि दूरदृष्टि कोई बहुत बड़ी शक्ति नहीं है। सर्वज्ञता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह बड़ी छोटी शक्ति है और कोई भी व्यक्ति चाहें तो थोड़े-से ही श्रम से उसे विकसित कर सकता है। और कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रकृति की किसी भूल-चूक से भी वह शक्ति अपने-आप उपलब्ध हो जाती है।

आँखों में ऐसी शक्तियाँ छिपी हैं जो रात में दिन की तरह देख ले, जो समय और क्षेत्र की सीमाओं को लाँघ कर भी देख ले और हजारों मील दूर के दृश्यों को पकड़ लें। कान में भी ऐसी ही शक्तियाँ छिपी हैं, जो हजारों मील की ध्वनियों को भी पकड़ लें। लेकिन अध्यात्म से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि संजय कोई आध्यात्मिक व्यक्ति अथवा योगी नहीं था। वह दूर युद्ध के मैदान के दृश्यों को देख रहा था और वहाँ की बातों को सुन रहा था। इस शक्ति के कारण उसे कोई परम तत्त्व या कोई सत्य की उपलब्धि हो गयी हो—ऐसा भी नहीं है। सम्भावना तो यही है कि संजय इस नैसर्गिक शक्ति का उपयोग कर के समाप्त ही हो गया हो। प्रायः ऐसा होता भी है। नैसर्गिक शक्तियाँ मनुष्य को बुरी तरह भटका देती हैं। इसलिए योग बराबर कहता रहा है कि चाहे शरीर की सामान्य शक्तियाँ हों या हो मन की विशेष शक्तियाँ—शक्तियों में जो उलझता है—वह सत्य तक कदापि नहीं पहुँच पाता है।

दुर्योधन, अर्जुन और श्रीकृष्ण

जब मनुष्य का मन हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित होता है और जब मनुष्य का मन अपने को भीतर से हीन समझता है, तब वह अपनी श्रेष्ठता की चर्चा करने लग जाता है। लेकिन जब वह हीनभावना के पीड़ित नहीं होता तो उस अवस्था में वह दूसरे की श्रेष्ठता के विषय में चर्चा करने लगता है। जब आप किसी को अपनी श्रेष्ठता और अपने गुणों का वर्णन करते देखें तो समझ लें वह हीनता की ग्रन्थि से निश्चय ही पीड़ित है। हीन भावना वाले लोग ही अपनी प्रशंसा किया करते हैं। द्रोणाचार्य से दुर्योधन कह रहा है कि पाण्डवों की सेना में कौन-कौन महारथी और कौन-कौन योद्धा इकट्ठे हुए हैं ?

दुर्योधन का यह प्रश्न अपने-आप में बड़े प्रतीक की बात है। साधारण शत्रु की प्रशंसा से बात शुरू नहीं होती है। शत्रु की सेना में कौन-कौन महावीर एकत्र हैं—दुर्योधन यहाँ से अपनी बात शुरू कर रहा है।

दुर्योधन का व्यक्तित्व कैसा भी हो, पर वह हीन भावना से पीड़ित व्यक्ति नहीं है। और यह बड़े मजे की बात है कि अच्छा व्यक्ति भी हीन भावना से पीड़ित हो तो उस बुरे व्यक्ति से भी बदतर होता है, जो हीन भावना से पीड़ित नहीं है। दूसरे की प्रशंसा से बात वही व्यक्ति शुरू करता है, जो अपने प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त है। धर्म का प्रचार करने वाले लोग प्रचार करते हैं कि पहले लोग अच्छे थे और अब लोग बुरे हो गये हैं। उनकी यह धारणा गलत है। अच्छे लोग सदा थे। बुरे लोग भी सदा थे। अन्तर इतना ऊपरी नहीं है। अन्तर बहुत भीतरी पड़ा है। बुरे लोग पहले हीन भावना से पीड़ित नहीं थे। आज अच्छे लोग भी हीन भावना से पीड़ित हैं। यह गहरे में अन्तर पड़ा है।

आज अच्छा से अच्छा व्यक्ति भी बस बाहर से ही अच्छा है। भीतर से स्वयं आश्वस्त नहीं है। और ध्यान रहे जिस व्यक्ति का आश्वासन स्वयं पर नहीं है उसकी अच्छाई टिकने वाली अच्छाई नहीं हो सकती। बस, चमड़ी के बराबर गहरी होगी। जरा-सा खरोंच दो और उसकी सारी बुराई बाहर आ जायेगी। जो व्यक्ति अपने भीतर बुराई के होते हुए भी आश्वस्त है, उसकी बुराई भी किसी दिन बदली जा सकती है। क्योंकि बहुत गहरी अच्छाई बुनियाद में खड़ी है—वह हैं स्वयं का आश्वासन।

० ० ०

यह बात अति महत्त्वपूर्ण है कि दुर्योधन जैसा बुरा व्यक्ति एक बहुत ही शुभ ढंग से चर्चा शुरू कर रहा है। वह विरोधी के गुणों का पहले उल्लेख कर रहा है। बाद में अपनी सेना के महारथियों के सम्बन्ध में कह रहा है।

दुर्योधन का प्रतिस्पर्धी भीम क्यों ?

यगु बिन्दु विचारणीय है। सारा युद्ध अर्जुन की धूरी पर है, लेकिन यह

पीछे से सोची हुई बात है—युद्ध के बाद, युद्ध की निष्पत्ति पर। जो युद्ध के पूरे फल को अथवा परिणाम को जानते हैं, वे कहेंगे कि सारा युद्ध अर्जुन की धूरी पर घूमा है। लेकिन जो युद्ध के प्रारम्भ में खड़े थे, वे ऐसा नहीं सोच सकते थे। दुर्योधन के लिए युद्ध की सारी सम्भावना भीम से ही पैदा होती थी। उसके कारण थे। अर्जुन जैसे भले व्यक्ति पर युद्ध का भरोसा दुर्योधन भी नहीं कर सकता था। अर्जुन डाँवाडोल हो सकता है, इसकी सम्भावना दुर्योधन के मन में भी है। अर्जुन युद्ध से भाग सकता है, इसकी कोई गहरी अचेतन प्रतीति दुर्योधन के मन में भी है। अगर युद्ध टिकेगा तो भीम पर टिकेगा। युद्ध के लिए भीम जैसे कम बुद्धि के लेकिन अधिक बलवान् और अधिक शक्तिशाली लोगों पर भरोसा किया जा सकता है।

अर्जुन बुद्धिमान् है और जहाँ बुद्धि है वहाँ संशय है और जहाँ संशय है वहाँ द्वन्द्व है। अर्जुन विचारशील है और जहाँ विचारशीलता है, वहाँ पूरे परिप्रेक्ष्य को सोंचने की क्षमता है। वहाँ युद्ध जैसी भयंकर स्थिति में आँख बन्द करके उतरना कठिन है। दुर्योधन भीम का भरोसा कर सकता है युद्ध के लिए। भीम और दुर्योधन के बीच गहरा सामञ्जस्य है। भीम और दुर्योधन एक ही प्रकृति के, बहुत ही गहरायी में एक ही सोंच के और एक ही ढंग के व्यक्ति हैं। इसलिए दुर्योधन ने ऐसा देखा कि दूसरी तरफ भीम केन्द्र है तो गलत नहीं देखा। ठीक ही देखा और गीता भी बाद में सिद्ध करती है कि अर्जुन पलायनवादी है। अर्जुन जैसे व्यक्ति की सम्भावना यही है। अर्जुन के लिए युद्ध भारी है। अर्जुन के लिए युद्ध में जाना अपने को रूपान्तरित करके ही सम्भव हो सका है। अर्जुन एक विशेष तल पर पहुँच कर ही युद्ध के लिए तैयार हो सका है।

भीम जैसा था, उसी तल पर युद्ध के लिए तैयार था। जैसे भीम के लिए युद्ध सहज है वैसे ही दुर्योधन के लिए भी युद्ध सहज है। इसीलिए दुर्योधन भीम को केन्द्र में देखता है। यह आकस्मिक नहीं हैं, स्वाभाविक है। लेकिन यह युद्ध के प्रारम्भ की बात है। युद्ध की निष्पत्ति क्या होगी ? अन्त क्या होगा ? परिणाम क्या होगा ? यह दुर्योधन को पता नहीं, हमें पता है। ध्यान रखें, प्रायः जीवन का जैसा प्रारम्भ होता है वैसा उसका अन्त नहीं होता। अन्त सदा अनिर्णीत है। अन्त सदा ही अदृश्य है। प्रायः हम जो सोंचकर चलते हैं, वह नहीं होता। प्रायः हम जो मानकर चलते हैं, वह नहीं होता। जीवन एक अज्ञात यात्रा है। इसलिए जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में जो सोचा-समझा जाता है – वह अन्तिम निष्पत्ति नहीं होती। हम भाग्य के निर्माण में चेष्टारत हो सकते हैं। लेकिन भाग्य के निर्णायक नहीं हो पाते हैं। निष्पत्ति कुछ और ही होती है।

दुर्योधन का खयाल यही था कि भीम केन्द्र पर रहेगा। और अगर भीम

केन्द्र पर रहता तो सम्भवतः दुर्योधन जो कहता है कि हम विजयी हो सकेंगे, सही हो सकता था। लेकिन दुर्योधन की दृष्टि सही सिद्ध नहीं हुई और आकस्मिक तत्त्व बीच में उतर आया। यह भी विचार कर लेने जैसा है।

भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में 'अदृश्य'

कृष्ण ने कभी यह नहीं सोचा था कि अर्जुन पलायनवादी सिद्ध होगा और उन्होंने यह भी नहीं सोचा था कि उसे युद्ध के लिए तैयार करना होगा। हम सब लोग भी यह नहीं सोच सकते। जब हम जीवन-पथ पर चलते हैं तो एक अज्ञात तत्त्व, एक अदृश्य शक्ति—जिसे हम सब परमात्मा भी कह सकते हैं—की ओर से भी कुछ घटित होगा—इसका हमें कभी खयाल ही नहीं होता। हम जो भी हिसाब लगाते हैं, हम जो भी सोच-विचार करते हैं और जो भी निर्णय करते हैं—वह दृश्य का होता है। ज्ञात का होता है। बीच में अज्ञात भी अथवा अदृश्य भी कुछ कर जायेगा या उतर जायेगा—इस पर भी हमें कोई ख्याल नहीं होता।

महाभारत के भयंकर युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अज्ञात अथवा अदृश्य उतर आया है और महाभारत की सारी कथा बदल गयी है। जो होना था, वह नहीं हुआ और जो नहीं होने की सम्भावना थी, वह हो गया। और जब इस प्रकार 'अज्ञात' अथवा 'अदृश्य' उतरता है तो उसका ज्ञान नहीं होता। उसकी भविष्यवाणी भी नहीं हो सकती। इसलिए जब श्रीकृष्ण भागते हुए अर्जुन को युद्ध में ढकेलने लगे—उस समय जो वातावरण उपस्थित हो गया था—उसकी कथा पढ़कर धक्का लगता है। इसलिए धक्का लगता है कि अर्जुन उस समय जो कुछ कह रहा था, जो तर्क दे रहा था—वह धार्मिक लोगों की दृष्टि में उचित और ठीक था। उसका कथन और तर्क धर्म-दर्शन आदि के अनुकूल था। पश्चिम का महान् विचारक और दार्शनिक हेनरी थारो ने जब यह पढ़ा कि श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श दे रहे हैं तो वह घबड़ा गया। उसने लिखा है कि मुझे ऐसा भरोसा नहीं था, खयाल भी नहीं था कि कथा ऐसी मोड़ लेगी कि श्रीकृष्ण युद्ध करने की सलाह देंगे। लेकिन जीवन किन्हीं सिद्धान्तों के हिसाब से नहीं चलता। जीवन बहुत अनूठा और विचित्र है। जीवन रेल की पटरियों पर नहीं दौड़ता बल्कि गंगा की धारा की तरह बहता है। उसके मार्ग पहले से निश्चित नहीं हैं और जब परमात्मा बीच में आता है तो सब व्यतिक्रम हो जाता है। जो भी तैयार था, जो भी मनुष्य ने निर्मित किया था और जो भी मनुष्य की बुद्धि सोचती थी—सब उलट-फेर हो जाता है।

महाभारत के बीच में परमात्मा उतर आयेगा, इसकी कल्पना दुर्योधन ने कभी नहीं की थी। इसलिए वह जो कह रहा है—वह प्रारम्भिक वक्तव्य है। जैसा कि हम सब जीवन के प्रारम्भ में जो वक्तव्य देते हैं, जो सोचते-विचारते

हैं और जो निर्णय करते हैं—ऐसे ही होते हैं। बीच में अज्ञात बराबर उतरता चलता है और जीवन की सारी कथा बदलती चलती है। अगर हम जीवन को पीछे लौटकर देखें तो हम कहेंगे कि जो भी हमने सोचा था, वह सब गलत हुआ। जहाँ सफलता सोची थी, वहाँ असफलता मिली। जो पाना चाहता था, वह नहीं पाया। जिसके मिलन में सुख सोचा था, वह तो मिल गया और दुःख पाया। और जिसके मिलने की कभी कामना भी नहीं की थीं, उसकी झलक मिली और आनन्द के झरने फूटे।

सब उलटा-पुलटा हो जाता है। लेकिन इतने बुद्धिमान् आदमी इस जगत् में कम हैं जो निष्पत्ति को पहले ध्यान में ले लें। हम प्रारम्भ को ही पहले ध्यान में लेते हैं। हम अन्त को पहले ध्यान में रख लें तो जीवन की कथा कुछ और ही हो सकती है। अगर दुर्योधन पहले 'अन्त' को ध्यान में रख लेता तो इतना भयंकर युद्ध कभी नहीं हो सकता था। दुर्योधन विचारहीन था। इसलिए 'अन्त' को ध्यान में नहीं ले सकता था। वह तो अन्त को यह मानकर चला था कि ऐसा ही होगा। इसलिए वह बार-बार कह रहा था कि सेनाएँ उस तरफ महान् है, लेकिन जीत हमारी ही होगी। हमारे योद्धा जीवन देकर भी हमें जिताने के लिए आतुर हैं।

लेकिन हम अपनी सारी शक्ति भी लगा दे, फिर भी असत्य की विजय कदापि नहीं हो सकती। हम सारा जीवन लगा दें, फिर भी असत्य जीत नहीं सकता। इस निष्पत्ति का दुर्योधन को कोई भी बोध नहीं था। असत्य आरम्भ में जीतता हुआ मालूम पड़ता है, लेकिन अन्त में हार ही जाता है, जबकि इसके विपरीत सत्य प्रारम्भ में हारता हुआ लगता है और अन्त में जीत उसी की होती है। लेकिन प्रारम्भ से अन्त को देख पाना कहाँ सम्भव है? जो देख पाता है, वह योगी हो जाता है, महान् आत्मा हो जाता है और हो जाता है पूर्ण धार्मिक। और जो नहीं देख पाता है वह दुर्योधन की तरह अन्धे युद्ध में उतरता चला जाता है।

अज्ञात की क्या इच्छा है? उसे कैसे जाना जा सकता है?

मेरी एक जिज्ञासा है और वह यह कि एक तो अज्ञात की इच्छा होती है और एक व्यक्ति की अपनी इच्छा होती है। दोनों में भेद होता है। तो व्यक्ति कैसे जान पाये कि अज्ञात की क्या इच्छा है?

सिद्धेश्वर गोस्वामी बोले—व्यक्ति कभी नहीं जान पाता है अज्ञात की इच्छा को। हाँ! व्यक्ति अपने को छोड़ दे, मिटा दें और काल के प्रवाह में अपने-आप को डाल दें तो वह अज्ञात के साथ एक हो जाता है। सारा भारतीय दर्शन इसी सिद्धान्त, इसी विचार और इसी धारणा पर टिका हुआ है। बूँद नहीं जान सकती कि सागर क्या है, जब तक कि बूँद सागर में विलीन न हो जाय। परमात्मा की अथवा अज्ञात की क्या इच्छा है—व्यक्ति नहीं जान

सकता। जब तक व्यक्ति अपने को 'व्यक्ति' बनाये हुए हैं तब तक नहीं जान सकता है। व्यक्ति अपने को मिटा अपने अस्तित्व को अज्ञात में मिला दे, लीन कर दे तो फिर अज्ञात की ही इच्छा शेष रह जाती है। क्योंकि व्यक्ति की इच्छा अज्ञात की इच्छा में विलीन हो जाती है। उसके साथ एकाकार हो जाती है। इस अवस्था में फिर कुछ जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। तब व्यक्ति वैसे ही जीवन व्यतीत करता है, जैसे अज्ञात उसे जिलाता है। तब व्यक्ति की अपनी कोई इच्छा, आकांक्षा, फलाकांक्षा और अभीप्सा नहीं रह जाती और न कोई अपनी वृत्ति ही शेष रह जाती है समग्र की आकांक्षा के ऊपर थोपने की। जब तक व्यक्ति है तब तक अज्ञात क्या चाहता है—नहीं जाना जा सकता और जब व्यक्ति नहीं है तब जानने की आवश्यकता नहीं। तब जो भी होता है वह अज्ञात ही करवाता है। तब व्यक्ति एक साधन मात्र हो जाता है।

श्रीकृष्ण पूरी गीता में अर्जुन को यही समझाते हैं—वह अपने को छोड़ दें और अज्ञात के हाथों में समर्पित कर दें अपने आपको। क्योंकि वह जिन्हें सोच रहा है कि वे मर जायेंगे, वे अज्ञात के द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। वह जिन्हें सोचता है कि उनकी मृत्यु के लिए मैं जिम्मेदार हो जाऊँगा, उनके लिए वह बिलकुल ही जिम्मेदार नहीं होगा। अगर वह अपने को बचाता है तो अवश्य जिम्मेदार हो जायेगा। अगर अपने को छोड़कर साधनवत्, साक्षिवत् लड़ सकता है तो उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं रह जाती है।

व्यक्ति अपने को खो दे, लीन कर दे समष्टि में, व्यक्ति अपने को समर्पित कर दे अज्ञात को और त्याग दे अहंकार को और कर्ताभाव को तो उस स्थिति में परमात्मा की, परमेश्वर की, अज्ञात की अथवा ब्रह्म की इच्छा फलित होती है। अभी भी वही फलित हो रही है हमारे जीवन में। ऐसा नहीं कि हम उससे भिन्न फलित करा लेंगे। यदि भिन्न फलित कराने के लिए प्रयत्न करेंगे, संघर्ष करेंगे और लड़ेंगे तो टूटेंगे और नष्ट हो जायेंगे। निराशा के अलावा और कुछ हाथ न लगेगा। और एक दिन हमारा अस्तित्व नष्ट हो जायेगा।

व्यक्ति अज्ञात की इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता है, लेकिन लड़ तो सकता है। संघर्ष तो कर सकता है। इतनी स्वतंत्रता तो है। लड़कर और और संघर्ष कर अपने को तोड़ तो सकता है, अपने को नष्ट तो कर सकता है। इतनी स्वतंत्रता तो उसे उपलब्ध है। पश्चिम में एक महान् विचारक था। नाम था—सात्र। सात्र का एक वचन है जो बहुत कीमती हैं। वचन है—आदमी स्वतंत्र होने के लिए विवश है। लेकिन वह अपनी स्वतंत्रता के दो उपयोग कर सकता है। पहला उपयोग वह अज्ञात की इच्छा के साथ संघर्ष के लिए कर सकता है। जिसका परिणाम होगा—दुःखमय, सन्तापमय और

पीड़ाभय जीवन। अन्ततः पराजय फलित होगी। दूसरा उपयोग वह अज्ञात के प्रति समर्पण के लिए कर सकना है। जिसका परिणाम होगा—आनन्दमय और सुखमय जीवन। अन्ततः विजय फलित होगी। भोगी और योगी में बस इतना ही अन्तर है—पहला पहली स्वतंत्रता को अपनाता है और दूसरा दूसरी स्वतंत्रता को स्वीकार करता है।

जैसा कि कहा—ब्रह्म की इच्छा को नहीं जाना जा सकता है। लेकिन ब्रह्म के साथ एक हुआ जा सकता है। तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है दूसरी स्वतन्त्रता को अपना कर।

जब 'अज्ञात' उतरता है

मैंने प्रश्न किया—वैज्ञानिक सिद्धि में व्यक्ति का अपना कुछ होता है। अज्ञात की इच्छा में वैज्ञानिक अपने प्रयोजन की सिद्धि में कैसे उतरता होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धेश्वर गोस्वामी बोले—साधारणतः ऐसा लगता है कि वैज्ञानिक खोज में व्यक्ति की अपनी इच्छा काम करती है। ऐसा बहुत ऊपर से देखने से लगता है। बहुत गहरायी से देखने से ऐसा नहीं लगेगा। अगर संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को हम देखें तो हैरान हो जायेंगे कि संसार के सभी महान् वैज्ञानिकों के अनुभव बहुत पृथक् हैं। विश्वविद्यालय में विज्ञान की जो धारणा जन्म लेती है उसके अनुसार उनका अनुभव नहीं है। उनका अनुभव कुछ और ही है। आपको मालूम होना चाहिए कि चेतन मन जो काम नहीं कर पाता, जो समस्या हल नहीं कर पाता और जो खोज नहीं कर पाता वह अचेतन कर लेता है। क्योंकि वह गहरायी में अज्ञात से जुड़ा हुआ होता है।

बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का एक स्वर में यही कहना है कि जो भी हमने जाना, वह हमने नहीं जाना। सदैव ऐसा ही हुआ है कि जब हमने जाना, तब हम न थे और 'जानना' घटित हो गया है। क्योंकि उस क्षण अचेतन मन के द्वारा 'अज्ञात' उतर आता है, इसलिए कि अचेतन मन हमारे भीतर उसके अवतरित होने का मार्ग है।

यही उपनिषदों और वेदों के ऋषि भी कहते हैं। यही ईसा और मुहम्मद भी कहते हैं। हम कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं। इसका क्या मतलब है? अपौरुषेय से क्या तात्पर्य है? इतना ही मतलब और इतना ही तात्पर्य है कि ईश्वर उतरा और किताब लिखी। इसे साधारण लोग पागलपन या प्रलाप की बात समझते हैं। लेकिन ऐसा है नहीं। अपौरुषेय का अर्थ है—किसी पुरुष के द्वारा नहीं किसी और के द्वारा घटना घटी। जिस पुरुष पर यह घटना घटी—वह उस समय वहाँ उपस्थित नहीं था। जब उपनिषद् के सूत्र, वेदों के मन्त्र और कुरान की आयतें एवं बाइबिल के वचन अवतरित हुए तो उस अवस्था में न ऋषि थे, न मुहम्मद थे और न तो थे जीसस। उनकी उपस्थिति नहीं थी उस समय।

धर्म और विज्ञान के अनुभव भिन्न-भिन्न नहीं हैं। हो ही नहीं सकते। क्योंकि विज्ञान में कोई सत्य उतरता है तो उसके उतरने का भी मार्ग वही है जो धर्म के उतरने का मार्ग है। वास्तव में संसार में 'सत्य' के अवतरित होने का एक ही मार्ग है, दो नहीं। जब हम नहीं होते हैं—उस समय हमारे भीतर स्थान रिक्त हो जाता है और उसी रिक्त स्थान में सत्य का प्रवेश हो जाता है।

'जब हम नहीं होते' से आपका क्या तात्पर्य है—मैंने प्रश्न किया ?

इसका तात्पर्य यह है कि हमारा अस्तित्व चेतन मन की सीमा लाँघ कर अचेतन मन में प्रविष्ट हो जाता है। इस अवस्था-विशेष को समाधि भी कह सकते हैं। आत्मलीनता भी कह सकते हैं।

चाहे संगीतज्ञ हो, कवि हो, लेखक हो, चित्रकार हो, वैज्ञानिक हो और चाहे हो धार्मिक—जिन्होंने सत्य का कभी किसी क्षण अनुभव किया है वह तभी किया है जब वे 'स्वयं' नहीं थे।

हमारे देश में हजारों साल पहले धार्मिकों, योगियों और सन्त-महात्माओं को यह अनुभव हो गया था कि जब-जब उनके भीतर सत्य का अवतरण हुआ तब-तब वे वहाँ नहीं थे।

जब पहली बार हमारे भीतर 'अज्ञात' द्वारा कुछ अवतरित होता है तो यह भेद करना कठिन होता है कि वह अज्ञात का है कि हमारा है। अहङ्कार चाहता है कि वह हमारा ही हो और हम सोचने लगते हैं कि 'वह' हमारा ही है किसी और का नहीं। लेकिन जब धीरे-धीरे दोनों चीजें साफ हो जाती है और पता चलता है कि हमारे और सत्य के बीच कोई तालमेल नहीं बैठता, तब फासला दिखलायी पड़ता है।

विज्ञान की आयु अधिक से अधिक तीन सौ साल है। इस अवधि में विज्ञान ने जो उन्नति की है वह सर्वविदित है। लेकिन इसके साथ ही साथ वैज्ञानिक विनम्र भी हुए हैं। आज से ५०-६० साल पहले वैज्ञानिक कहते थे कि—जो खोजा वह हमने खोजा। आज नहीं कहते। आज वे कहते हैं कि हमारी शक्ति-सामर्थ्य के बाहर मालूम पड़ता है सब। आज वे अपनी खोज और उपलब्धियों के सम्बन्ध में उतने ही रहस्य की भाषा में बोल रहे हैं, जितना कभी सन्तगण बोले थे।

जल्दी न करें और सौ साल प्रतीक्षा कर लें। सौ साल बाद वैज्ञानिक उसी भाषा में बोलेंगे—जिस भाषा में कभी वेद और उपनिषद् के ऋषिगण बोले थे। बोलनी ही पड़ेगी वही भाषा—जो कभी बुद्ध बोले थे, कभी अगस्तीन बोले थे, कभी फ्रांसिस बोले थे। बोलनी ही पड़ेगी। इसलिए कि जैसे-जैसे सत्य का अनुभव गहरा होता जाता है, वैसे-ही-वैसे व्यक्ति का अनुभव क्षीण होता जाता है। आपको मालूम होना चाहिए जितना सत्य

प्रकट होता है—उतना ही अहङ्कार लीन होता है और होता है क्षीण। और एक दिन पता चलता है कि जो भी जाना गया है वह परमात्मा का प्रसाद है, ग्रेस है, वह उतरा है, उसमें हम नहीं है। और जो-जो हमने नहीं जाना उसका उत्तरदायित्व हम पर हैं। क्योंकि हम इतने कमजोर थे कि जान नहीं सकते थे। और असत्य उतरता हो तो 'मैं' की उपस्थिति आवश्यक है।

० ० ०

विज्ञान की खोज के मार्ग में अज्ञात की इच्छा लायक नहीं होगी। जो खोजें हुईं वह अचेतन मन के द्वारा 'अज्ञात' के सम्बन्ध से हुईं हैं। समर्पण से हुईं हैं। भविष्य में भी जो खोजें होंगी, वह भी इसी मार्ग से और इसी द्वार से होंगी। इस मार्ग और इस द्वार के अतिरिक्त सत्य कभी किसी अन्य मार्ग से, अन्य द्वार से न आया है और न तो आ सकता है।

यहाँ मेरी एक जिज्ञासा है और वह यह कि अचेतन मन अज्ञात अथवा परमात्मा से जुड़ा हुआ है। यह तो महान् वैज्ञानिक युग ने पीछे से मिथोलाजी से सम्बन्ध जोड़कर कहा है। मगर फ्रॉयड कहता है कि वह भगवान् के साथ-साथ शैतान से भी जुड़ा हुआ होता है? इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?

सिद्धेश्वर गोस्वामी बोले—फ्रॉयड का कहना है कि अचेतन मन भगवान् से ही नहीं शैतान से भी जुड़ा होता है। वास्तव में भगवान् और शैतान हमारे शब्द हैं। जब हम किसी चीज को पसन्द नहीं करते तो उसे हम कहते हैं कि वह शैतान से जुड़ा है। और जब हम किसी चीज को पसन्द करते हैं तो उसे हम कहते हैं कि भगवान् से जुड़ा है वह। लेकिन मैं यहाँ इतना ही कह रहा हूँ कि 'अज्ञात' से जुड़ा है और अज्ञात मेरे लिए भगवान् है और भगवान् में मेरे लिए शैतान समाविष्ट है। उससे अलग नहीं है।

वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसे हम शैतान कहते हैं, वह केवल हमारी अस्वीकृति है। अगर हम बुराई को गहरायी में उतर कर देखें तो पायेंगें कि बुराई में भी भलाई छिपी है। दुःख को भी गहरायी में उतर कर देखें तो पायेंगे कि उसके भीतर भी सुख का सागर लहरा रहा है। अभिशाप में भी गहरे देख पाये, तो पायेंगे कि उसके भीतर वरदान छिपा है। सच तो यह है कि बुराई और भलाई एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शैतान के विपरीत जो भगवान् है, उसे हम 'अज्ञात' नहीं कह रहे हैं। हम 'अज्ञात' उसे कह रहे हैं जो हम सब के जीवन की भूमि है। जो समान अस्तित्व का आधार है। उसी अस्तित्व के आधार से रावण भी निकलता है और राम भी निकलते हैं। उसी अस्तित्व से अन्धकार भी जन्म लेता है और प्रकाश भी। लेकिन हमें अन्धकार से भय लगता है और प्रकाश अच्छा लगता है। अगर

विचारपूर्वक देखा जाय तो अन्धकार में न बुराई है और न तो प्रकाश में है अच्छाई। जो 'अस्तित्व' से प्रेम करता है वह अन्धकार और प्रकाश दोनों में परमात्मा की झलक देखेगा। दोनों के रहस्य की गहरायी में डूब कर वह दोनों से तादात्म्य स्थापित करेगा। इस जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण घटित होता है—वह अन्धकार और प्रकाश दोनों के सहयोग से घटित होता है। एक बच्चा पैदा होता है माँ के पेट के गहन अन्धकार में। फिर जब बड़ा होता है तो आता है प्रकाश में। अन्धकार और प्रकाश दोनों जीवनशक्ति के आधार है। जीवन में कहीं भी विभाजन है तो वह मनुष्य द्वारा निर्मित है।

० ० ०

रही फ्रॉयड की बात। फ्रॉयड अचेतन मन को शैतान से भी जुड़ा हुआ कहता है। इसका कारण है और वह यह कि फ्रॉयड यहूदी था और यहूदियों ने भगवान् और शैतान की गहरी धारणा बना रखी है। फ्रॉयड पर भी उस धारणा का प्रभाव और संस्कार पड़ना स्वाभाविक है। वास्तव में यह मनुष्य के ही मन के दो हिस्से हैं। फ्रॉयड को लगा कि जहाँ-जहाँ अचेतन से बुरी चीजें उठती हैं—वहाँ-वहाँ शैतान उन्हें उठा रहा होगा। नहीं, कोई शैतान नहीं है और अगर हमें कहीं दिखलायी भी पड़ता है तो कहीं-न-कहीं हमारी ही बुनियादी भूल है। धार्मिक व्यक्ति शैतान को देखने में असमर्थ है। केवल परमात्मा ही समर्थ है। और अचेतन—जहाँ से वैज्ञानिक सत्य को उपलब्ध होता है और धार्मिक सत्य को उपलब्ध होता है—वह परमात्मा का द्वार है।

० ० ०

अब हम इस प्रसंग के मुख्य बिन्दु पर विचार करेंगे। जिन लोगों के साथ युद्ध करना है उन्हें देख लेने के लिए अर्जुन कृष्ण से प्रार्थना करता है। अर्जुन कहता है—'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत !'॥ अर्थात् हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिए। जब तक मैं युद्ध की कामना करने वालों को अच्छी प्रकार से देख लूं कि इस युद्धरूपी व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना उचित है।

जिससे लड़ना है उसे ठीक से पहचान लेना, ठीक से समझ लेना युद्ध का पहला नियम है। समस्त युद्धों का—कैसे भी युद्ध हो—जीवन के भीतर या बाहरी शत्रु की पहचान युद्ध का पहला नियम है। और युद्ध में केवल वे ही विजय प्राप्त कर सकते हैं—जो शत्रु को ठीक से पहचानते हैं।

युद्ध के समय विजय पाने के लिए जितनी मानसिक शान्ति की आवश्यकता होती है उतनी अन्य कार्य के लिए आवश्यकता नहीं पड़ती उसकी। युद्ध के क्षण में जितना साक्षी का भाव विजय के लिए चाहिए, उतना किसी और क्षण में नहीं चाहिए। अर्जुन कहता है कि मैं साक्षी होकर उन लोगों का निरीक्षण कर लूं—जो लोग यहाँ लड़ने के लिए उपस्थित हुए हैं।

यहाँ 'निरीक्षण' शब्द पर विचार करना आवश्यक है। अर्जुन क्रोध में नहीं है। अगर क्रोध से भरा हुआ होता तो निरीक्षण की बात ही न करता, क्योंकि क्रोध की स्थिति में निरीक्षण की क्षमता समाप्त हो जाती है। अर्जुन साक्षी भाव से निरीक्षण करने के लिए व्याकुल है। इसलिए कि शत्रुओं का निरीक्षण करना युद्ध का प्रथम नियम है।

ठीक से देख लेना चाहिए कि किससे लड़ना है। क्रोध से लड़ना है तो क्रोध को देख लेना चाहिए। लोभ से लड़ना है तो लोभ को देख लेना चाहिए। काम से लड़ना है तो काम को देख लेना चाहिए। मोह से लड़ना है तो मोह को भी देख लेना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियाँ और उनमें उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी तो हमारे आन्तरिक शत्रु हैं। बाहरी शत्रुओं से भी लड़ने जायें तो पहले उन्हें ठीक से देख लेना चाहिए कि किससे लड़ना है? वे कौन हैं? लेकिन उन्हें देखना, उन्हें समझना और उनका निरीक्षण करना तभी सम्भव है जब हमारे भीतर निर्लिप्तता हो और साक्षी होने की पूर्ण सम्भावना हो, अन्यथा नहीं।

अब गीता का उपदेश शुरू होने वाला है। महाभारत का युद्ध भी शुरू होने वाला है। उसका रंगमंच तैयार हो चुका है। भीष्म के शंखनाद की प्रतिक्रिया स्वरूप भगवान् का शंखनाद हो चुका है। कौरवों का शंखनाद चुनौती है और जबकि पाण्डवों का उस चुनौती की स्वीकृति है। जिस चीज की चुनौती हो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। इसे समझें। जीवन प्रतिपल चुनौती है और जो उसे स्वीकार करता है वह जीते जी ही मर जाता है। संसार में बहुत लोग जीते जी ही मर जाते हैं। बर्नाड शॉ कहा करते थे कि लोग मरते तो हैं बहुत पहले, दफनायें बहुत बाद में जाते हैं। मरने और दफनाये जाने में अकसर कोई पचास साल का फर्क पड़ जाता है। जिस क्षण व्यक्ति जीवन की चुनौती को स्वीकार करना बन्द कर देता है—उसी क्षण वह मर जाता है। जीवन है—प्रतिपल की चुनौती की स्वीकृति में। लेकिन समझ लें चुनौती की स्वीकृति भी दो प्रकार की हो सकती है। जब चुनौती की स्वीकृति क्रोधजन्य हो तो वह प्रतिक्रिया हो जाती है और जब चुनौती की स्वीकृति आह्लादपूर्ण और मुदितापूर्ण हो तो वह प्रतिसंवेदन हो जाती है। यहाँ एक बात और समझ लेना चाहिए, वह यह कि निरीक्षण वही करता है जो विचारवान् होता है और विचारवान् व्यक्ति हमेशा दुविधा में रहता है। अर्जुन विचारवान् है। विचार, निर्विचार और बिचारहीन युद्ध तो वे लोग ही कर सकते हैं, जो विचारहीन हैं—भीष्म की तरह, दुर्योधन की तरह। या युद्ध वे लोग भी कर सकते हैं, जो निर्विचार हैं—कृष्ण की तरह। विचारहीन और निर्विचार के बीच में है विचार। ये तीन बातें हैं—विचारहीनता विचार के पहले की अवस्था है। उसमें युद्ध बहुत सरल है। युद्ध के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी चित्तदशा में व्यक्ति युद्ध में होता ही है। वह प्रेम

करता है तो वह भी युद्ध ही सिद्ध होता है। उसका प्रेम अन्ततः घृणा ही सिद्ध होती है। वह मित्रता भी करता है तो वह शत्रुता की एक सीढ़ी सिद्ध होती है। क्योंकि शत्रु बनाने के पहले मित्र तो बनाना आवश्यक होता ही है। बिना मित्र बनाये शत्रु बनाना कठिन है। विचारहीन चित्त यदि मित्र भी बनाता है तो वह शत्रुता ही निकलती है। युद्ध ऐसे चित्त वाले व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है।

दूसरी सीढ़ी विचार की है। विचार सदा डाँवाडोल है, सदा कम्पित है। इसी सीढ़ी पर खड़ा है अर्जुन। वह कहता है—निरीक्षण कर लूँ। समझ लूँ। विचार कर लूँ। फिर युद्ध में प्रवेश करूँ। कभी दुनिया में देख-समझ कर भला युद्ध में उतरा जा सकता है। तीसरी सीढ़ी पर हैं कृष्ण। वह निर्विचार की स्थिति है। वहाँ भी 'विचार' नहीं हैं, लेकिन विचारहीनता नहीं हैं। विचार-हीनता और निर्विचार अवश्य एक से मालूम होते हैं, लेकिन उनमें बुनियादी फर्क है। निर्विचार वह है—जो विचार की व्यर्थता को जान-समझ कर उसका अतिक्रमण कर गया, उसके बाहर चला गया, पार चला गया। और विचार सब चीजों की व्यर्थता बतलाता है—जीवन की भी, परिवार की भी, धन की भी, संसार की भी, मान-सम्मान की भी, धन-वैभव की भी और युद्ध की भी। लेकिन कोई विचार करता ही चला जाय तो अन्त में विचार विचार की भी व्यर्थता बतला देता है और तब व्यक्ति निर्विचार हो जाता है। तब निर्विचार की स्थिति में सब कुछ ठीक वैसा ही हो जाता है सम्भव, जैसा विचारहीन को सम्भव था। मगर 'गुण' बिलकुल बदल जाता है।

क्या इसको कोई उदाहरण देकर आप समझा सकते हैं?

हाँ क्यों नहीं? आप एक शिशु को लें और एक सन्तत्व को उपलब्ध व्यक्ति को लें। दोनों की तुलना करें। आप दोनों में समानता पायेंगे। लेकिन वह ऊपरी समानता होगी। सन्त के चेहरे का भाव और उसकी आँखें शिशु की ही तरह सरल और भोली हो जाती हैं। लेकिन शिशु में सब दबा हुआ है। समयानुसार सब धीरे-धीरे बाहर आयेगा। अभी उसकी निर्दोषता ऊपरी है। भीतर तो अभी ज्वालामुखी है, जो समय पर फूटेगा। अभी सारी वृत्तियाँ, सारे भाव, सारे विचार और सारे गुण-दोष बाहर निकलने के लिए तैयारी कर रहे हैं। लेकिन सन्त इन सबके पार जा चुका होता है। उसके लिए सब मुक्त हो चुके होते हैं। सब व्यर्थ हो गये होते हैं। अब उसके भीतर कुछ भी शेष नहीं बचा है। अब उसकी आँखें फिर सरल हो गयी हैं। चेहरे के भाव फिर सरल और निर्दोष हो गये हैं और सारा व्यवहार शिशुवत् हो गया है। उसका सारा जीवन सहज हो गया है।

जीसस से किसी ने पूछा—स्वर्ग का अधिकारी कौन है? जीसस ने कहा—जो बच्चों की भाँति है। जिसस ने यह नहीं कहा कि जो बच्चे हैं।

बच्चे प्रवेश नहीं कर सकते। जो बच्चों की भाँति हैं। यानि जो बच्चे नहीं हैं। लेकिन हैं बच्चे की भाँति सरल, सहज, निर्दोष और निर्भाव। जो सब से पार हो गये हैं।...इसलिए अज्ञानी और परमज्ञानी में बड़ी समानता है। अज्ञानी जैसा ही सरल हो जाता है परम ज्ञानी भी। लेकिन अज्ञानी की सरलता की गहरायी में छिपी-दबी रहती है जटिलता--जो कभी किसी समय अवसर पाकर प्रकट हो सकती है। परम ज्ञानी की सारी जटिलता समाप्त हो गयी होती है।

जो विचारहीन हैं, उनमें विचारशक्ति पड़ी रहती है। वह चाहे तो मन को स्थिर कर विचार कर सकता है। मगर ऐसा वह कर नहीं सकता। विचारवान् में विचारशक्ति सदैव जागृत रहती है। इसलिए वह प्रत्येक कार्य-बिन्दु पर विचार करेगा। लेकिन जो निर्विचार है—वह विचार का अतिक्रमण कर गया होता है। ध्यान में समाधि में पहुँच गया होता है।

दुर्योधन, भीष्म, धृतराष्ट्र आदि सभी विचारहीन हैं, विचारशून्य हैं। अर्जुन विचारवान् है और कृष्ण हैं--निर्विचार, ध्यान में लीन और परम समाधि को उपलब्ध।

० ० ०

रात के ग्यारह बज गये। समय का ज्ञान नहीं रहा किसी को। थोड़ी देर तक इधर-उधर की औपचारिक बात करने के बाद जब सिद्धेश्वर गोस्वामी चले गये तो मैंने पद्मा की ओर देखा—बड़ा ही शान्त, सौम्य और निर्विकार लगा उनका चेहरा। काफी देर तक मैं अपलक निहारता रहा उसे।

क्या देख रहे हो ? पद्मा पूछ बैठी अचानक।

तुमको, तुम्हारे रहस्यमय व्यक्तित्व को और उस रहस्यमय व्यक्तित्व की गहरायी में छिपी उन तमाम अनुभूतियों को, जिन्हें तुमने योग की उच्चतम साधना के द्वारा प्राप्त किया है।

मगर मेरी साधना अभी अधूरी है बन्धु। पूर्णता को अभी प्राप्त नहीं कर सकी है मेरी आत्मा। इतना कहकर पद्मा ने एक लम्बी साँस ली और सामने दीवार पर टँगे स्वामी रामकृष्ण परमहंस देव की छवि की ओर अपलक निहारने लगी। आँखों से आँसू के कुछ बूँद ढुलक कर बिखर गये गालों पर और साथ ही किसी अव्यक्त वेदना की झलक भी उभर आयी उनके शान्त व सौम्य चेहरे पर। आँसू के उन बूँदों के भीतर कौन-सी पीड़ा थी और उस वेदना के भीतर कौन-सा रहस्य छिपा था ? समझ न सका मैं। भींगे स्वर में पद्मा कहने लगी—शर्मा ! तुम मुझे और मेरे तमाम रहस्यों को जानने-समझने का बराबर प्रयत्न कर रहे हो। मगर अभी तक सफलता नहीं मिली तुमको। कभी मिल भी नहीं सकती सफलता....। जिसको जानना-समझना होता है--

उसके अनुरूप बनना पड़ता है पहले। मैंने घड़ी की ओर देखा—'बारह पच्चीस'। जब मैं उठकर चलने लगा तो पद्मा भींगे और विचलित स्वर में बोली——'इस समय कहाँ जाओगे ? टैक्सी भी नहीं मिलेगी। उसकी सम्भावना कम है। रुक जाओ, सबरे चले जाना। अच्छा रहेगा।

भींगे स्वर में और विगलित कण्ठ से किये गये इस अनुरोध को टाला न गया मुझसे। मैं ठहर गया। उसी कमरे में सोने की व्यवस्था कर दी सुषमा ने।

प्रकरण : तेईस

मनोमय शरीर और अनाहत चक्र की सम्भावनाएँ

तीन शरीर और उनसे सम्बन्धित तीन चक्र की चर्चा की जा चुकी है। मनुष्य का चौथा शरीर है मनोमय शरीर और उसका बीजकेन्द्र है अनाहत-चक्र। हम जो सपने देखते हैं और हम जो कल्पना करते हैं—वह इसी मनोमय शरीर में करते हैं। कल्पना और सपना—ये प्रकृतिप्रदत्त गुण हैं, जो मनोमय शरीर द्वारा प्रकट होता है। चक्रभेदन के उपरान्त साधक को साधना द्वारा प्राप्त होती हैं दो महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ—संकल्पशक्ति और अतीन्द्रिय शक्ति।

कुण्डलिनी साधना की दृष्टि से मनोमय शरीर का अपना विशेष महत्त्व है। इसलिए कि साधक को तांत्रिक और यौगिक सिद्धियाँ तथा विभिन्न प्रकार के चमत्कार इसी शरीर से उपलब्ध होते हैं।

हमारा मन स्वभावतः कल्पना करता है और सपने देखता है। यह उसका प्राकृतिक कार्य है। कल्पना का चरम विकसित रूप 'संकल्प' है और सपने का चरम विकसित रूप अतीन्द्रिय ज्ञान है। जिन साधकों की कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और अनाहतचक्र का भेदन हो जाता है—वे बड़ी सरलता से अपने पिछले तीनों शरीरों से अलग होकर अपने चौथे मनोमय शरीर में चले जाते हैं और बिना किसी बाधा के उसके द्वारा आगे की साधना करते हैं तथा जीवन को जीते भी हैं। उनका अन्य शरीरों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह जाता।

चक्रभेदन के उपरान्त साधकगण साधना के बल पर कल्पना और स्वप्न दोनों को उनकी चरम सीमा पर ले जाते हैं और उन्हें संकल्पशक्ति और और अतीन्द्रिय शक्ति में परिवर्तित कर देते हैं। ऐसे योगी और साधकगण संकल्पशक्ति के द्वारा किसी भी वस्तु की तत्काल सृष्टि कर देते हैं और अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा हजारों मील की दूरी पर भी घटने वाली घटनाओं को और वहाँ के दृश्यों को आसानी से आँखें बन्द कर देख सकते हैं। हम और आप वहाँ क्या बात कर रहे हैं—उन्हें भी सुन सकते हैं। इतना ही नहीं, हम और आप क्या सोच-विचार कर रहे हैं—उन्हें भी जान-समझ सकते हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञान का मतलब है—बिना इन्द्रिय की सहायता के देखना, सुनना और समझना। इस सिद्धि को उपलब्ध करने पर स्थान और काल समाप्त हो जाता है। समय की सीमा समाप्त हो जाती है। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि सपना और अतीन्द्रिय ज्ञान में अन्तर है। सपने में आप कलकत्ता या बाम्बे जा सकते हैं और अतीन्द्रिय शक्ति की सहायता से भी जा

सकते हैं। लेकिन दोनों में अन्तर होगा। सपने में केवल खयाल है कि आप कलकत्ता या बाम्बे गये हैं। अतीन्द्रिय शक्ति की सहायता से आप वास्तव में चले ही जायेंगे।

निश्चय ही मनोमय शरीर की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अलौकिक सम्भावनाएँ हैं। आपके वैज्ञानिक उनके मूल्य और महत्त्व को समझ रहे हैं। हम जिसे परा मानसिक शक्ति कहते हैं, वास्तव में वह अतीन्द्रिय शक्ति का ही एक विकसित रूप है। इस दिशा में रूस और अमेरिका के बड़े-बड़े धुरन्धर वैज्ञानिक उत्सुक हैं। यही कारण है कि इस समय विचार-संप्रेषण, दूर-दर्शन, विचार-पठन आदि गूढ़ विषयों पर वहाँ व्यापक रूप से खोज-कार्य हो रहा है। शोध और अन्वेषण के अन्त में क्या परिणाम उनके सामने आयेगा यह तो भविष्य के गर्भ में है। लेकिन मैंने स्वयं मनोमय शरीर की जो अनुभूति की और उसकी जो अलौकिकता देखी उसने मुझे एकबारगी चमत्कृत कर दिया। स्तब्ध रह गयी मेरी आत्मा।

साधक स्वरूपानन्द ब्रह्मचारी

अपने अन्वेषण काल में मैं जिन साधकों से मिला, उनमें एक थे स्वरूपानन्द ब्रह्मचारी भी। ब्रह्मचारीजी काशी-स्थित मुमुक्षु भवन में रहते थे उस समय। उनके सम्बन्ध में ज्ञात हुआ था कि वे मनोमय शरीर में रहकर कुण्डलिनी साधना में रत हैं। तंत्र का गूढ ज्ञान है उन्हें।

ब्रह्मचारीजी से मिला और अपनी जिज्ञासा प्रकट की उनके सम्मुख मैंने।

उन्होंने बतलाया कि मनोमय शरीर के अनुभव बड़े विचित्र और अलौकिक हैं। मनुष्य कितना हीन, दीन और पंगु है प्रकृति के सामने—इसका ज्ञान मनोमय शरीर को उपलब्ध होने पर ही होता है। कुण्डलिनी की वास्तविक साधना अनाहतचक्र से प्रारम्भ होती है। इस चक्र का सीधा सम्बन्ध मनोमय शरीर और मनोमय जगत् से समझना चाहिए। यही कारण है कि अनाहतचक्र का भेदन होते ही साधक का सीधा सम्बन्ध मनोमय शरीर और मनोमय जगत् से तत्काल स्थापित हो जाता है।

मनोमय शरीर को उपलब्ध होने पर साधक बिना समय और स्थान की बाधा के मनोमय शरीर द्वारा हजारों मील की यात्रा कर सकता है। हजारों मील की दूरी पर स्थित किसी भी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। बिना बोले किसी का भी विचार पढ़ सकता है। अपना विचार भी बिना बोले दूसरे तक पहुँचा सकता है। बिना बोले अपने विचारों को दूसरे में भी संप्रेषित कर सकता है। अपने स्थूल शरीर के भी बाहर निकल सकता है। निकल कर भ्रमण भी कर सकता है। इतना ही नहीं, मनोमय शरीर की सहायता से दूर या समीप स्थित किसी भी व्यक्ति को सम्मोहित और आकर्षित कर सकता है।

संकल्पशक्ति का चमत्कार

ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि मनोमय शरीर को उपलब्ध साधक की संकल्पशक्ति भी अति प्रबल होती है। अपनी संकल्पशक्ति के आधार पर वह असम्भव से असम्भव कार्य को भी सम्भव कर सकता है। यहाँ तक कि सद्यः मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित भी कर सकता है। अपने शरीर को छोड़कर हजारों मील दूर किसी भी स्थान पर तदनुरूप शरीर का निर्माण कर तत्काल उपस्थित हो सकता है। आपको मालूम होना चाहिए कि कुछ समय पूर्व काशी में एक ऐसे ही उच्चकोटि के महात्मा निवास करते थे। नाम था कपालगिरि। कपालगिरि महाशय मनोमय शरीर को उपलब्ध थे। उनकी संकल्पशक्ति भी अति प्रबल थी। वे स्थूल शरीर से कहीं भी तत्काल प्रकट हो जाया करते थे। उनका यह चमत्कार कई बार देखा था मैंने। एक बार की घटना है, उन दिनों मैं हरिद्वार में था। अकस्मात् गिरि महाशय का स्मरण हो आया एक दिन। उन दिनों गिरि महाशय काशी में ही थे, लेकिन घोर अस्वस्थ थे। चल-फिर सकने में पूर्ण असमर्थ थे। इससे भलीभाँति परिचित था मैं। मगर उस समय मुझे घोर आश्चर्य हुआ कि जब गिरि महाशय को अपने सामने खड़े मुस्कराते हुए देखा मैंने। वे लगभग १५-२० मिनट मेरे निकट रहे, बातें की और फिर गायब हो गये।

एक बार गिरि महाशय को कारबंकल फोड़ा हो गया था। असह्य पीड़ा थी। आपरेशन करना आवश्यक था। लेकिन शरीर में खून का अभाव होने के कारण डॉक्टर लोग ऑपरेशन करने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे और गिरि महाशय शरीर में दूसरा खून लेना नहीं चाहते थे और न तो चाहते थे ऑपरेशन के समय क्लोरोफार्म सूँघना। बड़ी असमंजस की स्थिति थी। माँ आनन्दमयी ने भी काफी समझाया और डॉ० गोपीनाथजी कविराज ने भी काफी अनुरोध किया, लेकिन महाशय नहीं माने। अन्त में उन्होंने स्वयं कहा—ऑपरेशन करो। मुझे कुछ भी न होगा। आखिर हार-थक कर डॉक्टरों को ऑपरेशन करना ही पड़ा। पर आश्चर्य की बात यह थी कि गिरि महाशय ऑपरेशन के समय और उसके बाद भी पूर्ण चैतन्य रहे, बराबर बात करते रहे और मुस्कराते रहे। सभी लोग उनकी संकल्पशक्ति से चमत्कृत थे।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मनोमय शरीर की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ हैं, जिन्हें हम अपनी अज्ञानतावश विकसित नहीं कर पाते। इसके कई कारण हैं। पहला यह कि इस मार्ग को अपनाने वाले के सामने कई प्रकार के खतरे आते हैं। कई प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं। दूसरा यह कि इस दिशा में मिथ्या की भी अधिक सम्भावना होती है। वास्तव में जो चीज जितनी सूक्ष्म होती चली जाती है—उतनी ही उसकी मिथ्या की सम्भावनाएँ भी बढ़ती चली जाती हैं। जैसे साधक अपने शरीर के बाहर गया था या नहीं गया

था — इसका निर्णय करना कठिन है। अपने शरीर के बाहर जाने का सपना भी वह देख सकता है और जा भी सकता है। इस मामले में वह स्वयं अपना प्रमाण व गवाह है।

स्थूल जगत्, भाव जगत् और मनोमय जगत्

स्थूल यानि भौतिक जगत् द्वैत का जगत् है। मगर अन्य जगत् द्वैतभावी नहीं है। उनमें एक ही भाव है और एक ही स्थिति है। जैसे भौतिक जगत् में दुःख और सुख दोनों है। लेकिन अन्य किसी जगत् में केवल दुःख ही दुःख है तो किसी जगत् में है सुख ही सुख। भौतिक जगत् की सीमा जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से भाव जगत् यानि वासना जगत् — जिसे प्रेतलोक भी कहते हैं — शुरू होता है। भाव जगत् की एक सीमा पर है भौतिक जगत् और दूसरी सीमा पर है सूक्ष्म जगत्।

सूक्ष्म जगत् अत्यन्त विस्तृत है, इसलिए उसे चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग एक-दूसरे से सूक्ष्म और सूक्ष्मतम हैं। चारों भागों में वहाँ के वातावरण के अनुरूप संस्कार वाली आत्माएँ निवास करती हैं।

सूक्ष्म जगत् के तीसरे और चौथे भाग को योगीगण वैश्वानरलोक कहते हैं। इस लोक में सूक्ष्मतम भावनाओं का प्रवाह है। इस लोक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ जीवन की सूक्ष्मतम भावना-प्रधान वे तमाम घटनाएँ विद्यमान रहती हैं जो भूतकाल में घट चुकी होती हैं और भविष्य में घटने वाली होती हैं। दोनों काल से सम्बन्ध रखने वाली वे तमाम घटनाएँ काल के पटल पर बिलकुल चित्रपट की तरह अंकित रहती हैं, जिन्हें योगीगण चलचित्र की तरह देख सकने में समर्थ होते हैं। वास्तव में वैश्वानरलोक में केवल योगियों का ही प्रवेश सम्भव है। जब उनकी आत्मा तुरीयावस्था को उपलब्ध हो जाती है तो वे सविकल्प समाधि की स्थिति में वैश्वानरलोक में प्रवेश कर सकने में समर्थ हो जाते हैं।

जिस किसी योगी को सविकल्प समाधि उपलब्ध है — वह अपनी संकल्प-शक्ति के बल पर योग्य व्यक्ति को वैश्वानरलोक का अनुभव करा सकता है। मेरे साथ ऐसा ही हुआ था। तिब्बत-प्रवास में एक लामा योगी से मेरी भेंट हुई थी। वह सविकल्प समाधि में महीनों पड़ा रहता था। एक दिन प्रसंगवश उसने मुझसे कहा — वैश्वानरलोक का अनुभव करोगे ?

सिर हिलाकर मैंने कहा — 'हाँ' !

मेरे हाँ करते ही उस लामा ने तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसके नेत्र में कौन-सी ऐसी शक्ति थी जो मेरे मन को, मेरे प्राण को और मेरी आत्मा को बेंधती हुई निकल गयी, जिसके फलस्वरूप मेरी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी और आभ्यन्तर चेतना जाग्रत हो उठी और उसी के साथ वैश्वानर लोक का अनुभव किया मैंने। भौतिक जगत् में मनुष्य भौतिक शरीर के द्वारा

अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का अनुभव करता है। मगर मैं उस अवस्था में बिना किसी देह के माध्यम से अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का स्वतंत्र बोध कर रहा था। और जिस वातावरण में बोध कर रहा था—वहाँ केवलमात्र भावना का ही प्रवाह था। जो अत्यन्त सूक्ष्म और तरल था। जिसके सागर में मानों मैं तैरता-डूबता जा रहा था। भौतिक जगत् और भौतिक शरीर से भी मेरा कोई सम्बन्ध है और मेरा भौतिक जीवन भी है—इन सबका उस समय मुझको जरा-सा भी ज्ञान नहीं था।

मेरे चारों तरफ के वातावरण में एक रूपहले रंग की पारदर्शक आभा फैली हुई थी, जो बाद में घनीभूत होकर एक स्थान पर गोलाकार पिण्ड के रूप में बदल गयी। आभा के उस पिण्ड के भीतर एकाएक दृश्य उभरने लगे। पहले तो धुँधले थे, पर बाद में बिलकुल स्पष्ट हो गये। वे दृश्य मेरे पिछले जन्म की घटनाओं से सम्बन्धित थे। उसके बाद अपने अगले जन्म को भी चलचित्रवत् देखा मैंने। इस घटना को काफी लम्बा अर्सा हो गया है, लेकिन आज भी मुझे अपने पिछले जन्म की और साथ ही अगले जन्म की भी सारी घटनाएँ स्मरण हैं। जब मैं कभी किसी एकान्त के क्षणों में अपने पिछले जीवन के विषय में सोंचता हूँ और सोंचता हूँ अपने अगले जीवन के सम्बन्ध में तो एक अजीब-सा लगता है मुझे।

मनोमय जगत् सबसे ऊपर है। उसके नीचे हैं क्रमशः सूक्ष्म जगत्, भाव जगत् (वासना जगत् अथवा आकाशीय जगत्) और स्थूल जगत्। जिस प्रकार स्थूल जगत् का शरीर पार्थिव शरीर, भाव जगत् का वासना शरीर यानि प्रेत शरीर है, उसी प्रकार मनोमय जगत् का शरीर मनःशरीर है। आत्मा को जिस लोक या जगत् में जाना होता है, वह उसी जगत् से सम्बन्धित शरीर को धारण करती है। इसी प्रकार जब उसे उस जगत् से बाहर निकलना होता है तो उस जगत् का शरीर वहीं छोड़ देती है। इसी को दूसरे शब्दों में मृत्यु अथवा देहान्तरण कहते हैं।

सूक्ष्म जगत् की भाँति मनोमय जगत् भी चार भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग क्रमशः एक-दूसरे पर आश्रित है। पहला भाग सद् विचार और पुण्यवान् आत्माओं का निवासस्थल है। दूसरा भाग उन लोगों का निवासस्थल है जो संसार में रहकर बराबर कल्याण का काम करते रहते हैं और धार्मिक प्रवृत्ति के रहे हैं। तीसरा भाग ऐसे लोगों का निवासस्थल है जो भौतिक जगत् में कलाकार, संगीतकार, अभिनेता, लेखक, बुद्धिजीवी, दार्शनिक और प्रकाण्ड विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं।

मनोमय जगत् का चौथा भाग अत्यन्त सूक्ष्म है। जिस वैश्वानरलोक की चर्चा ऊपर की गयी है, उसका अन्तिम भाग मनोमय जगत् के चौथे भाग से दूध-पानी की तरह मिला हुआ है। इसलिए मनोमय जगत् के चौथे भाग को

भी शास्त्रकारों ने वैश्वानरलोक कहा है। इस वैश्वानरलोक में उच्चकोटि के योगी, साधक, सिद्ध, सन्त, महात्मा आदि निवास करते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि मनोमय जगत् के ये चारों भाग उन लोगों का है—जो कभी संसार में जन्म लेकर जीवन-यात्रा पूरी कर चुके होते हैं और पुनः संसार में आने के लिए यानि जन्म लेने के लिए इच्छुक रहते हैं।

मनोमय जगत् के ठीक बगल में प्राणमय जगत् है। यह जगत् यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि प्राणमय शरीरधारी लोगों का निवासस्थल है। नृत्य, वाद्य, संगीत और विभिन्न कलाओं का अवतरण हमारे संसार में इन्हीं जगत् के द्वारा सम्भव हुआ है। मनोमय और प्राणमय जगत् की सन्धि में देवलोक है—जिसमें किसी भी लोक-लोकान्तर या जगत् की आत्माओं का प्रवेश सम्भव नहीं है। देवलोक में केवल देवात्माएँ ही निवास करती हैं। देवलोक का वातावरण अत्यन्त शान्त, नीरव और भावना-प्रधान है। यही कारण है कि देवगण अपने प्रति हमारी भावना को देते हैं। यही कारण है कि देवलोक को वही उपलब्ध हो सकता है जिसने संसार में रहकर देवताओं के गुणों को अपना कर देवता बनने का सदैव प्रयास किया है।

मनोमय जगत् में प्रवेश के पूर्व

तिब्बती लामा ने मुझे सूक्ष्म जगत् और उसके वैश्वानर भाग का अनुभव अपने योगबल से कराया था। इसलिए मनोमय जगत् का भी अनुभव प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठी मेरी आत्मा। अपनी लालसा जब मैंने ब्रह्मचारी जी के सम्मुख प्रकट की तो वे पहले कुछ देर तक मौन साधे रहे, फिर बोले—इसके लिए तुम्हें पहले कुछ विशिष्ट योगाभ्यास करना होगा और कुछ गुह्य यौगिक क्रियाएँ भी करनी होगी।

इसके लिए तैयार हूँ मैं।

कहने की आवश्यकता नहीं, ब्रह्मचारीजी के निर्देशन में मेरा योगाभ्यास और मेरी यौगिक क्रिया शुरू हो गयी। जिसका तत्काल परिणाम यह हुआ कि कुछ दिनों में मैं अपने शरीर से अपने आपको और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अलग अनुभव करने लगा। हर क्षण में यही भावना रखता था कि अपने शरीर से अलग हूँ। धीरे-धीरे मेरी यह भावना दृढ़ होती गयी। अन्त में मैं अपने शरीर को दूर से काम करते हुए देखने लगा। रात के समय जब बिस्तर पर मेरा शरीर लेटता अथवा सोता—तो मैं अलग कुर्सी पर बैठकर उसे देखता रहता।

इसके बाद दूसरी क्रिया शुरू हुई। अपने शरीर के अंगों और अपनी इन्द्रियों को आज्ञा देना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बिना मेरी अनुमति के न मेरा कान सुन सकता था, न मेरी आँखें देख सकती थीं और न तो मेरी नाक ही कुछ सूँघ सकती थी। हाथ-पैर भी मेरी बिना आज्ञा के निर्जीव

रहते थे। इतना ही नहीं, जब मैं चाहता था तभी सोच-विचार भी कर सकता था।

एक साल बाद इन सबका परिणाम यह हुआ कि पूरा शरीर, सभी इन्द्रियाँ और सभी अंग मेरे वश में हो गये एकबारगी। एक दिन इसकी चर्चा मैंने ब्रह्मचारीजी से की। उस समय वे नगवा घाट के ऊपर एक कुटिया बनाकर रहते थे। कुटिया के बाहर तरह-तरह के फूलों का बाग भी लगा रखा था उन्होंने। वहाँ बड़ी शान्ति थी। बाग के भीतर पत्थर के तीन-चार चबूतरे भी बने थे। ब्रह्मचारीजी ने एक चबूतरे पर मुझे बैठने का संकेत किया और जब मैं बैठ गया तो उन्होंने मुझसे शरीर से अलग होने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया। अभ्यास तो था ही। दृढ़ भावना की सहायता से मैं अपने शरीर से अलग होकर ध्यान से उसे देखने लगा।

पारदर्शक मनोमय शरीर में प्रवेश

कुछ ही देर बाद मेरी भावना और दृढ़ हो गयी और कल्पना भी संकल्प में बदल गयी। उसी समय ब्रह्मचारीजी आगे बढ़कर मेरे शरीर के बगल में खड़े हो गये। उन्होंने एक बार मेरे चेहरे की ओर देखा और फिर हाथ में ली हुई सूई को मेरी बाँह में कोंच दिया। मगर मुझे उसकी पीड़ा का जरा-सा भी अनुभव नहीं हुआ। अविचल भाव से मैं अपने पार्थिव शरीर की ओर देखता रहा। शायद ब्रह्मचारीजी इस बात का पता लगाना चाहते थे कि मैं शरीर से अलग होने पर पीड़ा का अनुभव करता हूँ या नहीं। इस तरह आश्वस्त होने पर उन्होंने मेरे सिर पर अपना दाहिना हाथ धीरे से रख दिया और आँखें बन्द कर वहीं मेरे बगल में बैठ गये। थोड़ी देर बाद जब वे वहाँ से हटे तो मुझे यह देखकर आश्चर्य की सीमा न रही—मेरा पार्थिव शरीर धीरे-धीरे विघटित हो रहा था और उसकी जगह उसी के आकार-प्रकार और रूप-रंग की एक दूसरी देह की रचना हो रही थी जो अत्यन्त शुभ्र और पारदर्शक थी। जब उसका निर्माण पूरा हो गया तो उसके प्रति जबर्दस्त आकर्षण पैदा होने लगा मुझमें। परिणाम यह हुआ कि दूसरे ही क्षण मैं अपने-आपको उस पारदर्शक शरीर में अनुभव करने लगा। बड़ी ही विचित्र और रहस्यमयी अनुभूति हुई मुझे उस पारदर्शक काया में। निःसन्देह वह मेरा मनोमय शरीर था। मेरी विचारशक्ति और मनःशक्ति अत्यन्त प्रखर और प्रबल हो गयी थी उसमें। अब मेरे सामने भौतिक जगत् का अस्तित्व नहीं था। उसके स्थान पर एक नये और अति मोहक जगत् की रचना हो गयी थी।

मन को मुग्ध करने वाला चाँदनी जैसा शुभ्र आलोक फैला हुआ था। जब मैं अपने स्थान से उठा तो मुझे बड़ा हलकापन का अनुभव हुआ। ऐसा लगा मानों मैं चल नहीं रहा हूँ बल्कि हवा में तैर रहा हूँ। मेरे सामने आलोक का विस्तार था और मेरे चारों तरफ अनिवर्चनीय शान्ति बिखरी हुई थी।

उस शुभ्र आलोक और उस शान्ति के सागर में थोड़ी देर बाद मैं आकण्ठ डूब गया। स्थूल जगत् और स्थूल शरीर से सम्बन्धित सारी स्मृतियाँ एकबारगी लुप्त हो गयी थी। उस अलौकिक स्थिति में मैं केवल एक विलक्षण सत्ता का अनुभव कर रहा था। निश्चय ही वह मानवेतर सत्ता थी। जिसका मानवेतर शक्ति का प्रभाव मेरे मन पर पड़ रहा था।

मनोमय जगत् के निवासियों के बीच में

थोड़ी ही देर बाद मैं उन मनोमय शरीरधारी लोगों के बीच में था—जिनका स्थूल शरीर तो इस संसार में था लेकिन वे मनोमय शरीर द्वारा मनोमय जगत् में साधनारत थे। मुझे कुछ ऐसे लोग भी वहाँ दिखलायी दिये जो क्रिया-कलाप और वेश-भूषा से बिलकुल साधारण अथवा निम्न कोटि के थे और अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करने वाले थे। पहली बार मुझे यह बात समझ में आयी कि कुण्डलिनी साधना के आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच कर साधना करने वाले साधक व योगीगण भौतिक संसार और पार्थिव शरीर में बिलकुल साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। कोई-कोई तो पागलों और भिखारियों जैसा भी रहते हैं, मगर उनका आध्यात्मिक जीवन उच्चकोटि का होता है और वे इस प्रकार के दिव्य लोकों में और दिव्य शरीर में रहकर बराबर साधनारत रहते हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को और उनके आध्यात्मिक जीवन को किसी के लिए समझ पाना कठिन है।

मनोमय जगत् के वैश्वानर भाग में ऐसे भी साधक-साधिकाएँ हैं—जो वहाँ के स्थायी निवासी समझे जाते हैं। उनकी साधना का स्तर उच्चकोटि का है। उनकी साधना का जो मार्ग है, उस पर चलने वाले व्यक्तियों से उनका मानसिक सम्पर्क बराबर बना रहता है। जैसे मनुष्यात्माएँ संसार में जन्म लेती हैं—वे लोग उस प्रकार संसार में आना स्वीकार नहीं करते। यदि उनकी कभी इच्छा हुई अथवा कोई कारण उपस्थित हुआ तो वे आकाशमार्ग अथवा शून्य-मार्ग से संसार में आते हैं। इन स्थायी साधकों और साधिकाओं को योग की भाषा में आकाशचारी और आकाशयोगिनी कहते हैं। इनका अपना निज का शरीर मनोमय होता है। किन्तु पार्थिव शरीर धारण करने के लिए बीच के सूक्ष्मजगत् और वासनाजगत् के शरीरों को भी ग्रहण करना पड़ता है उन्हें। कहने का तात्पर्य यह है कि स्थूल शरीर में आने के लिए उन्हें मनोमय शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर और वासना शरीर को भी क्रमशः ग्रहण करना पड़ता है। मनुष्य का जन्म सूक्ष्म एवं वासना इन दोनों शरीरों के अभाव में सम्भव नहीं है। वे इनकी रचना अपने योगबल से स्वयं कर लिया करते हैं।

चार प्रकार की ध्वनियाँ

इस प्रसंग में यह बतला देना आवश्यक है कि हमारे यहाँ ध्वनियों के चार प्रकार हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा। ये चारों प्रकार की ध्वनियाँ

क्रमशः स्थूल जगत्, वासना जगत्, सूक्ष्म जगत् और मनोमय जगत् की हैं। वैखरी स्थूल ध्वनि हैं। एक सेकेण्ड में इस ध्वनि में ३२ से लेकर ३२७६८ तक कम्पन होते हैं। हमारे कान एक सेकेण्ड में ३२ से कम ३२७६८ के ऊपर के कम्पनों की ध्वनि को नहीं सुन सकते। वे उनके बीच के कम्पनों की ही ध्वनि को सुन सकने में समर्थ होते हैं।

मध्यमा ध्वनि वासनालोक यानि प्रेतलोक की ध्वनि हैं। इसमें एक सेकेण्ड में २८ से ३२ तक के कम्पन हुआ करते हैं। इसी कारण वासनालोक के प्राणियों यानि प्रेतों की आवाजें हमारे कान सुन नहीं पाते।

पश्यन्ति ध्वनि सूक्ष्म जगत् की ध्वनि है। इसमें एक सेकेण्ड में १०४८५७६ से लेकर ३४३५९७३८३३८ तक कम्पन पैदा होते हैं। यही कारण है कि हमें सूक्ष्म जगत् की भी ध्वनियाँ सुनाई नहीं पड़ती। इसके बाद है पराध्वनि। यह मनोमय जगत् की ध्वनि है। इस जगत् की भी ध्वनि हमें इसलिए सुनाई नहीं पड़ती कि उसके कम्पन एक सेकेण्ड में ३४३५९७३८३३८ से लेकर २३०५७६ ३००९२१३६९३९५२ तक होते हैं। पराध्वनि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब उसका कम्पन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब उसमें से अखण्ड प्रकाश की किरणें निकलने लगती हैं। उन्हीं अखण्डप्रकाश-किरणों को आज की वैज्ञानिक भाषा में एक्स-रेज कहते हैं। वे कम्पन सूक्ष्मतम प्राणवायु यानि ईश्वर में पैदा होते हैं। इसलिए उससे उत्पन्न ध्वनि की गति भी अति विलक्षण होती है।

मनोमय जगत् की ध्वनि प्रकाशकिरणों में परिवर्तित होकर आत्मलोक में प्रवेश करती है। इसीलिए आतमा की गति भी प्रकाश की गति के समान समझी जाती है।

दुर्लभ सिद्धि की उपलब्धि

जब मैं मनोमय जगत् के आश्चर्यजनक पारलौकिक वातावरण से निकलकर वापस भौतिक शरीर में आया तो मेरी मानसिक स्थिति विचित्र हो गयी। शायद उस समय मेरी आत्मा ने कोई अलौकिक मानवेतर शक्ति प्राप्त कर ली थी। जो लोग अपने स्थूल शरीर में रहते हुए भी अपने मनोमय शरीर का उपयोग करना जान जाते हैं उन्हीं को योगी और तांत्रिक कहा जाता है। ऐसे लोगों के मानस-चक्षु के सामने सृष्टि का रहस्य एक विशेष सीमा तक खुल जाता है। मैं न योगी था और न तो था तांत्रिक। मगर ब्रह्मचारीजी की कृपा से मनोमय शरीर में जाकर मैंने अवश्य कुछ अलौकिक अथवा मानवेतर शक्ति कुछ समय के लिए प्राप्त कर ली थी। उस शक्ति के कारण मैं मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित तीनों काल की घटनाएँ तुरन्त जान-समझ जाता था। मन की बातें भी जान जाता था। कौन व्यक्ति कहाँ है? क्या कर रहा है? क्या सोच रहा है? इन सब बातों को भी मैं तत्काल जान जाता था। भविष्य में

कब और क्या होने वाला है, इसे तो मैं करतलवत् देख लेता था। इतना ही नहीं, इन सबके अतिरिक्त जब चाहे तब अपने पार्थिव शरीर से निकलकर बाहर चला जाता था और मनचाही जगहों में भ्रमण करता था। इस कार्य में विचित्रता के साथ अलौकिक आनन्द की भी अनुभूति होती थी मुझे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि स्थूल शरीरधारी प्राणियों को मैं देख सकता था लेकिन वे मुझे नहीं देख पाते थे। जब कि वासना शरीर और सूक्ष्म शरीरधारी लोग मुझे स्पष्ट रूप से देख पाते थे।

स्थूल शरीर से बाहर निकलने का समय मेरा निश्चित था। और मैं निश्चित समय पर निकलकर कभी अपने वासना शरीर तो कभी सूक्ष्म शरीर के द्वारा अल्प समय में ही हजारों मील की यात्रा पूरी कर लेता था। दो-तीन बार तो हिमालय के कई दुर्गम स्थानों का भी चक्कर लगा आया मैं।

श्मशान की रहस्यमयी भैरवी

एक दिन की बात है।

साँझ का समय था। मैं अभ्यास के अनुसार शरीर छोड़कर बाहर निकल गया। निकलने के पहले अपने कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द कर दिया मैंने हमेशा की तरह। काश! उस दिन अभ्यास न किया होता मैंने। अभ्यास के नियम के अनुसार पहले वासना शरीर को छोड़कर कुछ समय तक सूक्ष्म शरीर में रहना पड़ता था। फिर उसे भी छोड़कर मनोमय शरीर में जाना पड़ता था। उस समय मैं अपने वासना शरीर में ही था और गंगा के घाटों का चक्कर लगाता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। वासना शरीर में वासना के अनुरूप गति होती है। वासना यदि प्रबल है तो वासना शरीर की गति भी तेज होगी।

अचानक मणिकर्णिका घाट की ओर मेरी नजर घूम गयी। देखा, दर्जनों लाशें जल रही थीं चिता पर वहाँ। वैसे तो ऐसा दृश्य मैंने कई बार देखा था मगर स्थूल शरीर से देखने में और वासना शरीर से देखने में काफी अन्तर था। वासना शरीर ही प्रेत शरीर है। इस शरीर के द्वारा केवल प्रेतात्माएँ ही दिखलायी पड़ सकती हैं। वासनाओं के अपने अलग-अलग रंग होते हैं। जैसे सात्त्विक वासना का रंग सफेद, राजसी वासना का रंग हलका नीला, पीला एवं नारंगी रंग होता है। इसी प्रकार तामसिक वासना का रंग काला, हरा और कत्थई होता है। मिली-जुली वासनाओं का रङ्ग बैंगनी या हरा होता है। प्रेतात्माओं के शरीर का रंग उसकी वासना के अनुरूप होता है। एक बात का विलक्षण अनुभव हुआ मुझे पहली बार। उस अवस्था में मुझे मृतकों के अलावा जीवित प्राणियों के भी स्थूल के बजाय वासना शरीर ही दिखलायी देते थे। इतना ही नहीं, ईंट-पत्थर के बने मकान, महल और मन्दिर के भी

वासनामय स्वरूप दिखलायी देते थे। मतलब यह कि उनको बनवाने वाले महानुभावों और महापुरुषों की वासना की साफ झलक उनमें दिखलायी पड़ती थी। वे उसी रङ्ग के होते थे। धीरे-धीरे चलकर मैं उन जलती हुई चिताओं के बीच खड़ा हो गया। मैं सभी को देख रहा था मगर मुझे कोई नहीं देख पा रहा था। इसलिए कि मैं वासना शरीर में था।

जलती हुई चिताओं के आस-पास श्मशान में स्थायी रूप से निवास करने वाली प्रेतात्माओं को मैंने चक्कर लगाते हुए देखा। बड़ा ही बीभत्स दृश्य था। जिन मृत लोगों की लाशें जल रही थीं वे लोग अपनी-अपनी चिताओं के पास खड़ें या बैठे थे। श्मशान की प्रेतात्माएँ बार-बार उन्हें परेशान कर रही थी। कभी उन्हें मारती थीं तो कभी उन्हें खींचकर गंगा की ओर ढकेल दिया करती थीं। जब वे वहाँ से हट जाते थे, तो वे प्रेतात्माएँ उनकी जलती हुई लाशों के मांस को नोंच-नोंचकर खाने लग जाती थीं।

श्मशान-भैरवियों को भी वहाँ चक्कर लगाते हुए देखा मैने। वे सभी नाटें कद की थीं। शरीर का रङ्ग बिलकुल काला था। सिर कोहड़े जैसा था। आँखें उल्लू जैसी थीं पीली और चमकीली। नीचे का जबड़ा लटका हुआ था। वे बिलकुल नंगी थीं। उनके बड़े-बड़े बेडौल स्तन पेट के नीचे तक लटक रहे थे। बाल खुलकर हवा में लहरा रहे थे। बड़ा ही विचित्र रूप था उन सब मायाविनियों का। वे कभी सामूहिक रूप से प्रेतात्माओं के साथ नृत्य करती तो कभी लड़ती-झगड़ती। अचानक एक श्मशानभैरवी की नजर मुझ पर पड़ गयी। अपने दोनों हाथ फैलाकर खीं-खीं हँसती हुई वह मेरी ओर बढ़ी। भय और रोमाञ्च से काँप उठा मैं। मेरे बिलकुल नजदीक आकर कहने लगी वह—'यहाँ तू खड़ा होकर क्या देख रहा है। भाग, भाग जा यहाँ से। यहाँ तेरा क्या काम····'।

मगर मैं न वहाँ से हटा, न भागा। बोला—'मैं मरा आदमी नहीं हूँ कि तेरा जोर चलेगा मुझ पर। तू मुझे भगा नहीं सकती यहाँ से, समझी'। 'तू मरा नहीं है····? तो फिर यहाँ कैसे आ गया?' घोर आश्चर्य से बोली वह श्मशानभैरवी। थोड़ा रुक कर बगल में जलती हुई एक लाश की ओर देखती हुई आगे कहने लगी—'समझ गयी मैं। सब जान गयी'।

'क्या जान-समझ गयी तू?'

'तू पद्मा को जानता है न।'—यह कहकर वह रहस्यमयी श्मशान-भैरवी फिर हो-हो कर हँसने लगी। बड़ी ही विचित्र और रहस्यमयी हँसी थी उसकी। मेरी समझ में नहीं आया कुछ। पद्मा को कैसे जानती है? मैं पद्मा से मिला था—यह भी कैसे जानती है वह? सब कुछ जानने-समझने के लिए व्याकुल हो उठा मैं। मगर उस समय श्मशानभैरवी ने कुछ नहीं बतलाया मुझ। एकबारगी टाल गयी। बोली—अगली अमावास्या की रात में

हरिश्चन्द्र घाट के श्मशान में आना। वहीं मिलूंगी मैं और वहीं बतलाऊँगी सब कुछ तुझे। मगर सुन।

'क्या ? बोलो।'

'तू···तू मुझे श्मशान की इस नारकीय जिन्दगी से उबार सकेगा' ?

'कैसे ?'

'मैं रास्ता बतलाऊँगी'।

बाद में सब पता चल गया। उसी श्मशानभैरवी ने ही बतलाया सब-कुछ मुझे। पिछले दो सौ वर्षों से श्मशान की नारकीय जिन्दगी जी रही थी वह। बड़ी की करुण और हृदयस्पर्शी कथा थी उसके जीवन की।

वादा के अनुसार वह हरिश्चन्द्र घाट के श्मशान में मिली। स्थूल शरीर छोड़ने की क्रिया मुझे उस दिन नहीं अपनानी पड़ी थी। इसी शरीर से चल कर पहुँच गया था। अमावस की काली स्याह रात आधी से ज्यादा गुजर चुकी थी। चिताएँ जल कर राख में बदल गयी थीं। चारों ओर साँय-साँय कर रहा था। एक अजीब-सी खिन्नता भरी उदासी फैली हुई थी उस श्मशानी वातावरण में।

जब श्मशानभैरवी अपने पार्थिव शरीर में प्रकट हुई

लगभग एक घण्टे तक इन्तजार करता रहा। फिर मन उचटने लगा मेरा। सोचा—मैंने अपने वासना शरीर से देखा था श्मशानभैरवी को। इस पार्थिव शरीर से कैसे मुलाकात हो सकती है उससे? सम्भव है वह मुझे इस श्मशान के वासनामय जगत् में खोज रही हो ? मैं उठना चाहा, मगर तभी मुझे कर्नाटक घाट की ओर से एक काली छाया हवा में डोलती-थिरकती दिखलायी पड़ी। मैं सतर्क हो गया। हो सकता है वही हो। अनुमान सत्य निकला। श्मशानभैरवी ही थी वह। मगर परिवेश वह नहीं था। थोड़ा आश्चर्य हुआ और भ्रम भी। कुछ ही क्षणों के बाद वह तमोगुणी श्मशान-भैरवी मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। लेकिन उस समय वह अपने पार्थिव शरीर में थी। एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। अवाक् देखता रहा उसकी ओर न जाने कब तक।

वह अपूर्व सौन्दर्य

'पहचाना नहीं मुझे' ? मधुर और कोमल स्वर में बोली वह—जब मैं तुम्हारी दुनिया में थी, उस समय यही मेरी काया थी और यही रूप-रंग था।···फिर थोड़ा रुक कर आगे बोली—'कैसी लगीं तुम्हें' ? 'अच्छी बहुत अच्छी। कितनी सुन्दर हो तुम। ऐसा लगता है मानो किसी कवि की कविता साकार हो गयी है मेरे सामने। सचमुच तुम कवि की सर्वोच्च कल्पना लग रही हो मुझे इस समय'। कहने को तो कह गया मैं यह—लेकिन

भीतर ही भीतर डर रहा था। रह-रह कर रोमाञ्चित हो उठता था मेरा सारा शरीर। श्मशान की कालरात्रि-सी एक भैरवी को सशरीर सामने इस तरह देखकर मेरा रोमाञ्चित और भयभीत होना स्वाभाविक ही था।

महातन्त्रसाधक कापालिक और आकाशचारी तारादास की भैरवी सुलोचना

कुछ क्षणों के बाद एक दीर्घ निःश्वास सुनाई पड़ी। 'जानते हो'! वह कहने लगी—'मेरा नाम सुलोचना है। आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले मैं कापालिक तारादास की भैरवी थी'।

तारादास का नाम सुनते ही एकबारगी चौंक पड़ा मैं। वे उच्चकोटि के कुण्डलिनी-साधक थे। तंत्रसाधना के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से लिखा गया था। वे आकाशचारी कापालिक थे। उनकी कई सिद्धियों की चर्चा मैंने कालीपद बाबू से सुन रखी थी। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'वामकेश्वरतंत्र' और 'मालिनीविजयतंत्र' तंत्र-साहित्य की अद्‌भुत और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ समझी जाती हैं। कालीपद बाबू ने यह भी बतलाया था कि कापालिक तारादास योगकाया में अभी भी इस संसार में विद्यमान है। सिद्ध साधकों के समक्ष अभी भी आवश्यकता पड़ने पर सशरीर उपस्थित होते हैं। इसी प्रसंग में कालीपद बाबू ने यह भी चर्चा की थी कि उनकी भैरवी किसी कारणवश श्मशानभैरवी की योनि में हैं। कापालिक-सम्प्रदाय में भैरवी का बड़ा महत्त्वपूर्ण और सम्मानित स्थान है। भैरवी को पीठिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है। सुलोचना भैरवी यानि पीठिका थी। मगर सहसा विश्वास नहीं हुआ कि इतने उच्चकोटि के साधक की पीठिका इस प्रकार और इस रूप में अचानक मुझसे मिलेगी और मुक्ति की याचना करेगी। रहस्य समझ में नहीं आया मुझे। कापालिक-साधनामार्ग में पीठिका जब भ्रष्ट हो जाती है तो गुरु उसकी बलि दे देता है। ऐसा ही हुआ सुलोचना के साथ भी। सुलोचना साधना के एक सफल सीमा पर पहुँच कर पथभ्रष्ट हो गयी थी। फलस्वरूप प्रायश्चित्त करना पड़ा और वह भी अपनी बलि देकर।

एक दीर्घ निःश्वास लेकर सुलोचना ने आगे बतलाया कि इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता भी तो नहीं था। बलि के लिए गपना सिर वेदी पर झुकाने के पूर्व सोचा था कि मुक्ति मिल जायेगी। संसारचक्र से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जायेगा। लेकिन ऐसा कुछ नही हुआ। मुक्ति के स्थान पर मिली मुझे तमोलोक की सबसे निम्न कोटि की निकृष्ट योनि श्मशानभैरवी की।

सुलोचना कैसे भैरवी बनी तारादास कापालिक की—यह जानने-समझने के लिए व्याकुल और व्यग्र हो उठा मैं। इस सम्बन्ध में पूछने पर सुलोचना ने बतलाया कि इसकी भी एक अलौकिक कथा है।

कापालिक तारादास

उन दिनों पूर्वी भारत में तारादास कापालिक की अलौकिक सिद्धियों और चमत्कारों की चर्चा जंगल की आग की तरह फैल रही थी। बड़े-बड़े धनी, साहूकार, जमींदार और राजा-रजवाडे उनके शिष्य हो रहे थे। सुलोचना के पिता कृष्णदास गोस्वामी भी प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये थे। ढाका में उनका काफी लम्बा-चौड़ा कपड़े का व्यापार था। मगर सन्तान के नाम पर केवल एक लड़की थी सुलोचना। कृष्णदास गोस्वामी और उनकी पत्नी राधा गोस्वामी अपनी एकमात्र कन्या को बहुत स्नेह करते थे। उस समय सुलोचना की आयु सोलह साल के लगभग थी। किशोरावस्था से युवावस्था में प्रवेश कर रही थी। इकहरी देह, हलका गुलाबी रंग, लम्बा कद, शंख की तरह गर्दन, बड़ी-बड़ी कजरारी और मदभरी आँखें, पतली नाक, पतले होंठ, घने काले बाल और सुडौल पुष्ट वक्ष। जो भी देखता उस रूपशिखा को, बस अपलक देखता ही रह जाता था। कृष्णदास गोस्वामी अब शीघ्र ही सुलोचना का विवाह कर देना चाहते थे। थोड़े से ही प्रयास से एक स्थान पर विवाह की बात पक्की भी हो गयी। लड़का सुलोचना के अनुरूप था। मगर तभी एक घटना घट गयी। बरसात का मौसम था। एक दिन जब सुलोचना बाग में फूल चुनने के लिए गयी, उसी समय सर्प ने डस लिया उसे। जीवन-रक्षा के लिए सभी सामयिक उपचार किये गये, लेकिन सुलोचना को बचाया न जा सका।

काली स्याह रात गुजर चुकी थी। सबेरा होने ही वाला था। कुशा की चटाई पर सुलोचना की निष्प्राण काया पड़ी थी। आँखें बन्द थीं। चाँद जैसा चेहरा काला पड़ गया था। लाश के ऊपर बेहोश पड़ी थी। राधा गोस्वामी आदि किसी ने उन्हें हटाने की कोशिश नहीं की थी। बड़ा ही करुण दृश्य था। जिस लड़की की डोली अगले मास उठने वाली थी, उसकी लाश उठने जा रही थी। कृष्णदास गोस्वामी इस करुण दृश्य को नहीं देखना चाहते थे। वे अपने कलेजे पर पत्थर रखकर दूसरे कमरे में शून्य में देख रहे थे। अचानक उस शोकाकुल वातावरण में शंख की ध्वनि गूँज उठी। कृष्णदास गोस्वामी एक-बारगी चौंक पड़े। आँसू पोछते हुए उठे और लपक कर बाहर आये। देखा—दरवाजे पर उनके परम गुरु तारादास कापालिक तनकर खड़े थे। उनकी आँखें लाल थीं। चेहरा भी लाल हो रहा था। उन्होंने घूरकर कृष्णदास गोस्वामी की ओर देखा और फिर उच्च स्वर से बोले—खड़ा-खड़ा बाबा का मुँह क्या देख रहा है? कृष्णदास गोस्वामी समझ गये कि बाबा क्या चाहते हैं? वे दौड़कर भीतर गये और सुरापात्र ले आये। बाबा ने उनके हाथ से सुरापात्र लेकर मुँह से लगा लिया और गट-गट कर सारी मदिरा एक ही साँस में पी गये। उनकी आँखें और अधिक लाल हो उठीं। एक बार अपना सिर घुमाकर देखा और

उसके बाद चार-छः कदम आगे बढ़कर गरजते हुए पुकारा—'सुलोचना'… सुलोचना'। उसी क्षण एक चमत्कारपूर्ण अनहोनी हो गयी। एक अविश्वसनीय घटना घट गयी। लोग अवाक् रह गये। आँखें फाड़े देखते रह गये एकबारगी स्तब्ध होकर।

जब सुलोचना कापालिक तारादास की भैरवी बनी

कापालिक तारादास की पुकार सुनकर कुछ देर पहले मृत पड़ी सुलोचना उठ खड़ी हो गयी और दौड़ती हुई मकान के बाहर आ गयी। उसे जैसे होश नहीं था। वह उस समय सम्मोहित-सी थी। ऐसा लगा मानों वह किसी अनजाने लोक से आ रही है। बाबा ने दोनों हाथ पसार कर अपने सीने से लगा लिया सद्यः जीवित उस रूपसी युवती को। सुलोचना पुनर्जीवित हो गयी थी। मगर माता-पिता का अधिकार अब उस पर नहीं रहा। बाबा गम्भीर स्वर में कहने लगे—देवी चामुण्डा की अलौकिक शक्ति से सुलोचना को जीवनदान मिला है। अब वह संसार, समाज और परिवार के समस्त बन्धनों से मुक्त है। उसके शरीर पर और उसके मन-प्राण पर—इतना ही नहीं, उसकी दिव्य आत्मा पर भी महातंत्र साधक कापालिक तारादास का पूर्ण अधिकार है।

इतना कहकर तारादास कापालिक सुलोचना का हाथ पकड़े और उसे अपने साथ लेकर धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। किसी को कुछ कहने की और कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई। सभी चमत्कृत थे। सभी हतप्रभ थे। सभी की आँखें आश्चर्य से फैली हुई थीं। कृष्णदास गोस्वामी तो वहीं सिर थाम कर बैठ गये। राधा गोस्वामी की हालत दयनीय थी। वे केवल पागलों की तरह सूनी आँखों से देखती रहीं—सुलोचना को एक भयंकर कापालिक के साथ जाते हुए।

सुलोचना ने बतलाया कि उस समय आत्मविस्मृत हो गयी थी मैं। मेरे मन में किसी भी प्रकार की मोह-माया नहीं थी। एक विचित्र-सी शून्यता भर गयी थी जैसे मेरे भीतर। बाबा मुझे हिमालय की ओर ले गये। वहाँ एक गुप्त आश्रम में उन्होंने मुझे 'भैरवी' की दीक्षा दी और अपनी साधना में स्वीकार कर लिया।

'फिर क्या हुआ' ?

जब वासना अभिशाप बन गयी

फिर होगा क्या ? हिमालय की उस गुफा में बाबा के साथ मैं पूरे साठ वर्ष रही। काल के इस दीर्घ अन्तराल में भी मेरा यौवन और सौन्दर्य अक्षय बना रहा। आयु के प्रभाव से मेरी काया मुक्त रही। लेकिन…लेकिन… एक दिन मेरी वही अक्षय यौवन-सम्पन्न और काल के प्रभाव से मुक्त काया मेरे लिए अभिशाप बन गयी। गला भर आया था सुलोचना का। थोड़ा रुक कर

विचलित स्वर में वह आगे बोली—'मेरा भी तो दोष था। मेरी भी आत्मा तो उस सुदर्शन साधक की ओर आकर्षित हो गयी थी'।

'कौन था वह युवा और सुदर्शन साधक'?

राजेश्वरदास। कुछ समय पहले ही उसने बाबा से कापालिक दीक्षा ली थी। वह बंगाल के किसी स्टेट का राजकुमार था। न जाने कैसे संसार से विरक्त होकर संन्यासी बन बैठा था वह। कभी कदा हम दोनों की आँखें मिलती तो बस एक-दूसरे को देखते रह जाते।

एक दिन साँझ का समय था। अनवरत हो रही थी हिमवर्षा। घोर निस्तब्धता छायी हुई थी हिममय वातावरण में। बाबा समाधि में थे। मैं वहीं घास की चटाई पर लेटी हुई थी। राजेश्वरदास भी मेरे निकट चुपचाप बैठा न जाने क्या सोच रहा था। अचानक मुझे ऐसा लगा कि उसकी कोमल उँगलियाँ मेरे शरीर पर थिरकती हुई कुछ खोज रही हैं। कुछ ही क्षणों के बाद उन्हें इच्छित वस्तु मिल गयी। एकबारगी सिहर उठी मैं। सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा मेरा। मेरे कोमल अंगों से खेल रहा था वह युवा संन्यासी।

साधना में वासना का कोई स्थान नहीं है। मगर मैं उस समय वासना से आविर्भूत हो उठी। जिसके लिए साधना आज्ञा नहीं देती वही घटित हो गया उस क्षण। युवा शरीर का स्पर्श पाते ही मेरे भीतर न जाने कब की दबी हुई आग एकबारगी धधक उठी और फिर उसी आग में जलकर भस्म हो गया मेरा साधनामय जीवन। सुलोचना के स्वर में पीड़ा थी और थी व्यथा। भैरवी के रूप में कुण्डलिनी साधना के जिस उच्च शिखर पर वह पहुँच गयी थी, साधना-जगत् में उसकी कल्पना करना कठिन है। मगर वासना की आग में सब भस्म हो गया और हो गया सब स्वाहा। सारी आध्यात्मिक उपलब्धियाँ धार-धार हो गयीं। सब कुछ लुटाने के बाद और सब कुछ गँवाने के बाद श्मशानभैरवी के रूप में अभिशप्त जीवन बिताने के लिए अब रह गयी थी वह।

जब मैंने इन सब बातों की चर्चा ब्रह्मचारीजी से की तो एकबारगी चौंक पड़े वह। शायद तारादास और सुलोचना की कथा उन्हें मालूम थी। काफी देर तक मौन रहे, फिर स्वर को सहज बनाकर बोले—योगतंत्र की जितनी भी साधनाएँ हैं, उनमें कुण्डलिनी की साधना अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय है। अभी तक उसके अनेकों पक्षों और अनेकों आयामों का उद्‌घाटन नहीं हुआ है। पुस्तकों में भी उन रहस्यमय पक्षों और आयामों का कहीं विवरण उपलब्ध नहीं होता। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि महातन्त्रसाधक और कापालिक तारादास की भैरवी सुलोचना से तुम्हारी भेंट हो गयी। मुझे विश्वास है कि वह तुम्हें उन तमाम साधनारहस्यों को बतलायेगी।

'लेकिन कैसे'—मैंने पूछा?

'मुक्ति का प्रलोभन पाकर' ।

पर यह सम्भव कैसे होगा ? उसे मुक्ति कैसे मिलेगी ?—यह तो मैं जानता ही नहीं ।

मेरी बात सुनकर ब्रह्मचारीजी हो-हो कर हँसने लगे । फिर उसी मुद्रा में बोले—पद्मा है न । 'पद्मा ? मगर आप पद्मा को कैसे जानते हैं' ? आश्चर्य-चकित होकर पूछा मैंने ?

'मैं नहीं जानूंगा तो भला और कौन जानेगा उसे ।'

'ठीक है । लेकिन पद्मा से उस भैरवी की मुक्ति का क्या सम्बन्ध है' ?

बहुत गहरा सम्बन्ध है । ब्रह्मचारी बोले—पद्मा के जीवन की अवधि अब समाप्त ही होने वाली है । अगर अवधि समाप्त होने के क्षण सुलोचना की आत्मा पद्मा के शरीर में प्रवेश कर गयी तो समझो, उसे श्मशानभैरवी की योनि से मुक्ति मिल गयी ।

मगर यह मुझसे कैसे सम्भव होगा ? मैंने फिर वही प्रश्न किया दुबारा ।

'मैं तुम्हें रास्ता बतलाऊँगा'—ब्रह्मचारीजी ने गम्भीर स्वर में कहा ।

'ठीक है, मैं तैयार हूँ' ।

'काश ! मैंने यह स्वीकृति न दी होती' ।

इस २३वें प्रकरण (पृष्ठ २९९) के आगे क्रमशः पृष्ठ ३१६ से ३२८ तक (प्रकरण २६) पढ़ने के बाद तब पृष्ठ ३०० से ३१५ तक (प्रकरण २५) पढ़ा जाय ।

प्रस्तुत प्रकरण के आगे प्रकरण संख्या २४ के स्थान पर २५ मुद्रित हो गयी है तथा इसी क्रम में आगे की प्रकरण संख्या बढ़ती चली गई है, किन्तु बीच का कोई प्रकरण छूटा नहीं है, सूचनार्थ निवेदन है ।

प्रकरण : पचीस

परमतत्त्व, शिव, शक्ति और कामकला

रात्रि का अन्धकार धीरे-धीरे प्रगाढ़ होता जा रहा था और उसी के साथ हरिश्चन्द्र घाट का श्मशान भी गहन नीरवता में डूबता जा रहा था। काफी देर तक जलती रही एक चिता न जाने कब की बुझ चुकी थी। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। पूरा दिन कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द कर सुलोचना कुण्डलिनी की साधना में डूबी रहती थी, मगर रोज साँझ के समय मुझसे मिलने के लिए वह श्मशान में चली आती थी। श्मशान का वातावरण उसे अच्छा लगता था और मुझे भी। वहीं हम दोनों एकान्त में बैठकर कुण्डलिनी साधना की चर्चा करते थे। कभी वह मेरी प्रतीक्षा करती, तो कभी मैं उसका इन्तजार करता था। उसका शरीर पद्मा का था और आत्मा एक पथभ्रष्ट योगिनी की थी। इस रहस्य से मैं परिचित था, मगर फिर भी पद्मा के लावण्यमयी देह के प्रति और सुलोचना की आत्मा के प्रति मेरे मन के अन्तराल में आकर्षण था। जहाँ एक ओर पद्मा के शरीर की अगाध रूप-राशि को देखकर मेरा मन कल्पना के सागर में डूब जाता था, वहीं दूसरी ओर सुलोचना की आत्मा से प्रभावित होकर मेरी आत्मा एकबारगी मोहाविष्ट हो उठती। कैसा था वह आकर्षण और कैसा था वह मोह? मैं समझ न सका था।

उस रात भी गालों पर हाथ धरे मैं मोहाविष्ट और कल्पनालोक में विचरण करता हुआ सुलोचना का इन्तजार कर रहा था। रात का पहला पहर बीत चुका था, मगर अभी तक वह नहीं आयी थी। मैं बेचैन हो उठा। तभी मुझे स्याह अंधेरे में आती हुई वह दिखलायी पड़ी। सीढ़ियाँ चढ़कर जब वह मेरे सामने खड़ी हुई, तो मैंने देखा—उसका चेहरा उदास था और आँखें भी स्याह थीं। बाल खुलकर पीठ पर बिखरे हुए थे।

कुछ क्षण खड़ी रहने के बाद सुलोचना मेरे करीब बैठ गयी सीढ़ी पर। मुझे कुछ पूछना नहीं पड़ा। वह स्वयं बोली—'काफी इन्तजार करना पड़ा आज आपको!'

'हाँ! साँझ से ही बैठा हूँ मैं'—हौले से उत्तर दिया मैंने।

'मगर अब इन्तजार नहीं करना पड़ेगा आपको।'

'क्यों! क्या बात है?'

'अब मैं अधिक समय तक पद्मा के शरीर में नहीं रह, पाऊँगी जल्दी ही छोड़ देना पड़ेगा मुझे इस परायी देह को।'

यह सुनकर मेरा मन एकबारगी विषण्ण हो उठा। सिर घुमा कर देखा तो सुलोचना का चेहरा और अधिक उदास हो उठा था। अपलक निहार रही थी वह शून्य में।

एक साल में मुझे जो अपनापन मिला था, जो स्नेह मिला था और मिला था जो प्रेम सुलोचना से—उसे मैं कैसे भुला सकूँगा और कैसे भुला सकूँगा उस अगाध साधना-ज्ञान की राशि को, जो मुझे सुलोचना से मिली थी अब तक ?—मैं सोचने लगा।

कुछ देर तक मौन रहने के बाद आहिस्ते से सुलोचना ने कहा—'अब यहाँ कल से नहीं आऊँगी। मेरा इन्तजार घर पर करना। वहीं मैं आ जाया करूँगी।

श्मशान की नीरवता में सुलोचना क्यों नहीं मिलना चाहती थी ? घर में क्यों आना चाहती वह ? यह मैं समझ न सका।

'ठीक है ! कल से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा घर पर ही करूँगा। मगर आओगी न ?'

'हाँ ! क्यों नहीं आऊँगी ? अभी तो तुमको कुण्डलिनी के सम्बन्ध में बहुत कुछ बतलाना है मुझे।'—सुलोचना ने उत्तर दिया।

० ० ०

इस सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में एक मूल परमतत्त्व है। लोगों ने जिसे 'परम ब्रह्म' के नाम से पुकारा है और जिसे परमेश्वर के नाम से सम्बोधित किया है।

भारतीय मनीषियों और तत्त्ववेत्ताओं के कथनानुसार सृष्टि के प्राक्काल में वह मूल परमतत्त्व घनीभूत होकर दो भागों में विभक्त हो गया। जब भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, तो लोगों ने उन दोनों भागों को शिव और शक्ति की संज्ञा दी। आगे चलकर सृष्टि के विकास क्रम में शिव और शक्ति पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व की संज्ञा में परिवर्तित हो गये। बाद में यही दोनों तत्त्व ब्रह्म-माया, प्रकृति-पुरुष और परमेश्वर-परमेश्वरी रूप में भी परिकल्पित हुए।

इन्हीं दोनों तत्त्वों से ब्रह्माण्ड में दो प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिन्हें आज के वैज्ञानिक 'एलेक्ट्रान' और 'प्रोटोन' कहते हैं। इन दोनों तरंगों के बीच एक और तरंग है जिसे 'न्यूट्रान' की संज्ञा दी गयी है। न्यूट्रान विद्युत्विहीन होते हुए भी चुम्बकीय ऊर्जा से युक्त तरंग है।

इन्हीं तीनों विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में परमाणुओं का निर्माण होता है। एक परमाणु का व्यास लगभग १/१०००,००००० से० मी० होता है। इसकी लम्बाई की केवल कल्पना ही की जा सकती है।

पुरुषतत्त्व ऋणात्मक और स्त्रीतत्त्व धनात्मक है। दोनों एक-दूसरे की

ओर बराबर आकर्षित होते रहते हैं। यही कारण है कि परमाणु की परिधि पर एलेक्ट्रान भी बराबर चक्कर लगाया करते हैं और इसी प्रमार उसके नाभिक में स्थित प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स के चारों ओर। जहाँ आकर्षण है, वहाँ 'काम' है और 'काम' मिथुनात्मक है। यानि आनन्द के लिए है। उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के बीच जो आकर्षण है और उस आकर्षण से उत्पन्न जो 'काम' है, वह सृष्टि की दिशा में आदि आकर्षण और आदि 'काम' है। काम-जन्य आकर्षण मिथुनात्मक है। इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि के मूल में 'मैथुन' है।

दो विपरीत तत्त्वों के आपसी आकर्षण से जब 'काम' का जन्म होता है, तो उसकी परिणति 'मैथुन' में ही होती है। मैथुन का परिणाम है सृष्टि। यह विश्व वासना है और नारी विश्ववासना की मूर्ति है।

सृष्टि के प्राक्काल में, जब शिव—पुरुष-तत्त्व और शक्ति—स्त्री-तत्त्व एक-दूसरे की ओर आकर्षित होकर एक-दूसरे की सत्ता में विलीन हुए, तो उसके परिणामस्वरूप विश्व-ब्रह्माण्ड में एक विराट् और सर्वव्यापक चेतना का जन्म हुआ, जिसे आगे चलकर परमशक्ति अथवा आदिशक्ति के नाम से पुकारा गया। यह स्पष्ट है कि इस आदिशक्ति का विकास मिथुनात्मक है। अनुकूल परि-स्थिति में, शारीरिक संप्रयोग में, सम्भोग में, मानसिक और आत्मिक सम्भोग में—वही आदिशक्ति परिणत होती है। रौद्रात्मक, विसर्गात्मक और कलात्मक प्रवृत्ति 'पुरुष' है। शान्त्यात्मक, आदानात्मक एवं सहनात्मक प्रवृत्ति 'स्त्री' है। प्रदान करने वाला पुरुष और ग्रहण करने वाली स्त्री। यही नियम सर्वत्र व्याप्त है।

शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व के आकर्षणात्मक, सामञ्जस्यात्मक अथवा मिथुनात्मक भाव 'लिंग' और उसकी पीठिका है। वैदिक काल में इन दोनों को दो अरणियों के रूप में परिकल्पित किया गया था। ऊपर की 'अरणी' यानि शिवलिंग पुरुषतत्त्व का वाचक और नीचे की अरणी जिसे 'अर्घा' कहा जाता है—स्त्रीतत्त्व की वाचक माना जाता है। शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है।

शिवतत्त्व के प्रतीक 'लिंग' की उपासना की प्रधानता जिस सम्प्रदाय में है वह शैव-सम्प्रदाय है। इसी प्रकार शक्तितत्त्व के प्रतीक 'योनि' उपासना की प्रधानता जिस सम्प्रदाय में है, वह शाक्त-सम्प्रदाय है। इन दोनों सम्प्रदायों के दर्शन के अनुसार 'शिव' प्रकाश है और शक्ति 'स्फूर्ति। ये दोनों तत्त्व विश्व के मूलाधार तत्त्व हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जब शिव ने आकर्षित होकर शक्ति में प्रवेश किया, तो उससे 'बिन्दु' की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार जब शक्ति ने आकर्षित होकर शिव में प्रवेश किया, तो उसके परिणामस्वरूप दोनों की संयुक्त सत्ता से 'नाद' का जन्म हुआ। बिन्दु और नाद से 'काम' का आविर्भाव हुआ। 'काम' में पुरुष और स्त्री दोनों तत्त्वों का तादात्म्य है।

बिन्दु को श्वेत बिन्दु और नाद को रक्त बिन्दु कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के बिन्दुओं के संयोग से 'कला' का निर्माण होता है। पुनः इन दोनों बिन्दुओं और पहले वाले मिश्र बिन्दु के साहचर्य से एक विलक्षण तत्त्व का आविर्भाव होता है, जिसे 'कामकला' की संज्ञा दी गयी है। काम पुरुषवाचक है और कला है स्त्रीवाचक। कामकला—इन दोनों का मिश्रित परम तत्त्व है। उसमें पुरुषतत्त्व भी है और स्त्रीतत्त्व भी। कहने की आवश्यकता नहीं—इसी परमतत्त्व का दूसरा नाम आदिशक्ति, परमा शक्ति अथवा परम चेतना शक्ति है, जो सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और जो 'कुण्डलिनी' के रूप में हम सभी के शरीर में भी विद्यमान है।

'कामकला' के रहस्य को स्पष्ट करते हुए सुलोचना ने बतलाया कि वर्ण-मातृकाओं का पहला अक्षर 'अ' है और अन्तिम अक्षर है 'ह'। आदि अक्षर 'अ' को शिवतत्त्व का और अन्तिम अक्षर 'ह' को शक्तितत्त्व का प्रतीक माना गया है। ये दोनों अक्षर शिव और शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों की मिश्रित संज्ञा हार्दकला अथवा 'कामकला' है। सभी वर्णाक्षरों का लय 'म' अक्षर में होता है। 'अ' और 'ह' के साथ 'म' वर्ण को जोड़ देने से 'अहम्' शब्द बनता है और यह 'अहम्' शब्द 'कामकला' का दूसरा नाम है।

आदिशक्ति परम चेतना, दूसरे शब्दों में कुण्डलिनी 'अहम्' के रूप में आत्मशक्ति है। 'अहम्' से सीधा महाशक्ति, परम चेतनाशक्ति, आदिशक्ति कुण्डलिनी का बोध होता है। 'कुण्डलिनी' आत्मशक्ति है और हमारे भीतर उसका बोध 'अहम्' के रूप में होता है और यही हमारे भीतर जीवात्मा का सूचक भी है, जिसे हम 'मैं' शब्द से सम्बोधित करते हैं। हर एक आदमी अपने को 'मैं' कहता है और 'मैं' को अपना आलम्बन भी समझता है। संसार के सभी पदार्थ बदलते हैं। सब वस्तुओं में परिवर्तन होता है—मगर 'मैं' का जो बोध है वह कभी नहीं बदलता। मैं हूँ या नहीं हूँ। यह सन्देह किसी के मन में कभी नहीं उठता, क्योंकि वह सन्देह करने करने वाली चेतनाशक्ति भी तो 'मैं' ही है।

जड़तत्त्व और चेतनतत्त्व

''तुम ठीक कहती हो। 'मैं' कहने से प्रायः लोग देहविशिष्ट चैतन्य ही समझते हैं। व्यवहार में देह और चैतन्य का क्या भेद है—यह न तो समझ में आता है और न ही अनुभव में'।

'सुलोचना बोली—'शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व की चर्चा तुमसे मैंने की थी न?'

'हाँ की थी!'

'लेकिन जानते हो! सृष्टि की प्रक्रिया में शिव 'जड़तत्त्व' है और शक्ति है चेतनतत्त्व। जड़ चेतना का आधार है। मगर जड़ पदार्थ दिखलायी पड़ता

है और उसके माध्यम से प्रकट होने वाली चेतना दिखलायी नहीं पड़ती। जड़ पदार्थों को हम सब देख सकते हैं, लेकिन चेतना की सिर्फ हम सब अनुभूति कर सकते हैं। कोई भी शक्ति बिना किसी माध्यम के कभी भी प्रकट नहीं हो सकती। उसे कोई-न-कोई माध्यम चाहिए और जिस आधार को लेकर वह प्रकट होती है, उसे वह चलायमान अथवा गतिमान कर देती है। शक्ति का यह सबसे बड़ा गुण है। जड़ आधार है तो चेतना है आधेय। पहला यदि आसन है तो दूसरा आसीन है। शंकर पर आरूढ़ काली की छवि देखी है न! जानते हो--वह छवि, वह रूप इसी रहस्य को प्रकट करता है। हम अपने शरीर को ही लें। वह भी तो जड़ है, आधार है, आसन है। जब तक शरीर चैतन्य और क्रियाशील रहता है—जिसे हम जीवन कहते हैं—मगर चेतना से शरीर का सम्बन्ध टूटते ही जीवन की कड़ी भी हमेशा के लिए टूट जाती है और शरीर शिव से शव हो जाता है।'

० ० ०

प्राणियों के चरम विकास में शिवतत्त्व, शुक्र बिन्दु के रूप में, जिसे मैं श्वेत बिन्दु अथवा प्रकाश के नाम से स्पष्ट कर चुकी हूँ, मनुष्य के शरीर के भीतर सहस्रारचक्र में अवस्थित है।

इसी प्रकार शक्तितत्त्व—रजोबिन्दु के रूप में, जिसे रक्त बिन्दु अथवा स्फूर्ति के नाम से जाना जाता है, स्त्री-देह के भीतर मूलाधारचक्र में विद्यमान है। मगर पुरुष-शरीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके मूलाधारचक्र में कुण्डलिनीशक्ति के रूप में शिव और शक्ति दोनों समान मिश्रित रूप में—कामकला के रूप में—अर्धनारीश्वर के रूप में और मैथुनात्मक व आकर्षणात्मक स्थिति में अवस्थित है। यही महामाया है, जिसे आदिशक्ति और परमशक्ति—आत्मशक्ति—कुण्डलिनी के नाम से सम्बोधित किया गया है।

सहस्रारचक्र और अमृत-क्षरण

सुलोचना ने बतलाया कि चक्रों में अन्तिम चक्र 'सहस्रार' है। इसी चक्र के मूल केन्द्र में शिवतत्त्व रूप—ऋणात्मक शुक्र बिन्दु की स्थिति है। इस बिन्दु से बराबर एक विशेष प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा प्रवाह ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से मिलकर ढाई बिन्दु अमृत का निर्माण ब्राह्म मुहूर्त यानि प्रातः ४ से ५ बजे के भीतर करती है। यह अमृत जीवनी शक्ति है। पहली बूँद मुँह में गिरती है, जिससे मुँह में बराबर लार के रूप में पानी बना रहता है। मृत्यु के २४ घंटे पूर्व यह अमृत बूँद हो जाती है, जिससे मुँह सूखने लगता है। दूसरी बूँद हृदय में पहुँच कर उसे बराबर शक्ति देती रहती है। शेष आधी बूँद नाभि में पहुँचती है, जिससे हमें भूख लगती है और अन्न का रस बनता है।

इसी प्रकार स्त्री के मूलाधारचक्र में जो—पहला चक्र है—शक्तितत्त्व रूप—धनात्मक रजोबिन्दु की स्थिति है। इस रजोबिन्दु से भी विद्युत् चुम्बकीय

ऊर्जा निकलती रहती है, जिसका प्रवाह ऊपर की ओर है। यह ऊर्जा भी ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से मिलकर साढ़े तीन बिन्दु अमृत का निर्माण करती है, जिसमें से ढाई बिन्दु अमृत का उपयोग तो वैसे ही होता है जैसे पुरुष में। मगर शेष एक बिन्दु ऐसे गन्धतत्त्व का निर्माण करता है, जो स्त्री के किशोरावस्था में प्रवेश करते ही उसकी देह प्रस्फुटित होने लगती है। उस अनिर्वचनीय और अदृश्य गन्धतत्त्व को तांत्रिकों की भाषा में 'पुष्पली गन्ध' कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, इसी पुष्पली गन्ध के प्रभाव से पुरुष स्त्रियों की ओर अज्ञात रूप से आकर्षित होता है।

शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु

शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु में इलेक्ट्रान और प्रोटोन की सम्भावना समझनी चाहिए। दोनों बिन्दुओं की ऊर्जाएँ बराबर एक-दूसरे की ओर आकर्षित होती रहती हैं और जब उनका आकर्षण एक विशेष सीमा पर जाकर घनीभूत होता है, तब उस स्थिति में वहाँ 'न्यूट्रान' की सम्भावना पैदा हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों प्रकार की ऊर्जाएँ और उनमें निहित दोनों प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एक-दूसरे में मिलकर एक ऐसे विलक्षण 'अणु' का निर्माण करती हैं, जिसे हम आणविक शरीर यानि एटमिक बाडी कहते हैं।

कुछ बुद्धिजीवी पाठकों ने हमसे प्रश्न किया है कि आत्मा शरीर के बाहर चली जाये, तो क्या वह दूसरे मृत शरीर में प्रवेश कर सकती है?

प्रसंगवश हम यहाँ इस प्रश्न का उत्तर देना स्वाभाविक समझते हैं। आत्मा प्रवेश कर सकती है, लेकिन यह भी समझ लेना चाहिए कि उसके लिए अपने या दूसरे मृत शरीर में प्रवेश करने का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं रह जाता, क्योंकि दूसरा शरीर या अपना शरीर इसलिये मृत हुआ है कि उस शरीर में रहने वाली आत्मा अब उस शरीर में रहने में असमर्थ हो गयी थी। उसके लिए वह व्यर्थ हो गया था। आत्मा ने उसे छोड़ दिया इसलिए कोई प्रयोजन नहीं रह जाता फिर से उसमें प्रवेश करने का। लेकिन इस बात की सम्भावना है कि दूसरे शरीर में प्रवेश किया जा सके। यह पूछना मूल्यवान् नहीं है कि हम दूसरे के शरीर में कैसे प्रवेश करें? अपने ही शरीर में हम कैसे बैठे हुए हैं, इसका भी हमें पता नहीं है। हम दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की व्यर्थ की बातों पर विचार करने से क्या लाभ उठा सकते हैं? हम अपने ही शरीर में कैसे प्रवेश कर गये हैं, इसका भी हमें पता नहीं। हम अपने ही शरीर में कैसे जी रहे हैं—इसका भी हमें पता नहीं। हम अपनी ही देह से अलग होकर अपने को देख सकें इसका भी हमें कोई अनुभव नहीं। लेकिन जहाँ तक योगविज्ञान की दृष्टि है, उसके अनुसार किसी भी शरीर में प्रवेश सम्भव है, क्योंकि शरीर न ही दूसरे का है और न ही अपना है।

सब शरीर दूसरे हैं। सारे शरीर पराये हैं। जब आत्मा माँ के पेट में

प्रविष्ट होती है, तो भी उसका पराये शरीर में ही प्रवेश हो रहा होता है। वह शरीर अणु का शरीर होता है, जिसे हमने 'ऐटमिक बाडी' कहा है। जी हाँ ! एटमिक बाडी। जो दो ऊर्जाओं के मिश्रण से और संघात से निर्मित होता है और उस एटमिक बाडी में हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व और हमारे सम्पूर्ण जीवन की घटनाएँ और सम्पूर्ण जीवन का इतिहास छिपा हुआ होता है। वह अणु-शरीर है। एक छोटी-सी देह है। एटमिक बाडी है, जिसका निर्माण पहले ही दिन गर्भ में हो जाता है और जिसमें आत्मा प्रवेश करती है। एक बात का खयाल रखना चाहिए कि उस अणु-शरीर की जैसी संरचना है, जैसी स्थिति है और जैसी अवस्था है—उसी के अनुकूल आत्मा उसमें प्रवेश करती है।

'तुम जानते हो शर्मा'—सुलोचना आगे बोली—'मनुष्य जाति का जीवन और चेतना नित्य हर क्षण नीचे की ओर गिरती जा रही है। वह हर क्षण, हर पल अवनति की ओर बढ़ता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि संसार के दम्पति श्रेष्ठ और उच्च वर्ण की आत्माओं को उत्पन्न होने का अवसर नहीं दे रहे हैं। उन्हें संसार में आने के लिए अवसर नहीं दे रहे हैं।

संसार के स्त्री-पुरुष जो सुविधा, जो अवसर दे रहे हैं और जो सुविधा और अवसर पैदा की जा रही है, वह निम्न कोटि की निकृष्ट आत्माओं के पैदा होने की सुविधा और अवसर है। यही कारण है कि अच्छी और उच्च कोटि की आत्माओं का अभाव हो गया है और दूसरी ओर निकृष्ट और निम्न कोटि की आत्माओं की संख्या आकाश को छूने लगी है।

मनुष्य के मर जाने के बाद जरूरी नहीं है कि उसकी आत्मा को तुरन्त जन्म लेने या शरीर पाने का अवसर मिल जाये। साधारण कोटि की आत्माएँ—जो न निकृष्ट हैं और न बिलकुल श्रेष्ठ हैं, वे तेरह दिन के भीतर अपने लिए नया शरीर खोज लेती है। लेकिन जो आत्माएँ बिलकुल निम्न कोटि की और निकृष्ट हैं, वे रुक जाती हैं, क्योंकि उनकी निकृष्टता के अनुकूल निकृष्ट अवसर का मिलना कठिन होता है। ऐसी ही निकृष्ट आत्माओं को हम भूत-प्रेत कहते हैं।

बहुत श्रेष्ठ और उच्च कोटि की भी आत्माएँ रुक जाती हैं, क्योंकि उनके अनुकूल श्रेष्ठ अवसर का मिलना कठिन होता है। निम्न कोटि की आत्माओं की तरह वे उच्च कोटि की उत्कृष्ट आत्माएँ भी अवसर की उपलब्धि के लिए इधर-उधर भटकती रहती हैं। ऐसी ही उत्कृष्ट आत्माओं को हम देवता कहते हैं।

पहले के युगों में भूत-प्रेतों की संख्या बहुत ही कम थी और देवताओं की संख्या अधिक थी। लेकिन आज के युग में भूत-प्रेतों की संख्या अधिक हो गयी है और देवताओं की संख्या कम, क्योंकि देवपुरुषों को संसार में जन्म

लेने का अवसर कम हो गया है और इसके ठीक विपरीत भूत-प्रेत पैदा होने का अवसर काफी तीव्रता से उपलब्ध हुआ है।

जो भूत-प्रेत रुके रह जाते हैं मनुष्य के भीतर प्रवेश करने से—वे सारे के सारे मानव जाति में प्रवेश कर गये। यही कारण है कि आज भूत-प्रेत के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। आज मनुष्य के दर्शन से उनके दर्शन हो जाते हैं। देवताओं पर से हमारा विश्वास कम हो गया है, इसीलिये कि देवपुरुष ही जब दिखलायी न पड़ते हों, तो देवताओं पर विश्वास करना कठिन है, बहुत ही कठिन।

एक ऐसा भी समय था, जबकि देवगण मनुष्य के सहचर थे। उनका अस्तित्व उतना ही सत्य था, जितना कि हमारा। मनुष्य देवता की सहायता करता था और देवता मनुष्य की। लेकिन आज मनुष्य और देवता का सम्बन्ध बिलकुल टूट चुका है, क्योंकि हमारे और देवता के बीच कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो सेतु बनकर यह बतला सके कि वास्तव में देवता हैं कैसे और उनका व्यक्तित्व कैसा है? सच तो यह है कि इसकी सारी जिम्मेदारी दाम्पत्य की जो व्यवस्था है—उसी पर निर्भर है।

श्रेष्ठ आत्माओं के जन्म के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रेमपूर्ण विवाह का होना। मगर आज प्रेमपूर्ण विवाह का सर्वथा अभाव है। हम विवाह बिना प्रेम के करते हैं और कर रहे हैं। जो विवाह बिना प्रेम के होता है, उस दम्पत्ति के बीच कभी भी आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। आध्यात्मिक जीवन का निर्माण और आध्यात्मिक सम्बन्ध की नींव 'प्रेम' है। जब तक प्रेम पर आधारित आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं है, तब तक दम्पत्ति के जीवन में न एकरूपता आयेगी और न जीवनसंगीत उत्पन्न होगा दोनों के बीच।

श्रेष्ठ आत्मा के जन्म के लिए प्रेममय आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता है। बिना प्रेम के और बिना आध्यात्मिक सम्बन्ध के जो सन्तान पैदा होगी, वे देवता जैसी न होंगी। उनकी स्थिति भूत-प्रेत जैसी होगी। उनका जीवन हिंसामय होगा।

नारी महाशक्ति का स्वरूप

नारी अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में चैतन्य और क्रियाशील महाशक्ति का एक विशिष्ट केन्द्र है, मगर इस रहस्य से बहुत कम लोग परिचित होंगें कि पुरुष से अधिक नारी क्यों अधिक सुन्दर, आकर्षक और सुडौल दिखलायी पड़ती है? नारी के व्यक्तित्व के भीतर कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो आनन्द के लिए आकर्षित करता है?

इसका एक कारण है—जो बिलकुल साधारण है। जिसकी हम और आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

जिसे हमने एटमिक बाडी कहा है—उसमें २४ जीवाणु पुरुष के और २४ जीवाणु स्त्री के होते हैं। इन ४८ परमाणुओं के मिलन से पहला सेल निर्मित होता है और इस प्रथम सेल से जो प्राण पैदा होता है—उससे स्त्री का शरीर बनता है। २४, २४ का यह सन्तुलित 'सेल' है, जिससे स्त्री-देह का निर्माण होता है। पुरुष का जो जीवाणु होता है—वह ४७ जीवाणुओं का होता है। उसके सन्तुलन में एक ओर २३ और एक ओर २४ जीवाणु होते हैं। बस यहीं से पुरुष के व्यक्तित्व का सन्तुलन टूट जाता है। इसके विपरीत स्त्री का व्यक्तित्व सन्तुलन की दृष्टि से बराबर है। इसी के फलस्वरूप स्त्री का सौन्दर्य आकर्षण सुडौलता उसकी कला उसके व्यक्तित्व का रस पैदा होता है।

पुरुष के सन्तुलन में एक ओर २४ जीवाणु हैं। इसीलिये उसके व्यक्तित्व में स्त्री की अपेक्षा जरा-सी कमी है। उसे भले जो जीवाणु मिलता है वह २४ का बना हुआ होता है और जो पिता से मिलता है, वह २३ का बना हुआ होता है।

पुरुष के जीवाणुओं में दो प्रकार के जीवाणु होते हैं। २३ कोष्टधारी और २४ कोष्टधारी। अगर २३ कोष्टधारी जीवाणु माँ के २४ कोष्टधारी जीवाणु से मिलते हैं, तो पुरुष का जन्म होता है और यही कारण है कि पुरुषों में जीवनभर एक बेचैनी बनी रहती है। एक आन्तरिक अभाव खटकता रहता है। क्या करूँ? क्या न करूँ? यह कर लूं? वह कर लूं?—इस तरह की एक चिन्ता और एक बेचैनी जीवनभर और बराबर बनी रहती है। क्यों? इसलिये कि उसके सन्तुलन में एक 'अणु' कम है और इसके ठीक विपरीत स्त्री का सन्तुलन बराबर है। मतलब यह कि एक छोटी-सी घटना यानी एक अणु का अभाव—स्त्री-पुरुष के सम्पूर्ण जीवन में इतना अन्तर ला देता है। मगर यह अन्तर स्त्री में सौन्दर्य और आकर्षण तो पैदा कर देता है, पर स्त्री को विकसित नहीं कर पाता। क्योंकि जिस व्यक्ति में समता होती है, वह कभी भी विकास नहीं कर सकता। वह जहाँ है—वहीं रुक जाता है, ठहर जाता है, पुरुष का व्यक्तित्व सम नहीं विषम है और इसीलिये और इसी विषमता के कारण वह जो कर्म करता है—वह स्त्री कभी नहीं कर पाती। यदि करने की कोशिश भी करती है, तो सफलता नहीं मिलती।

० ० ०

कार्तिक का महीना था। सिहरन भरी गुलाबी ठंड पड़ने लगी थीं। साँझ का समय था। हलके कुहरों की दूधिया पर्तों में लिपटी साँझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे फैलने लगी थी चारों ओर।

काशी के चेतसिंह क़िले की बुर्जी पर—जहाँ मुझसे कभी अच्छी-से-अच्छी आत्माएँ मिलने के लिए आती थीं और मिलकर अपने दुःख-सुख की

आन्तरिक चर्चा करती थीं, अपने आन्तरिक जीवन की व्यथा सुनाती थीं, गालों पर हाथ धरे, मौन साधे मैं सुलोचना के बतलाये हुए कुण्डलिनी से सम्बन्धित आध्यात्मिक विषयों पर विचार कर रहा था और यह भी सोच रहा था कि आज सुलोचना से भेंट न हुई होती, तो कौन करता ऐसे अन्धकार में डूबे हुए आध्यात्मिक प्रसंगों का उद्घाटन मेरे सामने? कितना विचित्र संयोग था और कितना था अविश्वसनीय प्रसंग? पिछले दिनों सुलोचना से जो आध्यात्मिक चर्चा हुई थी उसी पर चिन्तन-मनन कर रहा था मैं।

स्त्री और पुरुष का विद्युच्चुम्बकीय शरीर

स्त्री और पुरुष के भिन्न-भिन्न चार विद्युतीय देह है और इन्हीं चार शरीरों तक दोनों के बीच अन्तर पाया जाता है। पिछले प्रकरण में मैंने स्त्री और पुरुष के जिन चार शरीरों की चर्चा की है, वे सभी न स्त्री के हैं और न तो हैं पुरुष के।

यदि कोई व्यक्ति पुरुष है, तो उसका पहला शरीर भौतिक शरीर (मेल बाडी) होता है, लेकिन उसके पीछे जो दूसरा भाव शरीर है, वह स्त्रैण शरीर होता है। इसका कारण यह है कि पुरुष का शरीर ऋणात्मक विद्युतमय, स्त्री का शरीर धनात्मक विद्युतमय होता हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार कोई ऋणात्मक या धनात्मक ध्रुव अकेला नहीं रह सकता।

स्त्री का पहला शरीर—यानि भौतिक शरीर—ऋणात्मक होता है। यही कारण है कि स्त्री कभी भी काम-वासना के सम्बन्ध में आक्रामक नहीं हो सकती और न होती है। स्त्री कभी भी पुरुष पर बलात्कार नहीं कर सकती। वह बलात्कार की घटना को झेल सकती है। उसके कष्ट और व्यथा को सहन कर सकती है। काम-वासना के क्षेत्र में बिना पुरुष की इच्छा या आवाहन के स्त्री कुछ भी नहीं कर सकती।

लेकिन इसके ठीक विपरीत—प्रथम शरीर ऋणात्मक होने के कारण पुरुष बिना अनुमति लिये बिना स्त्री की इच्छा के भी सब कुछ कर सकता है। स्त्री के विरोध करने पर भी वह रुकेगा नहीं, क्योंकि उसके पास आक्रामक काया है।

ऋणात्मक का अर्थ 'शून्य' नहीं समझना चाहिए। विद्युत्-विज्ञान की भाषा में इसका अर्थ है—संग्राहक। स्त्री के पास एक ऐसा शरीर है, जिसमें असीम शक्ति संग्रहीत है। संरक्षित है, मगर वह असीम विपुल शक्ति सक्रिय नहीं है, निष्क्रिय है। इसीलिये और यही मूल कारण है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा न सृजन कर पाती हैं और न कुछ निर्माण ही कर पाती हैं। काव्य, कविता, कला, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में न सृजन कर पाती हैं और न तो किसी प्रकार की मूल्यवान् खोज ही, क्योंकि सृजन की खोज के लिए 'आक्रामक' का होना आवश्यक है। स्त्रियाँ सिर्फ प्रतीक्षा कर सकती हैं। आँसू बहा सकती हैं।

वियोग का कष्ट झेल सकती हैं और पैदा कर सकती हैं सन्तानें। सिर्फ़ सन्तानें, जो एक मनुष्य नहीं कर सकता।

पुरुष का भौतिक यानी पार्थिव शरीर धनात्मक है और उसके पीछे उसका जो भाव शरीर है, वह ऋणात्मक है। मतलब कि स्त्रैण हैं और इसके ठीक विपरीत स्त्री का जो दूसरा शरीर यानी भाव शरीर है—वह पुरुष का है। यही कारण है कि भौतिक शरीर की दृष्टि से पुरुष काफी ताकतवर है स्त्री की अपेक्षा, लेकिन उसका दूसरा शरीर स्त्रैण है। इसलिये उसकी शारीरिक शक्ति कुछ क्षणों के लिए ही प्रकट होती है। यदि उसको स्त्री से लम्बे समय तक झगड़ा करना पड़े या लड़ना पड़े, तो वह पराजित हो जायेगा। इसीलिये कि स्त्री का जो दूसरा शरीर है, वह धनात्मक है। यही कारण है कि स्त्री में सहन करने की क्षमता पुरुष से अधिक होती है। अगर पुरुष बीमार होता है तो वह रोग के कष्ट को अधिक समय तक सह न पायेगा। परन्तु स्त्री उसी रोग को काफी लम्बे अर्से तक झेल सकती है।

पुरुष का तीसरा शरीर—सूक्ष्म शरीर—पुरुष का है और चौथा मानस शरीर फिर स्त्री का है। और ठीक इसके विपरीत स्त्री का शरीर होता है। इन चार शरीरों तक स्त्री-पुरुष में भेद विद्यमान हैं। पाँचवाँ शरीर यौन-भेद से परे है। यही कारण है कि आत्मज्ञान अथवा आत्मउपलब्धि होते ही योगी के लिए न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष। उसके लिए दोनों यौन-भेद से परे आत्मस्वरूप हैं।

प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री का शरीर है और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष का शरीर है। यदि योगायोग से स्त्री को ऐसा पति मिल जाये, जो उसके भीतर विद्यमान पुरुष-शरीर से सामञ्जस्य रखता हो, तो उसका विवाह और दाम्पत्य जीवन सफल होगा, वर्ना नहीं। इसी प्रकार यदि पुरुष को ऐसी स्त्री मिल जाये जो उसके भीतर की स्त्री से सामञ्जस्य रखती हो, तभी उसका वैवाहिक जीवन सफल होगा, नहीं तो नहीं। इसके लिए स्त्री और पुरुष दोनों के लिए अपने-अपने विद्युतीय शरीरों को जानना, समझना और पहचानना आवश्यक है और यह तभी सम्भव है, जबकि कुण्डलिनी का जागरण हो। अगर स्त्री-पुरुष विवाह के पूर्व कुण्डलिनी को जागृत कर लें, तो सही अर्थों में उन्हें जीवनसाथी चुनने में सफलता मिलेगी और उनका दाम्पत्य जीवन सफल, सुखद और आनन्दमय होगा। जो धीरे-धीरे आगे बढ़कर अपने आप आध्यात्मिक जीवन में बदल जायेगा और वे पति-पत्नी बन्धन से मुक्ति की ओर अथवा अन्धकार से प्रकाश की ओर स्वयं अग्रसर हो जायेंगे। इसके लिए उन्हें किसी गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। किसी साधना की भी आवश्यकता नहीं होगी।

अब रही कुण्डलिनी जागरण की बात।

इसके लिए सर्वप्रथम स्थूल शरीर को साधन और ब्रह्मचर्य को साध्य बनाना होगा। पुरुष के लिए २५ वर्ष की अवस्था तक और स्त्री के लिए २० वर्ष की अवस्था तक मन से, तन से और वाणी से कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु की साधना करनी आवश्यक है। क्योंकि किससे विवाह करना है? किसके साथ हमें रहना है? खोज किसकी है? हम किसको खोज रहे हैं? एक पुरुष एक स्त्री को! कौन-सी स्त्री को खोज रहा है? जिससे वह तृप्त हो सकेगा? पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकेगा और सांसारिक बन्धन से मुक्त हो सकेगा अन्त में? वास्तव में वह अपने भीतर की स्त्री को खोज रहा है। एक स्त्री अपने ही भीतर के पुरुष को खोज रही है। यदि संयोगवश सामञ्जस्य हो गया, ताल-मेल बैठ गया तो वह तृप्त हो जाता है। पूर्ण शान्ति और आनन्द से भर जाता है—जीवन उसका, अन्यथा जीवन भर अतृप्ति बनी रहती है। उसके जीवन का हर क्षण अशान्ति में गुजरता है। मानसिक पीड़ा और क्लेश की तो सीमा ही नहीं रहती। सम्पूर्ण जीवन ही विकृत हो उठता है।

आपको मालूम है! मानव-जीवन में इस विकृति का परिणाम क्या होता है? वास्तविक शान्ति, सच्चा सुख, सच्चा प्रेम और सच्चा आनन्द पाने के लिए पुरुष परायी स्त्री की खोज में भटकने लगता है। वेश्यालयों में जाने लगता है, शराब पीने लगता है और भी न जाने क्या-क्या करने लगता है। स्त्री भी पराये पुरुष की ओर आकर्षित होने लगती है और बेचने लगती है अपना चरित्र और अपनी मान-मर्यादा।

सुलोचना का महाप्रयाण

रात गहरी हो चली थी। गहन निस्तब्धता छा गयी थी वातावरण में। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। अचानक उस स्याह रात के अंधेरे में सामने से कोई आता हुआ दिखलायी दिया मुझको। सिर घुमाकर देखा। पहचानते देर न लगी। गंगाराम था। सुलोचना का परिचारक। जब वह समीप आ गया, तो मैंने पूछा—'क्या बात है गंगाराम? तुम यहाँ इस समय कैसे?'

वह गला साफ कर बोला—'आपको बुलाने के लिए सुलोचना माई ने भेजा है। आप जल्दी चलिये मेरे साथ।'

इस समय सुलोचना ने क्यों बुलाया है? समझ में नहीं आया। फिर सोचा—सुलोचना को कैसे मालूम हो गया कि मैं इस समय यहाँ बैठा हूँ?

जब मैं गंगाराम के साथ सुलोचना के गुप्त स्थान पर पहुँचा, उस समय समाधि की एक विशेष अवस्था में थी वह।

पद्मासन में बैठी हुई थी मृगचर्म के आसन पर सुलोचना। शरीर का ऊपरी भाग वस्त्रहीन था। घनी स्याह केशराशि पीठ पर बिखरी हुई थी। गले में पड़ी हुई स्फटिक की मालाएँ अनावृत्त पुष्ट स्तनों पर झूल रही थीं।

नेत्र अधखुले थे। एक अनिर्वचनीय दिव्य आभा से उद्भासित हो रहा था मुखमण्डल।

जमीन पर एक ओर चटाई बिछी थी। मैं उसी पर बैठ गया। गंगाराम कुछ क्षण खड़ा रहने के बाद बाहर चला गया। रात के ग्यारह बजे थे उस समय। लगभग एक घंटे के बाद सुलोचना की समाधि भंग हुई। अधमुँदी आँखें धीरे-धीरे खुलीं। एक बार दीर्घ श्वास लिया सुलोचना ने और फिर स्थिर नेत्रों से मेरी ओर देखा।

उफ् ! कितनी शान्ति थी, कितनी करुणा थी ? और था कितना प्रेम उन नेत्रों में ? विह्वल हो उठी एकबारगी मेरी आत्मा। मन के बंधन एक-एक कर टूट गये दूसरे क्षण। कुछ बोलना चाहा, कुछ कहना चाहा, मगर न बोला गया और न तो कुछ कहा ही गया। बस अपलक निहारता रहा उस योगभ्रष्ट और शापग्रस्त महासाधिका की ओर। तभी कोमल और संयमित स्वर में धीरे से बोली सुलोचना—'जानते हो ? तुम्हें क्यों बुलाया है इस समय ?'

'नहीं !'—सूखे हुए गले से बोला मैं।

'आज अमावास्या की रात है न ?'

'हाँ। लेकिन बात क्या है ?'

मेरा प्रश्न सुनकर सुलोचना खिड़की के बाहर शून्य में कुछ देर तक देखती रही—और फिर संयमित हो गम्भीर स्वर में कहने लगी—'मेरा समय पूरा हो गया है शर्माजी ! इस परायी देह में, दूसरे के शरीर में रहने की आवश्यकता नहीं है अब। आज इस महानिशा की बेला में इस देह का त्याग कर महाप्रयाण करने जा रही हूँ मैं !'

स्तब्ध रह गया मैं एकबारगी। हकलाते हुए बोला—'यह क्या कह रही हो तुम सुलोचना !'

'ठीक ही कह रही हूँ।'

'नहीं ! अभी तुमको रहना है सुलोचना।'—विह्वल स्वर में अवरुद्ध कण्ठ से बोला मैं—'अभी तुम्हें बहुत सारी आध्यात्मिक बातें बतलानी होगी मुझे। कुण्डलिनी के तिमिराच्छन्न रहस्यों को अनावृत्त करना होगा और साधना की तमाम गोपनीयताओं पर प्रकाश डालना होगा तुम्हें।

'नहीं शर्मा ! अब नहीं। मेरे पास अब समय अधिक नहीं है। मुझे रोको मत। मुझे मोहपाश में मत बाँधो। इतने दिनों तक इस देह में रहकर अपना प्रायश्चित्त कर लिया है मैंने। श्मशानभैरवी की तामसिक योनि से मेरी आत्मा को मुक्ति मिल गयी है। अब मेरी 'आत्मा' अपने शुद्ध, विशुद्ध रूप में गमन करेगी—वहाँ-जहाँ परम-चैतन्य है और है परम शान्ति और जहाँ वासनाओं और कामनाओं की तितीक्षायें आत्मा को विमुख नहीं करतीं। मार्ग-च्युत नहीं करती। पथभ्रष्ट नहीं करतीं।

'मगर मेरा क्या होगा सुलोचना ! तुमने तो अपना प्रायश्चित्त कर लिया। अपनी आत्मा का उद्धार कर लिया। मैं अपना प्रायश्चित्त कैसे करूँ ? कैसे करूँ अपनी आत्मा का उद्धार ? कैसे अपने आपको और अपनी आत्मा को करूँ सांसारिक बंधनों से मुक्त ?'

अन्तिम शब्द के साथ गला भर आया मेरा। सुलोचना की गोद में सिर रखकर रोने लगा मैं। दूसरे क्षण सिर पर सुलोचना की उंगलियों के स्पर्श का अनुभव हुआ मुझे। वह मेरे बालों को सहला रही थी धीरे-धीरे। एक ओर आँसुओं के सहारे मन की पीड़ा, मन की व्यथा और मन का कलुष धुल रहा था, तो दूसरी ओर सुलोचना के स्पर्श से आत्मा को शान्ति का भी अनुभव हो रहा था।

'तुमको इस तरह दुखी नहीं होना चाहिए शर्मा···। आत्मा अपने उद्धार के लिए ही—सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त करने के लिए ही बार-बार जन्म लेती है और मानव-देह धारण करती है। थोड़ा रुक कर भारी स्वर में आगे बोली सुलोचना—गिरिनार पर्वत की एक गुफा में स्वामी योगानन्द परमहंस देव रहते हैं—समझे न—वे उच्चकोटि के योगी और कालञ्जयी हैं। अवस्था उनकी होगी तीन सौ वर्ष के लगभग। आकाशचारी भी हैं परमहंस देव। शून्यमार्ग से गमन कर अपने शिष्यों को दर्शन देकर कृतार्थ भी करते हैं वे। यदि तुम साधना के गुह्य आयामों से और साधना के गूढ़ रहस्यों से परिचित होना चाहते हो, तो उनसे मिलो। वे अवश्य तुम्हारी सहायता करेंगे।'

'मगर सुलोचना गिरिनार के घनघोर जंगलों और पहाड़ों में परमहंस देव की गुफा को खोजूंगा कहाँ ? कहाँ मिलेगी मुझे उनकी रहस्यमयी गुफा ? इसके अलावा परमहंस देव को पहचानूंगा कैसे मैं ?

तुम्हें गुफा खोजने की जरूरत नहीं पड़ेगी। परमहंस देव से मिलने में भी परेशानी न होगी तुमको।' थोड़ा रुककर वह आगे बोली—'सद्गुरु को खोजा नहीं जाया जाता है। वे शिष्य को स्वयं खोज लेते हैं। स्वयं उसके निकट उपस्थित होते हैं। पर इसके लिए शिष्य में योग्यता, संस्कार और आत्मिक पवित्रता का होना आवश्यक है। परमहंस देव स्वयं तुम्हारे निकट उपस्थित होकर दर्शन देंगे। मगर तुम···?'

मेरा वाक्य पूरा नहीं हुआ—बीच में ही कहने लगी सुलोचना—मैं जानती हूं—समझती हूँ—और अनुभव भी कर रही हूँ—तुम्हारी आत्मा मेरे प्रति सम्मोहित हो उठी है। तुम्हारा चित्त आकुल हो उठा है मेरे लिए। तुम्हारा मन और प्राण भी आकर्षित हो उठा है मेरे प्रति। लेकिन क्या करूँ शर्मा ! कैसे समझाऊँ तुमको ? कैसे समझाऊँ मैं अपने आपको भी ? तुम्हारी आत्मा को तुम्हारे चित्त की और तुम्हारे मन-प्राण की जो दशा है—वही दशा मेरी

भी है। पर नियम के वशीभूत होने के कारण विवश हूँ मैं। इतने दिनों का साहचर्य, इतने दिनों का सामीप्य और इतने दिनों का स्नेह — क्या कभी भुलाया जा सकेगा ? हमेशा और प्रत्येक जन्म में स्मृति बनकर छायी रहेगी मेरी आत्मा पर। पर करूँ क्या ? जैसा कि कह चुकी हूँ — लाचार हूँ — विवश हूँ। मेरी प्रबुद्ध आत्मा न अब जन्म ले सकती है और न तो इस प्रकार किसी मृत शरीर में ही प्रवेश कर सकती है कभी। परन्तु अवश्य कभी-न-कभी मिलूँगी मैं तुमसे।

खिड़की के बाहर स्याह आकाश की ओर शून्य में काफी देर तक अपलक निहारने के बाद बोली सुलोचना—मगर जानते हो, मुझे मिलने के लिए क्या करना होगा ?

'नहीं, मैं तो नहीं जानता। तुम्हीं बतलाओ।'

कुछ सोचकर सुलोचना ने कहा — 'अनुकूल अवसर और योग्य वातावरण को देखकर मैं किसी ऐसी लड़की के शरीर में प्रवेश करूँगी, जिसकी आयु बारह से चौदह वर्ष के बीच होगी।

'क्या वह शरीर लड़की का मृत शरीर होगा ?

'नहीं जीवित शरीर होगा। मृत शरीर में तो — जैसा कि बतला चुकी हूँ — प्रवेश ही न कर सकूँगी अब मैं। उस लड़की का शरीर जीवित होगा — मगर उसके भीतर दो आत्माएँ होगी, एक उस लड़की की और दूसरी मेरी'।

'क्या यह सम्भव है ?'—आश्चर्यचकित होकर बोला मैं।

'हाँ, सम्भव है ! जब तक तुमसे मेरी भेंट न होगी, जब तक मैं तुमसे नहीं मिलूँगी—तब तक उस लड़की की आत्मा चैतन्य और क्रियाशील रहेगी शरीर में और मेरी आत्मा सुषुप्तावस्था में रहेगी। लेकिन फिर भी मेरी आत्मा का अगोचर सम्बन्ध आत्मलोक से बराबर बना रहेगा। जब तुम मिलोगे — और मिलकर उस लड़की को विशेष रूप से और विशेष क्रिया द्वारा गुह्य दीक्षा और स्पर्श दीक्षा दोगे — उस समय उस लड़की के शरीर में मेरा आत्म जागरण होगा और उसके शरीर में मेरी आत्मा एकबारगी चैतन्य और क्रियाशील हो उठेगी।'

जीवभाव के कारण उसकी आत्मा मूढ़ावस्था अथवा जड़ावस्था में चली जायेगी। फिर तो उसका शरीर मेरी आत्मा का निज शरीर होगा।

'मेरे लिए यह अत्यन्त अविश्वसनीय और विलक्षण बात थी। कुछ सोचकर मैं आगे बोला—'यह सब तो ठीक है मगर यह तो बतलाओ कि उस लड़की को जानूँगा कैसे ? पहचानूँगा किस प्रकार मैं ? इसके अलावा वह मिलेगी कहाँ मुझको ?…एक बात और वह यह कि उस लड़की के माध्यम से मेरी भेंट तुमसे कब और कैसे होगी ? और कितने समय तक मुझे करना पड़ेगा इन्तजार ?'

'इस सम्बन्ध में—इस विषय में—न तुमको सोचना है न विचारना है'—सुलोचना बोली—'और न तो चिन्ता ही करने की आवश्यकता है। आज से २५-३० वर्ष के बाद दार्जिलिंग से एक स्त्री तुमको पत्र लिखेगी। पत्र का विषय होगा—कुण्डलिनी-साधना-प्रसंग। यदि उस प्रसंग में ये वाक्य हों—'आपकी दृष्टि में औरत भी योग-साधना की अधिकारिणी समझी जाती है, तो मुझे अवश्य सहायता कीजिये। मेरी डूबती हुई आत्मा को बचा लीजिये। मैं घोर अशान्ति के बीच गुजर रही हूँ।···आशा है मुझे निराश नहीं करेंगे···।' तो समझ लेना कि उसी स्त्री की काया में मेरी आत्मा रहस्यमय ढंग से प्रसुप्त अवस्था में अवस्थित है।···फिर देर मत करना। दीपावली की महारात्रि की महानिशा वेला में उसे दोनों गोपनीय दीक्षा देकर और विशेष यौगिक क्रिया द्वारा उस स्त्री के शरीर में मेरी आत्मा को जाग्रत् कर देना। यदि तुमने ठीक समय पर और ठीक अवसर पर यह सब कुछ नहीं किया, तो सोच-समझ लो, फिर किसी भी जन्म में तुमसे मैं न मिल सकूँगी और न तो तुम मुझे कभी पा सकोगे।'

'ठीक है। इन्तजार करूँगा मैं।'

० ० ०

पूरब का आकाश धीरे-धीरे सफेद हो रहा था। गंगा की धवल धारा में उषाकाल की छाया पड़ने लगी थी। एकाएक मुझे ऐसा लगा कि कमरे के निस्तब्ध वातावरण में कोई अघटित घट गया है और कुछ सोचूँ समझूँ कि दूसरे क्षण बच्चों की किलकारी जैसी आवाज सुनाई दी। चौंक पड़ा मैं। खिड़की से छनकर आ रहे भोर के धवल प्रकाश में मैंने देखा—सुलोचना की आँखें बन्द हो गयी थीं। एक विशेष प्रकार की दिव्य आभा फैल गयी थी मुख पर। सारा शरीर बर्फ की तरह शीतल और जड़वत् हो चुका था। ब्रह्माण्ड फट गया था। जिसमें से बूँद-बूँद कर रक्त चू रहा था कन्धों पर। समझते देर न लगी। ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से सुलोचना की विशुद्ध आत्मा नश्वर काया को छोड़कर महाप्रयाण कर चुकी थी। परम शून्य में विलीन हो चुकी थी। अब केवल मेरे सामने था पद्मा का मात्र पार्थिव शरीर। रहा न गया मुझसे। संभाल न पाया मैं अपने आपको। उस निर्जीव काया को कसकर आलिंगनबद्ध कर लिया मैंने और हिलक-हिलक कर रो पड़ा एकबारगी।

प्रकरण : छब्बीस

पद्मा भारती का शरीर-त्याग

कुण्डलिनी-साधना तन्त्र की विशिष्ट साधना है। योग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह योग की कुछ विशेष क्रियाओं द्वारा चालित होती है। कुण्डलिनी वास्तव में चौथे शरीर मनोमय शरीर की साधना है। पिछले स्थूलशरीर, भावशरीर और सूक्ष्मशरीर में इस साधना की तैयारी की जाती है। कुण्डलिनी-साधना के मार्ग पर चलने वाले साधक सबसे पहले हठयोग अथवा क्रियायोग के द्वारा स्थूलशरीर को और ध्यानयोग के द्वारा भावशरीर को साधना के अनुकूल बनाते हैं। इन दोनों शरीरों के बाद है सूक्ष्मशरीर। इस शरीर को साधना के अनुकूल बनाने के लिए ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग के द्वारा सूक्ष्मशरीर जब परिपक्व और पूरी तरह अनुकूल हो जाता है, तो वहीं से मनोमय शरीर का आश्रय लेकर कुण्डलिनी जागरण की क्रिया शुरू होती है। जागरण, उत्थान और चक्रों के भेदन की जो भी साधनाएँ हैं, वे सब मनोमय शरीर के विषय हैं। सिद्ध साधकों के समाज में ऐसे भी कुछ साधक हैं, जिनकी अवधि संसार में खत्म हो जाती है, तो वे ऐसी स्थिति में अपने मनोमय शरीर के साथ वैश्वानर लोक में चले जाते हैं और वहाँ रहकर आगे की साधना करते हैं। ऐसी अवस्था में उनका पार्थिव शरीर और उसके साथ ही उनका भाव शरीर एवं सूक्ष्म शरीर इसी संसार में रह जाता है। स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाने वाला शरीर है, मगर बाकी दो शरीर अपना अस्तित्व बराबर बनाये रखते हैं। जब कभी साधक को संसार में आने की इच्छा होती है, वह अपने छोड़कर गये उन दोनों शरीरों को पुनः ग्रहण कर किसी भी पार्थिव शरीर में जन्म ले लेता है।

पिछले प्रकरण में आपने पद्मा के सम्बन्ध में पढ़ा है। वह इसी कोटि की साधिका थी। बाद में मुझे उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम हुआ। उसके पार्थिव शरीर की अवधि पूरी हो चुकी थी। वह जल्दी अपने मनोमय शरीर के द्वारा वैश्वानर लोक अथवा ज्ञानगंज मठ जैसे गुप्त और चर्मचक्षु से परे किसी योगाश्रम में आगे की साधना के लिए जाने वाली थी। ब्रह्मचारीजी ने मुझे उसकी तिथि भी बतला दी थी। इसीलिए मैं बराबर पद्मा से सम्पर्क बनाये रहा। सुलोचना भी मुझसे कभी पार्थिव शरीर में, तो कभी किसी और शरीर में मिलती रहती थी। एक दिन उसने मुझसे जब यह पूछा कि क्या उसकी मुक्ति की व्यवस्था हो गयी ? तो मैंने बतलाया कि हाँ हो गयी है, मगर उसके बाद उसे कुण्डलिनी-साधना का जो भी रहस्य मालूम है, उसे बतलाना होगा। इसके लिए वह झटपट तैयार हो गयी।

जब मैंने यह बात ब्रह्मचारीजी को बतलायी तो वे एकबारगी हँस पड़े, फिर कहने लगे—'सुलोचना जैसी जप-भ्रष्ट साधिकाओं के लिए इस परिस्थिति में पार्थिव शरीर का बड़ा महत्त्व है। श्मशानभैरवी की पैशाचिक योनि से मुक्ति के लिए वह कुछ भी कर सकती है।

० ० ०

उस दिन शरत् पूर्णिमा की रात थी।

हलके कुहरे की पारदर्शी पर्तों में लिपटी शुभ्र धवल चाँदनी बिखरी हुई थी। काशी के उस गुप्त आश्रम में एक अनिर्वचनीय शान्ति फैली हुई थी। जब मैं आश्रम की सीढ़ियाँ चढकर साधना-कक्ष में पहुँचा, तो उस समय वहाँ ब्रह्मचारीजी के अलावा चार-पाँच लोग और थे। निश्चय ही वे लोग उच्चकोटि के योगी और साधक थे। सभी के चेहरे पर अनिर्वचनीय शान्ति और साधना की तेजोमयी आभा थी। साधना-कक्ष में किसी भी प्रकार के आलोक की व्यवस्था नहीं थी। गंगा की ओर वाली खिड़कियाँ खुली थीं, जिनमें से चाँद का धवल प्रकाश आकर भीतर फैल रहा था। सभी मौन और निर्विकार थे। सामने चन्दन की चौकी थी, जिस पर व्याघ्र-चर्म का आसन बिछा हुआ था और उस स्थान पर निर्विकार भाव से पद्मासन लगाकर बैठी हुई थी पद्मा। शरीर का ऊपरी भाग अनावृत था। घनी केशराशि बिखरी हुई थी नग्न पीठ पर। नेत्र बन्द थे। मस्तक थोड़ा ऊपर उठा था। असीम तेज और असीम शान्ति से मुखमण्डल दमक रहा था। अलौकिक और दिव्य आभा से प्रदीप्त उस मुखमण्डल की ओर जब मैंने देखा, तो बस देखता ही रह गया। आसन के नजदीक बगुल गोस्वामी बैठे हुए थे। वह हिमालय के योगी एवं पद्मा के गुरुभाई थे। उनके द्वारा ही उस रात योग की एक विशेष क्रिया सम्पन्न होने वाली थी। वे भी अपलक निहार रहे थे पद्मा के मुख की ओर! सभी मौन और शान्त थे।

थोड़ी देर बाद बगुल गोस्वामी अपने स्थान से उठे और पद्मा के मस्तक पर चन्दन का तिलक लगाया। गले में सुगन्धित पुष्पों की माला पहनायी और फिर तन कर खड़े हो गये। उसके बाद उन्होंने अपना दाहिना हाथ पद्मा के सिर पर रखा।

लगभग १५-२० मिनट के बाद पद्मा ने नेत्रों को खोला और एक बार सिर घुमाकर चारों ओर देखा। फिर नेत्र बन्द कर लिये। बकुल गोस्वामी ने अपना हाथ हटा लिया। मैंने देखा—उसी समय पद्मा के सारे शरीर से बिजली जैसी एक दाहक चमक निकली और गोलाकार अग्निपिण्ड के रूप में एक स्थान पर जाकर स्थित हो गयी।

कुछ ही क्षण के बाद वह अग्निपिण्ड खिड़की के बाहर निकलकर विलीन हो गया।

मालूम हुआ कि वह अग्निपिण्ड और कुछ नहीं, पद्मा का मनोमय शरीर था, जिसके द्वारा उसकी योगात्मा पार्थिव शरीर को छोड़कर किसी गुप्त योगाश्रम के आगे की साधना के लिए चली गयी थी।

ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि हिमालय के उत्तरी भाग में इस प्रकार की योगात्माओं के लिए तीन सिद्ध योगाश्रम हैं। वे आँखों से दिखलायी नहीं पड़ते। चर्म-चक्षु की सीमा से परे हैं वे तीनों। वास्तव में वे सिद्ध योगाश्रम चतुर्थ आयाम में है। जब मैंने यह पूछा कि क्या यह योगात्मा साधना काल में पुनः अपने पार्थिव शरीर में आ सकती है लौटकर तो ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि आ सकती है और नहीं भी आ सकती है। यह घोषणा योगात्मा पर निर्भर है। मगर शरीर मृत होने के बाद विघटित होने लगता है। अधिक समय तक उसे रखा नहीं जा सकता, इसलिए योगात्माएँ यदि कभी संसार में पुनः आने की इच्छा करती भी हैं, तो योग्य गर्भ में प्रवेश कर नवीन शरीर द्वारा आती हैं।

पद्मा की मृत काया में सुलोचना की आत्मा का प्रवेश

आत्मपात होने के बाद मैंने देखा — पद्मा का पार्थिव शरीर अपने स्थान पर पूर्ववत् स्थिर था। मृत्यु के कोई भी चिह्न और कोई भी लक्षण प्रकट नहीं हुए थे शरीर में। ऐसा लगता था मानो अभी-अभी पद्मा आँखें खोल देगी और अपनी आदत के अनुसार मुझे देखकर मुस्करा देगी।

मन विषण्ण हो उठा मेरा। अपने स्थान सें उठा और जाकर खुली हुई खिड़की के सामने खड़ा हो गया। न जाने कब तक अपलक निहारता रहा आकाश में खिले हुए चाँद की ओर। सचमुच योगतंत्र की एक सर्वोच्च अवस्था को देखा था मैंने। मगर इस दृश्य की उपलब्धि की जहाँ एक ओर मुझे प्रसन्नता थी, वहीं दूसरी ओर पद्मा के अलग होने का दारुण कष्ट भी था। अब कब, कहाँ और कैसे भेंट होगी पद्मा की योगात्मा से मेरी, यही सोच रहा था मैं खिड़की का छड़ दोनों हाथों से पकड़े हुए। तभी एक चित्कार से सारा कमरा गूँज उठा। हाथों से छड़ छूट गया। चौंककर मैंने पीछे की ओर देखा—हे भगवान ! यह क्या ?

पद्मा का मृत शरीर काला पड़ गया था और जोर-जोर से काँप रहा था अपने स्थान पर। क्या सुलोचना की आत्मा प्रवेश कर गयी थी पद्मा के पार्थिव शरीर में ?

मेरा अनुमान सही था। सचमुच सुलोचना अपनी वासनामयी घृणित श्मशान भैरवी की योनि को छोड़कर पद्मा के योग शरीर में प्रवेश कर गयी थी। मगर कैसे ? कैसे सम्भव हुआ यह अलौकिक कार्य ? तभी मेरी दृष्टि घूम गयी ब्रह्मचारीजी की ओर। समझते देर न लगी। ब्रह्मचारीजी ने ही

योग बल से आकर्षित कर सुलोचना की आत्मा को प्रवेश कराया था पद्मा के पार्थिव शरीर में।

मैंने देखा—पद्मा के चेहरे का भाव बिलकुल बदल गया था। होठ फड़क रहे थे। आँखों में साधना की चमक की जगह अब वासना और कामना की मिली-जुली झलक थी। पद्मा का शरीर जरूर था—मगर उसके भीतर आत्मा की अभिशप्त भैरवी थी।

मुझे देखते ही सुलोचना उठकर खड़ी हो गयी और दोनों हाथ फैलाकर मेरी ओर बढ़ी।

'मुझे पहचानते हो न ?'—उसने पूछा।

'हाँ। क्यों नहीं पहचानूंगा तुमको ?'

यह सुनकर एकबारगी हँस पड़ी सुलोचना और फिर अपनी बाँहों को मेरे गले में डालती हुई बोली—'कितना मनोरम, कितना मोहक और कितना आकर्षक है यह संसार ? फिर थमककर आगे बोली सुलोचना—मुझे अपने पास ही रखोगे न ? जब तक इस शरीर में हूँ तब तक तुमसे अलग नहीं रहा जायेगा मुझसे ! बोलो, रखोगे न अपने पास मुझे ?' गले में फँसी हुई बाँहों को अलग करते हुए मैंने कहा—'तुमको अपने पास रखने से फायदा क्या होगा ? क्या तुम वचन का पालन करोगी ?'

''हाँ ! हाँ क्यों नहीं करूँगी ? तुम मुझे पास तो रखो अपने।'—यह कह कर सुलोचना फिर एक बार खिलखिलाकर हँस पड़ी। बड़ी विलक्षण और रहस्यमयी हँसी थी वह।

वस्तुपरक सत्ता और आत्मपरक सत्ता

मेरा जीवन और मेरी आत्मा अलौकिक, रहस्यमय और चमत्कारपूर्ण घटनाओं का साक्षी है। कुण्डलिनी साधना के प्रसंग में अब तक मैंने जिन रहस्यमयी कथाओं का, जिन चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है, उनसे मेरी आत्मा एकबारगी हतप्रभ हो गयी है। सम्भव है वे कथाएँ और वे घटनाएँ अविश्वसनीय लगें। और यह भी सम्भव है कि आप उनकी सत्यता की जानकारी के लिए मुझसे प्रमाण भी माँगें।

मगर मैं आपके अविश्वास को विश्वास में नहीं बदल सकता। किसी भी तरह का प्रमाण भी नहीं दे सकता। इसका कारण है। और वह यह कि योग-तंत्र में सम्बन्धित जिस जीवन और जगत् की मैं अलौकिक और रहस्यमयी कथाएँ लिखता हूँ और अविश्वसनीय चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन करता हूँ, वे वास्तव में आत्मपरक जीवन और जगत् की कथाएँ और घटनाएँ होती हैं, जिसे 'सब्जेक्टिव' कहते हैं।

आत्मा का जो जगत् है वह आध्यात्म विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार मन का जो अपना जगत् है, वह मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान

से सम्बन्धित है। किसी भी साधना का मतलब है आत्मा और मन की साधना। साधक के शरीर से साधना की जो दुनिया शुरू होती है, वह आत्मपरक यानि 'सब्जेक्टिव' है और उसके पहले की दुनिया है, वह वस्तुपरक यानि 'आब्जेक्टिव' है।

वस्तुपरक दुनिया की घटनाओं और बातों का प्रमाण दिया जा सकता है, लेकिन आत्मपरक दुनिया के अनुभवों और घटनाओं का नहीं। अगर मेरे हाथ में रुपया है, तो आप भी देख सकते हैं और मैं भी देख सकता हूँ। हजारों लोग देख सकते हैं। यह सामान्य सत्य है, जिसमें कि हम सहभागी हो सकते हैं और जाँच-पड़ताल भी हो सकती है कि रुपया है या नहीं। लेकिन मेरे विचारों, भावों और अनुभवों की दुनिया में आप सहभागी नहीं हो सकते। और मैं भी आपके विचारों, भावों और अनुभवों की दुनिया में सहभागी नहीं हो सकता।

बस ! आप समझ लीजिये कि यहीं से निजी दुनिया शुरू होती है। जहाँ से निजी दुनिया शुरू होती है वहीं से अविश्वसनीय और चमत्कारपूर्ण तमाम घटनाएँ भी शुरू हो जाती हैं, क्योंकि किसी चीज की सच्चाई और किसी के प्रमाण के सारे बाहरी यानि भौतिक नियम खत्म हो जाते हैं। यही कारण है मैं आपको न विश्वास दिला सकता हूँ और न किसी भी प्रकार का प्रमाण ही दे सकता हूँ।

मैं कुण्डलिनी साधना के प्रसंग में पहले ही बतला चुका हूँ कि आत्मा के सात शरीर हैं। चौथा मनोमय शरीर है। कुण्डलिनी इसी शरीर में है। इसीलिए कुण्डलिनी की साधना इसी शरीर से शुरू होती है।

स्थूलशरीर, भावशरीर और सूक्ष्मशरीर का विकास

आत्मा के प्रत्येक शरीर के अनन्त आयाम हैं। अनन्त सम्भावनाएँ हैं। जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है, वह केवल स्थूल, भाव और सूक्ष्म — इन तीन शरीरों से है। इन तीनों शरीरों से जीवन के प्रत्येक सात वर्ष सम्बन्धित हैं। जीवन काल के पहले सात वर्षों में भौतिक शरीर का निर्माण होता है। भौतिक शरीर के विकास के इन सात वर्षों को अनुकरण का वर्ष माना जाता है। इनमें किसी भी प्रकार की भावना और बुद्धि का विकास नहीं होता। विकास होता है केवल भौतिक शरीर का।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो केवल भौतिक शरीर ही बनकर रह जाते हैं। ऐसे लोग जीवन भर नकल और अनुकरण ही करते रहते हैं। उनमें और पशु में कोई भेद नहीं होता। पशु के पास भी केवल भौतिक शरीर होता है।

दूसरे सात वर्षों में भाव शरीर का विकास होता है। इसीलिए चौदह साल की आयु में यौन परिपक्वता उपलब्ध होती है। वह भाव का अत्यन्त प्रगाढ़ रूप है। कुछ लोग चौदह वर्ष के ही होकर जाते हैं। शरीर तो अपनी

अपनी जगह बढ़ता रहता है, लेकिन उनके पास दो ही शरीर होते हैं। ऐसे लोग केवल भोग-वासना को ही महत्त्व देते हैं। तीसरे सात वर्षों में सूक्ष्म शरीर का विकास होता है। इस इक्कीस वर्ष की आयु में तर्कबुद्धि और विचार का विकास होता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध तर्क-विचार और बुद्धि से है।

दूसरे शरीर के विकास के बाद यानि चौदह वर्ष की आयु में सभी प्रकार से यौन की प्रौढ़ता उत्पन्न हो जाती है। प्रकृति की सहायता का कार्य यहीं पूरा हो जाता है। इसलिए कि पहले और दूसरे शरीर के विकास में प्रकृति पूरी-पूरी सहायता करती है।

लेकिन दूसरे शरीर के विकास से मनुष्य मनुष्य नहीं बन पाता, जैसा कि उसे बनना चाहिए। तीसरे शरीर में जहाँ विचार, तर्क, बुद्धि विकसित होती है—वह उस शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता का फल है। इसीलिए इक्कीस वर्ष के व्यक्ति को मताधिकार दिया गया है।

प्रायः लोग इक्कीस वर्ष के होकर तीसरे शरीर के विकास में ही रुक जाते हैं और मरते दम तक उसी पर रुके रहते हैं। मनोमय शरीर के विकास की ओर कभी भी ध्यान नहीं देते।

जिसका भावशरीर विकसित नहीं हुआ और जो सात वर्ष पर ही ठहर गया है—उसके जीवन का रस खाने-पीने में ही समाप्त हो जायेगा। जीभ के अलावा उसकी कोई संस्कृति न होगी।

इसी प्रकार जो लोग केवल भावशरीर के विकास पर रुक गये हैं—उनका जीवन यौन-केन्द्रित हो जायेगा। ऐसे लोगों का सारा व्यक्तित्व—उनकी कविता, कला, संगीत, उनके मकान, बाग-बगीचा सब कुछ किन्हीं अर्थों में यौन अभिमुखी हो जायेगा। सब वासना में भरा हुआ दिखलायी देगा।

इसी प्रकार जिन लोगों ने अपने तीसरे शरीर का विकास कर लिया है, उसका जीवन बौद्धिक चिन्तन और विचार से भर जायेगा। जिस समाज और देश के जीवन में तीसरे शरीर का विकास पूर्ण हो जाता है, तो बड़ी वैचारिक क्रान्तियाँ घटने लगती हैं। बुद्ध और महावीर के समय बिहार ऐसी ही स्थिति में था। उसके पास तीसरे शरीर के पूर्ण विकास की क्षमता वालों का भारी समूह था। इसीलिए बुद्ध और महावीर जैसे आठ लोग उस छोटे से प्रान्त में पैदा हुए। सुकरात और प्लेटो के समय यूनान की भी ऐसी ही अवस्था थी। कन्फ्यूसस और लाओत्से के समय चीन की भी ऐसी ही हालत थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि पाँच सौ साल के भीतर ही सारे महान् लोग संसार में हुए और उन पाँच सौ सालों में मनुष्य के तीसरे शरीर ने काफी ऊँचाइयाँ छू लीं। लेकिन जैसा कि कहा है—लोग तीसरे शरीर पर ही अटक जाते हैं।

० ० ०

चौथे शरीर के विकास का मतलब है मन का विकास। मन विकसित होकर जब अपनी सीमा पर पहुँच जाता है, तब सारा जीवन अलौकिक चमत्कारपूर्ण शक्तियों से भर जाता है। सम्मोहन, टेलीपैथी, क्लैरहनयेन्स आदि उन्हीं शक्तियों के परिणाम हैं। मगर चौथे शरीर का विकास काफी खतरनाक होता है। मनुष्यता की रक्षा के प्रयत्न इसमें प्रायः असफल हो जाते हैं। जो लोग चौथे शरीर का उपयोग करने वाले हैं, उनकी काफी बदनामी भी होती है। यूरोप में हजारों ओरतों को डाकिनी कहकर मार डाला गया, इसलिए कि वे चौथे शरीर से काम लेती थीं। हमारे देश में भी सैकड़ों तांत्रिक मार डाले गये, इसलिए वे कुछ रहस्य जानते थे, जो लोगों को खतरनाक मालूम पड़े। वे अपनी विकसित मनोगत शक्तियों के द्वारा यह जान जाते थे कि संसार में कहाँ क्या हो रहा है? किसके मन में क्या है? कौन घटना कहाँ घटित होने वाली है? कौन-सी वस्तु कहाँ रखी है?

वास्तव में यही मूल कारण है कि योगी और तांत्रिक जो सच्चे अर्थों में हैं, अपने को अप्रकट रखने लगे। अपने जीवन को इस प्रकार रहस्यमय ढंग से रखने लगे, जिससे लोग उन्हें जान-समझ न सकें। पहचान भी न सकें।

मनःशरीर

अब आप समझ गये होंगे कि मन:शरीर में कितनी शक्तियाँ और उनकी कितनी सम्भावनाएँ हैं। योग और तंत्र में जितनी भी सिद्धियों का वर्णन है— वे सब मनोमय शरीर में ही प्रकट होती हैं। मगर साधक लोग आगे के शरीरों के विकास के लिए और उस विकास की उपलब्धियों के लिए उन सिद्धियों के मायाजाल में नहीं पड़ते। क्योंकि उन सिद्धियों का कोई भी आध्यात्मिक मूल्य नहीं है।

मनोमय शरीर में 'कुण्डलिनी' का जागरण होता है, काम-वासना और उसकी वृत्ति समूल नष्ट हो जाती है। कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार है और मूलाधारचक्र का सम्बन्ध स्थूल जगत् से है। इसलिए साधक के सामने स्थूल जगत् का सारा रहस्य एकबारगी खुल जाता है।

जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर दूसरे चक्र स्वाधिष्ठान में पहुँचती है तब 'भय, क्रोध, घृणा और हिंसा' हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है और उनके स्थान पर जन्म ले लेता है—प्रेम, करुणा, अभय और मैत्री। स्वाधिष्ठान का सम्बन्ध भावजगत् से है। इसलिए साधक के सामने भावजगत् यानि वासना-लोक के सारे रहस्य अनावृत हो जाते हैं।

कुण्डलिनी जब और ऊपर उठकर तीसरे चक्र मणिपूरक से सम्बन्ध स्थापित करती है तब सन्देह के स्थान पर श्रद्धा और विचार के स्थान पर विवेक जन्म ले लेता है। इस चक्र का सम्बन्ध सूक्ष्मजगत् से है। इसलिए साधक के सामने सूक्ष्मजगत् के तमाम रहस्य खुल जाते हैं। इसी तरह

'कुण्डलिनी' का सम्बन्ध जब चौथे चक्र अनाहत से स्थापित होता है तो साधक में अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन की क्षमता और संकल्पशक्ति का आविर्भाव होता है। अनाहतचक्र मनोमय जगत् का केन्द्र है। अन्य जगतों की तरह इस जगत् के भी सारे रहस्य खुल जाते हैं साधक के सामने।

मनोमय शरीर अत्यधिक नाजुक है। मादक द्रव्यों अथवा नशीली वस्तुओं से वह तुरन्त प्रभावित होता है। यही कारण है कि तांत्रिक-साधनाओं में मनोमय शरीर से सम्पर्क स्थापित करने के लिए नशीली वस्तुओं का सेवन लोग करते हैं। पुरुष से कहीं अधिक कोमल नाजुक स्त्रियों का मनोमय शरीर होता है, इसीलिए तांत्रिक-साधना में जिन स्त्रियों को भैरवी के रूप में स्वीकार किया जाता है, उन्हें भी मदिरा पीने का अधिकार है। मदिरा से प्रभावित उनके मनोमय शरीर से साधक के मनोमय शरीर का सम्बन्ध तत्काल स्थापित हो जाता है। फिर दोनों के मनोमय शरीर एकाकार होकर एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक ऊर्जा को जन्म देते हैं, जिसके सहयोग से एक विशेष प्रकार की साधना अनुष्ठित होती है। लेकिन सामाजिक जीवन में स्त्रियों का मदिरापान करना काफी खतरनाक है। पुरुष शराब पीकर जितना खतरनाक कभी नहीं होता—उतनी स्त्री शराब पीकर खतरनाक हो जाती है। इसलिए कि उसका मनोमय शरीर पुरुष से कहीं अधिक नाजुक होता है, जो इतनी शीघ्रता से प्रभावित होता है कि उसका हिसाब लगाना मुश्किल है। इसलिए पुरुष के बजाय स्त्रियों को शराब से दूर रखने की व्यवस्था अधिक रखी गयी है। इस मामले में स्त्रियों ने समानता का दावा अभी तक नहीं किया था, मगर अब वे कर रही हैं। वह खतरनाक होगा। जिस दिन भी वह नशे के मामले में समानता का दावा करेंगी उस दिन पुरुष के नशा करने से जो नुकसान नहीं हुआ—वह स्त्री के करने से होगा।

'मनोमय शरीर में कुण्डलिनी जाग्रत् हुई है या नहीं? इसका निर्णय कैसे होगा? इसका प्रमाण क्या है?' सबसे पहले मैंने यही प्रश्न किया सुलोचना से।

'वास्तव में कुण्डलिनी जगी है' यह केवल कहने से और अनुभव करने से साबित नहीं होगा। क्योंकि वह झूठ में भी तुम्हें अनुभव होगा और तुम उसे कहोगे। नहीं, वह तो तुम्हारा जो वस्तुजगत् है, यानि वस्तुजगत् का जो व्यक्तित्व है, उससे ही निर्णय हो जायेगा कि कुण्डलिनी का जागरण हुआ है अथवा नहीं। क्योंकि तुम्हारे भौतिक व्यक्तित्व में अन्तर पड़ना शुरू हो जायेगा। कुण्डलिनी-जागरण का सबसे बड़ा प्रमाण है 'आचरण'। साधना की एकमात्र कसौटी है आचरण। आचरण कसौटी है, साधना नहीं। भीतर जो कुछ भी साधना के बल पर घटित हुआ है या घटित हो रहा है, उसकी कसौटी है वह। साधना के द्वारा शक्ति के जाग्रत होने पर चित्त की सारी असद्वृत्तियाँ एकबारगी नष्ट हो जायेंगी। क्रोध, हिंसा, घृणा, कामना,

लालसा, भावना, राग, द्वेष, मादक पदार्थों का सेवन — सब कुछ समाप्त हो जायेगा। व्यक्तित्व में और साथ ही चरित्र में भी आमूल परिवर्तन हो जायेगा।

जीवन के अट्ठाईस वर्ष—मनोमय शरीर के विकास के वर्ष हैं। मगर पूरा-पूरा विकास हो पाना साधारणतः असम्भव ही है। जो थोड़े लोग इसके विकास की ओर ध्यान देते हैं, प्रयत्न करते हैं, वे बहुत कम कर पाते हैं। और उस कम विकास में ही उन्हें जो चमत्कारी और अलौकिक सिद्धियाँ थोड़ी बहुत मिल जाती हैं, उन्हीं में उलझ कर रह जाते हैं वे। विकास के लिए आगे प्रयास करने के लिए उन्हें दिशा ही नहीं मिलतीं, उन चमत्कारी और अलौकिक सिद्धियों के कारण। जहाँ तक कुण्डलिनी-जागरण का प्रश्न है, वह मनोमय शरीर के पूर्ण रूप से विकसित होने पर ही सम्भव है।

आत्मशरीर

आत्मा का पाँचवाँ शरीर 'आत्मशरीर' है। जीवन में इसके विकास के पैंतीस वर्ष हैं। इस अवधि में आत्मशरीर को पूर्णरूप से विकसित हो जाना चाहिए। मगर यह बड़ी दूर की बात है। चौथा शरीर ही पहले विकसित नहीं हो पाता।

यहाँ थोड़ी रुकी सुलोचना — फिर हँसते हुए आगे कहने लगी — 'जानते हो ! यही कारण है कि लोगों के लिए आत्मा केवल एक चर्चा का विषय है। आत्मा नाम की वस्तु के पीछे कोई सार नहीं है। जब तुम कहते हो 'आत्मा' तो उसके पीछे कुछ नहीं होता — होता है सिर्फ शब्द। जब तुम कहते हो पानी तो सिर्फ शब्द नहीं होता—उसके पीछे विषयवस्तु भी होती है। तुम जानते हो पानी माने क्या ?····'आत्मा' के पीछे कोई 'अर्थ' नहीं है, क्योंकि आत्मा तुम्हारा अनुभव नहीं है। चौथे शरीर के पूरे विकास के बाद कुण्डलिनी के जागने पर ही पाँचवें आत्म-शरीर में प्रवेश कर जाना सम्भव है। पहले तो चौथे शरीर का ही ज्ञान नहीं है। पाँचवें शरीर का भला कैसे हो सकेगा ज्ञान ? चोथे शरीर की तरह जिन लोगों को पाँचवें शरीर का थोड़ा-बहुत ज्ञान है उनको 'आत्मवादी' कहते हो तुम। इस तरह के आत्मवादी लोग समझते हैं कि उन्होंने आत्मा को पा लिया। अब आगे कुछ पाना नहीं रह गया है। यह कहने वाले आत्मवादी लोग पाँचवें शरीर का थोड़ा-सा विकास कर वहीं रुक जाते हैं। उनके लिए आत्मा ही सब कुछ है। परमात्मा के अस्तित्व को साफ इनकार कर जायेंगे।

जो लोग पहले या दूसरे शरीर पर रुक गये हैं, वे शरीरवादी और भौतिकवादी हैं। उनके लिए भी आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। उनकी दृष्टि में शरीर ही सब कुछ है। शरीर मर गया तो उनके लिए सब कुछ मर गया। इसी तरह आत्मवादी भी हैं। उनका कहना है कि आत्मा ही सब कुछ

है। उसके बाद कुछ भी नहीं है। बस, उनकी दृष्टि में परम स्थिति का बल आत्मा है। पर समझ लो कि वह पाँचवाँ शरीर ही है।

ब्रह्मशरीर

जैसे मनोमय शरीर के पूरे विकास के बाद आत्मशरीर की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार आत्मशरीर के विकास की पूर्णता पर छठे शरीर 'ब्रह्मशरीर' की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्मशरीर के लिए जीवन में विकास के ३५ से ४२ वर्ष तक की अवधि है। मनोमय शरीर में मन की उन्नति चरम सीमा पर पहुँचकर मन के अस्तित्व को हमेशा के लिए खत्म कर देती है। इसी प्रकार आत्मशरीर में आत्मा भी अपनी उन्नति की चरम अवस्था में पहुँचकर अपना अस्तित्व गवाँ बैठती हैं। साधक यदि अपनी आत्मा को पूर्ण विकसित कर गँवाने के लिए तैयार है, तो छठे शरीर में प्रवेश कर सकता है।

निर्वाणशरीर

सातवाँ शरीर 'निर्वाणशरीर' है। जीवन में ४२ से ४९ वर्ष तक की आयु इसके विकास के वर्ष हैं। निर्वाणशरीर कोई शरीर नहीं है। वह देह-शून्यता की स्थिति है। वह वास्तव में परम अवस्था है। वहाँ केवल शून्य है। शून्य के अलावा कुछ भी नहीं है वहाँ। सब कुछ खत्म हो जाता है देह-शून्यता की अवस्था में। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ ही है—सब कुछ समाप्त। शून्य बिलकुल शून्य। जिस तरह जलता हुआ एक दीपक बुझ जाता है, तब फिर क्या होता है? खो जाती है ज्योति। फिर तुम नहीं पूछते कि कहाँ गयी वह। यह भी नहीं पूछते कि कहाँ होगी वह? बस खो गयी। निर्वाण शब्द का अर्थ है दीपक का बुझ जाना'।

कुण्डलिनी-साधना की विशेषता

सुलोचना ने आगे बतलाया कि कुण्डलिनी साधना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि साधक जिस शरीर को छोड़कर आगे बढ़ता है फिर हमेशा के लिए उस शरीर के बंधन से मुक्त हो जाता है। कालान्तर में कभी उनमें से किसी शरीर को प्राप्त करना वह चाहेगा, तो उसके लिए यह असम्भव होगा। कभी किसी अवस्था में चारों शरीरों में कोई भी शरीर उसे प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्म-शरीर आत्मा का अपना निज शरीर है। वह पिछले चारों शरीरों के बंधन से अपने आपको मुक्त कर अपने निज शरीर में पहुँचती है। इस शरीर का सम्बन्ध आत्मलोक से है। पाँचवें शरीर में साधक को मोक्ष की प्रतीति होती है। क्योंकि वह आत्मा के परम मुक्ति की अवस्था है। आत्ममुक्ति का मतलब है आत्मा की अपने निज शरीर से भी मुक्ति। जैसे वह अन्य शरीरों के बंधन से अपने को मुक्त कर लेती है, उसी प्रकार अपने निज शरीर

से भी अपने को इस अवस्था में मुक्त कर लेती है। वह मुक्त होकर अपने निज लोक 'आत्मलोक' में चली जाती है।

'तो 'मोक्ष' पाँचवें शरीर की अवस्था का अनुभव है' ?—मैंने पूछा।

उत्तर में सुलोचना ने बतलाया—हाँ ! मगर याद रखो कि पीछे के चार शरीर चार लोकों से अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते हैं। यदि कोई अपने चौथे शरीर पर ही रुक गया, तो उसे स्वर्ग या नर्क के अनुभव होंगे। क्योंकि चौथा शरीर स्वर्ग या नर्क का शरीर है। यदि कोई अपने पहले या दूसरे शरीर पर ठहर गया तो उसके लिए जीवन ही सब कुछ हैं। इसी प्रकार यदि कोई अपने तीसरे शरीर पर आकर ठहर गया है—और उसने आगे बढ़ने का प्रयास नहीं किया है तो उसे जन्म और मरण के अलावा और किसी प्रकार की उपलब्धि न होगी। वह जन्म लेगा मरने के लिए। मरेगा तो जन्म लेने के लिए। वह हमेशा इसी जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहेगा। जैसा कि मैंने बतलाया है यदि वह अपने चौथे शरीर पर जाकर रुकता है, तो जन्म और मृत्यु के बाद उसके लिए स्वर्ग या नर्क का जीवन है। सुख और दुःख की अनन्त सम्भावनाएँ वहाँ हैं उसके लिए।

यदि कोई व्यक्ति क्रम से उन्नति करता हुआ अपने पाँचवें शरीर को उपलब्ध है, तो उसके लिए 'मोक्ष' का द्वार खुला हुआ है।

मोक्ष क्या है ?

मोक्ष का मतलब क्या है ?

मोक्ष का मतलब है सब समाप्त। शरीरों से मुक्ति और उन शरीरों से सम्बन्धित संसारों से मुक्ति और अन्त में आत्मा से भी मुक्ति—इसी का सामूहिक रूप से नाम है मोक्ष। इस परम अवस्था में साधक के पास न शरीर होता है और न संसार रहता है और न तो रहती है—आत्मा। यह उसकी विशुद्ध अवस्था है और है परम-प्राप्तव्य। वह इस अवस्था और परम प्राप्तव्य के बाद छठे शरीर यानि ब्रह्मशरीर (Cosmic body) को प्राप्त करता है। जैसे पाँचवें शरीर में मोक्ष की सम्भावना है, उसी प्रकार छठे शरीर में ब्रह्म की सम्भावना है। वहाँ न मुक्त है और न अमुक्त है। वहाँ यदि कुछ है, तो सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् एक परमतत्त्व है, जिसे परब्रह्म अथवा परमात्मा के रूप में कल्पित किया गया है। उसी के साथ एकाकार हो जाना—उसी में लीन हो जाना—अथवा उससे सामञ्जस्य स्थापित कर लेना—छठे शरीर की चरम उपलब्धि है और उस चरम प्राप्तव्य अथवा उपलब्धि की एक मात्र घोषणा है—'अहं ब्रह्मास्मि' !

लेकिन यहीं पर सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद भी एक अवस्था है और वह है महानिर्वाण की अवस्था। यह सातवें शरीर की सम्भावना है और इस अवस्था, इस सम्भावना में न 'अहम्' है और न तो

'ब्रह्म' है। 'मैं' और 'तू' दोनों नहीं है। वहाँ कुछ है ही नहीं। वहाँ सिर्फ परम शून्य है। टोटल एब्सलूट वाइड ! और वही परमनिर्वाण है, महा-निर्वाण है और है वही परम बुद्ध की अवस्था।

शरीर किसी की और आत्मा किसी और की ! कितनी विलक्षण और चमत्कारपूर्ण घटना थी वह। पद्मा के पार्थिव शरीर में सुलोचना की अभिशप्त आत्मा लगभग पाँच-छः साल रही। कोई जान-समझ न सका इस रहस्य को। जानते-समझते भी कैसे ? यदि इस सम्बन्ध में किसी को मैं कुछ बतलाता भी तो कोई विश्वास न करता।

एक सहयोगिनी की तरह एक सहचरी के रूप में रह रही थी मेरे साथ सुलोचना। मेरी आत्मा ज्ञान की भूखी और साधना की प्यासी थी।

भौतिक विषयों की तृप्ति आवश्यक

मगर सुलोचना की आत्मा ?

सलोचना की भाव-भंगिमा, रहन-सहन, आचार-विचार और व्यवहार से मैंने पहले यही अनुमान लगाया था और सोचा था कि जिस क्षणिक सुख और आनन्द की अनुभूति के वशीभूत होकर साधना के इतने ऊँचे स्तर से गिरी थी और जीवन अभिशप्त हुआ था—उसी अनुभूति की लालसा की आग उसके भीतर सुलग रही है।

मगर नहीं। यह मेरे मन का केवल भ्रम था। एक दिन साधना-प्रसंग के सिलसिले में सुलोचना अचानक गम्भीर हो गयी। काफी देर तक आकाश की ओर देखने के बाद बोली—'भौतिक विषयों को योग द्वारा तृप्ति होने के बाद ही व्यक्ति साधक बन सकता है। भौतिक सुख का अनुभव आवश्यक है, किन्तु साधन के रूप में। व्यक्ति जमीन पर गिरता है, मगर उसे जमीन से उठने के लिए जमीन का ही सहारा लेना पड़ता है। साधना-मार्ग में जो चीज साधक को भ्रष्ट करती है और जिस कारण से वह गिरता है, उसी चीज का और उसी कारण का आश्रय लेकर ही वह फिर उठ सकता है और आगे बढ़ सकता है'। फिर मेरे बिलकुल करीब आकर—लगभग सटकर मेरी आँखों में झाँकते हुए आगे बोली वह—'जानते हो ! मैं जिस आनन्द और जिस सुख की अनुभूति के पीछे एकबारगी पागल होकर आज अभिशापमय जीवन जी रही हूँ, उसी सुख और उसी आनन्द और उसकी उसी अनुभूतियों का सहारा लेकर पाँचवें शरीर को उपलब्ध करूँगी और अपनी आत्मा को संसार और शरीर के बंधनों से मुक्त करूँगी···तुम्हें तो मालूम ही है कि मैं पाँचवें शरीर से ही पथभ्रष्ट हुई हूँ। अब मुझे नीचे के चारों शरीरों में कोई भी शरीर प्राप्त नहीं हो सकता। जिस शरीर में हूँ, वह भी उधार का है, जिसमें अधिक समय तक मैं रह नहीं सकती। जब तक हूँ—उसके भीतर मैं अपने आत्म-शरीर को प्राप्त कर लेना चाहती हूँ। मगर इसके लिए मुझे तुम्हारी जरूरत

है । तुम्हारी सहायता चाहिए मुझे इस दिशा में । इसीलिए तुम्हारे जीवन में आयी हूँ मैं ।'

एक अनिर्वचनीय स्थिति का अनुभव

मैं धीरे-धीरे अवश होता जा रहा था । ऐसा लगा—मानो मेरे मन पर और मेरे प्राणों पर कोई अदृश्य चेतना हावी होती जा रही है धीरे-धीरे । लेकिन उस अवस्था में भी मुझे सुलोचना की काया से निकलती हुई नारी-गंध का स्पष्ट अनुभव हो रहा था । वह नारीगंध कैसी थी—इसे मैं बतला नहीं सकता । कुछ क्षणों के बाद उसी गन्ध के बीच मुझे अपने गुदास्थान पर सूई चुभने जैसी पीड़ा, फिर वह पीड़ा एकबारगी बढ़कर अन्त में असहनीय उत्ताप में बदल गयी । उसी के साथ मुझे लगा कि उस उत्ताप वाले स्थान पर मेरा मन, मेरा प्राण और मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व एकबारगी केन्द्रित हो गया है । उसके बाद मुझे बिजली के करेन्ट जैसा झटका लगा—और उसी क्षण एक अनिर्वचनीय और अलौकिक आनन्द के सागर में डूब गया मैं । निश्चय ही वह सांसारिक आनन्द नहीं था । कब तक डूबा रहा मैं उस आनन्द के सागर में, बतला नहीं सकता । लेकिन हाँ ! उस अनिर्वचनीय स्थिति में सुलोचना का एक अपूर्व रूप देखा मैंने । बिलकुल यौगिक रूप था वह ! पर एक बात बतलाना भूल ही गया मैं । वह पद्मा के शरीर में नहीं बल्कि अपने निज पार्थिव शरीर में थी उस समय । किसी ऋषिकन्या-सी लग रही थी उस समय सुलोचना । आनन्द के सागर में आकण्ठ डूबा हुआ न जाने कब तक उस रूप-छवि का रस-पान करता रहा मैं ।

प्रकरण : सत्ताईस

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी जीवन

हमारी आत्मा एक ऐसी वस्तु है, जो निरन्तर ज्ञान की ओर बढ़ रही है। यदि हम उसके मूक निर्देश को, मूक संकेत को समझने का प्रयत्न करें तो जीवन अपने आप सही दिशा में बढ़ता जायेगा। अपने आप सही मार्ग पर हम चलते जायेंगे। सच तो यह है कि आत्मा की सारी प्रक्रियाएँ हमारे जीवन के निर्माण के लिए हैं। हमें मनुष्य बनाने के लिए हैं। जिसने आत्मा को समझा, उसके मूक संकेत को समझा और उसकी मूक पगध्वनि को सुना, वास्तव में उसी के जीवन का सच्चे अर्थों में निर्माण होता है। आत्मा 'सत्य' है और परमात्मा है परम सत्य। हम दुःखी इसीलिए हैं कि हम न सत्य से परिचित हैं और न तो परम सत्य से।

'सत्य' जीवन, जगत् और आत्मा-परमात्मा का प्राण है। उनके अस्तित्व का भी अस्तित्व है। सत्य की खोज नहीं की जाती। खोज शब्द उसके लिए बेकार है। वास्तव में खोज सत्य की नहीं बल्कि असत्य की होती है। खोज तो उस वस्तु की होती है, जो हमारे पास नहीं है और जिसकी हमें आवश्यकता है। खोज उसकी नहीं हो सकती जो हमारे पास है, हमारे करीब है। किसी वस्तु को खोजने के लिए 'दो' की आवश्यता पड़ती है—पहला खोजने वाले की, दूसरा जिसकी खोज हो। मगर जहाँ तक 'सत्य' की बात है वहाँ दोनों एक ही हैं। जैसे नृत्य से नृत्यकार को, संगीत से संगीतकार को मूर्ति से मूर्तिकार को अलग नहीं किया जा सकता है और न समझा जा सकता है; उसी प्रकार सत्य को और सत्य के खोजने वाले को भी न अलग किया जा सकता है और न समझा जा सकता है।

हमारे जीवन के दो छोर हैं—पहला छोर है—बहिर्मुखी और दूसरा छोर है—अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी जीवन में प्रकाश है, लेकिन अन्तर्मुखी जीवन घोर अन्धकारमय है। आँखें बन्द करते ही उसका हमें अनुभव होता है। हमारी सारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। मन भी बाहर भटकता रहता है। बाहर प्रकाश है। इन्द्रियाँ और मन बाहर प्रकाश में सत्य को खोजने का प्रयास करते हैं। भीतर का जो अन्तर्मुखी जीवन है—वहाँ न इन्द्रियाँ काम करती हैं और न मन ही झांकता है।

जहाँ तक हमारी इन्द्रियों की सीमाएँ हैं और जहाँ तक हमारा मन भाग-दौड़ करता है—वहीं तक हम खोज कर सकेंगे। इन्द्रियों को और मन की सीमा खोज की सीमा है और जहाँ वह सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ से

हमारी सारी इन्द्रियाँ वापस लौट आती हैं और जहाँ वापस लौटकर आती हैं—वह 'भीतर' है और उस भीतर में घोर अन्धकार है और उस घोर अन्धकार में डूबा हुआ महा शून्य है। मगर शून्य से हमारा मतलब अभाव नहीं है। जहाँ शून्य होगा वहाँ शक्ति होगी। शून्य जितना गहरा होगा—वहाँ शक्ति भी उतनी गहरी होगी। शून्य यानि शक्ति का केन्द्र। शक्ति का पीठ !

हमारे भीतर जहाँ अन्धकार और उस अन्धकार में डूबा हुआ जहाँ परम शून्य है, वहाँ आत्मशक्ति का केन्द्र है। आत्मा की सत्ता है। आत्मा का है अस्तित्व। सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है वहाँ आत्मा।

मगर हमारी इन्द्रियाँ मन की सहायता से उस समय परम सत्य को और उस आत्मा को बाहर प्रकाश में खोजती हैं और प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं।

आत्मा परम सत्य है। आत्मा की शक्ति परम शक्ति है और वह परम शक्ति प्रकृति के रूप में सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई हैं।

वैज्ञानिकों की धारणा है कि वे सत्य की खोज करते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि वे सत्य की खोज का अभिनय करते हैं, नाटक करते हैं। विज्ञान चलता तो है सत्य की खोज में मगर उसे उपलब्ध होती है शक्ति। आपका विज्ञान सत्य की खोज को भावना और विचार लेकर शक्ति अर्जित करता जा रहा है। बराबर शक्तिशाली होता जा रहा है। सच तो यह है कि विज्ञान शक्तिशाली अवश्य है—मगर सत्यशाली नहीं है। सत्य उसको कभी भी प्राप्त नहीं होता। प्राप्त होती है उसे शक्ति। यदि ऐसे व्यक्ति के पास शक्ति आ जाय, जिसने सत्य को प्राप्त नहीं किया है—सत्य की अनुभूति नहीं की है—काफी खतरनाक सिद्ध होता है। क्योंकि वह अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग असत्य के नियोजन में ही करता रहेगा। यही स्थिति आज विज्ञान की है। उसके पास असीम शक्ति है, लेकिन सत्य का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि आज विज्ञान से भयंकर खतरा पैदा हो गया है। अशान्ति पैदा हो गयी है। वह प्रकृति पर बराबर विजय प्राप्त करता जा रहा है। प्रकृति से बराबर संघर्ष करता जा रहा है। बराबर विभुता स्थापित करता जा रहा है।

इस प्रकार विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। परन्तु मनुष्य की तृष्णा अब भी नहीं बुझी। वैज्ञानिकों के विचार डाँवाडोल हो रहे हैं। वे कहाँ जा रहे हैं—उन्हे ज्ञात नहीं। उनका कहना है कि हम अपने आविष्कारोन्मुख प्रतिभा एवं विज्ञान का गर्व करते हुए भी सत्यता के स्वभाव, रूप एवं उसकी प्रगतियों से मौलिक रूप से अनभिज्ञ हैं। हम कहाँ जा रहे हैं, नहीं जानते और न हमें यही ज्ञात है कि हम अनुकूल मार्ग पर हैं। यदि भविष्य में कोई वाञ्छनीय लक्ष्य है भी तो कदाचित् हम उससे बहुत दूर जा पड़े हैं।

यह आश्चर्य किन्तु सत्य है कि प्रति वर्ष मानव-मन प्रकृति की शक्तियों पर

विभुत्व स्थापित करता जा रहा है। पर उसे स्वयं अपने पर ही संयम नहीं है और वह ज्यों-का-त्यों अबौद्धिक और असभ्य पड़ा हुआ है। खैर यह भी सत्य है कि सत्य के नाम पर विज्ञान की शक्ति की खोज ने मानव-समाज को भयंकर कठिनाइयों में डाल दिया है। उसकी अब तक की उपलब्धियों के कारण अपने भीतर के आयामों को खोजने की प्रवृत्ति मनुष्य में बिलकुल मन्द पड़ गयी। परिणाम यह हुआ कि पिछले हजार वर्षों में भगवान् बुद्ध, महावीर, ईसा, क्राइस्ट, मुहम्मद आदि जैसे युगपुरुषों और महापुरुषों को संसार पैदा न कर सका। इसलिए कि युगपुरुष, महापुरुष अथवा अवतारी पुरुष भीतर के आयामों से उत्पन्न हुआ करते हैं। आज तक बाहरी आयामों की खोज हो रही है। भीतर के आयामों की ओर न अब तक किसी का ध्यान गया है और न जा रहा है। जिसके फलस्वरूप पिछले तीन सौ वर्षों के अन्तराल में मनुष्य के बाहरी आयामों की खोज की प्रतिभा ने 'आइन्स्टीन' जैसे लोगों को ही पैदा कर सका। हम यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की प्रज्ञा ने तरह-तरह के आविष्कार किये, तरह-तरह के निर्माण किये, मगर सत्य का आविष्कार और निर्माण न कर सकी। इसलिए सत्य का निर्माण व आविष्कार करने के लिए संसार में न कोई साधन है और न कोई उपाय ही है। सत्य स्वयं निर्मित है। सत्य स्वयम्भू है। सत्य सनातन है। मनुष्य के द्वारा जो भी निर्माण होता है, जो भी आविष्कार होता है वह असत्य ही होता है। इसलिए कि वह निर्मित है।

सत्य की उपलब्धि

मगर मनुष्य ने सोचा कि वह सत्य का भी निर्माण कर सकता है। उसके इस वैचारिक भ्रान्ति ने अनर्थ कर डाला। सच तो यह है कि इसी मानव भ्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे नियम सिद्धान्त बन गये। तमाम शास्त्रों की रचना हो गयी। अनेक धर्म-ग्रन्थों की रचना हो गयी। तरह-तरह के सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वास्तविक सत्य के खोज की मानव-प्रवृत्ति नष्ट हो गयी। आज हम सत्य की खोज के लिए जाते हैं, तो प्रायः कोई-न-कोई नियम या सिद्धान्त लेकर वापस लौट आते हैं। सत्य की खोज करने जाते हैं तो गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल आदि लेकर लौट आते हैं। सत्य को खोजने जाते हैं तो गुरु मिल जाते हैं और हम शिष्य बनकर वापस आ जाते हैं। सोचते हैं, समझते हैं कि हमें सत्य मिल गया। सत्य को उपलब्ध हो गये हैं।

इस समय संसार में तीन सौ धर्म हैं। इनके अलावा न जाने कितने व्यक्तिगत धर्म हैं। मगर इन तमाम धर्मों का कहना है कि 'सत्य' उनके पास है। हिन्दू धर्म का कहना है कि सत्य उसके पास है। इस्लाम धर्म का कहना है कि सत्य को उसने देखा है। क्रिश्चियन धर्म का कहना है कि सत्य की

अनुभूति उसने की है। जैन और बौद्ध धर्म का भी कहना है कि सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया है उसने।

सच बात तो यह है कि इसी के फलस्वरूप एक धर्म दूसरे धर्म से निरन्तर संघर्ष करते चले आ रहे हैं। लड़ते-भिड़ते चले आ रहे हैं। आज तक जितना धर्म के नाम पर संघर्ष हुआ, लड़ाईयाँ हुईं, रक्तपात हुआ, उतना अन्य किसी कारण से नहीं हुआ।

मेरे विचार से जितने भी धर्म हैं और उनके जितने भी शास्त्र और सिद्धान्त हैं—वे सब के सब मनुष्यों को आपस में लड़ाने के सिवाय और कुछ नहीं करते। इसलिए निश्चित रूप से यही कहा जायेगा कि इन सब की गहराई में, इन सबकी जड़ में भयंकर असत्य छिपा बैठा हुआ है।

जहाँ सत्य होगा वहाँ शान्ति होगी—संघर्ष नहीं। जहाँ सत्य होगा वहाँ कलह न होगी—सुलह होगी। जहाँ सत्य होगा वहाँ प्रेम होगा—घृणा न होगी। हम शास्त्रों, सिद्धान्तों, सम्प्रदायों के नियमों में बँधे हैं। गुरुओं के झमेले में फँसे हैं। यदि हमें सत्य को प्राप्त करना है तो इन बन्धनों से अपने आपको मुक्त करना होगा। गुरुओं से भी बचना होगा। सच तो यह है कि हम कल्पनाओं में जीते हैं। इसीलिए हमारा सम्बन्ध सत्य से स्थापित नहीं हो पाता। हम सत्य को देख नहीं पाते। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व 'असत्य' है और साथ ही हम सत्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। हमारा सारा जीवन असत्य पर आधारित है। सारा व्यक्तित्व असत्य पर खड़ा है। सत्य की खोज के लिए अथवा सत्य को पाने के लिए व्यक्तित्व से और जीवन से असत्य को निकाल बाहर कर देना आवश्यक है।

जीवन में, व्यक्तित्व में और व्यवहार में हम जैसा बाहर हैं वैसा भीतर नहीं है और जैसा भीतर है वैसा बाहर नहीं है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखलायी पड़ना चाहता जैसा कि वह है। जो सत्य है, जो वास्तविकता है— उसको व्यक्ति छिपा लेना चाहता है और जो झूठ है, मिथ्या है, असत्य है, उसकी चादर ओढ़ लेना चाहता है। फिर वही व्यक्ति सोचने लगता है कि मैं सत्य को प्राप्त करूँ। वही आदमी, वही व्यक्ति फिर गीता, रामायण का पाठ करता है। कुरान और बाइबिल बाँचता है। फिर वही व्यक्ति भगवान् की मूर्ति के सामने खड़ा होकर हाथ जोड़ता है। भजन गाता है। प्रार्थना करता है। व्रत-उपवास करता है कि उसे सत्य मिल जाये। सत्य के दर्शन हो जायें। वह व्यक्ति यह कभी भी सोचने-समझने की चेष्टा नहीं करता कि अगर वह असत्य है, उसका व्यक्तित्व असत्य पर निर्भर है, उसका जीवन असत्यमय है, तो उसे सत्य का पता कैसे चल सकता है?

सत्य की प्राप्ति के लिए सबसे पहले हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सत्य पर प्रतिष्ठित करना होगा। हमारा व्यक्तित्व जैसा है वैसा ही होना चाहिए।

सीधा, सरल और पूर्ण स्वच्छ। हम जैसे हैं, हम जो भी हैं, व्यक्तित्व की स्वीकृति भी वैसी ही होनी चाहिए।

लेकिन वह स्वीकृति हमारे मन के भीतर कहीं नहीं है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन्हें हम भले आदमी कहते हैं, उनमें वह सरलता, वह सहजता और वह स्वच्छता और भी कम दिखलायी देती है। इसके ठीक विपरीत जिन्हें हम बुरे आदमी समझते हैं, अपराधी कहते हैं, वे सरल हो सकते हैं। लेकिन जिन्हें हम साधु और सज्जन कहते हैं वे तो बिलकुल भी सरल नहीं है। यही मूल कारण है कि सभ्यता और संस्कृति जैसे-जैसे विकसित होती चली गयी वैसे-ही-वैसे मनुष्य असत्य होता चला गया। उसके व्यक्तित्व का निर्माण और उसके जीवन का आधार असत्यमय होता चला गया।

मानव-सभ्यता और संस्कृति का आधार धर्म है। मगर धर्म के नाम पर आज तक जितनी हत्याएँ हुई हैं, न तो डाकुओं ने उतनी हत्याएँ की हैं, न चोरों बदमाशों ने। धर्म के नाम पर जितने मकान, जितने गाँव जलाये गये और जितनी स्त्रियों का अपमान किया गया, उतने सारे आज तक पापियों ने भी मिल कर न की होगी। बड़े आश्चर्य की बात है कि धर्म के नाम पर यह सब होगा, तो अधर्म के लिए कुछ बाकी न रह जायेगा। फिर अधर्म का क्या होगा ? अधर्म के लिए तो कुछ भी नहीं छोड़ा है धार्मिकों ने।

आत्मा

बहुत से ऐसे लोग हैं—जो आत्मा की अमरता का मन्त्र बराबर रटते रहते हैं। मगर इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि उन्हें आत्मा की अमरता का पता है। अगर वास्तव में पता होता, तो उनका जीवन सुगन्ध बन जाता। सत्य बन जाता। वे कुछ और ही होते। मेरी दृष्टि में इस प्रकार अजर-अमर आत्मा का मंत्र रटने वाले लोग पागल हैं। पागल के अलावा और कुछ नहीं। अगर उन्हें मालूम हो गया है कि वे अजर-अमर आत्मा हैं, तो इस तरह रहने की क्या जरूरत हैं। वे किसको सुनाने के लिए रट रहे हैं। ऐसे लोगों को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि बार-बार रटने से आत्मा का पता चल जायेगा। यदि सत्य इतना आसान और सरल होगा कि हम बार-बार किसी बात को दुहरायें और रटें तो संसार के लोग न जाने कभी का सत्य को जान गये होते। रटने से, किसी बात को बार-बार दुहराने से भ्रम पैदा होता है। सत्य की प्राप्ति नहीं होती।

हमें आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं है। यदि हम यह कहते हैं कि 'आत्मा अमर' है तो हम मृत्यु को भुलाने के लिए और मृत्यु को झुठलाने के लिए कहते हैं।

अगर एक पुरुष बैठकर यह बार-बार रटने लगे कि मैं पुरुष हूँ, मैं पुरुष

हूँ, तो इसका क्या तात्पर्य होगा ? क्या मतलब होगा ? यही होगा कि उसे पुरुष होने में सन्देह है। भ्रम है। वरना बार-बार दुहराता नहीं, रटता नहीं। सच बात तो यह है कि हमको जिस बात का सन्देह होता है—वही हम बार-बार दुहराते हैं। जिसे हम जानते और समझते हैं उसे कभी नहीं दुहराते। दुहराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मतलब यह कि हमें न आत्मा का पता है और न उसकी अमरता का ही। यही कारण है कि हम बराबर उसका नाम लेकर रटते रहते हैं कि आत्मा अमर है।

सत्य को समझने के लिए हमें सबसे पहले मृत्यु को जानना होगा और स्वीकार करना होगा उसको। फलस्वरूप मृत्यु के भय से सर्वथा के लिए रहित हो जायेंगे। भयरहित होते ही और यह ज्ञात होते ही कि मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है—उसी समय हम किसी दूसरे ही संसार में अपने आप प्रवेश कर जायेंगे। हमारा उस सत्य से साक्षात्कार हो जायेगा—जिसको जान-समझ लेने पर सब कुछ जान-समझ लिया जाता है। फिर कुछ भी शेष नहीं रहता और हम अमृतत्व को प्राप्त हो जाते हैं और जिसने अमृतत्व को प्राप्त कर लिया उसका जीवन क्रोध, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि से रहित हो जायेगा। न कोई उसका मित्र होगा और न कोई शत्रु। प्रेम और करुणा से भर उठेगा उसका सम्पूर्ण जीवन।

अमृतत्व की उपलब्धि

सन् १९५० ई० !

सावन-भादों का महीना।

कहने की आवश्यकता नहीं मृत्यु को जानने के लिए, मृत्यु को स्वीकार करने के लिए और उस अमृतत्व की व्यापक अनुभूति के लिए मेरी आत्मा लालायित हो उठी और उसी लालसा के वशीभूत होकर मैं गिरिनार के लिए चल पड़ा—स्वामी योगानन्द परमहंस देव की खोज में। सुलोचना ने कहा था कि वे स्वयं मिलेंगे। परेशानी न होगी। मगर मैं लगातार पन्द्रह दिनों से भटक रहा था—फिर भी भेंट नहीं हुई परमहंस देवजी से। एक प्रकार से निराश और हताश हो चुका था मैं। बार-बार वापस लौट जाने की इच्छा हो रही थी मन में। एक जगह थककर बैठ गया मैं।

दिन ढलने लगा था। सारा आकाश काले बादलों से भर गया था और उद्दाम हवा की लय पर पेड़ झुम-झुम पड़ रहे थे। आसमान की ओर देखा। धुनी हुई रूई जैसे काले अंधकार से भर गया था आसमान। चारों तरफ एक अजीब-सा सन्नाटा—एक अबूझ-सी निबिड़ता छा गयी थी।

एक ओर घने जंगलों का सिलसिला था और दूसरी ओर की मीलों तक फैली हुई घाटियाँ, जिसके बाद पहाड़ों की कतारें थीं। चारों ओर निर्जन पहाड़ी और जंगली इलाका था। ऊजड़ मरघट जैसा बीहड़ और धूसर !

निस्तब्धता थी चारों तरफ। बादलों से हटकर काला हो गया था आकाश। गहन निःश्वास जैसी हवा हाहाकार करती झाड़ियों और झुरमुटों को आवाजें दे रही थीं। थोड़ी देर पहले जंगली कीड़ों-मकोड़ों की झीं-झीं-झीं भी सुनायी दे रही थी। किन्तु उस घने अंधकार ने जैसे उस अनवरत क्रन्दन का भी गला घोंट दिया था।

तेज गति से मैं आगे बढ़ता जा रहा था। मन में यही हो रहा था कि पानी अभी न बरसे, अभी न बरसे।

लेकिन बारिश आ ही गयी। पहले टप्-टप् कर बूँदें टपकीं। फिर झर-झर कर बरसने लगा आसमान। उद्दाम हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा बारिश की लय के साथ। लगा जैसे त्राण न मिला तो अकड़ जायेगा सारा शरीर।

दिशाहीन, लक्ष्यहीन काले अँधियारे के बीच दौड़ने लगा मैं। पानी की बौछार तेज हुई और उसी के साथ हुआ हवा का वेग भी। पानी से भींगे हुए जंगली वृक्ष झूमते हुए दोहरे हो रहे थे।

थोड़ी देर बाद लगा कि अब न दौड़ा जायेगा—यही इस अनजाने अरण्य प्रान्त में ही हो जायेगी मेरी जलसमाधि। होश गँवाकर बदहवास-सा अलक्ष्य भागता जा रहा था मैं। एकाएक मूर्च्छा टूटी मेरी। भटक गया था मैं। छाती के भीतर कुछ खाली-खाली-सा प्रतीत हुआ। मुँह से निकल पड़ा—किधर जा रहा हूँ मैं।

बारिश होती रही उसी तरह जोर-शोर से। कड़कड़ा कर बिजली चमकी। उस भयानक रव के क्षण मालूम हुआ। वर्षा का जल वस्त्रों को गीला कर शरीर के भीतर प्रवेश कर गया है। न जाने कब तक श्मशान के प्रेत जैसे भटकता रहा मैं—उस बीहड़ वनप्रदेश में।

अजीब था वह समाँ भी। अँधेरे में आसमान और जमीन मिलकर मानों एकाकार हो गये थे। शीतल अंधकार का अन्तहीन समुद्र और उसके बीच दप्-दप् होने वाली जुगुनुओं की चमक और उस निपट अन्धकार में उद्दाम वासना लिए उठती नये पानी की भीनी-भीनी महक।

याद नहीं। उस अराजकता भरी रात में जोश-होश खोकर मैं कब तक भटकता रहा। मन में एक अजीब-सी अवशता भर गयी थी।

हे भगवान्! अब न दौड़ा जायेगा मुझसे। हठात् मेरे मुँह से निकल पड़ा और दूसरे क्षण अवश चित्त लिये निढाल होकर गिर पड़ा मैं कीचड़ में और दूसरे ही क्षण बेहोश हो गया मैं।

वह युवती कौन थी?

कब तक चेतनाशून्य रहा पता नहीं—मगर जब चेतना वापस लौटी, तो अपने आपको एक गुफा में पड़ा हुआ पाया। मेरे चारों ओर तीन-चार व्यक्ति

खड़े थे। वेष-भूषा साधु-संन्यासियों जैसी थी। उन सभी के चेहरे पर विशेष प्रकार की गम्भीरता थी और वे आपस में कुछ बात भी कर रहे थे गम्भीर स्वर में, जिसे मैं समझ न सका।

बस टुकुर-टुकुर उन लोगों की तरफ ताकता रहा मैं। तभी मैंने देखा— गुफा से एक युवती आयी और मेरे करीब खड़ी हो गयी। बड़ी ही सुन्दर युवती थी वह। अजीब था उसमें आकर्षण। बिलकुल देवकन्या-सा लग रहा था उसका रूप।

युवती हाथ में एक कटोरी लिये हुए थी—जिसमें कोई तरल पदार्थ भरा हुआ था। उसने मेरी ओर देखते हुए धीरे से पूछा—'अब तबीयत कैसी है'?

'ठीक है!'

'लीजिये इसे पी लीजिये'—कटोरी को मेरी ओर बढ़ाते हुए युवती ने कहा।

मैंने कटोरी थाम ली हाथ बढ़ाकर और फिर पी गया उस तरल पदार्थ को। अजीब-सा स्वाद था। मगर पीते ही सारा शरीर एकबारगी झनझना उठा। मन और प्राण भी उसी के साथ पुलकित हो उठा।

'मैं कहाँ हूँ? कौन-सी जगह है यह?'

'आप जिस गुफा की खोज में इस अँधेरी बरसाती रात में भटक रहे थे— यह वही गुफा है।'

ए······आश्चर्यचकित होकर बोला मैं—'क्या यह स्वामी योगानन्द परमहंसदेव की गुफा है?'

'जी हाँ! युवती ने किंचित् मुस्कराकर जवाब दिया। मगर मैं यहाँ पहुँचा कैसे? कौन लाया मुझको यहाँ?'

'आप चेतना-शून्य पड़े थे कीचड़ में। गुरुदेव ने देखा। फिर उनकी आज्ञा से हम सब ले आयें आपको यहाँ।'

'आप कौन हैं?'

'साधिका हूँ। पिछले सौ वर्षों से साधना कर रही हूँ मैं गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर।'

'पिछले सौ वर्षों से···?'

'हाँ! इतना समय होगा। इससे कम नहीं।'

'मगर आप इतनी आयु की दीखती नहीं। लगता है बस यही होंगी आप लगभग बीस-पच्चीस वर्ष की।'

युवती मेरी बात सुनकर हँस पड़ी। फिर बोली—'आत्मसत्ता में अवस्थित हो जाने पर गतिमान काल का प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। आयु बढ़ती जाती है मगर शरीर युवा बना रहता है बराबर'।

'क्या नाम है आपका?'

'ज्योत्स्ना।'

नाम सुनकर युवती की ओर देखा—सचमुच वह ज्योत्स्ना ही थी। शरद् पूर्णिमा के चाँद की ज्योत्स्ना।

स्वामी योगानन्द परमहंसदेव

गुफा काफी लम्बी-चौड़ी थी। थोड़ा आगे बढ़ने पर गुफा के दोनों ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई थीं—जिसमें साधक लोग साधना करते थे।

मुझे साथ लेकर ज्योत्स्ना धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। थोड़ी देर चलने के बाद मुझे एक स्थान पर प्रकाश दिखलायी पड़ा। बिलकुल शुभ्र प्रकाश था वह। शान्त नीरव वातावरण में अनिर्वचनीय सुगन्ध फैल रही थी। प्रकाश कहाँ से आ रहा था और वह सुगन्ध कैसी थी?—समझ न पाया मैं। तभी कुछ स्मरण हो आया मुझे। कभी किसी योग की पुस्तक में पढ़ा था कि योगी जब देहातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो उसके शरीर से दिव्य गन्ध का उदय होता है। भगवान् बुद्धदेव के शरीर में से भी दिव्य गन्ध बराबर निकलती रहती थी। वे जिस कुटी में रहते थे—वह गन्धकुटी के नाम से प्रसिद्ध थी। भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर से भी तरह-तरह की सुगन्धि निकला करती थी। राधा 'पद्मिनी' थी—इसलिए उसके शरीर से भी कमल की गन्ध निकला करती थी। महाप्रभु चैतन्यदेव का भी शरीर दिव्य गन्धमय था। तांत्रिक देवी भगवती त्रिपुरसुन्दरी को तो दिव्यगन्धाढचा के नाम से ही सम्बोधित किया गया है। पाश्चात्य सन्त टेरेसा की देह से भी भिन्न-भिन्न प्रकार की सुगन्ध निकला करती थी। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी उनकी देह से गन्ध निकलती रही।

कहीं गुफा में फैलने वाली यह सुगन्ध स्वामी योगानन्द परमहंसदेव के शरीर से तो नहीं प्रस्फुटित हो रही है?

मेरा अनुमान सत्य था। ज्योत्स्ना ने ही समाधान किया—परमहंसदेव का शरीर गन्धमय है। यह गन्ध उन्हीं की देह से निकलने वाली गन्ध है।

'मगर यह प्रकाश···?'

योगशास्त्र के इस सूत्र के अर्थ को जानते हो—'इच्छा भोग प्रभो सृष्टि'—ज्योत्स्ना ने प्रश्न किया।

'हाँ जानता हूँ इस सूत्र का अर्थ। योगी की इच्छामात्र से सृष्टि सम्भव है।'

'बस, समझ लीजिये परमहंसदेव की इच्छा-शक्ति ही इस प्रकार का कारण अथवा मूल-स्रोत है। उनकी इच्छा-शक्ति से यह शुभ्र प्रकाश फैल रहा है।'

अब हम लोग गुफा के प्रांगण में आ गये थे। वहाँ प्रकाश और अधिक था। सुगन्ध भी अधिक थी। कई साधक-साधिकाएँ बैठी हुई थीं वहाँ। सभी लोग दीर्घ समाधि की स्थिति में थे। सभी का मुखमण्डल दिव्य तेजोमय था। अनिर्वचनीय शान्ति बिखरी हुई थी उस शान्तिमय निस्तब्ध वातारण में।

प्रांगण के एक ओर बड़ा-सा गर्भगृह था। ज्योत्स्ना मुझे उस गर्भगृह में ले गयी। देखा—सामने व्याघ्रचर्म पर अर्ध-समाधि की स्थिति में एक महात्मा पद्मासन लगाये बैठे हुए थे। उनका शरीर देखने में बीस वर्ष के युवक जैसा था। मगर सिर की जटाएँ भूमि पर बिखरी हुई थीं। इसी से उनकी वास्तविक अवस्था का परिचय मिलता था।

गौर वर्ण, पतली नुकीली नाक, बड़े-बड़े कान, गुलाब के फूलों की तरह कोमल रक्ताभ होठ, अर्धमिलित बड़े-बड़े नेत्रों में लहराता हुआ करुणा और प्रेम का अथाह सागर और दिव्य आभा से दप्-दप् करता हुआ तेजोमय मुखमण्डल !

वह महात्मा और कोई नहीं स्वामी योगानन्द परमहंसदेव थे। जिज्ञासा, आश्चर्य और कौतूहल के मिले-जुले भाव से न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं उस दिव्य महापुरुष की ओर——उस परम योगी की ओर और उस कालञ्जयी साधक की ओर।

उस परम और उच्चकोटि के पीछे आयु-सम्पन्न मानवेतर शक्ति-सम्पन्न और कालञ्जयी महात्मा के सान्निध्य में मन का कलुष धीरे-धीरे घुलता जा रहा था। आत्मा का अन्धकार भी दूर होता जा रहा था अपने-आप। आत्मा की, मन की और तन की सुधि न रही। समय का भी ज्ञान न रहा मुझे।

योगविज्ञान

प्रथम दर्शन के अवसर पर योगसाधना से सम्बन्धित जिन विषयों पर परमहंसदेव से चर्चाएँ हुईं——निश्चय ही उसे साधारण कोटि के लोग समझ न सकेंगे। लेकिन फिर भी मैं यहाँ सरल भाषा और सरल शब्दों में उसे लिपिबद्ध करने का प्रयास करूँगा।

योग और विज्ञान के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करने पर परमहंसदेव ने बतलाया कि प्रकृष्ट विज्ञान—यानि दोष रहित विज्ञान——अभी तक संसार में विशेष रूप से प्रकट नहीं हो सका है। विशिष्ट ज्ञान को ही विज्ञान कहा जा सकता है। कर्म और ज्ञान दोनों का अस्तित्व और दोनों की सत्ता अलग-अलग है। मगर दोनों को एक-दूसरे में आयत्त किये बिना विज्ञान को न समझा जा सकता है और न तो उसमें अधिकार ही प्राप्त किया जा सकता है। मगर संसार में जहाँ ज्ञान है वहाँ कर्म नहीं है और जहाँ कर्म हैं वहाँ ज्ञान की सत्ता दुर्लभ है। ज्ञान और कर्म की एक साथ सत्ता अत्यन्त दुर्लभ है। दोनों का संयोग मानो बाध-बकरी की मैत्री है। यही कारण है कि आकृष्ट अथवा विशिष्ट विज्ञान इतना कठिन है।

मेरे यह पूछने पर कि योग और विज्ञान दोनों एक ही विद्या है——तो परमहंसदेव ने बतलाया कि नहीं। दोनों में भेद है। अन्तर है। योगबल से भी

योगी सृष्टि कर सकता है और विज्ञान-बल से भी। मगर फिर भी दोनों में भेद है। यह भी नहीं बतलाया जा सकता कि कौन छोटा है और कौन बड़ा।

''आपकी दृष्टि में 'योग' क्या है ?''

'इच्छाशक्ति का पूर्ण विकास ही योग है।'

लेकिन ज्ञान के बिना इच्छाशक्ति का विकास नहीं हो सकता। ज्ञान से ही विज्ञान की उपलब्धि होती है। अज्ञानी के पास न योग रहता है और न विज्ञान ही रहता है।

संसार में जिस विज्ञान की उन्नति इस समय हो रही है--उसके मूल में अज्ञान है। जब तक यह अज्ञान नहीं हटेगा--तब तक क्रिया की शक्ति सीमा-बद्ध न रहे--वह नहीं हो सकता।

दोनों हाथों को जोड़ कर, सिर झुका मैंने कहा — मुझे योग के सम्बन्ध में कुछ बतलाने की कृपा करें।

परमहंसदेव बोले--तुम्हारे शास्त्र योग के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? संकोच भरे स्वर में मैंने कहा--इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें हैं। प्रायः चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग मानते हैं। किसी-किसी स्थान पर जीवात्मा, परमात्मा के संयोग को भी योग माना गया है। लेकिन आपके विचार में योगी कौन है ?

'देखो मूल वस्तु एक मात्र महाशक्ति है। उसके साथ जिसका नित्य और स्थायी योग है--उसी को मैं योगी समझता हूँ। जीवात्मा के उस महाशक्ति के साथ युक्त होने पर उसमें अनन्त शक्तियों का स्वयं आविर्भाव हो जाता है। वे अनन्त शक्तियाँ ही योगी की सिद्धियाँ और योगी का योगैश्वर्य है'।

'आपका महाशक्ति से क्या तात्पर्य है ?'

परमात्मा ! परमात्मा ही महाशक्ति है। मगर इसके गूढ़ रहस्य से बहुत कम लोग परिचित हैं। प्रायः लोग परमात्मा अथवा परमेश्वर को व्यक्ति मानकर चलते हैं। परमेश्वर व्यक्ति नहीं शक्ति है। उसे व्यक्ति के रूप में स्वीकार करने के कारण ही परमात्मतत्त्व को लोग समझ नहीं सके। परमात्मा के सम्बन्ध में लोग वैसे ही सोचते हैं--जैसे व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचते हैं। कहते हैं — परमात्मा बड़ा दयालु है। कृपालु है। सदा कल्याण ही करता है। वास्तविकता तो यह है कि ये लोगों की आकांक्षाएँ हैं — जिन्हें वे परमेश्वर पर आरोपित करते हैं। यदि आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हुई, तो उसका उत्तरदायित्व वे परमेश्वर पर डाल देते हैं। हमारी संस्कृति में यह परम्परा काफी पुरानी है। शक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकार करने के फलस्वरूप ही हम परमेश्वर से दूर होते चले गये। यदि हमने उसे व्यक्ति नहीं शक्ति के रूप में स्वीकार किया होता, तो उसका परिणाम ही कुछ दूसरा हुआ होता। परमात्मा हमारे

बिलकुल निकट होता और हम भी उसके अस्तित्व का अनुभव अपने निकट करते ।

शक्ति न निरपेक्ष है और न सापेक्ष है। वह किसी व्यक्तिगत नियम अथवा सिद्धान्त में बँधकर हमारे साथ व्यवहार नहीं करती। उसका अपना शाश्वत नियम है। शक्ति के उसी शाश्वत नियम का नाम धर्म है और धर्म का अर्थ है शक्ति के व्यवहार का शाश्वत नियम अथवा सिद्धान्त।

यदि धर्म को अथवा शक्ति के शाश्वत नियम को अपना कर विवेकपूर्ण कार्य करते हैं तो वह शक्ति हमारे लिए कृपा, दया, करुणा और अनुकम्पा बन जाती है और वह भी उसकी ओर से नहीं, स्वयं हमारे ही कारण। यदि हम उसके विपरीत आचरण और व्यवहार करते हैं तो वही शक्ति हमारे लिए पीड़ा, कष्ट, व्यथा और दुःख बन जायेगी और वह भी अपनी ओर से नहीं—स्वयं हमारे ही कारण।

परमात्मा की, परमेश्वर की अथवा भगवान् की पूजा का प्रचलन इसीलिए हुआ कि हमने उसे शक्ति नहीं व्यक्ति मानकर स्वीकार किया। शक्ति के लिए न प्रार्थना की आवश्यकता है और न तो पूजा का कोई अर्थ है। उसके साथ अपेक्षाओं का भी कोई अर्थ नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि परमात्मा या शक्ति हमारे लिए कृपा, अनुकम्पा और दया बन जाये तो आपको इसके लिए जो कुछ भी करना है—उसे स्वयं अपने साथ करना होगा। इसी को 'साधना' कहते हैं।

यही साधना वास्तव में धर्म-साधना है। परमेश्वर की साधना है। महा-शक्ति की साधना है। मतलब यह कि साधना का अर्थ है—मगर प्रार्थना का कोई भी अर्थ नहीं है। इसी प्रकार ध्यान का तो अर्थ है—लेकिन पूजा का कोई अर्थ नहीं है।

'क्या इनके अन्तर पर प्रकाश डालेंगे ?'

प्रार्थना का तात्पर्य है परमात्मा के प्रति अपेक्षा रखकर कुछ करना—आग्रह करना, निवेदन करना, कुछ माँगना।

ध्यान का तात्पर्य है स्वयं अपने साथ कुछ करना। ध्यान में अपने साथ हम कुछ कर रहे होते हैं। पूजा में हम परमात्मा से कुछ कह रहे होते हैं। यही भेद अथवा अन्तर है।

साधना का अर्थ है—अपने को ऐसा बना लेना कि धर्म के प्रतिकूल न रह जायें हम कहीं।

परमात्मा को व्यक्ति के रूप में स्वीकार करने पर हमें एक सुविधा यह प्राप्त होती है कि हम अपनी सारी जिम्मेदारी और अपना उत्तरदायित्व उस पर डाल देते हैं। लेकिन एक साधक ऐसा नहीं करता। वह अपनी सारी जिम्मेदारी और उत्तरदायित्व अपने पर ले लेता है। वह किसी बात के लिए

न ईश्वर को दोष देता है और न तो उसे जिम्मेदार ही ठहराता है। दुःख है तो अपना है। सुख है तो अपना है। शान्ति है तो अपनी है। अशान्ति है तो भी अपनी है। उसमें किसी का दोष नहीं, किसी की जिम्मेदारी नहीं। उसकी अपनी दृष्टि में शक्ति की रुचि स्वयं अपने नियम और सिद्धान्त में होती है। व्यक्ति की रुचि विशेष बन जाती है। व्यक्ति पक्षपाती हो सकता है, लेकिन शक्ति सदैव निष्पक्ष है। निष्पक्षता ही उसकी रुचि है। उसके शाश्वत नियम के अन्तर्गत जो है वही होगा। जो नियम में नहीं होगा, वह कदापि नहीं होगा। परमात्मा की ओर से कोई चमत्कार नहीं हो सकता।

० ० ०

गुफा में और परमहंसदेव के सान्निध्य में मैं कितने दिनों रहा। इसका पता न चल पाया मुझे। कब दिन होता था और कब रात हो जाती थी—इसका भी ज्ञान न हो पाया मुझे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि न मुझे भूख-प्यास लगती थी और न नींद ही आती थी। नित्य-क्रिया की भी जरूरत नहीं पड़ती थी। शरीर हमेशा स्फूर्तिमय बना रहता था। मन भी सदैव प्रफुल्ल रहता था।

पूर्व जन्म का संस्कार जाग्रत् होने पर और उसके साथ महाशक्ति को अहेतु की कृपा का संयोग होने पर मनुष्य की रुचि योग में हुआ करती है। मनुष्य का आध्यात्मिक आकर्षण के मूल में भी महाशक्ति का अनुग्रह समझना चाहिए। काश·····थोड़ा रुककर आगे कहने लगे—तुम्हारे चित्त में भी जो आध्यात्मिक चेतना जाग्रत् हुई है, योग और तंत्र के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न हुआ है, उसका कारण अतिशय महत्त्व का है। उसके मूल में पूर्व जन्म का संस्कार और महाशक्ति का अनुग्रह ही समझना चाहिए।

मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता बाबा। मैं यह भी नहीं जानता कि कौन से संस्कार के वशीभूत होकर मैं चल पड़ा हूँ—इस सुनसान मार्ग पर एकाकी। मेरे जीवन में इतनी अविश्वसनीय घटनाएँ क्यों घटीं? इतने रहस्यमय और गुप्त रूप से रहने और विचरण करने वाले योगियों, साधकों और साधिकाओं से मेरा सम्पर्क क्यों हुआ? यह नहीं जानता मैं। और यह भी नहीं जानता कि सूक्ष्म शरीरधारी उच्च कोटि की आत्माएँ मेरी ओर क्यों आकर्षित होती हैं। मुझसे क्यों स्वयं सम्बन्ध स्थापित करती हैं? इनका और ऐसे ही और प्रश्नों का कोई उत्तर मेरे पास नहीं है। कोई समाधान नहीं है। समझ में नहीं आता मुझे कुछ बाबा।

इतना कहकर मैंने बाबा की ओर देखा—मगर यह क्या—बाबा का शरीर मेरे सामने था अवश्य—पर बाबा न थे उस शरीर में। वे समाधि में लीन हो चुके थे।

दूसरे क्षण मैंने देखा—बाबा का पार्थिव शरीर एक शुभ्र प्रकाश से भरता

जा रहा था—और धीरे-धीरे जमीन से ऊपर भी उठता जा रहा था। दस-पन्द्रह मिनट के बाद बाबा का शरीर लगभग तीन-चार फुट ऊपर उठ चुका था। उस अविश्वसनीय और चमत्कारपूर्ण दृश्य को देखकर रोमाञ्च हो आया मुझे एकबारगी। निश्चय ही बाबा को आसन-उत्थान की सिद्धि प्राप्त थी। लगातार चालीस घंटे तक परमहंसदेव उसी स्थिति और उसी अवस्था में रहे और मैं भी बराबर बैठा रहा चालीस घंटे तक उनके समीप। उसके बाद मुझे ऐसा लगा कि वहाँ उस वातावरण में तरह-तरह की सूक्ष्म शरीरधारी योगात्माएँ धीरे-धीरे प्रवेश कर रही हैं। वे योगात्माएँ कौन थीं और कहाँ से आ रही थीं ? यह समझ न सका मैं। मगर उनके अस्तित्व की अनुभूति बराबर होती रही मुझे।

थोड़ी देर बाद मैंने देखा—वे सभी योगात्माओं की सूक्ष्म काया, स्थूल देह के रूप में परिवर्तित होने लगी थीं। लेकिन उनके शरीर पार्थिव होते हुए भी असाधारण रूप से चमकीले और प्रकाश युक्त थे। समझते देर न लगी मुझे। योगियों का वह शरीर भौतिक अणु-परमाणुओं से संघटित होते हुए भी अलौकिक थे। निश्चय ही वह बैन्दव शरीरधारी अथवा योगशरीर-प्राप्त उच्च-कोटि के योगीगण थे।

कभी किसी योगग्रन्थ में पढ़ा था कि योगी जब भौतिक शरीर, भौतिक विचार और जीवात्मभाव से हमेशा के लिए मुक्त हो जाते हैं, तो उसे कभी किसी अवस्था में भी भौतिक शरीर उपलब्ध नहीं हो पाता। लेकिन कालान्तर में कभी किसी विशेष कार्यवश भौतिक जगत् में अवतरित होने की आवश्यकता योगी को हुई, तो वह अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के द्वारा अणु-परमाणुओं का संघटन कर कुछ समय के लिए भौतिक शरीर का निर्माण कर लेता है। वह शरीर गर्भजनित अथवा कामजनित न होने के कारण बैन्दव शरीर कहलाता है। योगकाया भी उसी को कहते हैं।

मुक्ति तीन प्रकार की होती है—मुक्ति, सायुज्य मुक्ति और परम मुक्ति। दूसरे शब्दों में इन्हीं को भव, विभव और पराभव अवस्था कहते हैं। शरीर से मुक्त होने को मन-अवस्था, मनःविचार और इच्छाओं से मुक्त होने को विभव अवस्था और इसी प्रकार जीवभाव से मुक्त होने को पराभव अवस्था कहते हैं। तांत्रिक लोग इन तीनों अवस्थाओं को पशुभाव, वीरभाव और दिव्य-भाव कहते हैं। पशुभाव का मतलब है अविचार की स्थिति में जीना, वीर-भाव का मतलब है 'विचार' युक्त जीवन में जीना और दिव्यभाव का मतलब है निर्विकार यानि समाधि में जीना।

इन तीनों प्रकार की युक्तियों, भावों अथवा अवस्थाओं को पार कर लेने के बाद तीन और अवस्था है—निर्वाण, परम पद और परम गति।

थोड़ी देर बाद परमहंसदेव की समाधि भंग हुई। धीरे-धीरे उनके नेत्र

बन्द कुमुदिनी की तरह खुले और फिर सिर घुमाकर उन्होंने बैठे हुए योगियों की ओर देखा। उसके बाद गहरी दृष्टि से मेरी ओर अपलक देखने लगे।

परमहंसदेव की उस दृष्टि में न जाने क्या था कि रोमाञ्चित हो उठा मेरा सारा शरीर ! उसी के साथ ऐसा लगा मानो मेरे सारे शरीर में बिजली की तीव्र लहरें एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ गयी हैं और उन लहरों में मेरा मन और मेरी आत्मा एकबारगी धीरे-धीरे डूबती जा रही हैं।

अद्भुत चमत्कार

उसी अवस्था में और उसी स्थिति में मेरे सामने एक अति अविश्वसनीय चमत्कार घट गया। न जाने कहाँ से, किधर से शिवारूढ़ चतुर्भुजा काली की एक छवि और उसी के साथ मृगचर्म का एक आसन मेरी गोद में आ गया और उन दोनों वस्तुओं का स्पर्श शरीर से होते ही मेरी बाह्य चेतना एकबारगी लुप्त हो गयी। मगर उसके बाद—अन्तश्चेतना की स्थिति में मैंने जो कुछ देखा-सुना—उससे आश्चर्यचकित हो उठा मैं। देखा—उन योगियों ने मेरे चेतना-शून्य शरीर को उठाकर गुफा के बाहर ले आये—और फिर आपस में उन लोगों ने कुछ विचार-विमर्श किया—जिसे मैं समझ न सका। उसके बाद मेरे शरीर को पहले की तरह उठाकर काफी दूर जंगल में छोड़ आये। न जाने कब मेरी चेतना जाग्रत् हुई। शरीर में अपने अस्तित्व का अनुभव होने पर सबसे पहले मेरी नजर अपने गले पर पड़ी। हे भगवान् ! स्फटिक और रुद्राक्ष की माला कैसे आ गयी मेरे कण्ठ में। घोर आश्चर्य हुआ मुझे उन मालाओं को अपने गले में झूलती हुई देखकर। फिर मेरा ध्यान गया निकट पड़े हुए काली के चित्र और मृगचर्म के आसन की ओर ! स्तब्ध रह गया मैं। सोचने लगा—कैसी हैं ये मालाएँ ? कौन डाल गया मेरे गले में इन्हें ? काली का चित्र और मृगचर्म का आसन क्यों दिया गया मुझे ? इन सब वस्तुओं के पीछे किसका क्या उद्देश्य है··· ।

गिरिनार से लौटने के एक मास बाद—एक रात स्वप्न में परमहंसदेव को देखा मैंने। वे मेरे सामने खड़े मुस्करा रहे थे मन्द-मन्द। उनकी बड़ी-बड़ी गहरी आँखें मुझ पर टिकी हुई थीं। ऐसा लगा मानो वे आँखें अपनी मूक भाषा में मुझसे कुछ कह रही हैं, कुछ बोल रही हैं, जिसे मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। सुना था—और कहीं पढ़ा भी था कि योगी अपनी वाणी का उपयोग बहुत कम करते हैं। जिस पर उनकी कृपा हो जाती है और जिसे कृपा कर कुछ देना चाहते हैं—उसके सम्बन्ध में अपने नेत्रों की भाषा में ही सब कुछ बतला देते हैं और समझा देते हैं। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्' इस योगसूत्र का शायद यही तात्पर्य होगा। शायद यही अर्थ भी होगा।

परमहंसदेव शायद अपनी करुणामयी, दयामयी, आँखों की मूक भाषा में मुझसे यही कह रहे थे—माला मैंने दी है। आसन और चित्र भी मैंने दिया है।

देश-काल और स्थिति के अनुसार योग के अनेक आयाम विकसित हुए, जिनमें प्रमुख हैं—हठयोग, राजयोग, लययोग, नादयोग, मंत्रयोग, स्तरयोग, कुण्डलिनीयोग आदि। योगविद्या ही एक ऐसी सार्वभौम विद्या रही है, जिसने बौद्ध-साधना, इस्लाम-साधना, सूफी-साधना, क्रिश्चियन-साधना आदि के रूपों में समूची धरती की यात्रा की। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये, तो योग के जितने भी आयाम विकसित हुए—उनमें कुण्डलिनीयोग ही एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। कुण्डलिनीयोग वास्तव में स्थूलशरीर से लेकर आत्मशरीर तक के विकास की साधना है। उन शरीरों में विद्यमान अन्तश्चेतना की जागृति और उनके क्रम-विकास की साधना है। कुण्डलिनी की साधना-यात्रा स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म का भी अतिक्रमण कर हमें परम सत्य तक पहुँचाती है। मन-प्राण और आत्मा के चरम-विकास कुण्डलिनी-साधना द्वारा ही सम्भव है। इतना ही नहीं—इसके साथ ही वह हमारे आन्तरिक और बाह्य दोनों व्यक्तित्वों को भी विकसित करती है। उच्च कोटि के योगियों का कहना है कि कुण्डलिनी ही एकमात्र ऐसी साधना है, जिसके द्वारा वैज्ञानिक ढंग से व्यक्ति का आन्तरिक जागरण और आन्तरिक रूपान्तरण सम्भव है। इसीलिये कुण्डलिनीयोग को सिद्धयोग और महायोग भी कहा जाता है। कुण्डलिनी-साधना की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटना है—अस्तित्वगत रूपान्तरण यानी एग्जिस्टेंसियल ट्रांसफार्मेशन।

हमारे भीतर आत्मा है—मगर वह खोयी हुई है, कुण्डलिनी-साधना के अन्तर्गत ध्यानयोग से वह जाग्रत् होती है और समाधियोग से विकसित होती है। आत्म-जागरण और आत्म-विकास का परिणाम है परम आनन्द, परम शान्ति और चरम प्रेम की जीवन में उपलब्धि ! फिर उस जाग्रत् चैतन्य और पूर्ण विकसित आत्मा से सुगन्ध और प्रकाश फैलता है—मुक्ति का, अनुग्रह का और आत्मकाम का और तब व्यक्ति खो जाता है—जीवन के अन्तहीन अनन्त रहस्यमय अस्तित्व के सागर में। एक रस हो जाता है जीवन के स्रोत में। उसके जीवन की सारी सीमाएँ टूट जाती हैं। द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और तमाम पीड़ाएँ समाहित और शान्त हो जाती हैं—उस परम सत्य की उपलब्धि में।

मगर इस परम उपलब्धि के लिए हमें स्वयं अपने भीतर की यात्रा करनी होगी। श्रम-परिश्रम करना होगा—स्वयं अपने अस्तित्व के साथ। साधना करनी होगी—स्वयं अपनी ही वृत्तियों और आन्तरिक स्थितियों के साथ। जगाना होगा अपने ही भीतर खोयी हुई शक्तियों को।

कुण्डलिनी-साधना की यात्रा लम्बी अवश्य है और यह भी सत्य है कि यह यात्रा एक जन्म में नहीं—कई जन्मों में जाकर पूरी होती है, मगर मुमुक्षु

साधक के लिए और धैर्यवान् व्यक्ति के लिए जरा-सी भी लम्बी नहीं है यह यात्रा। बस साधना में छलांग लगाना है। फिर तो परमात्मा की शक्ति ही सारे रूपान्तरणों को सम्पन्न करती चली जाती है। अन्त में एक दिन फिर ऐसा आता है कि बिना कुछ प्रयास किये, बिना संघर्ष किये और बिना अहंकार और कर्ता के—परम सत्य स्वयं अपने आप प्रकट हो जाता है।

आत्मा एक तत्त्व है

आत्मा—एक तत्त्व है और उस तत्त्व की शक्ति कुण्डलिनी है, इसीलिए कुण्डलिनी को आत्मशक्ति भी कहा जाता है। अनिश्चय के अध्यात्मवादी इस आत्मशक्ति अथवा कुण्डलिनी को सर्पेष्टा फायर कहते हैं। उनकी दृष्टि में कुण्डलिनी विश्वव्यापी एक प्रचण्ड विद्युत् शक्ति (Cosmic Electricity) है, जिसकी गति प्रकाश की गति की अपेक्षा अधिक तीव्र है—Light Travels at the rate of 185000 Miles a Second, Kundalini at 345000 Miles a Second. प्रकाश की गति प्रति सेकेण्ड १८५००० मील है। मगर कुण्डलिनी शक्ति की गति प्रति सेकेण्ड ३४५०० मील है। इसका ऋणात्मक भाग पुरुष में और धनात्मक भाग स्त्री में है। ध्यानयोग के चरम विकास की स्थिति में—काम की विशेष यौगिक क्रियाओं द्वारा पुरुष की सहायता से स्त्री की और स्त्री के सहयोग से पुरुष की कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। अतः कुण्डलिनी के जागरण के लिए मुख्य रूप से सर्वप्रथम दो वस्तुएँ हैं; पहला है—काम और दूसरा है—ध्यान।

कुण्डलिनी-साधना के मुख्य चार अंग हैं—आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि। इन चारों अंगों का सम्बन्ध—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, मनः-शरीर और आत्म-शरीर से समझना चाहिए।

आसनों के अभ्यास से स्थूलशरीर का विकास होता है। प्राणायाम के द्वारा सूक्ष्मशरीर का विकास और उनकी अनुभूति होती है। ध्यान की सहायता से हम अपने मनःशरीर का विकास करते हैं और उसका अनुभव प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार समाधि की अवस्था में हमारा आत्मशरीर विकसित होता है। उसमें आत्मा प्रवेश करती है और उस शरीर का अनुभव हमें प्राप्त होता है। मगर दुःख इस बात का है कि हमारे देश में इन चारों महत्त्वपूर्ण अंग से बहुत ही कम लोग परिचित हैं। इनके विकास और अभ्यास की भी जनसाधारण के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। यह हम स्वीकार करते हैं कि योग के कई महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण केन्द्र खुले हैं—लेकिन उनका निर्देशन और व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है। यही कारण है कि हमारे देश में योगाभ्यासियों की संख्या नगण्य है। जबकि पश्चिम के लोग योग की ओर बराबर आकर्षित हो रहे हैं। केवल पश्चिम जर्मनी में ही २०० योगाभ्यास केन्द्र स्थापित हैं, जिनमें

लगभग एक लाख से भी अधिक स्त्री-पुरुष योग का समुचित प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

पश्चिमी बर्लिन में तो एक अन्तर्राष्ट्रीय साधना विश्वविद्यालय तक स्थापित हो गया है, जिसके प्रधान एक भारतीय योगी हैं—जो हमारे परम मित्र हैं।

भौतिकवाद से परेशान विदेशी लोग आज मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए योग में अधिक से अधिक रुचि लेने लगे हैं और हम हैं कि योगविद्या की जननी इस पावन धरती पर जन्म लेकर भी इससे दूर हैं और बड़ी तेजी से उसी भौतिकवाद की ओर भाग रहे हैं, जिससे पश्चिम के लोग तंग आ गये हैं और भारत के योगियों की शरण में आने के लिए व्याकुल हैं।

हमारे देश में वास्तविक और सच्चे योगियों का बिलकुल अभाव है। जो लोग सही अर्थों में योगी हैं भी तो वे विदेशों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। क्योंकि वहाँ उनकी साधना का उचित सम्मान होता है, जबकि हमारे देश में ढोंगी साधकों के बाहुल्य के कारण सिद्ध योगियों को उचित सम्मान मिलना तो दूर उल्टे उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है—जिसके फलस्वरूप कभी-उन्हें अपमान तक सहना पड़ता है। अतः या तो वे पर्वतीय क्षेत्रों में अज्ञात-वास के लिए चले जाते हैं या फिर विदेश-यात्रा पर निकल पड़ते हैं। वहाँ लोग भारतीय योगियों के लिए पलकें बिछाये रहते हैं।

हमारा तात्पर्य यह है कि अपने देश का नैतिक और सामाजिक पतन देखकर आज प्रत्येक चिन्तनशील, विवेकशील भारतीय को अतीव मानसिक कष्ट हो रहा है कि क्या बनेगा हमारे इस भारत वर्ष का !

भौतिक समस्याओं और आवश्यकताओं के जाल में हम इतने फँस गये हैं और बराबर फँसते जा रहे हैं कि अपनी जीवन यात्रा के व वास्तविक लक्ष्य को ही भूल बैठे हैं। परिणामतः नाना प्रकार के रोग और विशेष कर मानसिक रोग बढ़ते जा रहे हैं। आयु घटती जा रही है। शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का ह्रास होता जा रहा है। पश्चिम के लोग हमारी आध्यात्मिक थाती को हमसे छीन लेना चाहते हैं और हम हैं कि भौतिकवाद की ओर भागे जा रहें हैं—जिससे उबरने के लिए वे बेचैन हैं।

हमारे पास नित्य दर्जनों पत्र आते हैं पाठकों के। जिन्हें पढ़कर हमें घोर कष्ट होता है। हम घंटों सोच में डूबे रहते हैं। घोर अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए भारतीय जन-मानस की झलक मिलती हैं हमें उन पत्रों में। उनके तर्कों, उनके भ्रमों और उनके विचारों व जिज्ञासाओं में हमें भारतीय बौद्धिक-वाद का ह्रास बिलकुल स्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

पश्चिम जर्मनी से मेरे एक मित्र भारत आये हैं। पिछले दिनों मुझसे मिले थे। उन्होंने बतलाया कि जर्मनी में जो योगसाधना केन्द्र खुले हैं और

जिस आध्यात्मिक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है--वह प्रशासन द्वारा संचालित नहीं है। समाज के घटकों द्वारा ही--जो भौतिक परेशानियों के कारण रात में सो नहीं पाते थे--उनके द्वारा योगसाधना का इतना व्यापक काम हो रहा है।

हमारे देश के लोग ऐसे हैं कि हर काम के लिए शासन की ओर देखते हैं, जबकि शासन इन कामों से अपने को अलग रखना चाहता है। योगसाधना किसी वर्ग, किसी सम्प्रदाय और किसी धर्म के बन्धन में नहीं है। उसका मार्ग सभी के लिए खुला है। हर धर्म, हर मजहब, हर वर्ण और हर सम्प्रदाय के लोग उसके मार्ग पर चल सकते हैं। जो चाहे वह योग को अपना सकता है। बर्लिन में ईसाई, मुसलमान, हिन्दू सभी सम्मिलित रूप से योगसाधना में भाग लेते हैं। मगर इस दिशा में पहल अब समाज और देश की चिन्ता करने वालों को ही करनी होगी, नहीं तो भारत घोर रसातल में चला जायेगा। समाज की मर्यादाएँ टूट जायेंगी। चरित्र नाम की कोई वस्तु अपने इस अतीत काल के जगद्गुरु भारत में न रह जायेगी।

योगी और सत्य

सोलह वर्ष की अल्पावस्था से मैं योग के क्षेत्र में हूँ। जीवन के इस दीर्घ अन्तराल में ऐसे वर्ग के योगियों से मेरा सम्पर्क रहा है और आज भी है, जो वेश-भूषा, रहन-सहन से अपने को, अपने व्यक्तित्व को और अपनी साधना को कभी प्रकट होने नहीं देते। अपने हिमालय और तिब्बत के प्रवास काल में ऐसे योगियों के सान्निध्य में आया—जो दीर्घजीवी थे, कालञ्जयी थे और हिममयी गुफाओं और रहस्यमयी कन्दराओं में रहकर साधना कर रहे थे।

मैंने उन तमाम योगियों की अलौकिक सिद्धियों को और अविश्वसनीय चत्मकारों को अपनी इन्हीं आँखों से देखा है। उन्हें कायाकल्प करते हुए, आकाश-मार्ग में संचरण-विचरण करते हुए, शरीर-परिवर्तन करते हुए और एक ही समय में कई स्थानों में प्रकट होते हुए भी देखा है।

पूछने पर मुझे सभी महापुरुषों से बस एक ही उत्तर मिला—हम संसार से मुक्त होने के लिए आये हैं, मुक्ति का मार्ग बतलाने के लिए नहीं। यह कार्य अवतारी पुरुषों का है—जो संसार में परमात्मा के किसी उद्देश्य को साकार करने के लिए आविर्भूत हुआ करते हैं।

उन महात्माओं का कथन अपने स्थान पर सत्य था। प्रत्येक मनुष्य की आत्मा मुक्त होना चाहती है संसार से और संसार के आवागमन से। मुक्ति का मार्ग सभी के लिए खुला है। मगर उस पर स्वयं चलना होगा। स्वयं प्रयास करना होगा। स्वयं सोचना होगा और स्वयं से बार-बार पूछना होगा कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? और फिर कहाँ चला जाऊँगा ? रही महापुरुषों की बात, रही योगियों की बात, तो वे लोग मार्ग बतला सकते हैं,

अपने अनुभवों को और अपनी अनुभूतियों को भी बतला सकते हैं, मगर हमारे साथ चल नहीं सकते। चलना तो स्वयं होगा। हम पानी में न कूदें, जमीन पर ही रहकर तैरना सीख जायें—यह कैसे सम्भव हो सकता है?

योगसाधना मार्ग में न किसी देवता की और न किसी इष्ट की उपासना है और न तो है उसकी कोई विशेष शैली ही। किसी मंत्र या प्रार्थना की भी जरूरत नहीं पड़ती योगसाधना में, क्योंकि योगी के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना जरूरी नहीं है। न तो उसके लिए कोई धर्म या कोई धर्मग्रन्थ ही महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में योगी का न कोई धर्म है, न सम्प्रदाय है, न जाति है और न कोई उसका आम्नाय ही है। लेकिन फिर भी वह इन सभी के मूल में है। यदि हमें किसी धर्म में, किसी धर्मग्रन्थ में और किसी सम्प्रदाय में कहीं कुछ सत्य की झलक मिलती है, तो समझ लेना होगा कि वह किसी योगी द्वारा ही संसार में लाया गया होगा।

सच तो यह है कि योगी सत्य का अनुयायी होता है। सत्य का साक्षी होता है। सत्य में प्रवेश करता है। सत्य से अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करता है। उसका लक्ष्य परमात्मा होता है। उसका इष्ट आत्मा होती है। उसका साधन शरीर होता है और साधक वह स्वयं होता है। स्वयं वह अपनी ही साधना करता है।

आज भारत में ऐसे ही योगी की और ऐसे ही मार्गदर्शक की आवश्यकता है जिसने धर्म के, जगत् के और जीवन के मूल स्रोतों का साक्षात्कार किया है। उनके रहस्यों को जाना है। जिसने जगत् की क्षणभंगुर वस्तुओं के पीछे अविनश्वर कल्प तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखा है। भले ही वह पूर्ण योगीश्वर न हो—मगर फिर भी उसको सत्य के सागर में डुबकी लगाने का अवसर मिला है।

योगी की कही हुई बात सरल चित्त से और साधु हृदय से निकलती है और अनुभव पर प्रतिष्ठित होती है। इसलिए उसमें से सत्य की टंकार निकलती है। उसको सुनकर स्वयं विश्वास पैदा होता है। आत्मा स्वयं आकर्षित होती है। हृदय हृदय से बोलता है। यह असम्भव नहीं है कि लोग एक बार उसकी बात अनसुनी कर जायें। हँसकर टाल दें और उस कटु सत्य को सुनाने वाले योगी को कष्ट भी दें। उसका अपमान भी करें। मगर अन्त में उसे सुनना ही होगा। रही कष्ट की बात, रही अपमान की बात तो मनस्वी पुरुष, योगी पुरुष कर्तव्य का वरण करते हैं, दुःख-सुख और मान-अपमान को नहीं देखते। वे 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' सत्य का सन्देश सुनाते हैं। उनका चरित्र ही उनका सबसे बड़ा बल होता है।

पिछले प्रसंग में स्थूलशरीर, आकाशशरीर और मनःशरीर की चर्चा की गयी थी और उनकी उपलब्धियों के बारे में भी बतलाया गया था।

इन चार शरीरों तक स्त्री-पुरुष में भेद और अन्तर है। पाँचवाँ शरीर

आत्मशरीर है। आत्मा का अपना निज का शरीर है यह। इस शरीर में स्त्री-पुरुष का भेद अथवा अन्तर समाप्त हो जाता है। चार शरीर तक द्वैतभाव हैं। मगर पाँचवें शरीर में वह द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। आत्मशरीर अद्वैत शरीर है। यह शरीर न स्त्री का है और न पुरुष का है। इसीलिए योगी लोग इस शरीर को अलिंग अवस्था का शरीर कहते हैं, क्योंकि इसमें लिंग का अनुभव नहीं होता। आत्मा न स्त्रीलिंग है न पुरुषलिंग। इसीलिए उसके शरीर को अलिंग शरीर कहते हैं।

आत्मशरीर शुभ्र ज्योतिर्मय है। प्रकाश की हलकी धवल किरणें बराबर उसमें से प्रस्फुटित होती रहती हैं। प्रकृति का सम्बन्ध केवल पिछले चार शरीरों तक है। इस शरीर में प्रकृति का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए आत्मशरीर में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। विकार रहित होने के कारण देश, काल और वातावरण का भी प्रभाव नहीं पड़ता आत्मशरीर पर। पिछले अन्य शरीरों की तरह इस शरीर की दो सम्भावनाएँ नहीं हैं। एक-दो सम्भावना है। एक ही सम्भावना होने के कारण भी वह 'अद्वैत' है।

आत्मशरीर में प्रवेश करने के लिए साधक को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। चौथे शरीर तक पहुँचते-पहुँचते इतनी आध्यात्मिक शक्ति पैदा हो जाती है कि पाँचवें शरीर में सहज ही प्रवेश कर जाता है साधक।

आत्मशरीर का केन्द्र है विशुद्ध चक्र। इस चक्र का सीधा सम्बन्ध आत्मलोक से है। आत्मशरीर के उपलब्ध होने पर साधक इसी केन्द्र के द्वारा आत्मलोक में प्रवेश करता है।

आत्मलोक का ही दूसरा नाम वैश्वानर जगत् है। इस लोक में आत्मशरीरधारी योगात्माएँ ही प्रवेश कर सकती हैं। जो लोग स्थूलशरीर के रहते हुए साधना के बल पर आत्मशरीर को उपलब्ध हो गये हैं, वे स्थूलशरीर को जिस प्रकार मृत होने पर स्थूलजगत् में छोड़ देते हैं—उसी प्रकार क्रम से आकाशीय शरीर को वासनालोक में, सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्मलोक में और मन:शरीर को मनोमय लोक में भी छोड़ देते हैं। क्रम से इन चारों शरीरों को उनसे सम्बन्धित लोकों में छोड़ देने के बाद केवल आत्मशरीर से आत्मलोक से प्रवेश करते हैं। योग में इसे 'पिपिला मार्ग' कहते हैं।

इस पिपिला मार्ग से जाने वाले योगीगण का जिस प्रकार पार्थिव शरीर पार्थिव जगत् में मृत होता है, वैसे ही उनके अन्य तीन शरीर भी अपने-अपने जगत् में उसी क्षण मृत हो जाते हैं। मृत पार्थिव शरीर में पुनः आत्मा का प्रकृति के नियम के अनुसार प्रवेश असम्भव है—उसी प्रकार इस अवस्था में अन्य लोकों के शरीरों को भी धारण करना उसके लिए सर्वथा असम्भव है।

स्थूलशरीर के रहते हुए आत्मशरीर को उपलब्ध होने वाले योगी जैसे स्थूलशरीर के द्वारा स्थूलजगत् से सम्बन्ध बनाये रखते हैं—उसी प्रकार अपने अन्य तीनों शरीरों के माध्यम से उनके लोकों से भी सम्बन्ध बनाये रखते हैं। बराबर साधारण मनुष्य के चारों शरीर एक साथ रहते हैं। मगर इस प्रकार के योगियों के चारों शरीर अलग-अलग होकर अपने-अपने लोक में रहते हैं। अपने लोकों में चारों शरीर एक साथ जीवित रहते हैं। एक साथ चैतन्य रहते हैं और एक साथ क्रियाशील भी रहते हैं। मरते भी हैं तो एक ही साथ। इस प्रकार के योगियों की मृत्यु चार शरीरों की मृत्यु होती है। अतः चारों शरीरों के मृत हो जाने पर तुरन्त आत्म-शरीर के द्वारा योगी अपने निज लोक यानि आत्मलोक में प्रवेश कर जाता है।

साधक अखिलेश्वर ठाकुर

लगभग ६-७ वर्ष पहले आत्मशरीर को उपलब्ध किये हुए एक महात्मा से मेरा साक्षात्कार हुआ था। मेरे ही मुहल्ले के एक मकान में रहते थे। नाम था अखिलेश्वर ठाकुर! वे इतने सरल और सहज स्वभाव के थे और उनका रहन-सहन, वेश-भूषा इतनी साधारण थी कि कोई भी उनके असली स्वरूप को नहीं समझ पाता था।

बनारस स्टेट के महाराज डा० विभूति नारायण सिंह के जनरल सेक्रेटरी श्रीरमेश चन्द्र डे योग और तंत्र के विद्वान् थे। उनके निवास पर प्रायः नित्य विद्वानों और साधकों का जमघट लगा करता था। मुझे बहुत मानते थे वे। मेरा भी नित्य सायंकाल उनके यहाँ जाना होता था। उन दिनों वह शिवाला मुहल्ले में स्थित चेतसिंह किला में रहते थे। अखिलेश्वर महाशय भी कभी कदा उनके यहाँ चले जाया करते थे। एक दिन जब डे साहब ने उनका परिचय देते हुए मुझसे यह कहा कि बहुत बड़े योगी हैं ठाकुर बाबा तो यह सुनकर पहले विश्वास ही नहीं हुआ मुझे। ठाकुर बाबा के साधारण व्यक्तित्व और साधारण वेश-भूषा को देखकर पहली दृष्टि में भला कौन जान सकता था कि वे आत्म-शरीर को उपलब्ध किये हुए परम योगी हैं।

योग के विभिन्न मार्ग

करीब एक सप्ताह बाद एक दिन सत्संग के विचार से ठाकुर बाबा के यहाँ पहुँचा मैं।

साँझ का समय था। कमरे में जीरो पावर का हरा बल्ब जल रहा था। एक तख्त पर ठाकुर बाबा पद्मासन में बैठे हुए थे अर्ध ध्यानस्थ। कमरे के वातावरण में शांति थी। मन को बड़ा अच्छा लगा। थोड़ी देर तक औपचारिक बातें होती रहीं। फिर मैं मुख्य प्रसंग पर जब चर्चा करने लगा, तो उन्हें यह समझते देर न लगी कि योग में मेरी कितनी रुचि है और योग के

गहन अन्तराल में कितना गहरा उतर चुका हूँ मैं। प्रथम दिन योग के पिपिला मार्ग पर ही विशेष रूप से चर्चा की ठाकुर बाबा ने।

उन्होंने बतलाया कि पिपिला मार्ग के अलावा २७ ओर मार्ग हैं, मगर उनमें मुख्य हैं—अवधूती मार्ग, गरुड़ मार्ग, विहंगम मार्ग, योगमाया मार्ग और सिद्धमार्ग। पिपिला मार्ग से आत्मलोक में पदार्पण करने वाले योगीगण क्रम से चारों शरीरों का त्याग करते हुए निज लोक में पहुँचते हैं। आत्म-शरीर के अतिरिक्त जितने भी शरीर हैं—वे नश्वर हैं। नाशवान् हैं। मगर उनका रूप यानि उनका अदृश्य आकार-प्रकार उनके लोक के परमाणुओं के वातावरण में स्थायी रूप से बराबर बना रहता है दीर्घ काल तक।

ठाकुर बाबा ने बतलाया कि आत्मलोकनिवासी योगी के लिए उन शरीरों का कोई उपयोग और महत्त्व नहीं रह जाता, मगर उन लोकों के निवासियों के लिए बड़े ही महत्त्व की वस्तु होती है। वे यह समझते हैं कि उन शरीर को ग्रहण कर लेने से उनका आत्मलोक में बिना किसी प्रयास के प्रवेश हो जायेगा। यह वास्तव में उनकी अज्ञानता है। भ्रम है। इसी लालच के वशीभूत होकर वासनालोक और सूक्ष्मलोक की आकाशीय और सूक्ष्म शरीरधारी आत्माएँ योगियों के द्वारा त्यागे गये आकाशीय शरीर और सूक्ष्म-शरीर में कभी-कदा प्रवेश कर पाती हैं। और उसे लेकर स्थूल शरीर में जन्म भी ले लेती हैं। मगर शर्माजी ! ठाकुर बाबा बोले—इससे न उन आत्माओं को कोई लाभ होता है और न तो जगत् का ही कोई कल्याण होता है। सच तो यह है कि योगियों के द्वारा त्यागी गयी और उपेक्षित देह को लेकर संसार में इस प्रकार आने वाली आत्माओं द्वारा धर्म, समाज और साधना संस्कृति का सत्यानाश ही होता है। धर्म के नाम पर, साधना के नाम पर, तंत्र-मंत्र के नाम पर, योग और संस्कृति के नाम पर ऐसी ही आत्माएँ जन्म लेकर आडम्बर, पाखण्ड फैलाती हैं और उनके नाम पर पापाचार एवं व्यभिचार को जन्म देती हैं। योगी के सूक्ष्म शरीर अथवा आकाशीय शरीर को धारण करने से क्या होता है? वासना और संस्कार तो उनका है। शरीर प्राप्त कर लेने मात्र से बस यही होता है कि अपनी वासना, अपने संस्कार और अपनी वृत्तियों को साकार करने के लिए उन्हें धर्म-संस्कृति और साधना ही आधार के रूप में मिलता है। नकली योगियों और पाखण्डी साधकों के पीछे यही कारण समझना चाहिए। ऐसे लोग योग के सम्बन्ध में कुछ जानते-समझते नहीं, साधना के विषय में भी कुछ जानते-समझते नहीं—मगर अपने आडम्बर, पाखण्ड और अपने व्यक्तित्व के बल पर योगी बन जाते हैं। साधक भी बन जाते हैं और योगसाधना और तंत्रसाधना से नाम पर अपनी वासना, अपनी कलुषित वृत्ति, अपने घृणित संस्कार को भोगते हैं। अपनी वासना और कामना को तृप्त करते हैं। लोग भी आर्काषित होकर उन्हें योगी और साधक समझ

बैठते हैं। मगर जब उन्हें वास्तविकता का और सत्यता का पता चलता है, तो उन पाखण्डियों को विशेष दोष न देकर योग और तंत्र को ही कोसने लगते हैं। फिर समझते हैं कि यह सब गलत है। भ्रम है। असत्य है।

मन:शरीरधारी आत्माएँ भी तो मनोमय जगत् में छोड़े गये योगियों के शरीर में प्रवेश करती होंगी' — मैंने जिज्ञासा प्रकट की।

'हाँ, वे भी कभी-कदा ऐसा करती हैं — ठाकुर बाबा बोले, मगर निम्न आत्माओं से इनमें काफी अन्तर होता है। वासना-कामना और संस्कार में भी योगियों के अपेक्षित शरीर को वे उच्च भावना से ग्रहण कर संसार में जन्म लेती हैं। मगर वे योग अथवा साधना के नाम पर आडम्बर पाखण्ड नहीं फैलातीं। वे शरीर के प्रभाव के फलस्वरूप और अपने संस्कार के कारण अपने आत्मोद्धार के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सोचती हैं। वे जिज्ञासु वृत्ति की होती हैं। उनकी कामना भी आध्यात्मिक होती है। सांसारिक मोह, माया और वासना में वे अवश्य लिपटी हुई होती हैं, मगर साथ ही साथ उनकी आत्मा भीतर ही भीतर तड़पती रहती है। सांसारिक बंधनों से मुक्त होने के लिए वे हमेशा व्याकुल रहती हैं। आध्यात्मिक शान्ति पाने के लिए हमेशा व्याकुल रहती हैं — एक ऐसे व्यक्ति की खोज में — जो उनकी आध्यात्मिक प्यास को हमेशा के लिए बुझा सके और उद्धार कर सके उनकी अत्मा का'।

दूसरा है अवधूती मार्ग। ठाकुर बाबा आगे कहने लगे—इस मार्ग के पथिक योगी अपने जीवन काल में ही आत्मशरीर प्राप्त होने पर अन्य शरीरों को पार्थिव शरीर के साथ ही नष्ट कर देते हैं। उनका कहीं भी संस्कार शेष नहीं रह जाता। वे एक साथ चारों शरीरों से मुक्त होकर आत्मशरीर के द्वारा आत्मलोक में प्रवेश कर जाते हैं। तीसरा है — गरुड़ मार्ग। इस मार्ग वाले योगीगण पार्थिव शरीर में जीवन बनाये रखकर भी आत्मशरीर को उपलब्ध कर आत्मलोक में निवास करते हैं। और जब शरीर का प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाता है, तो शरीर को उसी प्रकार त्याग देते हैं, जैसे हम सब लोग फटे-पुराने वस्त्र को त्याग देते हैं। चौथा है — विहंगम मार्ग। इस मार्ग के अनुयायी योगीगण वे होते हैं, जिन्हें आत्मशरीर उपलब्ध नहीं हुआ है और पार्थिव शरीर का प्रारब्ध कर्म भी समाप्त हो गया है। ऐसी स्थिति में वे पार्थिव शरीर से अलग होने पर सीधे मनोमय लोक में चले जाते हैं और वहाँ रहकर आत्मशरीर प्राप्त करने की प्रतीक्षा करते हैं। किसी को काफी प्रतीक्षा करनी होती है और कोई-कोई तो बहुत जल्द प्राप्त कर लेते हैं आत्मशरीर को।

'उनकी वासना और उनके सूक्ष्मशरीर का क्या होता है?

वे भी पार्थिव शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनसे सम्बन्धित लोकों में जाने की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ती। वे सीधे मनोमय

लोक में ही चले जाते हैं। पाँचवाँ है—योगमार्ग। इस मार्ग का आलम्बन लेने वाले योगी वास्तव में उच्च कोटि के होते हैं। उनमें चारों शरीरों में से किसी भी शरीर का बीज संस्कार नहीं रहता। वे सभी प्रकार के संस्कारों से मुक्त रहते हैं। और एक ही समय में एक ही साथ चारों शरीरों से मुक्त होकर आत्मशरीर को प्राप्त कर लेते हैं और आत्मलोक में उसी क्षण चले जाते हैं।

इस योगमाया मार्ग से भी ऊँचा है—सिद्ध मार्ग। इस मार्ग का आश्रय लेने वाले योगी वास्तव में परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। भूलोक और आत्मलोक के बीच में लगभग तीस लाख लोक-लोकान्तर हैं, जिनमें नक्षत्रों और ग्रहों के भी लोक-लोकान्तर शामिल हैं। आत्मशरीर उपलब्ध इस मार्ग के योगीगण आत्मलोक में निवास करते हुए, इच्छानुसार किसी भी लोक-लोकान्तर में संचरण-विचरण कर सकने में समर्थ होते हैं। उनकी इच्छाशक्ति चिन्मय-शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। वे जीवन्मुक्त होते हैं। लोककल्याण और आध्यात्मिक विकास के लिए ऐसे जीवन्मुक्त योगीगण आत्मलोक से हमारे संसार में भी अवतरित होते हैं। ऐसे ही महापुरुषों से हमारी भारत-भूमि समय-समय पर पवित्र होती रहती है।

साधिका ज्योतिर्मयी

ठाकुर बाबा के माध्यम से गुप्त रूप से विनास करने वाले जिन साधक-साधिकाओं से मेरा परिचय हुआ—उनमें ज्योतिर्मयी माँ भी एक थीं। वे जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त थीं। हाड़ारबाग मुहल्ले में एक कमरा किराये पर लेकर रहथी थीं ज्योतिर्मयी माँ। मगर वे लोगों से बहुत कम ही मिलती थीं और बातें भी कम किया करती थीं। कई बार चक्कर लगाने पर भी दर्शन नहीं हुआ मुझे उनका। एक दिन केदारघाट में सब्जी खरीदने गया था मैं। देखा, एक अधेड़ बंगाली महिला भी मेरे ही बगल में खड़ी होकर सब्जी खरीद रही थीं। अचानक तीव्र सुगन्ध से नासापुट भर गया मेरा। सिर घुमा-कर देखा। पहचान गया तुरन्त। वह महिला और कोई नहीं—ज्योतिर्मयी माँ थीं। स्तब्ध रह गया मैं। झुककर चरण स्पर्श किया। हँसकर बोली ज्योतिर्मयी माँ—'तू अरुण है न ! चल मेरे साथ !'

एक उच्चकोटि की साधिका का इस प्रकार अनुग्रह प्राप्त होगा—ऐसी आशा मुझे न थी। आँखें नम हो गयीं मेरी। पीछे-पीछे चल पड़ा। कमरे में बड़ी शान्ति थी। एक ओर मृगचर्म बिछा हुआ था। उसी पर बैठ गयी ज्योतिर्मयी माँ। फिर प्रसंग चल पड़ा। मैंने जब जीवन्मुक्ति के लक्ष्य के बारे में पूछा तो 'माँ' गम्भीर हो उठीं। फिर कहने लगीं—बाहर के व्यवहार और व्यापार को देखकर कोई भी जीवन्मुक्त योगी को नहीं पहचान सकता। जीवन्मुक्त है या नहीं—इसका अनुभव करने के लिए एकमात्र सरल उपाय यह है कि

साधारणतः मनुष्य किसी के चरित्र का मूल्यांकन उसके दोष और गुणों को देखकर करता है। गुणी की प्रशंसा और दोषयुक्त की निन्दा करता है। मगर तुमको मालूम होना चाहिए कि इसके मूल में है अज्ञान। अज्ञान का मतलब है कर्तृत्वाभिमान। हर मनुष्य में अज्ञान अथवा कर्तृत्वाभिमान है। इसलिए संसार में सब जगह उसे कर्तृत्वाभिमान ही दिखाई पड़ता है। मनुष्य के अच्छे या बुरे काम का कर्ता मानकर उसको अच्छा-बुरा कहा जाता है। लेकिन जब अपना कर्तृत्वाभिमान खत्म हो जाता है तब समझ में आता है कि सारा संसार अज्ञान और अभिमान में बँधा हुआ है। इसीलिए कोई अपने को अच्छे कामों का कर्ता समझता है, तो कोई बुरे कामों का। वास्तव में यह आत्मा की अज्ञानता और अभिमान के कारण ऐसा बोध होता है। मगर जब अज्ञान और आत्माभिमान खत्म हो जाता है तब ऐसा लगता है कि कोई भी किसी काम का कर्ता नहीं है। प्रत्येक प्राणी अज्ञान, आत्माभिमान और कर्तृत्वाभिमान के कारण ही अपने आपको कर्ता यानि कर्म करने वाला समझ बैठा है। जीवन्मुक्त व्यक्ति इसके ठीक विपरीत समझता है। उसकी नजर में एकमात्र कर्ता परम पुरुष है, एक परमशक्ति है। वह जिस आधार से, जिस कारण से, जिस प्रकार का कर्म कराना चाहता है—मनुष्य वैसा ही कर्म करने को तैयार होता है।

जीवनन्मुक्त व्यक्ति साफ-साफ देखता है कि सब कार्यों का वास्तविक कर्तृत्व एकमात्र महाशक्ति में है। वही सब कर रही है। यदि इसे गहरायी से समझा जाये तो पता चलेगा कि जीवात्मा किसी भी प्रकार के कार्य का कर्ता नहीं है। किसी भी कर्म के लिए वह उत्तरदायी नहीं है। 'मैं कर्ता हूँ, मैं काम करने वाला हूँ' ऐसा अभिमान ही के कारण उत्तरदायी हो जाता है वह। यदि कठपुतलियाँ अच्छी तरह से नाच रही हैं, तो इसमें उनका महत्त्व नहीं है। महत्व तो है उन्हें नचाने वाले का। इस प्रकार की दृष्टि जीवन्मुक्त पुरुष को छोड़कर भला और किसी की हो सकती है। वह सब जगह महाशक्ति का ही कर्तृत्व देखता है। यही लक्षण है जीवन्मुक्त लोगों का।

साधिका आरती

जब इस प्रकार के गूढ़ यौगिक विषयों पर बातें हो रही थीं कि उसी समय कमरे में एक बीस-बाईस वर्ष की युवती ने प्रवेश किया। वेष-भूषा साधारण थी। मगर उस साधारण परिवेश में भी उसका अपरूप सौन्दर्य बड़ा ही मादक था, जिसे देखकर मुग्ध हो गयी मेरी आत्मा।

युवती का नाम आरती था। ज्योतिर्मयी माँ ने ही बतलाया मुझे नाम। बड़ा सुन्दर नाम था। काफी देर तक अपलक देखता रहा मैं आरती की ओर। ऐसा लगा मानों कोई ऊँची साधिका हो वह। भ्रम नहीं, सत्य था। पिछले चार-पाँच जन्मों से साधना मार्ग पर चल रही थी वह। इस जन्म में वह

आत्मशरीर को उपलब्ध हो गयी थी। उसकी तेजस्वी आत्मा जहाँ एक ओर भौतिक स्तर पर क्रियाशील थी, वहीं दूसरी ओर आत्मलोक में साधनारत भी थी। ज्योतिर्मयी माँ ने ही बतलाया सब कुछ। थोड़ा रुककर ध्यान की मुद्रा में दोनों हाथों को सामने रखते हुए आगे बोली—'संसार में थोड़ा कर्म शेष है—इसीलिए मेरे गर्भ से जन्म लिया है आरती ने।'

'आपकी पुत्री है यह ?'—आश्चर्य से पूछा मैंने।

'हाँ। मेरी एकमात्र कन्या है। शरीर के लिए इसकी आत्मा भटक रही थी। जानते हो न ! थोड़ा भी कर्म शेष रहता है तो आत्म-शरीर मिल जाने पर भी पूर्ण रूप से आत्मलोक में प्रवेश नहीं हो पाता। इसीलिए मुझे आरती को शरीर देना पड़ा। चार साल और शेष हैं। फिर पार्थिव शरीर को त्याग कर आत्मलोक में चली जायेगी आरती की आत्मा।'

फिर आरती से ही साधना प्रसंग पर बात होने लगी। उसने मुझे बतलाया कि सारी साधनाएँ चार शरीर तक हैं। पाँचवें शरीर को उपलब्ध होने पर किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मैंने पूछा—'पाँचवें शरीर में द्वैत नहीं है। लेकिन जिस साधक का पाँचवें शरीर में प्रवेश हो गया है और जिसका अभी नहीं हुआ है, उसमें क्या अन्तर होगा ?'

आरती बोली—'काफी फर्क होगा' स्थूल शरीर से लेकर मनोमय शरीर पर्यन्त की यात्रा एक प्रकार से बेहोशी में की गयी यात्रा है। गहरी नींद में की गयी यात्रा है।

हम गहरी नींद में स्वप्नवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसे हम अज्ञान भी कह सकते हैं और माया भी। हमारा जीवन बेहोशी का जीवन है। मूर्च्छाग्रस्त जीवन है। यह नींद, यह बेहोशी और यह मूर्च्छा मनोमय शरीर और मनोमय जीबन में भी नहीं टूटती। हम भी मूर्च्छा में हैं। नींद में हैं। प्रेतात्मायें भी हैं। सूक्ष्म आत्मायें भी हैं और हैं मनोमय शरीरधारी उच्च आत्मायें भी।

'यह नींद कब टूटती हैं। मूर्च्छा कब भंग होती हैं'—पूछा मैंने। पाँचवें शरीर को उपलब्ध होने पर ! पाँचवें शरीर में प्रवेश करते ही अनादि काल से गहरी निद्रा के, गहरी मूर्च्छा में पड़ी हुई आत्मा जाग उठती है। इसी अवस्था को योगीगण अनादि सुषुप्ति भंग और आत्मजागरण कहते हैं।

पाँचवें शरीर को जो उपलब्ध नहीं है—वह निद्रा में है। मूर्च्छा में हैं और पाँचवें शरीर को उपलब्ध हो गया है—उसकी नींद टूट गयी है। मूर्च्छा भंग हो गयी है। यही भेद है दोनों में और यही अन्तर है दोनों में।

पाँचवें शरीर को उपलब्ध व्यक्ति नींद से जाग गया है—इसकी क्या पहचान है—मैंने फिर पूछा।

उत्तर मिला—ऐसा व्यक्ति कभी भी नहीं सोचेगा। हमेशा जागता ही रहेगा। 'तस्यां जागर्ति संयमी···' गीता का यह वाक्य उस पर चरितार्थ हो जाता है फिर। वह चौबीस घंटे जागता रहेगा। वह रात में भी सो न सकेगा। सोयेगा तो उसका शरीर ही सोयेगा—मगर उसके भीतर सतत—हर क्षण, हर समय कोई जागता रहेगा। अगर उसे मच्छर काटेगा तो वह जानता है। अगर उसने कम्बल ओढ़ा है तो जानता है। नहीं ओढ़ा है तो भी जानता है। सोये हुये भी अपने आस-पास की सारी गति-विधि से परिचित रहता है वह। नींद की अवस्था में भी उसका जानना-समझना शिथिल नहीं होता। वह चौबीस घंटे बराबर जागरूक रहेगा। मगर जो लोग पाँचवें शरीर को उपलब्ध नहीं हुए हैं, उनकी स्थिति ठीक इसके उलटी होगी। बिलकुल विपरित होगी। वे नींद में तो होंगे ही, लेकिन जिसे हम जागना कहते हैं—उस अवस्था में भी उनकी एक परत, एक हिस्सा सोया ही रहेगा।

योगी लोग इस बेहोशी को, इस मूर्च्छा को और इस निद्रा को मोहनिद्रा कहते हैं। यही माया है। यही प्रकृति है। चार शरीर तक की साधना इसी मोहनिद्रा से जागने का प्रयास है। जब हम पाँचवें शरीर में पहुँच जाते हैं, तब वह मोहनिद्रा भंग होती है। पाँचवें शरीर में भी एक निद्रा है जिसे योगनिद्रा कहा जाता है। आत्मशरीर का जीवन योगनिद्रा का जीवन है। जब हम आत्मशरीर का त्याग कर आत्मलोक का अतिक्रमण करते हैं और आगे की स्थिति को उपलब्ध होते हैं, तब कहीं जाकर यह योगनिद्रा भंग होती है ?

आत्मशरीर की उपलब्धि

'क्या साधारण मानव जीवन में कभी किसी समय आत्मशरीर की अनुभूति होती है ?'

'हाँ होती है, अनुभूति ! हम यह न समझ लें कि जो कुछ काम हमसे होता है या हम करते हैं—वह सब ज्ञानपूर्वक होश में और चैतन्यपूर्वक करते हैं या होते हैं। उन कामों में जरा-सा भी ज्ञान नहीं होता, जरा-सी भी चेतना नहीं रहती, जरा-सा भी होश नहीं रहता। जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम सोचते-विचारते हैं, वह सब आदतन और बेहोशी में होता है—अचेतना की अवस्था में होता है। कभी किन्हीं क्षणों में, किन्हीं अवसरों में हमारी वह बेहोशी, वह मूर्च्छा भंग होती है और हम आत्मशरीर में एक क्षण के लिए पहुँच जाते हैं। मगर वह क्षण, वह अवसर अत्यधिक खतरनाक और अत्यन्त भयंकर स्थिति में ही आता है। मान लीजिये जैसे कोई व्यक्ति पिस्तौल या छूरा लेकर हमारी छाती पर बैठ जाये और पिस्तौल की नली और छूरे की नोंक गर्दन से लगा दे—तब हम एक सेकेण्ड के लिए, एक क्षण के लिए होश में आ जायेंगे। मेरी नींद टूट जायेगी। मेरी मूर्च्छा भंग हो जायेगी। एक पल के लिए पिस्तौल की नली अथवा छूरे की नोंक हमें पाँचवें

शरीर में पहुँचा देगी, मगर ऐसे अवसर और ऐसे क्षण बहुत ही कम आते हैं जीवन में, अन्यथा हम बराबर नींद में ही सब कुछ करते रहते हैं और मूर्च्छा ही में जीते रहते हैं। सच पूछिये, जिसे हम जीवन समझते हैं—वह यान्त्रिकता के सिवाय और कुछ नहीं है। हमारे जीवन में सब कुछ यंत्रवत् हो रहा है। हम यंत्रवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हम क्रोध करते हैं। हम गाली देते हैं। हम झूठ बोलते हैं। बाद में कहते हैं—कैसे क्रोध आ गया, कैसे मुँह से निकल गयी गाली, कैसे झूठ बोल गया मैं ? फिर हम क्षमा माँगते हैं। अपने आपको धिक्कारते हैं। कहते हैं हम ऐसा नहीं चाहते थे। हम किसी की हत्या भी कर बैठते हैं—मगर बाद में कहते हैं कि हम हत्या करना नहीं चाहते थे। कैसे हो गयी हमसे हत्या ? हमेशा हमसे गलतियाँ होती रहती हैं और हमेशा हम पछताते रहते हैं। सोचते रहते हैं कि कैसे और क्यों हो गयी हमसे गलती ? जो नहीं करना है—वह हम करते हैं। जो हमें नहीं बोलना है वह बोलते हैं। जो हमें नहीं सोचना चाहिए उसे हम बराबर सोचते हैं।

हमारा जीवन यंत्रवत् है और यंत्रवत् जीवन में एकाग्रता, स्थिरता और दृढ़ता नहीं होती। हम रात में निश्चित करते हैं कि सबेरे ठीक चार बजे उठेंगे। मगर सबेरे चार बजे स्वयं हम ही कहते हैं कि अभी थोड़ा और सो लें, कल देखा जायेगा। और जब सोकर उठते हैं तो पछताते हैं और हम ही फिर स्वयं कहते हैं कि बड़ी गलती हो गयी, अब आगे ऐसा कभी नहीं करेंगे।

आश्चर्य की बात है—रात को हमने तै किया था, सबेरे चार बजे हम कैसे बदल गये ? फिर प्रातः चार बजे जो तै किया था तो फिर छः बजे हम कैसे बदल गये ? फिर सबेरे जो छः बजे तै किया वह साँझ तक बदल जाता है। साँझ तो अभी दूर है। इस बीच हम न जाने कितनी बार बदल जाते हैं। हमें मालूम होना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है। इसलिए होता है कि हमारे निर्णय, हमारे ये विचार और हमारे ये खयाल बिलकुल सपनों की तरह है। बनते हैं, फिर टूटते हैं। क्योंकि हम नींद में हैं। मूर्च्छा में हैं। आत्म-शरीर को उपलब्ध करने के पहले का जो जीवन है—उसकी सहज अवस्था है एक मात्र नींद। और आत्मशरीर को प्राप्त कर लेने के बाद जो जीवन है—उसकी सहज अवस्था है—जागृति। वास्तव में जो व्यक्ति पाँचवें शरीर को उपलब्ध हो गया है—वही बुद्ध है, वही महात्मा है, वही योगी है और वही है महापुरुष ! ऐसा ही व्यक्ति सचमुच भगवान् है, क्योंकि वह अपने पाँचवें शरीर में जाग गया है। उसकी मोहनिद्रा भंग हो चुकी है।

बुद्ध का मतलब है—जागा हुआ व्यक्ति। अपने पाँचवें शरीर को उपलब्ध व्यक्ति। 'बुद्ध' बुद्ध या गौतम का नाम नहीं है। 'बुद्ध' एक विशेष है। पाँचवें शरीर को प्राप्त करने के बाद दिया गया 'विशेषण' है। गौतम या सिद्धार्थ एक मूर्च्छित या सोये हुए व्यक्ति का नाम था और जब वह व्यक्ति जागा

तो 'बुद्ध' हो गया। गौतम की संज्ञा खत्म हो गयी। केवल अब वह बुद्ध ही रह गया।

हमारा जीवन जिसे हम जीवन कहते हैं—एक गहरी नींद है—इसके अलावा और कुछ भी नहीं। हम जो कुछ भी करते हैं—नींद में करते हैं। बेहोशी की हालत में करते हैं। जब तक हम अपने पाँचवें आत्मशरीर में नहीं पहुँच जायेंगे—तब तक हमारी यह नींद नहीं टूटेगी। हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह सब नींद में किये गये कार्य हैं। उनका कोई भरोसा या विश्वास नहीं है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं—वह विश्वास करने योग्य नहीं है। हमारे शब्दों का, हमारे वचनों का और हमारी प्रतिज्ञाओं का कोई मूल्य नहीं है। कोई अर्थ भी नहीं है। अभी हम किसी स्त्री से कहते हैं कि जीवन भर साथ निबाहूँगा। अभी हम अपनी प्रेमिका से कहते हैं जीवन भर प्रेम करूँगा। मगर हो सकता है—हम दो-चार मिनट बाद उस स्त्री का साथ छोड़ दें। अपनी प्रेमिका का गला ही घोंट दे। हम अभी कहते हैं कि हमारा और आपका सम्बन्ध जनम-जनम तक रहेगा और वह दो क्षण भी न टिके।

इसमें हमारा कोई दोष नहीं हैं। क्योंकि हम नींद में हैं। नींद में दिये गये वचनों और नींद में की गयी प्रतिज्ञाओं का भला गया मूल्य? क्या भरोसा? सपने में हम किसी से प्रतिज्ञा करते हैं। किसी को वचन देते हैं—लेकिन उसका क्या मूल्य? सबेरा होने पर हम ही कहते हैं कि सपना था सब।

लेकिन हमें इसका ज्ञान तब तक न होगा, हमें इसका उत्तर तब तक नहीं मिलेगा—जब तक हम पाँचवें शरीर को उपलब्ध नहीं हो जायेंगे। आत्म-शरीर की प्राप्ति का मतलब है—हम कौन हैं—का उत्तर! जब हमें आत्म-शरीर में इस अनादि प्रश्न का उत्तर मिल जाता है कि 'हम कौन है' तो अहङ्कारसूचक शब्द 'में' भी समाप्त हो जाता है हमेशा के लिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने को 'मैं' कहता है और यह 'मैं' का जो अपने आपके लिए सम्बोधन है—वह समाप्त हो जाता है—पाँचवें शरीर में। जो आत्मशरीर को उपलब्ध हो गया है और जिसका 'मैं' समाप्त हो गया है, उससे यदि हम या आप कहेंगे कि तुम 'यह हो' तो वह हँसेगा। इसीलिए कि अपने लिए अपनी ओर से जो दावा है कि 'मैं यह हूँ'—वह समाप्त हो गया होता है। क्योंकि वह जानता है कि इस दावे की उसे अब कोई आवश्यकता नहीं है। अपने आपको प्रमाणित करने अथवा अपने आपको सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है उसको। वह अपने आप, अपने लिए प्रमाणित और सिद्ध हो गया है। वह कौन है इसका उत्तर मिल चुका है उसे।

० ० ०

चार शरीर तक समस्याएँ हैं। द्वन्द्व है। दुःख है। क्लेश है और इन सब का बराबर खतरा भी है। मगर पाँचवें शरीर में समस्याएँ, द्वन्द्व, दुःख,

क्लेश और तमाम खतरे खत्म हो जाते हैं। इसीलिए पाँचवें शरीर में साधक को असीम तृप्ति, असीम सुख और असीम आनन्द का अनुभव होता है, क्योंकि अब तक दुःख और क्लेश के जो खतरे थे — वे समाप्त हो गये। अब सुख ही सुख है, तृप्ति ही तृप्ति है और आनन्द ही आनन्द है उसके लिए।

मगर पाँचवें शरीर में भी समस्या है और वह समस्या है आनन्द की और सुख की। आत्मशरीर में आनन्द और सुख अपनी पूरी गहराई से अपनी चरम सीमा में प्रकट होता है। इसीलिए उसे परमानन्द और परम सुख कहते हैं। वह आत्मलोक का आनन्द और सुख है। जिसके अथाह समुद्र में साधक डूब जाता है। इसलिए उसकी आगे बढ़ने की गति रुक जाती है। आगे उन्नति करने का उसमें प्रयास नहीं रह जाता। यही समस्या है कि आनन्द में डूबकर भी आगे बढ़ने का बराबर साधक को प्रयास करते रहना चाहिए। जो इसके लिए सतर्क है, सावधान है — वही आगे बढ़ सकता है।

दुःख में गति है, घबराहट है, छटपटाहट है; मगर सुख में शिथिलता है, प्रगति है, ऊब है, बेचैनी है। ऐसा भी होता है कभी-कभी कि दुःख रोकने वाले सिद्ध नहीं होते — सुख रोकने वाले सिद्ध हो जाते हैं और आनन्द बहुत रुकावट पैदा करने वाला सिद्ध हो जाता है। आत्मशरीर को प्राप्त करने का मतलब है आत्मज्ञान और आत्मज्ञान का अर्थ है 'मैं' का नाश हो जाना। वास्तव में 'मैं' का नाश यानि अहंकार के अस्तित्व का प्रयास ही आत्मज्ञान है। और आत्मज्ञान को प्राप्त करने का जो सुख और जो आनन्द है वह परम सुख और परम आनन्द है। यही मूल कारण है कि बहुत से लोग उस सुख और आनन्द में इतने डूब जाते हैं कि उसे छोड़ना नहीं चाहते—और 'आत्मज्ञान' पर रुक जाते हैं। सोचते हैं कि अब इसके बाद और कुछ नहीं है। वे यह नहीं जानते कि आत्मज्ञान के बाद एक और ज्ञान है और वह है ब्रह्मज्ञान। और ब्रह्मज्ञान का सुख और आनन्द आत्मज्ञान में कहीं ऊँचा और सीमातीत है।

आरती ने कहा — इसलिए आत्मज्ञान होने पर जो परम आनन्द की उपलब्धि होती है—उसके प्रति हमेशा सजग और सतर्क रहना चाहिए साधक को। लीन न हो जाना चाहिए उसमें। आनन्द का प्राकृतिक स्वभाव है—लीन करना, अपने में डूबो देना। आनन्द एक अनुभव है। उसमें लीन होने के बजाय उसके अनुभव को प्राप्त करना चाहिए। जैसे सुख और दुःख के अनुभव हैं—उसी प्रकार आनन्द के भी अपने अनुभव हैं।

इसी प्रसंग में ज्योतिर्मयी माँ ने बतलाया कि अनुभव कैसा भी हो, जब तक अनुभव है, तब तक आत्मा किसी न किसी उपाधि की परिधि में रहती है। और यह समझ लेना चाहिए कि तब तक हम अन्तिम सीमा पर, अन्तिम छोर पर अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुँच सके हैं। अन्तिम सीमा, छोर और

अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने के बाद सारे दुःख सारे सुख समाप्त हो जाते हैं और उसी के साथ आनन्द भी समाप्त हो जाता है।

पाँचवें शरीर में आनन्द का पूर्ण अनुभव होता है। इसलिए भाषा भी वहाँ पूर्ण हो जाती है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि पाँचवें शरीर में न कोई अनुभव है और न तो कोई भाषा है। क्योंकि वहाँ पूर्णता है। पूर्ण जागृति है और इसी पूर्ण जागृति की अवस्था 'स्व' का बोध हमें होता है। पूर्ण जागृति ही 'स्व' का बोधक है और 'स्व' का एकमात्र बोध ही 'आत्म-शरीर' की परम उपलब्धि है।

प्रकरण : उनतीस

तारापीठ का वह रहस्यमय योगी

कार्तिक का महीना। साँझ का समय।

काशी के अहिल्या बाई घाट पर बैठा हूँ—चुपचाप, मौन और शान्त। आरती भी बैठी है मेरे निकट—मौन और निर्विकार।

पिछले तीन महीने से आरती के सम्पर्क में, आरती के सान्निध्य में मैं हूँ। काफी अपनत्व और स्नेह मिला है मुझको उससे। मगर अभी तक उसकी साधना की गहरायी में मैं डूब न सका। आध्यात्मिक दृष्टि से आरती एक अत्यन्त रहस्यमयी युवती है। सच बात तो यह है कि अब तक कुण्डलिनी साधना प्रसंग को लेकर मैं जितने योगियों और जितनी साधिकाओं से मिल चुका हूँ, उन सबमें सबसे अधिक रहस्यमयी लगी मुझे आरती।

हे भगवान्! कितना गहरा अनुभव है, इस बीस-बाईस साल की युवती को। लगता है—मानो पिछले कई जन्मों के तमाम अनुभवों को समेटकर जन्म लिया है उसकी आत्मा ने।

सब कुछ गूढ़, गोपनीय और सब कुछ रहस्यमय।

मगर उसकी आत्मा ने क्यों जन्म लिया? क्या ज्योतिर्मयी माँ का कहना सही है कि थोड़ा कर्म शेष रह गया था—इसीलिये जन्म लेना पड़ा आरती को। मगर कौन-सा कर्म शेष रह गया था—जिसको भोगने के लिए आरती की आत्मा को पार्थिव शरीर धारण करना पड़ा।

साँझ की स्याह कालिमा शनैः-शनैः गहरी होती जा रही थी और वातावरण भी पहले से अधिक नीरव और शान्त हो चुका था।

मौन भंग हुआ!

'क्या सोच रहे हैं आप?'—निर्विकार भाव से बोली आरती।

'तुम्हारे ही सम्बन्ध में तो सोच रहा हूँ।'

'क्या? मैं भी तो जानूँ!'

'कितनी रहस्यमयी हो तुम?'

एकबारगी हँस पड़ी आरती यह सुन कर। और उसी के साथ उसकी पीठ पर बिखरे हुए बाल हवा में लहरा कर मुझसे छू गये। एक विचित्र-सी अनुभूति से मेरा मन भर गया। पलटकर देखा—बड़ा गम्भीर लगा आरती का चेहरा।

'एक बात पूछ सकता हूँ आरती?'

'पूछिये'—आकाश की ओर निहारती हुई आरती बोली।

'कौन-सा ऐसा कर्म शेष रह गया था, जिसके लिए तुमको आत्मशरीर उपलब्ध करने के बाद भी इस संसार में और इस शरीर में फिर आना पड़ा ?'

मेरा प्रश्न सुनकर आरती का चेहरा और अधिक गम्भीर हो उठा। उसने एक बार गहरी नजरों से मेरी ओर देखा और फिर कहने लगी—'आपको मैं बतला चुकी हूँ कि आत्मशरीर की उपलब्धि और आत्मा की अनुभूति अन्तिम लक्ष्य नहीं है जीवन के।'

आत्मशरीर की उपलब्धि

'आत्मा की अनुभूति बाद में है। पहले है आत्मशरीर की उपलब्धि। आत्मशरीर की उपलब्धि का मतलब है परमानन्द की प्राप्ति। परमानन्द का अर्थ है पूर्ण आनन्द। मगर उस परमानन्द की अनुभूति आत्मा की उपलब्धि में समझना चाहिए, क्योंकि परमानन्द और आत्मा वास्तव में एक ही वस्तु है—इसीलिए जिसे परमानन्द कहा जाता है—वह दूसरे शब्दों में आत्मानन्द ही है। परमानन्द अथवा आत्मानन्द के बाद है सच्चिदानन्द। भाषा और अनुभूति—केवल पाँचवें आत्मशरीर तक ही है। अन्तिम भाषा है आनन्द और अन्तिम अनुभूति है—आत्मानुभूति। इसी आत्मा की अनुभूति को 'स्व' का बोध कहते हैं। 'स्व' का बोध हो जाने पर कुछ शेष नहीं रह जाता और जहाँ शेष कुछ नहीं रह जाता, न किसी प्रकार का बोध रह जाता है, न किसी प्रकार की भाषा रह जाती है और न रह जाती है किसी भी प्रकार की अनुभूति—वहाँ परमात्मा है। इसीलिए परमात्मा को बोध, भाषा और अनुभूति से परे कहा जाता है। परमात्मा का रूप सच्चिदानन्द है। मगर यह उसका रूप नहीं है और न तो उसके लिए यह 'भाषा' है। भाषा का प्रयोग सीमा में होता है। परमात्मा असीम और सर्वव्यापक है। सच्चिदानन्द 'शब्द' का प्रयोग उसके लिए करना एक प्रकार की अज्ञानता ही है। इसलिए हमारे ऋषियों ने 'नेति-नेति' कहा है।'

'आत्मशरीर की प्राप्ति के और आत्मोपलब्धि के बीच थोड़ा-सा अन्तर है और उस थोड़े से अन्तर के बीच यदि भौतिक जीवन और जगत् की स्मृति क्षणभर के लिए जागृत हो जाती है तो आत्मा की अनुभूति किये बिना ही हम पुनः सीधे स्थूल जगत् में लौट आते हैं और उस स्मृति से बने विचार और उस विचार से जन्म लेने वाले कर्म को भोगने के लिए पार्थिव शरीर ग्रहण कर लेते हैं। इस अवस्था में हमारे पास दो ही शरीर होते हैं—आत्मशरीर और भौतिक शरीर। शेष बीच के शरीरों को न ग्रहण करना पड़ता है और न तो उनकी जरूरत ही पड़ती है। आत्मशरीर को लेकर हम सीधे किसी योगी के सहयोग से किसी योगात्मा के गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं और यथा-समय संसार में जन्म लेते हैं।

'कहने की आवश्यकता नहीं—ऐसी ही घटना मेरे साथ घटी और मुझे

भी ज्योतिर्मयी के गर्भ से संसार में जन्म लेना पड़ा'—एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोली आरती ।

'कौन-सी ऐसी स्मृति थी—जिसने कर्म बनकर तुमको फिर ढकेल दिया इस संसार में ?'

मेरी बात सुनकर आरती ने स्थिर दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखा और फिर सिर घुमाकर एकटक निहारने लगी—क्षितिज को चूम रहे पूर्णमासी के चाँद की ओर। उस समय उसका चेहरा एक विलक्षण तेज से चमक रहा था और इसके अलावा गहरी शान्ति भी थी वहाँ।

थोड़ी देर बाद मेरी आँखों में आँखें डालकर हौले से बोली—'आपने शायद मुझें नहीं पहचाना।' इस अप्रत्याशित प्रश्न को सुनकर घबरा गया मैं। कुछ बोला न गया मुझसे। भौंचक्का-सा देखता रहा आरती की ओर।

मेरे बिलकुल करीब आ गयी आरती। फिर मेरी आँखों में आँखें डालकर हौले से बोली—'मुझे पहचाना नहीं ? मुझे समझने की कोशिश नहीं की तुमने ?'

मेरे लिये 'आप' की जगह 'तुम' का प्रयोग और फिर यह प्रश्न ? मुँह बाये आरती की ओर बस देखता रह गया मैं।

हँस पड़ी आरती। मेरी स्थिति देखकर हँसने के सिवाय वह कर ही क्या सकती थी ? खूब हँस लेने के बाद बोली—'अरे पगले ! मैं अर्चना हूँ, अर्चना ! बंगाल की माँ भैरवी।'

'बंगाल की माँ भैरवी···कौन माँ भैरवी ? मुझे तो आरती सचमुच कुछ याद नहीं है।'

यह सुनकर फिर एक बार जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ी आरती और बीच में हँसी रोककर कहने लगी—'कैसे याद रहेगी इतने दिनों की बात ! भूल जाना स्वाभाविक है। भला कौन अपनी स्मृति में संजोकर रखेगा—माँ भैरवी की अग्निसमाधि की घटना को !'—यह सुनकर अचानक मेरे मस्तिष्क में कुछ कौंध-सा गया और फिर एक साथ तमाम घटनाएँ उभर आयीं मानस-पटल पर।

'तो क्या मधुमति के तट पर अग्निसमाधि लेने वाली माँ भैरवी ही थी आरती।'

हाँ वही थी। जरा-सा भी सन्देह न था इसमें। मैंने अपने ही हाथों से उसका जीवित चिता में अग्नि-दान दिया था। मैंने ही प्रज्ज्वलित अग्नि में समर्पित किया था, उस महायोगिनी की पार्थिव काया को ! मगर कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि उस विलक्षण योगसाधिका से फिर भेंट होगी जीवन में और वह भी दूसरे शरीर में, दूसरे रूप में और दूसरे परिवेश में। हतप्रभ-सा निहारता रह गया मैं आरती की ओर। और तभी आरती आरती का स्वर सुनाई पड़ा, वह कह रही थी—'क्या सचमुच भूल गये तुम

मधुमति के तट पर स्थित तारापीठ की भैरवी को ? कुछ भी याद नहीं है तुम्हें अब ? बोलो, कुछ तो बोलो···' ।

'नहीं, नहीं, ऐसा मत कहो आरती ! मुझे सब कुछ याद है। सारी घटनाएँ मानस में उभर आयी हैं अब । किसी भी घटना को विस्मृत नहीं कर पाया हूँ मैं । भला कैसे विस्मृत हो सकती हैं वे तमाम अलौकिक घटनाएं ?'

'सच पूछो तो तुम्हारे प्रति मेरी भावनाएँ थीं । कामनाएँ थीं । विचार थे । थोड़ी आसक्ति भी थी । और यही सब मिलकर स्मृति बन गयी थी— जिसे कर्म के रूप में भोगने के लिए आना पड़ा इतने ऊपर से और इतनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के बावजूद भी । अगर न आती, तो तुमसे भेंट फिर कैसे होती ? पहली बार में ही तुमको पहचान गयी थी । लेकिन तुम मुझे नहीं पहचान सके ।' पूर्णमासी का रूपहला चाँद काफी ऊपर आ गया था । सारी प्रकृति गहरी खामोशी में डूब चुकी थी । काफी दूर मणिकर्णिका घाट के श्मशान में जल रही चिताओं की लाल-पीली लपटों की छाया गंगा में पड़ती हुई साफ दिखलायी दे रही थीं ।

अन्तिम शब्द के साथ आरती का सिर उधर ही घूम गया और अपलक निहारने लगी—उस छाया को । हम दोनों मौन थे । हृदय मौन में ही कहीं अधिक निकटता का अनुभव करता है । और शब्द जिन घावों को नहीं भर सकता—मौन उसे भी स्वस्थ करता है । शब्द और ध्वनियाँ तो पूर्ण संगीत में बाधा रूप ही हैं ।

और मौन के उन क्षणों में सोचने लगा मैं, 'मेरे प्रति कौन-सी आसक्ति के वशीभूत हो गयी अर्चना । कैसी थी वह आसक्ति ? और कौन-सी भावना कौन-सी कामना थी उसकी··· ? और उसी के साथ अर्चना का रूप उभर आया मेरे सामने ।

तन्त्रसाधक श्यामाचरण मुखोपाध्याय

बंगाल के प्रसिद्ध योगी और तांत्रिक श्यामाचरण मुखोपाध्याय से परिचय मिला था मुझे अर्चना का ।

मुखोपाध्याय महाशय जहाँ एक ओर उच्च कोटि के योगी थे, वहीं दूसरी ओर भयंकर तंत्रसाधक भी थे ।

उन दिनों गुप्त रूप से निवास और विचरण करने वाले योगियों और साधकों की खोज में पूरे भारत के अलावा हिमालय की हिमगुफाओं में भटक रहा था मैं । तभी पता चला मुझे योगी और तांत्रिक श्यामाचरण मुखोपाध्याय महाशय का ।

लीजिये पहले आप उस महान् योगी और तांत्रिक की ही कथा सुनिए । बड़ी ही विलक्षण और अद्भुत कथा है उनकी । गंगा हिमालय के गोमुख स्थान से निकलती है और बंगाल की खाड़ी से समुद्र में मिल जाती है ।

सैकड़ों मील की अपनी इस लम्बी यात्रा में उसके कई नाम हैं—जिसमें एक नाम है पद्मा। और पद्मा के नाम से गंगा की धारा इस समय बांगला देश की भूमि में प्रवाहित है। मगर उस समय न पाकिस्तान था और न तो था बांगलादेश। सब हिन्दुस्तान था और हिन्दुस्तान की पवित्र भूमि में बहती थी पद्मा।

मेरे एक मित्र थे—आशु बाबू। तंत्र-मंत्र में उनकी विशेष रुचि थी। एक दिन रात्रि में बैठकर कुण्डलिनी जागृत करने का प्रयास कर रहे थे और उसी प्रयास में बेहोश हो गये। पूरी रात चेतनाशून्य पड़े रहे कमरे में। उसी स्थिति में उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। बाद में चेतना लौटने पर जब उन्होंने उस दृश्य' का वर्णन मेरे सामने किया, तो मुझे सहज ही विश्वास नहीं हुआ उसको सुनकर।

पद्मा के तट पर तारापीठ है और तारापीठ के आश्रम में एक महात्मा निवास करते हैं। अचेतन अवस्था में वे महात्मा ही आकर ले गये थे अपने आश्रम में आशु बाबू को। तारापीठ महाशक्ति पीठ है। नाम सुना था मैंने भी। उच्च कोटि के एक तांत्रिक योगी भी वहाँ निवास करते हैं—यह भी सुन रखा था मैंने।

'महात्मा मुझे आकाशमार्ग से ले गये—आशु बाबू ने बतलाया—काफी बड़ा था वह आश्रम। आश्रम में कई भैरवियाँ और योगसाधिकाएँ भी थीं। मगर सभी अपनी-अपनी साधना में लीन। महात्मा ने मुझे दीक्षा दी वहाँ। बड़ी अनुभूतिमयी थी वह दीक्षा। सारा शरीर एक विलक्षण ताप से जलने लगा मेरा। उसके बाद ऐसा लगा मानो नीचे से ऊपर तक सुषुम्ना के भीतर जलता हुआ पारा दौड़ गया हो। और फिर उसी के साथ मेरी चेतना वापस लौट आयी।

तन्त्रसाधक ताराचन्द्र

मैं खोजी वृत्ति का रहा हूँ हमेशा। जब तक मैं देख नहीं लेता, स्वयं चिन्तन-मनन नहीं कर लेता और स्वयं अनुभव नहीं कर लेता तब तक किसी तथ्य पर विश्वास करने की आदत मुझमें नहीं है। और अपने इसी सिद्धान्त के वशीभूत होकर मैं एक दिन चल पड़ा आशु बाबू की बातों की वास्तविकता का पता लगाने के लिए। चार-पाँच दिनों की लम्बी और कष्टदायिनी यात्रा के बाद मैं गन्तव्य स्थान पर पहुँचा। ठहरने की व्यवस्था एक टूरिस्ट बंगले में हो गयी। पूछने पर चौकीदार ने बतलाया कि यहाँ से जो लाल रंग का काफी बड़ा मकान दिखलायी दे रहा है, जिसके चारों ओर काफी पेड़-पौधों वाला बगीचा है और बीच में एक मन्दिर जैसा है, उसी के पास लाल रंग का झण्डा फहरा रहा है—वही है तारापीठ का सदियों पुराना आश्रम।'

'आश्रम में कोई महात्मा भी रहते हैं?

'हाँ, सा'ब ! रहते हैं। तांत्रिक हैं। खूब ख्याति है यहाँ—हालाकि सुख्याति की जगह कुख्याति ही अधिक है। सुनता हूँ कि वे दिन-रात शराब पीते हैं। उनकी आँखें शराब और गाँजे के कारण गुड़हल के फूल जैसी रहती हैं हमेशा। वे बड़े ही कटुभाषी और अभद्र हैं। कोई मिलने जाता है, तो मार-पीट करते हैं और कभी अच्छी-अच्छी बातें भी करते हैं। भूत-भविष्य-वर्तमान—सब बता देते हैं। जैसे छपी हुई किताब में लिखा हो।'

टूरिस्ट बंगले में एक और सज्जन थे। उनसे मालूम हुआ कि महात्मा में नारी सम्बन्धी भी दोष हैं। उनके पास प्रायः नयी-नयी भैरवियाँ दिखलायी देती हैं। इस मामले में वे भाग्यवान् भी हैं। उम्र साठ के ऊपर है। कोई-कोई उन्हें और भी ज्यादा बतलाते हैं। मगर आजकल जो भैरवी उनके पास मौजूद है, वह परम सुन्दरी है और उसकी उम्र बीस-इक्कीस से ज्यादा नहीं है। बंगाल के किसी धनी परिवार की इकलौती लड़की है वह। नाम है अर्चना। अपने साथ बहुत सारे जड़ाऊ गहने और सोने की मुहरें लायी है। महात्मा उसी के साथ पड़े रहते हैं बन्द कमरे में।

उस सज्जन ने आगे यह भी बतलाया कि कलकत्ते के किसी प्रसिद्ध व्यापारी का लड़का—देखने में सुन्दर, पढ़ने-लिखने में तेज है, कालेज छोड़कर साधु बाबा के पास आकर पड़ा हुआ है। नौकर की तरह रहता है। एक और भी युवक है। कश्मीरी ब्राह्मण है वह युवक। वह खाना बनाता है। पूजा-पाठ करता है। पैर दबाता है। और कभी-कभी बाबा की लात भी खाता है। जरा-सी बात पर भी बाबा कसकर पीट देते हैं बेचारे को। सुना है कि एक दिन व्यापारी के लड़के की छाती पर बैठकर उन्होंने जबर्दस्ती उसे शराब पिलायी थी। लड़का मरते-मरते बचा। छः घण्टे तक बेहोश पड़ा रहा। मगर ये लोग सब कुछ सह कर के भी, तमाम दुर्दशाओं के बावजूद भी जाते नहीं। वहीं पड़े रहते हैं। माँ-बाप आकर रोते-पीटते हैं। लड़कों के हाथ-पैर पकड़ते हैं, मगर वे घर लौटकर जाना नहीं चाहते। किस लोभ में पड़े हैं, कोई नहीं जानता।

० ० ०

दूसरे दिन देखा—चार-पाँच भलेमानुषों की एक टोली आयी और मेरे बगल वाले हाल में ठहर गयी। बातों-ही-बातों में पता चला कि उन महा-पुरुषों को साधुसंगत की कुछ सनक है। वे लोग तीर्थों में जाते हैं—मगर वहाँ देवताओं के दर्शन के लिए नहीं, साधु-सन्त खोजने। तारापीठ में एक महात्मा रहते हैं, सिद्ध पुरुष हैं—यह सुनकर आये थे। उस टोली में एक ऐसे सज्जन थे, जो अत्यन्त अन्धविश्वासी थे। उन्होंने बतलाया कि महात्माजी शिष्य नहीं बनाते। धन-दौलत और प्रचार भी नहीं चाहते। ऐसा आदमी यदि साधु न हो तो और कौन होगा ? महात्मा अपने भक्तों और प्रसंशकों से

बराबर बचकर ही रहते हैं। ऐसे ही साधु की वे लोग इतने दिन से खोज कर रहे थे।

लोगों ने मना किया कि बदमिजाज और शराबी आदमी है। मत जाइये ख्वाहमख्वाह छेड़ने ! मगर उन लोगों ने किसी की एक न सुनी। और दूसरे दिन सबेरे ही स्नान करके फूल, मिठाई, अगरबत्ती आदि खरीदकर साधु-दर्शन के लिए गये। वे लोग शायद यह सोचे थे कि आश्रम में जब एक मन्दिर है तब देवता के नाम पूजा का सामान ले जाने पर कुछ लौटा न सकेंगे। दूसरे सबेरे के वक्त शराब का प्रभाव भी कम रहेगा।

मगर पता नहीं क्यों महात्मा उन लोगों को देखते ही जल उठे। 'निकलो ! अभी निकल जाओ ! कुत्ते के बच्चे' आदि गालियाँ देते हुए साधु ने फूल, मिठाई वगैरह सब उठाकर फेंक दिया। फिर पैर से खड़ाऊँ उतारकर जो लोग सामने पड़ गये—फेंक-फेंककर मारा। मगर वे लोग फिर भी न हटे। और एक सज्जन झुक कर पैरों पर गिरने चले, तो साधु ने एक भारी-सा लोहे का चिमटा उठाकर उनके माथे पर जमा दिया। तब भागने के सिवाय कोई चारा न रहा। उसी दिन वह टोली वापस चली गयी। खैर मुझे सब कुछ रहस्यमय लग रहा था। ख्वाहमख्वाह दर्शनार्थी भक्तों के प्रति इस दुर्व्यवहार का क्या मानी है। क्या यह भी प्रचार का एक कौशल है, जिसे 'पब्लिसिटी स्टण्ट' कहते हैं अथवा इसका और कोई गहरा रहस्य है ?

वास्तव में क्या यह साधु मानव-समाज से छिपकर रहना चाहता है ? वह कोई क्रिमिनल तो नहीं है। नहीं तो शिष्यों के बिना काम कैसे चलता है ? माना कि आज पैसे वाली युवा भैरवी आ जुटी है—मगर इतने दिन कैसे चलता था। मकान, मन्दिर नित्य सेवा-पूजा सभी काम तो चल रहा है। शराब का दाम भी तो कम नहीं है। और वह लड़की ही कितना पैसा लायी होगी भला। यह सब क्या एक बड़ा आवरण नहीं है। सचमुच वह क्या करता है। वह कोई 'रिसीवर आफ स्टोलेन प्रापर्टी' है या कोई स्थायी। या वह सचमुच कोई सच्चा साधु है। पुलिस उसकी इतनी इज्जत क्यों करती है। मुनाफे के लिए या भक्ति के लिए या श्रद्धा के कारण ?

० ० ०

काशी के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान् और तांत्रिक रामचरण गांगुली के मुख से तारापीठ के महात्मा की चर्चा मैंने सुनी थी और जिनके रूप-रंग के सम्बन्ध में सुना था आशु बाबू से—निश्चय ही वे महात्मा यह साधु नहीं हो सकते। कहाँ वे उच्च कोटि के योगी तांत्रिक और कहाँ ये बदमिजाज शराबी, स्त्री-गामी साधु। मैं जितना ही सोचता उतना उत्तेजित होता। निश्चय ही तारापीठ आकर मैंने भारी भूल की थी आशु बाबू की चमत्कारी बातों पर मुझे विश्वास

नहीं करना चाहिए था। मन को एक बड़ा धक्का लगा। खूब कष्ट भी हुआ। फिर सोचा, एक बार उस मदिरापायी साधु से भेंट कर ही लेना चाहिए।

दूसरे दिन मुझसे रहा न गया। आखिर दिन के तीसरे पहर आश्रम की ओर चल ही पड़ा। उस समय अपनी बुद्धि और विचारशक्ति के प्रति आस्था कम हो गयी थी। हम लोग कोई भी मनुष्य को नहीं पहचानते। किसके भीतर क्या है—वह केवल भगवान् ही शायद जानते हैं। खैर आगे बढ़ता गया। अब मेरे सामने पद्मा की धवल धारा थी। बड़ी चौड़ी थी धारा। और तट से हटकर ऊपर ऊँची मुड़ेर से घिरा एक तल्ला मकान दिखलायी पड़ा। मेरा सन्देह और भी बढ़ गया। इस तरह जेलखाने जैसी ऊँची दीवार बना कर लोगों की नजर से बचकर रहने का क्या उद्देश्य है? साधु के आश्रम में ऐसा कौन-सा अवांछनीय कार्य-कलाप हो सकता है, जिसमें आदमी की नजर पड़ने से बाधा पड़ जायेगी। शराब और नारी सम्बन्धी दुराचार की कथा तो सब लोग जान ही गये हैं। तब जरूर कोई और भी कुकर्म यहाँ छिपकर होता है जो कोई देख ले या जान जाय तो मुसीबत आ सकती है।

शाम तक आश्रम के चारों ओर चक्कर काटता रहा—मगर न तो साधु, न उसकी सुन्दरी भैरवी और न उन दो लड़कों में से कोई एक बाहर आया। न किसी ने दरवाजा खोला। शक्ल-सूरत में कौन कैसा है-सो भी नहीं जान सका। दरवाजे पर धक्का देकर खुलवाने का साहस मुझे नहीं हुआ। 'देख कर सीखना बुद्धिमानी का काम है।' बेवकूफ लोग तो जाकर सीखते हैं। खैर।

दूसरे दिन भोर होते ही फिर गया। खूब तड़के उठा था। आश्रम के पास जब पहुँचा—तब भी पाँच बजने में देरी थी। दूर से देखा—आश्रम के सामने ही एक ऊँचे से टीले पर महात्माजी बैठे हैं। और अपलक दृष्टि से नवालोकित पूर्वाकाश की ओर देख रहे हैं। उनकी दृष्टि स्थिर है। साथ ही शरीर भी निश्चल है। मानो कोई निष्प्राण पत्थर की मूर्ति है। शायद इसी को योगासन कहते हैं। तो फिर? यह तो कोई जादूगरी या विज्ञापन नहीं मालूम होता। इतने तड़के निश्चय ही किसी दर्शनार्थी भक्त के आने की आशा न की होगी। जिसे दिखाने के लिए इस प्रकार बैठे होते। हाँ! अगर मेरे आने की आशा की हो—तो बात और है। मगर तब तो यही समझना होगा कि वह कोई बड़े शक्तिशाली तपस्वी हैं।

खूब सावधान होकर—जिससे कोई आवाज न हो—धीरे-धीरे पैर उठाता मैं उनके पास बढ़ गया। फिर चेहरे पर नजर पड़ी। एकबारगी चौंक पड़ा। यह चेहरा तो मेरा परिचित है। अच्छी तरह पहचाना हुआ।

सात-आठ साल का समय कम न होंने पर भी इतना ज्यादा नहीं होता कि इतनी भूल हो जाये। वही मुँह, वही दाढ़ी, माथे पर वही सिन्दूर की लम्बी रेखा, जिसके बीच में सफेद चन्दन का टीका। परिवर्तन खाली इतना

है कि पहले सिर के बाल ऐसे ही बड़े-बड़े और उलझे-उलझे हुए थे और अब — पीछे की ओर दो-तीन छोटी-छोटी जटायें हो गयी हैं। पहले बाल अधकचरे थे। अब सफेद बाल अधिक हैं, काले कम। दाढ़ी भी थोड़ी बढ़ गयी है — मगर वह भी सफेद है।

स्वामी ताराचन्द्र हैं ये महाशय। बंगाल के बहुत बड़े तंत्रसाधक। बहुत अच्छी तरह परिचित था मैं उनसे। मगर सदा आनन्दमय परोपकारी सरल साधु जो यहाँ आकर एक भयंकर शराबी और बदमिजाज तांत्रिक में कैसे परिणत हो गये? समझ में नहीं आया।

स्मृति और चिन्ता का विवरण कागज पर लिखने में काफी समय लगता है। मन के भीतर वह क्षणभर में पूरा हो जाता है। सामने जाकर विस्मय का धक्का संभाल पाने के पहले ही उन्होंने आँखे खोलकर देखा। नहीं, आँखें तो खुली ही थीं — केवल दृष्टि मेरी तरफ घूम गयी।

सस्नेह और सहज भाव से बोले — 'आ! मैं जानता हूँ कि तू पिछले रविवार को आया है।···नहीं, नहीं, योगबल से नहीं? तू कल रात को जब आ रहा था—तभी मैंने देख लिया था। सोच रहा था कि तू इस शराबी-गंजेड़ी साधु को देखने फिर एक बार आयेगा। नहीं तो एक दिन बुलवा ही लूंगा। मैं पहले ही खबर भेजता। मगर मैंने किसी को भेंट करने के लिए बुलवाया है — ऐसा सुनकर इतना शोरगुल शुरू हो जाता कि तू भी त्राहि-त्राहि कर उठता।···चल भीतर चलें।···शराबी, चरित्र-भ्रष्ट साधु के आश्रम में जाने से घृणा तो नहीं होगी।'

यह कहकर वे धीरे से हँसे। वही अभ्यस्त मीठी सरल हँसी। शराबीपन का कहीं कोई चिह्न तक नहीं था। बदमिजाजी की गंध तक नहीं थी।

बात मजाक में कही थी या सत्य थी — समझ में नहीं आया। जो भी हो, इस तरह सीधे आक्रमण से मेरा झेंपना ही स्वाभाविक था। वही हुआ। हँसूँ कि अफसोस करूँ या प्रतिवाद करूँ। सो ठीक न समझ कर बेवकूफ की तरह जरा-सा हँसकर मैंने कहा — 'यहीं बैठें न? खूब एकान्त है यहाँ।' उन्होंने तुरन्त गर्दन हिलाकर कहा — 'अच्छी बात है; बैठ यहीं। एक घंटे पहले किसी की नींद नहीं खुलेगी। तब तक बातें हो लेंगी। तेरे पेट में तो चाय भी नहीं पड़ी है शायद। सो चाय मिलेगी तुझे। भैरवी से तेरी बात कह रखी है। वह निश्चय ही तुझे पहचान गयी है कि तू वही है। अभी चाय भेजेगी वह।'

उनके इतना कहने के प्रायः साथ ही साथ सतरह-अठारह बरस का अति सुन्दर ब्राह्मण लड़का — नंगे बदन पर जनेऊ पड़ा था। इसलिए ब्राह्मण समझने में दिक्कत नहीं हुई — आकर एक सुन्दर-सी ट्रे में चाय का सामान रख गया। समझते देर न लगी कि यह वही लड़का है जो घर से भाग आया है। ऐसा

लड़का घर-बार छोड़ कर बिना वेतन के नौकर का काम कर रहा है। माँ-बाप के पागल हो जाने की बात ही है।

मैंने दो 'कप' चाय बनायी।

ताराचन्द्र मुस्कराये। बोले—'भयंकर तांत्रिक हूँ। शवासन द्वारा कुण्डलिनी सिद्ध की है मैंने। दिन-रात शराब के नशे में डूबा रहता हूँ मैं। चाय क्या पीयूँगा?'

हठात् मैं पूछ बैठा—'आशु बाबू को आप जानते हैं?'

'कौन आशु बाबू?'

'वही, जिसे पकड़कर आप यहाँ ले आये थे!'

मैं पकड़कर लाया था? फिर थोड़ा सोचकर वे निःशब्द ही कुछ देर तक खूब हँसे। कौतुक भरी हँसी थी वह। मेरी दुर्बलता पकड़ी गयी थी।

इसी मतलब से आया है शायद। इतने दिनों का कौतूहल मिटाने। ठीक है। अच्छा सुन—'मैं आकाशमार्ग से जा रहा था। आशु अपनी कोठरी में बैठकर साधना कर रहा था। मैंने देख लिया। थोड़ी गड़बड़ी थी साधना में। बस पकड़ लाया उसे यहाँ और एक गुप्त दीक्षा भी दे डाली···अब कैसा है आशु?'

'ठीक है! साधना कर रहा है। मगर आपका रहस्य नहीं बतलाऊँगा उसे जाने पर। वर्ना···'

'हाँ! ठीक कहते हो। न बतलाना ही उचित है।'

'आपसे एक बात पूछ सकता हूँ।'

'हाँ-हाँ, पूछो।'

'आप शराब इतनी क्यों पीते हैं?'

थोड़ी देर तक कौतुकमिश्रित हँसी हँसकर बोले—'पगले! तू इतना भी नहीं जानता। फिर क्या कुण्डलिनी-साधना' पर खोज कर रहा है। मैं शराब न पीऊँ, तो क्या करूँ? जब काशी में था न! अभ्यास करते-करते एक दिन अपने आप पूर्व संस्कार के कारण मेरी कुण्डलिनी जाग्रत् हो गयी। मगर उसके उत्ताप को संभालना कठिन हो गया मेरे लिए। १०३ डिग्री बुखार-सा तपने लगा मेरा सारा शरीर। व्याकुल हो उठा मैं। कुछ दिन ऐसा ही रहा। फिर बाद में सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर मेरी हालत और खराब हो गयी। रीढ़ की हड्डियाँ चट-चट करने लगीं। महाभैरवी को जब मालूम हुआ तो उसने मदिरापान की सलाह दी। तब से शराब पी रहा हूँ।

'शराब से और कुण्डलिनी से क्या सम्बन्ध है?'

'पाँचों शरीर आत्मा के आवरण हैं—समझे न—आत्मा इन पाँचों शरीरों के भीतर छिपी रहती है। मगर शरीरों के आणव मल के कारण आत्मा प्रकाशित नहीं हो पाती। कुण्डलिनी के तेजोमय उत्ताप से वे आणव मल

नष्ट हो जाते हैं—मगर विकार रह ही जाता है। और उस विकार को दूर करने तथा साथ ही साथ एक शरीर को दूसरे शरीर से अलग करने के लिए मदिरा-पान जरूरी हो जाता है। कुछ लोग अपने सम्प्रदाय के अनुसार अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो शरीर के उत्ताप को नियन्त्रित करने के लिए अपने शरीर पर विषधर सर्पों को भी लपेटे रहते हैं। विषमयी नशीली वस्तुएँ कुण्डलिनी के उत्ताप को सहन करने की क्षमता पैदा करती हैं मन में। जिससे एक लाभ और होता है—वह यह कि मन एकाग्र और शक्तिशाली होकर आत्मा के करीब पहुँचने का प्रयत्न करता है। नशीली चीजों की दृष्टि से योगी और योगी में यही अन्तर है—समझ गये न !

हाँ समझ गया। मगर आप काशी छोड़कर यहाँ कैसे आ गये, यह अभी तक नहीं समझा मैंने।

मेरी बात सुनकर हो-हो कर हँसने लगे महाशय। फिर बोले—'यह रहस्य बाद में बतलाऊँगा। मगर यह समझ लो यहाँ मैं एक प्रकार से बड़ी शान्ति से हूँ शर्मा बाबू !' ढेर सारे भक्त और शिष्य जुट जाने से एकदम गृहस्थ हो जाना होता है। संसार में फँस जाना होता है। तब वही लोग अपने सगे हो जाते हैं। उनके रोग, शोक और वेदना का अंश लेना होता है। वही बड़ी कष्टदायक स्थिति हो जाती है। सबको लेकर एक विराट् परिवार बन जाता है। यह झंझट और अशान्ति ही करता रहूँ तो अपना काम कर सकूँगा भला ! तब संसार छोड़ा ही क्यों ? व्याह-शादी कर के अपने बाल-बच्चों को लेकर भी तो रह सकता था ?'

मैंने कहा—'इसीलिए क्या इतनी मार-पीट कर बैठना, कहीं कोई खून-खून हो गया तो क्या होगा ?'

'ओ ! यहाँ के शौकीन भक्तों की बात कर रहा है ! कल वे लोग सर्किट हाउस से आये थे न···। सच कहूँ। ऐसे भक्तों को देखकर मेरे सिर में रक्त चढ़ जाता है। आग लग जाती है तन-बदन में। लगता है—इन बदमाशों का खून कर डालूँ। टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। खुद कुछ नहीं करेंगे ये लोग। खुद किसी रिपु को दमन करने की चेष्टा नहीं करेंगे ये लोग और आशा करेंगे कि महापुरुष महात्मा या साधु बाबा—जिन्हें पकड़ रखा है—वे ही उनकी तरफ से सब कुछ कर देंगे।'

भाव यह होता है कि तुम साधु हो, महात्मा हो, हम तुम्हारी भक्ति करते हैं और यही बहुत है। अब तुम्हारा कर्तव्य है कि हमको तार देना। हमारा उद्धार कर देना। हम बैठे-बैठे आराम करेंगे। भर पेट खायेंगे। विलास में डूबे रहेंगे। पाप, अन्याय, चोरी, बदमाशी सब करेंगे। तुम हमारे इह लोक की आपद-विपद काट दोगे। लड़कों की अच्छी नौकरी, लड़कियों का व्याह यह सब प्रबन्ध कर दोगे। उन्हें परीक्षा में पास करा दोगे। साथ ही परलोक में

भी एक अच्छा-सा मकान देख रखोगे और ऐसी व्यवस्था कर दोगे कि वहाँ भी सुखपूर्वक हम लोग रह सकें। और भगवान का दर्शन भी इसी तरह, अगर हमें फुर्सत मिले—अपने काम-धाम और शौकों के बाद, तो तुम वह भी करा देना। समझा तू? इन लोगों के हर काम में इसी तरह का भाव रहता है। बीमार होने पर देखता नहीं। कोई जरा भी सावधान नहीं होता? कहते हैं—अरे! सावधान ही रहें तो डाक्टर को दिखाने और दवा खाने से क्या फायदा? पैसा भी खर्च करें और खाना-पीना भी बन्द कर दें? पाप! पाप!! महा-पाप!!! इन लोगों का मुँह देखने से पाप लगता है। ये लोग जब दाँत निपोर-कर इस तरह भोले-भाले बनकर सामने आ खड़े होते हैं, तो मेरा सारा शरीर बिच्छू काटने की तरह जलने लगता है। ज्यादा देर इन लोगों का संग करने से आत्मा का अधःपतन होता है। साधन-भजन नष्ट हो जाता है।

कहते-कहते साधु की दृष्टि आग की तरह जलने लगी। चेहरा सुर्ख हो गया। कुछ देर चुप रहकर एक अमानवीय चेष्टा से उन्होंने अपने को संभाल लिया। बोले—'इसीलिए उन्हीं लोगों के कारण मानव-संसर्ग से मुझे घृणा हो गयी है। बनारस से जो चला आया, इसी जलन के कारण। समझे न। इन स्वार्थी, मतलबी लोगों ने मेरी आँखें खोल दीं। समझ गया कि इस तरह रहने से और भी फँस जाऊँगा और अपना काम धरा का धरा रह जायेगा।'

'आपके पास यह भैरवी कौन है?'

पहले साधु हँसे। फिर बोले—'यह रहस्य जानने के लिए तेरा पेट फूल रहा है न। औरतों की तरह इतना कौतूहल क्यों हो रहा है बेटा? तू तो पुरुष है। जिसे तू साधारण कोटि की युवती समझ रहा है वह महाभैरवी है गधे! उसकी उम्र जितनी कम तू समझ रहा है—उतनी कम नहीं है। इसके अलावा समझ ले कि यह भी जन्मान्तर का सम्पर्क है। पिछले जन्म में भी वह मेरी भैरवी थी। माँ की कुछ मजाक करने की इच्छा थी, इसी से वह छिटककर दूसरी जगह जा पड़ी थी।...मगर और नहीं। इसी जन्म में उसका शरीर धारण करना समाप्त हो जायेगा। उसे माँ का प्रसाद और कृपा मिल गयी है। ऊँचे मार्ग की साधिका है वह। सुनकर अवाक् हो जायेगा तू। पर मैं रोज फूल, चन्दन अर्पण कर उसकी पूजा करता हूँ।'

और ये दोनों लड़के?'

'वे भी निश्चय ही पूर्व जन्म के संस्कार हैं। नहीं तो वे ही भला इस तरह क्यों पड़े रहते। और मैं भी उन्हें क्यों नहीं भगा पाता? निश्चय ही वे पिछले जन्म में उन्नति कर चुके हैं'।

'आश्रम का इतना लम्बा-चौड़ा खर्च कैसे पूरा होता है?'

ठहर जा रे! जरा दम तो लेने दे। स्नेह के स्वर में उन्होंने मुझे डाँटा। फिर बोले—'यही जानने के लिए और भी तू छटपटा कर मरा जा रहा

है न !···अरे पगले यदि मैं भूखा रहूँ, तो माँ को नींद नहीं आयेगी। उसकी गरज है। उसका आश्रम है। वह चलाती है। माँ देख-भाल करती है। रुपये-पैसे कहा से आते हैं। किसी भी दिन इसकी खोज मैंने नहीं की। आज ही खोज करने क्यों जाऊँ? रुपये की खोज यदि लेने लगूँ और आमदनी की चिन्ता करने लगूँ—तो फिर साधू कहाँ रहा बेटा! मैं इन सब बातों को लेकर सिर नहीं खपाता। माँ की सेवा करता हूँ। और निश्चिन्त होकर आनन्द से उसके होटल में रहता हूँ।'

इतना कहकर एक बार उन्होंने चारों ओर देखा और फिर अपनी जगह से उठते हुए बोले—'अच्छा! अब भाग जा यहाँ से। दिन चढ़ रहा है। कोई तुमको देख लेगा तो पीछे पड़ जायेगा।'

'मगर मैं भैरवी का दर्शन करना चाहता हूँ।'

'दर्शन हो जायेगा। अभी तू यहाँ से जा'।

मुझसे आगे कुछ बोला न गया। वापस लौट आया मैं रेस्ट हाउस में। पूरा दिन कमरे से बाहर नहीं निकला। न जाने कैसी मन:स्थिति हो गयी थी मेरी। एक बार सोचा लौट चलूँ बनारस। अब क्या रहा यहाँ जानने-समझने के लिए। मगर बाद में विचार बदल गया। भैरवी के सम्बन्ध में विस्तार से जानने-समझने के लिए मेरा मन एकबारगी व्यग्र हो उठा। ताराचन्द्र साधू ने भैरवी का जो परिचय दिया था—वह निश्चय ही अधूरा था। सन्तोष नहीं हुआ था मुझे। निश्चय ही वे जान गये थे उसके विषय में। पूरा दिन यही सब सोचता-विचारता रहा मैं। रात को भी नींद नहीं आयी मुझे। अर्चना···बड़ा ही आकर्षक और सुन्दर नाम था भैरवी का। अनजाने में ही मोह पैदा हो गया था मेरे मन में उसके प्रति।

सबेरा होने वाला था शायद। काफी दूर मुर्गे के बोलने की आवाज के साथ ही टन्-टन् कर चार का घंटा बजा कहीं। आँख जल रही थी मेरी। मगर उठकर बैठ गया मैं बिस्तर पर। फिर बाहर बरामदे में निकल आया। पूरब का आकाश धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। जिसके हलके प्रकाश में तारापीठ के मन्दिर का कंगूरा और रक्तध्वज बड़ा ही रहस्यमय लग रहा था। वातावरण में गहरी निस्तब्धता छाई हुई थी। अपलक दृष्टि से मैं कंगूरे के ठीक ऊपर—आकाश में झिलमिला रहे शुक्र तारा की ओर देख रहा था कि तभी···।

प्रकरण : तीस

तारापीठ की वह रहस्यमयी भैरवी

पूरब का नीला-स्याह आकाश धीरे-धीरे सफेद होता जा रहा था।

पद्मा के स्वच्छ जल में तारापीठ के मन्दिर की छाया बिलकुल स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगी थी। मैं जल में झिलमिलाती हुई उस छाया की ओर निहार रहा था कि मेरी नजर एक युवती पर पड़ी।

वह युवती अत्यधिक सुन्दर थी। लगभग आयु २४-२५ वर्ष। शरीर का रङ्ग बर्फ की तरह सफेद था। लम्बी घनी केशराशि पीठ पर बिखरी हुई थी।

युवति मन्दिर से निकलकर धीरे-धीरे पद्मा की ओर बढ़ रही थी। मैंने उसे पहचान लिया। वह अर्चना थी। न जाने क्यों उसी समय उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठा मेरा चित्त और जब मैं दौड़कर उसके करीब पहुँचा तो उसने सिर घुमाकर मेरी ओर एक बार देखा। फिर एकबारगी मुस्करा पड़ी

'आप काशी से आये हैं न ?' — मुस्कराते हुए अर्चना ने पूछा।

'हाँ ! काशी से ही आना हुआ है मेरा।'—मैंने धीमे स्वर में उत्तर दिया।

'क्या नाम है आपका ?'

'अरुण कुमार शर्मा !'

'बड़ा सुन्दर नाम है !' — हँस कर बोली अर्चना। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ गयी।

'आप निश्चय ही उच्च कोटि की साधिका हैं। आपके सम्बन्ध में बहुत कुछ सुन चुका हूँ।'—मैं थोड़ा रुककर आगे बोला — 'साधना-प्रसंग पर आप से मैं कुछ विशेष चर्चा करना चाहता हूँ, क्या आप मुझे इसके लिए थोड़ा समय देंगी ?'

यह सुनकर अर्चना खिलखिलाकर हँसने लगी। फिर बोली — 'आप पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं। योग में भी आपका अधिकार है। भला मैं आपसे क्या चर्चा कर सकती हूँ ?'

'आपके पास विशेष अनुभव ज्ञान है। शास्त्रीय ज्ञान से कहीं अधिक अनुभव ज्ञान का मूल्य और महत्त्व है। मैं तो आपके अनुभव ज्ञान को जानने-समझने के लिए इतनी दूर चलकर आया हूँ।'

इस बार अर्चना गम्भीर हो गयी। पद्मा के निर्मल जल की ओर निहारते हुए धीरे से बोली — 'पिछले दो जन्मों से साधना-मार्ग पर हूँ, मगर अभी तो

आत्मशरीर में ही भटक रही हूँ मैं। आप स्वयं सोचिए। जो साधक अभी आत्मस्थिति में ही भटक रहा हो, वह भला क्या समाधान करेगा—योग के गूढ़ तथ्यों का ?'

अर्चना टाल रही है मुझे यह समझते देर न लगी। मैंने कहा—'आप इस समय जिस आध्यात्मिक स्थिति में हैं, बस मैं उसे ही जानना-समझना चाहता हूँ।'

इतना कह कर न जाने किस भावावेश में आकर मैंने लपक कर अर्चना के दोनों हाथ थाम लिये और उसी स्थिति में—सामने खड़ा होकर आगे बोला—'मैं जानता हूँ कि मुझमें किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक ज्ञान की योग्यता नहीं है, मगर आपको मुझ पर कृपा करनी ही पड़ेगी। अपने अनुभवों को बतलाना ही होगा। उन्हें शब्द रूप देना ही पड़ेगा'। अपने हाथों को छुड़ाती हुई अर्चना बोली—'किसमें कितनी योग्यता है, कितनी आध्यात्मिक प्यास है कौन जानता है इसे ? यदि आप में योग्यता न होती तो मेरे निकट आना कैसे होता आपका ?'

आत्मवाद, विज्ञानवाद और रहस्यवाद

पिछले अंक में कुण्डलिनी-साधना प्रसंग के अन्तर्गत आत्मशरीर और उसकी उपलब्धि के सम्बन्ध में चर्चा की गयी थी। आत्मशरीर हमारा पाँचवाँ शरीर है। अर्चना इसी शरीर में रहकर आगे बढ़ने का प्रयास कर रही थी।

साँझ की स्याह लालिमा पद्मा के तट पर धीरे-धीरे फैल रही थी। वातावरण निस्तब्ध और शान्त था। अर्चना मेरे करीब बैठी हुई थी और अपलक निहार रही थी आकाश की ओर !

काफी देर मौन रहने के बाद उसने कहना शुरू किया—आत्मशरीर हमारा पाँचवाँ शरीर है। विज्ञान की सीमा यहीं पर समाप्त हो जाती है और उसकी सीमा समाप्त होते ही रहस्यवाद की सीमा शुरू हो जाती है। जहाँ तक आत्मवाद है—वहाँ तक विज्ञानवाद है। आत्मवाद और विज्ञानवाद के बाद रहस्यवाद प्रारम्भ होता है। इस बात को आप ठीक से समझ लें। जो लोग आत्मवाद पर रुक जाते हैं, ठहर जाते हैं और उसके आनन्द के सागर में डूब जाते हैं, उनके लिए कोई रहस्यवाद नहीं होता। उनका जीवन, उनकी साधना, उनकी बात और उनकी उपलब्धि—आत्मवादमय और विज्ञानवादमय होगी, विज्ञान के सिद्धान्तों से भरी होगी, आत्मवाद के तर्कों से डूबी होगी। रहस्यवाद का संसार इसके आगे हैं और उसके पहले जो कुछ भी है, वह साफ हैं। उसका बैज्ञानिकीकरण किया जा सकता है, आत्मवाद की कसौटी पर कसा भी जा सकता है, क्योंकि आत्मवाद हो या विज्ञानवाद, इन दोनों में कोई ऐसी चीज नहीं है, जो रहस्यमय हो।'

'जो लोग आत्मवाद पर रुक जाते हैं, आगे बढ़ने का प्रयास नहीं करते,

एक दिन उनके धर्म को विज्ञान अपने आप में आत्मसात् कर लेता है। इसलिए कि 'आत्मा' तक विज्ञान की पहुँच है। आज का विज्ञान 'आत्मा' तक पहुँचने ही वाला है। एक दिन निस्सदेह विज्ञान अपनी कसौटी पर आत्मा को कसकर उसकी परिभाषा उपस्थित कर देगा। परन्तु आत्मा के आगे बढ़ने पर सत्य मिलता है। यही कारण है कि सत्य का खोजी आत्मा पर नहीं रुकता। वह आगे बढ़ने का बराबर प्रयास करता रहता है। गुरुदेव स्वामी योगानन्द परमहंस देव का कहना था कि साधक जब खोज पर निकलता है, तो उसकी खोज वास्तव में सत्य की नहीं होती, बल्कि आनन्द की होती है। भले ही कहे कि वह सत्य की खोज पर निकला है। लेकिन खोज होती है—उसके आनन्द की।'

'हम दुःख और क्लेश से परेशान हैं। हमारा सारा जीवन अशान्ति के सागर में डूबा हुआ है। इसलिए हम आनन्द की खोज पर निकले हैं। ऐसी स्थिति में निश्चय ही हम पाँचवें शरीर यानी आत्मशरीर की सीमा पर रुक जायेंगे, ठहर जायेंगे। इसलिए हमारी खोज आनन्द की नहीं, बल्कि 'सत्य' की होनी चाहिए। तब फिर हमारा वहाँ उस सीमा पर रुकना न होगा। हम आगे बढ़ते ही जायेंगे। आनन्द में और सत्य में जमीन आसमान का अन्तर है। आनन्द की प्राप्ति में शान्ति है। मगर सत्य की उपलब्धि परम शान्ति को प्रदान करती है।'

'मगर यहाँ प्रश्न उठता है कि अगर हम आनन्दित हैं, हमारे चारों ओर का वातावरण भी आनन्दमय है तो और क्या चाहिए? यह ठीक है, लेकिन हम, हमारा अस्तित्व और हमारा जीवन—कहाँ से है, उनकी जड़ें कहाँ पर है, उनका प्रारम्भ कहाँ से है। हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व की गहरायी कहाँ है? हम कहाँ से आ रहे हैं? हमारा मूल स्रोत क्या है?—यदि इन तमाम सत्यों के प्रति हमारी जिज्ञासा है, कौतूहल है, हम इन सत्यों की खोज में निकले हैं और कुण्डलिनी-साधना के मार्ग पर चल रहे हैं, तो हम निश्चय ही पाँचवें शरीर के आगे की यात्रा कर सकेंगे। वर्ना यह सम्भव नहीं।'

'अगर ऐसा नहीं है, तो हम पाँचवें शरीर पर ही रुक जायेंगे। इसीलिए हमारा कहना है कि कुण्डलिनी की साधना एकमात्र सत्य की उपलब्धि की साधना है, आनन्द की नहीं। 'आनन्द' बन्धन है, जब कि 'सत्य' मुक्ति है। इसीलिए मेरा यह भी कहना है कि जिज्ञासा सत्य की होनी चाहिए, खोज सत्य की होनी चाहिए, आनन्द की नहीं। आनन्द तो मार्ग में अपने आप मिल जायेगा, जब हम सत्य की खोज पर निकलेंगे।'

आनन्द बाधा है

'हम आपको पिछले प्रकरण में बतला चुके हैं कि आनन्द बाधा है। पाँचवें शरीर में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह है उसका अपूर्व आनन्द। पाँचवें शरीर

में आनन्दमय संसार में हम उस जगत् से आते हैं, जहाँ दुःख, पीड़ा, व्यथा, कष्ट, चिन्ता और तनाव के सिवाय और कुछ नहीं है। पहला भौतिक जगत् है, जिसमें से हम निकलते हैं। दूसरा आत्मिक जगत्, जिसमें हम प्रवेश करते हैं। भौतिक जगत् का परिणाम है—पीड़ा, क्लेश, कष्ट, चिन्ता और दुःख। इसी प्रकार आत्मिक जगत् का परिणाम है—असीम आनन्द, असीम सुख और असीम शान्ति।'

'हम आत्मशरीर को प्राप्त करने के लिए उस संसार से आते हैं, जहाँ दुःख, क्लेश, चिन्ता और तनाव के सिवाय और कुछ नहीं होता। आत्मशरीर आनन्द का सागर है, इसलिए जब हम इस आनन्द के सागर में प्रवेश करते हैं तो बस यही मन करता है कि उसमें डूब जायें, खो जायें। मगर हमें यह समझ लेना चाहिए कि यह स्थान डूबने या खोने के लिए नहीं है।'

'डूबने और खोने की भी जगह है, जो अपने आप मिल जायेगी। वहाँ फिर हम अपने को बचा नहीं पायेंगे। अपने आप वहाँ उस जगह डूब जायेंगे। खो जायेंगे। इसके लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ेगा। अगर हम अपने को डुबने से, खोने से बचाना चाहेंगे, तो भी बचा न पायेंगे। समझ लीजिए कि पहली स्थिति में खोने का, डूबने का प्रयास है, चेष्टा है; लेकिन दूसरी स्थिति में हमारी न चेष्टा रहेगी और न हमारा प्रयास रहेगा। हम अपने आप खो जायेंगे, डूब जायेंगे। काफी गहराई में जाकर इस दूसरी स्थिति में हमारा अहंकार तो अवश्य मिट जायेगा, लेकिन अस्मिता नहीं मिटेगी। वह रह ही जायेंगी।'

'यह भी समझ लीजिए कि अहंकार और अस्मिता में अन्तर है, मगर थोड़ा-सा अन्तर है।'

''मैं हूँ' में 'मैं' अहंकार है और 'हूँ' अस्मिता है। उस स्थिति में अहंकार तो खत्म हो जायेगा, मगर हूँ का भाव नहीं खत्म होगा। 'मैं हूँ' में दो चीजें हैं। मैं अहंकार है और हूँ अस्मिता है यानि—होने का बोध।''

पाँचवें शरीर में मैं मिट जायेगा। रह जायेगा केवल 'होना', 'हूँ' रह जायेगा—अस्मिता रह जायेगी। और अस्मिता के रहने के कारण यदि इस स्थान पर पहुँचे हुए किसी साधक से कोई संसार के सम्बन्ध में पूछे, तो वह कहेगा कि संसार में अनन्त आत्माएँ हैं। प्रत्येक मनुष्य की आत्मा अलग-अलग है। आत्मा एक नहीं है, बल्कि अलग-अलग हैं।'

'इस स्थान पर आकर पाँचवें शरीर की उपलब्धि पाकर साधक अस्मिता के फलस्वरूप आत्मवादी हो जाता है।'

'आत्मवादी का मतलब है—वह व्यक्ति अथवा साधक, जिसके भीतर अहंकार नष्ट हो गया है, मगर 'अस्मिता' है। आत्मवादी 'आत्मा के लिए' बहुवचन का प्रयोग करते हैं। उनकी नजर में 'आत्मा' एक नहीं अनेक हैं। वे अनेक आत्माओं का अनुभव करते हैं, क्योंकि वे अस्मिता में देखते हैं।

आत्मवादी लोग पाँचवें शरीर में उपलब्ध परम आनन्द को ही चरम उपलब्धि मानते हैं। यही कारण है कि वे उसके आगे बढ़ने का न प्रयास करते हैं और न कुछ जानते-समझते हैं। उनकी नजर में जो कुछ भी परम सत्य है, वह है सिर्फ आत्मा !'

'वास्तव में यदि मन में सत्य की खोज न हो तो पाँचवें शरीर में उपलब्ध आनन्द के सागर में हम डूब जायेंगे। यदि मन में सत्य की खोज है, तो हम उस सागर में डूबने से अवश्य बच जायेंगे।'

'कोई भी अनुभूति सतत बनी रहती है, तो वह उबाने वाली बन जाती है। आनन्द भी जब सतत रहता है, तो उबाने वाला ही सिद्ध होता है।'

आत्मतत्त्व

'शर्माजी ! जहाँ सिर्फ आनन्द है और आनन्द के सिवाय और कुछ भी नहीं है, तो वह कितना उबाने वाला होगा यह आप समझ सकते हैं। उसमें दुःख की झलक न होगी। न कोई तनाव या चिन्ता होगी, तो कितनी देर तक, कितने समय तक हम आनन्द को झेल पायेंगे ?'

'सचमुच आनन्द की गहरी अनुभूति और आनन्द की गहरी लीनता बाधा होगी पाँचवें शरीर में। उससे बचना काफी कठिन है। उस आनन्द के सागर से निकलने में कई जन्म भी लग जाते हैं। पहले के चारों शरीरों को पार करना इतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है—पाँचवें शरीर को पार करना।'

'आत्मवाद की सीमा पार करने पर ही परमात्मतत्त्व की उपलब्धि सम्भव है।'

'कई जन्म लग जाते हैं आनन्द से ऊबने में, स्वयं से ऊबने में और आत्मा से ऊबने में।'

'स्थूल शरीर से पाँचवें आत्मशरीर तक की जो यात्रा है, वह दुःख से, कष्ट से, व्यथा से, पीड़ा से, हिंसा से, घृणा से, राग-द्वेष से और तमाम वासनाओं से छूटने की यात्रा है और जब हम इन सबसे छूट कर और अलग होकर पाँचवें शरीर में पहुँचते हैं, तो अपने आपसे छूटने की, अपने आप से अलग होने की खोज शुरू हो जाती है। मतलब यह कि पाँचवें शरीर के बाद जो खोज है, जो यात्रा है, वह अपने आप से छूटने की है।'

'इस स्थान पर दो बातें हैं। इसे समझ लेना चाहिए। पहली बात है, किसी चीज से मुक्ति। दूसरी बात है, अपने आपसे मुक्ति—किसी और से मुक्ति नहीं, स्वयं से मुक्ति। पहली मुक्ति को हमारे शास्त्र भवमुक्ति और दूसरी मुक्ति को सायुज्यमुक्ति कहते हैं। पहली मुक्ति हमें पाँचवें शरीर में मिल जाती है, दूसरी मुक्ति के लिए आगे की यात्रा करनी पड़ती है। एक सर्वथा नये जगत् में प्रवेश करना होता है।'

० ० ०

रात आधी से ज्यादा गुजर चुकी थी। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। केवल पद्मा का कलकल नाद सुनायी दे रहा था, उस शान्त और निर्विकार वातावरण में।

'बहुत दिनों से मै आपकी प्रतीक्षा कर रही थी'---अर्चना ने मौन भंग करते हुए कहा !

'मेरी प्रतीक्षा···?'

'हाँ, आपकी प्रतीक्षा।'

'क्यों ?···किसलिये ?'

'बतलाने की आवश्यकता नहीं। समयानुसार स्वयं जान-समझ जायेंगे आप।'—अर्चना ने एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए उत्तर दिया।

ब्रह्मशरीर और आज्ञाचक्र की सम्भावनाएँ

दूसरे दिन अर्चना निश्चित समय पर पद्मा के किनारे मुझसे मिली और बातों का सिलसिला आगे बढ़ा। अर्चना ने बतलाया कि छठा शरीर ब्रह्म-शरीर है। इस शरीर का केन्द्र आज्ञाचक्र है। इस शरीर में किसी भी प्रकार के द्वैत का भाव नहीं है। साधक यहाँ पूर्ण रूप से अद्वैत स्थिति का और अद्वैत भाव का अनुभव करता है। पाँचवें शरीर में आनन्द का अनुभव प्रगाढ़ होता है और छठें शरीर में अस्तित्व का अनुभव प्रगाढ़ होता है।'

'अस्तित्व से क्या तात्पर्य है आपका ?'—मैंने पूछा।

'अस्तित्व से मतलब अपने आपसे है। जैसे-जैसे अस्तित्व की अनुभूति प्रगाढ़ से प्रगाढ़तम होती जायेगी, वैसे ही वैसे अस्मिता भी खोती जायेगी और अन्त में 'हूँ' यह भी चला जायेगा। 'मैं हूँ' में मैं चला जायेगा पाँचवें स्तर पर। फिर 'हूँ' भी चला जायेगा पाँचवें स्तर को पार करने पर। 'है' का बोध होगा और उसी के साथ बोध होगा कि ऐसा है। इसमें 'मैं' कही नहीं जायेगा। उसमें 'अस्मिता' कहीं नहीं जायेगी। 'जो है'—बस वहीं रह जायेगा। तो यहाँ 'सत्' का एकमात्र बोध होगा और उसी के साथ 'चित्' का भी बोध होगा। लेकिन इस स्थिति में साधक से चित् मुक्त हो जाता है। वह मेरी चेतना नहीं, मात्र चेतना है, ऐसा सोचता है। मेरा अस्तित्व है—ऐसा नहीं सोचता बल्कि मात्र अस्तित्व है, ऐसा सोचता है।'

'कुछ लोग इस छठवें स्तर पर भी रुक जाते हैं, क्योंकि ब्रह्मशरीर (कास्मिक बाडी) हमें मिल गयी और हम ब्रह्म हो गये। 'अहं ब्रह्मास्मि' की अवस्था हमें प्राप्त हो गयी। अब हम नहीं रहे। ब्रह्म ही रह गया। अब किसकी और खोज ? कहाँ खोज ? कैसी खोज ? अब किसको खोजना है ? अब तो खोजने के लिए कुछ भी नहीं बचा है ? जो कुछ पाना था उसे पा लिया हमने, क्योंकि ब्रह्म का मतलब है—सब-समग्र पूर्णरूपेण उपलब्धि। ब्रह्म अन्तिम सत्य है, यह वही लोग कहेंगे, जो छठे स्तर पर ठहर गये हैं, रुक गये

हैं। इस अन्तिम सत्य के बाद उनके लिए कुछ भी नहीं है और इसलिये ऐसे लोग प्राय: यहीं रुक जाते हैं। उनके लिए सिर्फ ब्रह्म ही सत्य है और अन्तिम सत्य है। बाकी सब कुछ असत्य है। शंकराचार्य जैसे लोग—इसी स्तर पर आकर रुक गये थे। उनके लिए ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या था, क्योंकि इसके आगे उनको समझ में नहीं आया कि और भी कुछ सत्य है और कोई उपलब्धि या प्राप्तव्य है।'

'शंकराचार्य जैसे ब्रह्मज्ञानी इसी स्थान पर अटक जाते हैं। वास्तव में इस स्थान को पार करना इतना कठिन है कि बतलाया नहीं जा सकता, क्योंकि कोई स्थान शेष नहीं रह जाता कि इसे पार किया जा सके, क्योंकि सब कुछ विराट् हो गया। अन्तहीन अनन्त हो गया। असीम अनादि हो गया। अब तो पार करने का भी स्थान नहीं। तब हम खोजने भी कहाँ जायेंगे।

'अस्तित्व का प्रगाढ़ बोध इस स्थिति में शेष रह ही जाता है। इसे समाप्त करना है। इसकी समाप्ति का मतलब है—महानिर्वाण। 'अनस्तित्व' को ही दूसरे शब्दों में 'महानिर्वाण' कहा गया है। It is that one mast crave for. समझ गये न !'

'अस्ति को तो जान लिया। 'है' को भी जान लिया। लेकिन 'नहीं है' को जानना शेष है, बाकी है। 'नहीं है' को सम्यक् रूप से जान लेना ही 'परम ज्ञान' है और परम ज्ञान ही परम निर्वाण अथवा महानिर्वाण है। इसी को 'परम मोक्ष' भी कहते हैं। इसीलिए सातवाँ शरीर है महानिर्वाण काया। इस काया का अन्तिम केन्द्र सहस्रारचक्र है ! किन्तु इसके सम्बन्ध में कोई बात नहीं हो सकती है। उसकी व्याख्या करने के लिए न शब्द है और न भाव है। सारी व्याख्या, सारे भाव और सारी भावनाएँ 'ब्रह्म' तक ही सीमित हैं'।

तीसरा नेत्र

'पाँचवें शरीर तक सारी व्याख्यायें वैज्ञानिक ढंग से चलती हैं। सारे भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होते चले जाते हैं। मगर छठे शरीर में आने पर सारी व्याख्यायें, भावनायें और बातें धीरे-धीरे अपनी-अपनी सीमा खोने लग जाती हैं। सब कुछ अर्थहीन-सा लगने लगता है, लेकिन संकेत किया जा सकता है। मगर बाद में वह संकेत भी अपना अस्तित्व गँवा बैठता है और हम स्वयं अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इसीलिए 'परम अस्तित्व' को छठे शरीर पर और छठे केन्द्र से जाना-समझा जा सकता है'।

'यही कारण है कि जो लोग ब्रह्म की खोज में हैं, वे आज्ञाचक्र पर भृकुटी के मध्य में ध्यान करते हैं, क्योंकि वह ब्रह्मशरीर से सम्बन्धित चक्र है'।

'विशेष यौगिक क्रियाओं के द्वारा आज्ञाचक्र पर ध्यान करने से साधक को अनन्त विस्तार दिखलायी पड़ने लग जाता है। वे सारे ब्रह्माण्ड की

अनन्तता को एक ही समय में और एक ही अवस्था में देखने लग जाते हैं। वास्तव में आज्ञाचक्र सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड और उसकी अनन्तता की एकमात्र खिड़की है, इसीलिए इस केन्द्र को और इस चक्र को 'तीसरा नेत्र' भी कहा जाता है। मगर समझ लीजिए---यह साधक की अन्तिम यात्रा नहीं है। अभी उसकी एक यात्रा बाकी है और वह यात्रा है---'न होने की'! 'न अस्ति' की! अस्तित्व अधूरा है और उसकी पूर्णता अनस्तित्व में है। प्रकाश अपने आप में अधूरा है, उसकी पूर्णता अंधकार में है। जीवन भी अधूरा है। जीवन की पूर्णता मृत्यु में निहित है। इसलिए अन्तिम अनस्तित्व को अथवा शून्य को भी जान-समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि हम परम सत्य को तभी उपलब्ध हो सकते हैं, जबकि 'अस्ति और नास्ति'—दोनों को जान लेंगे'।

ब्रह्मज्ञान और निर्वाण

'आस्तिकता को भी जान लिया—उसकी पूर्णता में और नास्तिकता को भी जान लिया—उसकी पूर्णता में। जीवन को भी उसकी पूर्णता में जान लिया और मृत्यु को भी समझ लिया उसकी पूर्णता में। होना भी जाना उसकी पूर्णता में और 'न होना' भी जाना उसकी पूर्णता में। तभी हम पूर्णता को जान सके, वर्ना सब अधूरा है'।

'सच तो यह है कि जिसे 'ब्रह्मज्ञान' कहा जाता है, वह अधूरा है। उसमें अधूरापन है। अधूरापन इसीलिए है कि न होने को नहीं जान पाया है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी न होने को साफ इनकार कर देता है। वह कहता है कि वह माया है। वह है ही नहीं। वह कहता है—'होना' सत्य है। 'न होना'—झूठ है, मिथ्या है, माया है। वह है ही नहीं, फिर उसको जानने का प्रश्न ही कहाँ उठता है'?

'निर्वाण काया का मतलब है 'शून्य देह', जहाँ हम होने से न होने में चले जाते हैं, छलांग लेते हैं, क्योंकि ब्रह्मशरीर में जो जानने के लिए बाकी रह गया है, उसे भी जान लेना आवश्यक है कि न होना क्या है? मिट जाना क्या है? इसलिए जो सातवाँ शरीर है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से 'महामृत्यु' है और महानिर्वाण अथवा 'परम निर्वाण' का अर्थ है—एक जलते हुए दीपक का हमेशा के लिए बुझ जाना। वह जो हमारा होना था---वह जो हमारा 'मैं' था---मिट गया। वह जो हमारी अस्मिता थी---मिट गयी। लेकिन अब हम सर्व के साथ, सम्पूर्णता के साथ, अनन्तता के साथ एकाकार होकर---फिर हो गये हैं। हम ब्रह्म हो गये हैं। अब इसे भी छोड़ देना होगा। उसका भी त्याग करना होगा और इसके लिए तैयारी होनी चाहिए। वह 'जो है' उसे तो जान ही लेना है। 'जो नहीं' है---उसको भी जान लेना है'।

'ब्रह्मज्ञान' का इस प्रकार अनुभवपूर्ण प्रतिपादन और उसके बाद 'महा-निर्वाण' की अनुपम व्याख्या सुनकर मुझे ऐसा लगा—मानो मैं स्वयं और मेरा

सम्पूर्ण अस्तित्व धीरे-धीरे विश्व-ब्रह्माण्ड की असीमता में, विश्व-ब्रह्माण्ड की की अनन्तता में बिखरता जा रहा है, समाया जा रहा है। कैसी थी वह स्थिति ? शब्दों में 'प्रकट नहीं किया जा सकता'।

रहस्यमयी गुफा और गुप्त गर्भगृह

साँझ का समय।

सारा आकाश काले बादलों से भर गया है। उद्दाम हवा की लय पर—पद्मा के तट पर खड़े वृक्ष झूम रहे हैं। बारिश होगी। सशंकित होकर देखा मैंने आसमान की ओर। धुनी हुई रुई जैसा आसमान जैसे काले अंधकार से भर गया था। चारों तरफ एक अजीब-सा सन्नाटा छाया था—एक अबूझ-सी नीरवता छा गयी थी। तारापीठ का मन्दिर और मठ रहस्यमय योगी और तांत्रिकों के किसी रहस्यमय इतिहास पर सिर धुनता-सा प्रतीत हो रहा था—उस समय।

साँझ की स्याह कालिमा घनीभूत हो गयी है और उसी के साथ घनीभूत हो गये आसमान में काले स्याह मेघ भी। एकाएक झर-झर कर बरसने लगा आसमान। उद्दाम हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा बारिश के लय के साथ।

श्यामल आकाश के सीने को जलाती बिजली चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा—और छोरहीन आसमान के एक कोने से दूसरे कोने तक कौंध गयी। हजारों मैग्नीसियम के तारों जैसे प्रखर आलोक से उद्भासित हो उठा आकाश।

और उसी प्रकाश में एकाएक मेरी नजर घूम गयी पद्मा की ओर। देखा—पद्मा के तट पर अर्चना पद्मासन की मुद्रा में निर्विकार बैठी है ध्यानस्थ। कुछ विचित्र-सा लगा मुझे। फिर न जाने क्यों, किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं उस वर्षा में उससे मिलने के लिए निकल पड़ा।

मगर यह क्या ? जैसे ही मैं अर्चना के करीब पहुँचा उसी क्षण—उसका अस्तित्व लुप्त हो गया मेरे सामने से। कहाँ गयी ? किधर गयी वह ? किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा चारों ओर सिर घुमा-घुमाकर देखने लगा मैं। तभी मेरी नजर मठ पर पड़ी। बड़ा ही रहस्यमय लगा मुझे उस समय वह मठ !

मठ के बाँयीं ओर घने झुरमुटों के पीछे मुझे स्पष्ट रूप से एक दरवाजा दिखलायी दिया। निश्चय ही वह किसी गुप्त मार्ग का द्वार था। न जाने क्यों मैं पानी में भींगते हुए बढ़ गया उसी ओर। जैसे ही मैं दरवाजे के करीब पहुँचा, उसी समय वहाँ मुझे अर्चना दिखलायी दे गयी। मगर उसे देखकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ मुझको। हाँ, वह रहस्यमयी अवश्य लगी उस समय।

अर्चना कुछ क्षण के लिए उस गुप्त द्वार के सामने खड़ी हुई, फिर एक बार चारों ओर देखकर भीतर घुस गयी। मुझसे रहा न गया। मैं भी अर्चना के

पीछे-पीछे चल पड़ा। मगर यह आभास न होने दिया कि मैं उसका पीछा कर रहा हूँ।

वास्तव में वह किसी रहस्यमयी गुफा का मार्ग था। भीतर अँधेरा था। लगभग १०–१५ मिनट चलने के बाद आगे प्रकाश दिखलायी दिया और उस प्रकाश में मैंने एक काफी लम्बा-चौड़ा गर्भगृह देखा। बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक था वह गर्भगृह। स्फटिक के पारदर्शक पत्थरों की दीवारें और खम्भे थे उसके। फर्श भी स्फटिक का ही था। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि पूरा गर्भगृह स्वच्छ धवल प्रकाशमय था। लगा, मानो सम्पूर्ण गर्भगृह ही प्रकाश का केन्द्र है और उसी धवल शुभ्र प्रकाश में मैंने एक अपूर्व दृश्य देखा।

वह कालञ्जयी महात्मा और आध्यात्मिक वातावरण

गर्भगृह के ठीक मध्य में लाल संगमरमर के पत्थर का एक शतदल कमल था। कमल भी प्रकाशमय था। उसमें से गुलाबी रंग की आभा प्रस्फुटित हो रही थी। शतदल कमल के ठीक ऊपर सुवर्ण का एक काफी बड़ा छत्र था, जो बिना किसी आधार के लटक रहा था। मैंने देखा— उस छत्र के नीचे, उस कमलदल पर एक महात्मा बैठे हुए हैं। महात्मा निश्चय ही कालञ्जयी दीर्घ आयुसम्पन्न और मानवेतर शक्तिसम्पन्न थे, मगर देखने में वे १२-१४ वर्ष के किशोर बालक जैसे प्रतीत हो रहे थे। उनका शरीर स्फटिक की तरह ही शुभ्र और पारदर्शक था और उसमें से एक दिव्य ज्योति की आभा प्रस्फुटित हो रही थी। महात्मा पद्मासन में बैठे हुए थे। मुखमण्डल भी तेजोमय था। नेत्र बन्द थे। चेहरा निर्विकार था। एक अनिर्वचनीय शान्ति विराजमान थी वहाँ।

वातावरण में एक विशेष प्रकार की दिव्य गन्ध तैर रही थी और एक ऐसी शान्ति थी जो आत्मा को छू लेती थी। उसी शांति में डूबा हुआ मैं अपलक निहार रहा था उस महापुरुष की ओर। तभी देखा— उसी प्रकार के दिव्य और पारदर्शक शरीरधारी कई युवक और युवतियाँ वहाँ एकत्र हो गये हैं। सभी का मुखमण्डल तेजोमय था और उन पर शान्ति के अतिरिक्त और कोई भाव न था। निश्चय ही वे लोग मानवशरीरधारी होते हुए भी मानव नहीं थे। वे लोग योगी थे। परम अवस्था प्राप्त योगी।

कुछ क्षण बाद वे युवक और युवतियाँ कमलदल पर आसीन उस महात्मा के सामने भावमुद्रा में बैठ गये। धीरे-धीरे वातावरण और अधिक शान्त, निर्विकार और मोहक हो उठा। निश्चय ही वहाँ उपस्थित नर-नारियाँ उस महात्मा की समाधि भंग होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके समूह में अर्चना भी थी। चारों ओर से भटकती हुई मेरी दृष्टि उसी पर आकर स्थिर हो गयी। कितना अनिर्वचनीय आकर्षक और सम्मोहक लग रहा था अर्चना का

रूप उस समय — इसे मैं शब्द रूप नहीं दे सकता। वह बिलकुल किसी देवकन्या-सी लग रही थी, जिसे देखकर वासना नहीं कामना उत्पन्न होती थी मन में।

सहसा महात्मा की समाधि भंग हुई और उनके नेत्र धीरे-धीरे खुले। उन नेत्रों में करुणा, दया, अनुकम्पा का अथाह सागर लहरा रहा था। उनका मुखमण्डल एक विलक्षण तेज से प्रदीप्त हो रहा था। निश्चय ही वे कोई सर्वोच्च अवस्था प्राप्त महापुरुष थे। मगर वे तमाम युवक और युवतियाँ कौन थीं, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। क्या वे लोग भी मानवशरीरधारी उच्च आत्मायें थीं··· ।

सब कुछ सम्मोहक था, आकर्षक था और आनन्दमय था, लेकिन अधिक समय तक वह वातावरण नहीं रहा। एकाएक गहन अन्धकार में डूब गया सारा दृश्य। उसी के साथ मेरा शरीर भी चेतनाशून्य होकर गिर पड़ा जमीन पर और उसी स्थिति में मैंने एक सर्वथा अविश्वसनीय और रोमाञ्चकारी दृश्य देखा।

हाँ ! वह अर्चना ही थी। मंत्रदीक्षित साक्षात् भैरवी-सी लग रही थी वह उस समय। ऐसा लगा, मानो किसी उच्चकोटि के शाक्त तंत्रसाधक ने उसे अभी-अभी महाभैरवी की दीक्षा दी है।

अर्चना का भव्य भैरवी स्वरूप

पीठ पर बिखरी हुई मुक्त केशराशि। मस्तक पर लाल सिन्दूर का गोल-सा टीका। गले में झूलती हुई रुद्राक्ष और मूँगे की मालायें। उन्मुक्त स्तन। शरीर का ऊपरी भाग अनावृत, कटि में लिपटी हुई लाल रंग की रेशमी साड़ी। दाहक चमक युक्त रूपयौवन और उस उद्दाम यौवन से तरंगित देह-यष्टि। कुसुम-कोमल गालों पर बिखरे हुए लावण्य के कण। अर्चना की रसवन्ती देहलता को देखकर मैं एकबारगी आपा खो बैठा। वह मध्यकालीन किसी मन्दिर का विशाल प्रांगण था। प्रांगण के सामने एक छोटा-साग गर्भगृह था। उसके पट बन्द थे। कुछ देर बाद धीरे-धीरे वह बन्द पट खुला। भीतर अट्टहास करती हुई भगवती पराशक्ति महामाया 'तारा' की विशाल पाषाण प्रतिमा खड़ी थी। मूर्ति के सामने हवनकुण्ड था, जिसमें से सुगन्धित धूम्र निकलकर वातावरण में फैल रहा था। समीप ही व्याघ्रचर्म के आसन पर एक दिव्य महापुरुष ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उन महापुरुष की वेषभूषा किसी तांत्रिक संन्यासी जैसी थी।

हवनकुण्ड के सामने एक और आसन बिछा हुआ था व्याघ्रचर्म का। मैंने देखा — अर्चना धीरे-धीरे चलकर उसी आसन पर बैठ गयी। उस समय उसका मुखमण्डल अत्यन्त शान्त, सौम्य और निर्विकार लग रहा था। आसन पर बैठते ही उस महापुरुष के नेत्र खुले और उन्होंने अत्यन्त गहरी दृष्टि से अर्चना की ओर देखा। फिर उसके सिर पर अपना दाहिना हाथ रखते हुए

बोले—'पिछली अमावास्या की महानिशा में मैंने तुझे महाभैरवी की दीक्षा दी थी अर्चना…?'

'अर्चना ने स्वीकृति से अपना सिर हिलाया।'

'जानती हो क्यों वह दीक्षा देनी पड़ी थी मुझको ?'

'नहीं, गुरुदेव ! उस गोपनीय तंत्र-दीक्षा का अर्थ मेरी प्रज्ञा के बाहर है। मैं समझ न सकी थी'।

योगिनी दीक्षा

थोड़ा रुककर माँ महामाया की प्रतिमा की ओर देखते हुए उस महापुरुष ने कहा—'अर्चना ! महाभैरवी की दीक्षा योगतांत्रिक साधना-मार्ग में प्रवेश करने की अत्यन्त गोपनीय एवं रहस्यमय दीक्षा है, जिसके प्रभाव से जन्म-जमान्तर के आणवमल, संस्कारमल और प्रारब्ध का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा जीवभाव से मुक्त होकर साधना-मार्ग के योग्य हो जाती है'।

'महाभैरवी दीक्षा के पश्चात्—योगिनी दीक्षा। आज इस समय मैंने तुमको योगिनी दीक्षा ही प्रदान करने के लिए यहाँ बुलाया है'।

कुछ ही देर बाद अर्चना का मुखमण्डल दहकते हुए अंगारे की तरह जलने लगा। मुख के चारों ओर एक शुभ्र ज्योतिर्मयी प्रभा फैल गयी। कुछ समय बाद उस महापुरुष ने दोनों स्थानों से अपना हाथ हटा लिया। मगर यह क्या ? अर्चना के शरीर में किसी प्रकार की हरकत नहीं हुई। वह पूर्ववत् निश्चेष्ट निर्विकार आँखें बन्द किये बैठी रही आसन पर। क्या वह समाधि की अवस्था में चली गयी थी।

हाँ ! समाधि की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो गयी थी वह उस समय। काफी देर बाद जब उसकी समाधि भंग हुई, तो उस दिव्य महापुरुष ने उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए मेघ की तरह गम्भीर वाणी में कहा—'अर्चना ! यह तुम्हारी दूसरी महत्त्वपूर्ण दीक्षा सम्पन्न हुई। अब इसके बाद 'कुण्डलिनी दीक्षा' है। लेकिन इस दीक्षा को प्रदान करने का अधिकार मुझे नहीं है। यथासमय इसकी दीक्षा स्वामी योगचिन्मय देंगे।'

उस दिव्य महात्मा के इस अन्तिम शब्द के साथ ही मेरे सामने से वह दृश्य एकाएक लुप्त हो गया और उसी क्षण मेरी अन्तश्चेतना भी जाग्रत् हो उठी।

चारों तरफ गहन अन्धकार था। उस गहन निबिड़ अन्धकार में सिर्फ़ मैं था। मैं किसी प्रकार गिरता-पड़ता और टटोलता हुआ वहाँ से बाहर निकला।

बारिश खत्म हो चुकी थी। आकाश साफ हो चुका था। पद्मा के पार जंगलों के पीछे चतुर्दशी का पहला चाँद निकल आया था। पुरवैया हवा बह रही थी। वातावरण स्निग्ध, शान्त और निस्तब्ध था।

मैं जब धीरे-धीरे चलकर रेस्ट हाऊस के अपने कमरे में पहुँचा, तो स्तब्ध रह गया। मैंने देखा—अर्चना मेरा इन्तजार करती हुई वहाँ बैठी थी।

'आप···आप यहाँ कैसे ?'

मेरी बात सुनकर अर्चना हँस पड़ी। बड़ी ही रहस्यमयी हँसी थी उसकी। थोड़ा अपने आपको संभालते हुए कहा—'अभी कुछ समय पहले आप उस गुफा में थीं। किसी महात्मा से दीक्षा ले रही थीं। यहाँ इतनी जल्दी कैसे आ गयीं आप ?'

इस बार अर्चना काफी जोर से हँस पड़ी और हँसते-हँसते बोली—'आपने जो कुछ देखा—वह अपने आप में सत्य था।'

'सत्य था····तो···फिर···?'

'मगर उस सत्य का सम्बन्ध मेरे अतीत से है। जिन दृश्यों को और जिन घटनाओं को आपने देखा था, वह सब मुझसे सम्बन्धित अतीत के दृश्य और अतीत की घटनायें थीं।'

'समझा नहीं मैं ?'

इस बार अर्चना थोड़ा गम्भीर हो उठी और उसी गम्भीर मुद्रा में बोली—आज से ६५ वर्ष पहले मुझे स्वामी स्वरूपानन्द परमहंसदेव ने महा-भैरवी की दीक्षा प्रदान की थी। फिर उन्हीं के द्वारा ४० वर्ष पहले मुझे योगिनी दीक्षा प्राप्त हुई थी।

६५ और ४० वर्ष पहले ?···मगर आपकी आयु तो २५-२६ साल से ज्यादा नहीं है ?—मैंने आश्चर्य से पूछा।

'मुझको साधना करते हुए पूरे ८० वर्ष हो गये। काल का प्रवाह अक्षुण्ण गति से प्रवाहित होता रहा और उसी प्रवाह में मुझे दो बार पार्थिव शरीर त्यागना पड़ा। दो बार पार्थिव जीवन को भी स्वीकार करना पड़ा। निश्चय ही आपको मेरी यह बात रहस्यमयी और साथ ही अविश्वसनीय प्रतीत होगी। मगर यह सत्य है, इसे अस्वीकार कदापि नहीं किया जा सकता।'

'६५ वर्ष पूर्व १५ वर्ष की अवस्था में मुझको पहली दीक्षा प्राप्त हुई थी। उस जन्म और शरीर से मुक्त होने के बाद दूसरे जन्म और शरीर में मुझे दूसरी दीक्षा प्राप्त हुई। उसके बाद पुनः मुझे अपना शरीर छोड़ना पड़ा। और इस जन्म में मुझे स्वामी योगचिन्मय से कुण्डलिनी-दीक्षा प्राप्त हुई।'

थोड़ा रुककर अर्चना ने कहा—'आज मेरी जो स्थिति है, जो अवस्था है, वह मेरे साधना-जीवन के पूरे ८० वर्ष का परिणाम है शर्माजी ! अब इस वर्तमान पार्थिव शरीर से भी पृथक् होने का समय आ गया है। बहुत जल्द इस शरीर को छोड़ने वाली हूँ मैं।'

'क्या इस शरीर से मुक्त होने के बाद फिर जन्म-मरण के बन्धन में न

फँसना पड़ेगा आपको ? क्या पूर्ण मुक्ति हो जायेगी आपकी ? क्या फिर जन्म नहीं लेंगी आप ?'

जन्म-मरण का बन्धन तो शरीर के साथ लगा है। आत्मा तो इन दोनों बातों से सर्वथा मुक्त है। रही जीवन की बात, तो वह अक्षुण्ण है। जीवन की धारा सतत प्रवाहित है। मृत्यु से उसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता।···शायद एक बार मुझे फिर पार्थिव शरीर धारण करना पड़ेगा। मगर उसका कारण कर्म अथवा संस्कार नहीं होगा। कारण होगा––एक मात्र मेरी अधूरी साधना। अभी मेरी आध्यात्मिक अवस्था अपनी पूर्णता पर नहीं पहुँची है और इसके लिए मुझे फिर जन्म लेना होगा। वर्तमान शरीर को अग्निसमाधि देनी होगी'।

'अग्निसमाधि ?'

'हाँ, अग्निसमाधि।'

अर्चना की अग्निसमाधि

पूरब का आसमान धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। काले-भूरे बादलों के टुकड़े उस सफेद जगह पर इकट्ठे हो गये थे, जिनकी छाती को चीरती सूर्य की लाल-पीली किरणें अब आकाश में बिखरने लगी थीं और उन्हीं किरणों की ओर अपलक निहारते हुए अर्चना ने धीमे किन्तु सशक्त स्वर में कहा––

'जानते हो शर्मा ! वह अग्निसमाधि आपके माध्यम से मुझे प्राप्त होगी।'

'क्या कहती हैं आप ? मेरे द्वारा अग्निसमाधि ! और आप जैसी उच्चात्मा को···?'

'हाँ शर्माजी ! आपके द्वारा ही मेरा यह अनुष्ठान पूर्ण होगा। जानते हैं, इसीलिये मैं आपकी प्रतीक्षा कर रही थी अब तक और इसीलिये आपको मुझे अपना अतीत दिखलाना पड़ा था––उस गुफा में।'

जीवन में किसी जीवित व्यक्ति के लिए मुझे चिता लगानी होगी, कभी यह सोचा न था मैंने। कभी कल्पना भी नहीं की थी मैंने। चिता लगाते समय मैं अपने स्वयं के रहस्यमय जीवन के जाल में उलझ गया था। मेरी आत्मा किन-किन योगियों, साधकों और महापुरुषों से जुड़ी हुई है। मेरा जीवन किन-किन लोगों से जुड़ा हुआ है, समझ में नहीं आता ? सब कुछ रहस्यमय है। सब कुछ अलौकिक और अविश्वसनीय है।

० ० ०

साँझ की स्याह बेला।

निस्तब्ध वातावरण। चारों ओर गहन नीरवता छायी हुई है। पद्मा का तट और उस तट पर धू-धू कर जलती हुई चिता। अर्चना का पार्थिव शरीर भस्मीभूत हो रहा है उस चिता में, जिसकी लाल-पीली लपटों का प्रतिबिम्ब

पड़ रहा है पद्मा के जल में। उसी प्रतिबिम्ब को अपलक निहार रहा हूँ मैं। उसी प्रतिबिम्ब में अपने जीवन के तमाम रहस्यों को जानने-समझने की चेष्टा कर रहा हूँ मैं। मगर मुझे सफलता नहीं मिल रही है।

मैं क्यों पैदा हुआ ? क्यों जीवित हूँ ? फिर क्यों मर जाऊँगा ?––ये तीनों प्रश्न आज भी निरुत्तरित रह गये। क्या कभी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलेगा ? क्या कभी जीवन के तमाम रहस्य अनावृत न होंगे ? क्या कभी अपनी आत्मा की पगध्वनि मुझे सुनाई नहीं देगी ? क्या इसी प्रकार किसी अज्ञात योगियों के अज्ञात साधिकाओं और दिव्य आत्माओं के पार्थिव, अपार्थिव जीवन से और अस्तित्व से टकराती रहेगी मेरी रहस्यमयी आत्मा ? क्या इसी प्रकार मैं बराबर लिखता रहूँगा अपनी अनुभव-कथा जन्म-जन्मान्तर तक ?

रात गहरा गयी है। चिता बुझ चुकी है और उस चिता में अग्निसमाधि लेने वाली अर्चना की पार्थिव काया भी भस्म हो चुकी है। मैं अब उठता हूँ और अपने इन तमाम प्रश्नों के तमाम उत्तरों की खोज में धीरे-धीरे आगे बढ़ जाता हूँ।

प्रकरण : एकतीस

शरीर से आत्मा की ओर

मेरी आत्मा ३५ वर्ष पहले गहन अन्धकार में थी। मन अशान्त था। प्राणों में जीवनी शक्ति भी नहीं थी। मेरा जीवन मृतवत् था। लेकिन आज मेरी आत्मा परम चेतना और परम प्रकाश को उपलब्ध है। वह दिव्य आलोक से भर गयी है। मन शान्त हो गया है। प्राणों को भी जीवनी शक्ति प्राप्त हो गयी। जीवन आलोकमय, अमृतमय और आनन्दमय हो गया है।

बन्धु ! आप सब लोगों का जीवन भी इसी प्रकार आलोकमय, प्रकाशमय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाय। इस ३५ वर्ष के दीर्घ अन्तराल में हमें जो कुछ भी प्राप्त हुआ है—और जिसके फलस्वरूप हमें यह सब उपलब्ध हुआ है—वह हम आपको देना चाहते हैं। सब कुछ लुटा देना चाहते हैं। बाँट देना चाहते हैं। मगर बन्धु ! कठिनाई यह है कि सत्य को दिया नहीं जा सकता, बाँटा नहीं जा सकता और लुटाया भी नहीं जा सकता। उसको तो स्वयं पाना होता है। स्वयं उपलब्ध करना होता है। स्वयं ही सत्य होना होता है।

'कुण्डलिनी' के द्वारा हम आपके भीतर सत्य को प्राप्त करने की प्यास पैदा कर देना चाहते हैं। वह मार्ग भी आपको हम बतला देना चाहते हैं, जिसके द्वारा आपके भीतर अध्यात्म की ज्वाला धधक सकती है, अपने आपको समझने के लिए आत्मा में व्याकुलता पैदा हो सकती है और अपने आपको जानने के लिए मन उद्विग्न हो सकता है। हमें विश्वास है कि वह ज्वाला, वह आकुलता और वह उद्विग्नता आपको एक ऐसी दिशा की ओर ले जायेगी, जहाँ अमृत है, परम शान्ति है, परम आनन्द है और परम सुख है।

आप दुःख के लिए पैदा नहीं हुए हैं। आपका मूल्यवान जीवन दुःख के लिए कदापि नहीं है। जीवन की सार्थकता दुःख में नहीं है। दुःख जीवन का अन्त भी नहीं है। आपके जीवन में दुःख इसलिए है कि आपका जीवन उसे उपलब्ध नहीं कर सका है, जिसे उपलब्ध करने के लिए वह है।

वह उपलब्धि क्या है ?

वह उपलब्धि है आनन्द। जब तक आनन्द को आप उपलब्ध नहीं कर लेते, तब तक दुःख अनिवार्य है। स्मरण रखिये ! आनन्द को पाने का आपका विचार नहीं है। आनन्द के लिए आपने कभी विचार नहीं किया है। आनन्द को पाने के लिए आपने कभी प्रयास नहीं किया है। आनन्द आपकी प्यास है। आपकी अभीप्सा है। निसर्ग है। आपको मालूम होना चाहिए कि आनन्द की प्यास ही धर्म को जन्म देती है। धर्म का जन्म किसी के चिन्तन-मनन से नहीं

हुआ है। किसी के सोच-विचार से नहीं हुआ है। उसका स्फुरण, आविर्भाव और जन्म अनन्त आनन्द की प्यास से हुआ है। वह प्यास हमारे और आपके प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है। सम्प्रदाय धर्म नहीं है, धर्म की अभिव्यक्ति है। सम्प्रदाय धर्म नहीं, बल्कि धर्म का शरीर है। जब तक सम्प्रदायों का बोझ ढोते रहेंगे, तब तक धर्म को नहीं जान सकते। धर्म को जानने के लिए हमें सम्प्रदायों से ऊपर उठना होगा। उसी प्रकार जैसे आप हमें जानना चाहेंगे, तो हमारी देह के पार अतीत को देखना होगा। जो हमारी देह पर रुक जायेगा, हमारे आस-पास बिखरे भौतिक जीवन में उलझ जायेगा, वह हम तक कभी नहीं पहुँच सकेगा। हम शरीर में हैं, पर शरीर नहीं है। हम शरीर के भीतर हैं। जो हमारे शरीर के तल पर रुक जायेगा, उलझ जायेगा, वह हम तक नहीं पहुँच सकेगा। शरीर हमारा आवरण मात्र है।

सम्प्रदाय और धर्म

इसी प्रकार सम्प्रदाय केवल धर्म का आवरण है। धर्म को जानने के लिए लिए सम्प्रदाय से मुक्ति आवश्यक है। आपका मस्तिष्क सिद्धान्तों से भरा है। शास्त्रों, पुराणों के शब्दों के खूब कोलाहल हो रहे हैं आपके मस्तिष्क में। तमाम आध्यात्मिक विचारों की भीड़ भी लगी हुई है वहाँ। लेकिन क्या उन सबसे धर्म का कोई सम्बन्ध है। नहीं, बिलकुल नहीं। वे सब मात्र केवल 'स्मृतिभार' हैं आपके मस्तिष्क में। उन स्मृतिभारों से आपमें कोई क्रान्ति नहीं हुई है। आपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। आपको किसी प्रकार के आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई है। आप जो थे वही हैं। अब भी, इस समय भी आपको मालूम होना चाहिए कि जीवन के साथ जब धर्म का सम्बन्ध होता है, तो उसके स्पर्श से सम्पूर्ण जीवन ही बदल जाता है। वह परम आनन्द, परम शान्ति और परम आलोक से भर जाता है। विचारों की गहरायी में एक क्रान्ति घटित हो जाती है।

धर्म का मतलब है 'स्व'। स्व यानी आतमा। आतमा की दिशा में यात्रा करना चाहिए, क्योंकि 'स्व' ही जीवन का मूलस्रोत है। आपको हम उसी दिशा में ले चलने के लिए प्रयत्नशील हैं।

आपका सम्बन्ध धर्मशास्त्रों से है। धार्मिक ग्रन्थों से है। धार्मिक सम्प्रदायों से है। आपका सम्बन्ध धार्मिक कहे जाने वाले लोगों से है, मगर धर्म से नहीं। धर्म से आपका कोई नाता नहीं। कोई सम्बन्ध नहीं। क्या आपको अपने आपमें, अपने भीतर—कोई कृतार्थता, कोई सार्थकता दिखलायी पड़ती है, जिसके फलस्वरूप आपका जीवन शान्तिमय हो गया हो? आनन्दमय हो गया हो?

जिसके कारण जीना एक अर्थ में बदल जाता है और हरेक साँस में कृतार्थता का बोध होने लगता है वह तो कहीं नहीं है आपके जीवन में।

इन सबसे ठीक विपरीत आपके भीतर एक अन्धकार है, अत्यन्त ऊब पैदा करने वाला खालीपन है। एक उदासीनता है। आप उदासी के कारण अपने आपको कहीं-न-कहीं उलझाये रखना चाहते हैं। अपने आपको कहीं-न-कहीं व्यस्त रखना चाहते हैं। इसी के कारण कोई अकेला नहीं रहना चाहता।

क्या यह जीवन है? क्या इसी को जीवन कहियेगा आप? नहीं, बन्धु! यह जीवन नहीं है। यह पलायन है।

जीवन में जो दुःख है, उसको आप कभी भी दूर नहीं कर सकते। उसको दूर करने का कोई न उपाय है और न कोई साधन। दुःख तभी दूर हो सकता है, जब हम अपने जीवन को आमूलचूल न बदल दें, क्योंकि जीवन का दुःख किसी बाहरी कारण से नहीं है। इसीलिए सब अभाव दूर भी हो जायँ, मिट भी जायँ, तब भी दुःख का अस्तित्व जीवन में बना रहता है। वह और भी प्रगाढ़ हो जाता है, क्योंकि तब अभाव दूर करने की व्यस्तता न रह जाने से उसका और अधिक नग्न रूप सामने आ जाता है। एक दरिद्रता वह होती है, जो दरिद्रता में दिखलायी देता है। पर दरिद्रता यही नहीं; एक ऐसी भी गहरी दरिद्रता होती है, जो समृद्धि में दिखलायी पड़ती है।

जीवन का दुःख किसी बाहरी अभाव के कारण नहीं है। अभावों के कारण कष्ट है। परन्तु कष्ट दुःख नहीं है और इसलिए सारे कष्ट मिट भी जायें तब भी वह बना ही रहता है, क्योंकि कष्ट के तल और दुःख के तल अलग-अलग हैं। वे अलग-अलग समस्यायें हैं। कष्ट परिधिगत असुविधा का नाम है और दुःख केन्द्रगत सन्ताप का नाम है। कष्ट अनगिनत हो सकते हैं, मगर दुःख एक ही होगा। सारे कष्ट यदि खत्म भी हो जायँ, तो भी दुःख का अस्तित्व बना ही रहेगा। दुःख को दूर करने का मात्र एक ही उपाय है और वह है धर्म। दुःख किसी प्रकार की असुविधा नहीं है। इसलिए वह किसी भी सुविधा से दूर नहीं हो सकता।

दुःख अज्ञान है। केवल आत्मप्रकाश होने पर ही वह दूर हो सकता है और कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

आत्मप्रकाश का मतलब है 'स्व' की उपलब्धि। 'स्व' से बढ़कर जीवन में कोई दूसरी सम्पदा नहीं है, क्योंकि वह हमारी अन्तर्निहित सम्पदा है। इसी सम्पदा को पाने के लिए 'कुण्डलिनी' की साधना है।

कुण्डलिनी मेरा जीवन है, मेरी साधना है, मेरी प्यास है और मेरी अन्तरात्मा की पुकार है, जिसे समझकर और जिसे सुनकर काल के अन्धकार मे डूबी हुई, काल के निबिड अन्तराल में खोयी हुई एक आत्मा ने, जो पिछले चालीस साल से देह के बन्धन में फँसी हुई संसार में भटक रही है, आध्यात्मिक तृप्ति के लिए हमें पत्र लिखा—'यदि साधना के लिए मैं आपकी दृष्टि में योग्य पात्र हूँ, तो मुझे अवश्य सहारा दीजिए। प्रतीक्षा करूँगी…'। और

उस काफी लम्बे आध्यात्मिक पत्र को हम जैसे-जैसे पढ़ते गये वैसे-ही-वैसे अतीत की सारी स्मृतियाँ जाग्रत् होती गयीं मानस में ।

मेरी ओर से पत्र के उत्तर में लिखा गया—'आ जाओ । योग्यता देखकर अवश्य सहारा दिया जायेगा । क्या नाम है ? यह भी लिखना···' ।

एक सप्ताह बाद पत्र आया । लिखा था—क्या नाम है ? यह स्वयं नहीं जानती । मैं कौन हूँ ? कहाँ से आयी हूँ ? और क्यों जीवित हूँ ? यह सब भी नहीं जानती मैं । माता-पिता का दिया हुआ शरीर है और उन्हीं का रखा हुआ नाम है—भक्तकुमारी प्रधान ! जाति नेपाली है और वर्ण है वैष्णव ।

साँझ का समय है । घोर नीरवता छायी हुई है । गंगा के किनारे पैर लटकाये सीढ़ी पर मैं खामोश बैठा हूँ । बाढ़ का पानी कम हो गया है । हरिश्चन्द्र घाट के बाबा श्मशाननाथ का मन्दिर उभर आया है पानी के बाहर । श्मशान में गहरी निस्तब्धता छायी हुई है । काली स्याह जमीन पर बिखरे हुए अधजले कोयले के टुकड़ों के भीतर कौवों के झुण्ड मुर्दों के जले हुए मांस के टुकड़ों को खोज रहे हैं । पास ही मरघट का खौरहवा कुत्ता भी बैठा हुआ सतर्क दृष्टि से. चारों ओर कुछ खोज रहा है । साँझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे बिखरती जा रही है श्मशान में ।

फिर डूब जाता हूँ—मानस में उभरी हुई उन तमाम स्मृतियों के अथाह सागर में । अचानक कुछ कौंध-सा जाता है मस्तिष्क में और उसी के साथ गम्भीर हो उठती है मेरी अन्तरात्मा । क्या यह वही आत्मा है, जिसकी अब तक खोज थी मुझे ? जिसके लिए अब तक व्याकुल थी मेरी आत्मा ? हे भगवान् ! कैसा योगायोग है ? कैसा अपार्थिव संयोग है ? और तभी राम···राम···सत्य है का स्वर सुनाई पड़ता है । सारी स्मृतियाँ सिमट जाती हैं और उसी के साथ सिर घूम जाता है श्मशान की ओर ।

देखता हूँ—मेरी लाश को कफन में लपेटे टिकठी में रस्सी से बाँधे कुछ लोग लिये चले आ रहे हैं ।

जी हाँ ! मेरी लाश ।

मैं हर लाश को, हर किसी की लाश को अपनी ही लाश समझता हूँ और जब कभी कोई लाश चिता पर जलती है, तो यही समझता हूँ कि मेरी लाश जल रही है । मैं ही जल रहा हूँ चिता की लाल-पीली लपटों में । सचमुच बड़ी शान्ति मिलती है, मेरी आत्मा को ।

साँझ गहरा गयी है ।

कफन में लिपटी लाश को पानी में डालकर लोग जरा ऊपर चढ़कर हुक्का पीने लगे हैं । मगर उन लोगों में एक युवक ऐसा भी है, जो हुक्का पीना नहीं चाहता । मैं उसी युवक की ओर देख रहा हूँ । बड़ा ही शान्त, सौम्य और निर्विकार-सा लग रहा है वह मुझे ।

धीरे-धीरे चलकर वह युवक लाश के करीब पहुँचता है और पीछे की ओर हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता है। वह अपलक दृष्टि से लाश की ओर निहारने लगता है। अचानक उसकी मासूम आँखें छलछला उठती हैं और दुःख एवं विषाद की तमाम रेखायें एकबारगी उभर आती हैं उसके चेहरे पर। और फिर वह जमीन पर बैठकर फफक-फफक कर रोने लगता है।

निश्चय ही वह लाश उस युवक के बाप या भाई की थी। साथ में आये हुए लोग उसे समझाने-बुझाने की कोशिश कर रहे हैं, मगर वह युवक बराबर रोते ही जा रहा है।

साँझ की स्याह कालिमा गहरा कर रात के अन्धकार में बदल गयी है। मैं उठता हूँ और लाली घाट की सीढ़ियाँ चढ़कर गली में आ जाता हूँ। घर पहुँचने पर प्रधानजी का 'तार' मिलता है। कालिंच-पांग से तार भेजा है उन्होंने आध्यात्मिक चर्चा के लिए। वह शीघ्र वाराणसी आ रही है—यही सूचित किया है तार से उन्होंने। तार को एक तरफ रख देता हूँ और लेट जाता हूँ बिस्तर पर। सिरदर्द कर रहा है, बुखार भी हो आया है शायद। मगर मेरी आँखों के सामने बार-बार उसी युवक का मासूम चेहरा थिरक उठता है।

कितना दुःखी और व्यथित था वह युवक। सोचता हूँ, क्या मनुष्य दुःख के लिए ही पैदा हुआ है। नहीं, दुःख के लिए जन्म नहीं लिया है मनुष्य ने। जीवन दुःख के लिए नहीं है। जीवन की सार्थकता दुःख में नहीं है। क्या दुःख का बोध और दुःख का अतिक्रमण करने की आकांक्षा यह नहीं बतलाती कि वह हमारे स्वरूप का, हमारे जीवन का अंग नहीं है। क्या दुःख की अस्वीकारोक्ति यह नहीं कहती कि जो हमारे भीतर है, वह दुःख नहीं, बल्कि दुःखनिरोध की प्यास है।

आनन्द की प्यास, आनन्द की सम्भावना की ओर सिद्धि की सूचना है। जीवन आनन्द माँगता है, क्योंकि जीवन की सफलता, सार्थकता और पूर्णता आनन्द में है। जब तक वह 'प्यास' के रूप में है, चाह के रूप में है, तब तक दुःख अनिवार्य है।

० ० ०

साँझ होते ही एक प्रकार से पागल हो उठता हूँ और उसी पागलपन के वशीभूत होकर गंगातट की ओर चला जाता हूँ और किसी सुनसान घाट की वीरान उदास सीढ़ियों पर बैठ जाता हूँ मैं। वास्तव में मेरा सम्पूर्ण जीवन-दर्शन बिखरा है काशी के घाटों के आस-पास। सारी आदतें तो छूट गयीं, मगर पागलपन से भरी यह आदत नहीं छूटती मुझसे। क्या करूँ? समझ में नहीं आता।

नीले आकाश में काले-भूरे बादलों के टुकड़े बिखरे हुए हैं। हवा में ठंडक है। साँझ की स्याही उतर आयी है धरती पर। एक अबूझ-सी खिन्नता व्याप्त

है वातावरण में। चारों ओर साँय-साँय हो रहा है। आज मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ प्रधानजी भी हैं। कुण्डलिनी से सम्बन्धित उनके ढेर सारे प्रश्न हैं, ढेर सारी जिज्ञासायें हैं। उनके प्रश्न और जिज्ञासायें महत्त्वपूर्ण और गूढ़ हैं। इसी से मैंने समझ लिया कि प्रधानजी साधारण आत्मा नहीं है। कई जन्मों के आध्यात्मिक संस्कारों को एक साथ लेकर उसने जन्म लिया एक नारी काया में।

उनका कहना है कि—

ज्ञान-विज्ञान के रूप में मनुष्य की शक्ति अवश्य विस्तीर्ण हुई है, मगर मनुष्य स्वयं शक्तिहीन होता जा रहा है। बाहर मनुष्य की शक्ति बढ़ी है, पर भीतर वह शक्तिशून्य हो गया है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य उस मिट्टी के दीये की भाँति है, जो सब जगह प्रकाश करता है, पर उसके स्वयं के तले अन्धेरा इकट्ठा हो जाता है।

आप ठीक कहती हैं। भले ही मनुष्य अपनी शक्ति का विस्तार कर ले—मगर जब तक 'स्व' पर उसकी अपनी विजय नहीं है तब तक वह शक्तिहीन ही है। 'स्व' पर विजय प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाते ही हमारे भीतर एक परम ऊर्जा का जन्म होता है। आपको मालूम होना चाहिए, यही 'परम ऊर्जा' अथवा 'स्व' से उत्पन्न परम शक्ति का ही दूसरा नाम है 'कुण्डलिनी'। आनन्द बाहरी जीवन, बाहरी जगत् और बाहरी किसी पदार्थों से कभी भी उपलब्ध नहीं होता। वास्तविक आनन्द आन्तरिक विजय से प्राप्त होता है। स्व पर विजय प्राप्त करने से उपलब्ध होता है और इसके लिए जो दिशा है और जो मार्ग है, वह है एकमात्र 'धर्म'।

'जरा सोचिये प्रधानजी! भीतर की पराजय को सोचिये। स्वयं के भीतर हम कैसे सर्वहारा हैं। कितने पराजित हैं। बाहरी विजय का कोई भी चिह्न है वहाँ?' नहीं! वहाँ बिलकुल हारे हुए हैं हम। क्रोध पर नियन्त्रण नहीं। काम पर नियन्त्रण नहीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष किसी पर अपना नियन्त्रण नहीं। किसी पर कोई वश नहीं। उल्टे इसके ठीक विपरीत उन सबका हम पर ही अधिकार है। हम ही उनके दास हैं। हम इन तमाम वासनाओं के वेगों से यंत्रों की भाँति चलते रहते हैं।'

'हम इतने परतंत्र हैं कि क्या कहें—यह स्थिति है। अपना ही मन है—पर हम उसके मालिक नहीं। हमारा उस पर कोई अधिकार नहीं। हम जब तक मन के अधिकार में हैं, जब तक वासनायें हम पर अपना अधिकार जमाये हुए हैं, तब तक हम पूर्ण रूप से मनुष्य नहीं बन सकते। वासनाओं पर विवेक की जीत से ही मनुष्य का सच्चे अर्थों में जन्म होता है। विजय का पहला चरण अपनी वासनाओं और अपने मन पर होना चाहिए। वासनाओं के वेगों और वासनाओं की तमाम वृत्तियों को जीतकर ही हम यह कह सकते हैं कि 'मन'

हमारा है। वैसे तो वह कहने-भर का हमारा है—पर जरा भी हमारा है नहीं। उसके अचेतन वेग के प्रवाह में हम बराबर बहे चले जाते हैं। उसके प्रवाह के सामने हमारी कोई सत्ता और कोई प्रभुता नहीं। अचेतन की आँधियों के सामने चेतन विवेक को बार-बार हार जाना पड़ता है और वह संघर्ष जीवन भर चलता रहता है।'

'अब आप यह जानना चाहेंगी कि मन पर, वृत्तियों पर और उनके तमाम वासनात्मक वेगों पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है? इस विषय में सबसे पहले आप यह जान लें कि लड़ाई से क्या कभी कोई जीत या विजय हुई है? लड़ाई से शत्रु पर कभी भी विजय प्राप्त नहीं हो सकती। लड़ाई से शत्रु को हराया जा सकता है, पर जीता नहीं जा सकता और प्रधानजी! 'हराने' और जीतने में काफी अन्तर है। शत्रु हारने से टूट जाता है, दमित हो जाता है, पर शत्रुता नहीं टूटती। शत्रुता दमित नहीं होती। उस तल पर तो वह अपराजित ही बना रहता है। शत्रु के भीतर आपकी विजय की स्वीकृति कभी भी नहीं हो पाती। शत्रु आज तक कभी भी जीते नहीं गये हैं। आज तक मित्र ही जीते गये हैं। विजय केवल मित्र पर ही होती है। मित्रता में ही शत्रुता पराजित होती है।'

'यह सिद्धान्त—साधना-मार्ग में आन्तरिक विजय प्राप्त करने के लिए और अधिक निरापद है। बाहरी शत्रु तो अन्य हैं, मगर भीतर के शत्रुओं को अन्य नहीं कहा जा सकता।'

'मन की शक्तियाँ, वृत्तियों की शक्तियाँ—हमारी ही शक्तियाँ हैं। तमाम वासनायें भी हमारी शक्तियाँ हैं—मगर सब-की-सब दिग्भ्रमित हैं। उन सबको हमें हराना, पराजित करना नहीं है। उन्हें जीतना है और सन्मार्ग की ओर प्रेरित कर देना है। उनका विनाश नहीं करना है। उनको संपरिवर्तन करना है। उनके विनाश से तो हम नष्ट हो जायेंगे। मगर उनका संपरिवर्तन से हमारे भीतर एक नये जीवन का प्रारम्भ हो जायेगा। हम अज्ञानतावश उन तमाम शक्तियों को अपना शत्रु मान बैठे हैं। मगर जब मित्रता के द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें संपरिवर्तित कर देते हैं, तो वे तमाम शक्तियाँ ही दिव्य ऊर्जा का रूप धारण कर परमेश्वर की प्राप्ति का आधार और परमेश्वर तक पहुँचने का मार्ग बन जाती हैं।'

'आन्तरिक वृत्तियों पर विजय पाने का एकमात्र साधन है मैत्री। हमारे भीतर शक्तियों के जितने भी केन्द्र हैं, वे सब अविजित हैं। यही कारण है कि हम उन शक्तियों के हाथ में यंत्र बने हुए रहते हैं। हममें वासनायें ही सब कुछ होती हैं। जिसके फलस्वरूप हम विवेकशून्य से बने रहते हैं या फिर हम अन्धे होकर उनसे लड़ने और संघर्ष करने लगते हैं। उनका विरोध करने लग जाते हैं।

'समझना चाहिए कि अपनी ही इन तमाम शक्तियों से लड़ने का परिणाम क्या हो सकता है ? उससे अपनी ही जीवनी शक्ति और जीवन-ऊर्जा का ह्रास होगा। योग की शक्ति का अपव्यय है और दमन एवं संघर्ष भी।

'आपका कहने का मतलब है, अपनी अन्तर्निहित शक्तियों से मैत्री यानी अपने आपसे प्रेम ?'—प्रधानजी ने कहा।

'हाँ ! आपका कहना बिलकुल ठीक है। हम अपने से भी प्रेम नहीं करते हैं, तो किसी दूसरे को क्या प्रेम करेंगे ? हमें अपने शरीर और मन दोनों से प्रेम करना चाहिए। ये दोनों हमारे जीवन के उपकरण हैं। हमारी आत्मा के मन्दिर हैं। सहानुभूति और प्रेम के प्रकाश में ही वे अपना-अपना रहस्य खोलते हैं और हमें उनमें प्रवेश मिलता है। प्रेम से प्रवेश मिलता है अपने आपके भीतर। विरोध से नहीं। प्रेम से अपने भीतर एक ऐसा वातावरण तैयार होता है, जो आत्म-निरीक्षण को जन्म देता है और आत्म-निरीक्षण से ही जीवन में सामंजस्य पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप चित्त पूर्ण चेतनामय हो उठता है और वासनायें समाप्त हो जाती हैं और अन्त में विवेक की अग्नि-शिखा रह जाती है।'

'जीवन में सामंजस्य नहीं है और यही कारण है जीवन के तमाम दुःखों का असामंजस्य और असामान्यता ही हमारे जीवन में तमाम सन्तापों के कारण हैं। वृत्तियों, वासनाओं और तमाम इच्छाओं की अन्धी विक्षिप्तता ही दुःख है, सन्ताप है, क्लेश है, बन्धन है। इनसे मुक्त होना ही एकमात्र मोक्ष है।'

'क्या आपको अपने भीतर विक्षिप्तता नहीं दिखलायी पड़ती ? मैं आपसे किसी सिद्धान्त की बात नहीं कह रहा हूँ, जो तथ्य है उसी को बतला रहा हूँ। जीवन के सिद्धान्तों से नहीं बल्कि जीवन के तथ्यों से हमारा प्रयोजन है। अगर आपको जीवन के तथ्यों को जानना है, तो शास्त्रों में मत उलझिए—वहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा, सिवाय सिद्धान्तों को छोड़कर। स्वयं में देखिए। अपने को देखिए। अपने भीतर झाँककर देखिए। अपने व्यवहार और अपनी चर्चा को देखिए। अपनी तमाम अन्तर्वृत्तियों को टटोलिए। तो आप देखेंगी कि वहाँ एक व्यक्ति का नहीं, अनेकों व्यक्तियों का प्रवाह है और उस प्रवाह में आपको एकता नहीं, बल्कि अनेकता मिलेगी'।

'इस तथ्य को मैं समझ न सकी। एकता और अनेकता से आपका क्या तात्पर्य है' ?

'एकता' का मतलब है—'मैं' और सिर्फ 'मैं'—सिर्फ एक नाम। अपने को जानने के लिए 'मैं' है। आप अपने को 'मैं' से जानती हैं, एक नाम से जानती हैं,यही एकता है। मगर आपका यह बोध, आपकी यह आदत वास्तव में आप में एकता का भ्रम पैदा करती है। आपको मालूम होना चाहिए कि 'एकता' दुर्लभ है। व्यक्ति होना कठिन है। आपकी इस बोध के साथ—आपकी एकता

के साथ और आपके 'मैं' के साथ परिवार के लोगों के नाम, रूप, व्यक्तित्व—समाज के लोगों के नाम, रूप, व्यक्तित्व और ऐसे ही संसार के लोगों के नाम, रूप, व्यक्तित्व के संस्कार जुड़े हुए हैं। यही अनेकता है। एकता के भ्रामक बोध के साथ अनेकता का सामंजस्य। हम सोचते हैं कि हम एक व्यक्ति हैं। एक इकाई हैं। एक व्यक्तित्व हैं। मगर यह हमारा भ्रम है। हमारे व्यक्तित्व और हमारी इकाई के साथ न जाने कितने लोग जुड़े हैं। न जाने कितने व्यक्तियों की भीड़ भीतर जमा है—यही अनेकता है'।

'आप इस एकान्त वातावरण में—साँझ के समय गंगा तट पर बैठी हैं। अपने को अपने परिवार, समाज और अपने संसार से इस समय अलग समझ रही हैं। अपने को एकाकी समझ रही हैं। मगर जरा सोचिए, क्या यह आपका भ्रम नहीं है? क्या सचमुच इस समय एकाकी हैं? जरा आँखें बन्द कर भीतर की ओर देखिए, कितनी भीड़ लगी है लोगों की? इसी को कहते हैं—'एकता के भ्रम में अनेकता का बोध'।

'वास्तविक एकता का और वास्तविक व्यक्ति का अपने भीतर तभी जन्म होता है जब भीतर वासनाओं की आँधियाँ चलनी बन्द हो जाती हैं। तमाम वृत्तियों की विक्षिप्तता खत्म हो जाती है और हम 'अप्रमत्त' स्थिति में होते हैं और हमारे भीतर विवेक की शिखा अकम्पित बराबर जलने लग जाती है। स्वयं अपने को अभी तो आप क्षण-क्षण बदलता हुआ पायेंगी। क्षणभर पहले आप जो थी, वह दूसरे क्षण नहीं होंगी और इतना ही नहीं—आप क्षणभर पहले जो थीं—क्षणभर बाद—उसके विरोध में भी अपने को पायेंगी'।

'हम स्वयं का प्रति क्षण विरोध करते हैं और स्वयं का प्रति क्षण खण्डन करते हैं। जिसे हम स्वयं बनाते हैं—उसे स्वयं ही मिटा भी देते हैं। जिसे हम प्रेम करते हैं, उसी से घृणा भी करने लग जाते हैं। शान्ति में जिस जीवन का निर्माण करते हैं, अशान्ति में उसका शिखर गिरा देते हैं। एक हाथ से देते हैं, और दे भी नहीं जाते हैं कि दूसरे से छीन लेते हैं। यह हमारी पराजय है। यही हमारा आत्मघात है। जीवन की इस संगति से जो मुक्त नहीं होता है, वह जीवनभर वास्तविक आनन्द और वास्तविक सौन्दर्य से वंचित रहता है। जीवन का आनन्द और सौन्दर्य असंगति में नहीं, बल्कि संगति में है। असंगत जीवन व्यर्थ है। एक बोझ के सिवाय कुछ नहीं है। जीवन एक अमूल्य अवसर है। मगर उस अवसर को हम असंगति में गँवा बैठते हैं'।

'जो भीतर में एक नहीं है, उसके भीतर फिर कुछ नहीं है। आप 'एक' हैं कि नहीं! आँखें बन्द कर अपने आप से पूछिये। अपने भीतर झाँक कर देखिये। आप देखेंगे, आप पायेंगे कि वहाँ बहुत सारे 'चित्त' हैं। एक चित्त का विचार सिर्फ आपका भ्रम है। यही भ्रम सबसे बड़ा असत्य है जीवन का।'

कुण्डलिनी की साधना यही कहती है कि 'हम पहले एक बनें। अविभक्त बनें।'

'मगर यह कैसे होगा ?'

'आप जानती हैं ? बीस वर्ष पूर्व हमने भी यही प्रश्न किया था अर्चना से। बड़ी गहरायी से समाधान किया था उसने मेरे इस प्रश्न का। वस्तुत: जो 'मैं हूँ'—उसमें अनेकता नहीं है। हमारा चित्त एक दर्पण की तरह है, जिसमें अनेक लोगों के चित्तों के प्रतिबिम्ब पड़े रहते हैं। इसी को अनेकता कहते हैं। एक ही चित्त में अनेकों चित्त के दर्शन। चित्त अनेक हो सकता है, पर 'चेतना'—जो चित्त का आश्रय लेकर जीवनी शक्ति के रूप में काम करती हैं, वह अनेक नहीं है। वह एक ही है। वह प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील है। हमारी चेतना, आपकी चेतना और किसी की चेतना भिन्न-भिन्न नहीं, बल्कि एक ही है। जैसे पानी तो एक ही है मगर अलग-अलग पात्रों में रहने के कारण अलग-अलग दीखता है, वैसे ही चेतना को समझना चाहिए। मगर चित्त अलग-अलग है। हमारा चित्त और आपका चित्त एक-दूसरे से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण संस्कार हैं, वृत्तियाँ हैं, वासनायें हैं और जब ये अनुकूल ऊर्जा का रूप धारण कर लेती हैं तो अपने चित्त के दर्पण में पड़नेवाले अनेकों चित्त के प्रतिबिम्ब अपने आप गायब हो जाते हैं और तब केवल अपना ही चित्त रह जाता है।

इसलिए अपने में काफी गहरायी से देखना जरूरी है। दृष्टि जब स्वयं की अत्यधिक गहरायी में प्रवेश करती है, तो अनेकता के प्रवाह के नीचे एकता का धरातल दिखलायी देता है। दृष्टि का आना आपके भीतर अत्यन्त गहरायी में प्रवेश कर एकता के धरातल का दर्शन' ही एक भाग 'कुण्डलिनी' योग है।

सच बात तो यह है प्रधानजी कि दर्शन का अन्तर्गमन हमें एकता पर पहुँचाता है और दर्शन का बहिर्गमन अनेकता पर। अनेकता संसार है और एकता है मोक्ष। मैं अपने भीतर बराबर निरीक्षण करता रहता हूँ। मैं देखता हूँ कि जो अनेक हैं वह संसार है और जो एक है वह स्वयं 'मैं' हूँ और स्वयं जानता हूँ।

भीतर अनेक क्या है ? अनेक वासनायें हैं। अनेक भावनायें हैं। अनेक विचार हैं। लेकिन विवेक एक है, अनेक नहीं। चैतन्य एक है, अनेक नहीं और वही एक 'मैं' हूँ। वासनाओं का, विचार का, भावनाओं का प्रवाह किसके समक्ष है ? वे किसके लिए दृश्य हैं ? वही मैं हूँ। जिसके सामने वे सब हैं। जिसके समक्ष हैं वे और जिसके लिए दृश्य है। मैं स्वयं के लिए दृश्य नहीं हो सकता। मैं स्वयं के समक्ष नहीं हो सकता। इसलिए जो भी मेरे समक्ष हैं, वह निश्चय ही मैं नहीं हूँ। बस, यही बोध जगाना है। जानती हैं आप, इसी बोध का नाम 'आत्मबोध' है। आत्मबोध के फलस्वरूप वासनाओं, भावनाओं

और विचारों से बँधा हुआ मेरा तादात्म्य सम्बन्ध धीरे-धीरे क्षीण होता है और धीरे-धीरे टूटता है। और उस आभास के विसर्जन पर ही चित्त से जो अतीत है, उस चेतना की अनुभूति मुझे होती है और यही अनुभूति मुझे एक में ले जाती हैं और 'मुझे' एक बनाती है।'

o o o

रात गहरा गयी है। श्मशान भी सूना पड़ा है। चारों ओर साँय-साँय हो रहा है। कभी-कभी निस्तब्धता को चीरती हुई कुत्तों और सियारों के समवेत स्वर में रोने की आवाज बिखर जाती है वातावरण में।

प्रधानजी विचारों के अथाह सागर में डूबी हुई हैं। मैंने कहा—'अब चलिये। रात अधिक हो गयी है।'

विचारों में डूबी हुई प्रधानजी ने एक बार गहरी जिज्ञासा भाव से मेरी ओर देखा और फिर उठ कर खड़ी हो गयीं। ऐसा लगा मानों वह अभी मुझसे बहुत कुछ पूछना और समझना चाहती हैं। उनके बहुत से ऐसे प्रश्न हैं, जो अभी भी निरुत्तरित हैं।

एकबारगी हँस पड़ता हूँ मैं। अब तो मेरे लिए न शरीर का मूल्य है और न तो संसार का। दोनों व्यर्थ हैं मेरी नजर में। यह जीवन-क्रान्ति वासनाओं, विचारों और भावनाओं के दमन से नहीं होती है। वह उनसे युद्ध करने से नहीं होती है। वह होती है सम्यक् निरीक्षण से। वह होती है उनके प्रति जाग्रत् होने से।

'सहज सजगता' बस इसी एक शब्द में ही सारी विधि है। जिनसे चित्त राग करता है, उनसे द्वेष करना कठिन नहीं है। द्वेष राग का ही दूसरा रूप है।

राग-विराग, योग-त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक में दूसरा प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। श्रद्धा-अश्रद्धा, विश्वास-अविश्वास और लोभ-त्याग की भी यही स्थिति है। एक के अस्तित्व में दूसरा छिपा रहता है। इसलिए योगी के चित्त में त्याग की अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है और इसी प्रकार त्यागी के अवचेतन मन में योग की। त्यागी हमेशा योग के सपने देखा करता है और इसी प्रकार योगी भी हमेशा त्याग का। त्यागी योग के और योगी त्याग के आक्रमणों से हमेशा पीड़ित रहता है। योगी त्याग के सपने देखता है और त्याग का आकर्षण अनुभव करता है। जिन्हें हम लोग पुण्यात्मा कहते हैं, वे लोग जो सपने देखते हैं, उसमें वे अपने को पापियों जैसा ही पाते हैं।

क्योंकि चित्त में प्रत्येक वृत्ति अपनी ही विरोधी है। मगर पूरक वृत्ति को वह हमेशा छिपाये रहती है। उनमें से किसी एक को पकड़कर चित्त के बाहर नहीं निकला जा सकता, क्योंकि वे दोनों ही वृत्तियाँ चित्त की हैं और

चित्त में हैं। त्याग या योग को किसी एक को पकड़कर चित्त के बाहर निकालने को 'तप' नहीं कहते। 'तप' तो त्याग और योग के बीच में है। त्याग और योग दोनों का चुनाव न करना दोनों ही स्थितियों में तटस्थ रहना ही 'तपश्चर्या' है। वास्तव में राग-विराग, योग-त्याग और मोह-वैराग्य के द्वन्द्व में जो पूर्ण रूप से तटस्थ है—वही तपस्वी है।

अब मैं गली से निकल कर सड़क पर आ गया हूँ। प्रधानजी एक बार मेरी ओर देखती हैं और फिर दूसरी तरफ मुड़ जाती हैं। उन्हें 'लॉज' में जाना है, जहाँ वह ठहरी हुई हैं। बुखार तेज हो गया है। सीने में भी दर्द है अब। पैर काँप रहे हैं। तभी सिखरन मिल जाता हैं। सहारा देकर घर ले जाता है मुझे। पिछले ४० साल से सेवा करता आ रहा है वह मेरी। आकर बिस्तर पर लेट जाता हूँ मैं। सिखरन कम्बल डाल देता है शरीर पर। तभी मनीष आ जाता है। हाँ ! मनीष ! संसार में कहीं मेरे लिए आकर्षण है तो मनीष के प्रति है। सिर्फ मनीष के प्रति। जिसका पार्थिव शरीर अभी एक वर्ष के शिशु का है, मगर उसके भीतर एक उच्च कोटि की 'योगात्मा' है, जिसे आते हुए और शरीर ग्रहण करते हुए मैंने देखा है।

मनीष आकर मेरे करीब बैठ जाता है और अपलक मेरी ओर देखने लगता है और मैं भी उसकी ओर निहार कर एकबारगी मुस्करा पड़ता हूँ।

प्रकरण : बत्तीस

भोग से योग की ओर

गुप्त रूप से निवास करने वाले उच्च कोटि के योगियों और प्रच्छन्न भाव से विचरण करनेवाली योगसाधिकाओं की खोज में लगभग पैंतीस साल से भटकते-भटकते आज मैं जिस मानसिक और आत्मिक स्थिति में पहुँचा हूँ—उसकी मैंने कभी भी कल्पना नहीं की थी। कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि अपने इतने साल के तमाम यौगिक, आध्यात्मिक एवं साधनात्मक अनुभवों को 'कुण्डलिनी' के रूप में लिपिबद्ध भी करूँगा मैं। सचमुच 'कुण्डलिनी' मेरे आध्यात्मिक जीवन का इतिहास है। कुण्डलिनी को पढ़कर लोगों के मन में क्या प्रतिक्रिया होती है, यह तो मैं नहीं जानता, मगर कुण्डलिनी को लिखकर मेरे मन को अवश्य शान्ति मिली है। कुण्डलिनी के रूप में मैंने भारतीय संस्कृति और साधना की आत्मा को अनावृत किया है। उसके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

कभी-कभी स्वयं के विषय में सोचता हूँ कि कैसी है मेरी स्थिति ? राग-विराग से मुक्त, प्रेम-घृणा से मुक्त, मोह-आकर्षण से मुक्त और संसार-संन्यास से भी मुक्त। निश्चय ही मैं जिस अवस्था में हूँ—वह द्वन्द्व के बाहर है, जो 'स्वयं' में ले जाता है और 'स्वयं' में स्थित करा देता है। स्वयं में जो स्थित है, वास्तव में वही 'स्वस्थ' है। 'स्व' यानि आत्मास्थ' यानि स्थिति।

द्वन्द्व के प्रति जागरण ही हमें द्वन्द्व के बाहर ले जाता है। यह जागरण तीसरा सूत्र है, जो हमें द्वन्द्व के बाहर और उससे अतीत यानि द्वन्द्वातीत की स्थिति में ले जाता है। सच बात तो यह है कि इसी द्वन्द्वातीत की साधना ही तपश्चर्या है। यही तपश्चर्या हमारे लिए अलौकिक जगत् का द्वार खोलती है और तमाम संकल्प-विकल्प से हमको ऊपर उठाकर निर्विकल्प की अवस्था में ले जाती है। 'तपश्चर्या' की अन्तिम उपलब्धि है—निर्विकल्प अवस्था यानि समाधि।

संकल्प, विकल्प और निर्विकल्प—ये तीन अवस्था है हमारे विचारों की। संकल्प-विकल्प का आधार है वासना। जब कि निर्विकल्प का आधार है विवेक। निर्विकल्प की स्थिति वास्तव में वासना और विवेक दोनों की साक्षी है। लेकिन जो वासना का दमन करने के चक्कर में पड़ जाते हैं—वे बुरी तरह भटक जाते हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि संसार में मनुष्य के लिए दो भटकाव हैं। पहला है 'भोग' का और दूसरा है 'दमन' का। संसार

और संन्यास दोनों अपनी-अपनी जगह उलझनें और बन्धन हैं। इन दोनों के बीच सन्तुलन और संयम रखना ही तपश्चर्या है।

संसार और संन्यास के बीच जो द्वन्द्व है और उस द्वन्द्व के मार्ग में सँभलकर और अपना सन्तुलन बनाये रखकर चलना ही साधना है। चलनेवाले के लिए न भोग करना है और न दमन करना है। न संसार को अपनाना है और न संन्यास को ही स्वीकार करना है। बस, दोनों के बीच में रहना है। जब मैं साधु-संन्यासियों और धार्मिक लोगों को देखता हूँ, तो सच मानिए मुझे बड़ी दया आती है उन पर। वे तपश्चर्या में नहीं आत्महिंसा में लगे हुए दिखलायी पड़ते हैं हमें। वे लोग आत्महिंसा को ही तप, साधना अथवा तपश्चर्या समझते हैं। हमारी दृष्टि में वह तपश्चर्या नहीं है। आत्महिंसा है। उन लोगों ने हिंसा और घृणा की वृत्तियों को अपने प्रति उलटा लिया है। वे अपने शरीर, मन तथा आत्मा के स्वयं शत्रु बन गये हैं और ऐसे लोगों को स्वयं का दमन करने में, अपने आपको सताने में जो रस मिलता है वास्तव में वह हिंसा का रस और आनन्द है। वह अत्यन्त सूक्ष्म हिंसा है। बाहर तो दिखलायी नहीं पड़ती, मगर खतरनाक काफी होती है। उससे केवल अहं की ही वृद्धि होती है।

वासनाओं को वांछना नहीं है। उन्हें विसर्जित करना है। विसर्जन से ही हमारी स्वतन्त्रता फलित होती है। वही व्यक्ति वास्तव में स्वतन्त्र है जिसके कोई भी बन्धन नहीं है और जो किसी के बन्धन में नहीं है।

योग में हम वासनाओं के बन्धन में होते हैं। दमन की स्थिति में वासनाएँ हमारे बन्धन में होती हैं। दोनों ही स्थितियाँ परतन्त्र हैं। स्वतन्त्र वह है जो वासनाओं से मुक्त है। जिसमें किसी भी प्रकार की वासनाएँ हैं ही नहीं। वासनाओं का अभाव ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। शेष सब परतन्त्रताओं के रूप हैं। राग, विराग, योग, त्याग सभी परतन्त्रता है। संसार यदि परतन्त्रता है, तो संन्यास भी परतन्त्रता है। वीतरागता ही एकमात्र स्वतन्त्रता है। वासनाओं से जो मुक्त है, जो इन तमाम परतन्त्रताओं से परे है, उसे ही हम 'वीतराग' कहते हैं। वही वीतरागी है।

अज्ञान के साथ वासना होती है। जब कि ज्ञान के साथ करुणा। वासना से अज्ञान की पहचान होती है। जहाँ करुणा है वहीं ज्ञान है। करुणा ही ज्ञान की कसौटी है।

स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव

'क्या आपको कभी ऐसे वीतराग महात्मा मिले थे'?—प्रधानजी ने प्रश्न किया।

'हाँ मिले थे और इसी काशी में रहते थे। नाम था स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव।' मानसरोवर निवासी स्वामी स्वरूपानन्द परमहंसदेव के शिष्य

थे वह। कुण्डलिनी-प्रसंग को लेकर मैं जिन महात्माओं, साधकों और योगियों से मिला हूँ उनमें स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव का अपना विशिष्ट स्थान समझा जायेगा।

स्वामीजी की एक शिष्या भी थी। नाम था आरती! सर्वप्रथम उसी से मेरा परिचय हुआ। बाद में उसने अपने गुरु से मेरा साक्षात्कार कराया था। पहली बार जब मैंने आरती को देखा, तो देखता ही रह गया था। लम्बा कद, छरहरा बदन, गौर वर्ण, बड़ी-बड़ी स्याह आँखें, नुकीली नाक, गुलाबी होठ, घनी भौंहें और नितम्ब तक लहराते काले घने बाल, यौवन से भरपूर देह-यष्टि। साधना के तेज में लिपटी हुई कमनीयता और दप्-दप् करता हुआ अपूर्व सौन्दर्य। आयु यही लगभग २५-२६ वर्ष। पंजाब के किसी गाँव में उसका विवाह १२ वर्ष की आयु में हो गया था। मगर विवाह के दो-तीन महीने बाद ही पति की मृत्यु हो गयी थी। माता-पिता थे नहीं। मामा ने पाला-पोसा था और विवाह भी किया था। बिना प्रति का मुँह देखे असमय में वैधव्य दुःख का पहाड़ उस अबोध बालिका पर टूट पड़ा था। सँभाल न सकी वह अपने आपको और एक दिन चल पड़ी आत्मशान्ति की खोज में वह किशोरी एकाकी काशी की ओर।

साँझ का समय था। लगातार चार-पाँच दिनों की भूखी-प्यासी वह बालिका गालों पर हाथ धरे अहिल्याबाई घाट की सीढ़ियों पर बैठी थी। आँखों से आँसू ढुलक कर गालों पर सूख गये थे। वह सूनी निगाहों से आकाश की ओर उन्मुक्त उड़ते हुए पक्षियों की ओर देख रही थी। तभी उस पर एक युवक की दृष्टि पड़ी। पहले तो वह काफी देर तक आरती के मुरझाये हुए चेहरे की ओर निहारता रहा, फिर धीरे-धीरे चलकर वह आरती के करीब पहुँचा। युवक काफी आकर्षक और सुन्दर था। उसका नाम था सदानन्द ब्रह्मचारी। कन्धों तक झूलते हुए घने काले घुँघराले बाल, बीच में से निकाली गयी माँग, बड़े-बड़े नेत्र, उच्च ललाट, लम्बा कद, गौर वर्ण। पीले रंग की रेशमी लुंगी और उसी रंग का रेशमी दुपट्टा उसकी गौरवर्णीय देह पर बड़ा ही सुन्दर लग रहा था।

स्वामी नीमानन्द ब्रह्मचारी का शिष्य था वह ब्रह्मचारी युवक। स्वामी जी के निर्देशन में वह अध्ययन और साधना करता था, उन्हीं के आश्रय में रह कर।

अपने सामने एक युवा संन्यासी को देखकर आरती एकबारगी चौंक पड़ी। युवक मुस्कराकर उसके और समीप चला गया और फिर मुस्कराते हुए ही बोला—'आप कौन हैं बहन? कहाँ से आना हुआ है? आपके साथ और कौन-कौन हैं?'

'पटियाला से आयी हूँ मैं। अकेली हूँ। मेरा इस संसार में अब कोई नहीं

है। माँ-बाप के बाद जिसका सहारा मिला था वह भी मुझे इस संसार में बेसहारा छोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए चला गया। मैं विधवा हूँ। बाल-विधवा।' इतना कहकर आरती अपने दोनों हाथों से मुँह छिपाकर फफक-फफक कर रोने लगी।

सदानन्द की भी आँखें छलछला आयीं आरती की करुण गाथा सुनकर। बोला — 'बहन! तुम अपने को अनाथ और अकेली मत समझो अब। मैं जो हूँ। आज से मैं तुम्हारा भाई हूँ और संरक्षक भी। मैं एक ऐसे मार्ग का पथिक हूँ जो भोग से योग की ओर ले जाता है मनुष्य को। आज से तुम भी इसी मार्ग की पथिक हो।···चलो उठो, मेरे साथ चलो। परमहंसदेवजी तुमको देखकर अवश्य प्रसन्न होंगे।'

आरती पर उस युवा ब्रह्मचारी के शब्दों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह 'ना' न कर सकी और उठकर चल पड़ी उसके साथ।

स्वामी नीमानन्द ने आरती को योग की दीक्षा दी और साधना का क्रम बतलाया। आरती सदानन्द के साथ स्वामीजी के आश्रम में ही रहने लगी। धीरे-धीरे आरती के आन्तरिक और बाह्य जीवन में परिवर्तन होने लगा। सांसारिक मोह, माया, आसक्ति और वस्तुओं के आकर्षण से विरक्त हो गयी उसकी आतमा। दिन में एक बार भोजन करती और जमीन पर सोती वह। कुछ ही समय में आरती ने योग की एक उच्च अवस्था को सहज में ही प्राप्त कर लिया। लगातार कई-कई दिनों तक वह समाधि में रहने लगी। उन्हीं दिनों मेरी भेंट आरती से हुई थी।

'सदानन्द ब्रह्मचारी से भी आपका परिचय हुआ होगा?' प्रधानजी ने पूछा।

साधिका आरती

'नहीं। एक वर्ष पूर्व उस युवा साधक की मृत्यु हो चुकी थी'।

'आरती तो अभी होगी ही संसार में?'

'संसार में है तो अवश्य, मगर दूसरे रूप में और दूसरे शरीर में है। सदानन्द के देहान्त के करीब दो साल बाद आरती ने भी महासमाधि ले ली। स्वामी नीमानन्द ने ही अपने हाथों से दी थी उस महासाधिका को समाधि। उस समय मैं भी वहाँ उपस्थित था'।

आरती से मेरा सत्संग करीब दो साल हुआ। इस अवधि में उसने मुझे योग के अनेक गूढ़ तथ्यों से परिचित कराया। अपने अनुभवों के आधार पर आरती का कहना था कि कुण्डलिनी-यात्रा सात शरीर और सात चक्रों की साधना यात्रा है। हमें इस यात्रा पर चलकर परम सत्य की खोज करना है और उसे प्राप्त करना है। हमारी खोज ही हमें अन्त तक ले जा सकती है। जैसे-जैसे हम भीतर खोजेंगे, तो हमें प्रत्येक केन्द्र पर दो तत्त्व दिखलायी देंगे।

एक तो जो हमें मिला है और एक जो हमें खोजना है। क्रोध हमें मिला है। क्षमा हमें खोजनी है। वासना हमें मिली है। ब्रह्मचर्य हमें खोजना है। स्वप्न हमें मिला है। अतीन्द्रिय दर्शन हमें खोजना है। चार शरीरों तक हमारी द्वैत की खोज चलेगी। पाँचवें शरीर से हमारी अद्वैत की खोज शुरू होगी।

पाँचवें शरीर में हमें जो मिल जाय, उससे भिन्न हमें खोजना है। आनन्द मिल जाय, तो हमें यह खोजना है कि आनन्द के अलावा और क्या है! छठे शरीर में हमको ब्रह्म की प्राप्ति होती है, तो हमें यह खोजना होगा कि ब्रह्म के अलावा क्या है? तब एक ऐसा समय आयेगा जबकि हम सातवें शरीर को उपलब्ध हो जायेंगे। वहाँ होना और न होना, प्रकाश और अन्धकार, जीवन और मृत्यु दोनों एक साथ घटित हो जाते हैं और तब 'परम' की उपलब्धि है। जिसके सम्बन्ध में वाणी मूक हो जाती है।

पाँचवे शरीर के बाद रहस्य का प्रारम्भ

आरती ने बतलाया कि पाँचवें शरीर के बाद रहस्य ही रहस्य है। इसीलिए हमारे सारे शास्त्र, सारे उपनिषद् और सारे वेद-पुराण या तो पाँचवें तल पर पूरे हो जाते हैं या अधिक से अधिक छठे शरीर के तल पर। वैज्ञानिक विचारधारा के लोग पाँचवें के आगे बात नहीं करते। क्योंकि उसके बाद 'ब्रह्म' शुरू हो जाता है। जिसका कोई आदि-अन्त नहीं है। उस तल की बातें केवल रहस्यवादी ही कर सकते हैं। मगर उसमें भी अन्तर्विरोध होता है।

छठे तल से रहस्यवाद का प्रारम्भ होता है। अतः जिस धर्म में रहस्यवाद नहीं है, समझ लेना चाहिए कि वह धर्म पाँचवें तल पर रुक गया है। पर यह न समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद ही अन्त है। अन्त है शून्य। रहस्य-वाद के आगे नकारवाद है। नकारवाद ही अन्तिम है। शून्य है।

यदि क्रोध से लड़ेंगे तो हमारा सारा व्यक्तित्व ही क्रोध से भर जायेगा। हम स्वयं क्रोध हो जायेंगे। हमारे रोम-रोम से क्रोध की तरंगें और ध्वनियाँ निकलने लग जायेंगी।

सचमुच आरती का अनुभव ज्ञान-भण्डार विशाल था। जब मैंने यह पूछा कि पाँचवें शरीर को या उसके बाद के शरीर को उपलब्ध हुए साधक को अगले जन्म से भी क्या स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है, तो इसके उत्तर में उसने बतलाया कि पाँचवें और छठे शरीर को उपलब्ध साधक मृत्यु के बाद उच्चतर देवयोनियों में जन्म लेता है। वह उस योनि में जितना चाहे रह सकता है। लेकिन 'निर्वाण' की प्राप्ति के लिए उसे मानव-योनि में जन्म लेना ही पड़ता है। पाँचवें शरीर को प्राप्त कर लेने के बाद मानव-शरीर धारण करना नहीं पड़ता। लेकिन और शरीर है। वास्तव में हम जिसे देवता कहते हैं, उसी प्रकार के शरीर हैं। वह पाँचवें के बाद उस प्रकार के शरीर को उपलब्ध हो सकते हैं। छठें शरीर के बाद तो उस तरह के शरीर भी उपलब्ध न हो

सकेंगे। सातवें शरीर के बाद शरीरों की उपलब्धि समाप्त हो जाती है। फिर देवशरीर भी उपलब्ध न होंगे। सातवें के बाद ही अशरीरी स्थिति होगी। उसके पहले सूक्ष्म से भी सूक्ष्म शरीर उपलब्ध होते रहेंगे।

परमशून्य अवस्था

सातवें शरीर के बाद अशरीरी अवस्था आती है। इसी को परमशून्य की अवस्था भी कहते हैं।

आरती ने बतलाया कि एक बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है—और वह यह कि चौथे शरीर में कल्पना के स्थान पर 'अतीन्द्रिय दर्शन' आ जाता है उसका। चौथे शरीर की सर्वोच्च उपलब्धि है यह। जिसके फलस्वरूप भगवान् के भक्त के जीवन में चमत्कारपूर्ण और अलौकिक घटनायें घटने लग जाती हैं। उन चमत्कारों और अलौकिक घटनाओं में भगवान् का दर्शन और भगवान् के द्वारा भक्त की चमत्कारपूर्ण ढंग से सहायता भी शामिल है।

आत्मसाधक अधिक-से-अधिक पाँचवें शरीर को उपलब्ध होता है। इसी-लिए वह अत्यन्त गहरायी में डूबकर आनन्द और मुक्ति की कामना करता है। उसे आनन्द और मुक्ति चाहिए। पर इसके पीछे 'मैं' उपस्थित है। वह कहता है कि 'मुझे मुक्ति चाहिए'। यहाँ जरा समझने की बात है। 'मैं' से मुक्ति नहीं बल्कि 'मैं' की मुक्ति। मुझे मुक्त होना है। मुझे मोक्ष चाहिए।

भक्तयोगी, आत्मयोगी के बाद आता है राजयोगी। राजयोगी छठे शरीर को उपलब्ध होता है। उसका कहना है कि 'मैं' में क्या रखा है? 'मैं' तो कुछ भी नहीं है। 'वही' है। 'मैं नहीं' 'वही' है। ब्रह्म ही सब कुछ है। वह 'मैं' को खोने को तैयार है, मगर 'अस्मिता' को तैयार कदापि नहीं। वह कहता है रहूँगा 'मैं' ब्रह्म के साथ उसका अंश होकर। उसी के साथ मैं एकाकार हूँ। मैं ब्रह्म ही हूँ। मैं तो छोड़ दूँगा, लेकिन जो वास्तविक है, असली है मेरे भीतर, उसके साथ एक होकर रहेगा।

राजयोगी के बाद ज्ञानयोगी आता है। ज्ञानयोगी सातवें शरीर को उपलब्ध योगी है। वह अपने आपको और अपने साथ सब कुछ खोने को तैयार है। उसका कहना है 'जो है' वही रह जाय। मेरी कोई अपेक्षा नहीं। सब कुछ गँवाने को तैयार हूँ; और इस प्रकार जो सब कुछ खोने को तैयार है, वही सब कुछ प्राप्त करने का भी हकदार हो जाता है।

निर्वाण शरीर की उपलब्धि

तो जानते हो शर्मा आरती ने कहा—'निर्वाण शरीर ऐसी ही स्थिति में ही प्राप्त हो सकता है जबकि 'शून्य' और न हो इसे जानने की भी हमारी तैयारी है। मृत्यु को भी जानने की तैयारी है'। थोड़ा रुक कर आकाश की ओर निहारते हुए आरती बोली—'जीवन को जानने-समझने की तैयारियाँ तो बहुत

हैं। इसलिए जीवन को जानने वाला छठे शरीर के तल पर रुक जायेगा। मृत्यु को भी जानने की जिसकी तैयारी है, वही सातवें तल को समझ पायेगा'।

उस दिन शरद पूर्णिमा थी। रात का पहला प्रहर गुजर चुका था। हम लोग नगवाँ घाट पर बैठे थे। वातावरण में गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी। कुहरे की हलकी पर्तों में लिपटी हुई चाँदनी बिखरी हुई थी चारों तरफ। आरती मौन साधे निर्विकार भाव से चाँद की ओर एकटक निहार रही थी।

उस पार रामनगर के श्मशान में कोई चिता जल रही थी। जिसकी लाल-पीली लपटों की परछाइयाँ हिल रही थीं गंगा की लहरों में। कभी-कदा सियारों और कुत्तों की मिली-जुली आवाजों से निस्तब्धता भंग हो जाती थी। सहसा आरती ने मेरा हाथ थाम लिया और चाँद की ओर ही देखती हुई बड़े ही उदास स्वर में बोली—'काश ! शर्मा ! मैं जीवन को न जान पायी होती। शायद तुमको नहीं मालूम, मैं इस जीवन में जिस आन्तरिक पीड़ा को झेल रही हूँ, वह मुझसे अब सहन नहीं हो पा रही है'।

'कैसी पीड़ा, आरती ? क्या तुम मुझे बतला सकती हो'—सिर घुमाकर आरती की ओर देखते हुए मैंने कहा।

मेरा वाक्य पूरा नहीं हुआ। आरती बीच में ही बोल पड़ी—'ऐसा मैं बहुत दिनों से अनुभव कर रही हूँ। मैंने तुमको अपनी आत्मा के बिलकुल करीब पाया है'। थोड़ा रुककर आहिस्ते-आहिस्ते कहना शुरू किया आरती ने—'बालविधवा हूँ मैं। पति के सुख से वंचित। मगर शर्मा बिना पति के सहयोग के नारी को उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। मेरे पति का नाम जानते हो क्या था जगदीश···जगदीश शर्मा। हम दोनों एक ही आत्मा के दो भाग हैं। उनकी आत्मा ने जन्म ले लिया है। ब्राह्मण तिवारी वंश में। मैं उनको पुनः प्राप्त करना चाहती हूँ शर्मा' !

'कैसे सम्भव होगा ? कैसे पा सकोगी तुम' ?

'सब सम्भव है। पति रूप में पुनः पा लूँगी अपनी आत्मा के अंश को। बिना पाये मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति के लिए, आत्मसुख के लिए और आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए मुझे किसी भी प्रकार पाना ही होगा अपने आत्म अंश को शर्मा और इसके लिए मुझे जीवित समाधि लेनी होगी'।

'हाँ ! शर्मा ! जीवित समाधि' !

आरती की महासमाधि

आखिर आरती की समाधि का दिन निश्चित हो गया। स्वामी नीमानन्द ने ही दिन निश्चित किया था। गुरुपूर्णिमा को समाधि लेनी थी आरती को। सो न सका। पूरी रात जागता ही रहा मैं। न जाने कैसी बेचैनी थी और न जाने कैसी थी वेदना, जो मन को मथे दे रही थी। सबेरे उठकर आश्रम गया। देखा गीता पाठ कर रही थी आरती। चेहरे पर दिव्य आभा थी। आध्यात्मिक

तेज से दप्-दप् कर जल रहा था मुखमण्डल। आँखें भी सहज न थीं। करुणा में डूबी थीं वे। पाठ के बाद कमण्डल से लेकर गंगाजल पीया आरती ने। फिर मेरी ओर मुँह घूमाकर बोली—'जानते हो सदानन्द ब्रह्मचारी कहाँ है इस समय'?

'नहीं मैं कैसे जानूँगा।'

उसने भी जन्म ले लिया है। भारी कष्ट में है वह। न जाने किस भूल का प्रायश्चित कर रहा है ब्रह्मचारी। वह देखो—यह कहकर आरती ने मेरे सिर पर हाथ रख दिया अपना। तुरन्त मेरी आँखें बन्द हो गयीं और उसी के साथ मेरी बाह्य चेतना भी लुप्त हो गयी। उसी स्थिति में देखा, एक पाँच-छः साल का अबोध बालक किसी मकान के एक कमरे में चुपचाप बैठा रो रहा था। बाल उलझे हुए थे। तन के कपड़े भी फटे हुए थे। पीठ पर लाल-पीले निशान भी पड़े थे। शायद खूब मारा गया था उस बालक को। उसकी आँखें कातर हो रही थीं। चेहरे पर तमाम पीड़ाओं के भाव बिखरे हुए थे। कुछ ही क्षणों के बाद देखा कि एक औरत धड़ाम से दरवाजा खोलकर कमरे में दाखिल हुई। काफी मोटी और तगड़ी औरत थी वह। तीस-बत्तीस से आस-पास थी उसकी उम्र। हाथ में बेंत की एक छड़ी थी उसके। कमरे में आते ही उसने छड़ी को हवा में लहराया और लगभग चीखते हुए कहा, 'हरामजादा! तू ऐसे कभी नहीं मानेगा' इतना कहकर उस औरत ने छड़ी से मारना शुरू कर दिया उस अबोध असहाय मासूम बच्चे को। वह तड़पता रहा, रोता रहा, चिल्लाता रहा, मगर उस औरत को दया न आयी। वह बराबर मारती ही जा रही थी। रोते हुए उस असहाय बालक ने हाथ जोड़ कर कहा, 'तू मेरी माँ है और माँ होकर मुझे क्यों मार रही हो इतना माँ! क्या बिगाड़ा है? कौन-सा कष्ट दिया है मैंने तुझे···?' बदमाश! एकबारगी चीख कर बोली वह, 'तू मुझे अपनी समझता है। मैं माँ हूँ तेरी! मुझे जलाने के लिए तो तेरी माँ तुझे छोड़ कर न जाने कब की मर चुकी है हरामजादे! अब तू भी निकल जा मकान से!' इतना कहकर उस औरत ने बालक का हाथ कसकर पकड़ लिया और लगभग घसीटते हुए उसे कमरे के बाहर ले गयी।

बालक कुछ बोला नहीं! आँसू भरी आँखों से उसने एक बार उस औरत की ओर—जिसे माँ कहा था—देखा और फिर भारी कदमों से धीरे-धीरे चलकर मकान के बाहर हो गया।

चेतना लौट आयी मेरी। आरती के योगबल की सहायता से मैंने सदानन्द ब्रह्मचारी के पुनर्जन्म का एक रूप देखा था।

आरती की समाधि की तैयारियाँ हो रही थीं। वह अपने साधना-कक्ष में थी। भारी कदमों से धीरे-धीरे चलकर मैं साधना-कक्ष में पहुँचा। मृगचर्म के

आसन पर आँखें बन्द किये निर्विकार भाव से बैठी हुई थी आरती। मस्तक पर लाल चन्दन लगा था। गले में फूलों की बहुत सारी मालायें पड़ी थीं। सिर के बाल खुलकर बिखरे हुए थे। विलक्षण आध्यात्मिक तेज से दप्-दप् कर रहा था मुखमण्डल।

आरती के समीप जाकर बैठ गया मैं। थोड़ी देर बाद उसने आँखें खोलकर मेरी ओर देखा। असीम करुणा का सागर लहरा रहा था उन आँखों में। मन्द स्वर में बोला मैं—'मुझे क्या आज्ञा है आरती ? अब तो तुम इस शरीर से और इस संसार से निवृत्त हो रही हो'।

धीरे से मुस्करा पड़ी आरती ! बहुत ही आनन्ददायक और मोहक थी वह मुस्कराहट। मुस्कराते हुए बोली—'इस शरीर को अवश्य छोड़ रही हूँ। लेकिन अभी संसार को कहाँ त्याग रही हूँ। अभी तो मुझे फिर जन्म लेना है और जन्म लेकर अपने पति को प्राप्त करना है।' एक रहस्य की बात है—आरती गम्भीर स्वर में आगे बोली—'ध्यान से सुनो ! पूर्वजन्म में मैं स्वामी नीमानन्द की माँ थी। उन्हें जन्म देने के दो मास बाद मेरी मृत्यु हो गयी थी। संयोग ही समझा जायेगा कि आरती के रूप में जन्म लेकर पुन: उनके पास आ गयी मैं और उन्होंने मुझे शिष्या के रूप में स्वीकार लिया और योग दीक्षा दी मुझको।'

'क्या स्वामीजी इस रहस्य से परिचित हैं ?'

'हाँ !' पूर्ण रूप से परिचित हैं और इस बात से भी परिचित हैं कि वे अगले जन्म में फिर मेरे पुत्र रूप में जन्म लेंगे। इसीलिए तो उन्होंने योग दीक्षा दी थी।

हे भगवान् ! कितनी रहस्यमयी और विलक्षण मति-गति होती है योगियों की। आश्चर्य से मुँह बाये देखता रह गया मैं आरती की ओर यह सब सुनकर। खैर।

० ० ०

सायंकाल ठीक समय पर आरती ने महासमाधि स्वीकार कर ली। ऐसा लगा मानो कोई प्रज्वलित दीपशिखा एकाएक बुझ गयी हो।

आरती को समाधि लेने के बाद काफी लम्बे अर्से तक स्वामी नीमानन्द परमहंसदेव से मेरा सम्पर्क बना रहा। सन् १९७६ की बुद्धपूर्णिमा को उन्होंने समाधि ली। समाधि के समय उनकी अवस्था १२० वर्ष की थी। मगर इतनी आयु में भी वे पूर्ण स्वस्थ थे। समाधि के दो दिन पहले उन्होंने मुझे बुलाया था। और जब मैं उनसे मिला तो बड़े ही सहज ढंग से बोले—'शर्मा ! तुमको मालूम होना चाहिए कि आरती ने शारदा के रूप में जन्म ले लिया है और उसका विवाह भी हो चुका है। उसने अपने पति को फिर से प्राप्त भी कर लिया है। मगर वह अपने निज रूप को भूल गयी है।

स्वाभाविक भी है। माया के आवरण में बँधते ही आत्मा अपने अतीत को विस्मृत कर बैठती है। यह कोई नवीन बात नहीं।

'मुझे सब मालूम है और यह भी मालूम है कि आप शारदा के गर्भ से उसके पुत्र रूप में पुनः जन्म लेने के लिए व्याकुल हैं'।

एकबारगी चौंक पड़े परमहंसदेव मेरी बात सुन कर! स्तब्ध भाव से उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और फिर मन्द स्वर में बोले'—माता के प्रति जो कर्तव्य है, उसका पूर्ण रूप से पालन न कर सका था मैं। अपने अधूरे कर्त्तव्य को पूर्ण करने के लिए माँ के रूप में पुनः स्वीकार करना पड़ेगा मुझे आरती की आत्मा को। एक ही आत्मा पार्वती के रूप में पहली बार मेरी माँ बनी। फिर आरती के रूप में शिष्या और अब फिर शारदा के रूप में मेरी माँ होने जा रही है। कितना विलक्षण संयोग है यह शर्मा!...'अन्तिम शब्द के साथ स्वामी परमहंस देव का स्वर विचलित हो उठा और वे काँपते हुए स्वर में अन्त में बोले—'शर्मा लगता है अपनी माँ की आत्मा के प्रति कर्त्तव्यपालन में फिर बाधा आयेगी?'

'कैसी बाधा... ?'

'बहुत कम आयु लेकर शारदा के रूप में जन्म लिया है मेरी माँ की आत्मा ने।' थोड़ा रुक कर आगे बोले परमहंसदेव—'यदि तुम उस समय सहयोग देने के लिए तैयार हो जाओ, तो सम्भव है कि आकस्मिक कालयोग से शारदा की प्राण रक्षा हो जाय।'

'कैसा सहयोग!' समझा नहीं मैं।

'तांत्रिक रूप से महामृत्युञ्जय के जप के प्रभाव से 'कालयोग' जीवन योग में बदल जायेगा शारदा का और यह काम केवल तुम कर सकते हो शर्मा! मुझे पूर्ण विश्वास है'।

'मगर स्वामीजी! मैं तमाम स्थितियों से अवगत कैसे होऊँगा? कैसे जानूंगा मैं सारी बातों को। कैसे पहचानूंगा मैं शारदा को और उसके पति को?'—मैंने कहा।

मेरी बात सुनकर परमहंसदेव हँस पड़े। फिर बोले—'मैं जो हूँ। तुमको सारी स्थितियों और सारी बातों से अवगत करा दूँगा यथासमय।'

'मगर कैसे? आप तो अब समाधि...।'

मेरे वाक्य को बीच में काटकर स्वामीजी बोले—'समाधि तो मेरे शरीर को मुझसे अलग करेगी। मेरी आत्मा को नष्ट नहीं करेगी। मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा तुमसे यथासमय सम्पर्क स्थापित कर सब कुछ बतला दूँगा।'

० ० ०

समय गुजरता गया। सन् १९८० का जनवरी महीना। पहले यह मैं बतला दूँ आपको। रात १२ से २ बजे तक का समय मेरी महानिशा साधना

का समय होता है। एक रात उसी साधना की चरम अवस्था में मुझे परमहंसदेव का दर्शन हुआ। उन्होंने मुझे बतलाया कि शीघ्र ही तिवारी वंश के दो ब्राह्मण युवक मेरे द्वारा अदृश्य से प्रेरित होकर तुमसे मिलने आयेंगे। दोनों युवक भाई-भाई होंगे। बड़ा भाई ही शारदा का पति होगा। इतना कहकर स्वामी जी ने उन दोनों युवकों के राज को भी मेरे सामने ला दिया। बोले—'अब तो पहचान लोगे न ? दोनों को आध्यात्मिक सहयोग भी देना होगा।'

'हाँ ! पहचान लूँगा और आपके आदेशानुसार यथासम्भव आध्यात्मिक सहयोग भी दूँगा दोनों को।

'क्या वे दोनों युवक मिले ?'

'अभी नहीं ! बस आने ही वाले हैं। आप भी देख लेंगी दोनों को। क्योंकि आपके बनारस में रहते हुए ही वे आयेंगे !'

० ० ०

अनुमान सत्य निकला। दोनों युवक—स्वामीजी के बतलाये हुए समय पर मेरे यहाँ आये। पहचानने में गलती नहीं हुई मुझसे। मगर मैंने सारे रहस्यों को अपने तक ही सीमित रखा। मैंने वैसा ही व्यवहार किया जैसा नये व्यक्तियों के साथ किया जाता है। मगर उन दोनों युवकों का स्वामीजी की प्रेरणा से मेरे प्रति आकर्षण और मोह बढ़ता ही गया। समझते देर न लगी मुझे। हम तीनों के बीच अगोचर रूप से महान पुरुषों का आध्यात्मिक प्रभाव अपना ताना-बाना बुनने लगा था। जिसके फलस्वरूप तीनों में प्रगाढ़ता बढ़ती गयी, बढ़ती गयी।

जब कोई योगात्मा अपने किसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अथवा अपने किसी खास लक्ष्य की पूर्ति के लिए इस प्रकार किसी व्यक्ति की आत्मा से अपना अगोचर सम्बन्ध स्थापित करती है तो उस व्यक्ति के कार्य-कलाप, व्यवहार और वार्तालाप में असन्तुलन और विलक्षणता पैदा हो जाती है। ऐसी ही स्थिति इस समय शारदा और उसके पति की हो गयी है। शारदा का पति असन्तुलित और अव्यावहारिक बातें करने लगा है। उसके कार्य-कलाप में भी विलक्षणता आ गयी है। मगर लोग इसे कुछ और समझ रहे हैं। उसके परिवार वालों ने किसी मानसिक रोग का लक्षण समझकर उसे बम्बई के किसी अस्पताल में भर्ती करा दिया है उपचार के लिए। उनका क्या दोष ? भौतिक दृष्टि से यह उचित भी है। परिवारवाले बेचारे क्या समझेंगे यौगिक और आध्यात्मिक रहस्य को। मगर मेरी दृष्टि में यह बहुत बड़ी बाधा है। क्या उस योगात्मा को उस दम्पत्ति के माध्यम से संसार में आने का अवसर नहीं मिलेगा ? कभी-कभी सोचता हूँ मैं। यदि अज्ञानतावश पति-पत्नी ने अनुकूल स्थिति का और अनुकूल वातावरण का निर्माण नहीं किया तो क्या

होगा उस महान योगी की आत्मा का। इस सम्बन्ध में जितना सोचता हूँ उतना ही उलझ जाता हूँ विचारों के जाल में।

'काश ! शारदा को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता और उसका पति भी समझ जाता सब कुछ और हट जाता प्रकृति का पर्दा उसके सामने से तो···।'

'सदानन्द ब्रह्मचारी के विषय में आपने सहीं बतलाया' ? प्रधानजी ने अन्त में पूछा मुझसे ?

हाँ ! भूल ही गया था मैं। मैंने कहा—'शारदा से मिला था वह साधु के वेष में। मगर वह भी अपने आपको भूल गया है। वह नहीं जानता कि वह कौन है और शारदा से उसका क्या सम्बन्ध है। वह अपने सौतेले भाई से शारदा का विवाह कराना चाहा था—मगर उसके परिवार वाले बेहद लोभी हैं—इसी कारण सम्भव न हो सका यह। सम्भव होता भी कैसे ! शारदा को तो अपने पूर्व पति को जो प्राप्त करना था !

'इस जन्म में सदानन्द का क्या नाम है' ?

'पंजाबी भगवान ! इसी नाम से लोग उसे जानते हैं। मगर इस समय वह कहाँ है बतलाया नहीं जा सकता'।

प्रकरण : तैंतीस

वह रहस्यमयी तान्त्रिक संन्यासिनी

सन् १९५६ !

कार्तिक का महीना।

प्रसिद्ध योगी श्यामाचरण लाहिड़ी की शिष्य-परम्परा में महायोगी भूपेन्द्र नाथ सान्याल का भी नाम प्रसिद्ध है।

मेरे निवास-स्थान के समीप ही वे अवधगर्वी मुहल्ले में रहते थे। उन दिनों कुण्डलिनी से सम्बन्धित अनुभव और संस्मरण के संकलन में सान्याल महाशय का भी प्रचुर योगदान रहा है। कभी-कदा आध्यात्मिक दृष्टि से जब मेरा चित्त उद्विग्न होता था, तो उस अवस्था में उन्हीं के निकट चला जाया करता था मैं।

उस दिन भी चित्त उद्विग्न था मेरा। रात्रि की स्याह कालिमा बिखर चुकी थी वातावरण में। मैं गालों पर हाथ धरे चिन्तन कर रहा था लाली घाट की सीढ़ियों पर बैठा। मनुष्य का जन्म और मनुष्य का जीवन दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। 'जन्म' हमें एक अवसर प्रदान करता है, जिससे हम जीवन का निर्माण कर सकें। मगर हम अज्ञानवश 'जन्म' को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। यही प्रकृति की माया है – जो लोग ऐसा समझ कर चलते हैं, वास्तव में उनका सारा जीवन व्यर्थ चला जाता है। वास्तव में जन्म के पश्चात् हम जिसे जीवन समझकर संसार की यात्रा करते हैं, वह शनैः-शनैः मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऐसे जीवन को जीवन नहीं कहा जा सकता। ऐसा जीवन शनैः-शनैः मृत्यु है एक प्रकार की। मृत्यु एकाएक नहीं आती। हम नित्य और हर क्षण, हर पल मर रहे हैं। जीवन, जिसे हम जीवन समझ कर चलते हैं, वह वास्तव में मृत्यु का ही एक लम्बा रूप है, एक लम्बा विकास है। यदि हमारे इसी रूप को और इसी लम्बे विकास को 'जीवन' समझ लिया, तो भारी भूल होगी। ऐसी भूल होगी, जिसे कभी भी परि-मार्जित नहीं किया जा सकता।

हम और हमारा जीवन

यदि यह जीवन नहीं है, तो फिर जीवन क्या है ?

यही प्रश्न हमने एक बार सान्याल महाशय से भी किया था। जिसका उत्तर मिला था—जीवन कुछ और ही है। हमारे भीतर एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जिसका नाश कभी नहीं होता। जिसकी मृत्यु कभी नहीं होती और जो परम सत्य और परम शाश्वत है। जब तक उस तत्त्व का दर्शन हमें

न हो जाय और जब तक उस तत्त्व की अनुभूति हमें न हो जाय, तब तक हम न जीवन को समझ सकेंगे और न पहचान सकेंगे। अपने आपमें विराजमान उसी परमतत्त्व की सम्यक् अनुभूति का ही दूसरा नाम जीवन है। उस परम तत्त्व को बिना जाने-समझे, पहचाने और उसका अनुभव किये, जिसे हम जीवन समझकर चलते हैं, वास्तव में वह जीवन नहीं, बल्कि एकमात्र मृत्यु की प्रतीक्षा है। एक दिन मृत्यु अवश्य आनी है। वह अवश्य आयेगी और जब आयेगी तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा। हमारे विचार से जिसे हम जीवन समझ कर चलते हैं, वह मात्र मृत्यु की तैयारी है और कुछ नहीं। जीवन का वास्तविक अर्थ है—'पूर्ण तृप्ति।'

और यह 'पूर्ण तृप्ति' निहित है अपने आपके भीतर विद्यमान परम अमृतमय उस परमतत्त्व की प्राप्ति में। जो लोग उसकी खोज में और उसकी प्राप्ति की दिशा में प्रयास नहीं करते, वे अपने जीवन को व्यर्थ में गँवा बैठते हैं। उनके हाथ से जीवन का मूल्यवान् समय निकल जाता है और जो समय चला जाता है, वह फिर लौट कर नहीं आता। उसे वापस लाने का कोई भी साधन नहीं है। जिस जीवन की मृत्यु नहीं होती, जिसने उस अजर-अमर जीवन को प्राप्त नहीं किया, उसे कभी भी वास्तविक शान्ति, वास्तविक आनन्द और वास्तविक सुख उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाय कि कल प्रातः हमारी मृत्यु हो जायेगी तो फिर क्या हमें पूरी रात शान्ति रहेगी? कोई भी वस्तु हमें सुख और आनन्द प्रदान कर सकेगी? कोई भी वस्तु हमें अच्छी लगेगी? नहीं, कभी नहीं लगेगी। वास्तव में हम मृत्यु की प्रतीक्षा में जीवन को भोग रहे हैं, जीवन को जी रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के इन्तजार में जी रहा है। कभी कोई व्यक्ति इस बात की खोज नहीं करता, कभी कोई ऐसा रास्ता खोज नहीं निकालता—जिसे प्राप्त कर और जिस पर चलकर वह मृत्यु के भय से हमेशा के लिए अपने को मुक्त कर सके।

जिसे हम 'धर्म' कहते हैं और समझते हैं, वह वास्तव में इसी बात की खोज है और वही मार्ग है, जिस पर चलकर एक परम शाश्वत तत्त्व को—परम शाश्वत अमृत को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि एक-न-एक दिन वह मर जायेगा। लेकिन हम कहते हैं कि हम नहीं मरेंगे। मरेगा हमारा शरीर। व्यक्ति को ऐसा ही समझना चाहिए कि वह नहीं मरेगा—उसका शरीर मरेगा।

क्या शरीर ही सब कुछ है। शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है? कभी किसी ने यह सोचने-समझने का प्रयत्न किया है कि शरीर के भीतर एक परम तत्त्व है, एक परम शाश्वत अमृत भी है, जिसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा जाता है और जो कभी नहीं मरता—जो अजर-अमर है। उसे बतलाने

वाला कौन है ? कोई नहीं। हमें स्वयं अपने भीतर उसे खोजने और उसे पाने का प्रयास करना होगा। जब तक हमारे भीतर खोजने और प्राप्त करने की आकांक्षा, अभिलाषा और अभीप्सा उत्पन्न नहीं हो जाती है और जब तक हम इस बात का संकल्प नहीं कर लेते हैं कि हमें जीवन में कुछ करना है, कुछ पाना है और कुछ खोजना है, तब तक हमें जीवन की पूर्ण तृप्ति का कदापि अनुभव नहीं हो सकता। परमतत्त्व के प्रति गहरी अतृप्ति की अनुभूति यदि हमारे भीतर नहीं है, तो हमारे जीवन में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती।

परमतत्त्व—आत्मा को जानने के प्रति हमारे भीतर असन्तोष और अतृप्ति की ज्वाला सदैव जलती रहनी चाहिए। हर क्षण उसे पाने का प्रयास करते रहना चाहिए। हर समय उसके लिए जाप करते रहना चाहिए। बराबर चेष्टा करते रहना चाहिए। ऐसे प्रयास, ऐसे श्रम और ऐसी चेष्टा के परिणामस्वरूप ही हम वास्तविक सुख, शान्ति और आनन्द को प्राप्त कर सकने में सफल हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। जो इस प्रकार बिना कुछ प्रयास किये केवल जीवन को जीते चले आते हैं; जीवन के मूल्यवान् समय का उपयोग खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, धन कमाने, मान-प्रतिष्ठा अर्जित करने, कोई सम्मानित पद प्राप्त करने और कुछ ग्रन्थों को पढ़ लेने में करते हैं और करके चले जाते हैं—उनके जीवन में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटित हो पाती, जिसके फलस्वरूप जीवन में सौन्दर्य की अनुभूति हो। ऐसे लोग स्वयं दुःखी रहते हैं, स्वयं तमाम कष्टों और दुःखों में जीते हैं और दूसरों को भी अपने दुःखों और कष्टों में घसीट लिया करते हैं। उनके भीतर आत्मा के दीप की ज्योति बुझी हुई रहती हैं और एक गहन अन्धकार छाया हुआ रहता है, जिसमें वे तो स्वयं डूबे रहते हैं और उनके समीप जो दूसरे लोग रहते हैं, वे भी डूब जाते हैं।

अतृप्ति कैसे उत्पन्न होगी ? अन्वेषण की सहज वृत्ति कैसे जाग्रत होगी ? यदि आपको प्यास नहीं लगी है, तो पानी खोजने की प्रवृत्ति कभी भी आपमें नहीं जाग्रत् होगी। प्यास के अभाव में यदि आप सरोवर के तट पर भी खड़े रहेंगे, तो उसके मीठे जल का उपयोग न कर पायेंगे। उसका जल आपके लिए व्यर्थ होगा। इसलिए परमतत्त्व की खोज की इच्छा आपमें सर्वप्रथम जाग्रत् होनी चाहिए। लेकिन वह कैसे उत्पन्न हो ? यह जानना आवश्यक है।

इस दिशा में कदम उठाने के लिए सबसे पहले हमें अपनी आँखें खोलकर अपने जीवन को और उस बिखरे हुए जीवन के चारों ओर फैले हुए जगत् को गहराई से देखना अति आवश्यक है और जब हम अपने बिखरे हुए जीवन को और उसके चारों तरफ फैले हुए जगत् को आँखो की गहरायी से देखना और समझना शुरू कर देंगे, तब हमारे भीतर वह प्यास भी उत्पन्न हो जायेगी।

लेकिन हम और आप प्रायः आँखें बन्द कर जीते चले जाते हैं। कभी भी आँखें खोलकर जीवन और जगत् को देखने-समझने का प्रयास नहीं करते। जो लोग आँखें खोलकर अपने जीवन को देखते हैं और जीवन के प्रत्येक क्षण का गहरायी से अनुभव करते हैं, उन्हें अपने आपका, अपने जीवन का और जगत् का व्यापक अनुभव होने लग जाता है।

वह अनुभव जैसे-जैसे गहरा होता जायेगा, वैसे-ही-वैसे वे पायेंगे कि उनकी जो इच्छा है, जो अभिलाषा है और जो आकांक्षा है, उन्हें संसार में जिन लोगों ने पूर्ण कर लिया है वे वास्तव में स्वस्थ, प्रसन्न, सुखी और आनन्दित नहीं है। वे पहले से अधिक अशान्त और दुःखी हैं। इस प्रकार उनकी इच्छा, अभिलाषा और आकांक्षा में अन्तर पड़ना शुरू हो जायेगा। वे एकान्त में बैठकर सोचने लगेंगे कि जो इच्छा उनमें है, उसे जिन लोगों ने पूर्ण कर लिया है, क्या वे शान्त, प्रसन्न, सुखी और आनन्दित हैं? उत्तर मिलेगा––नहीं। वे तो पहले से भी अधिक दुःखी हैं।

रात अधिक गहरी हो गयी है। उठ खड़ा होता हूँ मैं। एक बार चारों तरफ देखता हूँ और फिर लाली घाट की अँधेरी गली में घुस जाता हूँ। अँधेरे में गिरते-पड़ते, टटोलते श्मशान घाट की सड़क पर आ जाता हूँ और फिर अपने आप कदम बढ़ जाते हैं सान्याल महाशय के मकान की ओर।

देखता हूँ दरवाजा खुला है और सामने वाले कमरे में सान्याल महाशय ध्यान की विशेष स्थिति में आँखें बन्द किये हुए बैठे हैं। मैं धीरे-धीरे चलकर उनके समीप पहुँचता हूँ और प्रणाम कर चरणों का स्पर्श कर एक ओर बैठ जाता हूँ। थोड़ी देर बाद ध्यान भङ्ग होता है सान्याल महाशय का। स्थिर दृष्टि से एक बार वे मेरी ओर देखते हैं और मुस्कराकर गम्भीर स्वर में पूछते हैं—'इतनी रात को कैसे आना हुआ ?'

'मन अशान्त था। घाट पर बैठा था। मगर शान्ति नहीं मिली। उठकर चला आया आपके पास।'—उत्तर दिया मैंने।

सुनकर हँस पड़े सान्याल महाशय। बोले—'रात के अँधेरे में—सुनसान घाट पर बैठे रहने से क्या मन को शान्ति मिलेगी ?'

मौन रह गया मैं। कोई उत्तर देते न बन पड़ा।

'भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण ही मन की तमाम अशान्ति का मूल कारण है'। सान्याल महाशय गम्भीर स्वर में कहने लगे––'तुमको अपने जीवन को आँखें खोलकर देखना चाहिए और चारों ओर फैले हुए संसार को भी समझना चाहिए। तुम्हारी अन्तर्वेदना को समझ रहा हूँ मैं। मगर उस वेदना का कोई मूल्य नहीं। यदि तुम धनवान बनना चाहते हो, तो उस दिशा में प्रयास करने के पूर्व देखो कि जो लोग धनी हैं, क्या वे पूर्ण सुखी और पूर्ण तृप्त हैं ? यदि तुम मान-प्रतिष्ठा और यश-कीर्ति प्राप्त करना चाहते हो—और

उसी में सुख समझते हो, तो देखो---ऐसे लोग क्या सुखी हैं जिन्हें वह सब प्राप्त हैं ? यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारे पास सुन्दर भव्य महल, बाग-बगीचा, नौकर-चाकर, मोटर-गाड़ी, सुन्दर पत्नी हो, बैंक में लाखों रुपये जमा हों, तो इन सब को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास करने के पूर्व—सोचने-समझने का यह प्रयास करो कि जिन लोगों के पास ये तमाम सारी चीजें हैं, उनके जीवन में तृप्ति हैं ? शान्ति हैं ? सुख हैं ? आनन्द हैं ? अगर नहीं है, तो तुम्हें अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं और तमाम आकांक्षाओं की व्यर्थता समझ में आ जायेगी और यह भी समझ में आ जायेगा कि यह सब भ्रम है। सांसारिक पदार्थों और सांसारिक वस्तुओं में न सुख है और न है शान्ति।'

'जो लोग सांसारिक वस्तुओं एवं पदार्थों को सुख-शान्ति की दृष्टि से जीवन में महत्त्व देते हैं, वे वास्तव में एक अँधेरे गड्ढ़े में गिरे हुए होते हैं। क्या तुम भी उन्हीं लोगों की तरह अन्धकाराच्छन्न गड्ढ़े में गिरना स्वीकार करोगे ?

थोड़ा रुक कर सान्याल महाशय आगे बोलने लगे—'शर्मा ! इस नश्वर संसार में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं मिलेगा, जो जहाँ है, जिस स्थान और जिस स्थिति में है, वहाँ वह सन्तुष्ट और प्रसन्न अथवा आनन्दित न हो। इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि सारी दौड़-धूप, सारा प्रयास, सारा प्रयत्न और सारा उद्योग अन्तहीन है। इससे कोई भी व्यक्ति वास्तविक सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ ! एक बात अवश्य है—वह यह कि इस अन्त-हीन निरर्थक प्रयास से दुःख, कष्ट आदि अवश्य बदल जाते हैं। तुम तो रोजाना हरिश्चन्द्र घाट के श्मशान में लोगों को मुर्दे ले जाते हुए देखते हो। कभी यह सोचा है कि अर्थी को लिये हुए लोग बराबर कन्धे बदलते रहते हैं। अर्थी के बाँस को एक कन्धे से दूसरे कन्धें पर रख लेते हैं। कुछ क्षणों के लिए राहत मिलती है, आराम मिलता है, शान्ति और सुख मिलता है, मगर बाद में दूसरा कन्धा भी दुःखने लगता है। ऐसे ही संसार में लोग अपने दुःखों को बदलते रहते हैं। एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रख लिया करते हैं अपने दुःख और अपनी पीड़ा को। कुछ समय के लिए तो अवश्य परिवर्तन का अनुभव होता है, मगर बाद में वही दुःख-क्लेश और तमाम पीड़ायें पुनः वापस आ जाती हैं अपने स्थान पर। जीवन बहुत छोटा है, उसकी सीमा संकीर्ण है; यह समझ कर पूरी मानव जाति के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, तभी जीवन सार्थक होता है।'

'तुमको बराबर सतर्क रहना चाहिए और सदैव इस बात का चिन्तन करते रहना चाहिए कि कहीं तुम भी उन्हीं इच्छाओं और आकांक्षाओं से प्रेरित नहीं हो रहे हो, जिन इच्छाओं एवं आकांक्षाओं से प्रभावित और प्रेरित होकर अन्य लोगों ने अपने जीवन को गँवा दिया है। जिस दिन तुम्हारे

सामने यह स्पष्ट हो जायेगा, उसी समय तुम्हारे सामने तुम्हारा जीवन भी एक पुस्तक की भाँति अपने आप खुल जायेगा और तब तुमको—वह शान्ति मिलेगी—वह आनन्द मिलेगा—और वह सुख मिलेगा जो भौतिक इच्छाओं की पूर्ति में कदापि सम्भव नहीं !

'सोचो ! खूब गहरायी से सोचो !! वास्तविक सुख, शान्ति और आनन्द—इच्छाओं की पूर्ति में नहीं—बल्कि—जहाँ से वे तमाम इच्छायें उत्पन्न होती हैं—उसकी गहरायी में है—और वह गहरायी तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी तमाम भावनाओं की पवित्रता शुद्धता में है, तुम्हारे हृदय में है, तुम्हारे प्रेम में है, तुम्हारे भीतर जो प्रकाश है, उसके अनुभव में है।'

जीवन का लक्ष्य

'जिन लोगों के जीवन में यह बात स्पष्ट नहीं है कि वे किसलिए दौड़ रहे हैं ? किसलिए इतना श्रम कर रहे हैं ? किसलिए इतना संघर्ष कर रहे हैं और किसलिए कर रहे हैं—इतना संग्रह, वे आखिर पाना क्या चाहते हैं, वे अपने आपको समाप्त कर लेते हैं—व्यर्थ की बातों में और जो मूल्यवान् वस्तु पाने योग्य है—उससे वंचित हो जाते हैं हमेशा के लिए। इसलिए इस बात का बिलकुल स्पष्ट बोध हो जाना आवश्यक है कि तुमको जीवन में क्या पाना है ? क्या होना है और तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? यदि तुमने इस पर मनन नहीं किया तो मूल्यवान् और प्राप्त करने योग्य वस्तुओं से वंचित तो रह ही जाओगे—साथ-साथ उसके विपरीत जो अनावश्यक और न पाने योग्य वस्तु है, उसी के तमाम कूड़े-कचरे को एकत्र करने में अपना सारा जीवन नष्ट कर डालोगे। जानते हो, फिर एक दिन 'मृत्यु' तुम्हारे सामने आकर खड़ी हो जायगी मुँह बाये और उन तमाम अनावश्यक वस्तुओं को छीन लेगी तुमसे, जिन्हें तुमने जीवनभर एकत्र किया था। उस समय तुम घबराओगे, चिन्तित होगे, पीड़ित होगे और हाथ मल कर अन्त में रह जाओगे। ऐसा लगेगा कि तुम्हारे जीवन का सारा परिश्रम व्यर्थ चला गया। सारा संग्रह जल कर भस्म हो गया। तब सोचोगे कि अब क्या करें और क्या न करें।'

'शर्मा !···जो मृत्यु के समय और मृत्यु के साथ रहे, साथ दे, उसे ही वास्तव में अपना समझना चाहिए। उसे ही वास्तविक जीवन समझना चाहिए, सच्चा मित्र समझना चाहिए और समझना चाहिए सच्चा साथी। सचमुच वही वास्तविक सम्पत्ति है। जो लोग विवेकपूर्वक उसी मित्र को, उसी साथी को और उसी सम्पत्ति की खोज में जुट जाते हैं, तत्पर हो जाते हैं, वास्तव में उन्हीं के जीवन में धर्म का प्रवेश होता है और वे धार्मिक भी कहलाते हैं। जीवन में धर्म का प्रवेश होते ही परम सत्य के प्रखर आलोक से

भर जाता है जीवन और उसी आलोक में उसे आत्मा का दर्शन होता है। उसी दर्शन में परमात्मा की भी अनुभूति होती है।

'मृत्यु अनिवार्य है शर्मा ! निश्चित है उसका आगमन। उससे आज तक न कोई बचा है और न भविष्य में बचेगा। मृत्यु के समय जिसने आत्मा की खोज की है, जिसने परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति की है, वही इस बात का अनुभव भी कर पाता है कि मृत्यु आत्मोपलब्धि को और परमात्मानुभूति को छीन सकने में सर्वथा असमर्थ है। सब कुछ तो लुट जाता है, छिन भी जाता है, मगर वह उपलब्धि और वह अनुभूति केवल रह जाती है साथ में। उसे मृत्यु क्या, ब्रह्माण्ड में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे छीन सके और नष्ट कर सके।'

वह रहस्यमयी तान्त्रिक संन्यासिनी

सो न सका मैं। काफी देर तक जागता रहा। सान्याल महाशय के एक-एक शब्द गूँजते रहे कानों में। एकाएक चित्त व्याकुल हो उठा और उसी व्याकुलता के वशीभूत होकर दरवाजा खोलकर लगभग पागलों की तरह दौड़ता हुआ मैं श्मशान घाट की ओर चल पड़ा। रात के तीन बजे थे। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। श्मशान भी खामोश था उस समय। हाँफते हुए श्मशान की उदास और सूनी सीढ़ियों पर बैठ गया मैं। पूरब के आकाश के स्याह पटल पर शुक्र तारा झिलमिला रहा था। अपलक निहारने लगा मैं उसी को और फिर अपने आप से जैसे बोल पड़ा—'कहाँ मिलेगी मुझे शान्ति ? कैसे समझाऊँ अपने मन को।' और तभी खीं-खीं कर किसी के हँसने की आवाज सुनाई पड़ी। एकबारगी चौंक पड़ा मैं। चारों ओर सर घुमाकर अँधेरे में देखने की कोशिश की। सीढ़ियों की बगल में लाश रखने के लिए एक चबूतरा बना था। अँधेरे में डूबे हुए उसी चबूतरे पर एक भिखारिन बैठी मेरी ओर देखते हुए मुस्करा रही थी। अधेड़ उम्र की थी वह। जटाजूट से बाल धूल से सने हुए थे। गन्दे शरीर पर मैली-कुचैली साड़ी लिपटी हुई थी। बेडौल से स्तन बाहर निकलकर झूल रहे थे साड़ी से। उसके हाथों में अलमुनियम का एक कटोरा था, जिसमें सबेरे का सूखा भात पड़ा हुआ था। निश्चय ही उसी भिखारिन की ही हँसने की आवाज थी वह।

भिखारिन क्यों हँसी थी ? समझ न सका मैं। मगर जब उठकर चलने लगा, तो वह मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी और उसी प्रकार खीं-खीं हँसते हुए बोली—'समझती थी कि एक मैं ही पागल हूँ, पर तू तो मुझसे भी बढ़कर पागल निकला रे !'

और तभी दुर्गन्ध का एक तेज भभका न जाने किधर से आकर मेरे चारों ओर बिखर गया। निश्चय ही वह दुर्गन्ध भिखारिन के गन्दे शरीर और गन्दे कपड़ों से निकली थी और उसी के साथ पास ही कहीं कोई मरियल कुत्ता भी

रो पड़ा एकबारगी चीख कर। मुझसे रुका न गया वहाँ। जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर आ गया मैं। भिखारिन फिर हँस पड़ी खीं-खीं कर। मैंने एक बार सर घुमाकर उसकी ओर देखा और फिर आगे बढ़ गया।

दो-तीन दिन बाद जब सान्याल महाशय के यहाँ गया, तो प्रसंगवश उस रहस्यमयी भिखारिन की चर्चा की मैंने उनसे। मेरी बात सुनकर सान्याल महाशय पहले तो मुस्कराये, फिर सहसा गम्भीर हो गयी उनकी मुखमुद्रा। क्यों मुस्कराये और फिर क्यों गम्भीर हो गये वह, समझ न सका मैं। भौंचक्का-सा देखता रह गया उनका मुँह। कुछ क्षण बाद वे गम्भीर स्वर में बोले—'जो भिखारिन तुमको श्मशान में मिली थी, जानते हो वह कौन थी?'

क्या जवाब देता मैं? मैं तो एक दुर्गन्धमयी मैली-कुचैली पागल-सी भिखारिन से मिला था, जो मुझे पागल समझ बैठी थी और खीं-खीं कर हँस पड़ी थी।

'वह पागल भिखारिन नहीं, उच्चकोटि की तांत्रिक संन्यासिनी है वह।'—सान्याल महोदय ने कहा।

'ऐं! क्या कहा आपने?'—चौंककर बोला मैं, 'वह तांत्रिक संन्यासिनी है?'

'हाँ, अति उच्चकोटि की कुण्डलिनी-साधिका है वह। उसकी आयु कितनी है, कोई नहीं बतला सकता। मैं भी नहीं जानता!' सान्याल महाशय बोले—'किसी रियासत की राजकुमारी थी वह। नाम है स्वर्णा। जब स्वर्णा सोलह वर्ष की हुई, तो रियासत के राजतांत्रिक ने अपनी भैरवी बना लिया उसे। इसके लिए स्वयं रियासत के महाराज ने स्वीकृति दी थी।'

'उस राजतांत्रिक का नाम क्या था?'

'राजेश्वर गिरि।'

'स्वर्णा के सहयोग से उन्होंने अपनी कुण्डलिनी जाग्रत् करने का प्रयास किया था, लेकिन सफल न हो सके थे। मगर स्वर्णा सफल हो गयी। एकाएक जाग्रत् हो गयी उसकी प्रसुप्त कुण्डलिनी। मैंने स्वयं अपनी आँखों से कई चमत्कारी सिद्धियाँ देखी हैं उसकी।'—इतना कहकर सान्याल महाशय मौन साध गये, मगर मेरा मन उद्भ्रान्त हो गया। तुरन्त भागा-भागा पहुँचा मैं श्मशान में। काफी खोजा, मगर वह भिखारिन नहीं मिली मुझे। हताश एवं निराश लौट आया।

तीन-चार महीने का समय गुजर गया। मैं रोज जाता श्मशान में, पर उसका दर्शन न होता मुझे। समझ में नहीं आया कि कहाँ चली गयी वह। एक दिन मैं अपने मित्र के साथ पिक्चर देखने गया था। श्रीशान्ताराम की कोई फिल्म लगी थी नावेल्टी में। काफी भीड़ थी। टिकट मिलना मुश्किल था। मैं खड़ा सोच रहा था कि क्या किया जाय, तभी मेरी नजर एक असाधारण

प्रौढ़ा स्त्री पर पड़ी। उसके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया था। दूध में आलता मिला देने से जो रङ्ग बनता है, वैसा ही था उस स्त्री के शरीर का रङ्ग। बाल भी काफी घने और काले थे। महाराष्ट्रीयन स्त्रियों की तरह बालों में चम्पा और जूही की वेणी लगायी थी उसने। गले में सोने का जड़ाऊ हार और कलाइयों में सोने की चूड़ियाँ पड़ी थीं। कीमती कश्मीरी साल लपेटे थी वह अपने बदन के चारों ओर। यह थी उस स्त्री की वेश-भूषा। उसका चेहरा दप्-दप् कर जल रहा था किसी अज्ञात तेज से। आँखें भी साधारण नहीं थीं। वहाँ भी विचित्र किस्म का आकर्षण था। आँखों में स्थिरता थी, गहराई थी और थी असीम करुणा।

जब मैं निराश होकर अपने मित्र के साथ वापस लौटने लगा तो वह मुस्कराती हुई धीरे-धीरे चलकर मेरे करीब आयी और जरा-सा हँसकर बोली— 'टिकट नहीं मिला क्या ?···लो ये टिकट हैं और बालकनी का दो टिकट बढ़ा दिया उसने। एक अपरिचित महिला का इस प्रकार प्रश्न करना, फिर बिना माँगे टिकट भी देना—आश्चर्यजनक और कौतूहलमय लगा मुझे। हकबकाकर बोला—'मैं तो आपको जानता नहीं, कौन हैं आप ?'

मेरा प्रश्न सुनकर एकबारगी हो-हो कर हँसने लगी वह। दाँतों के तले दबे पान का बीड़ा बाहर निकलते-निकलते रह गया। मघई पान के रस में डूबी हुई उसकी वह हँसी बड़ी ही मधुर लगी मुझे। उसी मुद्रा में बोली वह—'मैं हूँ स्वर्णा। श्मशान की वही पगली भिखारिन, जो उस रात तुमको मिली थी।'

एकबारगी चौंक पड़ा मैं, फिर अपने को सँभाल कर बोला—'क्या कहती हैं आप। मुझे विश्वास नहीं होता। कहाँ आप और कहाँ वह दुर्गन्धमयी भिखारिन ?'

यह सुनकर उस प्रौढ़ा ने जवाब तो नहीं दिया उस समय, मगर एक क्षण के लिए—हाँ ! सिर्फ एक क्षण के लिए मैंने जो कुछ देखा—उसने मुझे एकबारगी स्तब्ध और रोमाञ्चित कर दिया। उस एक क्षण में मैंने उस प्रौढा महिला को उसी भिखारिन के रूप में देख लिया था। उसके बाद कब उसने मुझे टिकट दिया, कब मैंने उसके हाथ से टिकट लिया और कब हॉल में जाकर पिक्चर देखी, खयाल न रहा मुझको। एक तन्द्रा-सी छायी रही मुझ पर, मेरी चेतना पर। हाँ, इतना अवश्य स्मरण है कि उस महिला के रूप में वह भिखारिन रहस्यमय ढङ्ग से बराबर मेरे साथ रही थी। पिक्चर भी देखी थी उसने। उसके अस्तित्व का बराबर एहसास होता रहा था मुझे। शो खत्म हो गया। जब बाहर निकला तो देखा वह भी मेरे साथ थी और मुझसे सटकर चल रही थी। सहसा मेरे कानों में फुसफुसाकर बोली—'शराब पिलायेगा··· ?'

'ऍं ! शराब ! क्या आप शराब पीयेंगी ?'

'हाँ रे ! बहुत दिनों से नहीं पी है । बहुत प्यास लगी है बेटे !'

नावेल्टी (अब दीपक टाकीज) के बगल में एक संकरी-सी गली है, उसी गली में उस समय संगम बार था। खाने-पीने का अच्छा प्रबन्ध था उसमें । उसी बार में ले गया स्वर्णा को। खूब छक कर मदिरापान किया उसने । बिल आया २२० रु० का। अपने मित्र से रुपये लेकर बिल चुकाया। मेरे पास इतना रुपया कहाँ था ।

दूसरे दिन मेरे मित्र मिले। बोले—'शर्माजी ! बड़े आश्चर्य की बात है, जो २२० रु० मैंने दिया था, वह तो मेरी जेब में पड़ा है। भाई यह चमत्कार तो मेरी समझ में नहीं आया। कौन थी वह महिला। क्या तुमसे फिर मुलाकात हुई उससे ?'

हँसकर टाल दिया मैंने। जबाब भी क्या देता ? यदि उन्हें वास्तविकता से परिचित भी करा देता, तो मुझे बेवकूफ ही समझते महाशय ! उसी दिन सान्याल महाशय से मिला और उन्हें सारी घटनायें बतलायीं। सब कुछ सुनने के बाद वे बोले—'उच्च कोटि की तांत्रिक संन्यासिनी है स्वर्णा। कुण्डलिनी जाग्रत् है। उसी के उत्ताप को सहन करने के लिए मदिरापान करती है वह। जाग्रत् कुण्डलिनी के उत्ताप को दबाने के लिए ही उच्चकोटि के तांत्रिक लोग मदिरापान किया करते हैं। स्वर्णा को कुण्डलिनी के ही कारण मानवेतर शक्ति प्राप्त है। वह असम्भव-से-असम्भव कार्य कर सकती है । इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं ।'

साँझ का समय था। मैं अपने कमरे में बैठा कुछ पढ़ रहा था, तभी आयी वह। भिखारिन की वेश-भूषा नहीं थी उस समय। बिलकुल किसी राजा की राजकुमारी की तरह सज-धजकर आयी थी। उम्र भी कम लग रही थी। लगता था २५-२६ वर्ष की है। कमरे में घुसते ही वातावरण में इत्रों का जैसे सैलाब उमड़ आया । चौंककर पूछा—'अरे ! तुम ? तुम कैसे आयी ?'

मेरा इस प्रकार प्रश्न सुनकर वह हँस पड़ी। फिर बोली—'तू मुझे खोज रहा था न ! पागल हुए जा रहे थे मेरे लिए। सोचा मिल लूँ, नहीं तो··· ।'

'नहीं तो क्या ?'

फिर हँसने लगी वह। बोली—'तू न जाने कितने योगियों से मिला है। न जाने कितनी साधिकाओं से भी मिला है। उन सबकी स्मृतियाँ तेरे साथ हैं। सोचा, चलो मैं भी तेरे मस्तिष्क के किसी कोने में स्मृति बनकर हमेशा के लिए रह जाऊँ। कभी तो याद करोगे तुम ।'

सचमुच आज भी उस संन्यासिनी की स्मृति सुरक्षित है मेरे मस्तिष्क में। लगभग २५-२६ वर्ष का लम्बा अर्सा गुजर गया, मगर आज भी वह संन्यासिनी मेरे मानसपटल पर छायी हुई है। जब कभी उसकी स्मृतियों में डूब जाता हूँ,

तो ऐसा लगता है कि वह मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी है और मेरी ओर देखकर मुस्करा रही है।

उस दिन मनोमय शरीर को लेकर साधना की बातें होने लगीं। संन्यासिनी ने बतलाया कि कुण्डलिनी-जागरण की जो प्रथम उपलब्धि है—वह है मनोमय शरीर में जीना और उसमें जाग जाना। मनोमय शरीर स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के सन्धिस्थल में काम करता है, इसलिए उसमें विपुल शक्ति होती है।

सहसा स्वर्णा ने बड़े ही सहज ढङ्ग से मेरे सर पर अपना बायाँ हाथ रख दिया बात करते-करते। हाथ का स्पर्श होते ही किसी अव्यक्त शक्ति से मेरा सारा शरीर एकबारगी झनझना उठा। रोमाञ्च हो आया मुझे और उसी के साथ मैं अपने शरीर से भी अलग हो गया। अब मैं जिस शरीर में था वह था मेरा मनोमय शरीर। एक विचित्र अनुभूति हुई मुझे मनोमय शरीर में। उसके पूर्व भी मैंने कई बार अपने मनोमय शरीर में अपने अस्तित्व का अनुभव किया था, मगर इस बार कुछ दूसरी ही अनुभूति थी। मैं भूत, भविष्य एवं वर्तमान—तीनों काल का एक साथ अनुभव कर रहा था। एक असीम शक्ति मुझमें आ गयी थी। इच्छानुसार मैं कहीं भी आ-जा सकता था। अपने मनोमय शरीर में रहकर मैं सिर्फ मनोमयशरीरधारी प्राणियों को देख सकता था और उनका स्पर्श कर सकता था और उनसे बातें भी कर सकता था। मेरे सामने पार्थिव जगत् नहीं था। मैं मनोमय जगत् में अपने अस्तित्व का अनुभव कर रहा था। उस अवस्था में मैंने वाराणसी में मनोमयशरीरधारी ऐसे योगियों और तांत्रिकों को देखा, जो बिलकुल गुप्त रूप से निवास करते हैं। भौतिक शरीर में उन्हें कोई पहचान ही नहीं सकता, न यही समझ सकता है कि वे कोई उच्चकोटि के योगी या तांत्रिक हैं। जब मैं अपने पार्थिव शरीर में लौटा तो वैसा ही लगा, जैसे कोई व्यक्ति महल से निकलकर झोपड़े में आ गया हो।

सन् १९५६ से १९५८ तक की समयावधि में मैंने स्वर्णा के निर्देशन में केवल मन:शक्ति और मनोमय शरीर पर ही खोज एवं शोध कार्य किया था। उन दो वर्षों में मुझे जो उपलब्धि हुई थी, निस्सन्देह वह विलक्षण है। वैदिक काल और पौराणिक काल में मनुष्य ने अपने मनोमय शरीर की काफी उन्नति की थी। उस काल के तत्त्ववेत्ताओं ने मनोमय शरीर द्वारा जिन रहस्यमय तथ्यों और तिमिराच्छन्न सत्यों का पता लगाया था, वही वेद, पुराण एवं उपनिषदों के रूप में प्रकट हुआ। आज उसी तथ्य को और उसी सत्य को वैज्ञानिक अपनी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध—स्थूल शरीर द्वारा अन्तश्चेतना से समझना होगा, जब कि परामनोविज्ञान का सम्बन्ध—मनोमय शरीर द्वारा अन्तश्चेतना से है। मनोमय शरीर में पहुँचकर अन्तश्चेतना से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एकमात्र साधन है ध्यान। वैज्ञानिक जब मनोयोग से एकाग्रचित्त होकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन और गवेषणा

करते हैं तो वह भी एक विशेष प्रकार का ध्यान ही होता है और उस स्थिति में वे जिस वस्तु की खोज में रहते हैं, वह तो प्राप्त नहीं होती, बल्कि उसके स्थान पर नवीन तथ्यगत वस्तुओं की उपलब्धि उन्हें हो जाती है। मगर परामनोवैज्ञानिकों के लिए यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। परामनोविज्ञान का आश्रय लेकर चलने वाले तत्त्ववेत्ता लोग योगमार्ग से मनोमय शरीर को सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं। उस शरीर के द्वारा अन्तश्चेतना की सहायता से वे जिस खोज का लक्ष्य लेकर चलते हैं, वही उन्हें प्राप्त होता है। भौतिक विज्ञान और परामनोविज्ञान में यही भेद है और इसी भेद के कारण वैज्ञानिक और परामनोवैज्ञानिक प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं की भाषा में भी अन्तर है। वैज्ञानिकों द्वारा अब तक जितने भी आविष्कार हुए हैं, वे सब इसी कारण अलक्ष्य ढंग से हुए हैं। वैज्ञानिकों का लक्ष्य कुछ होता है और आविष्कार कुछ और ही हो जाता है। आज भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान जो कुछ भी कर रहा है, वह अपने स्थान पर सत्य है। वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों के सम्बन्ध में जो दावा किया है, वह कहाँ तक सत्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता।

भारतीय संस्कृति का इतिहास पूर्ण रूप से परामनोवैज्ञानिक है। हजारों साल पहले परामनोविज्ञान ने अपनी चरम सीमा तक उन्नति की थी। आज वैज्ञानिक जो कुछ भी कह रहे हैं, उन्हें हजारों साल पूर्व तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा अपनी भाषा में व्यक्त किया जा चुका था। उनकी अपनी भाषा वैदिक थी, पौराणिक थी, लेकिन दुःख है कि उन वैदिक एवं पौराणिक भाषा की व्याख्या लोगों की समझ में नहीं आ रही है। बड़े-बड़े विद्वान् भी उन भाषाओं की व्याख्या नहीं कर पा रहे हैं। समस्या और कठिनाई तो यह है कि वेद, पुराण और उपनिषदों के जो प्रतीकात्मक अर्थ हैं, वे काल के अन्तराल में नष्ट हो गये हैं। वे अब हमारे पास नहीं हैं। भारतीय संस्कृति और साहित्य की जो व्याख्यायें लोगों ने की हैं और जो लोग कर रहे हैं, उन प्रतीकात्मक अर्थों के अभाव के कारण—वे व्याख्यायें अनुपयोगी ही हैं। उनका कोई मूल्य नहीं।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं की भाषा में और आज के वैज्ञानिकों की भाषा में मौलिक अन्तर है और उस मौलिक अन्तर के मूल में दो मुख्य कारण हैं। पहला यह कि दोनों की भाषा में अन्तर है और दूसरा यह कि विज्ञान का आधार गणित है। वह गणित के बल पर भविष्यवाणी करता है, जबकि परामनोविज्ञान का आधार है अतीन्द्रिय दर्शन और अतीन्द्रिय ज्ञान। एक बात समझ लेनी चाहिए कि गणित में गलतियाँ सम्भव हैं, परन्तु अतीन्द्रिय दर्शन एवं ज्ञान में गलतियों की सम्भावना बिलकुल नहीं होती। यही कारण है कि विज्ञान में रोजाना हेर-फेर और सुधार होता रहता है। वह कल कुछ कहता है और आज कुछ कहता है। न्यूटन के विचार और सिद्धान्त कुछ हैं

और आइन्स्टीन के विचार एवं सिद्धान्त कुछ और। मगर परामनोविज्ञान में ऐसी कोई बात नहीं है। वैज्ञानिकों को हर पाँचवें और दसवें वर्ष अपनी धारणा को परिवर्तित करना पड़ता है। वे जो अन्तिम रूप से निश्चित करते हैं, वह प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में भिन्न होता है। वैज्ञानिक शीघ्र निर्णय करते हैं और शीघ्र उसी निर्णय का खण्डन भी करते हैं।

वेद, पुराण और उपनिषद् के बाद श्रुति और स्मृति का नाम लिया जाता है। श्रुति और स्मृति हैं क्या ? इस पर भी मैंने खोज की। श्रुति का मतलब है सुनी हुई बातें और स्मृति का मतलब है जो बातें मस्तिष्क में स्मृति रूप में बराबर सुरक्षित हैं।

अतीन्द्रिय दर्शन एवं ज्ञान से जो तथ्य और सत्य प्रत्यक्ष होते हैं, उन्हें शब्दों में व्यक्त कर सकना असम्भव है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने उन्हें व्यक्त करने के लिए नाना प्रकार के चित्रों और प्रतीकात्मक चिह्नों का आश्रय लिया था। जैसे आप स्वप्न को लीजिए। 'स्वप्न' भी अतीन्द्रिय ज्ञान और दर्शन की परिधि में आता है। इसलिए स्वप्न की भी भाषा प्रतीकात्मक होती है। यदि आप स्वप्न में पक्षी बनकर आकाश में उड़ते हैं, तो यह आपके महत्त्वाकांक्षी होने का प्रतीक है। यदि आप स्नान करते हैं, तो यह आपके रोगमुक्त होने का प्रतीक है। यदि आप स्वप्न में साँप को मारते हैं, तो यह आपके शत्रु नष्ट होने का प्रतीक है।

भौतिक जीवन और मानसिक जीवन का अन्तर अत्यन्त रहस्यमय है। एक की अभिव्यक्ति शब्दात्मक भाषा है, तो दूसरे की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक अथवा चित्रात्मक भाषा है। मनोमय शरीर में रहकर मानसिक जीवन व्यतीत करने वाले हमारे भारतीय तत्त्ववेत्ता और मनीषियों ने प्रतीकात्मक एवं चित्रात्मक भाषा का ही उपयोग भारतीय संस्कृति और साहित्य में किया है, जिसे हम आज समझ सकने में असमर्थ हैं। स्वप्न को ही लीजिए। स्वप्न की प्रतीका-त्मक भाषा के सम्बन्ध में हमारे पुराणों, उपनिषदों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में अनेक बातें मिलती हैं, मगर हमने समझने का प्रयास नहीं किया। जब स्वप्नों की व्याख्या फ्रायड, जुंग और एडलर के बाद की गयी और उसका सर्वतोमुखी विकास हुआ, तो हम समझ सके कि स्वप्न का अर्थ क्या है और वे हमारे किस भावी स्थिति के सूचक हैं। लेकिन अभी भी स्वप्नों की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं हो पायी है। अतीन्द्रिय ज्ञान तो अभी बहुत दूर है। उसकी व्याख्या करना अति कठिन है अभी।

मनोमय शरीर की शक्ति को मनःशक्ति या साईफिक फोर्स कहते हैं। साईफिक फोर्स से सम्बन्धित एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मुझे नेपाल में देखने को मिला था। इस ग्रन्थ में भी दिये गये बिवरण अत्यन्त आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय थे। अपने अन्वेषण काल में मुझे उस पुस्तक से भारी सहायता

मिली थी। उस ग्रन्थ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी भी साधना से अपने मनोमय शरीर में जीने की कला से परिचित हो जाता है, तो उसके मन की शक्ति असीम और सर्वव्यापक हो जाती है। उसी असीम और सर्वव्यापक शक्ति का नाम है मनःशक्ति अथवा साईफिक फोर्स।

एक हजार वर्ष पूर्व तक हमारे देश में महापुरुषों द्वारा साईफिक फोर्स से ही काम लिया जाता था। विज्ञान आज जिन बातों की खोज अपने ढंग से कर रहा है, तथाकथित लोग वह खोज हजारों वर्ष पूर्व ही कर चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरण के रूप में सर्वप्रथम जीव-विकासक्रम को ही लीजिये। हमारे शास्त्रों में, हमारे पुराणों में जीव-विकासक्रम को 'अवतार' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मगर हमने उसे एक कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं दिया, लेकिन जब डार्विन ने अपनी वैज्ञानिक भाषा में यह कहा कि पशुओं से मनुष्य का विकास हुआ है, तो हमने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। इसलिए कि पुराणों ने इस तथ्य को अपनी प्रतीकात्मक भाषा में और दृष्यान्तिक रूप में प्रस्तुत किया था, क्योंकि उनके रचयिताओं ने अतीन्द्रिय ज्ञान से उस तथ्य को प्राप्त किया था। हम समझ न सके और उसे काल्पनिक मान लिया। अवतारवाद से सम्बन्धित कथाओं को पुराणों में पढ़कर हमें इस बात का आश्चर्य होता है कि जिस तथ्य को हजारों साल बाद डार्विन ने अपनी वैज्ञानिक भाषा में व्यक्त किया, उसी तथ्य को हमारे पुराणकारों ने अपनी मानसिक शक्ति से पहले ही जान लिया था।

इस विषय पर विशेष जानकारी के लिए पढ़ें 'अवतारवाद में वैज्ञानिक दृष्टि' ले०—अरुण कुमार शर्मा।

साईफिक फोर्स का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है—'मिस्र के पिरामिड'। पिरामिडों के निर्माण में हजारों मन वजन के विशाल पाषाण-खण्डों का उपयोग किया गया है। मगर क्या कभी आपने यह सोचा है कि उन भारी-भरकम पाषाणों को उठाकर निश्चित स्थान पर कैसे रखा गया था? आज के बड़े-बड़े क्रेन भी उन्हें उठा सकने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होंगे। फिर उस समय क्रेन कहाँ थे। निश्चय ही वे विशाल पाषाण-खण्डों को यथास्थान लगाने के पीछे 'साईफिक फोर्स' था। साईफिक फोर्स से ही मिस्र के तमाम पिरामिडों का निर्माण हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

महाभारत काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने सिर्फ एक उँगली से गोवर्धन पर्वत को उठा लिया था। उसके पीछे भी भगवान् की मनःशक्ति ही थी। भगवान् ने स्वयं कहा है कि वे इन्द्रियों में 'मन' हैं और मन की शक्ति अपरम्पार है।

ऊपर हमने श्रुति और स्मृति की चर्चा की है। किसी देश में जब कोई महायुद्ध होता है, तो आपको मालूम होना चाहिए कि उस महायुद्ध का सबसे

पहले और सबसे अधिक प्रभाव सुसंस्कृत, सुशिक्षित बुद्धजीवी वर्ग पर पड़ा करता है। देश और समाज के जो श्रेष्ठतम वर्ग हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। ये दोनों वर्ग तो नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो शिक्षा और संस्कृति विहीन निम्न-कोटि के वर्ग हैं, वे उस महायुद्ध के भयानक प्रभाव से बच जाते हैं। उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह है तो आश्चर्यजनक बात, लेकिन है सत्य। स्मृति सम्बन्धित होती है संसार और समाज के श्रेष्ठतम वर्ग के लोगों से, जबकि श्रुति का सम्बन्ध होता है साधारण वर्ग के समुदाय से। किसी भयानक युद्ध के बाद स्मृति ही श्रुति का परिवेश धारण कर लेती है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हमेशा से बुद्धि नाम की वस्तु संसार के मुट्ठी भर लोगों के पास ही रही है। और ऐसे ही परम बुद्धिजीवियों के पास सुरक्षित रहा करते हैं—वैज्ञानिक और सांस्कृतिक सिद्धान्त और उनके सांकेतिक शब्द भी। युद्ध का प्रभाव सर्वप्रथम इन्हीं लोगो पर पड़ता है और जब युद्ध समाप्त हो जाता है, तो उसी के साथ वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत वस्तुएँ भी नष्ट हो जाती हैं और रह जाते हैं केवल उन वस्तुओं के आविष्कार से सम्बन्धित सिद्धान्त और सांकेतिक शब्द मात्र, जो युद्ध के पूर्व की आविष्कारोन्मुख प्रतिभा के साक्षी मात्र होते हैं। मगर उन पुस्तकों को समझने वाला भला कौन होगा? हमारे पुराण और उपनिषद् ऐसी ही पुस्तकें हैं, जिनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों की गहराइयों से हम परिचित नहीं, जिनके सांकेतिक शब्दों के ज्ञाता हम नहीं। अब तक जितने भी वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं—यदि कोई महायुद्ध होता है तो वे तमाम आवि-ष्कार भी उसी युद्ध की ज्वाला में भस्म हो जायेंगे—-शेष रह जायेंगी उनकी स्मृतियाँ और वे स्मृतियाँ भी कालान्तर में लोगों के लिए किंवदन्ती अथवा कल्पना के अलावा और कोई मूल्य नहीं रखेंगी। हम अब तक दो विश्वयुद्ध से परिचित हैं। मगर महाभारत-युद्ध के सामने ये दोनों विश्वयुद्ध शिशुवत् प्रतीत होते हैं। महाभारत का युद्ध १८ दिन हुआ था। १८ अक्षौहिणी सेना की बलि हुई थी युद्ध-भूमि में। बतलाने की आवश्यकता नहीं, उस भयङ्कर युद्ध की ज्वाला ने पिछले ५ लाख वर्ष की भारतीय सभ्यता, संस्कृति, वैज्ञानिक बुद्धि और मानसिक शक्ति को हमेशा के लिए जला कर भस्म कर दिया। समस्त ज्ञान-विज्ञान उस ज्वाला में भस्मीभूत हो गये। बस श्रुति-स्मृति के रूप में जो रह गया सुरक्षित और शेष, वही रह पाया।

मानसिक शक्ति की सीमा नहीं। वह अनन्त और असीम है। उसके अनन्त आयाम हैं। किसी भी भौतिक माध्यम से प्रकृति और ब्रह्माण्ड के जिन तथ्यों, जिन सत्यों और जिन गूढ़तम रहस्यों को जाना-समझा नहीं जा सकता, उन्हें मनःशक्ति अथवा साईफिक फोर्स से जाना-समझा जा सकता है। ब्रह्मविद्याविद् और खगोलशास्त्रियों ने हजारों साल पहले ही ब्रह्माण्ड और सौरमण्डल के तमाम रहस्यों को अनावृत कर दिया है, जिनका आश्रय लेकर अब विज्ञान

अपनी खोज कर रहा है। मगर यहाँ यह जान लेना चाहिए कि मन:शक्ति के द्वारा भारतीय तत्त्वमनीषियों ने जिन रहस्यों को अनावृत कर जिन बोध-कथाओं के माध्यम से हमारे सामने रखा है, उन्हें समझना बहुत ही कठिन है। उनकी बोधकथाओं की व्याख्या करना भी मुश्किल है।

अपने अन्वेषण से मुझे ज्ञात हुआ कि साईफिक फोर्स यानी मन:शक्ति मनुष्य को मुख्य रूप से तीन प्रकार से प्राप्त होती है—पूर्व संस्कारवश, योगवश और किसी भयंकर दुर्घटनावश।

जो लोग पूर्व जन्म में योगसाधना के बल पर मनोमय शरीर को उपलब्ध हो गये थे, किन्तु कुण्डलिनी जिनकी जाग्रत् नहीं हुई थी और मृत्यु को प्राप्त हो गये थे, ऐसे लोगों का पुनर्जन्म होते ही उनमें मन:शक्ति अपना काम करने लग जाती है। प्रायः हमें ऐसे बालक-बालिकाओं की कथा पढ़ने-सुनने को मिलती है, जो अनेक अलौकिक चमत्कारपूर्ण कार्य कर लोगों को आश्चर्यचकित करते रहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, इस रहस्यमय चमत्कारों के पीछे मन:शक्ति यानी 'साईफिक फोर्स' ही काम करती है। मगर धीरे-धीरे ह्रास हो जाती है। जो बालक-बालिकायें अपने पूर्व जन्म की बातें और घटनाएँ बतलाते हैं—उसकी पृष्ठभूमि में भी साईफिक फोर्स ही काम करती हैं। (विशेष अध्ययन के लिए पढ़ें—'काल का प्रवाह और पुनर्जन्म'—ले० अरुणकुमार शर्मा।)

श्रीमद्भगवद्गीता में १८ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय का अपना एक योग है। इस प्रकार कुल १८ योग हैं—(१) विषादयोग, (२) सांख्ययोग, (३) कर्मयोग, (४) ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, (५) संन्यासयोग, (६) ध्यानयोग, (७) ज्ञान-विज्ञानयोग, (८) अक्षरब्रह्मयोग, (९) राजविद्या-राजगुह्ययोग, (१०) विभूतियोग, (११) विश्वदर्शन अथवा ब्रह्माण्डयोग, (१२) भक्तियोग, (१३) क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, (१४) गुणत्रयविभाग-योग, (१५) पुरुषोत्तमयोग, (१६) देवासुरसम्पद्विभागयोग, (१७) श्रद्धात्रयविभागयोग और (१८) मोक्षसंन्यासयोग।

छः प्रकार के शरीर हैं—स्थूल शरीर, आकाशीय अथवा वासना शरीर, सूक्ष्म शरीर, मनोमय शरीर, आत्मशरीर और निर्वाण शरीर।

स्थूल शरीर से विषादयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग की साधना होती है। आकाशीय शरीर से—ज्ञानकर्मसंन्यासयोग और ध्यानयोग की साधना होती है। सूक्ष्म शरीर से—ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग और राजविद्या-राजगुह्ययोग की साधना होती है। मनोमय शरीर से—विभूतियोग, ब्रह्माण्ड-योग और भक्तियोग की साधना होती है। आत्मशरीर से क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग, गुणत्रयविभागयोग और पुरुषोत्तम योग की साधना होती है। इसी प्रकार निर्वाण शरीर से देवासुरसम्पद्विभागयोग, श्रद्धात्रययोग और मोक्ष-संन्यासयोग की साधना होती है। इन छः शरीरों के द्वारा क्रमशः १२ योगों

की साधना से छः प्रकार की समाधि की उपलब्धि होती है। कुण्डलिनी मनोमय शरीर में है। इसलिए मनोमय शरीर और उससे सम्बन्धित तीनों योगों से कुण्डलिनी साधना का सम्बन्ध समझना चाहिए। इन तीनों योगों पर आधारित 'कुण्डलिनीयोग' एक स्वतन्त्र योग है, जिसका सम्बन्ध तन्त्र से है। वास्तव में कुण्डलिनीयोग की साधना विशिष्ट प्रकार की तांत्रिक साधना ही है।

योगसाधना-मार्ग में प्रवेश करने के लिए प्रत्येक शरीर के लिए अलग-अलग प्रकार की दीक्षा की व्यवस्था है, क्योंकि बिना दीक्षा के योग को स्वीकार करना सर्वथा असम्भव है। स्थूल शरीर के लिए स्पर्शदीक्षा, आकाशीय शरीर के लिए मन्त्रदीक्षा, सूक्ष्म शरीर के लिए योजनिका दीक्षा और मनोमय शरीर के लिए शक्तिपात दीक्षा है। (योग और दीक्षा के सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे लिखा जायेगा।)

सद्गुरु द्वारा शक्तिपात दीक्षा प्राप्त होने पर एक ही भूमि में मन और प्राण का संयोग होता है, जिसके फलस्वरूप दोनों का सम्बन्ध समष्टि प्राण और समष्टि मन से स्थापित हो जाता है। व्यष्टि मन और प्राण का समष्टि मन और प्राण से तादात्म्य और कुण्डलिनी का जागरण—एक ही साथ और एक ही समय में सम्पन्न होता है। कुण्डलिनी ही जाग्रत् होकर अपने आपको मनःशक्ति अथवा साईफिक फोर्स के रूप में परिवर्तित करती है। यह उसकी पहली अवस्था है। यहाँ यह समझ लेना होगा कि कुण्डलिनी योग के चार चरण हैं—प्रथम चरण में वह जाग्रत् होती है, दूसरे चरण में उसका ऊपर की ओर उत्थान होता है, तीसरे चरण में षट्चक्रों का भेदन होता है और अन्तिम या चौथे चरण में शक्तितत्त्व और शिवतत्त्व का योग होता है। इसी योग को तन्त्र में सामरस्य महामिलन और अखण्ड महायोग कहते हैं।

प्रकरण : चौंतीस

परामानसिक जगत् और कुण्डलिनी

हमारे शरीर में ज्ञानतन्तु-समूह के दो भाग हैं। पहला भाग मस्तिष्क और मेरुदण्ड के भीतर है और दूसरा भाग छाती, पेट और पेड़ू के भीतर। पहले भाग को सेरिब्रोस्पाइनल सिस्टम कहते हैं और दूसरे भाग को सिम्पैथेटिक सिस्टम।

हमारे भीतर इच्छाओं, अभिलाषाओं और भावनाओं का जन्म एवं व्यापार सेरिब्रोस्पाइनल सिस्टम में होता है और इसी प्रकार हमारे शरीर में वृद्धि, पुष्टि, पाचन आदि स्वाभाविक व्यापार सिम्पैथेटिक सिस्टम में होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि की क्रिया और व्यापार मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड के ज्ञानतन्तु-समूह करते हैं। विचार भी इसी समूह में पैदा होता है। ज्ञानतन्तु-समूह के तार अत्यन्त सूक्ष्म, बाल से भी पतले हुआ करते हैं। बुद्धि आदि सूक्ष्मतम मानस व्यापार मुख्य मस्तिष्क में होते हैं।

मस्तिष्क के तीन भाग हैं—(१) मुख्य मस्तिष्क, (२) गौण मस्तिष्क, (३) अधःस्थित मस्तिष्क। मुख्य मस्तिष्क को सेरिब्रम कहते हैं। इसमें मस्तिष्क की खोपड़ी, कपाल के आगे, बीच और पीछे का हिस्सा रहता है। गौण मस्तिष्क को 'सेरिबेलम' कहते हैं। इसमें मस्तिष्क की खोपड़ी का नीचे तथा पिछले भाग का समावेश है। अधःस्थित मस्तिष्क को 'मेडुला आब्लांगाटा' कहते हैं। यह मस्तिष्क मेरुदण्ड (रीढ़) के ऊपरी सिरे पर स्थित है। हमारे शरीर का यह अति महत्त्वपूर्ण अंग है।

'मेडुला आब्लांगाटा' का आकार मुर्गी के अण्डे के बराबर है और उसमे एक ऐसा द्रव भरा हुआ रहता है, जो अज्ञात है। अभी तक 'मेडिकल साइन्स' उसके सम्बन्ध में पता नहीं लगा पाया है। उस अज्ञात द्रव में छल्ले के आकार में एक हजार बार घूमा हुआ ज्ञानतन्तु-समूह है।

योगी ज्ञानतन्तु-समूह के तार को छल्ले के आकार में एक हजार बार घूमे रहने के कारण इसे सहस्रार कहते हैं। योग का यही अन्तिम चक्र सहस्रार है। सहस्रारचक्र के ज्ञानतन्तुओं का एक सिरा रीढ़ की हड्डी के भीतर से आने वाली सुषुम्ना नाड़ी के मुख से मिला होता है और दूसरा सिरा ब्रह्मरन्ध्र में निकला रहता है। जहाँ शिखा रखने की प्रथा है, उस स्थान पर सूई की नोंक के बराबर एक छिद्र है। इसी को योग की भाषा में ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में असंख्य लोक-लोकान्तर और जगत् हैं, जिनके विचार ब्रह्माण्डीय ऊर्जा में मिलकर ब्रह्माण्डीय वातावरण में बिखरे हुए रहते

हैं। उन्हें ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से ज्ञानतन्तुओं का वह समूह बराबर ग्रहण करता रहता है। वे विचार अच्छे भी होते हैं और बुरे भी।

हमारे शरीर में पाँच प्रकार के प्राण और उनकी शक्तियाँ काम करती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् प्राण धनञ्जय प्राण है, जिसका केन्द्र 'मेडुला ओब्लांगाटा' है। धनञ्जय प्राण की शक्ति ही विद्युत् चुम्बकीय शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर उसके ज्ञानतन्तु-समूह में काम करती है और वही ब्रह्माण्ड के वातावरण में तैरते हुए तमाम लोक-लोकान्तरों के विचारों को आकर्षित करती है। हमारे हिन्दू धर्म में शिखा रखने की प्रथा इसलिए है कि वह ऐरियल का काम करता है। धनञ्जय प्राण की विद्युत् चुम्बकीय शक्ति उसी के द्वारा विचारों को पकड़ सकती है। इतना ही नहीं, धनञ्जय प्राण को वह विद्युत् चुम्बकीय शक्ति हमारी शिखा के द्वारा हमारे भावों, विचारों, भावनाओं और तमाम इच्छाओं को भी बराबर ब्रह्माण्ड में विकिरित किया करती है। जिस प्रकार धनञ्जय प्राण और उसकी यह शक्ति हमारे मस्तिष्क में है, उसी प्रकार वह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में भी समान रूप से विद्यमान है। विकीर्ण हुए हमारे भाव-विचार और हमारी भावना-इच्छा ब्रह्माण्डीय ऊर्जा में मिलकर आकाश में अनन्त काल तक बनी रहती है।

वैज्ञानिक लोग ब्रह्माण्ड में समान रूप से विद्यमान इस धनञ्जय प्राण और उसकी शक्ति को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सब जगह है और समान है। वह समय अथवा काल और स्थान के बंधन से सर्वथा मुक्त है। मतलब यह कि उस पर देश और काल का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए हमारी भारतीय संस्कृति और साहित्य में उसे 'परमतत्त्व' कहा गया है। ईश्वर परम-तत्त्व है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं प्राणों में श्रेष्ठ धनञ्जय प्राण हूँ।'

परमतत्त्व हमारी आत्मशक्ति को प्रकट करता है और मन, बुद्धि तथा अहंकार के रूप में स्वयं कार्य करता है हमारे शरीर में। इसीलिए धनञ्जय प्राण का आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मृत्यु के समय मन, बुद्धि और अहंकार से मुक्त आत्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा पार्थिव शरीर से बाहर निकल जाती है, लेकिन धनञ्जय प्राण अपने स्थान पर बना रहता है और तब तक बना रहता है, जब तक अर्ध लघु मस्तिष्क को प्रहार कर तोड़ा न जाये। यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि हमारी हिन्दू संस्कृति में मरने के बाद 'शव' को जलाने के पूर्व उसकी कपाल-क्रिया की जाती है। कपाल-क्रिया से धनञ्जय प्राण निकलकर आत्मा से मिल जाता है। जब तक नहीं मिलता तब तक आत्मा प्रेत योनि में भटकती रहती है। यदि किसी कारणवश अथवा अज्ञानतावश कपाल-क्रिया नहीं हुई, तो आत्मा अनन्त काल तक प्रेत-योनि में ही भटकती रह जाती

है। इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए पढ़े--'जन्म और पुनर्जन्म के बाद के सिद्धान्त' ले० अरुण कुमार शर्मा।

० ० ०

मेडुला ओब्लांगाटा का–सुषुम्ना नाड़ी द्वारा–मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी से सम्बन्ध स्थापित रहता है। यदि किसी दुर्घटनावश मेडुला ओब्लांगाटा में गहरी चोट लग जाती है, तो उसका प्रभाव तुरन्त मूलाधार पर पड़ता है, जिसके फलस्वरूप सोयी हुई कुण्डलिनी सहसा जाग जाती है और मनुष्य साईफिक फोर्स को तत्काल उपलब्ध हो जाता है, जिसके प्रभाव से वह चमत्कारी ढंग से काम करने लग जाता है। मगर साधारण व्यक्ति को न तो इस बात का पता होता है कि उसके भीतर कुण्डलिनी नाम की कोई शक्ति थी, जो दुर्घटना से जाग्रत् हो गयी है और न उसे इस बात का पता होता है कि उसके जरिये जो चमत्कार हो रहे हैं, उसका मूल कारण क्या है। यह तीसरे प्रकार से साईफिक फोर्स की उपलब्धि है।

इस उपलब्धि की दिशा में पेरिस-निवासी श्रीपीटर हरकोस का नाम जगत्प्रसिद्ध है। वे महाशय किसी भी व्यक्ति की किसी भी वस्तु का—यहाँ तक कि बाल तक का स्पर्श कर उसके सम्बन्ध में सब कुछ बतला दिया करते हैं। वह व्यक्ति कैसा है, किस प्रकार के चरित्र का है, उसका रूप-रंग क्या है, वह इस समय कहाँ पर है, जीवित है या मृत ?—सब बतला देते हैं। इतना ही नहीं, उस व्यक्ति के भूत, भविष्य की तमाम घटनाओं को भी स्पष्ट और निश्चित रूप से बतला दिया करते हैं।

पीटर हरकोस का प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त साधारण था। एक बार पैर फिसलने के कारण वे काफी ऊँचाई से जमीन पर गिर पड़े और गिरते ही बेहोश हो गये। उनके सिर में गहरा आघात लगा था। वे मरणासन्न स्थिति में थे। जब बेहोशी के बाद उनकी चेतना वापस लौटी तो उनमें विलक्षण परिवर्तन आ गया था। साईफिक फोर्स को वे उपलब्ध हो गये थे। दूरदर्शन, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय दर्शन की विलक्षण शक्ति प्राप्त हो गयी थी उनमें। मगर यह नहीं कहा जा सकता है कि पीटर महाशय यह अभी तक जान पाये कि नहीं कि उन्हें किस प्रकार यह विलक्षण शक्ति प्राप्त हो गयी है और उसका मूल कारण और मूल रहस्य क्या है?

० ० ०

साइफिक फोर्स यानी मनःशक्ति का सीधा सम्बन्ध परामानसिक जगत् से समझना चाहिए। मेडुला ओब्लांगाटा ज्ञानतन्तु-समूह के चार भाग हैं। पहले भाग का सम्बन्ध बराबर ब्रह्माण्ड और उसके लोक-लोकान्तरों से जुड़ा रहता है। दूसरे भाग में पिछले ३०० वर्षों की स्मृतियाँ विद्यमान रहती हैं। तीसरे

भाग में वर्तमान जन्म एवं जीवन की तमाम स्मृतियाँ एकत्र होती रहती हैं। अन्तिम चौथे भाग में एक ऐसी विलक्षण और अविश्वसनीय शक्ति विद्यमान रहती है, जिसे परामानसिक शक्ति कहते हैं। यह शक्ति रूप-रङ्ग-स्पर्श और नेत्रों में प्राय: प्रकट हुआ करती है। इस परामानसिक शक्ति का जन्म तब होता है जब कोई मानसिक विकार अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर देता है। यह परिवर्तन अज्ञात रूप से कुण्डलिनी में होता है। कुण्डलिनी जागती तो नहीं, मगर उसकी शक्ति अवश्य कुछ अंशों में अन्तर मन में मिल जाती है। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा करेंगे।

यदि परामानसिक शक्ति नेत्रों में है, तो व्यक्ति जो भी विचार या कल्पना करेगा, उसका चित्र आँखों में उभर आयेगा। अमेरिका-निवासी ट्रक ड्राइवर 'थियोडर सेरीओस' महाशय को यह शक्ति प्राप्त है। अमेरिका के कोलरेडो विश्वविद्यालय के डॉ० आइसनवद ने लगातार दो वर्षों तक सेरीओस पर वैज्ञानिक प्रयोग किये। 'सेरीओस' के मस्तिष्क से एक फीट की दूरी पर कैमरे को रख दिया जाता था। सेरीओस कैमरे के लेन्स की ओर दो-चार मिनट तक घूरता था और फिर शटर दबा देता था। उस समय अपने मन में जिस वस्तु की वह कल्पना किये रहता था, उसी का दृश्य कैमरे की फिलम पर उभर आता था।

० ० ०

ऐसे ही एक और विलक्षण महापुरुष हैं। नाम है यूरी गैलर। उनकी भी आँखों में परामानसिक शक्ति है। जब कभी महाशय मन को एकाग्र कर किसी वस्तु को देखते हैं, वह टूट जाती है। एक बार लन्दन में उन्होंने एक घड़ी की ओर देखा; उस समय घड़ी में ४.४५ बजे थे। उन्होंने सोचा ३.१२ बजने चाहिए। उसी समय सूईयाँ आकर वहीं रुक गयीं। एक बार उन्होंने सोचा कि सामने रखा हुआ चम्मच टूट जाय। यह विचार उनके मन में आते ही चम्मच टूट कर दो टुकड़ों में विभक्त हो गया।

० ० ०

स्वप्न का भी अति घनिष्ठ सम्बन्ध है परामानसिक जगत् से। इस विषय पर मैं इसी लेखमाला के अन्तर्गत आगे लिखूँगा। शीर्षक होगा 'स्वप्नविज्ञान और कुण्डलिनी'।

मास्को की मिखाइलोवा नामक महिला किसी भी वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उसे अपनी ओर खींच सकती है। लेना डिलप नोवा, रोसा कुले शोवा और लोवा नोवा नामक रूस की तीन लड़कियाँ आँखों पर पट्टी बाँधकर सिर्फ उँगलियों के स्पर्श से किसी भी वस्तु का रङ्ग बता सकती हैं। रात के अँधेरे में पुस्तक पढ़ कर सुना सकती हैं। अमरीका की पैट्रिशिया ऐंशवर्थ को

भी ऐसी ही शक्ति प्राप्त है। मास्को की नेन्यामिसे लोवना नामक महिला केवल देखकर घड़ी की सूई को रोक सकती हैं।

परामानसिक शक्ति अथवा साईफिक फोर्स की इस प्रकार की विलक्षण घटनाओं के प्रति इस समय वैज्ञानिक लोग आकर्षित हो गये हैं और व्यापक रूप से इस विषय पर खोज एवं शोध कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक दृष्टि में जगत् मानव से निरपेक्ष है और मानव जगत् से। यह स्वीकार कर लिया जाय तो जगत् भी निरर्थक हो जाता है और मानव-जीवन भी। आधुनिक विज्ञान और जगत् दोनों में मानव अर्थ खोजना चाहता है, लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस दिशा में आगे बढ़ते ही वह अपने को ऐसे क्षेत्र में पाता है जहाँ उसे सभी परिचित साधनों और प्रयोगों की सीमाओं का आभास होने लगता है।

आपको मालूम होना चाहिए कि आधुनिक विज्ञान की एक सीमा तो यही है कि वह अभी तक पदार्थ की मूल इकाई—एलेक्ट्रान—के विश्लेषण में अपने आपको असमर्थ पा रहा है। सभी वैज्ञानिक मात्र केवल एलेक्ट्रान की कल्पना ही कर सकते हैं। किसी भी विधि से अथवा किसी भी प्रकार उसे देख नहीं सकते। वैज्ञानिकों की दृष्टि में एलेक्ट्रान सर्वथा रूपहीन है—वैसे ही जैसे हिन्दू धर्म की दृष्टि में ब्रह्म रूपहीन अथवा निराकार है। पदार्थ की ही मूल इकाई—एलेक्ट्रान की गति-विधियों में किसी प्रकार का कोई कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता नहीं मिली। जैसा कि ज्ञात है कि आइंस्टीन और मैक्स प्लैंक जैसे मनीषी भी इस दिशा में असफल रहे—तो उन्हें यह मानने को पूर्णतया विवश होना पड़ा कि भौतिक सत्ता के ऊपर निश्चित रूप से कोई अभौतिक सत्ता है, एक नीरव चैतन्य है, जिसमें प्रवेश कर उन्हें उन उच्चतम वैज्ञानिक सत्यों का साक्षात्कार हो सकता है, जिन्हें भौतिक एवं बाह्य चेतना के स्तर पर उपलब्ध नहीं किया जा सकता। वह अभौतिक सत्ता कहीं बाह्य जगत् में नहीं—बल्कि स्वयं मनुष्य के मन में है।

यही क्षेत्र परामनोविज्ञान का है, जिसकी ओर वैज्ञानिकों के कदम ठिठकते और झिझकते बढ़ रहे हैं।

काफी लम्बे अर्से तक खोज करने के बाद वैज्ञानिकों को अब जाकर पता लगा है कि मन के दो रूप हैं—चेतन और अचेतन। मन के इसी दोनों रूपों को लेकर आधुनिक मनोविज्ञान का जन्म हुआ है। अचेतन रूप मन का दो तिहाई भाग है। इसके कार्यकलापों से मनुष्य अनभिज्ञ रहता है। परामनो-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने पर वैज्ञानिकों को ज्ञात हुआ कि मन के अचेतन रूप के भीतर अकल्पनीय और अविश्वसनीय शक्तियाँ भरी हुई होती हैं और जब वे शक्तियाँ मन के अचेतन रूप का अतिक्रमण कर चेतन मन में प्रकट होती हैं, तो उनके कौतुक और चमत्कार लोगों को हतप्रभ और आश्चर्यचकित कर

देते हैं। साधारण लोग तो उसे दैवी शक्ति ही मान बैठते हैं। मगर वैज्ञानिकों का कहना है कि वह सब अचेतन मन की साधारण क्रियायें हैं, जिसे समझने में हम असमर्थ हैं।

इस प्रसंग में स्वर्णा ने मुझे बतलाया कि अचेतन मन की शक्ति और कुछ नहीं, कुण्डलिनी-शक्ति का ही एक अति सूक्ष्म अंश है। कुण्डलिनी के जाग्रत् होने पर वह अंश अचेतन मन में सक्रिय हो उठता है और अचेतन मन की सीमा को पार कर चेतन मन में प्रकट होने लगता है।

चेतन मन का विज्ञान—मनोविज्ञान है और अचेतन मन का विज्ञान है—परामनोविज्ञान। परामनोविज्ञान विज्ञान और मनोविज्ञान की वह शाखा है, जो हमारे मन से सम्बन्धित अनेक चमत्कारों की तर्क युक्त व्याख्या करने का प्रयास करता है। परामनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार यह व्याख्या इसी आधार पर की जा सकती है कि मन की शक्ति पदार्थ की शक्ति से कहीं अधिक और निस्सीम है। प्रत्येक व्यक्ति का मन ऐसी चमत्कारिक और रहस्यपूर्ण शक्तियों का भण्डार है, पर उनकी अनुभूति के मार्ग में बाधक बनता है स्वयं उसका चेतन मन। अनुभवी साधकों का कहना है कि कुण्डलिनी इस बाधा को हमेशा के लिए हटा देती है।

० ० ०

बहुत दिन पहले काशी में ही एक उच्चकोटि के कुण्डलिनी-साधक रहते थे। नाम था भवानीशङ्कर भादुड़ी। जानालेश्वर गली में रहते थे भादुड़ी महाशय। वे श्मशान काली के भयङ्कर उपासक थे। मकान के एक छोटे से कमरे में उन्होंने काली की एक भयंकर प्रतिमा स्थापित कर रखी थी। हर समय साधना में डूबे रहते थे और डूबे रहते थे आकण्ठ मदिरा में। परिचय पाकर जब मैं उनसे मिलने पहली बार गया तो देखा—कमरे में साँझ की स्याही फैल रही थी। वातावरण में गहरी खामोशी छाई हुई थी। एक अबूझ-सा रहस्य व्याप्त था उस खामोश वातावरण में। काली प्रतिमा के समीप एक आसन पर निर्विकार से भादुड़ी महाशय बैठे थे। उनके चेहरे पर गहरी शान्ति व्याप्त थी, आँखें गूलर के फूल की तरह लाल हो रही थीं। सामने मदिरा से भरी बोतल रखी थी और उसी के पास रखा था काँच का एक मैला गिलास, जिसमें उड़ेल कर वे बराबर मदिरापान करते जा रहे थे तथा बार-बार निहारते जा रहे थे लाल आँखों से प्रतिमा की ओर।

मैं चरणस्पर्श कर जमीन पर बैठ गया। एकाएक वे चौंक से पड़े मुझे देखकर, फिर हो-हो कर हँसने लगे। जब हँसी थमी तो बोले—'अरे तू! तू आ गया! मैं तो तेरी ही प्रतीक्षा कर रहा था।'

समझ में न आया। पहली बार परिचय मिला था और पहली बार गया था मैं। इसके पहले मुझे वे जानते भी न थे। फिर कैसे और क्यों मेरी प्रतीक्षा

कर रहे थे महाशय ? कौतुकमय लगा उनका व्यवहार। कुछ बोला नहीं सिर्फ जी कह कर रह गया। इतना बड़ा साधक, इतने उच्चकोटि का योगी और एक साधारण योगियों की तरह इस तरह मदिरापान करे, यह बात गले के नीचे नहीं उतर रही थी।

मेरे मन की भावना शायद समझ गये भादुड़ी महाशय। हो-हो कर हँसते हुए बोले—'मैं शराब पी रहा हूँ तो तेरा कलेजा क्यों फट रहा है ?'

मैं चौंक पड़ा। हड़बड़ाकर बोला—'नहीं, नहीं। मेरा कलेजा क्यों फटेगा ? आप शराब पीजिये, इससे मुझे क्या लेना देना ? आप साधक हैं। मदिरापान क्यों करते हैं ? भला मैं क्या जानूँ ?'

'हाँ ! ठीक कहा। तुम क्या जानोगे इस रहस्य को। बाँझ स्त्री भला क्या जानेगी गर्भवती की पीड़ा।'

फिर हँसने लगे महाशय। बड़ी ही विचित्र हँसी थी उनकी। उस समय एक लड़की आ गयी वहाँ। सोलह-सत्रह साल की रही होगी वह। उसने माँ की अघोर प्रतिमा के सामने घी का दीप जलाया, फिर अगरबत्ती। सारा कमरा दीप के मन्द आलोक से भर गया और उसी के साथ सुगन्ध भी बिखर गयी। वातावरण में हुई झिलमिलाती हुई दीप ज्योति के मन्द आलोक में उस तन्वंगी श्यामा का रूप भी उद्भासित हो उठा। हाँ वह श्यामा ही थी। साँवला रंग, मुक्तकेशी, उन्नत स्तन, अस्पर्श यौवन, असूर्यम्पश्या, झील जैसी गहरी और स्निग्ध आँखें थीं। उसकी उन्हीं आँखों से एक बार उसने मेरी ओर देखा और फिर मुस्कराती हुई वहीं बैठ गयी।

'जानते हो कौन है यह' ?—भादुड़ी महाशय गरजे। परन्तु मैं कुछ बोलूँ—इसके पहले स्वयं कहने लगे—'भैरवी है भैरवी। इसी के सहयोग से कुण्डलिनी जाग्रत् हुई है मेरी। समझे ! बिना भैरवी के कुण्डलिनी की साधना सम्भव भी तो नहीं है।'

'हाँ ! यह तो मैं जानता हूँ'—मैं बोला—'मगर साधना में मदिरा का उपयोग क्या है ?—यह समझ न पाया मैं'।

यह सुनकर सहसा गम्भीर हो गये भादुड़ी महाशय। उसी मुद्रा में कहने लगे—'कुण्डलिनी-शक्ति—एकमात्र आत्मशक्ति है। वह मन की चेतना-शक्ति के रूप में हृदय में निवास करती है, तो दूसरी ओर मन की अचेतना-शक्ति के रूप में 'सदाचार' (अर्ध लघु मस्तिष्क) में निवास करती है। हृदयचक्र और सदाचारचक्र को जोड़ने वाली एक नाड़ी है। बड़ी ही रहस्यमय नाड़ी है वह। नाम है गुह्यनी नाड़ी।'

हृदय—ज्ञान और कर्म का सन्धिस्थल है। इसलिए हृदय केन्द्र में क्रिया-शील, चेतना-शक्ति—ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति भी है, यानी महासरस्वती और महालक्ष्मी। वैज्ञानिकों की भाषा में पावर और एनर्जी। इसी प्रकार

सहस्रार केन्द्र में रहने वाली अचेतना-शक्ति—इच्छाशक्ति है—यानी फोर्स। इच्छाशक्ति का मतलब समझे ?'

'नहीं ? आप ही बतलाइए।'

'महाकाली ! मन का सम्बन्ध जब प्राण से होता है, तो इच्छा का जन्म होता है। महाकाली प्राणशक्ति भी है ! अपने केन्द्र हृदय से निकल कर गुह्यनी नाड़ी नाभि में आती है। नाभि ज्ञान का केन्द्र है। ज्ञान के चार रूप-भेद हैं—ज्ञान, विज्ञान, महाज्ञान और परमज्ञान। इन चारों ज्ञान के प्रतीक चारों वेद हैं और वेदों के अधिष्ठाता ब्रह्मा है। ब्रह्मा का आविर्भाव ब्रह्म की नाभि से हुआ है। ब्रह्म के चार हाथ चार प्रकार के कर्म के प्रतीक हैं और चारों मुख चार प्रकार के ज्ञान का। वेद की अधिष्ठात्री गायत्री है। कुण्डलिनी जहाँ एक ओर आत्मशक्ति है, वहीं दूसरी ओर परमात्मा-शक्ति के रूप में गायत्री भी है। गायत्री के तीन पाद हैं—यानी त्रिपाद। प्रत्येक पाद के आठ-आठ अक्षर हैं। इस तरह कुल २४ अक्षर हैं गायत्री में। उन्हीं अक्षरों का आश्रय लेकर चारों वेद के २४ हजार मन्त्र हैं। मतलब यह कि वेदों में कुल २४ हजार मंत्र हैं।'

'खैर छोड़ो—तेरी समझ में नहीं आयेगी—यह सब बात।' भादुड़ी महाशय बोले—और फिर मदिरापान करने लगे उसी मैले गिलास से। एक के बाद एक कर तीन गिलास खाली किये उन्होंने, फिर मुँह पोंछते हुए आगे कहने लगे—'गुह्यनी नाड़ी के बारे में सुन अब। बड़ी ही रहस्यमयी नाड़ी है वह। केन्द्र से ऊर्ध्वमुखी होकर सीधे सहस्रागार केन्द्र से मिलती है और कण्ठ के पास जो विशुद्धारण्य चक्र है न, वहाँ उसमें एक ग्रन्थि है—यानी गाँठ, उस ग्रन्थि के नीचे गुह्यनी नाड़ी में चेतना-शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है और इसी प्रकार ग्रन्थि के ऊपर उसमें रहती है अचेतन मन की शक्ति-धारा ग्रन्थि के ऊपरी भाग में, नाड़ी में अचेतन मन काम करता है और नीचे के भाग में काम करता है चेतन मन। गुह्यनी नाड़ी के निम्न भाग में जो चेतना-शक्ति है, उसे तांत्रिकों की भाषा में अपरा-शक्ति कहते हैं और इसी प्रकार उसके ऊर्ध्व भाग में जो अचेतना-शक्ति है—उसे जरा-शक्ति कहते हैं। मानव-शरीर दो भागों में बँटा है। कण्ठ तक पहला भाग है और कण्ठ के नीचे दूसरा भाग है। पहले भाग को ज्ञानक्षेत्र और दूसरे भाग को कर्मक्षेत्र कहते हैं। जितनी भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वे सब ऊपरी भाग में हैं और जितनी भी कर्मेन्द्रियाँ हैं—वे सब नीचे के भाग में हैं। विशुद्धारण्य-चक्र की ग्रन्थि—दोनों की सीमाओं पर है। उसी ग्रन्थि के कारण अचेतन मन की पराशक्ति चेतन मन में प्रकट नहीं हो पाती। इसके लिए ग्रन्थि का भेदन होना जरूरी है। बिना ग्रन्थि का भेदन किये कुण्डलिनी की साधना कभी नहीं करनी चाहिए।'

'क्यों ?'—प्रश्न किया मैंने !

भादुड़ी महाशय ने फिर मदिरा डाली गिलास में—और एक साँस में उसे

पीकर बोले--'मान लो कुण्डलिनी जाग्रत् हो गयी और ग्रन्थि का भेदन नहीं हुआ है। इस विषम स्थिति में चेतन मन की शक्ति, जो अपने आप में सीमित है--कुण्डलिनी के भयंकर उत्ताप को सहन नहीं कर पाती। परिणाम यह होता है कि मन का जो चेतन भाग – भौतिक जगत् में ही केवल काम करता है, विकृत हो उठता है और उस विकृति का फल यह होता है कि साधक अज्ञानियों और पागलों जैसा व्यवहार करने लग जाता है। बुद्धि-विवेक और विचार शून्य हो जाता है। अव्यावहारिक काम करने लग जाता है उसका मस्तिष्क'।

'मगर आपने मदिरा का प्रयोजन नहीं बतलाया अभी ?'

'क्यों इतना घबरा रहा है मूर्ख ! बतलाता हूँ—बतलाता हूँ।' – भादुड़ी महाशय गरजे।

बोतल खाली हो चुकी थी। न जाने कहाँ से लाकर दूसरी बोतल रख दी उस तन्वंगी ने। उसी ने बोतल खोला और उसी ने गिलास में मदिरा डालकर भादुड़ी महाशय को दिया। उन्होंने इस बार थोड़ी-सी पी और बाकी मदिरा उसे दे दी। देखा उस लड़की ने भी मदिरापात्र को मस्तक से लगाकर पी लिया। दूसरे ही क्षण मदिरा के प्रभाव से उस तरुणी का मुख रक्ताभ हो उठा और स्याह आँखें बोझिल हो गयीं।

ग्रन्थि-भेदन पहले आवश्यक है, उसके बाद कुण्डलिनी-साधना शुरू करनी चाहिए। ग्रन्थि-भेदन हो जाने पर जाग्रत् कुण्डलिनी की शक्ति – चेतन और अचेतन मन को एक-दूसरे से जोड़ देती है। दोनों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।' – भादुड़ी महाशय कहने लगे – 'मगर फिर भी तब तक अचेतन मन की विलक्षण और अविश्वसनीय शक्तियाँ सीमा लाँघ कर चेतन मन में प्रकट नहीं हो पातीं, जब तक कि उसे चेतन मन की भूमि में आकर्षित करने का प्रयास न किया जाय। चेतन मन भौतिक जगत् में काम करता है, जबकि अचेतन मन अभौतिक और अपार्थिव सत्ता में काम करता है। एक सीमाबद्ध है और दूसरा असीम है। इसलिए सर्वप्रथम साधक लोग ध्यान की विशेष प्रक्रिया द्वारा चेतन मन को इस योग्य बनाने का प्रयास करते हैं कि वह अचेतन मन की शक्तियों का भार वहन कर सके। योग्यता लाभ होने पर अचेतन मन की विलक्षण और चमत्कारिक शक्तियों का आकर्षण वे चेतन मन की भूमि में करते हैं। आकर्षण की दिशा में मदिरा का उपयोग सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। मदिरा में तीन मौलिक तत्त्व है—जलतत्त्व, अग्नितत्त्व और वायुतत्त्व। ध्यान की विशेष प्रक्रिया द्वारा तीनों तत्त्व एक-दूसरे में मिलकर अचेतन मन की तमाम शक्तियों को चेतन मन की भूमि में आकर्षित करने लग जाते हैं। इस स्थिति में चेतन मन का अस्तित्व लुप्त हो जाता है और चेतन मन की तमाम शक्तियाँ – साधक की इच्छा के अनुसार – उसके स्थान पर बहिर्जगत् में काम करने लग जाती हैं।'

उच्च कोटि के तन्त्रसाधक लोग मदिरा का सेवन क्यों और किसलिए करते हैं—भलीभाँति समझ में आ गया मेरे। आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि हमें अचेतन मन की शक्तियों की अनुभूति तब होती है जब हमारा चेतन मन निष्क्रिय रहता है। जैसे स्वप्नावस्था, मूर्च्छावस्था और नशे की अवस्था में। वैज्ञानिक समाज में सबसे पहले परामनोविज्ञान की चर्चा सन् १९३४ में हुई थी और उस चर्चा का आधार था अमरीकी विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्राध्यापक डॉ० जोसेफ राइन की नव प्रकाशित पुस्तक 'एक्स्ट्रा सेंसरी पर्सेप्शन'। मि० राइन ने पहली बार परामनोविज्ञान को विज्ञान की एक शाखा मानकर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। इसीलिए वैज्ञानिक उन्हें परामनोविज्ञान का जनक मानते हैं।

कुण्डलिनी-विज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को—(क) भौतिक माध्यमों और संचार-व्यवस्था के अभाव में भी एक मन दूसरे मन को प्रभावित कर सकता है। उसमें उठने वाले विचारों को जान-समझ सकता है। अपने विचारों को सम्प्रेषित भी कर सकता है।

(ख) बिना किसी ज्ञानसंवेदी यन्त्र की सहायता के मन पदार्थ से सक्रिय ज्ञानात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकने में पूर्णतया समर्थ है।

(ग) इस प्रक्रिया में दिक् और काल किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकता।

(घ) मन भौतिक पदार्थों को इच्छानुसार प्रभावित करने में सक्षम है।

वैज्ञानिकों ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। रूसी ज्ञान के अनुसार आज से २५ वर्ष पूर्व रूस में परामनोविज्ञान को दिवास्वप्न समझा जाता था। मगर यह कहना अनावश्यक न होगा कि वर्तमान में रूस के अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिक परामनोविज्ञान के शोध एवं प्रयोग में ही व्यस्त हैं। इस प्रसंग में सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि शोध एवं प्रयोग की इस दिशा में जीव-शास्त्री, गणितशास्त्री और भौतिकविद् ही अधिक भाग ले रहे हैं। किसी मनोवैज्ञानिक का सम्बन्ध उससे नहीं है।

कुछ लोगों में दूर-बोध, दूर-विचारसंप्रेषण और लोगों को इच्छानुसार प्रभावित करने की अलौकिक योग्यता कैसे और क्यों आ जाती हैं—ये सब लोग—इन प्रश्नों का युक्तिसंगत उत्तर पाने का प्रयास कर रहे हैं।

० ० ०

मैंने चक्रों की चर्चा पिछले प्रकरणों में आवश्यकतानुसार की है। आज के विज्ञान ने उन सभी चक्रों को अनुमोदित कर लिया है। वैज्ञानिक भाषा में मूलाधार चक्र को 'पेल्विक प्लेक्सस', मणिपूर को 'सोलर प्लेक्सस' अनाहतचक्र

को 'कार्डियक प्लेक्सस' और विशुद्ध चक्र को 'फैरिंजियल प्लेक्सस' कहा जाता है। कुण्डलिनी जाग्रत् होने पर मूलाधारचक्र में मन को एकाग्र कर ध्यान लगाने से मन एक प्रसारण केन्द्र-सा काम करने लग जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने विचारों अथवा भावों को अपने से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति के मन में प्रविष्ट करा सकता है। रूस के परामनोवैज्ञानिक प्रोफेसर एल० एल० वेसिलियेव ने अतीन्द्रिय शक्तियों से सम्पन्न व्यक्तियों को 'रेडियो तरंगों', 'क्ष-किरणों' और 'इलेक्ट्रो-मैग्नेरिज्म' के प्रभावों से युक्त रखकर यह जानने का प्रयत्न किया कि इसके बावजूद भी उनकी शक्ति कायम रह जाती है या नहीं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मन से प्रवाहित होने वाली कुछ सूक्ष्म और अदृश्य तरंगों के कारण कोई मन कभी-कभी ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन बन जाता है और कोई दूसरा मन रिसिविंग स्टेशन।

कहने की आवश्यकता नहीं कि परामनोविज्ञान के क्षेत्र में शोधरत वैज्ञानिकों ने काफी सीमा तक उन्नति कर ली है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मस्तिष्क की तरंगें अतिदीर्घ रेडियो-तरंगों के समान हैं। यही नहीं, उन्होंने एक ऐसा भी यन्त्र बना लिया है, जिसके द्वारा इन तरंगों को संप्रेषित किया जा सकता है।

यह तो हुई वैज्ञानिकों की बात। मैंने अपने जीवन में इस रहस्यमय यौगिक सत्य का कई बार स्वयं अनुभव किया है। मई-जून का महीना था। साँझ का समय था। काशी के अहिल्याबाई घाट पर बैठा था मैं। मन काफी चिन्तित था। मेरे एक मित्र थे, नाम था दिनेश पाण्डेय। कलकत्ता में रहते थे। उनकी माँ गम्भीर रूप से अस्वस्थ थीं। कभी भी उनका देहान्त हो सकता था। काशीवास के लिए वे २-३ मास पूर्व बनारस आयी थीं और मेरे संरक्षण और देख-रेख में हरिश्चन्द्र घाट के ऊपर एक मकान में रहती थीं। उनकी अस्वस्थता का समाचार कई बार पत्र एवं तार द्वारा पाण्डेयजी को भेजा जा चुका था, मगर न वे स्वयं आये और न तो कोई उत्तर ही दिया उन्होंने। मैं उनकी माँ को अकेली छोड़कर कलकत्ता जा भी नहीं सकता था। यही सब सोच रहा था मैं अहिल्याबाई घाट की सीढ़ियों पर बैठा हुआ, तभी अचानक बायीं ओर दृष्टि घूम गयी मेरी। देखा—एक युवती जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर रही थीं। रूप-रंग और वेश-भूषा कुछ पहचानी-सी लगी मुझे। ऐसा लगा मानो उस युवती को कुछ दिन पहले ही देखा था कहीं किसी जगह। सहसा मस्तिष्क कौंध उठा। हे भगवान्! यह तो वही युवती है—भैरवी। भवानीशंकर भादुड़ी की श्यामा। उठकर खड़ा हो गया मैं अपनी जगह पर और अपलक निहारने लगा उसकी ओर। युवती ने पानी में उतर कर गंगा-जल का आचमन किया। थोड़ा जल अपने ऊपर छिड़का और फिर दोनों हाथ प्रणाम की मुद्रा में जोड़कर कुछ क्षण तक ध्यान किया।

गंगा के उस पार पेड़ों के झुरमुटों के पीछे से पूर्णिमा का चाँद ऊपर आ गया था और उसकी हल्की-हल्की चाँदनी की छाया पानी में थिरकने लगी थी। देखा, युवती का सौम्य और शान्त मुखमंडल भी उद्भासित हो उठा था, बिलकुल किसी देवकन्या-सी लग रही थी वह। न जाने क्यों और न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं भी नीचे उतर गया और खड़ा हो गया उसके निकट जाकर। दूसरे क्षण ध्यान भंग हुआ। पलट कर देखा उसने और मुझे चुपचाप अपने समीप खड़ा देखकर एकबारगी चौंक पड़ी। फिर सँभल कर बोली—'आप···आप यहाँ कैसे ?'

'जैसे आपका यहाँ आना हुआ है, समझिए उसी प्रकार मैं भी आया हूँ'—मैंने उत्तर दिया।

युवती मुस्करा पड़ी, मेरी बात सुनकर और फिर धीरे-धीरे एक-एक कर सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। मैं भी पीछे हो लिया।

'उस दिन के बाद आप फिर नहीं आये ?'—सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बोली वह।

'आने को सोचा था, मगर मौका ही नहीं मिला। आने में डर भी तो लगता है न ?'

'डर काहे का ?···कैसा डर ? कैसा संकोच ?'

'बार-बार जाने से कहीं भादुड़ी महाशय नाराज न हो जाँय और नाराज होकर कोई श्राप दे दिया तो···'

मेरी बात सुनकर युवती हँस पड़ी खिलखिला कर।—'हाँ ! ठीक कहते हो ! राजा, योगी और तान्त्रिक से ज्यादा नहीं मिलना चाहिए बाबा। इन लोगों की मति-गति का क्या भरोसा ? कभी कुछ तो कभी कुछ ?'

'एक बात पूछूँ ?'—प्रसंग बदल कर बोला मैं।

'हाँ पूछो ?'

'क्या नाम है आपका ?'

'निशा।'

'आपके रूप-रंग और सौन्दर्य के अनुरूप आपका नाम भी है।' फिर थोड़ा रुक कर आगे बोला—'क्या घर जायेंगी अब ? अगर इच्छा हो तो थोड़ा बैठकर बातें की जायें ?'

अब तक काफी सीढ़ियाँ चढ़ चुके थे हम दोनों। निशा का दम फूलने लगा था। किसी प्रकार साँसों को नियन्त्रित कर बोली—'ठीक है चलो कहीं बैठा जाय।'

अहिल्याबाई घाट के बगल में ही मुंशी घाट है। उसी घाट की बुर्जी पर जाकर बैठ गये हम लोग। अब तक चाँद काफी ऊपर चढ़ आया था। हवा भी शीतल हो गयी थी। दोनों एक-दूसरे की बगल में बैठ गये। थोड़ी देर तक

तो वह चाँद की ओर अपलक निहारती रही, फिर अकस्मात् बोल उठी—'आप अपने किसी मित्र को लेकर चिन्तित तो नहीं हैं इस समय ?'

एकबारगी चौंक पड़ा मैं। निशा कैसे जान गई मेरे मन की बात ? कैसे जान गई कि मैं चिन्तित हूँ मित्र को लेकर ? हाँ ! चिन्तित हूँ। बहुत ही चिन्तित'। फिर सब कुछ बतला दिया मैंने निशा को।

कुछ क्षण तक तो वह मौन साधे न जाने क्या सोचती रही। फिर बोली—'आपके मित्र का नाम दिनेश पाण्डेय है न ?'

आश्चर्यचकित हो उठा मैं। नाम कैसे जान गयी वह—'हाँ ! यही नाम है। मगर आपको कैसे मालूम हुआ ?'

निशा ने मेरे इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। पूर्ववत् फिर मौन हो गई वह। क्षण के बाद क्षण बीतता रहा। अचानक चौंककर बोली—'इस समय आपके मित्र कलकत्ता में नहीं गौहाटी में हैं। इसीलिए आपके पत्र व तार मिल नहीं पाये हैं। खैर छोड़ो, आप चाहते क्या हैं ? आप बोलिए, आपका समाचार पाण्डेयजी को मिल जायेगा अभी इसी क्षण।'

'मगर कैसे ?'—आश्चर्य में डूब कर प्रश्न किया मैंने।

निशा हँस पड़ी। बोली—'यह जान-समझ कर क्या करेंगे ? आपको जो बातें बतलानी हैं, जो समाचार देना है, उन सबको अपने विचारों और भावों में लाओ एकाग्र होकर अपने मन में।'

मैंने वैसा ही किया। जब मैं मन को एकाग्र कर समाचारों को विचारों एवं भावों के रूप में घनीभूत कर रहा था, उसी समय निशा के बायें हाथ का स्पर्श अपने सिर पर अनुभव किया मैंने। थोड़ी देर बाद अपने हाथ को हटाती हुई वह बोली—'लो पहुँच गया तुम्हारा समाचार पाण्डेयजी के पास। वे दो-चार दिन में बनारस आ जायेंगे।'

निशा की बात वास्तव में सच निकली। चौथे दिन पाण्डेय बनारस आ गये और आते ही मुझसे मिले। मैंने उनसे पूछा—'कैसे मालूम हुआ कि आपकी माँ की तबियत खराब है और आपको शीघ्र बनारस पहुँचना है'।

मेरा प्रश्न सुनकर पाण्डेयजी थोड़ा गम्भीर हो गये। फिर कहने लगे—'मैं गौहाटी में अपने एक परिचित व्यापारी की गद्दी में सोया था। उस समय शाम के सात बजे थे। दिनभर का थका था, इसलिए झपकी लग गयी थी असमय में। उसी अवस्था में देखता क्या हूँ कि एक १६-१७ साल की साँवली-सी लड़की कह रही है—'पाण्डेयजी आपकी माँ काफी बीमार हैं। बचने की आशा नहीं है। आप शीघ्र बनारस आइए। बस तुरन्त चौंक कर उठ बैठा मैं और दूसरे ही दिन बनारस के लिए रवाना हो गया। पहुँचकर देखा, सचमुच माँ बीमार थी। भाई शर्माजी !'—पाण्डेयजी आगे बोले—'मानना पड़ा। कभी-कदा सपने भी सच हो जाया करते हैं।'

मैं यह सुनकर मन-ही-मन हँस पड़ा। कैसे क्या बतलाता पाण्डेयजी को। यदि उनसे यह कहता कि वह सपना नहीं, बल्कि विचार-संप्रेषण की यौगिक क्रिया थी और जिस लड़की को सपने में उन्होंने देखा था—वह एक तांत्रिक की भैरवी थी, जिसके सहयोग से शाम के सात बजे मेरी बात तुम तक पहुँची थी, तो शायद वे इन पर विश्वास नहीं करते और हँसकर मेरा मजाक उड़ाते। आज तक इसका रहस्य मैंने पाण्डेयजी को नहीं बतलाया है। सम्भवतः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे निबन्धों के माध्यम से वे इस रहस्य को भले ही जान गये हों। खैर रूस के अंतरिक्ष यात्रियों ने भी गणितीय रीति से अपनी एक अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान विचार-संप्रेषण का एक ऐसा ही प्रयोग किया था—जो सफल रहा, ऐसा विश्वास किया जाता है।

एक और घटना सुनिये—सात नवम्बर सन् १९१८। उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था। टैड नाम का एक बालक मैदान में खेलते-खेलते एकाएक जोर से चिल्लाने लगा। उस समय उसका पिता फ्रांस के मोरचे पर था। टैड चिल्लाने के बाद अकस्मात् बेहोश हो गया और जब उसकी चेतना वापस लौटी तो वह बोला—'अब वे ठीक हो जायेंगे। परिवार वालों ने समझा कि टैड को अपने पिता की याद हो आयी है और उसने कोई सपना देखा है। युद्ध जब खत्म हुआ और टैड के पिता घर वापस आये तो उन्होंने बतलाया कि ७ नवम्बर को वे एक गैस चैम्बर में फँस गये थे। उनका दम घुटने लगा था। उसी समय उन्हें अपने बेटे की याद हो आयी थी। उनको लगा कि टैड सामने खड़ा है और चेम्बर का मुँह खोल कर हाथ पकड़ कर उन्हें बाहर निकाल रहा है। बाद में अस्पताल में वे बच गये।

समझने की बात यह है कि अचानक पिता-पुत्र के बीच कौन-सा ऐसा अदृश्य स्थापित हो गया था जिसके फलस्वरूप टैड के पिता मृत्यु से बच गये। इसके उत्तर में यहाँ केवल यही कहा जायेगा कि चेम्बर में दम घुटते समय उन्हें अपने प्रिय पुत्र की याद हो आयी। वह साधारण याद नहीं थी, बल्कि मन की एकाग्रता के साथ उत्पन्न हुई याद थी और उस याद के क्षणों में विचार संप्रेषित होकर टैड के मस्तिष्क में ईथर की सूक्ष्म तरंगों द्वारा पहुँच गयी थी। फलस्वरूप टेड का भी मन एकाग्र होकर परामानसिक जगत् में पहुँच गया और उसी के साथ उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके पिता की परामानसिक चेतना में उभर गया, जिसे उसके पिता ने प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया।

यह कोई नयी बात नहीं है। हर तीसरा-चौथा आदमी अपने जीवन में इस प्रकार की रहस्यमयी बातों का रहस्यमय ढंग से अनुभव किया करता है। भले ही जानने-समझने के माध्यम भिन्न-भिन्न हों। इस प्रसंग में एक और घटना है। दूसरे महायुद्ध का समय था। कनाडा की एक महिला सोते समय

अचानक जाग गयी। उसने देखा उसका भाई सामने खड़ा है। उसे घोर आश्चर्य हुआ। उसका भाई तो ब्रिटेन में विमानचालक था, मगर कनाडा कैसे आ गया ? आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह दूसरे क्षण गायब भी हो गया। दूसरे दिन महिला को तार मिला, जिसमें सूचित किया गया था कि उसका भाई हवाई युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु ठीक उसी समय हुई थी, जिस समय रात में उस महिला को वह दिखलायी दिया था।

इस रहस्य का भी वही उत्तर है, जो ऊपर दिया गया है। मृत्यु के समय महिला के भाई ने अपनी बहन को याद किया था, जिसके फलस्वरूप मृत्यु के बाद वह अपने सूक्ष्म शरीर से उसके पास तुरन्त पहुँच गया।

मगर यह सब होता कैसे है ? कैसे सम्भव है यह सब ? कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे ही प्रश्नों के गर्भ से विज्ञान का जन्म होता है। आज का युग विज्ञान का युग है। मगर फिर भी यह कहना अनावश्यक न होगा कि 'योगविज्ञान' के सामने वह हर क्षण, हर काल और हर युग में शिशुवत् ही रहेगा।

भौतिक विज्ञान सम्पूर्ण दृष्टि और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज में लगा है और खोजने लगा है प्रकृति के मूल तत्त्वों और उनकी शक्तियों को। मगर वैज्ञानिक यह नहीं जान-समझ पाये हैं कि ब्रह्माण्ड और प्रकृति के रहस्यों की खोज करने वाला उनका मस्तिष्क स्वयं अपने आप में एक आश्चर्यजनक वस्तु है और एक रहस्यमय तत्त्व है। मनुष्य सचमुच अपने आप में एक 'रहस्य' है। उसका सामाजिक व्यवहार, उसकी शारीरिक क्रियायें और इन सब से बढ़कर उसका मस्तिष्क इस विश्व-ब्रह्माण्ड की और इस विशाल सृष्टि की सर्वाधिक रहस्यमय और विचित्र वस्तु है।

योग के कुण्डलिनी-विज्ञान ने मस्तिष्क की रचना और उसकी समस्त कार्य-प्रणाली पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, उसने यह भी बतलाने का प्रयास किया है कि मानव-मस्तिष्क के पीछे संचालक शक्ति कौन सी है ? और उसने उसे एक नाम दिया है—चेतना। उसका यह भी कहना है कि चेतना मस्तिष्क में बन्द एकाकी चेतना नहीं है। वह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में फैली हुई विराट् चेतना का अंग है, जो हर स्थिति में उससे सम्बन्ध बनाये रखती है और वह विराट् चेतना है कुण्डलिनी यानी तांत्रिकों की भाषा में परमा शक्ति, परमात्म शक्ति अथवा महामाया।

और इसी सम्बन्ध के कारण मनुष्यों में ही नहीं; पशु-पक्षियों, अन्तरिक्ष, ग्रहों, समुद्रों, पर्वतों, वृक्षों, लताओं तथा सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् में व्याप्त चेतना में एक-दूसरे के साथ बराबर जुड़ी हुई होती है। एक-दूसरे पर प्रभाव डालती है और प्रभावित भी होती है। यह तथ्य प्रस्तुत उदाहरण से प्रमाणित हो जाता है।

रूस के लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में शरीरशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष प्रो० लियोनिद ने एक आश्चर्यजनक प्रयोग किया। उन्होंने मीलों दूर बैठे कुछ अनुसंधानकर्ताओं को परामानसिक संचार कर सम्मोहित कर दिया। सम्मोहित खोजकर्त्ता अपना कार्य छोड़कर लियोनिद के आदेशानुसार काम करने लगे, मगर इन सब के बावजूद भी उन लोगों को इस बात का जरा-सा भी आभास नहीं लग पाया कि वे लोग किसी अन्य व्यक्ति की मानसिक शक्ति के अधीन हो गये हैं। अतः इस वैज्ञानिक प्रयोग से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि एक चेतना दूसरी चेतना को बिना किसी भौतिक माध्यम और साधना के केवल संकल्पमात्र से प्रभावित कर सकने में समर्थ हैं।

प्रकरण : पैंतीस

स्थूल से सूक्ष्म की ओर

चेतन तत्त्व को प्रकाशित करने वाला जड़ पदार्थ है। आज वैज्ञानिक-प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि जड़ पदार्थ की प्रत्येक परमाणु तरंगें विकिणन किया करती हैं। मनुष्य असंख्य परमाणुओं का महायोग है। वह भी सदा ऐसी ही तरंगें विकिरित किया करता है। वे तरंगें इतनी सूक्ष्म हैं कि उन्हें रेडियो अणुवीक्षक यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता। दूरबोध आदि मानसिक संचार-व्यवस्था के मूल में ये ही अदृश्य तरंगें हैं। इन्हीं तरंगों के कारण एक मन दूसरे मन से सम्पर्क स्थापित करता है।

भले ही परामानसिक चेतना भौतिक नियमों का उल्लंघन करती प्रतीत हो, पर इसका मतलब यह नहीं कि जैविक तथ्य कभी भौतिक नियमों का विरोध नहीं कर सकते अथवा उनका स्थान लेकर एक नयी भौतिकी को जन्म नहीं दे सकते।

जहाँ एक हमारा विचार है, परामनोविज्ञान, जिसमें भौतिक ज्ञान-विज्ञान और अवचेतन या धर्म की भाषा में एक प्रकार से 'ब्रह्म' का सत्य विद्यमान है, सम्भवतः भविष्य में एक नयी भौतिकी का जन्मदाता होगा।

वर्तमान समय में भौतिक विज्ञान प्रतिदिन जटिल और दुरूह होता जा रहा है। सापेक्षवाद, ऊर्जाणुवाद (क्वाण्टमवाद) और तरंग यांत्रिकी के सिद्धान्तों ने विश्व का ऐसा रूपान्तरण कर दिया है कि अब वह बड़ा ही अद्भुत और विलक्षण प्रतीत होता है। रूपान्तरण का यह क्रम खत्म भी हो गया हो, ऐसा नहीं है। इस रूपान्तरण का एक और सशक्त पक्ष है और वह यह कि वर्तमान काल के वैज्ञानिकों की बाह्य जगत् के प्रति जो अगम्यवादी अवधारणा है—वैसी पिछली सदी के वैज्ञानिकों की नहीं थी। उनका कहना था कि भौतिक विज्ञान मानव और जगत् का जो चित्र और दृष्टिगत वस्तुओं की सरलता से समझ में आने वाली जो यांत्रिकी धारणायें प्रस्तुत करता है, वह निश्चय ही एकांगी और अपूर्ण है। उनका अन्तिम रूप से वास्तविक रूप जानने के लिए उसे आत्मिक जगत् में, जहाँ मानव की परिचालक मूलभूत सत्ता का रहस्य छिपा हुआ है, प्रवेश करना ही पड़ेगा। डॉ० राइन परामनोविज्ञान के जन्मदाता हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि रीच ऑफ माइण्ड' में लिखा है—'परामनोविज्ञान ने मानव-मन के बारे में जो भी तथ्य उद्घाटित किये हैं, उनका सीधा सम्बन्ध धर्म से है। उस धर्म से, जो इस सत्य की प्रतीति बहुत पहले कर चुका है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे ऋषियों ने

हजारों साल पूर्व ही कहा है—'पुरुष एवेद ॐ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (य० वे० अ० ३१) अर्थात् इस सृष्टि में जो वर्तमान है, जो व्यतीत हो चुका है और जो भविष्य में होगा, वह सब पुरुष है, यानी ब्रह्म ही है।

० ० ०

मानव की परिचालक मूलभूत सत्ता आत्मिक जगत् में है। वहीं उसका रहस्य छिपा है। जहाँ वह रहस्य छिपा है, उसको वैश्वानर जगत् कहते हैं। वैश्वानर जगत् के विषय में हम प्रसंगवश पीछे विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। इस सदी में विज्ञान ने अद्‌भुत मोड़ लिया है। विज्ञान के चरण स्थूल से सूक्ष्म जगत् की ओर बढ़ रहे हैं। वह वैश्वानर जगत् में प्रवेश करने के लिए व्याकुल है।

वैश्वानर जगत् कितना सूक्ष्म है, कितना शान्त और नीरव है, इसी की छानबीन करने में आज के वैज्ञानिक विभोर हैं। उन्हें उसका छोर ही नहीं मिल पा रहा है।

आज अनेक नाम इतने प्रचलित हो चुके हैं और इतने अधिक बार हमारे सामने आते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वे शताब्दियों से प्रचलित हैं। पर वास्तविकता यह है कि इसका जन्म हुए १५-२० वर्ष ही हुए हैं। उदाहरण के लिए आप किसी विज्ञान सम्बन्धी गोष्ठी में जाइये। वहाँ आणविक ऊर्जा, रेडियो अनुप्राणित कण, वैद्युतीय परिचालक, मौलिक ऊर्जा, मेसर्स, लेसर्स, फोटॉन्स, मोसोन्स, इत्यादि-इत्यादि नाम आपके कानों में पड़ते हैं। इनके बारे में बातें भी खूब होती हैं। आश्चर्य होता है इनके कारनामों को सुन-सुनकर। पर तथ्य यह है कि कोई भी वैज्ञानिक दावे के साथ यह कहने के लिए तैयार नहीं होता कि वह उपर्युक्त शब्द अथवा नामों से पुकारे जाने वाले भावात्मक तत्त्वों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखता है। उसका इतना ही दावा है कि प्रयोगशाला में उसने नामधेयों को व्यापार करते हुए उपलब्ध किया है। जितना प्रयोगशाला में व्यापार दिखलाई पड़ा था या अनुभूत हुआ, उसे उसने अपनी जैसी-तैसी भाषा में व्यक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उसकी और अधिक कोई जानकारी नहीं है।

गत छः दशकों में भौतिकी विज्ञान में स्थूल यन्त्रीकरण एवं न्यूटनीय मैकेनिक्स जिज्ञासा का समाधान था। अब उसके स्थान पर सूक्ष्म यन्त्रीकरण या जिसे 'क्वाण्टम मैकेनिक्स' कहते हैं, जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। भौतिक विज्ञान को यह 'क्वाण्टम मैकेनिक्स' विलक्षण देन है।

इसके द्वारा भौतिक विज्ञान ने स्थूल जाग्रत् महतो महीयान् परिभ्रमणशील विश्व को छोड़कर अणोरणीयान् वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोक में प्रवेश किया। अब तक इस अणोरणीयान् वाले सूक्ष्म वैश्वानर विश्व में योग-साधना ही प्रवेश का मार्ग था, किन्तु इस शताब्दी की सबसे बड़ी और विशिष्ट उपलब्धि यह है कि इस लोक में भौतिक विज्ञान ने प्रवेश पा लिया। इस 'क्वाण्टम मैकेनिक्स'

द्वारा आज का वैज्ञानिक इस भावनामय सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोक में प्रवेश कर गणितीय रीति से गणना करता है। प्रकाश और परमाणु दोनों को ही मानो नियन्त्रित कर मानवोपयोगी रीति से उनसे काम लेता है। आनन्दमग्न रहता है। इसीलिए वह श्रुति द्वारा 'स्थूलयुग' भी कहा गया है।

ऐसी श्रुति कारिकाओं पर शंकर जैसे योगीराज की टीका है। उनकी टीका पर आनन्दगिरि जैसे विद्वान् की टीका है और उनकी टीका पर भी श्री शंकरानन्द की माण्डूक्योपनिषद्-दीपिका लिखी गयी है। इन महान् आत्माओं के अपने अनुभव हैं, जिसे उन्होंने जैसा समझा वैसा व्यक्त किया, पर साधारण जनों के लिए, जो साधना-क्षेत्र में नहीं उतरे हैं उनके लिए तो इन लोगों की टीकाएँ शब्दजाल के अतिरिक्त और कोई महत्त्व नहीं रखती।

भौतिकशास्त्र के निष्णात वैज्ञानिकों ने जो भी उपलब्धियाँ परमाणुओं की भीतरी दुनिया में प्रवेश कर प्राप्त की हैं, वे भी तो साधारणपन के लिए शब्द-जाल मात्र हैं। फिर भी उन पर उनकी विशेष आस्था है। इसलिए कि उनकी उपलब्धियों का फल उनके सामने विद्यमान है, किन्तु योगियों की उपलब्धियों के जिक्र को वह करिश्मा अथवा अलौकिक चर्चा कहकर टाल देता है। यह भारतीय लोकचेतना के ह्रासोन्मुख होने का सूचक है। योगियों को वैश्वानर की विभावना की प्रक्रियाओं से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, क्योंकि वे सर्वसाधारण की अनुभूतियों से परे हैं, अतः वे अमान्य हैं, कपोलकल्पना हैं। योगी लोकोपकार करता है। उसकी सिद्धियाँ लोककल्याणकारी हैं। इसे चाहे दूसरे देश के लोग स्वीकार न करें, पर हमारी जनचेतना में वह भाव नहीं है।

इस सूक्ष्म वैश्वानर लोक की छटा अद्भुत एवं विलक्षण है। यह लोक इतनी आश्चर्यजनक छटाओं से भरा पड़ा है कि इसका वर्णन वैज्ञानिक लोग शब्दों द्वारा कर ही नहीं सकते। उनके सञ्चित और सीमित शब्द अपर्याप्त हो उठते हैं। भारतीय योगशास्त्र में वैश्वानर विश्व की कल्पना है। उसका वर्णन भी है, पर वह सब भावनामय है। स्थूल कल्पना से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। उसकी भावना की झलक यत्र-तत्र उपनिषदों में प्राप्त है, किन्तु उसकी कोई चित्रमयी विभावना किसी चित्रकार की तूलिका का विषय नहीं बन सकती, चाहे वह इस लोक का कोई भावनामय चित्र अपने मानस-पटल पर प्रवाहमान और तरल रूप में भले ही चित्रित कर ले, पर वह उसे किसी प्रकार का पार्थिव रूप नहीं दे सकता।

माण्डूक्योपनिषद् में वैश्वानर रूप की कल्पना का संकेत इस प्रकार है—

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। जागरित-स्थाना, बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थलयुगवैश्वानरः प्रथमपादः'।

यह वैश्वानर लोक आत्मा का प्रथम पाद है। मनुष्य की जाग्रत् अबस्था

उसकी स्थूल कल्पना काया है। परमाणु की भीतरी दुनिया में ही उसकी प्रज्ञा उन्मीलित है, जिसकी अनुभूति योगीजन करते हैं।

भारतीय जीवन का उद्देश्य सदैव आनन्द रहा है। मगर वैज्ञानिक जिस प्रकार आज 'क्वाण्टम मैकेनिक्स' के द्वारा इस वैश्वानर लोक में प्रवेश कर उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु रूपी अवयवों का गणितीय रीति से अध्ययन कर स्थूल जगत् के बाहरी व्यापारों पर प्रभाव डालने लगा है वह आश्चर्यजनक है। इसके द्वारा बहि:प्रज्ञा अनावृत हो उसे महतो महीयान् स्थूल विश्व में विचरण करने की शक्ति प्रदान कर रही है। अब चन्द्रलोक की सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने वाले नवग्रहों की दूरी नहीं के समान हो जायेगी। सौरमण्डल की सैर मनुष्य उसी प्रकार करेगा, जिस प्रकार वाराणसी में प्रतिदिन टूरिस्टों को हम सैर करते हुए देखते हैं। लोक-लोकान्तरों में विचरण करने की क्षमता वैज्ञानिकों को हर प्रकार से प्राप्त हो चुकी है। यह एक महान् कार्य हुआ है। इससे भी अधिक और आश्चर्यजनक और महान् क्वाण्टम मैकेनिक्स द्वारा जो हुआ है, वह यह कि आज तक प्राचीन परम्परानुसार न्यूटन, लेवेनियरे, डाल्टन इत्यादि वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत नियम, जो अकाट्य माने जाते थे, व्यर्थ और निष्प्राण हो चुके हैं। इस क्वाण्टम सिद्धान्त द्वारा जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् का निर्माण हो चुका है, उसमें अणु-परमाणु सम्बन्धी कल्पना ठोस होने की भावना से सम्बन्धित रहेगी—तब तक उसके त्रिदिक होने की भी भावना बनी रहेगी। किन्तु जब इनका रूप प्रवाहमय हो जाता है, तो त्रि-आयाम की भावना इनके अस्तित्व के साथ संयोजित नहीं की जा सकती। वैश्वानर लोक की कल्पना योगियों की है। इस लोक में सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवाहमयी भावनाएँ ही अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं। अखिल विश्व भासित रूप में स्पन्दित होता रहता है। कुछ ऐसी ही स्थिति क्वाण्टम भौतिकी में हो जाती है। जिन परमाणुओं की पार्थिव कल्पना के आधार पर पदार्थ का निर्माण होता है, वे वायवीय बन जाते हैं और पदार्थ की बनी हुई दुनिया का अस्तित्व ही विलीन हो जाता है। जिन प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स की ईंटों पर एटम्स की दुनिया बनती है, वे सब वायवीय हो जाते हैं और एक नवीन वायवीय शक्ति से लोक का सृजन हो जाता है।

वैश्वानर लोक में भी केवल प्रवाहमान भावनाओं की ही भास्यमानता रहती है, जो कुछ उसी प्रकार की सत्ता है, जिसे क्वाण्टम भौतिकी का विद्यार्थी 'फोटॉन' मानता है। फोटॉन प्रकाश की ऊर्जा की एक भावनामय इकाई है। इस लोक में वायवीय प्रकाश ऊर्जा की इकाई की गणना करने के निमित्त उसी प्रकार के नियमों का पालन करती हुई दिखलायी देती है, जिस प्रकार साधारण अणुओं की इकाइयाँ। किन्तु इन प्रकाश उर्जा की इकाइयों में वह शक्ति सन्निहित होती है, जिसके द्वारा ये सभी अभेद्य पदार्थों के आर-पार बिना किसी

बाधा के स्वच्छन्द रूप से गमन कर सकती हैं। अथवा अपने स्थान को प्रकाश ऊर्जा के कण के रूप में बनाये रहती है। नील्स, बोर, प्लैंक, आइन्स्टीन आदि वैज्ञानिकों ने भौतिकी विज्ञान के इस वैश्वानर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोक में अनजाने ही रीति से प्रवेश करा दिया है। उसकी केवल आभा ही इन्हें मिल पायी है, किन्तु उसी के बल पर सौर-परिवार के ग्रहपिण्ड तो अब इनके लिए हस्ता-मलकवत् हो रहे हैं। ये नक्षत्रों तक की उड़ानें भरने की आशा से उल्लसित हैं। पर ये सब योगियों की उपलब्धियों के सामने नगण्य हैं, क्योंकि इसके द्वारा मानव-कल्याण खतरे में पड़ता जा रहा है। सत्य-अन्वेषक वैज्ञानिक भी हैं और सत्य का अन्वेषक योगी भी है, मगर दोनों की उपलब्धियों का उद्देश्य जगत् में भिन्न दिखलायी देता है। आइन्स्टाइन प्लैंक, नील्स वोर, लार्ड केल्विन इत्यादि अनेक वैज्ञानिकों ने विज्ञान की उन्नति के निमित्त उपलब्धियों को संसार के सामने प्रस्तुत किया, पर सभी मानव को भयावह परिस्थितियों में डालने वाली ही हुईं। परन्तु राम, योगेश्वर कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि योगियों की उपलब्धियों द्वारा संसार का जो कल्याण हुआ है और जिस प्रकार होता चला जा रहा है और भविष्य में कल्याण होता रहेगा, उसके सम्बन्ध में किसी को किसी प्रकार की शंका नहीं।

• ० ०

बहुत समय पहले काशी में एक सिद्ध महापुरुष निवास करते थे। नाम था गोपालचन्द्र न्यायचूड़ामणि। उनकी आत्मा अपने निज लोक यानि आत्म-लोक को उपलब्ध थी। काली के सिद्ध साधक थे न्यायचूड़ामणि महाशय। तन्त्र का अगाध ज्ञान था उन्हें। मैं उनसे 'तन्त्रशास्त्र' पढ़ने जाया करता था। तन्त्र का जो दर्शन है, उसे शाम्भव दर्शन कहते हैं। शाम्भव दर्शन में सृष्टि के मूल में 'बिन्दु' बतलाया गया है। तन्त्र में बिन्दु का मतलब है 'शक्ति'। तांत्रिक साधना एकमात्र शक्तिसाधना है।

(१) २ बिन्दु के सम्मिलन से १ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु का जन्म होता है और इसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु से निर्वाण-शरीर और निर्वाण-लोक की रचना होती है। हमारे शरीर में इस शरीर और इस लोक का केन्द्र सहस्रार है।

(२) २ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु के सम्मिलन से १ सूक्ष्म रेणु का जन्म होता है और इस सूक्ष्म रेणु से ब्रह्मशरीर (कास्मिक बॉडी) और ब्रह्मलोक का निर्माण होता है। हमारे शरीर में इस शरीर और लोक का केन्द्र है—आज्ञाचक्र।

(३) २ सूक्ष्म रेणु का १ रेणु होता है और इस रेणु से आत्मशरीर और आत्मलोक (वैश्वानर लोक) की रचना होती है। हमारे शरीर में इस शरीर और लोक का केन्द्र है—विशुद्धचक्र।

(४) २ रेणु का १ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु होता है और इस परमाणु से

मनोमय शरीर और मनोलोक की रचना होती है। हमारे शरीर में इन दोनों का केन्द्र है—अनाहतचक्र।

(५) २ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से १ सूक्ष्म परमाणु का निर्माण होता है। इस सूक्ष्म परमाणु से सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् की रचना होती है। शरीर में इन दोनों का केन्द्र है—मणिपूरक चक्र।

(६) २ सूक्ष्म परमाणु से १ परम अणु का निर्माण होता है। भावजगत् की सीमा यहीं से शुरू होती है। ३ परम अणु का १ त्रसरेणु होता है। इसी से भावशरीर आकाशीय शरीर अथवा वासनाशरीर और लोक की रचना होती है। हमारे शरीर में इसका केन्द्र है—स्वाधिष्ठानचक्र।

(७) २ त्रसरेणु से १ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु बनता है। यहीं से भावजगत् की सीमा समाप्त होकर स्थूल जगत् की सीमा शुरू होती है। इन दोनों सीमाओं के बीच में एक गहन अन्तराल है। उन अन्तराल में सृष्टि का कौन-सा गम्भीर रहस्य छिपा है, यह नहीं बतलाया जा सकता।

(८) २ सूक्ष्म अणु का १ अणु होता है। इसी से स्थूलशरीर और स्थूलजगत् की संरचना होती है। हमारे शरीर में इस शरीर और जगत् का मूल केन्द्र है—मूलाधार।

° ° •

अमूर्त से मूर्त जगत् का निर्माण कैसे होता है? इसकी वैज्ञानिक व्याख्या कुछ समय पहले हुई है। डॉल्टन ने सर्वप्रथम अणु-परमाणु के भेद को स्पष्ट किया। पानी का एक 'अणु' हाइड्रोजन के दो परमाणुओं तथा आक्सीजन के एक परमाणु से मिल कर बना है। नमक का एक अणु सोडियम के एक परमाणु तथा क्लोरीन के एक परमाणु से मिलकर बना है। इस प्रकार अणु वस्तुजगत् की इकाइयाँ या ईंटें हैं।

स्पष्ट है कि अणु परमाणुओं से बने होते हैं। प्राण, वायु, ऑक्सीजन का एक अणु ऑक्सीजन के दो परमाणुओं का बना है। इन परमाणुओं को आपस में चिपकाने वाली शक्ति विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति है। ये जब एक-दूसरे के निकट आते हैं, तो स्वयं विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है और एक-दूसरे की ओर आकर्षित होकर ये लिपट जाते हैं। मगर प्रत्येक परमाणु का पृथक् व्यक्तित्व है। वह कुछ के साथ आपस में लिपटना चाहता है कुछ से नहीं। कुछ ऐसे परमाणु हैं, जिनसे दो-दो, चार-चार लिपट जाते हैं। इसे विज्ञान की भाषा में विद्युत्-संयोजकता कहते हैं।

परमाणुओं का एक-दूसरे की ओर यह स्वाभाविक आकर्षण बहुत ही मनोहारी और विमस्यकारी विषय है। परमाणुओं का संगठन इतना प्रगाढ़ होता है कि उन्हें आसानी से एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

परमाणुओं को एक-दूसरे में चिपकाने वाली शक्ति विद्युत ऊर्जा की अमूर्त तरंगें हैं। अर्थात् परमाणु एक-दूसरे से अमूर्त ऊर्जा को गोद से चिपक कर मूर्त जगत् की इकाइयों का निर्माण करते हैं, जिन्हें हम 'अणु' कहते हैं।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि परमाणु कैसे बने ? बहुत दिनों तक वैज्ञानिक यह कहते रहे कि परमाणु अविभाज्य तत्त्व है। मगर अब तो परमाणुओं के विभाजन की लड़ी से ही परमाणु बम बने हैं। परमाणु ऊर्जा के अनेक प्रतिष्ठान बन गये हैं, जो परमाणुओं के विभाजन से उत्पन्न ऊर्जा का विश्व के कल्याण के लिए उपयोग कर रहे हैं।

परमाणुओं का निर्माण तीन प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों से हुआ है—(१) एलेक्ट्रान जो ऋण-विद्युत् की तरंगें हैं। (२) प्रोटोन, जो धन-विद्युत् की तरंगें हैं। (३) न्यूट्रान, जो विद्युत् किन्तु चुम्बकीय ऊर्जा से युक्त तरंगें हैं।

एक परमाणु का व्यास १/१०,००,००,००० से० मी० होता है। इस लम्बाई की माप केवल कल्पना भर कर सकते हैं। परमाणु इतना छोटा होता कि अभी पिछले दशक में जब एलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप बना तब इसे देखा जा सका। आपको आश्चर्य होगा कि हिरोशिमा-नागासाकी पर जब पहला परमाणु बम गिराया गया और परमाणुओं का विखण्डन कर दिया गया, उस समय तक परमाणु को किसी ने नहीं देखा था। ऐसा विस्मयकारी है हमारा मानव-मस्तिष्क। जिस चीज को हमने देखा भी नहीं, उसे तोड़ दिया और तोड़ा गया था परमाणु नहीं, बल्कि परमाणु का नाभिक, जिसका व्यास पूरे परमाणु के व्यास से १०,००० गुना कम या उसका १/१००००० भाग होता है।

परमाणु की परिधि पर एलेक्ट्रान बराबर चक्कर लगाया करते हैं। एक या अनेक कक्षाओं में नाभिक में स्थित प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स के चारों ओर। एलेक्ट्रान में न कोई भार होता है और न इनका कोई रूप है। ये केवल तरंग मात्र हैं, किन्तु कभी-कभी ठोस कणों की तरह भी व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। कैसा विस्मय हैं। एक अमूर्त विद्युत्-चुम्बकीय तरंग ठोस कण की तरह व्यवहार करे। जब कोई ऋण विद्युत्-तरंग इनकी ओर फेंकी जाती है, तो वे इससे टकराकर उसी प्रकार लौट पड़ती हैं, जैसे दीवार से टकरा कर गेंद। परमाणु का सारा भार उसके नाभिक में विद्यमान रहता है, जो प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स का बना है। केवल हाइड्रोजन एक ऐसा परमाणु है जिसके नाभिक में न्यूट्रान्स नहीं होते। प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स का भार लगभग बराबर होता है। केवल थोड़ा-सा अन्तर है। न्यूट्रान्स थोड़े अधिक भारी होते हैं। किसी परमाणु में कितने प्रोटोन्स हैं, कितने एलेक्ट्रान्स और कितने न्यूट्रान्स हैं—यह उसके सूत्र से ज्ञात हो जाता है। उदाहरणार्थ—यूरेनियम का परमाणु जिसके विस्फोटन से परमाणु बम बना है, उसका परमाणु भार २३५ होता है।

अर्थात् वह हाइड्रोजन के परमाणु से २३५ गुना भारी होता है। इसकी परमाणु संख्या ९२ होती है, जो यह कहती है कि यूरेनियम के परमाणु में ९२ एलेक्ट्रान्स और ९२ प्रोटोन्स हैं। प्रत्येक परमाणु में प्रोटोन और एलेक्ट्रान की संख्या बराबर होती है। धन और ऋण विद्युत् का चार्ज समान होता है और इसलिए वह विद्युद्विहीन कण दिखलाई पड़ता है। यदि आप परमाणु भार में से परमाणु संख्या घटा दें (२३५ — ९२ = १४३) तो वह न्यूट्रान की संख्या होगी। प्रत्येक परमाणु के दोनों ओर लिखी हुई संख्यायें उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार परमाणुओं की संरचना की स्पष्ट व्याख्या करती है।

परमाणु के नाभिक का व्यास सम्पूर्ण परमाणु के व्यास का केवल १/१००० है और सारे प्रोटोन्स न्यूट्रान्स नाभिक में होते हैं, एलेक्ट्रान परिधि पर। फिर सारे बीच के भाग में क्या होता है? शून्य, विराट् शून्य। इतने छोटे से परमाणु में यह शून्य तत्त्व कितना विराट् है, इसकी कल्पना आप एक उदाहरण से कर सकते हैं। यदि परमाणु का इतना बड़ा माडल बनाया जाय कि वह रेलवे इंजन हो जाय, तो नाभिक एक सन्तरे की तरह होगा और एलेक्ट्रान मच्छर की तरह और इनके बीच की दूरी उसी अनुपात में इतनी अधिक हो जायेगी कि साधारण दूरबीन से भी नाभिक दिखलायी नहीं पड़ेगा।

अमूर्त विद्युत्-चुम्बकीय उर्जायें एक परिधि में जब विशिष्ट ज्यॉमेट्रिकल पैटर्न से बँध-सी जाती हैं, तब वह मूर्त वस्तुओं की इकाइयाँ बन जाती हैं, जिन्हें परमाणु कहते हैं। परमाणु केवल ऊर्जा का क्रीड़ाक्षेत्र है। यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम देखते हैं कि प्रोटोन्स और न्यूट्रान्स से बम्बार्ड करने पर एक परमाणु दूसरे में बदल जाते हैं। अथवा वे रेडियो-एक्टिव परमाणु बन जाते हैं। रेडियो-एक्टिव परमाणु ऊर्जा बाहर निकल कर प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और या तो वह किसी स्थायी परमाणु में बदलकर स्थिर हो जाते हैं या ऊर्जाओं में उनका विलोप हो जाता है। इस प्रकार अमूर्त विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जाओं से हमारे मूर्त जगत् का निर्माण हुआ। ऊर्जा संहति में तथा संहति ऊर्जा में बदल जाती है। इसके लिए आइंस्टीन का विख्यात समीकरण है। इस समीकरण से यदि आप ४५० ग्राम संहति को ऊर्जा में बदलें तो ११०००००००० किलोवाट ऊर्जा उत्पन्न होगी। इतनी अधिक ऊर्जा से इतने छोटे से पदार्थ के कण बने हैं। इसी प्रकार ऊर्जा के निवेश से परमाणुओं का रूप बदल जाता है। अमूर्त विद्युत्-तरंगों से मूर्त जगत् का निर्माण इस प्रकार एक वैज्ञानिक तथ्य है।

० ० ०

सायंकाल का समय। रोज की तरह मैं गोपालचन्द्र न्यायचूड़ामणि से तन्त्र पढ़ने के लिए उनके निवासस्थान पर पहुँचा, तो देखा एक अपरिचित

महाशय वहाँ बैठे न्यायचूड़ामणि से बातें कर रहे थे। कोई गूढ़ विषय था वार्ता का। मुझे देखते ही न्यायचूड़ामणि महाशय बोल पड़े—आओ ! आओ शर्मा !! इनसे मिलो। ये हैं बंगाल के सुप्रसिद्ध योगी स्वामी निर्मला-नन्द पाल्थी।

न्यायचूड़ामणि महाशय को प्रणाम करने के साथ-साथ मैंने स्वामीजी को भी प्रणाम किया और उन्हीं के निकट एक आसन पर बैठ गया।

स्वामीजी गौर वर्ण के थे। आयु रही होगी यही ५०-५५ के लगभग। मगर इतनी आयु के दीखते नहीं थे स्वामीजी। सिर के बाल काले घुँघराले और कन्धों पर बिखरे हुए थे। आँखें बड़ी-बड़ी थीं और स्थिर। मस्तक काफी चौड़ा था। गले में स्फटिक की माला पड़ी थी और साथ ही रुद्राक्ष का एक बड़ा-सा दाना भी सोने की चेन में झूल रहा था।

स्वामीजी कभी कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर थे। योग में उन्हें कोई रुचि नहीं थी। एक रात स्वप्न में उन्हें एक सुन्दर लड़की दिखलायी पड़ी। स्वामीजी ने बतलाया कि वह लड़की लगभग १०-१२ साल की थी। उसके बाल जमीन तक झूल रहे थे। शरीर पर पारदर्शक पीले रंग का रेशमी वस्त्र था। उसकी आँखें स्थिर थीं। बिना पलक झपकाये वह बराबर मेरी ओर देखती रही थी काफी देर तक। फिर उसने संकेत कर मुझे अपने साथ चलने को कहा। मैं उसके साथ उसी प्रकार चलने लगा जैसे हवा में तैर रहा हूँ। थोड़ी ही देर में मैं उसके साथ हिमालय के एक अत्यन्त रमणीय स्थान पर पहुँच गया। चारों ओर हिमालय के हिमाच्छादित उत्तुङ्ग हिम-शिखर थे, जिनसे स्पर्श करती हुई पूर्णमासी की चाँदनी चारों ओर बिखर रही थी। गहन शान्ति का राज्य था वातावरण में।

वह लावण्यमयी कन्या मुझे एक महात्मा के सम्मुख ले गयी। वहाँ पीले गुलाब के वृक्ष लगे हुए थे, जिनकी सुगन्ध वातावरण में फैल रही थी। महात्मा पद्मासन लगाये ध्यान की मुद्रा में मृगचर्म पर बैठे हुए थे। किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं अपने आप बोल पड़ा—'बाबा !'

मेरी पुकार सुनकर महात्मा ने धीरे-धीरे अपने नेत्र खोले। करुणा का अथाह सागर लहरा रहा था उनके नेत्रों में। पिता अपने नन्हें से पुत्र की ओर जिस प्रकार देखता है वैसे ही मेरी ओर देखा उन्होंने और फिर मेरे मस्तक पर अपना हाथ रख दिया। उनके हाथ के स्पर्श के साथ ही मेरे सारे शरीर में किसी अज्ञात शक्ति का संचार हो गया। रोम-रोम झंकृत हो उठा मेरा।

किसी को विश्वास न होगा शायद। जब मैं सोकर उठा, तो एकबारगी स्तब्ध और आश्चर्यचकित हो गया। गुलाब के फूलों की सुगन्ध से मेरा कमरा भरा हुआ था और वह रूपवती कन्या मेरे सामने खड़ी मुस्करा रही थी। कुछ क्षण बाद फिर अपनी जगह से अचानक गायब हो गयी वह। उसी

दिन से मेरी समाधि लगने लग गयी। जीवन की इस चमत्कारपूर्ण घटना ने मुझे एक ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है, जिसके फलस्वरूप मेरी आत्मा उस कन्या के साथ लोक-लोकान्तरों में भ्रमण करती रहती है। वह देवकन्या-सी बाला कौन है, मैं नहीं जानता हूँ। उससे मेरा क्या सम्बन्ध है, यह भी नहीं जानता। निश्चय ही वह कोई रहस्यमयी योगात्मा है, जिसका सम्बन्ध हिमालय में निवास करने वाले उच्चकोटि के योगियों से है।

इसके बाद मेरी स्वामीजी से अनेक आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा हुई, मगर मेरे मस्तिष्क में बराबर उसी रहस्यमयी कन्या का काल्पनिक चित्र उभरता और मैं बराबर यही सोचता कि वह है कौन? क्या मैं उससे मिल सकता हूँ? बातें कर सकता हूँ?

० ० ०

हमारे भीतर तीन तत्त्व काम करते हैं प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व और वाक्-तत्त्व, यानि लाइफ, माइण्ड और मैटर। जब ये तीनों मिलते हैं, तो जीवन की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ-जहाँ जीवन है, उस स्थान को यज्ञ कहा जाता है। उस यज्ञ का प्रारम्भ प्राण के स्पन्दन से होता है। प्राण विश्वशक्ति का रूप है, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। शक्ति हमेशा दो सहकारी रूपों में प्रकट होती है। जिन्हें धन और ऋण रूप कहते हैं। इन्हें मूलभूत एक प्राण के ही प्राण और अपान नामक दो भेद कहे जाते हैं। प्राण का स्वरूप स्पन्दन है। सिकुड़ना और फैलना यही स्पन्दन का रूप है। धन से ऋण और ऋण से धन बिन्दु की ओर जाना और आना यही विद्युत् या शक्ति का काम है। इसे ही वैदिक भाषा में ऐतिह्य प्रैतिह्य कहते हैं। यही जीवन का रूप है।

योगविज्ञान अथवा वैदिक विज्ञान में शक्ति को देवतत्त्व कहते हैं। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान का मूल आधार इलेक्ट्रिसिटी है, वैसे ही योग अथवा वैदिक विज्ञान का मूल आधार प्राणतत्त्व है। प्राणविद्या के द्वारा ही सम्पूर्ण विज्ञान को योग अथवा वेद में बतलाया गया है। प्राणगति शक्ति यानी 'फोर्स' है। प्राणशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है जो किसी भी प्रकार और किसी भी रूप में वह इन्द्रियों द्वारा अग्रहणीय है। वही शक्ति जब स्थूल रूप में विकसित होती है तो उसी को वाक् यानी 'मैटर' कहते हैं। इसी वाक् का दूसरा रूप है विचार अथवा विचारशक्ति।

प्राणशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका स्थूल रूप विचार-शक्ति है, अतः हम इस पर आगे विचार करेंगे।

० ० ०

जैसा कि बतलाया गया है मूलभूत प्राणतत्त्व के दो रूप हैं—प्राण और अपान। प्राण से बराबर धन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें और अपान से बराबर

ऋण विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें विकिरित होती रहती हैं। ये दोनों प्रकार की तरंगें श्वास-प्रश्वास के द्वारा रक्त संचार में मिल कर हमारे सारे शरीर में दौड़ती रहती हैं हर क्षण।

इन दोनों प्रकार की तरंगों का केन्द्र है हृदय। इसी केन्द्र में मनस्तत्त्व से भी विकीर्ण होने वाली धन और ऋण विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें प्राण और अपान की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों से मिलकर एक विलक्षण तत्त्व को जन्म देती है और वह है—चेतनतत्त्व या चेतना।

हृदय के बाद दूसरा केन्द्र है मस्तिष्क। केन्द्र में चेतना-शक्ति और विचार-शक्ति का संयोग होता है, जिसके फलस्वरूप हमारे भीतर अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में क्रियाशील रहने वाली वह शक्ति प्रकट होती है, जिसे आत्मशक्ति कहते हैं। लाक्षणिक भाषा में इसी को कुण्डलिनी कहा जाता है। आत्मशक्ति अथवा कुण्डलिनी से तात्पर्य है चेतना-शक्ति और विचार-शक्ति का एक सम्मिश्रित रूप।

आत्मशक्ति में विचार-शक्ति का अंश सबसे ज्यादा रहता है तो उसे जीवात्मा कहते हैं और जब चेतना-शक्ति का अंश अधिक रहता है तो उसे सूक्ष्मात्मा कहते हैं। इसी प्रकार जब परमात्मतत्त्व का अंश अधिक होता है, तो उसे विशुद्धात्मा की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार क्रम से आत्मशक्ति जीवात्मा, सूक्ष्मात्मा और विशुद्धात्मा है। मगर आत्मशक्ति का निजरूप केवल आत्मा है। कुण्डलिनी-साधना का प्रयास 'आत्मा' बनाने का है। फिर यह तभी सम्भव है जबकि पहले की तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण हो। इसी अतिक्रमण के लिए ध्यान और उसके बाद समाधि की व्यवस्था है।

मन और प्राण के आन्तरिक योग अथवा आन्तरिक तादात्म्य का नाम ध्यान है। ध्यान के चरम अवस्था को समाधि--केवल समाधि कहते हैं। समाधि कई प्रकार की होती है—जिस पर आगे प्रकाश डालेंगे। वैसे साधारण रूप में सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की समाधियाँ हैं। निद्रा, समाधि और मृत्यु में बस जरा-जरा-सा भेद और अन्तर है। निद्रा की स्थिति में आत्मा शरीर में और मन शरीर के बाहर भूत, भविष्य और वर्तमान काल में घूमता रहता है। आत्मा उसके कार्यों और उसके अनुभवों की साक्षी रहती हैं। प्राण के द्वारा मन और आत्मा का सम्बन्ध जुड़ा हुआ रहता है।

समाधि में मन शरीर में रहता है, आत्मा बाहर भ्रमण करती है। दोनों को मिलाये रखने का काम प्राण करता है। मृत्यु की स्थिति में मन और आत्मा शरीर के बाहर एक साथ निकल जाते हैं, मगर काफी समय तक शरीर में प्राण का अस्तित्व बना रहता है। इस स्थिति में यदि आत्मा और मन पुनः शरीर में प्रवेश कर जायें, तो व्यक्ति पुनर्जीवित भी हो सकता है। यदि उसकी जगह कोई दूसरी आत्मा वहाँ है और वह प्राण का सहारा पाकर शरीर में प्रवेश कर गयी, तो उस स्थिति में भी व्यक्ति पुनर्जीवित हो सकता है।

समाधि की अवस्था में प्राण का सम्बन्ध शरीर से नहीं केवल मन से रहता है। इसीलिए समाधि की अवस्था में सारा शरीर निष्पन्द रहता है। जीवन के चिह्न कहीं परिलक्षित नहीं होते। इस अवस्था में एक विशेष प्रकार के धोखे की सम्भावना भी रहती है—वह यह कि यदि कहीं एक क्षण के लिए मन से आत्मा का सम्बन्ध टूट गया, तो समझ लीजिए तुरन्त कोई दूसरी आत्मा साधक के शरीर में प्रवेश कर जायेगी। इस अवस्था में प्रवेश करने वाली 'आत्मा' साधारण नहीं बल्कि दिव्यात्मा ही होती है और जो संसार में किसी कारण या कार्यवश आना चाहती है, मगर गर्भ की यातना भी भोगना नहीं चाहती। अतः वे ऐसे अवसर की खोज में बराबर रहा करती हैं और समाधि लगाने वाले साधकों के आस-पास चक्कर लगाया करती हैं। अगर यह घटना घट गयी तो समाधि लगाने वाले व्यक्ति की आत्मा पुनः अपने शरीर में कभी भी प्रवेश न कर सकेगी। इसीलिए कि उसके मन और उसके प्राण पर किसी और आत्मा का अधिकार रहता है और साथ-ही-साथ शरीर पर भी।

इस व्रिषम परिस्थिति में अपनी शेष मानव-आयु भोगने के लिए उस साधक की आत्मा को सर्पयोनि में रहना पड़ता है। क्योंकि वह आत्मा मृतात्मा तो होती नहीं कि प्रेतयोनि में चली जाय। मन और प्राण भी अपना नहीं होता कि उसकी सहायता से पुनर्जन्म ले सके मानव-योनि में।

इस विषय को लिखते समय हमें एक महात्मा का स्मरण हो आया। उनके साथ ऐसी ही घटना घटी थी। बड़ी ही विलक्षण और चमत्कारपूर्ण घटना थी वह।

महात्मा का नाम था स्वामी सत्यानन्द गिरि! अघोर मार्ग में दीक्षित थे वह और काशी के हनुमान् घाट मुहल्ले में रहते थे। महीने में दो बार वे समाधि में चार दिन रहते थे। पढ़े-लिखे तो अधिक नहीं थे, मगर समाधि के कारण योग की अनेक साधनाओं का गहरा अनुभव था उन्हें। मैं उनके पास कभी-कदा जाया करता था। मुझे काफी मानते भी थे गिरि महाशय। एक बार समाधि की एक विशेष अवस्था में चले गये गिरि महाशय और उसी स्थिति में उनके मन से प्राण का सम्बन्ध टूट गया अचानक। आत्मा अलग हो गयी तुरन्त। संयोगवश उसी समय एक योगात्मा वहाँ विचरण कर रही थी। उसने शरीर को रिक्त देखा और तुरन्त उसमें प्रवेश कर गयी।

एक दिन मेरे मित्र रघुनाथ बागची मिल गये। बात-चीत के सिलसिले में बोले—'भाई शर्माजी! आजकल गिरिजी में एक भारी परिवर्तन देख रहा हूँ।'

बागची भी कभी-कदा मेरे साथ सत्संग के लिए गिरि महाशय के यहाँ जाते-आते थे। मैंने पूछा—'कैसा परिवर्तन?'

थोड़ा गम्भीर होकर बागची ने बतलाया कि गिरिजी ने अपना रहन-सहन

बिलकुल बदल दिया है। प्रायः कमरा बन्द करके भीतर रहते हैं। लोगों से बहुत ही कम बोलते हैं। प्रायः एक ३०-३२ साल की स्त्री उनके यहाँ बराबर आती-जाती रहती है। बड़ी रहस्यमयी लगी मुझे वह स्त्री। इतना कहकर बागची चुप हो गये।

मुझे घोर आश्चर्य हुआ। बागची ने गिरि के विषय में जो कुछ बतलाया था, वह सर्वथा विपरीत था। इतना परिवर्तन इतनी जल्दी कैसे हो गया उनमें। फिर वह अज्ञात स्त्री कौन है। गिरि महाशय के यहाँ ४-५ साल के भीतर मैंने किसी स्त्री को कभी नहीं देखा था। फिर वे अघोर मार्गी थे। स्त्री से क्या लेना-देना उनका ?

साँझ का समय था। मैं हनुमान् घाट की बगल में मैसूर घाट की सीढ़ियों पर बैठा था चुपचाप। तभी मेरी नजर एक औरत पर पड़ी। ३०-३५ के लगभग उम्र थी उसकी। बंगला रेशमी साड़ी पहने थी वह। गोरा रंग था। लम्बा कद था। इकहरा बदन था। घने काले बाल पीठ पर बिखरे थे। गले में सोने की चेन और कलाइयों में शंख की चूड़ियाँ पहन रखी थीं उसने। चेहरे पर अजीब-सी स्थिरता के साथ गहरी शान्ति भी थी। निश्चय ही वह किसी ऊँचे बंगाली परिवार से सम्बन्धित थी। मैं अपलक उसी की ओर निहार रहा था। वह सिर झुकाये आँखें नीची किये धीरे-धीरे हनुमान् घाट की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आ रही थी।

अचानक कुछ कौंध-सा गया। यह वही स्त्री तो नहीं है, जिसकी चर्चा बागची ने की थी मुझसे ? सम्भव है वही हो। यह विचार मन में आते ही मैं खड़ा हो गया और उसी क्षण उस औरत की नजर मुझ पर पड़ी। वह मेरी ओर देखकर एक बार मुस्करायी और फिर गली में घुस गयी। जल्दी-जल्दी चलकर गिरि महाशय के मकान के भीतर चली गयी वह। भ्रम दूर हो गया। सन्देह नहीं रहा अब।

गिरि महाशय का मकान काफी बड़ा था। उनके सिवाय और कोई रहता न था उसमें। वे अकेले एक कमरे में रहते थे। दूसरी मंजिल पर। वह रहस्यमयी स्त्री कौन थी, कहाँ से आयी थी वह और गिरि महाशय से क्या सम्बन्ध था उसका ? यह सब जानने-समझने के लिए व्यग्र हो उठा मेरा मन। मकान में दाखिल हो गया मैं। पूरा मकान अंधेरे में डूबा हुआ था। दबे पैर सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा। गिरि महाशय के कमरे में प्रकाश हो रहा था। दरवाजा बन्द था, मगर खिड़की खुली हुई थी आधी। मैं खिड़की के सामने चुपचाप खड़ा हो गया और भीतर देखने लगा। हे भगवन् ! कितना विलक्षण और अविश्वसनीय दृश्य था वह। स्तब्ध रह गया मैं एकबारगी।

कुण्डलिनी-जागरण का एक अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय प्रसंग साकार हो रहा था उस समय मेरे सामने। कुण्डलिनी-साधना योग पर आधारित तन्त्र का

विषय है। नाथ-सम्प्रदाय, शाक्त-सम्प्रदाय, कौल-सम्प्रदाय, कापालिक-सम्प्रदाय, शैव-सम्प्रदाय और अघोर-सम्प्रदाय में कुण्डलिनी-जागरण की अपनी अलग-अलग विधि और अपना-अपना साधनामार्ग है। गिरि महाशय अघोर सम्प्रदाय के थे। मगर मैं जो साधना का दृश्य देख रहा था, वह कापालिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। इस सम्प्रदाय में विशेष यौगिक क्रिया द्वारा—जिसे तन्त्र की भाषा में जृम्भणी क्रिया कहते हैं—सद्‌गुरु के सहयोग से साधिका कुण्डलिनी को जाग्रत् करती है। बाद में सारा रहस्य अनावृत हो गया। उसी स्त्री ने बतलाया मुझे सब कुछ। उसका नाम था दीपा। पिछले दो जन्मों से साधना कर रही थी वह कुण्डलिनी की। दो जन्म के पहले दीपा को सर्वप्रथम बंगाल के प्रसिद्ध कापालिक योगी स्वामी भैरवानन्द ने कुण्डलिनी की दीक्षा दी थी। दीक्षा प्रदान करने के कुछ वर्ष बाद स्वामी भैरवानन्द की मृत्यु हो गयी, मगर शरीर छोड़ने के पहले वह दीपा से कह गये कि तुम बराबर साधना करती रहना। मैं अब शरीर तो ग्रहण कर न सकूँगा कभी भविष्य में, लेकिन किसी योगी की काया में प्रवेश करने का अवसर कभी मिल गया तो अवश्य तुमको आगे साधना में सहयोग दूँगा। इतना संकेत कर स्वामी भैरवानन्द शरीर से मुक्त हो गये सदैव के लिए। समय पर दीपा की भी मृत्यु हो गयी। फिर उसने जन्म लिया। इस जन्म में उसका नाम था रेखा। गुरु का सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ। साधना करती रही बराबर। मृत्यु के बाद उसने मालती के रूप में जन्म लिया। साधना-क्रम चलता रहा। उसके बाद मालती ने बंगाल के एक रायचौधरी परिवार में जन्म लिया और स्वयं अपना पूर्व नाम रख लिया दीपा। भैरवानन्द से दीक्षा प्राप्त करने के समय भी यही था नाम उसका। जब दीपा २० वर्ष की हुई तो उसे सहज रूप से समाधि की स्थिति प्राप्त होने लगी और जब वह ३४ वर्ष की हुई तो एक बार समाधि की ही स्थिति में भैरवानन्द के दर्शन हुए उसे। स्वामीजी ने कहा—'इस समय वह काशी में हैं और एक योगी के शरीर में प्रवेश कर गये हैं। समय और अवसर अनुकूल है। वह आकर आगे के लिए साधना दीक्षा ले ले'।

कहने की आवश्यकता नहीं, जिस योगी की काया में स्वामीजी ने प्रवेश किया था—वह काया और किसी की नहीं, गिरि महाशय की ही थी। दीपा को दीक्षा देने के बाद जब स्वामी ने उनका शरीर छोड़ा उसी समय फिर अपने शरीर में गिरि महाशय प्रवेश कर गये।

प्रकरण : छत्तीस

हमारा भावशरीर और सूक्ष्मशरीर

पिछले प्रकरण में वैज्ञानिक दृष्टि से मैंने 'कुण्डलिनी' के अनेक गुह्य तथ्यों की आलोचना की थी। पाँचवें शरीर यानि आत्मशरीर तक ही विज्ञान की गति और उसका प्रवेश है। यह समझ लेना चाहिए कि आत्मशरीर में अनेक प्रकार की वैज्ञानिक सम्भावनाएँ हैं। जिन्हें समझना आवश्यक है। तभी हम आत्मलोक की गतिविधि को भी समझ सकेंगे। इस दिशा में सबसे पहले हम आपको यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि अब तक हमारे शास्त्रकारों, मनीषियों और तत्त्ववेत्ताओं ने शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझा और बतलाया है। वास्तव में उनकी इस धारणा और इस विचार ने भारतीय संस्कृति और साधना में बहुत बड़ी भ्रान्ति पैदा कर दी। जिसके फल-स्वरूप हम सब आत्मा और शरीर को सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न और विपरीत समझते रहे। कितनी भारी भूल है यह। सच बात तो यह है कि इसी भ्रांति ने, इसी भूल ने धर्म और विज्ञान को एक-दूसरे से सर्वथा अलग कर रखा है अब तक।

हम यही जानते तथा समझते हैं कि धर्म वह है, जो शरीर के अतिरिक्त एक ऐसे तत्त्व की — जिसे आत्मा कहा जाता है — की खोज करता है और खोज कर उसके विषय में पूर्ण जानकारी देता है। इसी प्रकार विज्ञान के प्रति हमारी यह धारणा है कि आत्मा के अतिरिक्त जो तत्त्व हैं—यानी शरीर उसकी खोज करने वाला और उसके सम्बन्ध में विस्तार और गहरायी से बतलाने वाला विज्ञान है। धर्म आत्मा की खोज करने वाला है और विज्ञान शरीर की। एक का विषय आत्मा है और दूसरे का विषय है शरीर। धर्म का कहना है कि जो भी कुछ है वह मात्र केवल आत्मा है। वही सत्य है, बाकी सब असत्य और भ्रम है। इसी प्रकार विज्ञान का भी कहना है — जो कुछ है वह शरीर है, शरीर के अलावा कुछ भी नहीं है। विज्ञान ने आत्मा के अस्तित्व को मानने से साफ इन्कार कर दिया। धर्म ने अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर शरीर और शरीर से सम्बन्धित जगत् को एकबारगी निःसंकोच 'माया' कह दिया। उसके लिए एकमात्र आत्मा सत्य है। शरीर, संसार और संसार की तमाम वस्तुएँ भ्रम हैं और हैं माया। यही स्थिति विज्ञान की भी है—उसने अपनी खोज में एवं उपलब्धियों की चरम विकास की स्थिति में पहुँचकर कहा — 'आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। सब झूठ है, सब कल्पना है और है भ्रम। जो कुछ है वह केवल शरीर है।'

इस भ्रांति के मूल में यदि देखा जाय, तो उन्हीं शास्त्रकारों और मनीषियों के सिद्धान्त हैं—जिनकी चर्चा हमने ऊपर की है। हमने कुण्डलिनी प्रसंग में सात शरीरों की चर्चा की है। वे सातों शरीर आत्मा के क्रमिक आवरण हैं और आत्मा से उनका सम्बन्ध जुड़वा भाई की तरह है। प्रत्येक शरीर एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है और एक साथ सातों शरीर से जुड़ा हुआ है आत्मा का अस्तित्व। पहला है स्थूलशरीर और दूसरा है भावशरीर यानि वासनाशरीर। भाव-शरीर भौतिक यानि स्थूल शरीर का ही एक सूक्ष्मतम रूप है। उसे पूर्ण रूप से हम अभौतिक नहीं कह सकते। मगर फिर भी वह इतना सूक्ष्म है कि अभी तक किसी भी भौतिक साधनों द्वारा वह पकड़ में नहीं आ सका है। लेकिन इस दिशा में वैज्ञानिक लोग प्रयास अवश्य कर रहे हैं कि किसी भी प्रकार भावशरीर के चित्र लिये जा सकें। वैज्ञानिक लोग इस बात को अब अस्वीकार नहीं कर रहे हैं कि भौतिक शरीर का या भौतिक पदार्थों का सूक्ष्मतम रूप लगभग अभौतिक हो जाता है। उदाहरण के लिए जैसे वैज्ञानिकों के कथना-नुसार यदि किसी भी पदार्थ को तोड़ते चले जायें तो आखिर में उसका जो अंश होगा उसके विश्लेषण से हमें प्राप्त होगा—एकमात्र एलेक्ट्रान। एलेक्ट्रान अभौतिक है। एलेक्ट्रान मात्र केवल विद्युत् के कण हैं। विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा है। अभी तक वैज्ञानिकों की दृष्टि में पदार्थ ही एकमात्र सत्य था। मगर अब वे पदार्थ की मूल इकाई इस एलेक्ट्रान को यानि विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा को परम सत्य मानने लगे हैं। इस विषय में पिछले प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

वास्तव में पदार्थ है क्या ? विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा का तीव्र गति से अपने स्थान पर चक्कर काटता हुआ रूप ही तो है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर ऊर्जा अत्यन्त तीव्र गति से चक्कर लगा रही है। वह इतनी तीव्र गति से घूम रही है कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। ऊर्जा का इस प्रकार का जो घूमना है, वह उसी का अभिव्यक्त रूप पदार्थ है। आपके सम्पूर्ण विज्ञान का विस्तार और उसकी उपलब्धियाँ परमाणु ऊर्जा पर ही निर्भर हैं। मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि अभी तक उस परमाणु ऊर्जा को किसी भी यन्त्र के माध्यम से देखा नहीं जा सका है। मात्र केवल उसके शुभ-अशुभ परिणाम से ही वैज्ञानिक गण परिचित हैं। अणु के मूल में विद्यमान मूल शक्ति—जिसे विज्ञान की भाषा में एटामिक एनर्जी कहा जाता है—की भविष्य में कभी देखने की सम्भावना भी नहीं है। हाँ ! केवल उसके परिणामों और उसकी उपलब्धियों को विभिन्न प्रकार से और वह भी अगोचर रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उसकी अनुभूति की जा सकती है।

हमारा जो भावशरीर, आकाशीय शरीर अथवा वासनाशरीर—जिसे ईथरिक बॉडी कहा जाता है—यह भी एटामिक बॉडी ही है। वह भी

दिखलायी नहीं पड़ता। उस शरीर की अनुभूति की जा सकती है। उसके परिणामों का अनुभव किया जा सकता है। उसकी अनुभूति और उसके परिणामों एवं अनुभवों के आधार पर उस शरीर के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। इसमें आपत्ति नहीं। वास्तव में स्थूलशरीर तथा भावशरीर (वासनाशरीर) में कोई भेद नहीं, किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक दृश्यमान और पार्थिव है तथा दूसरा है अदृश्यमान और अपार्थिव। भावशरीर की रचना आणविक ऊर्जा से होती है, जिसकी मात्र अनुभूति की जा सकती है। जब कि उस ऊर्जा की तीव्र गति से उत्पन्न पदार्थ से पार्थिव शरीर यानी स्थूलशरीर का निर्माण हुआ है। हमारा और आपका जैसा स्थूलशरीर है, ठीक उसी प्रकार का, उसी रूप-रंग का हमारा और आपका भावशरीर भी है। आणविक ऊर्जा से निर्मित होने के कारण ही वह सूक्ष्म है, इसलिए दिखलायी नहीं पड़ता है। जब मृत्यु के फलस्वरूप पार्थिव शरीर नष्ट हो जाता है, तो उस स्थिति में उसी भावशरीर को प्रेतशरीर कहने लग जाते हैं और उस शरीर में निवास करने वाली आत्मा को प्रेतात्मा कहने लगते हैं। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्रेतात्माओं का शरीर आणविक ऊर्जा से बना हुआ होता है। यही कारण है कि प्रेतों का अनुभव तो किया जा सकता है, उनके अस्तित्व की अनुभूति मात्र की जा सकती है, परन्तु उन्हें देखा नहीं जा सकता है। हाँ, अनुभूति के साथ-साथ उसे देखने का एकमात्र उपाय है और वह है तांत्रिक शक्ति। खैर इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

० ० ०

आणविक ऊर्जा को योगविज्ञान की भाषा में सूक्ष्मतम प्राणवायु कहते हैं। सूक्ष्मतम प्राणवायु यानी आणविक ऊर्जा का ही विकसित एवं व्यापक रूप ईथर है। इसीलिए भावशरीर को ईथरिक बाडी कहा जाता है। ईथर सर्व-व्यापक है। मगर ईथर से भी सूक्ष्म है एस्ट्रल। वास्तव में एस्ट्रल ईथर का ही सूक्ष्मतम रूप है। हमारा तीसरा शरीर 'सूक्ष्मशरीर' एस्ट्रल बॉडी है। यह भावशरीर से भी सूक्ष्मतम है। आपका विज्ञान अभी 'एस्ट्रल' तक नहीं पहुँचा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि जिस प्रकार पदार्थ का विश्लेषण करते-करते वे आणविक ऊर्जा यानी 'ईथर' तक पहुँच सके हैं, उसी प्रकार यदि ईथर का भी विखण्डन किया जाय, तो सम्भव है उन्हें एस्ट्रल उपलब्ध हो जाय।

वैज्ञानिकों की धारणा के अनुसार ईथर का अतिसूक्ष्म अंश 'एस्ट्रल' है। अतः हमारा सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म स्वरूप है। मालूम होना चाहिए कि हमारा यह तीसरा शरीर भी हमारे भौतिक शरीर की तरह है। जरा-सा भी भेद या अन्तर नहीं है। अगर भेद है तो रंग में। अगर हमारा पार्थिव शरीर गोरा है तो भावशरीर साँवला होगा और सूक्ष्मशरीर होगा

बिलकुल काला। वैसे तो नहीं, मगर तांत्रिक शक्ति से इस शरीर को भी देखा जा सकता है।

वैज्ञानिकों की धारणा थी कि पदार्थ ठोस है। मगर एलेक्ट्रान का पता लगने पर उसे अपनी इस धारणा को बदलना पड़ा। वास्तव में कोई भी वस्तु और कोई भी पदार्थ ठोस नहीं है। छिद्रों से भरे होते हैं वस्तु और पदार्थ। प्रत्येक छिद्र में अणु है। छिद्र अणुमय है। मगर वे भी ठोस नहीं। उनमें भी छिद्र है और वे छिद्र भी ठोस नहीं हैं। वे मात्र केवल विद्युत् के कण हैं। कण से हमारा तात्पर्य यहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों से है। 'कण' कहने का मतलब होगा घनत्व या कोई ठोस चीज। हम तरंग शब्द का भी प्रयोग नहीं करना चाहते। क्योंकि इससे भी किसी भौतिक तत्त्व की ओर संकेत होता है। अतः इसके लिए एक सर्वथा नया वैज्ञानिक शब्द है—क्वाण्टा। इस शब्द का मतलब न तरंग है और न कण है। यह एक भाववाचक शब्द है। किसी भाव की ओर जो पूर्ण अभौतिक है, उसी का संकेत करता है। अस्तु।

० ० ०

वस्तु या पदार्थ के प्रति एक निश्चित विचार, भाव और धारणा होती है। मगर उसके अणुओं की, जो अगोचर ऊर्जायें हैं, उनके प्रति किसी भी प्रकार की निश्चयात्मकता नहीं है। उनके लिए न कोई स्थिर विचार है और न तो कोई स्थिर भाव ही। पहले वैज्ञानिक मत के अनुसार पदार्थ निश्चित था। मगर अब यह मत नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि में अब हर वस्तु और हर पदार्थ परिवर्तनशील और अनिश्चित है।

वास्तव में हम जिस स्थान पर निश्चयात्मकता का बोध करते हैं, उसके अन्तराल में गहरा अनिश्चय होता है। जिस वस्तु को और जिस पदार्थ को हम निश्चय समझते हैं, स्थिर और अपरिवर्तनशील समझते हैं, सच तो यह है कि उसके भीतर अनिश्चितता, अस्थिरता और परिवर्तनशीलता बराबर बनी रहती है।

अनिश्चितता, अस्थिरता और अपरिवर्तनशीलता का अर्थ अति गम्भीर है। रहस्यमय है। समझने वाली बात है। जिस वस्तु के और जिस पदार्थ के प्रति इन सब शब्दों का प्रयोग होता है, समझ लेना चाहिए कि वहाँ 'चेतना' विद्यमान है। अनिश्चयता के गर्भ में चेतना विद्यमान रहती है। अस्थिरता उसे जन्म देती है और परिवर्तनशीलता उस चेतना को गति देती है। अनिश्चय··· वास्तव में चेतन का एक अति महत्त्वपूर्ण अंश है। इस प्रसंग में एक तथ्य को समझ लेना चाहिए। 'अनिश्चय' चेतना का बोध कराता है और 'निश्चय' पदार्थ का। पदार्थ के प्रति हम निश्चित रहते हैं, मगर चेतना के प्रति सदैव अनिश्चित रहते हैं। पदार्थ निश्चित है, लेकिन उसकी जो मूल इकाई है, जिसे हम ऊर्जा कहते हैं, वह अनिश्चित है। अतः जो निश्चित है वह जड़ है और जो अनिश्चित

है वह है चेतन। तंत्र में इसी को 'शिव' और 'शक्ति' कहते हैं। पदार्थ या वस्तु जड़ है, निश्चयात्मक है इसलिए वह 'शिव' है। चेतना अनिश्चयात्मक है इसलिए वह 'शक्ति' है। शक्ति का गुण है धर्म। वह जिस वस्तु में प्रकट होगी, उसे अस्थिर, चंचल और गतिवान् कर देगी। जहाँ गति है—वहाँ बराबर परिवर्तन का होना स्वाभाविक है। स्थूल दृष्टि से हमें पदार्थ स्थिर दिखलायी देते हैं—इसलिए कि जड़तत्त्व की उनमें अधिकता होती है, मगर उसके भीतर उसके मूल में हर पल परिवर्तन हो रहा है। बराबर चेतना काम कर रही होती है उसमें। किसी जड़ वस्तु के प्रति हम निश्चिन्त होते हैं, मगर चेतन वस्तु के प्रति हम बराबर अनिश्चितता का अनुभव करते रहते हैं। 'निश्चय' चेतना का और 'अनिश्चय' पदार्थ का लक्षण, बोधक और सूचक है।

यही कारण है कि पदार्थ की मूल इकाई एलेक्ट्रान का पता लगाने पर अब विज्ञान अनिश्चय की स्थिति में है। निश्चयात्मकता के स्थान को सम्भा-वनात्मकता ने ले लिया है। आणविक ऊर्जा की उपलब्धि ने विज्ञान को एक-बारगी अस्थिर कर दिया है। अब वैज्ञानिक लोग किसी भी उपलब्धि को निश्चित रूप से 'ऐसा ही है'—कहने के लिए तैयार नहीं हैं। सम्भावनात्मकता ने आज विज्ञान को अनजाने में भौमिकीय से आकाशकीय में पहुँचा दिया है। सारांश यह कि वैज्ञानिकों की स्वयं की खोजवृत्ति ने उन्हें पदार्थ जगत से निकाल कर भाव जगत में प्रवेश करा दिया है। स्वयं भी इस उपलब्धि के फलस्वरूप वे लोग अनजाने में अपने भाव शरीर के द्वारा भाव जगत की सत्ता में रहकर खोज एवं शोध करने लग गये हैं। इस रहस्य का स्वयं पता नहीं है उन लोगों को। पता न लगने का कारण यह है कि भौतिक शरीर और भाव शरीर में एकता है, तादात्म्य है और अभिन्नता है। दोनों के बीच किसी भी प्रकार की रिक्तता भी नहीं है। अस्तु।

अब हम 'एस्ट्रल' के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। आपको मालूम होना चाहिए कि ईथरिक बॉडी जितनी सूक्ष्म है, उससे कहीं १०० गुनी अधिक एस्ट्रल बॉडी है। इसी प्रकार ईथर के परमाणुओं की ऊर्जा शक्ति से १००० गुनी अधिक शक्ति एस्ट्रल के परमाणुओं की ऊर्जा शक्ति है। आज का भौतिक विज्ञान केवल अभी पदार्थ के परमाणुओं को ही खोज और समझ पाया है। अभी उसको ईथर के परमाणुओं को जानना और समझना है। ईथर के परमाणुओं के भीतर एस्ट्रल के परमाणु होते हैं। ईथर के परमाणुओं से २५ गुना अधिक सूक्ष्म एस्ट्रल के परमाणु होते हैं।

आगे के विषय की गम्भीरता को समझने के लिए यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि हम यहाँ तीन प्रकार के 'एटम' की चर्चा अभी कर रहे हैं। पहला है—फिजिकल एटम; दूसरा है—ईथरिक एटम और तीसरा है—एस्ट्रल एटम। फिजिकल एटम के विखण्डित होने पर उसके सूक्ष्मतम कण को 'ईथरिक

एटम' कहते हैं। इसी प्रकार ईथरिक एटम के विखण्डित होने पर उसके सूक्ष्म-तम कण को 'एस्ट्रल एटम' कहते हैं। ये तीनों प्रकार के एटम तो विभिन्न प्रकार के हैं, मगर एक दूसरे से सर्वथा जुड़े हुए होते हैं।

इन्हीं तीनों प्रकार से एटमों से हमारे तीनों शरीरों की रचना होती है। भौतिक शरीर फिजिकल एटम से, भाव शरीर ईथरिक एटम से और सूक्ष्म शरीर एस्ट्रल एटम से निर्मित होता है। हमारे ये तीनों शरीर अलग-अलग नहीं बल्कि तीनों एक साथ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। वैसे ही जैसे तीनों प्रकार के एटम एक दूसरे के गर्भ में स्थित हैं—भौतिक शरीर के भीतर भाव शरीर और भाव शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर। हमारा भौतिक शरीर पहला शरीर है और संसार के सामने इसीलिए हमें बाकी दोनों शरीर दिखलायी नहीं पड़ते। क्योंकि वे दोनों शरीर भौतिक शरीर के पीछे हैं—एक के बाद एक। फिजिकल एटम की ऊर्जा जब शनैः-शनैः समाप्त हो जाती है, तो हमारा भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, यानी मृत हो जाता है। उस स्थिति में हमारा ईथरिक एटम से बना हुआ शरीर भाव शरीर सामने आ जाता है, जिसे हम प्रेत शरीर भी कहते हैं। प्रेत शरीर के पीछे होता है सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर, जिसकी रचना हुई होती है एस्ट्रल के एटम से। स्थूल शरीर की तरह जब भाव शरीर के भी ईथरिक एटम शनैः-शनैः विघटित हो जाते हैं, तो प्रेत शरीर भी प्रेतलोक में मृत हो जाता है; उसी प्रकार जैसे पृथ्वी पर भौतिक शरीर मृत हो जाता है। प्रेत शरीर के मृत होने पर उसके पीछे वाला शरीर सूक्ष्म शरीर सामने आ जाता है और एस्ट्रल के एटम सक्रिय हो उठते हैं अपने पूरे वेग से।

जब स्थूल शरीर सामने रहता है, तो फिजिकल एटम पूर्ण रूप से गति-मान रहते हैं और अन्य दोनों शरीरों के एटमों की गति मन्द रहती है। इसी प्रकार जब भाव शरीर के एटम पूर्ण रूप से गतिमान रहते हैं, तो सूक्ष्म शरीर के एटमों की गति मन्द रहती है।

भौतिक शरीर की जीवितावस्था में फिजिकल एटम अपने स्थान पर प्रति सेकेण्ड १ लाख बार घूमता है। भाव शरीर के ईथरिक एटम ५० हजार बार और एस्ट्रल एटम २५ हजार बार अपने-अपने स्थानों पर घूमते हैं। तीनों प्रकार के एटमों का यह गति-चक्र मनुष्य के तीस वर्ष की अवस्था तक रहता है। उसके बाद शनैः-शनैः गति में कमी आनी शुरू हो जाती है और उसी के अनुसार एटमों की शक्ति भी मन्द पड़नी शुरू हो जाती है।

भौतिक शरीर के मृत हो जाने पर भाव शरीर के ईथरिक एटमों की गति १ लाख और सूक्ष्म शरीर के एस्ट्रल एटमों की गति ५० हजार आवर्तन हो जाती है। उस समय सूक्ष्म शरीर के एटमों की गति १ लाख आवर्तन हो जाती है, जबकि भावशरीर मृत हो जाता है और उसके एटम विघटित हो जाते हैं।

बहुत से लोगों ने हमसे प्रश्न किया है कि क्या प्रेतात्माओं को देखा जा सकता है और उनके चित्र भी लिये जा सकते हैं ? बतलाने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं हमें इन दोनों प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए लगभग २० वर्ष तक प्रेतशास्त्र का अध्ययन, चिन्तन-मनन और खोज एवं विश्लेषण करना पड़ा था। फलस्वरूप हमें जो उपलब्धि हुई उसके अनुसार—प्रेतों को देखा जा सकता है और उनके चित्र भी लिये जा सकते हैं।

हम यह बतला चुके हैं कि प्रेतात्माओं का शरीर ईथर के कणों से और सूक्ष्मात्माओं का शरीर एस्ट्रल के कणों से बना हुआ होता है। जबकि जीवित व्यक्ति के भौतिक शरीरों की रचना फिजिकल कणों से होती है। जिस प्रकार फिजिकल एटम के भीतर ईथर एटम और उसके भीतर एस्ट्रल एटम विद्यमान रहता है, उसी प्रकार भौतिक शरीर के भीतर भाव शरीर और भाव शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर की सत्ता विराजमान रहती है। तीनों शरीरों के कण यानी एटम एक दूसरे से सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होते हैं और एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और विपरीत भी होते हैं। इसी स्थिति के कारण प्रेतात्मा और सूक्ष्मात्मा का अस्तित्व भी अलग-अलग होता है। जब तक इस प्रकार की आत्माओं के शारीरिक कण बिखरे हुए होते हैं, तब तक उन्हें न देखा जा सकता है और न तो उनके चित्र ही लिये जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार की आत्माओं में एक खास विशेषता यह होती है कि वायुमण्डल में बिखरे हुए अपने-अपने शारीरिक कणों को अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति के बल पर एकत्र अथवा घनीभूत कर सकते हैं। मगर यह घनीभूतीकरण तभी तक रहता है जब तक कि उनकी इच्छाशक्ति दृढ़ एवं एकाग्र रहती है।

दोनों प्रकार के शारीरिक कण इस स्थिति में इस प्रकार घनीभूत होते ही फिजिकल कणों के वायुमण्डल में प्रेतात्माओं अथवा सूक्ष्मात्माओं के शरीर के आकार-प्रकार को प्रकट कर देते हैं। मगर यह जान लेना चाहिए कि वह आकार-प्रकार तभी तक बना रहेगा, जब तक उन आत्माओं की इच्छा शक्ति दृढ़ एवं एकाग्र रहेगी।

हम आपको यह भी बतला दें कि प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक वस्तु के फिजिकल कण वायुमण्डल में अगोचर रूप में तैरते रहते हैं। आपने बहुत-सी घटनाएँ देखी या सुनी होंगी कि प्रेतात्मायें आग लगा देती हैं। पत्थरों की वर्षा किया करती हैं। घर की चीजें भी गायब कर दिया करती हैं। मगर आपने कभी ऐसी अलौकिक आश्चर्यजनक घटनाओं के रहस्यों को जानने-समझने का प्रयास किया है ?

वास्तव में ऐसी घटना में कोई अलौकिकता नहीं है। योग विज्ञान के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों तत्त्वों के समन्वय से किसी भी पदार्थ का निर्माण होता है। दूसरी ओर इन पाँचों तत्त्वों के फिजि-

कल एटम वायुमण्डल में भी अदृश्य रूप से तैरते रहते हैं। जब कभी किसी स्थान पर प्रेतात्माओं के शरीर के 'ईथर एटम' सघन होने लगते हैं और यदि उस स्थान पर अग्नि के फिजिकल एटम अधिक मात्रा में हैं, तो वे घनीभूत हो रहे ईथर के एटमों से टकराकर वहाँ आग पैदा कर देंगे। मगर वह आग तभी तक रहेगी, जब तक फिजिकल एटम और ईथर एटम आपस में टकराते रहेंगे। उनका संघर्ष अपने आप बन्द हो जाता है और आग भी उसी के फलस्वरूप अपने आप बुझ जाती है। दोनों प्रकार के एटमों का आपसी संघर्ष उसी स्थिति में अपना परिणाम तब तक व्यक्त करता रहेगा, जब तक प्रेतात्माओं के शारीरिक एटम वातावरण में प्रेतात्माओं के इच्छानुसार बिखर न जायेंगे।

इस दिशा में वैज्ञानिकों ने जो खोज की है, वह योग के इसी सिद्धान्त के मिलती-जुलती है।

जार्ज वाशिंगटन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर और अमेरिका के प्रतिष्ठित नागरिक जार्ज गैमो का परमाणुओं के आपसी व्यवहार का सिद्धान्त इस प्रकार की अलौकिक घटनाओं का पूर्ण समर्थन करता है। इनसे भी पूर्व अमेरिका के ही निवासी प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री जेम्स क्लार्क मैक्सवेल भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं। विज्ञान जगत् में मैक्सवेल का सिद्धान्त 'मैक्सवेल डेमन' के नाम से जाना जाता है। यह सिद्धान्त तापवेगिकी – जिसे वैज्ञानिकों की भाषा में 'थर्मोडायनेमिक्स' कहा जाता है – के एक विशिष्ट नियम पर आधारित है। जिसके अनुसार क्रमिक उत्क्रम भाप—जिसे 'इंक्रीजिंग एंट्रोपी' कहते हैं – का सिद्धान्त साधारणतया पदार्थ में परमाणुओं का गमन काफी अव्यवस्थित होता है। मगर पदार्थ की तापीय शक्ति का समान बितरण इस प्रकार की अव्यवस्था से ही सम्भव हैं। गैमो के अनुसार जब संयोग से किसी पदार्थ के परमाणु व्यवस्थित रूप से गमन करने लग जाते हैं, तो शक्ति का वितरण कार्य असमान और अव्यवस्थित हो उठता है।

सैद्धान्तिक रूप से यह सम्भव है कि किसी स्थान में व्याप्त वायु के सभी परमाणु एकाएक अथवा अचानक एक ओर जमा हो जायें और उस स्थान का शेष भाग वायुशून्य हो जाय। यह भी सम्भव है कि परमाणुओं के एक वर्ग के समाधान के अन्तरर्वतित प्रतिरूप धारण कर लेने के फलस्वरूप सारी शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित हो जाय। ऐसी स्थिति में गिलास में रखा पानी अपने आप छलक कर गिर सकता है। बन्द खिड़कियाँ अपने आप खुल कर हिलने लग सकती हैं। केतली में रखी हुई चाय अपने आप उबल सकती है। आलमारी में रखा हुआ सामान भी अपने आप गिर सकता है। इसी प्रकार की और भी घटनाएँ घट सकती हैं।

० ० ०

हमने अपने अनुसंधान काल में लगभग तीन सौ प्रेतात्मा और सूक्ष्मात्माओं

का साक्षात्कार किया था। जिन्हें हमने तीन भागों के विभक्त किया था। पहले भाग में उच्चकोटि की आत्माएँ थीं। दूसरे भाग में मध्यम वर्ग की और तीसरे भाग में बिलकुल निम्नकोटि की आत्माएँ थीं। अच्छे संस्कार वाली उच्चकोटि की आत्माएँ मनुष्य और मानवीय बातावरण से हमेशा दूर ही रहने का प्रयास किया करती हैं। शेष दो प्रकार की प्रेतात्माएँ और सूक्ष्मात्माएँ ही मानवीय वातावरण के प्रति आकर्षित होती हैं और मनुष्य के चेतन एवं अचेतन मन को प्रभावित करने का भी प्रयास करती हैं। हमने ऊपर प्रो० गैमो के जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उसके अनुसार पदार्थ जितना बड़ा होगा तथोक्त सम्भावना उतनी ही कम होगी। छोटे-छोटे पदार्थों में इस तरह की व्यवस्था के फलस्वरूप हुई अव्यवस्था की सम्भावना अत्यधिक बढ़ जाती है। वायु परमाणुओं की यह आदत है कि वे बिन्दु विशेषों पर संकेन्द्रित हो जाते हैं। इसी के कारण अत्यन्त अल्प मात्रा में नियति की सांख्यकीय अनियमितता—जिन्हें वैज्ञानिकों की भाषा में 'इनहोमोजिनिटीज' अथवा 'स्टेस्टिकल फलक्च्युएशंस आफ डेस्टिनी' भी कहा जाता है—का जन्म होता है।

योग विज्ञान के अन्तर्गत १६ विज्ञान हैं। जिनमें प्रेत विज्ञान भी एक है। इस प्रेत विज्ञान पर हमने पूरे १६ वर्षों तक शोधकार्य किया है। अतः आपको मालूम होना चाहिए कि इस विज्ञान के अनुसार पूर्व की किरणों के वायुमण्डल में से गुजरते समय प्रकाश से आवृत वर्ण-क्रम—जिसे 'स्पेक्ट्रम' कहा जाता है, जिससे कि रंग अपनी निर्वर्तनीयता के अनुसार क्रम में व्यवस्थित रहते हैं, नीले वर्ण की किरणों का विकिरण ऐसी ही 'इनहोमोजिनिटीज' के फलस्वरूप ही होता है।

हम इसे स्वीकार करते हैं कि मात्र संयोग से इस सिद्धान्त का क्रियान्वयन लाखों-करोड़ों अवसरों में दो-चार बार ही सम्भव है।

० ० ०

मनुष्यात्मा में और प्रेतात्मा में जितने अन्तर हैं उनमें एक अन्तर यह भी है कि एक चेतनमनधारी होता है और दूसरा अवचेतनमनधारी। प्रेतात्माओं का अवचेतन मन अपनी शक्ति तरंगों का प्रक्षेपण कर के किसी बाहरी पदार्थ के परमाणुओं को प्रभावित करता है, जिसके फलस्वरूप परमाणु व्यवस्थित ढंग से गमन करने लग जाते हैं और साथ ही शक्ति भी एक स्थान पर संकेन्द्रित होने लग जाती है। प्रेतात्माओं के अवचेतन मन के इस कार्य के पीछे एक खास उद्देश्य हुआ करता है और ऐसे खास उद्देश्य से हुई अलौकिक एवं असाधारण घटनाओं को ही प्रेतलीला कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, प्रेत विज्ञान के इस सार्वभौम सिद्धान्त से एक विशेष सीमा तक प्रो० जार्ज गैमो और जेम्स क्लार्क मैक्सवेल के सिद्धान्त मिलते-जुलते हैं।

० ० ०

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया है कि प्रेतात्माओं और सूक्ष्मात्माओं के चित्र लिये जा सकते हैं और प्रकट रूप में उन्हें देखा भी जा सकता है कुछ क्षणों के लिए। मगर यह सब हमारी-आपकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। प्रेतात्मा या सूक्ष्मातमा की इच्छा पर निर्भर है और उनकी यह इच्छा तभी होती है जबकि कोई खास उद्देश्य होता है। प्रकट होने की स्थिति में वे अपने ईथर अथवा एस्ट्रल के बिखरे हुए कणों को एक स्थान पर घनीभूत करने लग जाते हैं। बाद में घनीभूत 'कण' वैसा ही आकार धारण करने लग जाते हैं जैसा उस प्रेतात्मा या सूक्ष्मात्मा के पार्थिव शरीर का आकार था। मगर वह आकार तभी तक भौतिक वातावरण में बना रहता है, जब तक उसके पीछे प्रेतात्माओं की इच्छा शक्ति रहती है और उस आकार का फोटो भी वही कैमरा ले सकेगा जिसकी फोटो प्लेट अत्यधिक सेन्सिटिव होगी। प्रेतात्माओं अथवा सूक्ष्मात्माओं को प्रकट करने का कोई भौतिक साधन नहीं है। अगर कोई साधन है, तो वह मात्र केवल योगतांत्रिक बल। तांत्रिक शक्ति के साथ योग बल का तादात्म्य स्थापित होने पर एक विशेष प्रकार की मनोमयी प्राण ऊर्जा उत्पन्न होती है, जो वायुमण्डल में एक विशेष प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा में परिवर्तित होकर प्रेतात्माओं के शरीर के बिखरे हुए कणों को आकर्षित कर शनैः-शनैः रूप अथवा आकार देने लग जाती है। योगतांत्रिक बल के सामने प्रेतात्माओं की प्रबल-से-प्रबल इच्छाशक्ति भी शिथिल और कमजोर पड़ जाती है और वे साधक के अधीन हो जाती हैं। इस अवस्था में साधक की इच्छाशक्ति काम करती है प्रेतात्माओं के साथ। मैंने सर्वप्रथम इसी योगतांत्रिक बल से एक ऐसी उच्चकोटि की आत्मा से प्रत्यक्ष रूप में सम्पर्क स्थापित किया था, जो आज भी हमें गूढ़ विद्याओं और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों की खोज एवं अनुसंधान की दिशा मे सहायता करती रहती हैं। इसके अलावा वह हमें ऐसे योगियों, ऐसे साधक और साधिकाओं के बारे में भी बतलाती है, जो इस समाज, संसार से दूर रह कर सर्वथा गोपनीय और रहस्यमय ढंग से संचरण-विचरण किया करते हैं। जिन्हें लौकिक दृष्टि से न पहचाना जा सकता है और न तो समझा जा सकता है। मगर उस उच्च कोटि की आत्मा का सम्पर्क जहाँ एक ओर इस प्रकार की उपलब्धियों की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है, वहीं दूसरी ओर भौतिक दृष्टि से हमारे लिए अति कष्टकारक भी है।

यही कारण है कि हम लोक सम्पर्क से हमेशा दूर रहने का भी प्रयास करते हैं। जन-सान्निध्य से हमें वह आत्मा अलग ही रखना चाहती है। जब कभी हम लोक सम्पर्क अथवा जन-सान्निध्य में आने का प्रयास करते हैं, तो वह मानवेतर शक्ति सम्पन्न 'आत्मा' हम पर, हमारे समूचे अस्तित्व पर और हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रभावी हो जाती है और उस स्थिति में हम क्या बोलते हैं? कैसा व्यवहार करते हैं? इस सब का ज्ञान हमें नहीं रहता। कभी-कभी इसका कुप्रभाव भी पड़ जाता है लोगों पर। जिसके फलस्वरूप उनके मन

में हमारे प्रति दुर्भावना अथवा भ्रम का पैदा होना स्वाभाविक हो उठता है। इसी के हम अपने से मिलने-जुलने वालों से दूर रहते हैं और इसी से हम अपने पाठकों से भी बार-बार निवेदन किया करते हैं कि वे हमसे सम्पर्क स्थापित करने अथवा हमसे मिलने का प्रयास न किया करें। हम अपने जीवन का हर क्षण उसी आत्मा के मानवेतर शक्ति की सीमा में व्यतीत कर रहे हैं। हमारी आत्मा से हर क्षण और हर पल वह सम्बन्ध बनाये रखती है और यही सब कारण है कि हम पूरी-की-पूरी बात जानते रहते हैं। हमें आज सोये हुए करीब ४० साल हो गये। बहुत कोशिश करते हैं, मगर नींद आती ही नहीं हमें। हम अपनी स्थिति का वर्णन कर ही नहीं सकते। यदि कभी करने का प्रयत्न भी करते हैं, तो शब्द ही नहीं मिलते हमें। बस इतने से आप सब लोग समझ लीजिये कि यह संसार हमारे लिए श्मशान है और हम इस संसार के लिए शव तुल्य हैं।

अब आप यह जानना चाहेंगे कि आखिर वह आत्मा है कौन ?

तो संक्षेप में हम आपको यहाँ इतना ही बतला सकेंगे कि वह आत्मा है बौद्धकाल के एक नगरश्रेष्ठी की इकलौती कन्या की, जिसका नाम था पराचारा। जिसे बाल्यावस्था में वैराग्य हो गया था और जिसने युवावस्था में भगवान् तथागत के चरणों में शरणागत होकर बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था और बौद्धभिक्षुणी बन गयी थी। मगर साधना के कठिन मार्ग में वह अपने आपको सँभाल न सकी थी। मन की प्यास और तन के उत्ताप के सामने उसकी आत्मा को पराजित हो जाना पड़ा था और उसी पराजय के क्षण वह उपाली से प्रेम कर बैठी थी और अपने तन को समर्पित कर दिया था उपाली को। मन की प्यास और तन का उत्ताप शान्त तो हो गया, लेकिन आत्मा अशान्त हो उठी एकबारगी पराचारा की। उसका प्रेम उसी के लिए अभिशाप बन गया था, जिसके फलस्वरूप पराचारा की आत्मा आज हजारों साल से इस संसार में मुक्ति की कामना लिये भटक रही है।

जब हमने पहली बार पराचारा को देखा तो, बस देखता ही रह गया था। बौद्ध युग की वह अनिन्द्य सुन्दरी किसी कलाकार की सजीव कलाकृति-सी लगी हमें। सुडौल, सुगठित देहयष्टि, क्षीण कटि, उन्नत वक्ष, पद्मिनी नायिका की तरह सुन्दर ग्रीवा और सुन्दर कण्ठ। झील-सी गहरी और स्वप्निल आँखें, पतली नुकीली नाक और कोमल रक्ताभ होठ। रति की साक्षात् वह मूर्ति काषाय वस्त्रों में लिपटी मेरे सामने खड़ी मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। एक हाथ में कमण्डल था और दूसरे हाथ में था लपेटा हुआ मृगचर्म का आसन। गले में रुद्राक्ष की माला भी पड़ी थी।

भिक्षुणी के परिवेश में भी पराचारा का अपूर्व रूप और अगाध सौन्दर्य जैसे फूट पड़ रहा था। सहन न कर सकी मेरी आत्मा। अपने दोनों हाथों से

हमने अपनी दोनों आँखें बन्द कर लीं, मगर तभी हमें सुनाई पड़ा पराचारा का स्वर। उफ्! कितना कोमल, कितना मधुर, कितना पावन था उसका स्वर। वह कह रही थी 'मुझे प्राप्त करने के लिए तुमने पूरे पाँच वर्ष तक वक्रेश्वर के महाश्मशान में कठोर योगतांत्रिक की है। कितना कठोर और संयम पूर्ण जीवन व्यतीत किया है। मगर जब मैं तुम्हारे लिए प्रकृति के सारे नियमों और बंधनों का तोड़ कर तुमसे मिलने आई, तो तुमने इस तरह अपनी आँखें बन्द कर ली। उदास स्वर में आगे कहने लगी पराचारा—'कितने निर्दयी हो तुम? कितनी निष्ठुर है तुम्हारी आत्मा, पर क्या करूँ? तुम्हारे प्रति मन में इतना स्नेह है, इतनी ममता है, इतना प्रेम है और इतना अपनत्व है कि बतला नहीं सकती और यह भी नहीं बतला सकती कि तुम्हारे लिए मुझमें इतनी श्रद्धा और इतना विश्वास क्यों और कैसे उत्पन्न हो गया···लगता है कि कोई सपना देख रही हूँ सुनहरा-सुनहरा और मीठा-मीठा। किसी कोमल शीतल छाया तले खड़ी हूँ जैसे। बोलो न साथी! तुम ऐसे ही रहोगे न मेरे लिए। उपाली की तरह तुम भी मुझको चाहोगे न? प्रेम करोगे न? और बना लोगे हमेशा के लिए तुम मुझे अपना?'

हजारों साल बाद एक भटकती हुई आत्मा को मनुष्य का सम्पर्क मिला और मिला था सान्निध्य। भावविह्वल होना स्वाभाविक था उसका। थोड़ा रुककर कातर कण्ठ से उसने अपनी जो करुण गाथा सुनाई, उसने एकबारगी विचलित कर दिया मेरी अन्तरात्मा को। फिर इतने पावन स्नेह का, इस ममता भरी पुकार का और इतने प्रेम का तिरस्कार करने का सामर्थ्य कहाँ से लाती हमारी आत्मा। और जब हम पराचारा की भटकती हुई आत्मा की भावनाओं को और विचारों को सुनने लगे, तो उसे हमने अपनी आत्मा के बिलकुल निकट पाया। इतना निकट कि हमारा हृदय एकबारगी विचलित हो उठा और भर उठा पराचारा के प्रति अगाध प्रेम और असीम करुणा से।

पूरे ४० वर्ष हो गये और इस ४० वर्ष के दीर्घ अन्तराल में हम एक दूसरे से एक पल के लिए भी बिछुड़े नहीं। कभी अलग नहीं हुए। अदृश्य रूप से सदैव रहती है हमारे निकट पराचारा की आत्मा। जब किसी क्षण हमारा मन अशान्त उठता है, विचलित हो उठता है और दुःखी सन्तप्त हो उठता है, तो उस स्थिति में और उस समय वह कुछ समय के लिए आकृति धारण कर लेती है और प्रकट हो जाती है पराचारा के रूप में।

प्रकरण : सैंतीस

हमारा मनोमय शरीर

परामनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का अवचेतन मन अपने सम्मोहन के द्वारा चेतन मन को बराबर धोखा देता रहता है। इस समय पश्चिमी देशों के बहुत सारे वैज्ञानिक भूत-प्रेत का रहस्य जानने के लिए अनुसंधान कर रहे हैं। उनका कहना है कि जब तक मनुष्य को एक रासायनिक यंत्र मात्र समझा जाता रहेगा तब तक भूत-प्रेत क्या, किसी भी पारलौकिक रहस्य को न समझा जा सकता है और न तो उसका उद्घाटन ही किया जा सकता है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि मनुष्य एक विद्युत्-ऊर्जा से युक्त एक विशेष प्राणी है, तो भूत-प्रेत के अलावा पारलौकिक रहस्यों को जानने-समझने में आसानी होगी। सरलता से उनके रहस्यमय तथ्यों को उद्घाटित किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अदृश्य शक्तियों के सागर में तैरता रहता है और उसकी इन्द्रियाँ इन शक्तियों को ग्रहण कर उनका प्रक्षेपण करती रहती रहती हैं। विद्युत्-शक्ति एक ऐसी भौतिक शक्ति है, जो सर्वत्र उपलब्ध है, और उसका प्राकटच प्रकाश, ताप, गति तथा रासायनिक पुनःमिश्रण आदि रूपों में होता है। मगर अभी तक वैज्ञानिक यह ज्ञात न कर सके कि विद्युत् का आदिस्रोत और आदिस्वरूप क्या है? वे मात्र केवल इतना जानते हैं कि कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें विद्युत् का आभास मौजूद न हो। इलेक्ट्रान का सिद्धान्त भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

जैसा कि बतलाया गया है—मनुष्य सदैव अदृश्य ऊर्जाओं के सागर में तैरता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों के अनुसार अपनी इन्द्रियों द्वारा इन ऊर्जाओं को ग्रहण करता है और उनमें इच्छानुसार परिवर्तन करके बाह्य जगत पर उनका प्रक्षेपण करता है। भूत-प्रेत का जन्म ऐसे ही प्रक्षेपणों के अनुसार होता है। वैज्ञानिक इस चौंका देनेवाले अविश्वसनीय निष्कर्ष पर भी पहुँचे है कि इस प्रकार के प्रक्षेपणों के दौरान भूत-शापित व्यक्ति के शरीर में से जो अदृश्य ऊर्जा निकलती रहती है, वह परमाणवीय विस्फोट से विसर्जित ऊर्जा के समान प्रचण्ड और विनाशकारी होती है। अतः इसी कारण के फल-स्वरूप प्रायः भूत-प्रेत विनाशकारी कार्यों में रुचि लेते हैं। वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि भूत-प्रेत के प्रत्येक कौतुक एवं लीला के पीछे एक और शक्ति भी काम करती है—जो चेतोपशीय केन्द्रों को कोशिकाओं से प्राप्त होकर शरीर के ताप को विद्युत्-शक्ति में बदल दिया करती है। जब इस मानसिक शक्ति के द्वारा बाहरी जगत पर कोई प्रक्षेपण किया जाता है, तो मस्तिष्क 'इलेक्ट्रानिक कम्प्यूटिंग' यंत्र के समान सक्रिय हो जाता है।

कुण्डलिनी योग के उच्च साधकगण सुदूर स्थित किसी भी व्यक्ति के विचारों अथवा भावनाओं को जानने-समझने के लिए इसी मानसिक शक्ति का सहारा लिया करते हैं।

सन् १९४४ में विश्वविख्यात अमेरिका निवासी भौतिकविद् गैमो ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिसके अनुसार यह सम्भव है कि परमाणुओं के किसी वर्ग के समाघात के अन्तर्वर्तित प्रतिरूप धारण करने पर सारी शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है और ऐसी स्थिति में जो लीलायें और कौतुक होंगे वे भूत-प्रेत जैसे ही होंगे। मात्र संयोग से परमाणुओं की ऐसी सक्रियता की सम्भावना काफी कम है। मगर उद्देश्य को सामने रखकर ऐसा प्रयत्न कभी भी किया जा सकता है। जिन पहुँचे हुए तांत्रिकों के द्वारा भूत-प्रेत के द्वारा घटनायें घटित करायी जाती हैं—उसके पीछे यही तथ्य काम करता है।

बंगाल के एक ऐसे ही तांत्रिक थे। नाम था गोपीनाथ हलधर। वे तीन सौ मील के अन्दर किसी भी मकान, स्थान और किसी भी परिवार में प्रेत-जन्य घटनाओं की सृष्टि कर सकने में पूर्ण समर्थ थे। खैर !

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने विज्ञान के इसी प्रकार के सिद्धान्तों का आश्रय लेकर प्रेत विद्या पर अन्वेषण किया था। प्रेतलीला के सम्बन्ध में वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार चित्त अथवा मन एकाधिक स्थानों पर एकाग्र किया जाता है, तो शरीर से एक प्रकार की अदृश्य शक्ति विसर्जित होने लग जाती है—जो आणविक प्रस्फोट से विसर्जित शक्ति के समान होती है। मगर उस शक्ति का उद्गम क्या है ? और उसका स्वरूप क्या है ? इससे अभी वैज्ञानिक गण अपरिचित हैं। योग विज्ञान का कहना है कि देह का ताप जब गतिमूलक शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है तभी इस अगोचर शक्ति का जन्म होता है। जिन लोगों को प्रेतबाधा होती है अथवा जो लोग प्रेतों से सम्पर्क करने वाले माध्यम का काम करते हैं—उनके शरीरों का तापमान काफी कम होता है। अपने अन्वेषण से मुझे भी अनेक उपलब्धियाँ हुईं। उनमें एक यह भी है कि भूत-प्रेत का जन्म मनुष्य के अन्तर्जगत में ही होता है। बाहरी जगत की किसी घटना के कारण नहीं। भूत-प्रेत के बारे में शोधरत वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यदि कोई बाहरी कारण होता तो प्रेतलीला से प्रभावित व्यक्ति की देह का तापमान कम न होता। हर प्रकार की प्रेतलीला के पीछे सक्रिय शक्ति वास्तव में वह शक्ति है, जो चेतोपशीय केन्द्र कोशिकाओं से प्राप्त करते हैं। किसी अज्ञात विधि से शरीर की गर्मी विद्युत शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। यही शक्ति अन्तिम लक्ष्य पर परमाणुओं के सतत प्रवाह के रूप में प्रक्षेपित की जाती है। यह विद्युत् विकिरण लेसर किरणों के प्रक्षेपणों के समान होता है।

मैंने अपने अन्वेषण के आधार पर प्रेतविद्या और प्रेतविज्ञान से सम्बन्धित दो प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं—'मरणोत्तर जीवन का रहस्य' और 'क्या मौत के बाद भी जिन्दगी है ?' इन दोनों महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में प्रेतविद्या से सम्बन्धित मेरे अपने भिन्न-भिन्न अनुभव भी संकलित हैं। इन पुस्तकों के अनुसार यदि हर कोशिका १/१० वोल्ट विद्युत् को जन्म दे तो उस अवस्था में भी एक घन इंच कोशिकाएँ ४,००,००० वोल्ट विद्युत् को जन्म दे सकने में पूर्ण समर्थ हैं। इन्हीं कोशिकाओं से उत्पन्न विद्युद्धारा का प्रयोग तन्त्र-मन्त्र की विशेष क्रियाओं में किया जाता है (पढ़िये : 'मंत्रशक्ति और शब्द विज्ञान' ले० अरुण कुमार शर्मा)। एवं इस सन्दर्भ में भी वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि कुछ असामान्य परिस्थितियों में एक अकेले पोटेशियम आयन के आस-पास विद्युत् क्षेत्र की तीव्रता प्रति से० मी० ३६,०००,००० वोल्ट के लगभग होती है।

ऊपर से देखने पर यह शक्ति सतत् धारा के रूप में प्रवाहित होती प्रतीत होती है। पर प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इस शक्ति का प्रवाह विद्युत् की चरम सीमा से निकलने वाली विद्युत् चिनगारियों के समान अनियंत्रित होता है। आपको मालूम होना चाहिए कि वोल्टेज और एम्पियरेज दो अलग-अलग चीजें होती हैं। अगर एम्पियर अपेक्षाकृत कम हो तो कोई भी वस्तु कितना भी वोल्टेज सहन कर सकती है। विद्युत् शक्ति के शरीर से युक्त होते ही या उसके लक्ष्य से सम्पर्क करते ही एम्पियरेज काफी तेजी से बढ़ जाता है।

इसका प्रमाण उस समय देखने को मिलता है—जब यह शक्ति किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित होकर अत्यन्त तीव्र और मुखर हो जाती है। आग लगने पर हमें ऊँचे वोल्टेज के दर्शन होते हैं। पर न जलने वाले पदार्थ पर कम एम्पियरेज रहता है। एम्पियरेज के बढ़ने पर वह पदार्थ भी जलने लगता है और उसमें से लपटें निकलने लग जाती हैं।

इस सन्दर्भ में हम आपको यह भी बतला देना चाहते हैं कि मस्तिष्क में लगभग १४ करोड़ कोशिकायें हैं और प्रत्येक कोशिकाओं में से शरीर की अन्य कोशिकाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में विद्युत् का विसर्जन होता है। वे विसर्जित विद्युद्धाराएँ मस्तिष्क केन्द्र में एकत्र होकर उपर्युक्त अज्ञात शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। कुण्डलिनी साधक उस कोशिका-विद्युत् और परिवर्तित होने वाली उस अज्ञात शक्ति से पूर्ण परिचित होते हैं। कुण्डलिनी जागरण के फलस्वरूप कोशिका विद्युत् की मात्रा सामान्य से अधिक हो जाती है और जब उसकी ऊर्जाएँ अज्ञात शक्ति के रूप में परिवर्तित होती हैं, तो मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की हलचल होने लगती है—जो इलेक्ट्रानिक कम्प्यूटिंग मशीन की क्रियाशीलता से काफी हद तक मिलती-जुलती हैं। अतः उसी हलचल के फलस्वरूप कुण्डलिनी साधक भूत और भविष्य में घटित हुई

तथा घटने वाली घटनाओं का निश्चित समय-तिथि-वार और निश्चित अवधि बतला दिया करते हैं। उस अवस्था में उनका मस्तिष्क एक कम्प्यूटर मशीन की तरह काम करता है।

काशी से एक ऐसे ही कुण्डलिनी साधक महात्मा कुछ वर्ष पूर्व निवास करते थे। नाम था धीरेन्द्र ब्रह्मचारी। वे हमेशा मदिरापान करते रहते थे। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि मदिरा की अपनी ऊर्जा है। यह कोशिकाओं से निकलने वाली विद्युत् वेग को शक्ति के रूप में—जिसे योग मानसिक शक्ति कहता है—तत्काल परिवर्तित कर देती है। ब्रह्मचारी महाशय भूतकाल में कब कौन-सी घटना किस दिन, किस समय घटी थी—तुरन्त बतला देते थे। इसी प्रकार भविष्य में भी घटने वाली घटना भी बतला दिया करते थे।

वास्तव में उस अज्ञात मानसिक शक्ति-सम्पन्न लोगों की कमी आज भी नहीं है। अभी तिब्बत, भूटान और सिक्किम की तीन मास की यात्रा से वापस लौटा हूँ। इस यात्रा में मुझे बहुत-से उच्चकोटि के योगी और साधक मिले। जिसमें दो-तीन महापुरुष ऐसे भी थे, जो इस विद्या के अच्छे जानकार थे। योगतंत्र में इस विद्या को महाकाल विद्या कहते हैं। इसका सम्बन्ध लघु मस्तिष्क केन्द्र से होता है। लिप् वोंग नामक एक लामा योगी थे। जिनसे मेरी भेंट तवांग मठ में हुई थी। वोंग की अवस्था लगभग २०० वर्ष की थी। लेकिन वे ५० वर्ष की आयु से अधिक के प्रतीत नहीं होते थे। 'महाकाल विद्या' के वे मर्मज्ञ थे। उन्होंने मुझे विशेष तौर पर उस विद्या से सम्बन्धित एक योगतांत्रिक क्रिया बतलायी। क्रिया करते समय मदिरा पान करना होता है और उसी के साथ चित्त को एकाग्र कर मन को घटने वाली घटना पर केन्द्रित करना पड़ता है। जिसके फलस्वरूप वह घटना कब, किस तिथि को और किस समय घटेगी ? इसका विवरण तत्काल मालूम हो जाता है। तीन-चार बार प्रयोगात्मक तौर पर इस क्रिया का उपयोग किया मैंने। आशातीत सफलता मिली मुझे। एक व्यक्ति काफी लम्बे अरसे से बीमार चल रहा था। मैंने क्रिया की। पता चला कि अमुक मास, अमुक तिथि को अमुक समय में वह व्यक्ति मर जायेगा। कहने की आवश्यकता नहीं, वह व्यक्ति प्राप्त विवरण के अनुसार ही मरा। लिप् वोंग के साथ तवांग मठ में मैं १०-१२ दिन रहा। इस बीच उन्होंने देश के लिए कई भविष्यवाणियाँ कीं। मुझे विश्वास है कि उनकी भविष्यवाणियाँ अवश्य सही होंगी।

० ० ०

मैंने पिछले प्रकरणों में प्रसंगवश मस्तिष्क के विषय पर चर्चा की थी। आपको मालूम होना चाहिए कि पिछले ६०-७० वर्षों से मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक दोनों मस्तिष्क के रहस्यों को जानने-समझने का अथक प्रयास कर रहे हैं। अमेरिका की 'ब्रेन रिसर्च इंस्टीट्यूट' की स्पेस बायोलोजी लैबोरेटरी में

डॉ० डब्ल्यू० रास आदे ने अपने सहयोगियों की सहायता से आश्चर्यजनक प्रयोग किए थे। डा० आदे ने अपने सहयोगियों के अलावा अपने प्रयोग के लिए एक बहुत बड़े कम्प्यूटर की सहायता ली थी, जिसके माध्यम से मस्तिष्क की कोशिकाओं का अध्ययन करने पर पता चला कि वे कोशिकायें अपने स्थान पर बराबर उछलती-कूदती और थिरकती रहती हैं। वे गतिशून्य नहीं हैं। स्फुरण करती हैं। कुण्डलिनी योग विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क की संवेदनशीलता, कार्यक्षमता और बाह्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों को प्रभावित करने की शक्ति असीम है और प्रत्येक व्यक्ति का मस्तिष्क असीमित सम्भावनाओं का केन्द्र है। इस तथ्य को डा० आदे ने भी स्वीकार किया है। उनका तो कहना है कि किसी भी इच्छित वस्तु या व्यक्ति की परमाणुओं की व्यवस्था को अनियमित कर सकता है—मस्तिष्क; निहित विद्युत्-शक्ति को उस वस्तु या व्यक्ति पर केन्द्रित करके। जब-जब ऐसा होता है तब-तब वह वस्तु या व्यक्ति काफी गर्म हो जाता है। शक्ति का केन्द्रीकरण अधिक होता है, तो वह वस्तु या व्यक्ति जलने लगते हैं या विचित्र तरीके से पेश आने लगते हैं। व्यक्ति की भावनायें बिखरसे लगती हैं। विचार असंतुलित हो उठते हैं। वह पागलों जैसी भी हरकतें करने लग जाता है। कतिपय वैज्ञानिकों ने अपने अनुसंधान के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला है कि मस्तिष्क की थिरकती कोशिकाओं में जो विद्युत शक्ति छिप कर अपना काम करती है, वह अपने लक्ष्य को गर्म करने के अतिरिक्त उससे अजीब-अजीब आवाजें भी पैदा करा सकती हैं। उसे गतिशील भी कर सकती हैं और उससे अजीब-अजीब हरकतें भी करा सकती हैं। सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि इस शक्ति ने उस लक्ष्य के परमाणुओं को किस सीमा तक प्रभावित किया है।

इस प्रसंग के अन्त में मैं इतना अवश्य कहूँगा कि वैज्ञानिकों को इस दिशा में काफी प्रयोग करना शेष है। मगर अभी तक प्रयोग बल से उन्हें जो उपलब्धियाँ हुई हैं—उसके अनुसार यह स्पष्ट है कि जिसे प्रेतलीला कहा जाता है, वह मस्तिष्क की कोशिकाओं में निहित विद्युत् शक्ति के कौतुक भाग हैं और यह भी संभव है कि इस विद्युत्-शक्ति का बाहरी किसी वस्तु या व्यक्ति पर इच्छानुसार प्रक्षेपण कर ऐसे कौतुकों को जन्म भी दिया जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं—कुण्डलिनी योग की तमाम जितनी भी साधनायें हैं—उसका एकमात्र केन्द्र है मस्तिष्क और उसके विज्ञान के मूल में है वही विद्युत् शक्ति जिसकी खोज आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं।

० ० ०

कुण्डलिनी साधना-भूमि में भौतिक शरीर, भाव शरीर और सूक्ष्म शरीर का प्रारम्भ में सर्वाधिक महत्त्व है। इन तीनों शरीरों की मैंने भौतिक विज्ञान और योग विज्ञान के समन्वय से विवेचना की है। अतः इस विवेचना से आगे

के विषयों को समझने में सरलता होगी—ऐसा मेरा विश्वास है। इन तीनों शरीरों के बाद है चौथा मनोमय शरीर। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि मन, मनःशक्ति और मनोमय शरीर इन तीनों का कुछ खास अन्तर पर भेद किया जा सकता है। जिसे हम 'मन' कहते हैं—उसका अपना अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैसे परमात्मा के बाद आत्मा का महत्त्व है, उसी प्रकार आत्मा के बाद 'मन' का मूल्य और महत्त्व है। वैसे हम मन के सम्बन्ध में पीछे बहुत कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ केवल हमें इतना ही कहना है कि जिन तीनों शरीरों की चर्चा ऊपर की गयी है—उनमें प्रथम भौतिक शरीर मन से अधिक प्रभावित होता है। मगर उससे भी कहीं अधिक प्रभावित होता है—भाव शरीर। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी, उतनी मन के करीब होगी और उतनी ही प्रभावित भी होगी। दोनों शरीरों की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर सबसे अधिक प्रभावित होता है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है और उसका निर्माण एस्ट्रल एटम से हुआ होता है। इसलिए मेन्टल एटम का प्रभाव निकट होने के कारण एस्ट्रल एटम पर तुरन्त और व्यापक रूप से पड़ता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर उच्च कोटि के योगीगण अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा संचरण-विचरण करते हैं। इतना ही नहीं एक ही समय में दो और उससे भी अधिक स्थानों पर प्रकट भी हुआ करते हैं। मगर इसके लिए जिस शक्ति की आवश्यकता पड़ती है वह है—मनःशक्ति ! ध्यान की उच्चतम अवस्था में जब प्राणों में मन का तादात्म्य स्थापित होता है, तब मन और प्राण के समन्वय से एक विशेष प्रकार की ऊर्जा पैदा होती है। बाद में वही ऊर्जा मनः-शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर योगी के संकल्प के अनुसार उसके सूक्ष्म शरीर को यथास्थान ले जाती है। वैसे सूक्ष्म शरीर दिखलायी तो नहीं पड़ता, लेकिन योगी चाहे तो उस पर भौतिक परमाणुओं का आरोपण कर कुछ समय के लिए भौतिक शरीर का रूप दे सकता है। इस स्थिति में योगी का भौतिक शरीर अपने स्थान पर पड़ा रहता है और अपना काम भी करता रहता है।

मन अन्तर्जगत और बहिर्जगत—दोनों का अधिकारी और स्वामी है। दोनों जगत् में उसका राज्य है। मगर वह जितना बाहरी जगत् में फैलता जायेगा और बिखरता जायेगा उतनी ही उसकी शक्ति कमजोर, शिथिल और क्षीण होती जायेगी। यह तभी संभव होता है जबकि हम बहुत ज्यादा इच्छायें करने लग जाते हैं। तमाम भौतिक इच्छायें ही हमारे मन को कमजोर और शिथिल करती हैं। जो जितनी कम इच्छाएँ रखेगा उसका मन उतना ही शक्तिशाली होगा।

इच्छाओं का अभाव हमें भीतर ले जाता है। हम जितना भीतर की ओर उन्मुख होंगे उतनी ही अधिक मन की शक्ति बढ़ेगी। आपको मालूम होना चाहिए कि जिसे हम जीवन ऊर्जा कहते है—उसका मूलस्रोत एकमात्र आत्मा है। जीवन ऊर्जा की ही शक्ति 'आत्मशक्ति' है। यह जीवन ऊर्जा एक के बाद

एक कर पाँचों शरीर से ढँकी होती है। इस जीवन ऊर्जा से सबसे पहले प्रभावित होता है मनोमय शरीर। उसके बाद सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर के बाद क्रम से प्रभावित होता है भाव शरीर और फिर भौतिक शरीर। जीवन ऊर्जा के मूलस्रोत आत्मा को स्वयं उसी की शक्ति से निर्मित 'आत्म शरीर' ढके हुए है। इस प्रकार क्रम से पाँचों शरीरों को पार कर आने वाली जीवन ऊर्जा की शक्ति भौतिक शरीर में काफी क्षीण हो जाती है। उसका केवल एक अल्पांश ही प्रकट हो पाता है—भौतिक शरीर में। यही कारण है कि अपने भौतिक शरीर पर हमारा जितना कि हम चाहते हैं—उतना अधिकार नहीं हो पाता। मगर हम जितना अधिक इच्छारहित होकर मन को संयमित और एकाग्र कर भीतर प्रवेश करेंगे उतना ही अधिक हमारा अपने शरीर पर अधिकार भी बढ़ता जायेगा।

हम आपको यह बतला चुके हैं कि भौतिक शरीर का सूक्ष्म रूप है—भाव शरीर! और भाव शरीर का है सूक्ष्म शरीर। 'सूक्ष्म शरीर' यानी एस्ट्रल बॉडी। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का भी सूक्ष्म शरीर है—मनोमय शरीर यानी मेण्टल बॉडी। अब तक पदार्थ और मन को यानी कि 'मैटर एण्ड माइण्ड' को इस सार्वभौम सिद्धान्त पर अलग-अलग समझा जाता रहा है कि जो 'मन' है वह पदार्थ नहीं है और जो पदार्थ है वह 'मन' नहीं है। मन और पदार्थ—दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। मगर यह सिद्धान्त पुराना हो चुका है। जबसे वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मजगत् का अध्ययन करना शुरू कर दिया है, तब से इस दिशा में एक नये सिद्धान्त ने जन्म लिया है। जिसके अनुसार जिसे पदार्थ (मैटर) कहा जाता है—वह मन (माइण्ड) का ही एक सघन और घनीभूत रूप है। मन और पदार्थ में सिर्फ इतना ही भेद है, जितना कि पानी और बर्फ में होता है। वास्तव में मन पदार्थ का सूक्ष्म से सूक्ष्मतम अंश है, हिस्सा है। इसीलिए आयुर्वेदशास्त्र और योगशास्त्र में 'मन' को भी एक प्रकार से 'पदार्थ' के रूप में स्वीकार किया गया है। मन का परिवर्तित रूप पदार्थ और पदार्थ का परिवर्तित रूप मन है। बाहर से तो दोनों भिन्न हैं मगर भीतर से एक है। किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है उन दोनों में। योगशास्त्र में मस्तिष्क और 'मन' अलग-अलग हैं। मगर भौतिक विज्ञान 'माइण्ड' को ही मन कहता है। वास्तव में मस्तिष्क 'मन' का केन्द्र है। मन और पदार्थ के बीच में कर्म की योजना है। किसी भी पदार्थ के निर्माण के पूर्व मस्तिष्क में उसके प्रारूप की काल्पनिक सृष्टि होती है। उस सृष्टि में पदार्थों का जो रूप उभरता है, वह रूप उस पदार्थ का सूक्ष्म रूप होता है। उसे हम पहले पदार्थ का काल्पनिक रूप समझते हैं और बाद में वही कालान्तर में जब संकल्प-शक्ति और विचार शक्ति से युक्त हो जाता है, तो उसे ही हम पदार्थ का मानसिक अथवा वैचारिक रूप कहने लग जाते हैं।

० ० ०

मनोमय शरीर सूक्ष्म शरीर से भी अधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली और गतिमान होता है। आत्मा के निकट होने के कारण यदि मनोमय शरीर की साधना की जाय, तो वह अतितीव्र वेग से अन्तर्जगत में प्रवेश करेगा। जब कभी योगी लोग सूक्ष्म शरीर से कोई काम लेते हैं, तो उस समय मनोमय शरीर भी सूक्ष्म शरीर के साथ रहता है—मगर निष्क्रिय रहता है। इसी प्रकार वे जब मनोमय शरीर से काम लेते हैं तो आत्मशक्ति युक्त आत्मशरीर भी मनोमय शरीर के साथ रहता है—मगर निष्क्रिय।

सन् १९७० के पूर्व गिरिनार में एक महात्मा रहते थे। वे आकाशचारी थे। सूक्ष्म शरीर से संचरण-विचरण किया करते थे। नाम था माहेश्वरानन्द। पटाचारा से ही माहेश्वरानन्द के सम्बन्ध में मुझे जानकारी मिली थी। पटाचारा ने उनका विवरण देते हुए मुझे बतलाया था कि वे एक ही समय में कई स्थानों पर प्रकट हो जाया करते हैं। इसके अलावा भी उनमें कई अलौकिक सिद्धियाँ हैं।

यह सब सुनकर माहेश्वरानन्द से मिलने का लोभ संवरण न कर सका मैं और फिर एक दिन चल पड़ा मैं गिरनार की ओर! सावन-भादों का महीना था। जब मैं जूनागढ़ स्टेशन पर उतरा—उस समय साँझ की स्याह वेला धीरे-धीरे फैल रही थी। सारा आकाश काले बादलों से आच्छादित था। मैंने आसमान की ओर देखा और फिर शंकित होकर अपने आप बोल पड़ा, 'पानी आयेगा।'

माहेश्वरानन्द गिरिनार में कहाँ और किस स्थान पर रहते हैं? यह तो मुझे पटाचारा ने बतलाया ही नहीं था। अब! अब क्या होगा? गिरिनार की मीलों तक फैली घाटियों और घने जंगलों में कहाँ खोजूँगा माहेश्वरानन्द को! कहाँ मिलेंगे वे मुझको? स्टेशन के बाहर निकल कर यही सब सोच रहा था मैं खड़ा होकर। तभी बारिश होने लगी। पहले टप-टप कर बूँदें टपकीं, फिर झर-झर कर बरसने लगा आसमान। उद्दाम हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा, बारिश की लय के साथ। अचानक वातावरण को मथती हुई विद्युत्-वाणी गरज कर शान्त हो गयी और उसी के क्षणिक प्रकाश में मैंने देखा—एक लम्बी-चौड़ी काठी का व्यक्ति मेरे सामने खड़ा है। कब और किधर से आकर खड़ा हो गया था वह, मेरी समझ में नहीं आया।

सफाचट सिर, दाढ़ी-मूँछ भी सफाचट, गौरवर्ण, लम्बा कद, शरीर पर सिल्क का ढीला-ढाला कुर्त्ता और ब्रासलेट की धोती। गले में मोतियों, स्फटिक और रुद्राक्ष की मालायें और हाथों की उँगलियों में कीमती पत्थरों की अँगूठियाँ। यह थी उस अपरिचित व्यक्ति की वेश-भूषा। उसके चेहरे पर तेज था और आँखें भी ज्योतिर्मयी थीं। उसने मेरी ओर देखते हुए आहिस्ते से किन्तु गम्भीर स्वर में पूछा—'आप बनारस से आये हैं'?

जी, जी हाँ ! बनारस से ही आना हुआ है मेरा । मगर आप.....'

मेरे वाक्य को पूरा होने के पहले ही वह फिर प्रश्न कर बैठा—आप माहेश्वरानन्द से मिलने के लिए आये हैं न ?

वह व्यक्ति कैसे जान गया कि मैं बनारस से आया हूँ और माहेश्वरानन्द से मुझे मिलना है ! आश्चर्यचकित होकर मैंने एक बार उसकी ओर देखा और फिर चेहरे पर पड़ी बारिश की बूँदों को रूमाल से पोंछते हुए कहा—'हाँ ! आया तो हूँ उन्हीं से मिलने...मगर वे रहते कहाँ हैं ? यह मुझे मालूम नहीं है । अब क्या करूँ ? यह समझ में नहीं आ रहा है । फिर बारिश भी तो हो रही है इस समय । मेरी बात सुनकर एकबारगी हँस पड़ा वह व्यक्ति । फिर बोला—'आप चिन्ता न करें ! मैं आपको माहेश्वरानन्द के स्थान पर पहुँचा दूँगा' ।

'एं क्या कहा आपने' ? चौंक पड़ा मैं । क्या आप माहेश्वरानन्द को जानते हैं ? आश्चर्यचकित होकर बोला मैं ।

'जी हाँ ! मैं उन्हें जानता हूँ । चलिये, आइये आप मेरे साथ' । श्यामल आकाश का वक्ष चीरती हुई बिजली फिर चमकी और उसी के साथ बारिश की गति भी तेज हो गयी । विस्मय और संशय के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन । उस निविड़ गीली रात में उस अपरिचित व्यक्ति का संसर्ग बड़ा ही रहस्यमय और विचित्र लगा मुझे । मगर दूसरे ही क्षण विवश हो गया मैं । मन-प्राण एकबारगी स्तम्भित से हो उठे । किसी अज्ञात सम्मोहन के वशीभूत होकर चल पड़ा मैं उस व्यक्ति के पीछे-पीछे । फिर घंटों तक लगातार चलने के बाद मैं उसके साथ एक हवेलीनुमा मकान में पहुँचा । आश्चर्य की बात तो यह थी कि इतनी दूर चलने के बावजूद भी बारिश में न मैं भीगा था और न वही व्यक्ति भीगा था ।

वह काफी पुरानी हवेली थी । भीतर खूब प्रकाश हो रहा था और उसी प्रकाश में मैंने देखा—बहुत सारी युवतियाँ एक काफी लम्बे-चौड़े कमरे के फर्श पर मृगचर्म का आसन बिछाये बैठी हुई थीं । कुछ युवक भी वहाँ बैठे थे । युवक-युवतियों के चेहरे पर शान्ति थी । वे सभी एकाग्र मन से और स्थिर चित्त से सामनें बने सफेद संगमरमर के एक गोल से चबूतरे की ओर निहार रहे थे । मैंने भी चबूतरे की ओर देखा । वहाँ पहले कुछ नहीं था । मगर बाद में धीरे-धीरे वहाँ सुनहरा-सा प्रकाश फैलने लगा । वह काफी प्रगाढ़ प्रकाश था । एक सीमा तक फैलने के बाद वह गोलाकार रूप में बदल गया । उस समय उसमें से विभिन्न वर्णों की रश्मियाँ प्रस्फुटित होने लगी थीं । सहसा मेरा सिर घूम गया । देखा, वह व्यक्ति मेरे निकट खड़ा मुझसे कह रहा था—सामने जो प्रकाश बिम्ब आप देख रहे हैं, उसी में से माहेश्वरानन्द प्रकट होंगे । हे भगवान् ! उसका कहना बिलकुल सही था । कुछ ही क्षणों के बाद

मैंने देखा—वह प्रकाश वृत्त मानवाकार रूप में परिवर्तित होने लगा। अब मेरे सामने माहेश्वरानन्द थे। मगर यह क्या? एकबारगी चौंक पड़ा मैं। उनका रूप, रंग और आकार-प्रकार बिलकुल उसी व्यक्ति से मिलता-जुलता-सा लगा मुझे—जो मिला था मुझसे स्टेशन पर और जो मुझे ले आया था अपने साथ वहाँ उस मकान में। मैंने पलट कर देखा। स्तब्ध रह गया मैं। वह व्यक्ति अभी भी मेरे पास खड़ा था और मुस्करा रहा था। मगर दूसरे क्षण गायब हो गया वह। समझते देर न लगी मुझे। वे माहेश्वरानन्द ही थे। एक ही समय में वे दो स्थानों पर प्रकट हुए थे।

मैं चुपचाप खड़ा अपलक दृष्टि से माहेश्वरानन्द की ओर निहार रहा था। तभी वहाँ का सारा वातावरण बदल गया। वे युवक-युवतियाँ अब वहाँ नहीं थे। प्रकाश भी लुप्त हो चुका था। मुझे लगा कि मैं किसी पहाड़ी गुफा में हूँ। चारों ओर नजर घुमा कर देखा। सचमुच वह गुफा ही थी। गहन अंधकार में डूबी हुई थी वह रहस्यमयी गुफा। किसी प्रकार टटोलता हुआ आगे बढ़ने लगा मैं। काफी दूर चलने के बाद मुझे खुली जगह मिली। वह जगह चारों ओर से पहाड़ों से घिरी हुई थी। शायद रात का अन्तिम प्रहर था। बादल छँट चुके थे। पूरब का आसमान धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। थोड़ी ही देर बाद दिन के प्रकाश में मैंने देखा कि जिस गुफा से होकर मैं उस मैदान में निकला था—उसका एक सिरा पहाड़ की दूसरी ओर था। काफी लम्बी और सँकरी थी वह रहस्यमयी गुफा। जिस हवेलीनुमे मकान में मैंने वह अविश्वसनीय दृश्य देखा था—उसी के भीतर से मार्ग था गुफा में प्रवेश करने का। रात को मैंने जो कुछ देखा था—वह विचित्र और रहस्यमय था। अभी भी मेरे मस्तिष्क में तैर रहे थे सारे दृश्य—मैं उसी में खोया हुआ था और साथ-ही-साथ गुफा से बाहर भी निकलने के लिए सोच रहा था। तभी मेरी नजर पहाड़ की तलहटी की ओर घूम गयी। देखा वहाँ एक बुढ़िया बैठी हुई थी। उस वीरान सुनसान इलाके में वह बुढ़िया मुझे अत्यन्त रहस्यमयी लगी। उत्सुकतावश धीरे-धीरे चलकर मैं जब उसके करीब पहुँचा, तो उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में झील जैसी गहरायी और कब्रिस्तान-सी खामोशी थी। काफी देर तक वह अपनी उदास और सूनी आँखों से मेरी ओर देखती रही। उसके चेहर पर अनगिनत झुर्रियाँ थीं। सन जैसे सफेद बाल धूल से सने थे और उलझे हुए थे। शरीर पर टाट का चादर लपेट रखी थी।

मैं कुछ बोलूँ, कुछ पूछूँ कि उसके पहले ही बुढ़िया खीं-खीं कर हँस पड़ी और उसी मुद्रा में बोली—कौन है तू ! यहाँ क्या करने आया है···'

क्या जबाब दूँ मैं? समझ में नहीं आया। बस चुपचाप खड़ा रहा और बुढ़िया की गतिविधि देखता रहा। उसी समय न जाने कहाँ से, किधर से दर्जनों मुर्गे उड़-उड़ कर वहाँ आ गये। सभी मुर्गों का रंग काला था और वे

आपस में लड़ रहे थे। उसी समय बुढ़िया अपनी जगह से उठी और मुर्गों को पकड़-पकड़कर खाने लगी। बड़ा ही बीभत्स और रोमांचकारी दृश्य था वह। बुढ़िया मुर्गों के पंखों को वैसे ही नोचती जिस तरह कपड़ा और कागज फाड़ा जाता है। थोड़ी ही देर में नुचे हुए पंखों का ढेर लग गया वहाँ। बुढ़िया ने जब सारे मुर्गों को खा लिया, तो फिर उसकी नजर मुझ पर पड़ी और मुझे पूर्ववत् खड़ा देखकर उसके चेहरे पर आश्चर्य का भाव उभर आया। उसका चेहरा खून से सना हुआ था और कहीं-कहीं छोटे-छोटे पर चिपके हुए थे। बड़ा ही भयानक और बीभत्स लग रहा था उस समय उसका रूप। समझते देर न लगी। निश्चय ही वह कोई ऊँची पहुँची हुई अघोरिन या कापालिक भैरवी थी।

'अभी तक यहाँ क्यों खड़ा है रे ! भाग जा यहाँ से—बुढ़िया चीख कर बोली। फिर बिखरे हुए पंखों को बटोरने लगी।

न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं भी झुककर जमीन पर बिखरे उन पंखों को दोनों हाथों से इकट्ठा करने लगा।

बुढ़िया फिर हँस पड़ीं खीं-खीं कर। बोली—तू यहाँ क्यों मरने आ गया है रे ! कल्याण चाहता है, तो चला जा यहाँ से। जाकर गृहस्थी कर। संसार बसा अपना।

मैं बोला—माँ ! मुझे गृहस्थी ही करनी होती और संसार ही बसाना होता तो सत्य की खोज के लिए साधु-संन्यासियों के चक्कर में क्यों दर-दर की खाक छानता ?

मेरी बात सुनकर बुढ़िया क्रोध से काँपने लगी। लाल-लाल आँखों से मेरी ओर घूरती हुई कहने लगी—'बदमाश, लुच्चा !···मैं तेरी माँ हूँ। मैं माँ लगती हूँ तेरी ! खबरदार। फिर कभी कहा तूने मुझे माँ···।'

'माँ नहीं तो फिर तुम कौन हो ?' न जाने कैसे बोल गया मैं यह वाक्य ! जिसे सुनकर बुढ़िया का क्रोध और अधिक बढ़ गया। बाज की तरह झपट पड़ी मुझ पर वह और भद्दी-भद्दी गालियाँ देने लगी। गाली देने के साथ ही साथ अपने शरीर को दोनों हाथों से रगड़ने भी लगी। फिर उसने शरीर से लिपटी हुई टाट की चादर को उतारकर फेंक दिया जमीन पर।

हे भगवान् ! यह क्या ? स्तब्ध और अवाक् रह गया मैं। बुढ़िया मेरे सामने नहीं थी अब ! उसका अस्तित्व तिरोहित हो चुका था मेरे सामने से। उसकी जगह मैं एक युवती को देख रहा था। उफ् ! कितनी सुन्दर और आकर्षक थी वह युवती ? बतला नहीं सकूँगा। साक्षात् देवकन्या-सी लग रही थी वह। सोलह-सतरह साल से अधिक आयु नहीं थी उस युवती की। उसके अपने रूप-रंग का वर्णन कैसे करूँ ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है। सचमुच वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है।

मेरी ओर देखकर मुस्करा रही थी वह और फिर उसी मुद्रा में बोली—'अब बतला ! मैं तेरी माँ जैसी लग रही हूँ...।'

उत्तर में मुझसे कुछ बोला न गया। कुछ कहा भी न गया। मेरे सामने तो एक ऐसी विलक्षण और अविश्वसनीय घटना घट गयी थी, जिसकी कभी सपने में भी कोई कल्पना नहीं कर सकता। स्तब्ध और अवाक्-सा बस देखता रह गया मैं उस युवती की ओर।

अच्छा, तू मानेगा नहीं ! आ चल मेरे साथ। युवती ने इतना कहकर मुझे अपने पीछे चलने के लिए संकेत किया। विरोध न कर सका मैं। सम्मोहित-सा चल पड़ा युवती के पीछे-पीछे। वह मुझे गुफा के भीतर ले गयी। लगभग बीस-पच्चीस कदम चलने के बाद बायीं ओर एक पत्थर का दरवाजा दिखलायी दिया। उसके साथ मैं भी उसी में प्रवेश कर गया। काफी अन्धकार था। किसी प्रकार टटोल-टटोल कर आगे बढ़ रहा था मैं। आगे सीढ़ियाँ थीं। जिससे उतरकर मैं एक काफी लम्बे-चौड़े हाल में पहुँचा। मगर वहाँ अन्धकार नहीं था। खूब प्रकाश हो रहा था हाल में। पूर्णिमा की चाँदनी जैसा शुभ्र प्रकाश था वह। मगर वह आ कहाँ से रहा था—यह समझ न पाया मैं। युवती मुझसे बिलकुल सट कर चल रही थी। कभी-कभी जब उसके शरीर का स्पर्श हो जाता, तो सिहर-सी उठती मेरी आत्मा। एक विचित्र-सी अनुभूति होती मुझे।

हाल के एक ओर काफी लम्बा-चौड़ा संगमरमरी चबूतरा था। जब मैं नजदीक पहुँचा, तो देखा—उस विशाल चबूतरे के ऊपर श्मशानकाली की एक आदमकद मूर्ति खड़ी थी। बड़ी ही रहस्यमयी और विलक्षण मूर्ति थी वह। मूर्ति के नीचे श्मशानभैरव की मूर्ति थी। जिसकी छाती पर श्मशान काली का बायाँ पैर रखा हुआ था और दाहिना पैर भूमि पर था। अट्टहास करती हुई श्मशान काली की प्रतिमा बिलकुल सजीव प्रतीत हो रही थी।

श्मशान काली की वैसी विलक्षण और विचित्र प्रतिमा कहीं भी मुझे देखने-सुनने को नहीं मिली थी। निश्चय ही वह मध्ययुग की थी और किसी कापालिक तन्त्र साधक द्वारा उस गुफा के गर्भगृह में स्थापित की गयी थी। प्रतिमा के ठीक सामने बलि यूथ बना हुआ था—जिस पर ताजे खून के धब्बे लगे हुए थे। निश्चय ही वह मानव-रक्त था और निस्सन्देह वहाँ कुछ समय पहले नरबलि हुई होगी। एकाएक मेरा सारा शरीर एकबारगी रोमांचित हो उठा और भय से काँप उठी मेरी आत्मा। हे परमात्मा ? कहाँ आकर फँस गया मैं। कहीं मेरी भी तो बलि नहीं हो जायेगी यहाँ...? भय और संशय से चारों ओर देखने लगा मैं सिर घुमा-घुमाकर। मगर मुझे वहाँ कोई नजर न आया। वह युवती भी मुझे वहाँ अकेला छोड़कर गायब हो गयी थी। बाहर निकलने के लिए मैं चारों

ओर चक्कर काटने लगा—मगर मुझे हाल के बाहर निकलने का रास्ता कहीं नजर न आया। निश्चय ही मैं किसी कापालिक के इन्द्रजाल में बुरी तरफ फँस गया था।

मैं अकेला था। यदि मेरा कोई साथी था, तो केवल पत्थर की वह प्रतिमा। थक कर बैठ गया मैं प्रतिमा के सामने और निर्निमेष दृष्टि से निहारने लगा मैं माँ महामाया की प्रतिमा की ओर। न जाने कब किस क्षण झपकी लग गयी मुझे और गहरी नींद में सो गया मैं।

प्रकरण : अड़तीस

मानसिक जगत् और विचारशक्ति

जड़, चेतन और धर्म विज्ञान के सम्बन्ध में मैंने पिछले प्रकरण में संक्षेप में चर्चा की थी। लोग साधारणतः जड़ और चेतन को अलग-अलग समझते हैं, मगर वास्तव में ऐसी भिन्नता है नहीं। हम-आप जिसे जड़ कहते हैं—वह एक प्रकार से मूर्च्छित चेतना ही है और जिसे हम-आप 'चेतना' कहते हैं—वह जाग्रत् जड़ है। जब कोई 'जड़' संज्ञावाचक हो जाता है और जो तत्त्व या पदार्थ क्रियाशील रहता है उसे चेतन की संज्ञा दे दी जाती है। मूल में तो दोनों एक ही हैं। मूल में कोई भिन्नता नहीं है दोनों में। जो जड़ है, वह चेतन भी है और जो चेतन है वह जड़ भी है। पदार्थ की गहरायी में जब आप प्रवेश करेंगे, तो पायेंगे कि पदार्थ का अस्तित्व विलीन हो गया है और केवल मात्र रह गयी है पदार्थ की ऊर्जा। अणु के विस्फोट होने पर केवल ऊर्जा के कण शेष रह जाते हैं। इसी प्रकार 'परमाणु' के विस्फोट होने पर शेष रह जाते हैं—एलेक्ट्रान, प्रोटोन और न्यूट्रान के विद्युत् चुम्बकीय कण। यहाँ 'कण' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'कण' कहने से पदार्थ का बोध होता है। ऊर्जा पदार्थ की सीमा के बाहर की वस्तु है, इसलिए वैज्ञानिक कण के स्थान पर 'क्वाण्टा' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'क्वाण्टा' का अर्थ कण, लहर और तरंग है। इसका अर्थ पदार्थ का वह रूप है, जिसमें वह सूक्ष्म होकर तरंग या लहर के रूप में परिणत हो जाता है।

विज्ञान जब अपनी खोज एवं विश्लेषण की सीमा पर पहुँचा, तो उसने पाया कि सब कुछ ऊर्जा है। ऊर्जा के सिवाय और कुछ भी नहीं है। धर्म अथवा अध्यात्म जब अपनी खोज और विश्लेषण की चरम सीमा पर पहुँचा, तो उसने पाया कि केवल आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आत्मा ही एनर्जी है। आत्मा ही ऊर्जा है। आत्मा का ही एक भाग घनी-भूत रूप ऊर्जा है।

धर्म और विज्ञान अथवा अध्यात्म और विज्ञान की चरम उपलब्धि एक ही है और वह है—ऊर्जा अथवा आत्मा। एक अपनी उपलब्धि को ऊर्जा कहता है, तो दूसरा कहता है आत्मा। आत्मा ऊर्जा है और ऊर्जा आत्मा है। यह समन्वय और यह निष्कर्ष अध्यात्म अथवा धर्म और विज्ञान के बीच की दूरी को समाप्त कर देता है। पदार्थ और ऊर्जा के फासले को समाप्त कर देता है। जड़ और चेतन के फासले को भी समाप्त कर देता है। जड़ और चेतन को हम जब तक अलग समझेंगे, तब तक धर्म और विज्ञान के बीच भी भेद करते

रहेंगे। जब जड़ और चेतन में भेद नहीं है, तो धर्म और विज्ञान में कैसे भेद रह सकेगा ?

पदार्थवाद और अध्यात्मवाद में विषमता नहीं, समानता है। समानता इस बात में है कि दोनों एक को ही स्वीकार करते हैं। असमानता केवल इस बात में है कि पदार्थवादी लोग किसी भी वस्तु के प्राथमिक रूप को ही मान लेते है, जबकि आध्यात्मिक अथवा अध्यात्मवादी लोग वस्तु के अन्तिम रूप को मानते हैं और उसको स्वीकार करते हैं। पदार्थवादी प्राथमिक को स्वीकार करते हैं, इसलिए 'अन्तिम' से वंचित रह जाते हैं। मगर अध्यात्मवादी जिस 'अन्तिम' को स्वीकार करते हैं, उसमें 'प्राथमिक' रूप स्वयं अपने आप उन्हें उपलब्ध हो जाता है। बस इतनी ही विषमता है और इतनी ही असमानता है। पदार्थवाद सूखा-सूखा सा लगता है, जबकि अध्यात्मवाद में रस है, आनन्द है, इसलिए कि उसकी दृष्टि में सब चेतन हैं। सब कुछ 'चेतनमय' है। उसके लिए विश्व का समग्र अस्तित्व, समस्त पदार्थ और समस्त वस्तु चेतन है। चेतनमय है। उसके लिए आत्मा परम चेतन है और मन चेतन है। परम चेतन का महत्त्वपूर्ण सक्रिय रूप मन है। मन के कई रूप हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार---ये बाहर से अलग दिखलायी देते हैं, मगर वास्तव में अलग हैं नहीं। ये भिन्न नहीं अभिन्न हैं। मन अनेक रूप में व्यवहार करता है। जब 'मन' में यह भाव आ जाता है कि वही सब कुछ है, तो वह 'अहंकार' कहलाता है—यह मन का एक रूप है। जब मन किसी विषय पर सोच-विचार करता है, तो उसे 'बुद्धि' कहा जाता है—यह मन का दूसरा रूप है। जब मन चिन्तन-मनन से रहित, विचार से रहित होकर किसी भावना के तरंग में बहता रहता है, तो उसे 'चित्त' कहते हैं। मन का यह तीसरा रूप है। जब मन किसी दिशा में किसी उद्देश्य को लेकर सोचता है, तब उसे बुद्धि या 'मति' कहते हैं। मति का ही सघन रूप विवेक है। जब मन निर्लक्ष्य-निरुद्देश्य सोचता-विचारता और दिवास्वप्न देखता है, तो भी उसे चित्त कहते हैं।

आत्मा की विक्षुब्ध अवस्था को ही मन कहते हैं। जब मन शान्त हो जाता है और उसमें किसी भी प्रकार की विक्षुब्धता नहीं रहती, तब वह आत्मा कहलाता है। सारांश यह कि आत्मा की विक्षुब्ध और अस्थिर अवस्था 'मन' है और मन की शान्ति व निर्विकार अवस्था है आत्मा। बस इतना-सा अन्तर है मन और आत्मा में। मन और आत्मा—चेतना के ही दो रूप हैं। जो रूप शान्त है वह है आत्मा और जो चंचल, अस्थिर और विक्षुब्ध रूप है—वह है मन। हमारे भीतर चेतना का अस्थिर और विक्षुब्ध भाग सबसे अधिक है, इसीलिए 'मन' के अस्तित्व का बोध हमें हमेशा और बराबर होता रहता है। आत्मा के अस्तित्व का बोध इसी विक्षुब्धता, अस्थिरता और चंचलता के कारण हमें नहीं हो पाता। जब तक हमें मन का बोध होता रहेगा तब तक आत्मा के अस्तित्व का बोध कदापि न होगा।

विक्षुब्ध मन के कारण हमारे भीतर हर समय विचारों, भावों और संकल्प-विकल्प के तूफान उठते रहते हैं। जब तक यह तूफान शान्त न होगा, मन शान्त न होगा और तब तक हम 'आत्मा' के अस्तित्व से परिचित न हो सकेंगे। आत्मा का बोध नहीं कर सकेंगे। आत्मा की अनुभूति भी प्राप्त न कर सकेंगे।

मन की अस्थिरता, विक्षुब्धता और चंचलता कैसे समाप्त हो और कैसे आत्मा में अस्तित्व का बोध हो ?

इसके लिए मात्र केवल एक मार्ग है, एक उपाय है और वह है—'ध्यान'। 'ध्यान' में मन का अस्तित्व डूब जाता है। खो जाता है। लीन हो जाता है। मन में उठने वाली लहरें-तरंगें समाप्त हो जाती हैं और तब 'आत्मा' के अस्तित्व का बोध होता है। आत्मा की अनुभूति होती है और तब हमें मालूम होता है कि हम आत्मा हैं, हम आत्मस्वरूप हैं। शरीर, मन और आत्मा तीनों एक ही हैं। एक के द्वारा दूसरे का ज्ञान व बोध होता है। जैसे बीज वृक्ष और फल-फूल एक ही वस्तु के, एक ही सत्ता के विभिन्न रूप हैं, उसी प्रकार एक ही चेतना के शरीर, मन और आत्मा विभिन्न रूप हैं। तत्त्व एक ही है, लेकिन उसकी अभिव्यक्तियाँ अनन्त हैं। सत्य एक ही है, लेकिन उसके रूप अनेक हैं। अस्तित्व भी एक ही है, लेकिन उसके रूप और उसकी मुद्रायें विभिन्न हैं—शरीर और मन के बीच तथा मन और आत्मा के बीच। इसी तरह आत्मा और परमात्मा के बीच—अन्तर अथवा फासला सिर्फ बनाता है हमारा विचार। एकमात्र विचार ही दो के बीच फासला बनाता है। इसलिए कि विचार एक साथ समग्र को, सम्पूर्ण को एक ही समय में नहीं समेट सकता। विचार की गति तीव्र होती है। हमारा मन उसके बहुत ही छोटे से अंश को पकड़ पाता है और जितने अंश को पकड़ पाता है, उसी के द्वारा हम सत्य को खोजते हैं।

यही कारण है कि सत्य हमें पूर्ण रूप से नहीं, बल्कि खण्ड-खण्ड कर दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार जैसे हम किसी छोटे से छिद्र में से किसी विशाल महल या किला को देखें। मुझे पूरा महल या किला नहीं दिखलायी देगा, उस छिद्र में से। कभी दरवाजा दिखलायी देगा, तो कभी खिड़की, तो कभी बरामदा। एक साथ सब दिखलायी नहीं देगा। कभी कुछ, कभी कुछ तो कभी और कुछ दिखलायी देगा। समझ लें 'विचार' उसी छिद्र के समान है, जिसमें से हमें सत्य खण्ड-खण्ड रूप में अलग-अलग रूप में दिखलायी देता है।

'ध्यान' हमें विचार रहित कर देता है। ध्यान हमें 'निर्विचार' की अवस्था में ले जाता है। जब हम ध्यान के द्वारा विचार से निर्विकार की अवस्था में पहुँचते हैं, तो सत्य हमें समग्र रूप में दिखलायी पड़ता है। बड़ी ही विचित्र अनुभूति होती है हमें उस समय—जब सत्य पूर्ण रूप से समग्र रूप में हमें दिखलायी पड़ता है। 'एक' 'अनन्त' और 'अनन्त' 'एक' होकर दिखलायी देता

है उस अवस्था में। सारांश यह कि सत्य हमें विराट् रूप में, विस्तृत रूप में, व्यापक रूप में दिखलायी पड़ता है।

० ० ०

'एस्ट्रल एटम' की चर्चा मैंने पीछे की है। अतः एस्ट्रल एटम जब टूटता है, विखण्डित होता है, तो वह विचार तरंग यानी 'थाट वेव्ज' बन जाता है। जिसे वैज्ञानिक 'क्वाण्टा' कहते हैं। उसमें और थाट वेव्ज में काफी निकटता पायी जाती है। दोनों बिलकुल नजदीक हैं। वैज्ञानिकों की अब तक यही धारणा थी कि विचार का कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। मगर अब उन्हें यह धारणा बदलनी पड़ी और यह स्वीकार करना पड़ा कि विचारों का भी किसी-न-किसी रूप में अपना भौतिक अस्तित्व है।

आप विचार करते हैं। विचार करते ही आपके चारों तरफ का वायुमण्डल तरंगित हो उठता है। विचार वायुमण्डल में तरंगें बनाने लग जाता है। आपके ठोस महत्त्वपूर्ण एवं सोद्देश्य विचार लम्बी तरंग बनायेंगे। उनसे एकरूपता रहेगी। स्थिरता भी रहेगी। आप यदि कोई ऐसा विचार कर रहे हैं; जिसमें हीन भावना है। हलकापन है। बिना उद्देश्य का है। भद्दे हैं वह विचार। तो इस स्थिति में आपका ऐसा विचार वायुमण्डल में टेढ़ी-मेढ़ी तरंगें बनायेगा। उस तरंग में एकरूपता न होगी। स्थिरता भी न होगी। उसका रूप भी बिखरा-बिखरा सा रहेगा। उसका न कोई रूप होगा और न कोई आकार।

आपके विचार शब्द रूप में बाहर निकलते हैं। विचार का भौतिक रूप अथवा प्रकट रूप ही शब्द है। शब्द रूप में प्रकट विचार बाद में पुनः लौटकर विचार का ही रूप धारण कर लेता है। शब्द की अपनी शक्ति है। जिसके आधार पर तन्त्रशास्त्र के 'मन्त्र विज्ञान' का निर्माण हुआ है। मन्त्र विज्ञान के मूल में शब्दशक्ति ही है। शक्ति के आधार पर मन्त्र-भेद किये गये हैं। वैदिक मंत्रों में जिन शब्दों की संयोजना होती है, उनकी शक्ति अलग होती है। इसी प्रकार पौराणिक व तांत्रिक मन्त्रों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनकी शक्ति अलग हुआ करती है।

शब्दशक्ति के आधार पर शब्दों का वर्गीकरण होता है और वर्गीकरण के आधार पर मन्त्रों का आविर्भाव होता है। मैंने एक पुस्तक लिखी है। नाम है—'शब्दशक्ति और मन्त्र-विज्ञान'। इस पुस्तक द्वारा मन्त्र विज्ञान पर काफी प्रकाश पड़ता है। मन्त्र के वास्तविक स्वरूप, गुण, धर्म और कर्म से भी परिचित कराता है यह ग्रन्थ। मन्त्र विज्ञान के अनुसार दृढ़ संकल्प, दृढ़ विचार और दृढ़ भावना का आश्रय लेकर किया गया मन्त्र का शब्दोच्चारण ईथर में एक ऐसा आकार-प्रकार और रूप बनाने लग जाता है, जो मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता का होता है। मन्त्र को निश्चित संख्या में जपने पर देवता का आकार जब पूरा हो जाता है, तब उस रूप में उस देवता की शक्ति प्रकट हो

जाती है और अपने निर्धारित समय पर वह शक्ति जप करने वाले व्यक्ति के कार्य को सफलीभूत कर देती है।

वेदों के मन्त्र भी शब्द-विज्ञान के इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। वेदों का अपना मौलिक विज्ञान है। जिसके अनुसार 'स्वर' और 'वर्ण' की शक्तियाँ अलग-अलग हैं। 'स्वर' में ऋण विद्युत् चुम्बकीय शक्ति है, जबकि वर्ण में धन विद्युत् चुम्बकीय शक्ति है। इन दोनों शक्तियों के समन्वय से शब्द का निर्माण होता है। शब्द मिथुनजन्य है। ऊपर के होठ स्त्रीलिंग और नीचे के होठ पुलिंग संज्ञक है। दोनों के संयोग से शब्द का उच्चारण होता है। इसीलिए शब्द को भी मिथुनजन्य कहा जाता है। तन्त्र विज्ञान में बारह स्वरों को शिव का प्रतीक बतलाया गया है। शिववाचक बारह स्वर बारह रुद्र हैं। ३६ वर्ण शक्ति के प्रतीक 'वर्णमातृकायें' हैं। सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड का निर्माण ३६ तत्त्वों से हुआ है। प्रत्येक 'वर्ण' में एक-एक तत्त्व है। तन्त्र के अनुसार शब्द ब्रह्म, बारह स्वर शक्ति और छत्तीस वर्णमातृका शक्ति का एक विराट् समन्वय रूप है। इसी से शब्दजगत् की भी रचना हुई है। शिव-शक्ति के मिथुन भाव से ३६ तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। जिनसे जहाँ एक ओर जगत् की सृष्टि हुई वहीं दूसरी ओर वे ३६ तत्त्व शब्द-निर्माण की दिशा में वर्णों के रूप में प्रकट हुए। खैर।

शब्द-विज्ञान के सम्बन्ध में आज के वैज्ञानिक भी व्यापक रूप से खोज कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक अक्षर का अपना वर्ण है, रंग है, रूप है, तरंग है, गति है और भाव है। अक्षरों के समन्वय से शब्द का निर्माण होता है। जिस शब्द में जिस अक्षर की संख्या अधिक होगी—उसी अक्षर का वर्ण, रूप, रंग, तरंग, गति आदि उस शब्द की भी होगी।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, शब्द प्रकट किया गया विचार है। अप्रकट शब्द भी अपनी गति, अपनी ध्वनि और अपना रूप-रंग रखता है—जिसको हम विचार कहते हैं। अप्रकट विचार यानी चिन्तन-मनन अथवा सोचना। जब आप किसी विषय पर चिन्तन-मनन और सोच-विचार करते हैं—उस समय भी आपके अस्तित्व के चारों तरफ एक विशेष प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय ध्वनियाँ फैलने लग जाती हैं। उनमें से कुछ ऐसी ध्वनियाँ होती हैं, जो ईथर में विद्यमान रेडियो ट्रांसमीटर से संप्रेषित ध्वनियों को भी पकड़ लेती हैं और आपके विचारों में वे ही भाव पैदा करने लग जाती हैं, जो उस समय रेडियो से संगीत के रूप में ब्रॉडकास्ट होता रहता है।

आप हर समय और हर क्षण मन में कुछ-न-कुछ सोचने-विचारते रहते हैं। कुछ-न-कुछ चिन्तन-मनन करते रहते हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि जहाँ जिस स्थान पर आप यह सब करते रहते हैं, वहाँ उस स्थान पर आपके मस्तिष्क में से उनसे सम्बन्धित ध्वनि तरंगें अदृश्य रूप में निकल-निकल कर आपके अस्तित्व के चारों तरफ वायुमण्डल में, वातावरण में बिखरती रहती

हैं। बराबर फैलती रहती हैं। वह आपकी अनुपस्थिति में भी काफी समय तक, काफी दिनों तक और काफी वर्षों तक वहाँ विद्यमान रहती हैं। आपने निश्चय ही इसका अनुभव किया होगा कि किसी व्यक्ति के निकट जाकर, किसी व्यक्ति से मिलकर आप एकाएक उदास हो जाते हैं। गम्भीर हो उठते हैं। व्याकुल और परेशान हो उठते हैं। भले ही वह व्यक्ति आपसे कुछ न बोला हो। कोई बात न की हो उसने आपसे। मगर फिर भी कोई ऐसी वस्तु है, जो आपको भीतर से जकड़ लेती है, पकड़ लेती है और आपके भीतर की सारी खुशी और सारा आनन्द गायब हो जाता है।

इसी प्रकार आप किसी व्यक्ति से मिलकर और किसी स्थान पर जाकर प्रसन्न और प्रफुल्लित हो जाते हैं। आपके भीतर की सारी खिन्नता, उदासी और कुण्ठायें गायब हो जाती हैं और अचानक आप आनन्द और शान्ति का अनुभव करने लग जाते हैं। किसी जगह जाकर किसी से मिलकर आप पवित्रता का अनुभव करते हैं। कुछ अपवित्रता भी पकड़ लेती है आपको कहीं जाकर। कहीं शान्ति मिलती है, तो कहीं अशान्ति का अनुभव करने लग जाते हैं आप। आप यह सोचने-समझने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि मैं तो अशान्त नहीं था। अपवित्र भी नहीं था। उदास और कुण्ठाग्रस्त भी न था। कैसे अशान्त हो गया? कैसे अपवित्र हो गया? कैसे उदास और कुण्ठाग्रस्त हो गया?

आप मेरे कमरे में आइये। जिस कमरे में मैं बैठता हूँ, लोगों से मिलता-जुलता हूँ और लोगों से बातें करता हूँ—आपको ऐसा ही अचानक सब कुछ अनुभव होने लगेगा। आपके कमरे में घुसते ही आप पर, आपके व्यक्तित्व पर मेरे अव्यक्त विचारों की अव्यक्त तरंगें अपना अव्यक्त प्रभाव डालने लग जायेंगी। फिर आप मुझ जैसा सोचने-विचारने और चिन्तन-मनन करने लग जायेंगे, कुछ समय के लिए। आप जो जिज्ञासा और जो प्रश्न लेकर मेरे निकट आये होंगे, उनका समाधान अपने आप हो जायेगा। अपने आप उत्तर मिल जायेगा आपके प्रश्नों का। मैं शान्त रहूँगा, तो आप भी मेरे कमरे में शान्ति का अनुभव करेंगे। यदि मैं आनन्द में रहूँगा, तो आप भी एकाएक आनन्द का अनुभव करने लग जायेंगे। यदि आप दूषित मनोवृत्ति के हैं। आपका व्यक्तित्व, आपका मन और आपकी आत्मा कृतघ्न है, पापी है, दुरात्मा है, कलुषित है, तो मुझे आपको कमरे के ही नहीं बल्कि हमेशा के लिए अपने से अलग करने में देर न लगेगी। फिर मैं यह नहीं चाहूँगा कि आप भविष्य में मेरे कमरे में आकर मेरे वातावरण को गन्दा करें और भविष्य में बराबर मुझसे सम्पर्क बनाये रखने का भी प्रयास करें। अमैं पने कमरे में ऐसी वैचारिक स्थिति पैदा कर दूँगा कि आप भाग जायेंगे। आपकी मनोभावना और मनोवृत्ति ऐसी कर दूँगा कि आप मेरे कमरे में, मेरी गली में कभी भी आने का विचार नहीं करेंगे।

इतना ही नहीं, आप मुझसे मिलने के लिए भी इच्छा नहीं करेंगे। सब विचार-तरंगों की माया है।

कुछ दिन पहले मेरे यहाँ स्थानीय तमाम प्रशासन अधिकारी आने लग गये थे। दिन भर तो वे लोग कोर्ट-कचहरी और थाना-कोतवाली में रहते थे और रात को तमाम कलुषित, दूषित और तमाम गन्दे विचारों और भावों को लेकर मेरे यहाँ शान्ति के लिए, आनन्द के लिए और सुख के लिए आध्यात्मिक मार्ग पूछने चले आते थे। जैसे गुलाब की सुगन्धमय बगिया को थोड़ी-सी भी बिष्ठा दुर्गन्धमय बना देती है—उसी प्रकार मेरा वातावरण भी दूषित हो उठता था। हैरान था मैं। फिर मैंने अपने मन में ऐसा विचार लाना शुरू कर दिया कि उसकी अव्यक्त ध्वनि-तरंगें उनको प्रभावित करने लग गयीं। परिणाम यह हुआ कि लोगों का आना-जाना ही बन्द हो गया।

आपके चारों तरफ विचारों की तरंगें चक्कर लगा रही हैं। बराबर हर समय और हर क्षण आपके भीतर भी प्रवेश कर रही हैं। यदि आप प्रतिभाशाली हैं, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं अथवा साधक हैं; तो आपमें से अधिक-से-अधिक तरंगे निकलेंगी और अधिक-से-अधिक तरंगों को आप ग्रहण भी करेंगे। यदि आप मूर्ख हैं, जाहिल हैं या मूढ़ हैं, तो न तरंगें निकलेंगी और न ही आप तरंगों को ग्रहण ही कर सकेंगे। आप अपने को शान्त, आनन्दमय वातावरण में भी अपने को दीन-हीन समझेंगे। सुन्दर-से-सुन्दर कविता, काव्य, संगीत और कला भी आपको नीरस तथा बेकार ही लगेगी।

o o o

हम निरन्तर भीतर की ओर सूक्ष्म से हृदयतम होते चले गये हैं। मन एस्ट्रल यानी सूक्ष्म का भी सूक्ष्म है। इस शताब्दी में विज्ञान आकाशीय यानी ईथरिक में पहुँच अवश्य गया है—मगर वह अभी उसे 'ईथरिक' स्वीकार नहीं कर रही है। ईथरिक को एटामिक और पारमाणिक कहता है। उसे ऊर्जा और एनर्जी के रूप में स्वीकार कर रहा है। लेकिन तत्त्व की दृष्टि से यदि देखा जाय तो आज का विज्ञान दूसरे शरीर में पहुँच गया है; क्योंकि दूसरे शरीर में प्रवेश करने की आवश्यकता हो गयी है। इसी प्रकार विज्ञान एक-न-एक दिन तीसरे शरीर के तल पर भी प्रवेश कर जायेगा—इसमें सन्देह नहीं। पश्चिम के वैज्ञानिक शरीर से मन को अलग कर मन पर शोधकार्य कर रहे हैं। उन्होंने मनोमय जगत और मनोमय शरीर की बहुत-सी बातों का अनुभव किया है। एक दिन वे निश्चय ही पूर्णरूप से मनोमय शरीर के तल पर भी पहुँच जायेंगे। अब यह निश्चित हो गया है कि प्रत्येक व्यक्ति विचार-प्रेषक यंत्र (ट्रांसमीटर) के समान है। मैं आपसे बात नहीं कर रहा हूँ। आप भी मुझसे बात नहीं कर रहे हैं। हम एक दूसरे से अलग बैठे हैं। मगर फिर भी मेरा विचार आप तक और आपका विचार मेरे तक बराबर आ-जा रहा है।

कभी आप ट्रांसमीटर बन जाते हैं, तो कभी मैं और कभी आप रेडियो बन जाते हैं, तो कभी मैं।

रूस के वैज्ञानिक विचार-संप्रेषण (टेलीपैथी) पर काफी गहराई से, गम्भीरता से और व्यापक रूप से शोध एवं खोजकार्य कर रहे हैं। एक वैज्ञानिक हैं, नाम है—कमादेव। उसने एक हजार मील तक विचार का संप्रेषण करने में सफलता प्राप्त की है।

पिछले दशक में अन्तरिक्ष यात्रियों की काफी चर्चा और काफी धूम रही है। मानव के चरण जब चन्द्रमा के धरातल पर पहुँचे, तो बहुत-सी प्राचीन मान्यतायें जहाँ धूल में मिल गयीं, वहीं दूसरी ओर कुछ पुरानी मान्यताओं को समर्थन भी प्राप्त हुआ। उनकी पुष्टि भी हुई। सन् १९७१ के अपोलो यात्री एडगर मिशैल ने एक विचित्र प्रयोग किया। उड़ान से पूर्व मिशैल ने धरती पर कुछ व्यक्तियों से दूरबोध (टेलीपैथी) द्वारा कुछ संकेत भेजना तय किया। अन्तरिक्ष यान में मिशैल को चार बार विश्राम का अवसर मिला। हर बार उसने २४ इकाइयों का एक संकेत बनाकर तुरन्त मन में अलग-अलग व्यक्तियों के नाम सोचे। इस सम्बन्ध में स्वयं मिशैल का कहना है कि यह निश्चित हो चुका है कि टेलीपैथी एक पुष्ट संकल्पना है। अन्य वैज्ञानिक धारणाओं की भाँति इसके विषय में भी गम्भीर अनुसंधान की आवश्यकता है। मिशैल को टेलीपैथी पर इसलिए विश्वास करना पड़ा कि उसने दो व्यक्तियों को अन्तरिक्ष से अपने विचार-संकेत भेजने के २०० प्रयत्न किये, जिनमें से ५१ में उसे सफलता मिली। जबकि संयोगमात्र हो तो सफलता केवल बीस प्रतिशत मिलनी चाहिए थी।

अगर यही प्रयोग १५–२० वर्ष पूर्व हुआ होता, तो वैज्ञानिक इसका मजाक ही उड़ाते। महान् वैज्ञानिक प्लेटो ने स्वयं कहा था कि ज्ञानेन्द्रियों के अलावा मस्तिष्क में किसी अन्य माध्यम से कुछ भी संप्रेषित नहीं होता। मगर जब इस दिशा में सफलता मिली, उपलब्धियाँ हुईं, तो अमेरिकी परा मनोवैज्ञानिक डॉ० जे० वी० राइन को कहना पड़ा कि आदमी की मनोवृत्ति आमतौर पर यह होती है कि पहले वह किसी भी नयी बात, नये विचार की खिल्ली उड़ाता है, फिर वह उसे कुछ-कुछ समझने लगता है और अन्त में उसे अपनाने लगता है। खैर यह तो हुई वैज्ञानिकों की खोज की बात। मैंने स्वयं विचार-संप्रेषण के यौगिक रूप को देखा तथा अनुभव किया है।

सन् १९५६ की घटना है। मैं उन दिनों कलकत्ता में रहता था। हवड़ा के एक आश्रम में एक महात्मा निवास करते थे। नाम था लाल बाबा। वे बड़े ही मनस्वी और ज्ञानी पुरुष थे। जब मुझे काम से अवकाश मिलता, तो उन्हीं के पास जाकर बैठ जाता और काफी देर तक सत्संग करता। लाल बाबा मुझे काफी मानते थे। मैं भी उनका सम्मान करता था। एक बार

सत्संग के बीच टेलीपैथी की चर्चा चल पड़ी। लाल बाबा बोले—'अगर हम संकल्पपूर्वक एक दिशा में अपने चित्त को केन्द्रित कर किसी विचार को तीव्रता से संप्रेषित करें, तो वह उस दिशा में तुरन्त पहुँच जाता है। यदि उधर कोई व्यक्ति उस संप्रेषित विचार को ग्रहण करने के लिए तैयार हो, तो वह व्यक्ति संप्रेषित विचार के अनुसार कार्य करेगा'। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार लाल बाबा ने मुझे पहले अपना 'ग्राहक' बनाया। उन्होंने कहा—'तुम बनारस जा रहे हो न?'

'जी हाँ'। कल ही जा रहा हूँ पंजाब मेल से'—मैंने जवाब दिया। ऐसा करना कि रोजना शाम के समय एकान्त में ठीक छः से सात बजे तक यानी एक घंटा बैठकर मेरा ध्यान करना। उसी समय मैं अपने विचार का संप्रेषण करूँगा।

बनारस आने पर मैं रोजना एकान्त में बाबा के आदेशानुसार एक घंटा बैठने लगा। दो-तीन दिन तक तो कुछ नहीं हुआ—उसके बाद एक दिन जब मैं ध्यान में बैठा था, उसी समय मेरे अन्तराल से यह विचार उठने लगा कि बाबा को एक बनारसी पीताम्बर देना चाहिए। एक सप्ताह बाद जब कलकत्ता गया, तो पीताम्बर भी ले गया बाबा के लिए। जब बाबा के यहाँ पहुँचा, तो उस समय वह पीताम्बर मेरे ब्रीफकेस में बन्द था। बाबा मुझे देखकर मुस्कराये फिर बोले—'पीताम्बर ले आये न?'

'हाँ! ले आया हूँ'। क्या आपने पीताम्बर के लिए अपने विचार को संप्रेषित किया था?

'हाँ'! बाबा ने स्वीकारोक्ति से सिर हिलाते हुए कहा।

० ० ०

आपके विचार की तरंगें वस्तुओं और पदार्थों को भी स्पर्श करती हैं। उन्हें रूपान्तरित भी करती थी। आपके व्यक्तित्व को भी प्रकट करती हैं। काशी में एक साधु अभी कुछ दिन पहले रहते थे। नाम था मुक्तानन्द! वे महाशय किसी व्यक्ति को किसी भी वस्तु को छूकर उसके विषय में सविस्तार सब कुछ बतला दिया करते थे। एक बार एक ऐसे व्यक्ति की कमीज उन्हें दी गयी जिसकी मौत काफी रहस्यमय ढंग से तथा अज्ञात परिस्थिति में हुई थी। बाबा ने कमीज का स्पर्श किया और तुरन्त कहा—'इस व्यक्ति की मौत उसी की पत्नी के हाथों हुई है। पत्नी ने विष दिया है और विष की शीशी उसी के सन्दूक में अभी भी रखी है।'

पत्नी ने विष क्यों दिया? इसके उत्तर में मुक्तानन्द साधु ने कहा—'उसका नाजायज सम्बन्ध पति के छोटे भाई से है। दोनों ने मिलकर यह हत्या की है।'

गहरायी से सारी बातों का पता लगाया गया। बात सच निकली। देवर-

भाभी दोनों ने अपने अपराध को स्वीकार किया। जो वस्तु सदा आपके साथ बनी रहती है—वह बराबर आपके विचार की तरंगों को बराबर पीती रहती है। शोषित करती रहती है। वे तरंगें इतनी सूक्ष्म और 'सेंसिटिव' होती हैं कि उस वस्तु में उनका अस्तित्व सैकड़ों-हजारों वर्षों तक बना रहता है। विचार तरंगों के इसी सिद्धान्त के आधार पर भारतीय संस्कृति ने 'समाधि' का प्रचलन शुरू किया। जिसकी नकल बाद में इस्लाम ने 'कब्र' के रूप में, मजार के रूप में की। समाधि दो प्रकार की होती है—जीवित समाधि और मृत समाधि। मृत समाधि की परम्परा को इस्लाम ने कब्र के रूप में अपनाया। पुनर्जन्मवाद न होने के कारण उसने जीवित समाधि को अपने धर्म में महत्त्व नहीं दिया। जीवित समाधि उसी व्यक्ति को दी जाती है, जो योगी है, सन्त है, महात्मा है और संन्यासी है। जीवन की गति जहाँ समाप्त होती है और मृत्यु की सीमा जहाँ शुरू होती है—उसके बीच की अवस्था 'मुमुर्षु अवस्था' कहलाती है। चेतन-अचेतन के बीच की स्थिति ही मुमुर्षु अवस्था है। इसी अवस्था में जीवित समाधि दी जाती है वैसे लोगों को। वास्तविक मृत्यु समाधि में होती है। अतः समाधि की अवस्था से शरीर छूटने पर आत्मा ने भले ही कहीं जन्म ले लिया हो या भले ही उसका अस्तित्व किसी रूप में और किसी अवस्था में हो। पर उस व्यक्ति के विचार—जो मुमुर्षु अवस्था में जाने के पूर्व थे—उनकी तरंगें सैकड़ों-हजारों वर्ष तक समाधि के आस-पास चक्कर काटती रहती हैं। उस समय वे तरंगें और अधिक गतिमान और शक्तिशालिनी हो उठती हैं, जिस समय उस व्यक्ति को समाधि दी गयी होती है। अगर विशेषकर उस समय समाधि के निकट कोई व्यक्ति मन को एकाग्र कर ध्यान लगाये तो समाधि के चारों ओर चक्कर काटने वाली वे तरंगें ध्यानस्थ व्यक्ति के भीतर प्रवेश करने लग जायेंगी और वह व्यक्ति उन तरंगों में निहित विचारों का 'ग्राहक' बन जायेगा।

जीवित समाधि और मृत समाधि में कुछ भेद अथवा कुछ अन्तर होता है। मृत समाधि लेने वाले व्यक्ति की भी विचार-तरंगें समाधि स्थान पर चक्कर काटती रहती हैं, मगर उनके साथ उस व्यक्ति की प्रमुख वासनाओं और कामनाओं की भी तरंगें विद्यमान रहती हैं। क्योंकि मरनेवाला व्यक्ति अपने विचारों के साथ कुछ अंशों में अपनी वासनाओं को भी और अपनी मुख्य कामनाओं की भी धरती पर छोड़ जाता है। आप किसी की मृत समाधि के निकट मन को एकाग्र कर के बैठें। आप विचार-तरंगों के ग्राहक तो बन ही जायेंगे। इसके अलावा यदि आपकी कोई कामना या कोई वासना समाधिस्थ व्यक्ति की कामना-वासना से मिल-जुल गयी तो आपके विचारों में और आपके भावों में तत्काल परिवर्तन होना शुरू हो जायेगा और आपका भावात्मक, कामनात्मक और वासनात्मक सम्बन्ध अदृश्य रूप से समाधिस्थ व्यक्ति की

आत्मा से स्थापित हो जायेगा। हिन्दू धर्म और संस्कृति पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है। यदि वह मृत समाधि किसी हिन्दू की है और वह हिन्दू उच्च कोटि का योगी या महात्मा है, तो उस स्थिति में उसकी आत्मा बराबर आपको अदृश्य रूप से भौतिक सहायता करेगी। आपका मार्ग-दर्शन करेगी। आपका पथ-प्रदर्शन करेगी। यदि उस आत्मा ने कहीं जन्म नहीं लिया है और उसका अस्तित्व किसी और लोक-लोकान्तर में किसी और रूप में है, तो वह आपकी भरपूर सहायता करेगी। इसके विपरीत यदि उसने भौतिक शरीर धारण कर लिया है, तो उस स्थिति में भी आपका सम्बन्ध उससे स्थापित हो जायेगा अवश्य, लेकिन आपको सहायता मिलेगी खास-खास अवसरों पर और महत्त्वपूर्ण कामनाओं की पूर्ति के निमित्त ही। मैं दो-तीन ऐसे महात्माओं से परिचित हूँ, जिन्हें अपनी समाधि की स्मृति थी। वे अपने पूर्व जन्म की समाधि स्थली पर ही फकीरी वेष में निवास करते थे और लोगों की कामनायें पूरी किया करते थे। खैर।

० ० ०

इस्लाम धर्म पुनर्जन्मवाद को नहीं मानता। मगर आत्मा के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करता है। इस्लाम में मृत समाधि की परम्परा अधिक है। उसके लिए आत्मा तीन प्रकार की है। पहली आत्मा साधारण लोगों की होती है। ऐसी साधारण आत्मायें या रूहें अपने विचारों के साथ-साथ अपनी कामना तथा वासना भी लिये रहती है और अपनी मृत समाधि यानी 'कब्र' के आस-पास चक्कर लगाया करती हैं। कुछ रूहें अपनी कब्र में सोयी भी रहती हैं। सोने वाली रूहों की कामना-वासना पाक और पवित्र होती है। उनके विचार शुद्ध रहते हैं। मगर उनकी तरंगें अवश्य विकीर्ण होती रहती हैं कब्र के वायु-मण्डल में। ऐसी रूहें किसी को परेशान नहीं करतीं। किसी की कामना भी पूरी नहीं करतीं। मगर उनके विचारों की तरंगें लोगों को आर्कषित अवश्य करती हैं। यदि उसकी कब्र पर बैठ कर कोई मन को एकाग्र करता है तो उसके भीतर वे प्रवेश भी करती हैं। यदि ऐसी स्थिति में उन्हें विशेष तांत्रिक क्रिया व मंत्र से जगाया जाय तो वे जागकर कामना पूरी कर देती हैं और स्मरण करने पर सहायता भी कर दिया करती हैं।

सोकर जागने वाली रूहों की यही पहचान होती है कि उनकी कब्र फटी हुई होती है। अतः इसके ठीक विपरीत अपने कब्र के आस-पास चक्कर काटने-वाली रूहें होती हैं। उनकी कामना, वासना और उनका विचार दूषित और स्वार्थमय होता है—इसीलिए वे अशान्त रहती हैं और चक्कर काटा करती हैं कब्र से चारों ओर। उनकी दूषित विचार-तरंगें लोगों के भीतर अपने आप प्रवेश कर जाती हैं और उनके विचारों को अपने जैसा दूषित बना देती हैं। ऐसी रूहें शीघ्र वशीभूत हो जाया करती हैं। मगर इसके लिए उनकी कब्र के

पास लगातार कुछ दिनों तक बैठना होगा। उनकी वासना के अनुरूप कुछ नजराना देना होगा। कुछ भेंट-पूजा भी चढ़ानी होगी और कुछ विशेष तांत्रिक साधना भी करनी पड़ेगी।

मगर ऐसी रूहें दूषित मनोवृत्ति की होती हैं और वे दूषित कामना और तमोमयी वासना की ही पूर्ति किया करती हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति उनकी विचार-तरंगों को पकड़ लिया होता है, जिसकी वासना उनसे मिलती-जुलती हैं—तो वे तुरन्त उसके शरीर में प्रवेश कर जाती हैं और उस व्यक्ति के माध्यम से अपनी वासनाओं और कामनाओं को पूरी करती हैं। इसी को प्रेत या जिन बाधा कहते हैं। दूसरी प्रकार की रूहें इस्लामी सन्त-महात्मा, औलिया और फकीरों की हुआ करती हैं, जिनकी समाधि को मजार कहते हैं। वे रूहें कल्याणकारी-मंगलकारी भावना रखती है। इनके लिए सभी धर्म बराबर होता है। उनकी विचार-तरंगें सैकड़ों-हजारों साल तक वायुमण्डल में तैरती रहती हैं। वे अपनी समाधि के ठीक ऊपर अन्तरिक्ष में अपना स्थान बनाती हैं और कयामत की रात तक वहीं रहती हैं। इस्लाम धर्म के अनुसार वृहस्पति व शुक्रवार के दिन रूहानी दुनिया में रोशनी होती है और रूहों को शान्ति मिलती है। वे अपनी कब्रों व मजारों पर खास तौर पर उपस्थित हुआ करती हैं उस समय। यदि ऐसे अवसर पर चमेली के तेल का चिराग, अगरबत्ती, लोहबान और मोगरे की माला, इत्र आदि कब्र या मजार पर चढ़ाया जाय, तो वे रूहें बहुत खुश होती हैं और कामनाओं को पूरा करती हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि समाधि, मजार, कब्र आदि के सिद्धान्तों का मूलस्रोत 'पीठ विज्ञान' है। 'पीठ' का मतलब है—दैवी व मानवेतर शक्ति का केन्द्र। वैसे स्थायी रूप से हमारे देश में ५१ शक्तिपीठ हैं। लेकिन व्यक्तिगत रूप से साधना करने वाले योगियों व तांत्रिकों के द्वारा स्वयं निर्मित पीठासेना की भी संख्या अधिक है। पीठासेना का सम्बन्ध बराबर दैवी और आसुरी जगत् से बना रहता है। पीठ विज्ञान तन्त्र विज्ञान की एक अति महत्त्वपूर्ण शाखा है। सम्पूर्ण योग तांत्रिक साधना और सिद्धि एकमात्र पीठ विज्ञान पर ही अवलम्बित है।

उन दिनों मैं पीठ विज्ञान पर एक प्रामाणिक पुस्तक लिख रहा था जिसका नाम था—'भारतीय संस्कृति और पीठ विज्ञान'। समाधिस्थ और कब्रों, मजारों आदि में दफन आत्माओं और रूहों की मति-गति के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को भी लिपिबद्ध करना चाहता था उस पुस्तक में। अतः इसी उद्देश्य से मैं बराबर समाधि स्थलों, कब्रिस्तानों और तमाम मजारों का चक्कर लगाया करता था। हर वृहस्पति तथा शुक्रवार को वहाँ फूल, इत्र, मिठाई आदि भी चढ़ाया करता था और उसके बाद घंटों मन को एकाग्र कर बैठा भी करता था। धीरे-धीरे एक साल का समय गुजर गया। मगर हासिल कुछ भी नहीं हुआ।

निराश-सा हो गया मैं। मगर एक दिन···सावन-भादों का महीना था। हल्की-हल्की वर्षा हो रही थी। शाम का समय था। हमेशा की भाँति मैं कब्रिस्तान की ओर चल पड़ा और जब मैं वहाँ पहुँचा, तो साँझ की स्याह कालिमा रात के अन्धकार में बदल चुकी थी। रोज की तरह वातावरण में घोर निस्तब्धता छायी हुई थी। अबूझ-सी खिन्नता भरी उदासी भी थी वहाँ। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। मैं धीरे-धीरे चलकर एक कब्र के नजदीक पहुँचा। फिर हाथ में लिये हुए फूल-माला, मिठाई, इत्र आदि सामानों को कब्र के ऊपर रख दिया मैंने और फिर एक ओर चुपचाप बैठ गया मन को एकाग्र कर। उसी समय अचानक कब्रिस्तान का वातावरण किसी अज्ञात सुगन्ध से भर उठा। वह कैसी सुगन्ध थी समझ न सका मैं। मगर वह काफी तीव्र थी और पूरे कब्रिस्तान में फैल रही थी। मैं अचकचाकर चारों तरफ देखने लगा। तभी हवा में काँपता हुआ एक स्वर सुनाई पड़ा 'भाई साहब !···जरा सुनिये !'

कौन था मुझे उस कब्रिस्तान में 'भाई साहब' कहकर पुकारने वाला। एकबारगी चौंक पड़ा मैं वह पुकार सुनकर। तभी मेरी नजर बगल वाली एक कब्र की ओर घूम गयी। स्तब्ध रह गया मैं। देखा कब्र के संगमरमरी चबूतरे पर एक खूबसूरत-सी लड़की बैठी मेरी ओर देखती हुई मुस्करा रही थी। हे भगवान् ! इस वीरान और सुनसान कब्रिस्तान में यह लड़की कहाँ से आ गयी इस समय ? कौन है यह ?···अभी मैं कुछ सोचने-समझने का प्रयास कर रहा था कि तभी मुझे फिर सुनाई पड़ी वही पुकार—'भाई साहब !···जरा सुनिये···।'

मैं अपनी जगह से उठा और धीरे-धीरे चलकर उस रहस्यमयी लड़की के करीब जाकर खड़ा हो गया और बोला—'क्या आपको मुझसे कुछ कहना है ?'

'जी हाँ, आपको ही बुला रही थी मैं'—लड़की ने मेरी आँखो में झाँकते हुए हौले से जवाब दिया।

'कहिए ! क्या बात है ?'

'मुझे प्यास लगी है। काफी लम्बे अर्से से प्यासी हूँ। क्या आप कहीं से पानी लाकर मुझे पिला सकेंगे।

पानी···आपको पानी चाहिए ? प्यासी हैं आप ?

'जी···जी···बहुत प्यास लगी है भाई साहब !'—लड़की यह कहकर आसमान में झिलमिलाते हुए सितारों की ओर अपलक देखने लगी। ऐसा लगा मानों वह बेहद उदास और गमगीन हो।

लपक कर पास के बम्बे से पानी ले आया मैं एक लोटे में। एक ही साँस में लड़की पूरा पानी पी गयी। सचमुच काफी प्यासी थी वह। पानी पी चुकने के बाद काले रेशमी दुपट्टे के आँचल से अपना मुँह पोंछती हुई आहिस्ते से

बोली — 'शुक्रिया ! भाई साहब ! आपने मुझ पर जो एहसान किया है, उसके लिए शुक्रिया अदा करती हूँ ।'

'आप कौन हैं ? कैसे यहाँ इस जगह आ गयीं आप··· ?' मैंने बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ाने के खयाल से पूछा ।

'मेरा नाम मेहरुन्निसा है' — लड़की हँसकर बोली । मगर उसकी हँसी में उदासी थी, पीड़ा थी—'काफी वक्त गुजर गया, तभी से यहीं हूँ । इस जगह को छोड़कर जा भी कहाँ सकती हूँ मैं ! मेरी तकदीर में तो अब इसी जगह रहना बदा है भाई साहब' ! थोड़ा रुककर लड़की ने आगे कहा—'क्या आप मुझे रोजाना पानी पिलाने का वादा करेंगे ?'

न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैंने हामी भर दी और उस दिन के बाद से रोजाना मुझे इन्तजार करती हुई मिलती वह लड़की । मुझे देखते ही खुशी से पागल हो उठती और मेरे हाथ से पानी का बर्तन लेकर गट-गट कर पीने लगती पानी वह ।

धीरे-धीरे दो-तीन महीना गुजर गया । इस बीच पानी पीने-पिलाने का सिलसिला बराबर चालू रहा ।

मगर तभी व्यवधान पड़ गया । अस्वस्थता के कारण लगातार १०-१२ दिन तक न जा सका मैं कब्रिस्तान । उन दिनों नगवा घाट के ऊपर एक कमरा किराये पर लेकर अकेला रहता था मैं । काफी कष्टमय और अभावग्रस्त था जीवन मेरा उस समय । परेशान हो गया था मैं । दवा-इलाज आदि के लिए पैसा न था मेरे पास । शुरू से स्वाभिमानी रहा हूँ । किसी से किसी भी प्रकार की सहायता लेना आत्मा के बिलकुल विरुद्ध है मेरे लिए ।

साँझ का समय था । काले-भूरे बादल छाये हुए थे आकाश में । दशहरा बीत चुका था और दीवाली आने वाली थी । मौसम काफी सुहावना था । खिड़की के पास चारपायी लगाकर चुपचाप लेटा हुआ बाहर आकाश की और देख रहा था मैं । तभी कमरे का बन्द दरवाजा अपने-आप खुल गया और उसी के साथ वातावरण में कब्रिस्तान वाली अज्ञात सुगन्ध फैल गयी । चौंक पड़ा मैं । सिर घुमाकर दरवाजे की ओर देखा, तो बस देखता ही रह गया । सामने मेहरुन्निसा खड़ी थी । उसके हाथ में दवाइयों का पैकेट था और फलों से भरा हुआ झोला था । डाक्टरों ने मुझे जो दवायें लिखी थीं—वे ही दवायें थी पैकेट में । फल भी वे ही थे, जो मुझे खाने के लिए कहा गया था । मगर यह सब मेहरुन्निसा को कैसे मालूम हुआ और यह भी कैसे मालूम हुआ कि मैं बीमार हूँ ?

फिर तो रोज ही आने लगी मेहरुन्निसा । कभी दवा, कभी फल तो कभी और कोई जरूरी चीजें होती उसके साथ । जल्दी ही स्वस्थ हो गया मैं । कभी-कभी सोचता कि मेहरुन्निसा है कौन ? क्यों मुझ पर इतनी मेहरबान है वह ?

बड़ा ही रहस्यमय लगता कभी-कभी उसका व्यक्तित्व मुझे। मगर एक दिन सब कुछ अनावृत हो गया। सारा रहस्य खुल गया मेरे सामने। लखनऊ के किसी नवाब खानदान से सम्बन्धित थी मेहरुन्निसा। वालिद का नाम था कुर्बान अहमद। ६०-७० वर्ष पहले कुर्बान मियाँ बनारस में आकर बस गये थे। औलाद के नाम पर सिर्फ मेहरुन्निसा थी। जब वह १८-१९ साल की हुई तो वालिद का साया हमेशा के लिए उठ गया उसके ऊपर से। अब मेहरुन्निसा अकेली अनाथ और तनहा हो गयी। मगर अधिक दिनों तक न रह सकी वह अकेली। सुन्दर और जवान तो थी ही। इसके आलाव काफी दौलत भी थी उसके पास। एक युवक से प्रेम हो गया मेहरुन्निसा का। युवक का नाम था कादिर खाँ। बनारसी सिल्क के व्यापारी का इकलौता लड़का था वह। बहुत जल्द उसने मेहरुन्निसा के तन-मन पर अपना अधिकार जमा लिया। मेहरुन्निसा उसके प्रेम में इतनी दीवानी हो गयी और इतनी पागल हो गयी थी कि उसे समाज-संसार का होश ही नहीं रहा। मेहरुन्निसा को होश तो तब आया—जब उसका सब कुछ लुट-लुटा चुका था। पेट में प्यार का अंकुर फूटकर धीरे-धीरे बड़ा होने लगा था जब। मगर तब तक काफी देर हो चुकी थी। अन्त में जो होना था, वही हुआ। एक दिन कादिर खाँ घर में रखी सारी दौलत हथिया कर चला गया और छोड़ गया अकेला हमेशा के लिए मेहरुन्निसा को। वह फिर अनाथ बेसहारा और लावारिस हो गयी। काफी गहरी चोट लगी थी उसके दिल पर। मगर अब वह कर ही क्या सकती थी? संसार में कोई ऐसा न था, जो उसे सहारा देता और अपना कहकर पुकारता। हर समय गम में डूबी रहने लगी मेहरुन्निसा। गुलाब के फूल की तरह खिला रहने वाला चेहरा मुरझा कर स्याह पड़ गया। जवानी की गन्ध से महकने-दमकने वाली देह भी सूख कर काँटा हो गयी। बाद में उसका दिमाग खराब हो गया। हर समय पागलों की तरह चीखने-चिल्लाने लगी वह और एक दिन ऐसी ही स्थिति में उसने एक बच्चे को जन्म दिया अपने वीरान और सुनसान मकान में। उस समय उसके पास कोई नहीं था। रहता भी भला कौन? तड़पती रही, चीखती-चिल्लाती रही और छटपटाती रही मेहरुन्निसा सारी रात। अन्त में असीम कष्ट को और असीम वेदना को सहन न कर सकी वह और दम तोड़ दिया उसने और दम तोड़ते समय पानी""पानी""कहती रही, मगर उसे पानी देनेवाला कोई नहीं था वहाँ उस समय और प्यासी ही मर गयी मेहरुन्निसा।

एक लम्बा अर्सा गुजर गया—तब से मैं प्यासी ही भटक रही थी भाई साहब! थोड़ा रुक कर आगे बोली वह—अगर आपने मुझे पानी न पिलाया होता, तो न जाने कब तक इसी तरह भटकती रहती मेरी रूह कब्रिस्तान में।

तुम्हारे बेटे का क्या हुआ?

अचानक मेरा यह प्रश्न सुनकर मेहरुन्निसा चौंक-सी पड़ी। ऐसा लगा मानो गहरी नींद से एकाएक जग गयी हो। बेटा—मेरा बेटा—जिन्दा है।

जिन्दा है ?

हाँ जिन्दा है भाई साहब। मगर अब मुझे क्या लेना-देना है उससे—गम्भीर और उदास स्वर में कहने लगी मेहरुन्निसा। इस वक्त तो उसकी उम्र भी ४०–४५ के आस-पास है। शादी भी कर ली है उसने। बाल-बच्चों वाला भी हो गया है वह।

क्या नाम है तुम्हारे बेटे का ? और रहता कहाँ है वह ?

नाम उसका सलीम है। अपने नाना के ही मकान में रहता है वह। इतना कह कर मेहरुन्निसा अपनी जगह से उठी और कमरे में एक बार चक्कर लगाकर सहसा गायब हो गयी और उसी क्षण मेरा कमरा उसी अज्ञात सुगन्ध से फिर भर गया।

मैंने दूसरे दिन पता लगाया। बात सच निकली। सलीम से भी मिला। बातें कीं उससे। मगर यह नहीं बतलाया कि उसकी माँ की भटकती हुई रूह से मेरा ताल्लुक है। मेहरुन्निसा का एक काफी बड़ा चित्र था—जिसे सलीम ने टाँग रखा था अपने कमरे में। काफी प्यार था अपनी माँ से सलीम को। देखा—चित्र पर मोगरे की माला झूल रही थी और सामने अगरबत्ती भी सुलग रही थी। काफी देर तक मैं चित्र की ओर देखता रहा। बिलकुल सजीव लग रहा था चित्र। बिलकुल साम्य था मेहरुन्निसा की रूह और उस चित्र में। एक प्रकार से कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। मगर मेहरुन्निसा का मुझसे मिलना-जुलना अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह मुझसे मिलती है और रूहानी दुनिया की ऐसी-ऐसी बातें बतलाती है, जिस पर कोई विश्वास नहीं करेगा।

प्रकरण : उनतालीस

गिरिनार की वह कापालिक भैरवी

एक गम्भीर आपरेशन के बाद प्रसिद्ध अभिनेत्री एलिजाबेथ टेलर को विचित्र अनुभव हुआ। आपरेशन के बीच उन्हें लगा कि जैसे उनका सूक्ष्म शरीर मेज के ऊपर रखे भौतिक शरीर से अलग होकर भौतिक शरीर की प्रत्येक गतिविधि को गौर से देख रहा है।

'मैं उस समय काफी हल्का-फुल्का अनुभव कर रही थी और अपने निष्प्राण शरीर को ऐसे देख रही थी, मानो वह किसी और का शरीर हो।' यह ऐलिजाबेथ का कथन है।

० ० ०

कनाडा की ब्रिटिश कोलम्बिया विधान सभा का अधिवेशन विक्टोरिया नगर में हो रहा था। विधान सभा के एक सदस्य चार्ल्स वुड उस समय रुग्णावस्था में अपने घर में विस्तर पर पड़े थे। डाक्टरों ने उनके बचने की आशा छोड़ दी थी। लेकिन उनका सूक्ष्म शरीर उस समय विधानसभा में भी उपस्थित था। साक्षी है वह ग्रुप फोटो, जो अधिवेशन की समाप्ति पर लिया गया था और जिसने विधान सभा में भाग लेने वाले सभी सदस्यगण उपस्थित थे। यह चित्र आज भी विधान सभा के हाल में टंगा है।

० ० ०

सन् १९०८ में ब्रिटेन के हाउस ऑफ लार्ड्स के एक सदस्य पर कार्न रांश भी एक साथ दो स्थानों पर देखे गये थे। जब हाउस ऑफ लार्ड्स का अधिवेशन चल रहा था, तब वे फ्लू रोग से पीड़ित थे तथा रोग-शैय्या पर पड़े थे। शारीरिक दृष्टि से वे अधिवेशन में भाग लेने में सर्वथा असमर्थ थे। लेकिन अधिवेशन में भाग लेने की उनकी प्रबल इच्छा थी। क्योंकि विरोधी दलों के सदस्य सरकार को गिराने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः सरकारी पक्ष के प्रत्येक सदस्य की उपस्थिति हाउस में आवश्यक थी।

जब हाउस में सरकार के विरुद्ध अविश्वास सम्बन्धी प्रस्ताव पर मत लिये जा रहे थे, तब सरकारी पक्ष के तीन सदस्यों—सर गिल्बर्ट पारकर, सर आर्थर हेटर तथा सर हेनरी वेनरमैन ने सर रांश को अपनी जगह पर बैठे मतदान में भाग लेते हुए देखा। परामनोवैज्ञानिकों के अनुसार हाउस ऑफ लार्ड्स में सर रांश का सूक्ष्म शरीर ही साकार हुआ था। खैर, यह तो रही वैज्ञानिकों के सिद्धान्त की बात। लेकिन योग विज्ञान के अनुसार जिस व्यक्ति की कुण्डलिनी जाग्रत् हो चुकी होती है और जिसने आतमशरीर को उपलब्ध कर लिया है—

वह अपनी मृत्यु के सैकड़ों-हजारों साल बाद भी अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से अपने भौतिक शरीर का निर्माण कर कहीं भी अपने आपको प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के बल पर अपने आपको एक ही समय में दो या इससे भी अधिक स्थानों में प्रकट कर सकता है।

इस दिशा में परामनोविज्ञान और योगविज्ञान का जो सिद्धान्त है—वह एक ही है। यानी प्रबल इच्छा-शक्ति का प्रकर्ष। निश्चय ही स्वामी माहेश्वरानन्द प्रबल इच्छा-शक्ति के स्वामी थे। उनका एक ही समय में दो स्थानों में प्रकट होना, मुझसे मिलना, मुझसे बातें करना स्वाभाविक था। उनका भौतिक अस्तित्व भी न था, मगर अपनी उसी प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर उन्होंने अपने आपको अतीत से वर्तमान में प्रकट किया था और साथ ही सम्बन्धित घटना दृश्यों को भी।

० ० ०

लगभग चालीस वर्ष के दीर्घ अन्तराल में मैंने कुण्डलिनी साधना के गूढ़ तथ्यों और गोपनीय रहस्यों से परिचित होने के लिए जिन प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न योगियों और साधकों का संसर्ग लाभ किया है—उनकी खोज में मुझे सम्पूर्ण भारत के अलावा हिमालय और तिब्बत की भी कठिन और जीवन-मरणदायिनी हिमयात्रा करनी पड़ी थी। सम्बन्धित विषयों की पुस्तकों और पाण्डुलिपियों को खरीदने व प्राप्त करने में मुझे पानी की तरह रुपया खर्च करना पड़ा था। योग, तन्त्र, ज्योतिष आदि से सम्बन्धित पुस्तकों, पाण्डुलिपियों और दुर्लभ सामग्रियों का संग्रह जैसा मेरे पास है; वैसा विरले ही लोगों के पास होगा। कहने की आवश्यकता नहीं, योगियों, साधकों के साक्षात्कार और अलभ्य पुस्तक, पाण्डुलिपियों-सामग्रियों आदि के संग्रह की दिशा में उच्च कोटि की दिव्य और साधक आत्माओं का भी मुझे बराबर सहयोग प्राप्त रहा। पटाचारा, जिसकी चर्चा मैंने पहले की है—सचमुच उसका योगदान इस दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण है। पटाचारा बौद्धकालीन एक साधिका थी। उसके संकेत पर मेरा जिन सूक्ष्म और स्थूल शरीरधारी आत्माओं से सम्पर्क हुआ—उनमें चूड़ामणि का स्थान अतिगरिमामय और महत्त्वपूर्ण समझा जायेगा।

जी हाँ ! चूड़ामणि। स्वामी माहेश्वरानन्द कापालिक के सिद्ध भैरवीतन्त्र और तांत्रिक साधनाओं का काफी गहरा अनुभव था चूड़ामणि को।

तन्द्रिल अवस्था में मैंने पटाचारा को देखा। वह कह रही थी—'तुम घबराओ मत ! घबराने की जरूरत नहीं। तुमको जान-बूझकर भेजा है यहाँ मैंने। तुमने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह सब सत्य है। लेकिन वह सत्य सम्बन्धित है—तीन सौ वर्ष पूर्व के अतीत से। अतीत की सारी घटनायें वर्तमान काल के परिवेष में दुहरायी गयी हैं। तुमको जो बुढ़िया मिली थी तथा बाद में जो यहाँ तुमको ले आयी है युवती बनकर—वह माहेश्वरानन्द

कापालिक की महाभैरवी है। नाम है—चूड़ामणि। माहेश्वरानन्द इस समय अवश्य आत्मशरीरधारी हैं, लेकिन चूड़ामणि नहीं। वह अपनी पार्थिव काया में ही है पिछले तीन सौ साल से। साधना के कारण प्रकृति ने चूड़ामणि को मृत्यु के स्पर्श से अलग कर रखा है अभी तक। उसकी आत्मा को शरीर से पृथक् करने में मृत्यु सर्वथा असमर्थ है। काल की गति उसके लिए थम गयी है। लेकिन चूड़ामणि अपने आपको विभिन्न रूपों में परिवर्तित कर सकने में अवश्य पूर्ण समर्थ हैं।

'चूड़ामणि से भय मत करना। डरना भी नहीं। असीम मानवेतर शक्ति सम्पन्न हैं वह। अनेक गोपनीय और रहस्यमयी तांत्रिक साधनाओं और तांत्रिक विद्याओं से परिचित हैं वह। माहेश्वरानन्द ने चूड़ामणि का ही आश्रय लेकर कुण्डलिनी की दुर्लभ साधना की थी और प्राप्त की थी दुर्लभ अनुभूतियाँ।'

थोड़ा रुककर पटाचारा ने आगे कहा—'चूड़ामणि कुण्डलिनी-योग से पूर्ण परिचित हैं। अवसर सुन्दर और अनुकूल है। फायदा उठा लो। फिर अवसर नहीं मिलेगा। इसीलिए तुमको भेजा है। वह सारी गोपनीयता बतला देगी और खोल देगी सारा रहस्य साधना का। इससे अलावा सहयोग भी देगी साधना मार्ग में तुमको। मगर जानते हो इसके लिए तन्त्र के कठोर मार्ग को अपनाना होगा तुमको और चरम सीमा तक संयम रखना होगा मन पर!'

पटाचारा के अन्तिम वाक्य के साथ ही मेरी तन्द्रा भंग हो गयी और चौंक कर उठ बैठा मैं। देखा सामने चूड़ामणि खड़ी मुस्करा रही थी। उसके अपूर्व रूप में भय और शान्ति दोनों का सम्मिश्रण था। चूड़ामणि को देखकर भय भी लग रहा था और मन को एक विशेष प्रकार की शान्ति भी मिल रही थी। जब मैंने उसकी ओर आँखें उठाकर देखा तो उसने दोनों बाँहें मेरी ओर फैला दीं। दूसरे क्षण उसके आलिंगन में था मैं। हम दोनों की नजरें बिलकुल आमने-सामने थीं। वह एकटक बिना पलक झपकाये मेरी ओर निहार रही थी। दप्-दप् कर जलता हुआ चेहरा। अजीब से सम्मोहन से मेरी निगाहें थम गयीं थी। क्या था उस दृष्टि में? कह नहीं सकता। आलिंगन का बंधन कसता गया। आपा खोने लगा मैं अपना। उफ्! कितनी तपिश थी चूड़ामणि की देह में। झुलस गया तन-मन एकबारगी। दोनों आँखें भी झुलस कर जलने लगीं। छाती के भीतर भी कुछ खाली-सा प्रतीत हुआ मुझे।

कातर स्वर में भीगे कण्ठ से मैंने कहा—'अब छोड़ दो मुझे चूड़ामणि। अब सहा नहीं जाता मुझसे···।' मगर मुझे छोड़ा नहीं चूड़ामणि ने। पूरे आठ साल तक रही मेरे साथ वह। गिरिनार की उस रहस्यमयी गुफा में उस रहस्यमयी सिद्ध भैरवी के सान्निध्य में आठ वर्ष के दीर्घ अन्तराल में मैंने योग-तांत्रिक कुण्डलिनी साधना के जो गूढ़, गोपनीय और रहस्यमय सत्यों और तथ्यों से परिचित हुआ और जो अनुभूतियाँ प्राप्त कीं—वह निस्सन्देह विलक्षण तांत्रिक

सम्पत्ति समझी जायेंगी। भारतीय संस्कृति की वह महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् सम्पत्ति सुरक्षित रहे भविष्य में—इसके लिए मैंने अपनी 'तांत्रिक साधना और सिद्धि' शीर्षक पुस्तक में उन तमाम सत्यों, तथ्यों और अनुभूतियों को लिपिबद्ध कर दिया है। पुस्तक भविष्य में जब कभी प्रकाशित होगी—निस्सन्देह उससे लोगों को तांत्रिक साधना के वास्तविक स्वरूप का परिचय तो मिलेगा ही, उसके अतिरिक्त लोग असली-नकली तांत्रिकों और साधकों को भी भलीभाँति पहचान सकेंगे।

० ० ०

वेद और तन्त्र हमारी भारतीय संस्कृति के आधार हैं। वेदों में 'ज्ञान' का विषय है। वह ज्ञान जिसके द्वारा हमें लौकिक और पारलौकिक सुख व शान्ति की प्राप्ति होती है और अन्त में मोक्ष-मुक्ति अथवा परम निर्वाण की भी उपलब्धि होती है।

मगर यह सब तभी सम्भव है, जबकि वेदों के 'ज्ञान' को क्रिया के रूप में बदल कर जीवन में अपनाना जाये। क्रिया के बिना 'ज्ञान' सिवाय भार के और कुछ नहीं है। जिस आधार पर, जिसके सहयोग से और जिस सिद्धान्त के अनुसार 'ज्ञान' को क्रिया के रूप में बदला जाता है—वही 'तन्त्र' है। 'ज्ञान' को 'कर्म' में और 'कर्म' को 'ज्ञान' में परिवर्तित करना अत्यन्त कौशल का काम है। बहुत ही कठिन है यह काम। वास्तव में जहाँ 'ज्ञान' होता है, वहाँ कर्म का प्रभाव रहता है और जहाँ कर्म हैं, वहाँ ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता। एक ही स्थान पर दोनों की समान सत्ता अत्यन्त दुर्लभ है। वह बाघ और बकरी की मित्रता की तरह है। चूड़ामणि ने बतलाया कि ज्ञान को कर्म में और कर्म को ज्ञान में आयत्त करने पर प्रकृष्ट विज्ञान का जन्म होता है और उसी प्रकृष्ट विज्ञान को योग विज्ञान कहते हैं। 'योग' का मतलब है—दो वस्तुओं का समान संयोग अथवा समान योग। ज्ञान और कर्म दोनों का योग ही 'योग' है और उस योग की साधना के मूल में कुण्डलिनी है। तन्त्र और योग की साधना वास्तव में मन-प्राण और विचार की साधना है। साधना के बल पर ये तीनों शक्ति के रूप में बदल जाते हैं और वे तीनों शक्तियाँ आपस में मिल कर एक विशेष प्रकार की ऊर्जा में बदल जाती हैं और वही 'ऊर्जा' कुण्डलिनी है।

आगे के विषयों को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि 'कुण्डलिनी' शब्द गुणवाचक नहीं, लाक्षणिक शब्द है। प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानेन्द्रिय के नीचे जहाँ से रीढ़ की हड्डी शुरू होती है—वहीं एक चने के बराबर एक गड्ढा है, गोल-सा। योग की भाषा में उसी गड्ढे को 'कुण्ड' कहते हैं। वही 'कुण्ड' उस ऊर्जा का केन्द्र है—इसीलिए लोग 'कुण्डलिनी' कहते हैं। दूसरी बात यह कि उस कुण्ड में चार मुख्य नाड़ियों का संगम है। जिसे हम-आप रीढ़ की हड्डी या मेरुदण्ड के नाम से जानते हैं—वह भीतर पोला है और

उस पोले स्थान में एक नाड़ी है, जिसे योगी लोग 'सुषुम्ना नाड़ी' कहते हैं। इस नाड़ी के भीतर दो और नाड़ियाँ हैं। उसी प्रकार जैसे बिजली के किसी मोटे तार के भीतर दो अलग-अलग निगेटिव और पॉजिटिव तार रहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी बिलकुल खाली है। उसके भीतर कुछ भी नहीं है। वह शून्य है। एक प्रकार से 'वैक्यूम ट्यूब' है। इसीलिए उसको 'शून्य नाड़ी' भी कहा जाता है। अगर किसी भी तरह से उसके भीतर हवा का प्रवेश हो जायेगा, तो व्यक्ति बच नहीं सकता फिर। उसकी मृत्यु निश्चित है। इसी को 'धनुष्टंकार' या 'टिटेनस' कहते हैं।

सुषुम्ना की भीतर वाली दोनों नाड़ियाँ—जिसे योग की भाषा में इड़ा और पिंगला कहते हैं—खाली नहीं हैं। उन दोनों के भीतर से मन और प्राण का प्रवाह है। जिस कुण्ड की चर्चा ऊपर की गयी है, उसका आकार 'त्रिकोण' की तरह है। उस त्रिकोण के एक-एक कोण बिन्दु पर सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला—ये तीनों नाड़ियाँ मिली हुई हैं। हमारे शरीर का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान अथवा केन्द्र है। वास्तव में हमारे सम्पूर्ण शरीर में जीवनी शक्ति का प्रसार इसी केन्द्र-स्थल से होता है। योग की भाषा में इसे मूलाधार कहते हैं। मूलाधार केन्द्र षट्चक्रों में पहला चक्र है। वह त्रिकोणात्मक है। त्रिकोण 'योनि' का प्रतीक है। इसलिए तांत्रिक लोग उसे 'योनिचक्र' कहते हैं। त्रिकोणात्मक 'योनिचक्र' के बायें कोणबिन्दु पर इड़ा और दाहिने कोणबिन्दु पर पिंगला तथा नीचे वाले कोणबिन्दु पर सुषुम्ना की सन्धि है। उसी स्थान से वे तीनों नाड़ियाँ—एक में मिलकर मेरुदण्ड के भीतर से ऊपर की ओर चली गयी हैं और ऊपर जाकर पुनः तीनों अलग-अलग हो गयी हैं। इड़ा और पिंगला कनपटी की ओर से आकर भ्रूमध्य—जिसे आज्ञाचक्र कहते हैं—में मिलकर तीनों प्रकार के मस्तिष्कों को पार करती हुई ब्रह्मरन्ध्र केन्द्र में जाकर समाप्त हो गयी हैं। इसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी भी दोनों नाड़ियों से अलग होकर 'कपाल' के पीछे की ओर जाकर सीधे ब्रह्मरन्ध्र से मिल गयी है।

ब्रह्मरन्ध्र के सम्बन्ध में पिछले प्रकरण में विस्तार से लिख चुका हूँ। विचार की तरंगें इसी ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से सुषुम्ना में प्रवेश कर मेडुला ओब्लांगटा से मस्तिष्क में पहुँचती हैं।

अब मूलाधार यानि 'योनिचक्र' के विषय में भी जान लेना जरूरी है। भौतिक शरीर के निर्माण का बीज इसी स्थान पर रहता है। मूलाधार अथवा त्रिकोण योनिचक्र शक्ति का केन्द्र है—इसलिए कि तीनों नाड़ियों के द्वारा मन, प्राण और वाक् (विचार) की शक्तियाँ इसी केन्द्र में प्रकट होती हैं और प्रकट होकर सारे शरीर में हजारों अन्य नाड़ियों के द्वारा सञ्चारित होती रहती हैं। यही कारण है कि तांत्रिक लोग योनिचक्र को महाशक्तिपीठ कहते हैं। पीठ का मतलब है शक्ति का केन्द्र।

त्रिकोणात्मक शक्तिपीठ के ऊपर वाले दोनों कोणों में मन:शक्ति और प्राणशक्ति का प्रकटीकरण होता है और नीचे वाले कोण में विचारशक्ति का। तांत्रिक-साधना में इन तीनों शक्तियों को महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती के रूप में चित्रित किया गया है। एक ही मूल, आदि अथवा परमा शक्ति के तीन रूप। तीन रूपों में प्रकटीकरण—मन:शक्ति महालक्ष्मी है, जिसे 'एनर्जी' कहा जा सकता है; प्राणशक्ति महाकाली है, जिसे 'फोर्स' कहा जा सकता है; इसी प्रकार विचारशक्ति महासरस्वती है, जिसे आप 'पावर' कह सकते हैं। एनर्जी, फोर्स और पावर—ये तीनों बराबर जीवनी शक्ति के रूप में हमारे शरीर में काम कर रही हैं।

त्रिकोण पीठ के बिलकुल बीच में एक बिन्दु है। तांत्रिक लोग 'बिन्दु' से ही सृष्टि का निर्माण होना बतलाते हैं। जिसके सम्बन्ध में मैं पिछले प्रकरण में विस्तार से बतला चुका हूँ। तन्त्र के अनुसार बिन्दु का मतलब है शिवशक्ति का सामञ्जस्य या सम्मिलित रूप। दूसरे शब्दों में इसी को 'आत्मशक्ति' कहते हैं। 'आत्मा' अथवा 'आत्मशक्ति' है क्या? इसको लेकर बहुत सारा झमेला खड़ा किया शास्त्रकारों ने। मगर मुझे उन झमेलों में नहीं पड़ना है—चूड़ामणि ने कहा। सृष्टि की प्रक्रिया में परमात्मा का एक महत्त्वपूर्ण अंश अथवा रूप है—आत्मा। आत्मा एक ऐसी वस्तु है, जो शाश्वस्त है, अखण्ड है और नित्य है। उसका न कभी नाश होता है और न तो उस पर देश, काल आदि का प्रभाव ही पड़ता है। सृष्टि के प्राक् काल में आत्मा का निर्माण विश्वब्रह्माण्ड के दो मूल परमतत्त्वों से हुआ। तन्त्र में उन दोनों तत्त्वों को शिव और शक्ति तत्त्व कहते हैं। योग में पुरुष और प्रकृति कहते हैं। दार्शनिकों की भाषा में इसी को ब्रह्म और माया कहते हैं।

शिवशक्ति अथवा प्रकृतिपुरुष के समन्वय से अथवा सामञ्जस्य से जिस तीसरे तत्त्व का आविर्भाव हुआ—वही आत्मतत्त्व है। वह आत्मतत्त्व बिन्दु रूप है। अत: बिन्दु में दोनों तत्त्वों के सम्मिश्रण से एक ऐसी विलक्षण ऊर्जा उत्पन्न होती हैं, जिसे 'आत्मशक्ति' कहा जाता है। बाद में जब यही विलक्षण 'ऊर्जा' सृष्टि की प्रक्रिया में आती है, तो उसका नाम 'चेतना' हो जाता है।

आत्मा, आत्मतत्त्व, आत्मशक्ति और चेतना में बस इतना ही सूक्ष्म भेद है। मूलाधार अथवा त्रिकोणात्मक योनिचक्र में जिस कुण्ड की चर्चा की गयी है—वह आत्मा की ऊर्जा, आत्मा की शक्ति अथवा परम चेतना का कुण्ड है। इसीलिए तांत्रिकों की भाषा में उस कुण्ड को, उस केन्द्र को और उस बिन्दु को 'महाशक्तिपीठ' अथवा आत्मशक्तिपीठ कहा जाता है। तांत्रिक साधना में आत्मशक्ति ही परमा शक्ति, आद्या शक्ति अथवा परमेश्वरी रूपा अचिन्त्य महाशक्ति है। योग योगेश्वरी 'कुण्डलिनी' है। मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि 'आत्मशक्ति' कुण्डलिनी के रूप में हमारे शरीर में सुषुप्त अवस्था में है। इसी

अवस्था को 'जीवभाव' कहते हैं। अपने केन्द्र में आत्मशक्ति, मनःशक्ति, प्राण शक्ति और बिचारशक्ति के रूप में एक ओर तीनों नाड़ियों में अहर्निश प्रवाहित तो होती रहती हैं, लेकिन स्वयं अपने निज रूप में सुषुप्त रहती हैं।

चूड़ामणि ने बतलाया कि त्रिकोण चक्र के बीच में स्थित बिन्दु अथवा ऊर्जा कुण्ड सर्प की कुण्डलिनी के आकार का है। इसलिए भी आत्मशक्ति को कुण्डलिनी के नाम से पुकारते हैं। आत्मशक्ति केन्द्र से जो ऊर्जा मन और प्राण की शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर अपनी-अपनी नाड़ियों में प्रवाहित होती है, उसका केन्द्र क्रमशः मस्तिष्क और हृदय है। इसी प्रकार विचारशक्ति का केन्द्र नाभि है। शक्ति के इन तीनों केन्द्रों को आत्मशक्ति के केन्द्र से जोड़ने वाली एक अति महत्त्वपूर्ण नाड़ी है, जिसे गुह्यनी नाड़ी कहते हैं।

गुह्यनी नाड़ी का पथ मस्तिष्क से शुरू होता है। कण्ठ के पास जहाँ जीभ समाप्त होती है, उसमें गाँठ पड़ी होती है। इसी गाँठ को 'रुद्रग्रन्थि' कहते हैं। रुद्रग्रन्थि के आगे चलकर वह हृदय में पहुँचती है। वहाँ भी एक गाँठ है और उस गाँठ को विष्णुग्रन्थि कहते हैं। वहाँ से गुह्यनी नाड़ी का पथ आगे बढ़ता है और नाभि के पास आता है। वहाँ भी एक गाँठ है, जिसे 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं। इस प्रकार गुह्यनी नाड़ी में तीन गाँठ यानी ग्रन्थियाँ हैं। रुद्रग्रन्थि के उपर गुह्यनी पथ को 'दिव्यौघ पथ' कहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म ग्रन्थि के नीचे गुह्यनी पथ को महापथ कहते हैं। चूड़ामणि ने कहा—'ये तीनों ग्रन्थियाँ और ये दोनों पथ योगतन्त्र का गम्भीर विषय है। इनके रहस्य को समझना अति कठिन है। सद्गुरु ही इनके रहस्य को बतला सकता है। जैसा कि बतलाया गया है—अपने तीन रूपों में आत्मशक्ति क्रियाशील है, मगर स्वयं अपने निज रूप में सोयी हुई है, जिसे 'माया' अथवा 'जीवभाव' कहते हैं। आत्मशक्ति का जागरण ही कुण्डलिनी का जागरण है।

मन, प्राण और विचार के दो-दो रूप हैं। पहला रूप व्यष्टि है और दूसरा रूप है समष्टि। समष्टि रूप व्यापक अनन्त और असीम है, जबकि व्यष्टि रूप मानव शरीर में सीमाबद्ध व मर्यादित है। कुण्डलिनी का जागरण होने पर एक ओर मन, प्राण और विचार की शक्ति सीमा व मर्यादा को छोड़कर सर्वव्यापक और समष्टि के रूप में परिवर्तित हो जाती है और दूसरी ओर आत्मशक्ति भी परमज्ञान के रूप में परिवर्तित होकर हमारे लिए परम निर्वाण का मार्ग खोल देती है। तीनों शक्तियों का व्यष्टि रूप में समष्टि में परिवर्तित होने का मतलब है--सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य-स्थापन और उसका ज्ञान और उसके बाद सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण यानी मोक्ष।' 'जानते हो शर्मा'--चूड़ामणि बोली--योगतन्त्र का एकमात्र यही लक्ष्य है और यही उद्देश्य है, जिसे साकार और पूर्ण करती है एकमात्र कुण्डलिनी-साधना।

० ० ०

तन्त्र के कई सम्प्रदाय हैं, कई भेद हैं, कई मार्ग हैं और कई प्रकार की साधनाओं की दिशायें भी हैं। मगर सभी का लक्ष्य एक है, प्राप्तव्य एक है और एक ही उपलब्धि है। चूड़ामणि ने आगे बतलाया कि तांत्रिक साधना की दो भूमि है—बाध्य भूमि और आन्तर भूमि। इन दोनों प्रकार की साधना भूमियों का आधार पञ्च मकार है—मांस, मदिरा, मुद्रा, मीन और मैथुन। बहिःसाधना भूमि में इन पञ्च मकारों का तात्त्विक अर्थ है। मगर आन्तर साधना भूमि में इनका आध्यात्मिक स्वरूप और अर्थ है।

पंच मकार का विषय अत्यधिक गम्भीर और रहस्यमय है। बहिःसाधना में पाञ्चभौतिक तत्त्वों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मांस अग्नितत्त्व प्रधान है, मदिरा पृथ्वीतत्त्व प्रधान है, मुद्रा आकाशतत्त्व प्रधान है, मीन (मछली) जलतत्त्व प्रधान है तथा मैथुन वायुतत्त्व प्रधान है। तात्त्विक दृष्टि से पंचमहाभूत तत्त्वों पर विजय प्राप्ति के उद्देश्य से पंच मकारों को साधना में स्वीकार किया जाता है। मगर इसमें 'योग' की आवश्यकता है। बिना यौगिक क्रिया के जाने-समझे और बिना उसके आधार के जो लोग पंच मकार का सेवन करते हैं, उन्हें साधक नहीं समझना चाहिए।

पंच मकार का आध्यात्मिक स्वरूप क्या है ? यह पूछने पर चूड़ामणि ने बतलाया कि पञ्चभूत तत्त्व पर विजय प्राप्त होने के बाद साधक का प्रवेश तन्त्र की आध्यात्मिक भूमि में होता है। इस भूमि में पञ्च मकार अन्तर्योग से सम्बन्धित हो जाता है। रात्रि के चौथे पहर के समय ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार चक्र के केन्द्र बिन्दु से नित्य अढ़ाई बूँद अमृत का क्षरण होता है। योगतन्त्र की भाषा में उसे 'मदिरा' कहते हैं। उसे पीने वाला साधक मद्यप है, मदिरापायी है। जो साधक व्यर्थ की बातें नहीं करता, कम बोलता है और पाप-पुण्य रूपी पशुओं का जो ज्ञान रूपी खड्ग से वध करता है तथा जो अपने चित्त को ब्रह्म में लीन रखता है—वही सच्चा मांसाहारी है। इड़ा और पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला श्वास-प्रश्वास ही मत्स्य है। जो साधक प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को बन्द करके कुम्भक द्वारा सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का संचालन करता है—वही साधक मत्स्यभक्षक है। सत्संग के प्रभाव से मुक्ति होती है। बुरी संगति को छोड़कर सत्संगति को प्राप्त करना ही 'मुद्रा' है। सुषुम्ना नाड़ी और प्राण के समागम को मैथुन कहते हैं। इस प्रकार पंच मकार भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक अत्यन्त रहस्यमय विषय है, जिसे एक योगी ही समझ सकता है।

'तुमको मालूम होना चाहिए'—चूड़ामणि आगे कहने लगी—जहाँ तक 'कुण्डलिनी योग' का प्रश्न है, वह पूर्ण रूप से 'पंच मकार' पर ही आधारित है। तांत्रिक साधना का एक सम्प्रदाय है—'कौल सम्प्रदाय'। इस सम्प्रदाय की एकमात्र साधना 'कुण्डलिनी' साधना है। 'कौल' शब्द 'कुल' शब्द से बना है।

कुल का अर्थ है--कुण्डलिनी शक्ति। इसी प्रकार 'अकुल' का अर्थ होता है 'शिव'। कौल-सम्प्रदाय की भाषा में कुल शक्ति है और अकुल हैं 'शिव'। एक का केन्द्र मूलाधार चक्र है और दूसरे का केन्द्र है सहस्रार चक्र। शिव-शक्ति का संयोग ही कुण्डलिनी साधना का एकमात्र लक्ष्य है। इसी संयोग को योग तांत्रिक भाषा में 'सामरस्य' महामिलन कहते हैं। इस मिलन से आत्मा को जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे ही परमानन्द, आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द कहते हैं।

० ० ०

कार्तिक का महीना था। रात आधी से ज्यादा गुजर चुकी थी। कुहरे की चादर में लिपटी चाँदनी। निस्तब्ध वातावरण। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। गिरिनार के पर्वतों के पीछे से चतुर्दशी का रूपहला चाँद झाँक रहा था। मैं चाँद की ओर अपलक निहार रहा था। मेरे बिलकुल निकट बैठी हुई थी चूड़ामणि भी। वह भी मौन थी और निहार रही थी चाँद की ही ओर।

'क्या सोच रही हो चूड़ामणि !' सिर छुपाकर धीरे से पूछा मैंने। चाँदनी में उसका चेहरा बड़ा ही सुन्दर लग रहा था, उस समय।

मेरे प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया चूड़ामणि ने। पूर्ववत् अपलक निहारती रही वह चाँद की ओर। ऐसा लगा मानों वह किसी स्वप्नलोक में विचरण कर रही हो। सहसा उसने अपना एक हाथ मेरी गोद में रख दिया और न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर उसके हाथ को थाम लिया मैंने हौले से। कोमल-कमनीय हाथ का स्पर्श। एक विचित्र अनुभूति हुई आत्मा को। सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा एकबारगी। न जाने कितनी देर तक उस अनिर्वचनीय स्थिति में रही मेरी आत्मा — बतला नहीं सकता। हल्का-हल्का सा एक नशा छाता जा रहा था, मेरे मन-प्राणों पर। तभी चूड़ामणि का स्वर सुनाई पड़ा मुझे। वह कह रही थी—'शर्मा ! मैं जानती हूँ कि तुम सत्य की खोज के लिए निकले हो ! सत्य की खोज वास्तव में जीवन के अस्तित्व के रहस्यों की खोज है। जीवन है, जगत् है, अस्तित्व है, ज्ञान है, इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है, विचार है, सब कुछ है। मगर सब कुछ होते हुए भी जीवन का सत्य अज्ञात और अपरिचित है। शर्मा···जीवन का यही अज्ञान और यही अपरिचय पीड़ादायी है और फिर जीवन के प्रवाह में मनुष्य विकास की जिस स्थिति में पहुँचा है, वह भी अपर्याप्त है। अधूरा है। विराट् सम्भावनाओं की तुलना में मानव एक बीज मात्र है। उसके भीतर बहुत कुछ सोचा हुआ है। बहुत कुछ छिपा हुआ है। मनुष्य के भीतर जागरण की एक लम्बी श्रृंखला प्रतीक्षा कर रही है।····सत्य को खोजा नहीं जाता। सत्य की खोज नहीं की जा सकती। सत्य को प्राप्त किया जाता है और वह प्राप्ति अनुभूति से ही

सम्भव है। तुम्हारे भीतर भी जागरण की लम्बी शृंखला इन्तजार कर रही है।'

'मगर वह जागरण होगा कैसे चूड़ामणि ?' मैंने कातर स्वर में कहा— 'और कैसे प्राप्त होगी सत्यानुभूति मुझे ?' मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता। मैं तो कुछ भी नहीं जानता। संसार में मेरा मन नहीं लगता। घर-परिवार और समाज में रहने को जी नहीं चाहता। शरीर से भी विरक्ति हो गयी है मुझको। कहाँ जाऊँ, किससे मिलूँ और किससे कहूँ अपने मन की व्यथा ? किससे कहूँ अपने मन की पीड़ा ?···तुम्हीं बतलाओ चूड़ामणि, तुम्हीं कुछ बोलो····?'

सोचा, चूड़ामणि कुछ बोलेगी, कुछ कहेगी, मगर नहीं, वह बस अपलक मेरी ओर निहारती रही काफी देर तक। मुझे लगा जैसे वह अपनी आँखों की भाषा में कह रही हैं— 'मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। मैं तुम्हें कराऊँगी सत्य की अनुभूति। फिर न जाने क्यों और कैसे मैं आत्मविभोर होकर लिपट गया चूड़ामणि की देह से ? एक अज्ञात और एक अपरिचित-से आनन्द के प्रवाह सागर में तैरने लगा उस समय मेरा सारा अस्तित्व।

चतुर्दशी का चाँद पहाड़ों के पीछे छिप गया था। पूरब का स्याह आकाश शनैः-शनैः सफेद होने लगा था अब। अम्बर देवी के मन्दिर के कलश को चूमता हुआ भोर का आखिरी तारा झिलमिला रहा था। चूड़ामणि का मौन भंग हुआ। बोली—'बिना आणव मल का नाश हुए साधना मार्ग में चला नहीं जा सकता।'

'आणव मल क्या है ?'

'कर्ममल यानी कर्मों के अणु।' चूड़ामणि कहने लगी—'जब कोई व्यक्ति किसी भी तरह का कर्म करता है, तो उसके अणु उस व्यक्ति से चिपक जाते हैं—उन्हीं अणुओं को कर्ममल या 'कर्माण' कहा जाता है। कर्ममल भौतिक है। वह भी पदार्थों के अणुओं की तरह व्यक्ति को पकड़ लेता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में सबसे अधिक कर्म करता है, उसके अणु बराबर चिपकते जायेंगे उस व्यक्ति के व्यक्तित्व से। फिर कालान्तर में वे घनीभूत होकर कर्म-संस्कार का रूप धारण कर लेंगे।

कर्माणुओं से छुटकारा पा लेने को अथवा कर्माणुओं से अपने आपको मुक्त करा लेने को 'निर्जरा' कहते हैं। देवताओं को 'निर्जरा' कहते हैं। इसलिए कि उनके पास कर्ममल नहीं है। कर्माणुओं से मुक्त हैं वे। जिस दिन मनुष्य के सारे कर्माणु झड़ जाते हैं, उसी दिन और उसी क्षण उसका अपना शुद्धतम रूप सामने आ जाता है। उसी शुद्धतम रूप का दूसरा नाम 'देवता' है। अब भी हम कोई अच्छा या बुरा कर्म करते हैं, उसी क्षण वह कर्म आणविक मल के रूप में परिवर्तित होकर हमसे चिपक जाता है—दीर्घ काल तक के लिए। हम

मर जायेंगे। हमारा शरीर हमसे छूट भी जायेगा, तब भी वे कर्माणु बने रहेंगे। वे हमसे अलग नहीं होंगे। हमारे शरीर के नष्ट होने के साथ भी वे नष्ट नहीं होंगे। उनका अस्तित्व बराबर बना ही रहेगा। कालान्तर में हमें जहाँ दूसरा शरीर मिला या हमारा पुनर्जन्म हुआ कि वे कर्माणु फिर हमसे चिपक जायेंगे। इसलिए कि वे अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। वास्तव में कर्माणु ही हमारे जन्म-जन्मान्तर के कारण होते हैं।

हमारा मनोमय शरीर हमारे सूक्ष्म शरीर से भी सूक्ष्मतम है। कहने का मतलब यह कि हमारे चारों शरीर एक-दूसरे से इस प्रकार चिपके हुए हैं कि उनके बीच जरा-सा भी रिक्त स्थान नहीं है। दूसरी बात यह कि उनके परमाणु एक दूसरे से सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होते चले गये हैं। हमारे कर्माणु उन्हीं से लिप्त हो जाते हैं।

'कर्ममल, आणवमल अथवा कर्माणुओं का निर्माण न हो—इसके लिए क्या करना चाहिए?' मैंने पूछा।

'अनासक्त भाव से, निर्लिप्त भाव से और बिना किसी फल या परिणाम की इच्छा से किये गये कर्मों के अणु नहीं बनते। जब कर्माणुओं का निर्माण न होगा, तब कर्म के संस्कार भी नहीं बनेंगे। इसी को कर्म-मुक्ति कहते हैं। योगियों की भाषा में इसी का नाम है—कर्मसंन्यास।'

सहसा प्रसंग बदलकर चूड़ामणि बोली—'शर्मा, मैं तुमको अपने मन की एक बात बतलाना चाहती हूँ। सुनना चाहोगे उसे?'

'क्यों नहीं? सुनाओगी, तो अवश्य सुनूँगा।'—मैंने कहा।

'विश्वास भी करोगे न?'

'हाँ! विश्वास भी करूँगा।'

'पिछले कई साल से तुम मुझे नवयुवती के जिस रूप में देख रहे हो—उस रूप की सृष्टि मेरी अपनी यौगिक शक्ति से हुई है। अपने योगबल से शर्मा, मैं कोई भी रूप, कोई भी शरीर धारण कर सकती हूँ। किसी के भी जीवित या मृत शरीर में प्रवेश कर सकती हूँ। मगर शर्मा इन सब में अब मेरे मन में कोई आकर्षण नहीं रह गया है।' थोड़ा रुककर पूरब की ओर लाल होते हुए आकाश को निहारने लगी वह। फिर आगे कहने लगी—'मेरे वास्तविक रूप को और वास्तविक शरीर को तुमने देख ही लिया है। वह शरीर अब काफी जीर्ण-शीर्ण, कमजोर, शिथिल और उपेक्षित हो गया है। उसमें रहने से मेरा मन घबराता है। आत्मा का तेज और आत्मा की प्रखरता भी मन्द और शिथिल पड़ जाती है। अशक्तता और हीनता का अनुभव करती हूँ मैं उस जरजर काया में। इसलिए अब उस शरीर में वापस लौटने की इच्छा नहीं होती मेरी।'

'तुम्हारा मतलब समझा नहीं मैं चूड़ामणि! तुम कहना क्या चाहती हो?'

'मुक्ति चाहती हूँ शर्मा, संसार और शरीर की यात्रा से मुक्ति।' स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई बोली चूड़ामणि।

'फिर मेरा क्या होगा ? कौन बतलायेगा मुझे साधना की गोपनीयता ? कौन बतलायेगा और कौन समझायेगा मुझे साधना का रहस्य ?'—विह्वल स्वर में बोला मैं।

काफी देर तक मौन साधे रही चूड़ामणि मेरी बात सुनकर। लगा जैसे कोई गुत्थी सुलझाने का प्रयास कर रही है वह।

'मैं तुमको योगतंत्र की जितनी भी साधनायें हैं, उनका सारा रहस्य और सारी गोपनीयता बतला दूँगी। मगर तुमको एक काम करना होगा। करोगे तुम ?'

'कौन-सा काम ?' मैंने पूछा।

'अमावास्या कब है ?' गम्भीर स्वर में पूछा चूड़ामणि ने।

'कल तो कार्तिक की पूर्णिमा है और चौदह दिन बाद होगी अमावास्या'।

'उस अमावास्या की महानिशा वेला में तुमको काली के सामने मेरी बलि देनी होगी। बोलो, दे सकोगे न मेरी बलि ? कर सकोगे न यह काम ?'

'ऐं, क्या ?' एकबारगी चौंक पड़ा मैं—'बलि देनी होगी मुझे और वह भी तुम्हारी ? नहीं ! नहीं !! यह हत्या मुझसे न होगी। बलि नहीं दे सकूँगा मैं। यह काम मुझसे कभी भी न होगा चूड़ामणि !'—काँपते स्वर में बोला मैं।

'देनी होगी बलि'। स्वर कठोर था चूड़ामणि का—'तुमको मालूम होना चाहिए कि मेरी मृत्यु नहीं है। मेरी कभी भी मृत्यु नहीं होगी। मैंने उस पर विजय प्राप्त कर ली है। मगर शर्मा अब मेरी यह विजय मेरे ही लिए अभिशाप बन गयी है। अपनी इस विजय को पराजय में बदलना चाहती हूँ और यह तभी सम्भव है, जबकि मेरी बलि होगी'।

समझ में नहीं आया मेरे। एक ओर अपनी मृत्यु चाहती है, शरीर और संसार से मुक्ति चाहती है और दूसरी ओर मुझे साधना का रहस्य भी बतलाना चाहती है चूड़ामणि। कैसे सम्भव है यह ?

मेरे मन के भाव को शायद समझ गयी चूड़ामणि। बोली—'मृत्यु से पराजित होकर मैं शरीर और संसार से मुक्त हो जाऊँगी अवश्य मगर फिर भी मैं तुमसे बराबर सम्पर्क बनाये रखूँगी अगोचर रूप से और उसी स्थिति में साधना के आध्यात्मिक मार्ग में तुम्हारी सहायता भी करूँगी'।

'सब ठीक है। मगर चूड़ामणि मुझसे तुम्हारी बलि नहीं दी जायेगी। मेरे हाथ से खड्ग नहीं उठेगा तुम्हारी गरदन पर। रक्त-रंजित तुम्हारे शव को मेरी आँखें देख न सकेंगी'।

मेरी बात सुनकर चूड़ामणि ने कोई जवाब नहीं दिया। एक बार सिर्फ उसने सिर घुमाकर गहरी नजरों से मेरी ओर देखा और फिर उठकर चली

गयी। एकबारगी अशान्त हो उठा मेरा मन और एकबारगी व्याकुल हो उठी मेरी आत्मा। अन्त में जिस बात की मुझे शंका थी वही हुआ। मेरी आँखों को चूड़ामणि का रक्त-रंजित शव देखना ही पड़ा। अमावास्या की महानिशा वेला में उसने स्वयं अपनी बलि दे दी—गुफा में स्थित काली की भयंकर मूर्ति के सम्मुख। खण्डित मुण्ड माँ महामाया के चरणों पर पड़ा था और खून में डूबा हुआ शरीर पड़ा था पंचमुण्डी आसन पर। मन्दिर के वातावरण में रहस्य का धुँआ जैसे भरा था। पंचमुखी दीपाधार पर जलते हुए प्रदीप के हलके प्रकाश में माँ महामाया पराशक्ति की जीभ भी मुझे रक्तालिप्त लगी। अपने आपको रोक न सका मैं। आँखों में आँसू छलछला आये और फफक-फफक कर रो पड़ा मैं माँ के चरणों को पकड़ कर और उसी स्थिति में बोला—'माँ मैंने तुमसे अपने लिए कभी कुछ नहीं माँगा। बस मैं यही चाहता था कि तुम मुझे वह ज्ञान दो, जिसके उज्ज्वल प्रकाश में योग और तंत्र के तिमिराच्छन्न रहस्यों को अनावृत्त कर सकूँ और प्रज्वलित कर सकूँ। भारतीय संस्कृति और साधना के दीप को। मगर यह क्या हो गया माँ? अब कहाँ जाऊँ? किससे मिलूँ···मैं'?

जब मैं इस प्रकार विचलित स्वर में और अवरुद्ध कण्ठ से बार-बार अपने वाक्यों को दुहरा रहा था—उसी समय मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सामने खड़ी चूड़ामणि कह रही है—'क्यों हताश-निराश हो रहे हो तुम? मैं तो हूँ न तुम्हारे साथ···'!

प्रकरण : चालीस

वक्रेश्वर श्मशान की भैरवी

अपनी ३५ वर्ष की लम्बी कुण्डलिनी यात्रा में मेरी कुछ साधक-साधिकाओं से मुलाकात हुई, जिन्होंने अपने पार्थिव शरीर को तो अवश्य छोड़ दिया है, मगर अपार्थिव, अभौतिक रूप से मेरा उनसे अब भी बराबर सम्बन्ध बना हुआ है। उनके विचारों की सूक्ष्म अदृश्य तरंगें बराबर हमसे टकराती रहती हैं और उनके आध्यात्मिक विचारों व भावों को मैं बराबर ग्रहण करता रहता हूँ। मैं आपको यह बतला दूँ कि आत्मा और शरीर का आपसी सम्बन्ध दो सगे भाई के समान है। बिना शरीर के आत्मा रह ही नहीं सकती। मृत्यु के फलस्वरूप भौतिक शरीर से अलग होते ही वह उसके बाद के दूसरे शरीर को तुरन्त ग्रहण कर लेती है।

आत्मा का दूसरा शरीर सूक्ष्म शरीर है। अगर उसको तुरन्त यह शरीर प्राप्त नहीं हुआ तो अपने संस्कार के अनुसार वह तब तक के लिए स्वयं एक शरीर की रचना कर लेती है, जब तक कि उसे सूक्ष्म शरीर की उपलब्धि नहीं होती। इस शरीर को वासना शरीर या प्रेतयोनि कहते हैं। मगर फिर भी आत्मा का मोह और आकर्षण अपने मृत भौतिक शरीर से खत्म नहीं होता। जब तक भौतिक शरीर पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाता, तब तक वह मोह और आकर्षण बना रहता है। इसीलिए हमारे हिन्दू धर्म में शव को जलाकर उसके अस्तित्व को पूर्णरूपेण नष्ट करने की परम्परा है। लेकिन संन्यासी के शव को जलाने का नियम नहीं है। मृत शरीर को इसलिए जला देते हैं कि उसकी आत्मा उसके आस-पास न भटक सके। संन्यासी के शव को इसलिए नहीं जलाते कि जीवित अवस्था में ही संन्यासी की आत्मा ने शरीर के आस-पास भटकना बन्द कर दिया था। शरीर के प्रति किसी भी प्रकार की मोहमाया नहीं रह गयी थी।

जिस योगी ने, जिस साधक ने और जिस संन्यासी ने जीवन भर पवित्रता, शुद्धता और त्याग-तप का जीवन व्यतीत किया हो, मृत हो जाने पर भी उसका शरीर सैकड़ों-हजारों साल की दीर्घ अवधि तक अपने विचार-तरंगों को भौतिक जगत में विकीर्ण करता रहेगा। योगी साधक और साधु-संन्यासियों को, यदि वे सच्चे अर्थों में वैसे हैं, समाधि देने की परम्परा के पीछे एकमात्र उद्देश्य यही है। ऐसे महापुरुषों की समाधि महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण होती है। उनकी समाधि के आस-पास उस महापुरुष की विचार-तरंगें बराबर विकीर्ण होती रहेंगी। जो कोई भी उस समाधि के निकट रहेगा या निकट जायेगा, उसे वे विचार-

तरंगें अगोचर रूप से आकृष्ट करने लग जायेंगी। यही मूल कारण है कि जिन महापुरुषों के साथ मेरा कुछ समय तक सम्बन्ध रहा, उनके मृत हो जाने पर भी एक विशेष यौगिक अवस्था में मेरा मस्तिष्क उनके विचार-तरंगों को ग्रहण करने लग जाता है। चूड़ामणि जैसी कई ऐसी उच्च कोटि की योगात्मायें हैं, जो इस समय पार्थिव शरीर में नहीं है, किन्तु उनकी अभौतिक सत्ता से मेरा सम्पर्क बना रहता है। उनकी विकीर्ण हो रही विचार-तरंगों को मेरा मस्तिष्क ग्रहण करता रहा है।

जिस स्थान पर योगात्मायें अपने शरीर का त्याग करती हैं, उस स्थान पर उनकी विचार-तरंगें दीर्घ काल तक और विशेषरूप से सक्रिय रहा करती हैं। उच्चकोटि के साधु, संन्यासियों, साधकों एवं योगियों की और साधारण लोगों की मृत्यु में काफी अन्तर होता है। साधारण लोगों की मृत्यु के समय पहले शरीर से प्राण निकलते हैं और बाद में आत्मा शरीर का त्याग करती है, जबकि साधु, संन्यासियों, योगी और साधकों की आत्मा पहले शरीर को छोड़ती हैं और अन्त में एक-के-बाद एक करके शरीर से प्राणों का बहिर्गमन होता है। यही कारण है कि साधु-संन्यासियों को मुमुर्षु अवस्था में समाधि दी जाती है। मुमुर्षु अवस्था से तात्पर्य है—चेतनाशून्य अवस्था में भी प्राणों का शरीर में संचरण होना।

मुमुर्षु अवस्था में संन्यासियों की आत्मा अपने स्वशरीर यानि आत्मशरीर में स्थित रहती है और जब समाधि के बाद मुमुर्षु अवस्था समाप्त हो जाती है और प्राणों का बहिर्गमन हो जाता है, तब वह अपने निजलोक यानि आत्मलोक में चली जाती है।

समाधि कई प्रकार की होती है। साधु-संन्यासियों की समाधि में और योगी, साधकों की समाधि में भिन्नता पायी जाती है। वास्तव में समाधि का विषय अत्यन्त गम्भीर और रहस्यमय है। इस सम्बन्ध में मैं विस्तार से आगे लिखूँगा।

विचार शक्ति की अनन्त सम्भावनायें हैं, लेकिन सभी सम्भावनायें भौतिक स्तर की ही हैं, इसलिए हमें कुछ भी सोचना हो, कुछ भी विचारना हो, तो अत्यधिक ध्यान रखकर सोचना-विचारना चाहिए। इसलिए कि हमारे प्रत्येक अच्छे-बुरे विचारों की तरंगें सूक्ष्मतम वायुमण्डल में बन रही हैं और फैल रही हैं हमारे चारों ओर के वातावरण में। हम संसार में नहीं रहेंगे, मगर हमारी विचार-तरंगें सैंकड़ों-हजारों साल तक संसार में अपना अस्तित्व बनाये रखेंगी। हम मर जायेंगे, मगर हमारे विचार नहीं मरेंगे। वे बराबर जीवित रहेंगे। हमारी आयु सीमित है, मगर हमारे विचारों की आयु सैंकड़ों-हजारों साल की है; इसलिए कि वे सूक्ष्मतम हैं। हमारे संसार में जितने भी दिव्य महापुरुष हुए हैं, उनके विचारों की तरंगें आज भी विद्यमान हैं। इसीलिए आज

वैज्ञानिक लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि राम, कृष्ण, बुद्ध, जीसस आदि लोग संसार में कभी हुए हैं, तो उनकी विचार-तरंगों को कभी-न-कभी पकड़ा जा सकेगा और तब वैज्ञानिक रूप से यह भी प्रमाणित किया जा सकेगा कि श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था अथवा नहीं, क्योंकि ऐसे दिव्य महापुरुषों के विचारों और शब्दों की तरंगें और ध्वनियाँ आज भी लोक-लोकान्तरों अथवा ग्रह-उपग्रहों से टकरा रही होंगी।

आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि ऐसे भी विचार, जो व्यक्त नहीं किये गये हैं और जिन्हें शब्द रूप भी नहीं दिया गया है और जो केवल मन-ही-मन में रह गये हैं, वे भी तरंगों के रूप में परिवर्तित होकर वायुमण्डल में अपना अस्तित्व हजारों साल तक बनाये रखते हैं। उनको भी पकड़ा जा सकता है। जहाँ जिस स्थान पर विचार और शब्द ध्वनि उत्पन्न होती हैं, वहाँ उस स्थान पर वे मर जाती हैं, उनका अस्तित्व वहाँ नष्ट हो जाता है, मगर उनकी तरंगें बराबर आगे बढ़ती जाती हैं। हम उनको तभी पकड़ सकते हैं, जब उनके आगे चले जायेंगे। जैसे रेडियो स्टेशन और टेलीविजन केन्द्र से प्रसारित होने वाली शब्द और दृश्य तरंगें तुरन्त उसी क्षण आपके रेडियो व टेलीवीजन सेट तक नहीं पहुँच पाती। तरंगों के उत्पन्न होने और यथास्थान पहुँचने के बीच अन्तराल होता है, क्योंकि ध्वनि की यात्रा समय से बँधी हुई है। उसके अन्तराल में जो क्षण हैं, यदि हम उस क्षण को पकड़ सकें, तो निश्चय ही हम अतीत में चले जा सकते हैं और अतीत की ध्वनियों को और दृश्यों को भी देख सकते हैं। योग का यही 'क्षण विज्ञान' है। वैज्ञानिकों का कहना है कि हमारी पृथ्वी से विचारों की और घटनाओं की तरंगें ईथर द्वारा अनन्त लोकों में पहुँच रही हैं। यदि हम किसी भी वैज्ञानिक साधन द्वारा आगे बढ़कर उन तरंगों को पकड़ सकें, तो हम उन विचारों को पुनः जान सकते हैं और उन घटनाओं को भी पुनः देख सकते हैं।

पृथ्वी पर महाभारत जैसे जितने भी युद्ध हुए हैं, उनकी घटनाओं की तरंगें आज किस लोक या जगत् में पहुँच रही होंगी, यह बतलाया नहीं जा सकता। युद्ध समाप्त हो गये, घटनायें घट गयीं, मगर उनसे सम्बन्धित तरंगें इस विश्व ब्रह्माण्ड में आज भी कहीं-न-कहीं सुरक्षित हैं, कहीं-न-कहीं जीवित हैं, जैसा कि हम बतला चुके हैं मनुष्य की आयु कम है, मगर उसके विचारों की आयु अधिक है। उन विचारों की आयु तो और अधिक है, जो व्यक्त नहीं किये गये हैं और मन में ही रह गये हैं, क्योंकि वे और भी अधिक सूक्ष्म होते हैं। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी, उसकी आयु उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार जो वस्तु जितनी स्थूल होगी, उसकी आयु उतनी ही कम होगी। विचारों का अपना जगत् है। अतः विचार जगत् और भौतिक जगत् एक दूसरे से हमेशा प्रभावित हैं। भौतिक जगत् की वस्तुएँ हमें प्रभावित करती हैं और हमारे विचार उन्हें

प्रभावित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अपना विचार जगत् है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों का जगत् अपने साथ लेकर चल रहा है। हर समय उसके विचारों की तरंगें वातावरण में विकीर्ण होती रहती हैं, मगर वे तरंगें भी भौतिक ही हैं। विचारों का जन्म मन में होता है। मन विचार से भी सूक्ष्म है, इसलिए मन को भी भौतिक कहा जा सकता है। मन की भी अपनी तरंगें हैं। मन की तरंगें ही घनीभूत होकर विचार का रूप धारण कर लेती हैं। बाद में उन विचारों की भी तरंगें बन जाती हैं। वैज्ञानिकों का कहना है विचार-तरंगों की तरह मन की तरंगों को भी पकड़ा जा सकता है।

मानव जीवन में निद्रा का बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य का एक-तिहाई जीवन नींद में समाप्त हो जाता है। यदि हमारा जीवन साठ वर्ष का है, तो समझिए हमारे जीवन के बीस वर्ष नींद में समाप्त हो गये हैं। वे बीस वर्ष हमारे जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय रहे हैं, जिनसे हम अपरिचित रह गये हैं। वे समय अज्ञात हैं, हमारे लिए। हमारे जीवन के बीस वर्ष की वह निद्रा हमारे चालीस वर्ष के जीवन की आधारशिला है। जीवन का निर्माण, जीवन की अवधि और जीवन की गति एकमात्र निद्रा है। निद्रा ही जीवन का निर्माण करती है। जीवन की अवधि बढ़ाती है और जीवन को गति भी प्रदान करती है। बिना जागे हुए हम साठ वर्ष तक सो सकते हैं, मगर बिना सोये हुए हम साठ दिन भी जाग नहीं सकते। निद्रा की अवस्था में हम कहीं होते हैं और हमारा मन कहीं और होता है। हम जितनी गहरी नींद की अवस्था में रहेंगे, उतना ही हमारा मन अतीत की गहरायी में जायेगा और उतना ही गहरा भविष्य में प्रवेश करेगा। अतीत और भविष्य के जिन दृश्यों को मन अपने में समेटता है, उसी को हम सपना कहते हैं।

हम निद्रा की अवस्था में बराबर इस प्रकार सपनों के जगत् में विचरण करते रहते हैं। जागने पर जो अपना हमें स्मरण रहता है, वह पूरे सपने का आखिरी हिस्सा होता है। जब हमारी नींद टूटने के करीब होती है, उसी समय सपने का वह अन्तिम दृश्य हमारी स्मृति बन जाती है, जो जागने पर याद रहती है। लेकिन जो सपना अधिक गहरा होता है, उसके किसी भी अंश की स्मृति नहीं बन पाती। इसलिए वह सपना हमें स्मरण नहीं रहता। हलकी निद्रा में हमें जो सपने दिखाई देते हैं, वे तो हमें याद रहते हैं, मगर जो सपने गहरी नींद में बनते हैं, उनकी स्मृतियाँ न बनने के कारण वे हमें याद नहीं रहते। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि सपना ही हमारा वास्तविक जीवन है। हमारा वास्तविक रूप है। हमारे जीवन की सारी सच्चाई हमारे सपने में है। हमारा असली व्यक्तित्व सपने में ही प्रकट होता है। सपना जितना गहरा होगा, उतना ही हमारे जीवन के वास्तविक स्वरूप को, व्यक्तित्व को और सच्चाई को प्रकट करेगा। मगर कठिनाई यह है कि उतरे गहरे सपने

हमें याद नहीं रहते। उनकी स्मृतियाँ नहीं बन पातीं। जाग्रत् अवस्था में हम कुछ और ही होते हैं। हमारा जीवन, हमारा व्यक्तित्व और हमारा स्वरूप नकली होता है। उनमें सच्चाई नाममात्र की ही होती है। हम भीतर कुछ होते हैं और बाहर कुछ और ही होते हैं। नींद में हम स्वतन्त्र होते हैं, जबकि जाग्रत् अवस्था में परतन्त्र। सांसारिक, सामाजिक और व्यक्तिगत, नैतिकता, नियम, कानून और तरह-तरह के बंधन हमें स्वतन्त्र नहीं होने देते।

अभी तक वैज्ञानिकों ने केवल ध्वनि-तरंगों को पकड़ना और फिर उसे शब्द रूप देना जाना है। रेकर्ड, टेप आदि इसी के परिणाम हैं। मगर उन ध्वनियों को, जो मर चुकी हैं और जिनकी तरंगें आज भी ईथर में जीवित हैं, उन्हें पकड़ने का वे प्रयास कर रहे हैं। इसी प्रकार प्रयास कर रहे हैं, विचार तरंगों और मन की तरंगों को भी पकड़ने का। गहरे सपनों को भी पकड़ने के लिए उनका प्रयास चल रहा है, मगर कुण्डलिनी साधना द्वारा इन सारी सम्भावनाओं पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में यह सब मनोमय शरीर की ही उपलब्धियाँ हैं और आज का विज्ञान एक विशेष सीमा तक मनोमय जगत् में प्रवेश कर चुका है तथा मनोमय शरीर से काम भी लेना जान गया है। वह समय निकट ही है, जब विज्ञान मनोमय जगत् और मनोमय शरीर पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त कर लेगा।

कुण्डलिनी की वास्तविक साधना मनोमय शरीर से ही प्रारम्भ होती है। जो कुण्डलिनी साधक मनोमय शरीर को उपलब्ध हो गये हैं, वे अपने मानसिक एवं वैचारिक बल से अतीत में घटी हुई किसी घटना की तरंगों को पकड़ कर वर्तमान में उस घटना के दृश्य को टेलीविजन की तरह देख सकते हैं। सैकड़ों-हजारों साल पीछे की विचार-तरंगों, मानसिक तरंगों को पकड़ कर वे इच्छित महापुरुषों, दिव्य पुरुषों आदि के विचारों को जान समझ सकते हैं। इतना ही नहीं, वे गहरे सपनों में उतर कर अपने जीवन के अतीत और भविष्य के गर्भ में प्रवेश कर सकते हैं और अपने से सम्बन्धित उन तमाम घटनाओं को करतलवत् देख सकते हैं, जो अतीत में घट चुकी होती है और भविष्य में घटने वाली होती हैं। इसी प्रकार वे सपनों के गहन अन्तराल में प्रवेश कर अपने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को भी देख सकते हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी के विचार और मन की तरंगें अन्य लोक-लोकान्तरों में टकरा रही हैं, उसी प्रकार अनेक लोक-लोकान्तरों और ग्रह-उपग्रहों में आने वाली विचार-तरंगें और मानसिक तरंगें पृथ्वी से भी टकरा रही हैं। मनोमय शरीर को उपलब्ध साधक उन तरंगों को भी पकड़ सकता है और उसके माध्यम से सम्बन्धित लोक-लोकान्तरों और ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों को जान सकता है। वहाँ के निवासियों से भी अपना वैचारिक व मानसिक सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार के मनोमय शरीर को उपलब्ध अनेक साधक आज भी विद्यमान हैं और उनमें से कई लोगों से मेरा सम्पर्क रहा है और आज भी उनसे मेरा आन्तरिक सम्बन्ध है।

आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व मुझे एक योगिनी का सन्धान मिला था। शायद जनवरी का महीना था। रात्रि का दूसरा प्रहर गुजर रहा था। मैं नित्य की भाँति चेतसिंह के किले की बुर्जी पर बैठा महानिशा बेला की प्रतीक्षा कर रहा था।

उस समय तक मुझसे पटाचारा का सम्बन्ध घनिष्ट हो चुका था और मैं उसी के निर्देशन में महानिशा बेला में उन अशरीरी दिव्य आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया करता था, जो आकाशमार्ग से संचरण-विचरण किया करती हैं।

घोर निस्तब्ध रात्रि, चारों ओर बिखरा हुआ निबिड़ अन्धकार। यदा-कदा किले में निवास करने वाली प्रेतात्माओं की तीखी आवाजों से वह निस्तब्ध वातावरण काँप उठता था और उसी के साथ मेरा मन दहशत से भर जाता था। सहसा मेरी दृष्टि स्याह आकाश की ओर उठ गयी। क्यों उठ गयी थी? इसका कारण तो मैं नहीं बतला सकता, मगर दृष्टि उठते ही आकाश के स्याम पटल पर मैंने जो कुछ देखा, उसने एकबारगी मुझको रोमांचित कर दिया।

टिमटिमाते हुए तारों के मन्द प्रकाश में मैंने देखा—एक स्त्री आकाश में उड़ती हुई उत्तर दिशा की ओर चली जा रही थी। उसके लम्बे काले बाल बिखर कर हवा में लहरा रहे थे। उस स्त्री की गति कभी तेज हो जाती, तो कभी मन्द। निश्चय ही वह कोई उच्चकोटि की साधिका थी। देखते-ही-देखते वह निबिड अन्धकार में गायब हो गयी।

मेरे एक परिचित साधक थे। नाम था भवतोष गांगुली। रात्रि के समय गंगा किनारे बैठ कर वे नित्य कोई साधना किया करते थे। कौन-सी साधना करते थे वे? इसे कभी न मैंने उनसे पूछा और न कभी उन्होंने ही मुझे बतलाया।

दूसरे दिन जब मैंने भवतोष बाबू से आकाश में दिखलायी पड़ने वाली उस रहस्यमयी स्त्री की चर्चा की, तो उन्होंने बतलाया कि वह वक्रेश्वर श्मशान की योगिनी है। उसने वक्रेश्वर के सिद्ध श्मशान में पूरे साठ वर्ष कुण्डलिनी की साधना की है और आज भी उसी श्मशान में निवास करती है। भवतोष बाबू ने यह भी बतलाया कि उस योगिनी की आयु कितनी है, यह कोई बतला नहीं सकता। उसे कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हैं। देखते-देखते हवा में गायब हो जाती है। रोजाना आकाशमार्ग से गमन करना उसके लिए सहज है। रूप-रंग बदलने में तो सिद्धहस्त है ही वह। बड़ी ही रहस्यमयी है वह योगिनी।

'आपको यह सब कैसे मालूम हुआ?' जब मैंने यह प्रश्न भवतोष बाबू से

किया, तो वे बोले — 'मैं नहीं जानूंगा तो कौन जानेगा ? उसके साथ मैं पूरे चार-साल रह चुका हूँ वक्रेश्वर के श्मशान में ।'

'ऐ ! आप उसके साथ रह चुके हैं ?' — आश्चर्यचकित होकर बोला मैं ।

'हाँ भाई । मैं उसके साथ रहा ही नहीं हूँ, बल्कि साधना भी की है मैंने उस योगिनी के सम्पर्क से रह कर वहीं वक्रेश्वर के श्मशान में ।' बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भवतोष बाबू से ये सारी बातें सुनकर मैं सँभाल न सका अपने आपको और दूसरे ही दिन चल पड़ा उस योगिनी से मिलने के लिए ।

० ० ०

वक्रेश्वर श्मशान से थोड़ी दूर पर जगत्तारिणी तारा का विशाल मन्दिर था । मन्दिर तक पहुँचने के लिए आड़ी-तिरछी और टूटी-फूटी सीढियाँ थीं, जिन पर सम्हल-सम्हल कर पैर रखते हुए मैं मन्दिर में पहुँचा । सामने विशाल चबूतरा था, जिससे सटा हुआ नाट मन्दिर था और उसके बाद था तारा का मन्दिर ।

जनवरी का महीना था । दिन ढलने लगा था । कुहरे की हलकी परतें धरती पर फैलने लगी थीं । नाट मन्दिर के चबूतरे पर थोड़ी देर बैठने के बाद मैं धीरे-धीरे तारा के मन्दिर की ओर बढ़ा । वातावरण बड़ा ही शान्त था । मन को बड़ी तृप्ति मिली उस शान्त वातावरण में । फिर तारा की मूर्ति के सामने जा खड़ा हुआ मैं । माँ भगवती तारा का मुख बड़ा ही अद्‌भुत लगा मुझे । मानों माँ मेरी ओर देखकर हँस रही है और उस हँसी में एक अद्‌भुत स्नेह गल-गल कर झर रहा है ।

धीरे-धीरे फर्श पर बैठ गया मैं और दोनों हाथ जोड़ कर माँ के मुँख की ओर अपलक निहारने लगा । उसी स्थिति में अपने भीतर एक नीरव आलोड़न का अनुभव किया मैंने । कुछ बोला नहीं जा रहा था मुझसे, मगर मन में एक आकुल प्रार्थना उठ रही थी — मैं पूजा नहीं जानता माँ । स्तुति नहीं जानता । तुम्हारी महिमा भी नहीं जानता मैं । क्यों आया हूँ — इसे तुम जानती हो ? मेरी क्या इच्छा है, वह भी तुम जानती हो ?'

कितनी देर बैठा रहा, नहीं जानता । फिर उठा और धीरे-धीरे चल कर मन्दिर के बाहर निकल आया । साँझ की स्याह कालिमा शनैः-शनैः फैलने लगी थी चारों ओर । जब मैं नाट मन्दिर के करीब पहुँचा, तो अचानक मेरी नजर बायीं ओर घूम गयी । देखा नाट मन्दिर के मोटे खम्भे से टेक लगाये कम्बल के आसन पर एक भैरवी बैठी थी । शरीर पर कस कर पहनी हुई लाल रंग की साड़ी थी । ऊपर का भाग अनावृत था । काफी नीचे तक झूल रहे स्तन साफ दिखाई पड़ रहे थे । माथे पर भस्म की रेखा थी और उस रेखा के बीच में लाल सिन्दूर का बड़ा-सा गोल टीका था । दोनों भुजाओं, गर्दन और छाती

पर लाल चन्दन का प्रलेप था। सिर के बाल बिखर कर भूमि का स्पर्श कर रहे थे। बड़ी-बड़ी फाँक जैसी आँखें कुछ-कुछ रक्ताभ। गले में मोटी-सी रुद्राक्ष की माला। दोनों हाथों में दो लोहे की चूड़ियाँ। शरीर का रंग काला। मुँह का नक्शा सुन्दर। मगर खूब स्थिर और कठोर। पीठ सीधी किये बैठी थी वह। पास ही लोहे का चमचमाता हुआ लम्बा-सा एक त्रिशूल रखा था। सुडौल तगड़ा शरीर था उसका। बैठने पर भी लम्बी लग रही थी। आयु पैंतीस-चालीस की होगी। मगर मुँह की ओर देखकर आयु की बात याद नहीं आती थी।

भैरवी की बड़ी-बड़ी काली आँखों की अपलक दृष्टि के एक अव्यर्थ आघात से ठिठक कर खड़ा हो गया मैं। उस दृष्टि को देखते ही मुझे लगा कि वह काफी देर से मेरी ओर ही स्थिर होकर लगी हुई है। अब आँखों से आँखें मिलते ही मानों हठात् मेरा सारा शरीर बेबश और पंगु हो गया। ऐसी बेधने वाली तीक्ष्ण और स्थिर दृष्टि मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मुझे लगा कि इन आँखों के द्वारा यह नारी किसी भी आदमी को पास खींच ले सकती है। उसके बाद इत्मीनान से पास रखे त्रिशूल को उसके कलेजे में उतार दे सकती है। विमूढ़ होकर ताकता रहा मैं। दूसरी ओर मुँह नहीं फिरा सका। न हिल-डुल सका।

खूब धीरे-धीरे भैरवी के पलक गिरे। पुकार कर या इशारे से नहीं, बल्कि पलकें गिरा करके ही उसने मुझे मानों पास बुलाया। एक बार पलकों को गिरते देखकर मेरा भी होश लौट आया। तुरन्त सँभल गया मैं। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ा कर कुछ सीढ़ियाँ उतर कर चबूतरे पर से सिंह द्वार की ओर बढ़ चला। नीचे उतरने के लिए वह टूटी-फूटी और बेढंगी सीढ़ियाँ थीं।

सिंह द्वार के बाहर आकर मैंने लम्बी साँस ली। मेरा कलेजा अब भी धड़क रहा था। वहाँ खड़े-खड़े मैंने एक बार घूमकर नाट मन्दिर की ओर देखा और देखते ही मुझे एक बार फिर वही झटका लगा। भैरवी स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। उस दृष्टि में क्रोध का आभास था। जहाँ भी जाऊँ, जितनी भी दूर जाऊँ मानों वह मेरा सर्वस्व नाश कर दे सकती है। अब बिना एक पल रुके मैं सीढ़ियाँ उतर कर नीचे आ गया। शान्ति की एक लम्बी साँस ली मैंने। ऐसा अनुभव जीवन में कभी नहीं हुआ था मुझे। कुण्डलिनी साधना के रहस्यों को जानने के लिए न जाने कितने स्थानों की यात्रा करनी पड़ी है मुझे, मगर यह मामला बड़ा ही विचित्र लगा था।

हठात् न जाने क्या याद आते ही काँप उठा मैं। कहीं यह भैरवी ही तो योगिनी नहीं है? भवतोष बाबू मुझे योगिनी का स्वरूप बतलाते-बतलाते रुक गये थे। बाद में मुझे भी पूछना याद नहीं रहा था।

रात्रि में ठहरने के लिए धर्मशाला में एक छोटा-सा कमरा मिल गया

मुझे। उसी कमरे में जमीन पर कम्बल बिछा कर अगरबत्ती जलायी और कम्बल पर बैठ कर काफी देर तक माँ का स्मरण करता रहा मैं। न जाने कब किस क्षण नींद आ गयी और उस अवस्था में कई बार वही भैरवी दिखलाई पड़ी — निर्मम और भयंकर रूप में। एक बार तो डर के मारे उठकर बैठ ही गया मैं। दूसरे दिन सबेरे मेरा मन काफी शान्त था। तारा मन्दिर में भैरवी को देखकर भी मैंने परवाह नहीं की। एक बार घूम कर भी उसकी ओर देखा नहीं मैंने। दर्शन कर वापस चला आया। फिर साँझ हुई। योगिनी की खोज में फिर मैं महाश्मशान की ओर चल पड़ा।

काफी लम्बा-चौड़ा था वक्रेश्वर का वह महाश्मशान। श्मशान-भूमि में ही कई पेड़ थे पाकड़, नीम और पीपल के। सभी पेड़ों पर यमघण्ट बँधे थे और हर पेड़ के नीचे नर-कंकालों के हाथ-पैर की हड्डियाँ और खोपड़ियाँ बिखरी हुई थीं। शवों के गद्दे-तकिये भी काफी संख्या में पड़े थे। महाश्मशान की बगल में सहस्रमुण्डी आसन का चबूतरा था। शायद भवतोष बाबू ने ही बतलाया था कि सहस्रमुण्डी आसन सिद्ध है। न जाने कितने योगी और तांत्रिक उस आसन पर बैठकर सिद्धि लाभ कर चुके हैं अब तक। सभी लोग उस आसन पर नहीं बैठ सकते। संयम और मन की स्थिरता न होने पर वह आसन सहा नहीं जा सकता।

पूरे महाश्मशान में गहरी नीरवता छायी हुई थी। एक अबूझ-सी खिन्नता भरी थी वातावरण में। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। श्मशान का चक्कर लगाते समय एक महाशय से परिचय हो गया। नाम था भोला राम। भोला राम दिन-रात श्मशान में ही निवास करते हैं। बीच-बीच में माँ कहकर हुँकार कर उठते हैं। भोला राम तंत्रमार्ग के साधक हैं। गहरे लाल रंग का कपड़ा पहने रहते हैं। सारे मुँह पर काली दाढ़ी और मूँछ भरी हुई है। वैसे मिलनसार व्यक्ति हैं। नया आदमी देखते ही हर प्रकार की खोज खबर लेते हैं। मेरे साथ भी बात-चीत जमाने की चेष्टा उन्होंने की थी, पर प्रयत्न व्यर्थ होने पर बाद में माँ की चिन्ता में लग गये। भोला राम के साथ थोड़ी बात-चीत करने के बाद सहस्रमुण्डी आसन की ओर बढ़ गया मैं। मगर दस-पन्द्रह कदम आगे बढ़ते ही ठिठक कर खड़ा हो गया। सहस्रमुण्डी के पास ही हाथ में त्रिशूल लिये भैरवी के एकदम सामने पड़ गया था मैं। लम्बा, शक्तिशाली डील-डौल था। गम्भीरता के बावजूद भी काला चेहरा सुन्दर ही लग रहा था। पहले दिन की तरह दृष्टि उतनी अन्तर्भेदी नहीं थी। फिर भी अपलक और कठोर अवश्य थी।

मैं एक तरफ हट कर निकलने को उद्यत हुआ था कि एक कण्ठ स्वर सुनकर खड़ा हो गया। इस कण्ठ स्वर में भी जाने कैसी एक मोहिनी शक्ति थी — 'पुण्य करने आये हो ?'

अनजाने ही मैंने सिर हिला कर बताया कि नहीं, ऐसा नहीं है ।

'तब ? उससे अधिक साधना या मोक्ष प्राप्ति ?'

मैंने फिर नकारात्मक सिर हिलाया । वह मेरी ओर अपलक देख रही थी । उसकी दृष्टि पैनी होती जा रही थी । अब तक महाश्मशान में दो-तीन शव आ गये थे दाहकर्म के लिए । थोड़ी भीड़ हो गयी थी । लोग कभी मुझे तो कभी भैरवी को देख रहे थे । एकाएक स्वाभाविक होकर आगे बढ़ गया मैं । कलेजे में कँपकँपी थी । समझ न सका । लौटते समय देखा, भैरवी नहीं थी वहाँ ।

रात्रि में कमरे का ताला बन्द कर मैं फिर बाहर निकल पड़ा । मेरे कदम अपने आप सहस्रमुण्डी आसन की ओर बढ़ गये । साँझ के समय आने वाले शवों की चितायें अब तक काफी जल चुकी थीं । श्मशान में कुत्तों और सियारों की भीड़ इकट्ठी हो गयी थी । सहस्रमुण्डी आसन पर बैठने की इच्छा थी उस समय । सोचा, आसन पर बैठ कर योगिनी का चिन्तन करूँगा, और माँ को भी पुकारूँगा ।

चारों ओर गहन अन्धकार छाया हुआ था । वातावरण स्तब्ध था । हवा की सरसराहट भी चौंका देती थी । सहस्रमुण्डी आसन पर आसन लगा कर बैठ गया मैं । नहीं मुझे भय लगा और भी दो-तीन साधक बैठे थे । भोला राम भी थे । मगर अस्पष्ट अँधेरे में किसी का चेहरा नहीं दिखायी पड़ रहा था ।

स्थिर होकर कुछ देर बैठने के बाद ही मेरा मन शान्त होकर गहरायी में डूब गया । यह एक विचित्र अनुभूति थी । एक अद्‌भुत शान्ति की अनुभूति । चुपचाप आकर कोई बैठ गया था और कोई उठ कर चला भी गया था, मगर मेरा ध्यान उधर नहीं था । वास्तव में समर्पण के एक नये प्रवाह में विभोर था मैं ।

पता नहीं कितना समय बीत गया । अचानक बिलकुल पास ही जोर से साँस लेने की आवाज सुनकर मैंने धीरे से आँखें खोल कर देखा । साथ ही रोम-रोम सिहर उठा मेरा । सिर्फ गज भर की दूरी पर दो जलती हुई आँखें मेरे चेहरे की ओर स्थिर हो कर देख रही थीं ।...ये क्या किसी बाघिन की आँखें हैं ? कब वह आयी और बैठ गयी थी—मुझे पता तक नहीं चला था । उसका सारा शरीर पत्थर की तरह निश्चल था—केवल मशाल की तरह आँखें जल रही थीं । सहस्रमुण्डी पर उस समय कोई भी आदमी नहीं था । भोला राम भी नहीं थे ।

मेरा सारा शरीर निस्पन्द और अवश गया । 'माँ ! माँ !'

आसन के नीचे पास ही के किसी पेड़ के नीचे से भोला राम का गम्भीर स्वर तैरता हुआ आया और उसी क्षण मानों मुझे होश आया । सारे शरीर के नस-नस में बिजली-सी दौड़ गयी । उठकर सीधा खड़ा हो गया मैं और उसके

बाद अँधेरे में ही आसन से उतर कर तेजी से पैर उठाते रास्ते की ओर चल पड़ा। उस समय मैं मानों रास्ता भूल गया था और 'माँ' नाम के विद्युत प्रकाश में मुझे वह दीख गया। मानों वह अवसर खो देने से मैं अपने आपको हमेशा के लिए खो बैठता।

सारी चितायें जल कर अब राख में बदल गयी थीं। श्मशान में पहले जैसी शान्ति फिर छा गयी थी। मैं उस भैरवी के बारे में सोचता हुआ जल्दी जल्दी आगे बढ़ रहा था।...कौन है यह रहस्यमयी भैरवी? इस प्रकार मेरे पीछे क्यों पड़ी हुई है वह? मिलने आया था योगिनी से और मिल गयी यह भैरवी?

दूसरे दिन भोला राम मिल गये अचानक। बोले—कल रात्रि में आसन पर आपके करीब भैरवी को बैठी हुई देखकर मन में एक बात आयी। बुरा न मानियेगा। जरा आप उस भैरवी से बच कर रहियेगा। अत्यधिक भयंकर है वह। न जाने कितने लोगों का रक्तपान कर चुकी है वह इस श्मशान में में रहकर। हे माँ! यह कहकर भोला राम चुप हो गये।

'कौन है यह भैरवी? कब से रह रही है श्मशान में'? मैंने प्रश्न किया।

'मैं उसे पिछले चालीस साल से इसी रूप में और इसी तरह यहाँ इस श्मशान में देख रहा हूँ। जरा-सा भी फर्क नहीं पड़ा है उसके रूप-रंग में और स्वभाव में। थोड़ा रुक कर भोला राम आगे बोले—'सुना है, पश्चिम बंगाल के किसी जमीन्दार परिवार से सम्बन्धित है वह। किसी घोर तांत्रिक के चंगुल में बचपन से ही फँस गयी थी। उस विकट तांत्रिक ने उसे मोहग्रस्त कर रखा था। बहुत वर्षों तक उस तांत्रिक की भैरवी होकर रह रही थी वह। एक पुत्र भी हुआ था उसे, जिसकी बलि देकर उस घोर तांत्रिक ने अपनी किसी साधना को सिद्ध किया था। वह अपने पुत्र का वियोग सह न सकी। मन विषण्ण हो उठा उसका और एक दिन उस तांत्रिक को हमेशा के लिए छोड़ कर हिमालय की ओर चली गयी और जब वापस लौटी, तो उसके पास अनेक यौगिक और तांत्रिक सिद्धियाँ थीं। तब से लेकर अब तक इसी वक्रेश्वर के श्मशान में रह रही है वह।'—इतना बोल कर भोला राम मौन साध गये।

प्रकरण : एकतालीस

कौन थी वह रहस्यमयी भैरवी

जब कभी मेरी आत्मा का शरीर से ताल-मेल नहीं बैठ पाता, तो भीतर की शान्ति टूट-टूट कर अशान्ति के रूप में बिखरने लग जाती है और तब रात्रि के निबिड़ अन्धकार में मैं गंगा की सुनसान और उदास सीढ़ियों पर जा कर बैठ जाता हूँ और गालों पर हाथ रखकर श्मशान में जलती हुई चिताओं को अपलक निहारने लगता हूँ। वैसे भी मेरी आदत पड़ गयी है श्मशान के करीब बैठने की। प्रायः रोज ही मेरे कदम श्मशान घाट की ओर बढ़ जाते हैं। आज मैं काफी देर से घाट पर बैठा हूँ। रात्रि का दूसरा पहर है। चारों ओर गहन अन्धकार बिखरा है। वातावरण में गहरी खामोशी छायी हुई है। कई दिनों से सीने में वेदना और पीड़ा है। साँस लेने में भी तकलीफ है। बुखार भी हो जाता है, बीच-बीच में। तिब्बत में रहा हूँ, हिमालय में घूमा हूँ, पहाड़ों की ऊँचाइयों पर चढ़ा हूँ, भूखा-प्यासा रहकर पैदल ही सिक्किम, भूटान, नेपाल की यात्रा की है और अब उन्हीं सब का परिणाम भोग रहा हूँ शरीर-यातना के रूप में। श्मशान की चिताओं में लाशें जलकर राख हो गयी हैं, मगर एक चिता अभी भी धू-धू कर के जल रही है। कुछ प्रेतात्मायें—जिनका स्थायी निवास है श्मशान में और जो लावारिश मर गयी हैं—उस चिता के चारों ओर उछल-कूद मचा रही हैं। चिता की लाल-पीली लपटों के प्रकाश में मुझे वे प्रेतात्मायें साफ दिखलायी दे रही हैं। सभी प्रसन्न और आनन्दित हैं। जिस व्यक्ति की लाश जल रही है, उसकी प्रेतात्मा वहीं सिर झुकाये खड़ी है। वह काफी गमगीन है। चेहरे पर गहरी उदासी छायी हुई है। असीम वेदना और असीम दुःख से उसका चेहरा भर आया है। समझ गया मैं, उसकी नव-विवाहिता पत्नी ने अपने प्रेमी के कहने पर उसे जहर देकर मार डाला है। कितने रंगीन सपने संजोये थे, उस अभागे व्यक्ति ने अपनी पत्नी को लेकर। सारा सपना टूट कर यथार्थ में बदल गया उसके सामने। निश्चय ही मृत्यु जीवन और जगत के यथार्थ को मनुष्य के सामने लाकर खड़ा कर देता है। फिर सारा भ्रम टूट कर बिखर जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा को अपने आप में कितनी गहन शून्यता का अनुभव होता है, इसे वही समझ पाती है।

रानी शैव्या के मन्दिर की सीढ़ी पर एक युवती गुमशुम बैठी है—अपने सिर को अपनी ही गोद में छिपाये। कभी-कदा सिर उठा कर देख लेती है अपने सामने जलती हुई चिता को। निश्चय ही वह उसी अभागे की पत्नी है। अपने आप हँस पड़ता हूँ मैं। बाहर की दुनिया से भीतर की दुनिया में कितना अन्तर है। जमीन और आसमान का अन्तर है दोनों में। एक असंख्य

भ्रम की चादर में लिपटी हुई है और दूसरी बिलकुल यथार्थ और वास्तविक। मृत्यु के बाद व्यक्ति उस यथार्थता और उस वास्तविकता से परिचित होता है, मगर मैं तो जीते जी उससे परिचित हो चुका हूँ। मेरे सामने जीवन और जगत् का विराट् सत्य अनावृत्त हो चुका है, जिसके फलस्वरूप मेरा अपना जीवन अपने आप में एकाकी शून्य और निर्विकार हो गया है और हो गया है अपने आप में पीड़ित, दुःखी और व्यथित।

श्मशान के ढेर सारे मरियल कुत्ते एक साथ समवेत स्वर में रोने लगते हैं। एक अजीब-सी खिन्नता और उदासी भर जाती है एकाएक वातावरण में। सिर घुमा कर बगल में रखे झोले को देखता हूँ, जिसमें शराब की बोतल और पके हुए गोश्त के टुकड़े हैं। आज अमावास्या की रात है। वक्रेश्वर श्मशान की वह भैरवी आती ही होगी। साल में एक बार चैत्र की अमावास्या की रात में आती है वह मिलने मुझसे। शराब और मांस उसी के भोग के लिए हैं। भोग ग्रहण करने के बाद गहन चर्चा होगी घंटों उससे। योगतांत्रिक साधना से सम्बन्धित चर्चा। टन्-टन् कर कहीं ग्यारह का घंटा बजा और उसी के साथ हवा का एक गुब्बार उठा और दूसरे क्षण बिखर गया। श्मशान के कुत्ते फिर पहले की तरह समवेत स्वर में रोने लगते हैं। गंगा के पार सियारों का हुआँ-हुआँ भी सुनाई पड़ा उसी के साथ। आसमान के स्याह पटल पर एक तारा टूटा और तीव्र प्रकाश की एक लम्बी रेखा खींचता हुआ अन्तरिक्ष के गहन अन्तराल में विलीन हो गया।

अपने निकट किसी की उपस्थिति का आभास मिला। पलट कर देखा—वक्रेश्वर श्मशान की वही भैरवी थी। वही आकाशचारिणी। पहले मांस खाया उसने और फिर बोतल खोल कर पूरी शराब उड़ेल ली गले में। वातावरण भर गया मदिरा की गंध से।

० ० ०

उस अभागे युवक की चिता बुझ चुकी है। उसकी पत्नी, जो अभी तक गोद में मुँह छिपाये गुम-सुम बैठी थी, उठ कर चलने लगती है। अब उसके चेहरे पर शान्ति है। स्वतन्त्रता की शान्ति। प्रसन्नता भी है। अपने प्रेमी से मिलने की प्रसन्नता।

बिना पूछे, बिना बतलाये, पूरा जीवन गुजर जाता है। इसमें आश्चर्य नहीं, हम संसार में बिना बतलाये और बिना किसी से पूछे आ जाते हैं और इसी प्रकार किसी से बिना कहे और बिना पूछे संसार से चले भी जाते हैं। सच तो यह है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन मूर्च्छाग्रस्त है। हम हर क्षण मूर्च्छा में जी रहे हैं। हर काम मूर्च्छा में कर रहे हैं। हमें अपने कर्मों का ही पता नहीं। अपनी साँसों का ही ज्ञान नहीं। बस हम सांस ले रहे हैं। बस हम जी रहे हैं। क्यों जी रहे हैं, इसे भी हम सही ढंग से नहीं जानते?

न जाने कितने जन्म लेने पड़ते हैं और न जाने कितनी खोज करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर एक झलक मिलती है—जिसे तत्त्ववेत्ता लोग 'सत्य' कहते हैं। आनन्द कहते हैं। शान्ति कहते हैं। परमात्मा कहते हैं। मोक्ष या निर्वाण कहते हैं। मगर इन सब की उपलब्धि हो जाने के बाद जहाँ एक ओर जीवन को विश्राम मिलता है, वहीं दूसरी ओर एक नया अध्याय भी शुरू हो जाता है आत्मा का।

मगर सत्य को देखने के लिए हमारे पास नेत्र नहीं है। सत्य को समझने के लिए हमारे पास धारणा नहीं है। सत्य को हृदयंगम करने के लिए हमारे पास विवेक नहीं है।

हमारे लिए इस संसार में वही सत्य सार्थक होता है, जिसे समझने, ग्रहण करने और स्वीकार करने की क्षमता हममें होती है।

यदि हमारे कान, नाक और हमारी आँखें बेकार हों तो हम न सुन सकते हैं, न सूँघ सकते हैं और न ही देख ही सकते हैं। हमारे लिए अच्छे से अच्छा संगीत, गन्ध और दृश्य सब बेकार हैं। व्यर्थ है। हम आत्मा, परमात्मा के सम्बन्ध में धर्म, पुराण, शास्त्र, उपनिषद् आदि के सम्बन्ध में और साधना-उपासना के सम्बन्ध में बहुत सारी बातें करते हैं। बहुत कुछ जानते हैं। मगर क्या उन्हें समझते हैं, क्या उनका अनुभव भी करते हैं? क्या उन सबके विषय में बातें करने मात्र से हमें आत्मा का अनुभव हो जायेगा? परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे? शास्त्र, उपनिषद् आदि समझ में आ जायेंगे? साधना-उपासना से सत्य की प्राप्ति हो जायेगी? जीवन कृतार्थ हो जायेगा?

हाँ। एक बात की उपलब्धि अवश्य होगी। इन सबके सम्बन्ध में सिर्फ बात-चीत करने, शास्त्रार्थ करने, वाद-विवाद करने से हम अपनी अज्ञानता को अवश्य भूल जायेंगे। मगर समझ लेना है कि किसी वस्तु के अस्तित्व को भूल जाने से वह नष्ट नहीं हो जाती। अज्ञान को भूल जाने से अज्ञानता नष्ट नहीं हो जाती। हमारे भीतर जब तक 'सत्य' को समझने और 'सत्य' को स्वीकार करने की क्षमता पैदा नहीं हो जाती—तब तक हमारे लिए सारी साधना, पूजा, उपासना, भजन, कीर्तन बेकार है। शास्त्र, पुराण, वेद, उपनिषद् बेकार हैं। देवी, देवताओं की मूर्तियाँ बेकार हैं। आत्मा, परमात्मा की चर्चा निरर्थक है। भ्रम और धोखे के अलावा और कुछ नहीं है।

प्रश्न यह है कि वह सत्य है कहाँ—जिसके द्वारा हम आत्मा, परमात्मा को समझ सकते हैं और उनकी अनुभूति कर सकते हैं।

वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद् आदि तो हमें आत्मा, परमात्मा के विषय में सिर्फ बतलाते हैं। उनके अस्तित्व को स्वीकार कर लेने की प्रेरणा देते हैं। उन पर विश्वास कर लेने का आग्रह करते हैं।

सत्य हमारे भीतर है। हमारे व्यक्तित्व की गहराइयों में छिपा है और

उसकी अनुभूति भी हमें अपने भीतर होती है। हमारे भीतर एक ऐसा केन्द्र है, जिसमें जीवन की मूलभूत ऊर्जा विद्यमान है। मगर वह केन्द्र निष्क्रिय है। इसलिए उस ऊर्जा से हम परिचित नहीं हो पाते तथा उससे लाभ भी नहीं उठा पाते। यदि वह केन्द्र सक्रिय हो जाये और जीवन की वह मूलभूत ऊर्जा जाग्रत् हो जाये, तो हमें उस सत्य की झलक वहाँ मिल सकती है, जिससे हम आत्मा और परमात्मा को समझ सकते हैं और उनकी अनुभूति भी कर सकते हैं। वह अनुभूति अलौकिक है, अनिर्वचनीय है। उसी अनुभूति के बाद आत्मा की परतन्त्रता नष्ट होती है, बन्धन से मुक्त होती है और उसे परम स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। सीमा टूट जाती है और असीम का विस्तार होता है। मुक्ति का द्वार खुलता है और हम फिर परमात्म तत्त्व को उपलब्ध होते हैं। फिर तो आनन्द ही आनन्द है। आनन्द के अलावा और कुछ भी नहीं है—उस अनिर्वचनीय स्थिति में।

योगियों का कहना है कि उस केन्द्र को जाग्रत् करने अथवा सक्रिय करने का तथा उसमें स्थित ऊर्जा को चैतन्य करने का एकमात्र साधन है—ध्यान और काम। 'ध्यान' से केन्द्र सक्रिय होता है और 'काम' से ऊर्जा चैतन्य होती है। हमारे भीतर अनन्त सम्भावनायें छिपी हुईं हैं। लेकिन उन सम्भावनाओं से हम परिचित कहाँ हैं? उनसे परिचय कराता है—एकमात्र 'ध्यान'। जब तक हम उन सम्भावनाओं से परिचित नहीं हो जाते, तब तक वेद, शास्त्र, धर्म, पुराण आदि प्रमाण नहीं बन सकेंगे। क्योंकि जिस वस्तु को हम जान-समझ नहीं लेते उस पर विश्वास नहीं कर पाते हैं। जिसके विषय में हम कुछ नहीं जानते, उस पर विश्वास करना ही 'अन्धविश्वास' कहलाता है। अन्धविश्वास प्रवचन के सिवाय और कुछ नहीं है। हमारे विचार में सबसे अच्छा तो यही है कि हम यही कहें कि परमात्मा को और आत्मा को न हम जानते हैं और न तो उनका हमें कोई ज्ञान ही है। क्योंकि जो जान लेता है अथवा जिसको ज्ञान हो जाता है; उसका सारा जीवन ही बदल जाता है। सारा जीवन अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठता है। सब कुछ सुगन्धमय हो उठता है। परमेश्वर की, परमात्मा की पूजा करनें से, कीर्तन-भजन करने से और उससे सम्बन्धित शास्त्रों को पढ़ने से हम उसे जान नहीं सकते। समझ नहीं सकते। उसका ज्ञान और अनुभव भी प्राप्त नहीं कर सकते।

जिस केन्द्र की चर्चा की है हमने—वह कहाँ है? वह हमारे मस्तिष्क में है। आपको हम बतला दें मस्तिष्क एक अत्यन्त रहस्यमय स्थान है इस शरीर का। जीवन में मस्तिष्क का केवल आठवाँ हिस्सा काम करता है, शेष मस्तिष्क का भाग बेकार और निष्क्रिय पड़ा रहता है। अन्धकार में डूबा रहता है। उस निष्क्रिय हिस्से में, उस अन्धकार में डूबे हुए भाग में अनन्त शक्तियों की अनन्त सम्भावनायें छिपी हुईं हैं, जिन्हें हम बिलकुल नहीं जानते। बड़े-से-बड़े

प्रतिभावान्, ज्ञानी, बुद्धिजीवी, विवेकी और जीनियस लोगों का भी मस्तिष्क पूरा काम नहीं करता। उनके भी मस्तिष्क के बहुत सारे हिस्से, बहुत सारे भाग अन्धकार में डूबे रहते हैं। निष्क्रिय पड़े रहते हैं। वास्तव में मस्तिष्क के ऐसे ही भाग में—जो अन्धकार में डूबे हैं और निष्क्रिय हैं—वह रहस्यमय केन्द्र हैं, जिसे योगी लोग अतीन्द्रिय इन्द्रिय और वैज्ञानिक लोग सुपर सेन्स कहते हैं। यही योगी का तीसरा नेत्र है। छठी इन्द्रिय है। यदि हमारा वह रहस्यमय केन्द्र सक्रिय हो जाता है, तो अतीन्द्रिय इन्द्रिय काम करने लग जाती है। तीसरा नेत्र खुल जाता है, तो हमारे सामने से सारे आकार, सारे रूप हट जायेंगे, मिट जायेंगे। मृत्यु का भी भय मिट जायेगा। सिर्फ जीवन रहेगा और रहेगी जीवन की वास्तविक अनुभूति। जिसे उपनिषद् अमृत कहता है—वह अमृतत्व उपलब्ध होगा और उसी अमृतत्व के गर्भ में हमें आत्मा-परमात्मा का की साक्षात्कार होगा।

संसार में हम नाममात्र को जीवित हैं। जीवन क्या है? जीवन का अर्थ क्या है? जीवन का उपयोग क्या है? यह सब हम नहीं जानते। जानने का हमने कभी प्रयास भी नहीं किया है और न तो करना ही चाहते हैं। साँस लेने का नाम जीवन नहीं है। अच्छा-अच्छा भोजन कर लेना, घूम-फिर लेना, मुलायम विस्तर पर सोना, बढ़िया कपड़े पहनना, मौज-मस्ती से रहना जीवन नहीं है। जन्म ले लेना, फिर मर जाना और अपने पीछे दर्जनों बच्चे और मकान, बैंक बैलेन्स छोड़ जाना जीवन नहीं है।

आपको मालूम होना चाहिए कि विज्ञान उन्नति करता हुआ चरम सीमा पर पहुँच रहा है। ये सब काम तो एक यन्त्र, एक मशीन भी अब करने लग जायेगी। हमारा शरीर भी तो एक यन्त्र ही है। मशीन से सिवाय और कुछ नहीं है। हम बाजार से कोई मशीन खरीदते हैं तो उसकी गारण्टी होती है। मगर शरीर रूपी यन्त्र की, मशीन की कोई गारण्टी नहीं है। हमारे कहने का मतलब है कि जिसे हम जीवन कहते हैं, जीवन समझते हैं वह सिवाय यन्त्र के, मशीन के और कुछ नहीं है।

० ० ०

भोर हो गयी थी। पूरब के आकाश की स्याह कालिमा अब धीरे-धीरे सफेदी में बदल रही थी। उस समय श्मशान में कोई लाश नहीं जल रही थी। एक अबूझ-सी खामोशी छायी हुई थी वहाँ। पूरी रात मुर्दों की हड्डियों और अधजले मांस के टुकड़ों को राख में खोजते-खोजते श्मशान के मरियल कुत्ते भी थक कर कहीं किसी कोने में दुबक कर बैठ गये थे। जीवन कुछ और ही है।

हाँ। जीवन कुछ और ही है—मैंने वक्रेश्वर श्मशान की भैरवी के शब्दों को दुहराते हुए कहा, मैं उसी जीवन को पाना चाहता हूँ माँ! भैरवी हँस पड़ी और बोली—'अच्छा अब चलूँ। सबेरा हो गया है। फिर चर्चा होगी इन सब विषयों पर।'

मैंने माँ भैरवी की ओर देखा। कुछ बोला न गया मुझसे। उसका सारा शरीर गल-गल कर गिरने लगा और कुछ ही क्षणों बाद पार्थिव शरीर का अस्तित्व योगकाया में परिवर्तित होकर अन्तर्ध्यान हो गया।

कितनी अलौकिक यौगिकसिद्धिसम्पन्न है यह आकाशचारिणी। मैंने एक बार सूने आकाश की ओर देखा और फिर अपने स्थान से उठकर धीरे-धीरे श्मशान घाट की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

'जीवन कुछ और है।' माँ भैरवी के ये शब्द बार-बार प्रतिध्वनित हो रहे थे मेरे कानों में। न जाने कब और किस क्षण पचासों वर्ष पूर्व माँ भैरवी से सम्बन्धित अतीत की स्मृतियों के सागर में डूब गया मैं.....माँ का दर्शन करने के बाद श्मशान की ओर नहीं गया। नदी की ओर ही चल पड़ा मैं। वहाँ भी एक बड़ा दैवयोग मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। जिसकी कल्पना तक नहीं की थी मैंने।

सामने ही एक विशाल पीपल के पेड़ की छाया में दोनों पैर फैलाये वक्रेश्वर श्मशान की वह भैरवी बैठी हुई थी, कालरात्रि की तरह। चमचमाता हुआ त्रिशूल भी पास ही पड़ा था। सामने तीन-चार मिट्टी के पात्र भी रखे हुए थे। उस रहस्यमयी भैरवी ने मुझे पहले ही देख लिया था। नेत्र से नेत्र मिलते ही वह तन कर पल्थी मारकर बैठ गयी और मेरी ओर अपलक निहारने लगी। उस समय उसकी आँखें दावानल की तरह धधक रही थीं। चेहरे का भाव भी कठोर था। साक्षात् किसी डाकिनी-सी लग रही थी वह उस समय। एक बार उसने धीमे से पलकें झपकायीं और फिर मुझ पर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी। मैं भी खड़ा हो गया। क्षण भर के लिए मुझे लगा कि भाग जाऊँ तो ठीक है। मगर भैरवी की आँखों ने ही मानों मुझे रोक दिया। सोचा, भागूँ क्यों ? दिन के समय यह नारी क्या बिगाड़ लेगी मेरा। शायद भागने की चिन्ता से ही मेरा भय बढ़ गया था। चित्त भी विक्षिप्त हो गया था।

भैरवी ने कुछ देर तक मेरी ओर ताक कर उँगली उठा कर मुझे अपने पास बुलाया। मैं उसके सामने जाकर खड़ा हो गया।

'बैठो।' भैरवी शान्त, गम्भीर थी। उसकी चितवन में गहरापन था। पर तीक्ष्णता नहीं थी। तीन हाथ की दूरी पर बैठ गया मैं। मिट्टी का पात्र दिखाते हुए भैरवी ने पूछा—'पियोगे ?'

'क्या है इसमें ?'

'कारण यानि मदिरा।'

'मैंने सिर हिलाया, यानि नहीं।'

होठों के बीच हलकी व्यंग की रेखा उभर आयी रमणी के। उसने हाथ बढ़ाकर छोटा पात्र लिया और उसके तरल पदार्थ का कुछ अंश बिना मुँह लगाये ऊपर से गले में डाल लिया। घूंट निगलने के साथ उसका सारा देह

झनाझना उठा। आँख-मुँह सिकोड़ कर उसने उस झनझनाहट को शान्त होने दिया। रमणी के अंगों का सुप्त यौवन मानों एक बार हिल-डुल कर शान्त हो गया।

'कल रात आसन छोड़ कर इस तरह भाग क्यों गये?'

शान्त मन से मैंने उल्टा प्रश्न किया—'तुम मुझे इतना भयभीत क्यों कर रही हो परसों से?'

भैरवी के मुँह पर मुस्कुराहट की अति सूक्ष्म रेखा दिखाई दी। पुरुष को मानों उसी रेखा के बंधन ने बाँध रखा हो।

'डर क्यों रहे हो तुम?'

'मैं एक उद्देश्य लेकर आया था। मगर वह पूरा नहीं हो रहा है'—शान्त मन से बोला मैं।

'क्या उद्देश्य है?'

मैं कुछ बोला नहीं। जवाब न पाकर भैरवी की लाल-लाल आँखों ने एक बार मेरे मुँह पर चक्कर काटा। बोली—'उद्देश्य नहीं बतलाया तुमने?'

मैंने इस बार भी जवाब नहीं दिया। भैरवी ने छोटा-सा पात्र फिर उठाया, तरल पदार्थ गले के नीचे उतारा। शरीर से फिर एक झनझनाहट उठी। फिर बोली—तुम्हारी आयु कितनी है?

इस बार उत्तर दिया मैंने—'करीब तीस होगी।'

सच है या झूठ—यह जाँच करने के लिए ही मानों भैरवी की गम्भीर आँखों ने मुझको एक बार नीचे से ऊपर तक देखा।

'मेरी नब्बे से भी ऊपर है। अब तुम्हारा भय कुछ कम हुआ?' वह बोली।

उसकी गम्भीर आँखों में कौतुक की छटा थी। मुझको मानों विश्वास नहीं हुआ। विश्वास करना और भी कठिन था, क्योंकि छोटा पात्र फिर एक बार गले से उतर कर खाली हो गया और भैरवी के शरीर में एक बार झन-झनाहट उठी। आँचल सरक गया और उसी के साथ स्तन अनावृत्त हो गये। भैरवी की आयु जो भी हो, मेरा भय कम न होकर बढ़ा ही।

'कहाँ रहते हो?' दूसरी तरह का प्रश्न था। स्वर भी और तरह का।

'बनारस में।'

'घर में कौन-कौन हैं?'

'सब कुछ है। भरा-पूरा परिवार है। मगर मेरा कुछ भी नहीं है। मैं अकेला हूँ। अपने आप में आकण्ठ डूबा हुआ एकाकी।' मेरे मुँह से अपने आप उत्तर निकल रहा था। एक झटके से सब बोल गया मैं।

'यहाँ किसलिए आये हो।'

'चुप रह गया मैं।'

'योगिनी से मिलने के लिए आये हो न।'

चौंक पड़ा मैं। डाकिनी? योगिनी? या कापालिनी अथवा और कुछ···। मेरा उद्देश्य कैसे जान गयी वह?

सिर हिला कर जताया—हाँ।

'क्या हुआ? योगिनी से भेंट हुई।'

'नहीं अभी तक नहीं हुई। उसी के लिए वक्रेश्वर में भटक रहा हूँ।' यह कहने के बाद न जाने कैसी अनुभूति हुई मुझे। उसके बाद निष्कपट भाव से अपने विषय में शेष बातें भी बतला दी मैंने।

भैरवी ने स्थिर होकर सब सुना। उसके बाद भी वह नीरव और निश्चल रही। मगर दृष्टि मानों बहुत दूर कहीं चली गयी थी। कुछ देर बाद बोली—'योगिनी से मिलना चाहता है?'

'हाँ।' उसी के लिए तो इतनी दूर से आया हूँ मैं।

भैरवी मेरी ओर देख कर हँसने लगी। फिर उसने हाथ बढ़ाकर मिट्टी का बड़ा पात्र मानों किसी के हाथों से छीन लिया और बहुत-सा तरल पदार्थ गले के नीचे उतार लिया। मगर इस बार पहले जैसी झन-झनाहट नहीं उठी। शरीर भी नहीं हिला-डुला।

मैं स्तब्ध रह गया। कितना कारण पान करेगी? भैरवी ने खाली पात्र नीचे रखा। हाथ को उल्टी तरफ से मुँह पोंछते-पोंछते उसने मेरी ओर देखा। क्षणभर में दृष्टि बदल गयी थी। दोनों आँखों से मानों आग निकल रही थी। फिर डूबे स्वर में वह गरज उठी—'दूर हो जाओ। भाग जाओ यहाँ से?' घबरा उठा मैं। मेरा बाह्य ज्ञान जैसे लुप्त होता जा रहा था। मगर चेतना रहित नहीं हुआ था और उसी स्थिति में देखा—भैरवी नहीं है। उसके स्थान पर एक तन्वगी बैठी मुस्करा रही थी मेरी ओर देखकर। मगर उसका चेहरा भैरवी से बिलकुल मिल-जुल रहा था। युवती बहुत ही सुन्दर थी। किसी दीप शिखा-सा जलता रूप और यौवन। बीस वर्ष से अधिक आयु नहीं थी युवती की। माँग में सिंदूर और चौड़े ललाट पर लाल टीका लम्बा-सा। गले में रुद्राक्षों की माला। कलाइयों में शंख के वलय।

'कौन हो तुम?' हठात् बोल पड़ा मैं।

'वही, जिसकी खोज में हो। जिससे मिलने के लिए आये हो वक्रेश्वर के श्मशान में···वही हूँ मैं, यानि योगिनी···।'

'ऐ, तुम्हीं योगिनी हो?'

'हाँ रे, मैं ही योगिनी हूँ—जिसका परिचय तुझे भवतोष ने दिया था। समझे'।

विश्वास नहीं हुआ मुझे।

मेरे मन के भाव को समझ गयी भैरवी। बोली—'जब योगी और साधिका को जानने, पहचानने और समझने की दृष्टि नहीं है तो क्यों नाहक इतना दौड़ धूप करते हो ? जाओ विवाह करो, बाल-बच्चे पैदा करो और आराम से गृहस्थ जीवन व्यतीत करो। इन सब चक्कर में मत पड़ो। तेरे से कुछ भी न होगा। जा भाग जा यहाँ से।'

ठीक ही कह रही थी भैरवी। पहले हमें वह दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए, जिससे हम वास्तविक योगी और सच्ची साधिका को पहचान सकें। वह दृष्टि स्वयं योग और साधना के मार्ग पर चलने से प्राप्त होती है। बाहर के योगी और भोगी में कोई अन्तर नहीं दिखलायी देता। एक पागल में और एक साधक में भी कोई अन्तर स्पष्ट नहीं होता। मगर भीतर भारी अन्तर होता है। जमीन और आसमान का अन्तर। अनासक्त और निर्लिप्तता ही दोनों के मध्य अन्तर पैदा कर देती है।

भैरवी का अन्तिम वाक्य सुनकर बड़ी ही ग्लानि हुई मन में। आँखों से आँसू लुढ़क पड़े। गला भी भर आया। अवरुद्ध स्वर में बोला—'माँ, पहचानने में भूल हुई मुझसे। क्षमा कर दो न मुझे।' फिर थोड़ा आगे बढ़ कर झुक गया और दोनों हाथों से माँ भैरवी के चरणों को पकड़ लिया। झर-झर कर गिरते आँसुओं से भरी दृष्टि से देखा—एलोकेशी माँ, तारा जैसा लगा मुझे मुख माँ भैरवी का। वह मेरी ओर देख कर हँस रही थी और उस हँसी में एक अद्‌भुत स्नेह गल-गल कर झर रहा था। नेत्रों में करुणा का असीम सागर भी लहरा था। मगर यह क्या ? सहसा अपने स्थान से लुप्त हो गयी माँ भैरवी। अभी तो थी। कहाँ गयी ? किधर गयी ? लगा जैसे हवा से विलीन हो गयी हो वह।

भवतोष बाबू का कथन अचानक स्मरण हो आया मुझे। योगिनी रूप बदल सकती है, हवा में गायब हो सकती है और आकाश में उड़ सकती है। सचमुच वक्रेश्वर श्मशान की वह भैरवी योगिनी ही थी, जिससे मिलने के लिए मैं इतनी दूर से आया था वक्रेश्वर।

लगातार योगिनी के एक सप्ताह तक दर्शन नहीं हुए मुझे। रोज श्मशान का, मन्दिर का और नदी का चक्कर लगाता रहा। मगर सब व्यर्थ। उस दिन श्मशान सुना था। न कोई लाश आयी थी और न कोई चिता ही जली थी। साँझ हो गयी थी। मैं अपने कमरे से निकल कर नवमुण्डी आसन के चबूतरे की ओर चल पड़ा। रास्ता सुनसान था। मन विषण्ण था मेरा। चबूतरे पर बैठ गया जाकर। झोले से रुद्राक्ष की माला निकाली मैंने। सोचा थोड़ा जप कर लूं। शायद मन को शान्ति मिल जाय। उँगलियों के बीच माला के दाने सरकने लगे। मन भी उसी के साथ एकाग्र होने लगा। उसी समय अपने निकट किसी की लम्बी-लम्बी साँस लेने की आवाज सुनाई पड़ी मुझे, उँगली

रुक गयी। जप भी बन्द हो गया। कौन है ? सिर घुमा कर देखा और देखते ही सारा शरीर एकबारगी रोमांचित हो उठा मेरा। बाघिन जैसी ही जलती हुई आँखें मेरी ओर घूर रही थीं। सहसा मदिरा का तीव्र भभका उठा और हवा में बिखर गया। समझते देर न लगी। माँ भैरवी थी, वही योगिनी जिसके लिए बेहाल थी मेरी आत्मा।

पलट कर दोनों हाथों से गह कर थाम लिया मैंने योगिनी के पैरों को। बोला—'माँ मुझ पर दया करो। मुझ पर करुणा करो माँ। यदि मुझे पात्र समझो तो मुझ पर अनुग्रह करो तुम।'

शायद मेरी पुकार सुन ली माँ भैरवी ने। अँधेरे में उसके दाहिने हाथ का स्पर्श हुआ मुझे अपने सिर पर और उसी के साथ होठों को स्पर्श हुआ मुझे किसी पात्र का। मदिरा की गन्ध से भर गया नासापुट। एक ही साँस में गट-गट कर पी गया मैं उस पात्र में भरे तरल पदार्थ को। झनझना उठा सारा शरीर। मस्तिष्क भी सनसनाने लगा उसी के साथ। पात्र तो हट गया मुँह के सामने से; मगर माँ भैरवी का दाहिना हाथ पूर्ववत् सिर पर पड़ा रह गया और उसके स्पर्श की अनुभूति बराबर होती रही मुझे।

गूढ़ रहस्यमयी तांत्रिक साधना की वह स्पर्श दीक्षा थी। समझते देर न लगी मुझे। माला अपने आप हाथ से छूट कर गिर गयी। मन अपने आप एकाग्र होने लगा। धीरे-धीरे मैं एक विशेष प्रकार के निर्विकार की स्थिति में पहुँच गया और उसी स्थिति में वक्रेश्वर श्मशान में देखा कि बहुत से साधक बैठे साधना कर रहे हैं। सभी साधकों का तप, रंग और आयु समान थी और सभी के वस्त्र लाल रंग के थे। निश्चय ही वे सभी शास्त्रमार्ग के साधक थे।

मेरी वह स्थिति कुछ ही समय तक रही। फिर मैं वापस लौट आया अपनी पूर्व अवस्था में और उसी के साथ वक्रेश्वर श्मशान का वह दृश्य भी समाप्त हो गया।

स्पर्शदीक्षा के बाद मन्त्रदीक्षा देने का नियम है। कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत पाँच योग हैं। पहला है स्पर्शयोग—माँ योगिनी कह रही थी—इसी को स्पन्द भी कहते हैं। स्पन्द आवश्यक है। बिना स्पन्द के मन्त्र चैतन्य नहीं होता। स्पर्शयोग के बाद है मन्त्रयोग। फिर क्रम से है—ध्यानयोग, समाधि-योग और कुण्डलिनीयोग। मेरे सिर को माँ योगिनी ने अपनी गोद में रख लिया। गोद में सिर पड़ते ही स्वयं अपने आप आँखें बन्द हो गयीं मेरी। दूसरे क्षण माँ योगिनी की उँगलियाँ मस्तक पर घूमने लगीं और फिर अँगूठा स्थिर हो गया दोनों भौंह के बीच में। काफी देर तक स्थिर रहा वहाँ अँगूठा। फिर नख धँसने की अनुभूति हुई। हल्की-सी पीड़ा और फिर एक अनिर्वचनीय अनुभूति। वह कैसी थी अनुभूति ? क्या मैं बतला सकूँगा ? नहीं। कभी नहीं। बतलाने के लिए सिर्फ मेरे पास इतना ही है कि मुझे लगा कि मेरे गुदा स्थान

के ऊपर किसी ने लाल तपता हुआ लोहे का टुकड़ा रख दिया है। जलन थी, मगर पीड़ा नहीं थी।

माँ योगिनी मुस्करा उठी। बोली—यही स्पन्द है। शरीर में स्थित चेतना का सीमा उल्लंघन। कल मिलना। श्मशान में नहीं। नदी के किनारे बरगद के नीचे।

'कब किस समय ?'

'साँझ के समय मिलना ठीक रहेगा।'

सबेरा होने ही वाला था। न जाने कब, किस क्षण मुझे गोद से उठा कर माँ चली गयी। पता न लगा। उठ कर खड़ा हो गया मैं। सारा शरीर पुलकित था। मन शान्त था। आत्मा किसी अज्ञात आनन्द के सागर में आकण्ठ डूबी हुई थी। धीरे-धीरे चलकर पार किया मैंने वक्रेश्वर के श्मशान को, और फिर अपने कमरे में जाकर भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया।

तन की, मन की और आत्मा की उस स्थिति में ही न जाने कब, किस पल लग गयी मेरी समाधि। हाँ वह समाधि ही थी। सविकल्प अवस्था। वहाँ केवल अपने अस्तित्व का और अपने स्वरूप का ही स्पन्द भासमान हो रहा था मुझे। इसके अतिरिक्त किसी भी सत्ता या वस्तु का ज्ञान नहीं था। सिर्फ मैं था, मेरा अस्तित्व था और था मेरा स्वरूप।

प्रकरण : बयालीस

मानवदेह का महत्त्व और शब्दशक्ति

चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद यह चौरासी अंगुल का मानव शरीर जीवात्मा को प्राप्त होता है। भारतीय मनीषियों ने दो प्रकार से मानव शरीर की श्रेष्ठता स्वीकार की है। एक तो यह कि जो समस्त विश्व की नियन्त्रणकारिणी शक्ति है, उसकी सर्वश्रेष्ठ लीलायें मानव शरीर के आश्रय से ही प्रकट होती हैं। परब्रह्म के तो वैसे बहुत से अवतार हुए, किन्तु जो अवतार सर्वाधिक मानवीय हैं, वे हैं—राम, कृष्ण और बुद्ध के; जिनके आश्रय से इस काल की समस्त धर्मसाधना और समस्त काव्यसाधना विकसित हुई है। दूसरा यह कि यह जगन्नियन्त्रणकारिणी शक्ति, जिसे महामाया, आदिशक्ति, पराशक्ति, कुण्डलनीशक्ति आदि विविध नामों से पुकारा जाता है—घट-घट में और अणु-अणु में व्याप्त है, परन्तु मानव शरीर ही एक ऐसा केन्द्र है, जिसका आश्रय करके अपने आपको पूर्ण रूप से विकसित और प्रकाशित कर सकने में समर्थ होती है वह।

शक्ति का विकास, प्रकाश और आश्रय का केन्द्र होने के कारण ही मानव शरीर सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है। उन्हीं तथ्यों से मानव शरीर की भी रचना हुई है। जो शरीर में है, वह ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है, वह सब शरीर में है। इस सत्य को और इस वास्तविकता को सभी ने समयानुसार स्वीकार किया है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक पिण्ड में और प्रत्येक अणु-परमाणु में वह एकाकी शक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक जीव उस परम शक्ति का विचार, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, अनुभूति आदि के रूप में हर क्षण अनुभव करता है।

मानव शरीर में जहाँ एक ओर वह महाशक्ति तथोक्त विभिन्न रूपों में प्रकाशित है, वहीं दूसरी ओर कुण्डलिनी के रूप में विराजमान है। कुण्डलिनी से मेरा तात्पर्य है मानव पिण्ड स्थित जगन्नियन्त्रणकारिणी महाशक्ति का मूल केन्द्र — जहाँ से वह खण्ड-खण्ड होकर ज्ञान, विज्ञान, विचार, इच्छा, क्रिया आदि रूपों में प्रकाशित होती है। कुण्डलिनी मानव पिण्ड में केवल मात्र है, अन्य प्राणियों में नहीं। यहाँ तक कि देव शरीर में भी इसका अभाव है। मनुष्य को छोड़कर अन्य सभी प्राणी शक्ति द्वारा संचालित हैं। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ वह कुण्डलिनी के कारण शक्ति द्वारा संचालित होता है, वहीं वह अपनी प्रबल इच्छा से शक्ति का भी संचालन कर सकने में समर्थ है। किन्तु यह सामर्थ्य उसको तभी प्राप्त होता है, जब कि वह

कुण्डलिनी को यौगिक क्रियाओं के माध्यम से जाग्रत् कर लेता है। यह सामर्थ्य प्राप्त करना ही मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। कुण्डलिनी को जाग्रत् कर शक्ति को संचालित करने में उसको कई ऐसी मानवेतर स्थितियों का लाभ होता है, जो उसके लिए परम सुख, परम आनन्द आदि के साधन सिद्ध होती है। मानव शरीर को महत्त्व देने का एक कारण यह भी है।

दूसरा कारण है—उसकी आत्मा, उसकी वाणी, उसका मन, प्राण और उसका शुक्र। मानव शरीर स्थित ये पाँचों वस्तुएँ अपार और अनन्त शक्तियों के आश्रय हैं। ये पाँचों वस्तुएँ एक साथ अन्य प्राणियों में दुर्लभ हैं। योगतंत्र में इन्हें पंचाग्नि, पंच विज्ञान, पंचामृत आदि नामों के अलावा सभी प्रकार की योग तांत्रिक साधनाओं का आधार और साधन बतलाया गया है। परमतत्त्व परमेश्वर की जो पराशक्ति है, वह जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और क्रियाशील है, उसी प्रकार मानव शरीर में भी व्याप्त और क्रियाशील है। प्रधान रूप से मनुष्य में इच्छा, ज्ञान, क्रिया इस त्रिपुरभूता स्वरूप में प्रकट होकर 'त्रिपुर' कहलाती है। अन्य प्राणियों में, यहाँ तक कि देवता तक में शक्ति का यह 'त्रिपुरा' रूप या तो बिलकुल सुप्त है या फिर कम मात्रा में है। इसका कारण यह है कि देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप हैं। वे भोग-योनि में हैं। उनमें केवल भोगने की शक्ति है, कर्म करने की नहीं। वे जिस कार्य के निमित्त हैं, उससे अधिक या न्यून की उनमें इच्छा ही नहीं होती। इच्छा के अलावा क्रिया भी नहीं होती। किन्तु इसके ठीक विपरीत मनुष्य में भोगने की और कर्म करने की दोनों शक्ति विद्यमान हैं। वह कर्म द्वारा भोग वस्तु को प्राप्त कर सकता है और इच्छानुसार उसे भोग भी सकता है। यह तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को ही मात्र केवल इच्छा, ज्ञान, क्रिया की त्रिधारा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है—प्रकृति की ओर से। इसीलिए जब कभी परमेश्वर को प्रकृति में उत्पन्न विकृति को ठीक करना होता है, तब उसे नरदेह धारण करना पड़ता है। देह तो और भी धारण कर सकता है वह, पर नर-देह में उसका पूर्णावतार होता है। बिना नरदेह धारण किये परमेश्वर जगत के कल्याणार्थ कोई भी लीला नहीं कर सकता। यह चौथा महत्त्वपूर्ण कारण है।

वास्तव में मनुष्य का शरीर सभी सिद्धियों का आश्रय है। मूल शक्ति का केन्द्र है। वह मन, प्राण, वाक्, शुक्र आदि चंचल मगर शक्तिशाली तत्त्वों का आश्रय होने के फलस्वरूप समस्त प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

कुण्डलिनी साधना प्रसंग के अन्तर्गत मानव शरीर की श्रेष्ठता के अलावा शब्दसाधना, शब्दशक्ति के पश्चात् मंत्र विज्ञान पर भी प्रकाश डालना मेरा लक्ष्य है, क्योंकि ये भी कुण्डलिनी के ही विषय हैं।

शब्द 'वाक्' का विषय है और वाक् पराशक्ति कुण्डलिनी का एक महत्त्व-पूर्ण रूप है। वाक् को परमतत्त्व बतलाया गया है। वह महाशक्ति के 'त्रिपुरा' के अन्तर्गत आने वाले ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ अंश है। प्राण और मन के साथ संलग्न होकर वाक् यावत् सृष्टि का कारण बनता है। हालाकि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है। स्थूल दृष्टि से शब्द बाहर की वस्तु है, मगर उसको ग्रहण करने वाला इन्द्रिय 'वाक्' भीतर स्थित है। बतलाने की आवश्यकता नहीं है। शब्द और उसको ग्रहण करने वाले बाक् का आश्रय लेकर भारतीय संस्कृति और साधना की मूल भित्ति मंत्र, जप, नाड़ी विज्ञान, प्राण व देवतत्त्व, नक्षत्र विज्ञान, सूर्य, चन्द्र और योग विज्ञान आदि का बहुत विशाल और गम्भीर साहित्य जो हमारे सामने है, उसकी बड़ी भारी साधना परम्परा उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानव सभ्यता और उसका इतिहास। मगर इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि आज हमारे देश की इस परम्परा का विकास बिलकुल अवरुद्ध हो गया है। आधुनिक दृष्टि जिस दिन हमें प्राप्त हुई, उसी दिन से और उसी समय से हमें प्राचीन ज्ञान-विज्ञान को समझ लेने और परख लेने की दृष्टि नहीं रह गयी। आज हम जिसे भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला कहते हैं, वह वास्तव में न सभ्यता है, न संस्कृति है और न तो कला है।

० ० ०

सांझ ढल गयी थी। रात्रि की स्याह कालिमा धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगी थी। निस्तब्ध वातावरण में एक अबूझ-सी खिन्नता भरी हुई थी। योगिनी माँ ने मुझे दूसरे दिन बुलाया था। जब मैं गाँव के बाहर नदी के किनारे वाले पीपल के करीब पहुँचा, तो देखा कि योगिनी माँ मेरी प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे देखकर एक बार योगिनी माँ मुस्करायी। फिर स्थिर दृष्टि से नदी की ओर देखने लगी। मैं बिलकुल निकट बैठ गया। किसी भी प्रकार का भय अब मेरे मन में नहीं था। माँ नदी की ओर ही देखती हुई कहने लगी— 'तुमको मैंने कल स्पर्शदीक्षा दी थी। स्पर्शदीक्षा के बाद जानते हो, मंत्रदीक्षा का क्रम है। आज तुमको मैं मंत्रदीक्षा दूँगी। मगर तुम किस सम्प्रदाय के साधना मार्ग की मंत्र दीक्षा लोगे। यह तुम पहले निश्चित कर लो।

'कुण्डलिनी से सम्बन्ध रखने वाले कितने सम्प्रदाय हैं? और उनके कौन-कौन से साधना मार्ग हैं? यह सब मैंने नहीं जाना-समझा है।' मैंने कहा— 'आप ही बतलाइये, तभी मैं कुछ निर्णय कर सकूँगा।'

मेरी बात सुनकर नदी की ओर से नजर हटाकर मेरी ओर योगिनी माँ ने देखा। उस समय न जाने कैसा भाव उभर आया था उनके मुख पर। मैं समझ न सका। वह थोड़ा रुककर कहने लगीं— 'कुण्डलिनी योग' योग और तंत्र का समन्वय योग है। दोनों के समन्वय से उसकी साधना होती है।

कुण्डलिनी योग से सम्बन्धित पाँच सम्प्रदाय हैं और इतनी ही साधना परम्परायें भी हैं।'

'कौन-कौन से हैं वे सम्प्रदाय ?'

'पहला तो है शाक्त-सम्प्रदाय और इसके बाद है कौल-सम्प्रदाय। ये दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक सम्प्रदाय हैं। इन दोनों के बाद तीन सम्प्रदाय और हैं—कापालिक-सम्प्रदाय, अघोर-सम्प्रदाय और शैव-सम्प्रदाय। ये पाँचों सम्प्रदाय तंत्र के वाममार्ग के अन्तर्गत हैं। शाक्त-सम्प्रदाय में मंत्र की दीक्षा बीजाक्षर मंत्र से दी जाती है। मगर कौल सम्प्रदाय में बीजाक्षरों के साथ इष्ट का भी नामाक्षर रहता है मंत्र में।'

'समझा नहीं मैं।'

योगिनी माँ हँस पड़ीं—पगले। कैसे तुमको मैं समझाऊँ। जैसे ॐ ह्रीं नमः है। यह एक बीजाक्षर है। इसमें केवल 'ह्रीं' बीजाक्षर है।

'जानते हो, ब्रह्म का प्रतीक क्या है ?'

'हाँ, जानता हूँ, 'ॐ' 'ब्रह्म' का प्रतीक है, इसीलिए इसे 'प्रणव' कहते हैं। प्रणव 'शब्दब्रह्म' है।'

'ठीक' योगिनी माँ आगे कहने लगी—'जिस प्रकार 'ॐ' ब्रह्म का प्रतीक और प्रणव है, उसी प्रकार 'ह्रीं' भी माया का प्रतीक और प्रणव है। कापालिक सम्प्रदाय में इसी माया बीज के साथ 'भैरव' का नाम भी जोड़ दिया जाता है। ॐ ह्रीं भैरवाय नमः। कापालिक सम्प्रदाय में 'भैरव' इष्टदेव हैं। मगर शाक्त-सम्प्रदाय में एक भाग 'शक्ति' ही इष्ट है। कापालिक-सम्प्रदाय के भैरव शैव-सम्प्रदाय के 'शिव' हैं। इस सम्प्रदाय में शिव से सम्बन्धित मंत्र से दीक्षा दी जाती है। शेष कौल और अघोर सम्प्रदाय में डामरी और सावरी मंत्र से दीक्षा देने का नियम है। थोड़ा रुककर योगिनी माँ आगे कहने लगीं—'यह सब मंत्र-साधना का विषय है और मंत्र-साधना का मूलस्रोत है—शब्दसाधना और शब्दशक्ति। इसे भी तू थोड़ा समझ ले, तभी तू कर सकेगा ठीक से साधना।'

'शब्दसाधना के सिद्धान्त का मूलस्रोत 'वेद' है, समझे न। वेद के अनुसार 'शब्द' समस्त शक्तियों का केन्द्र है, मूलस्रोत है। किसी भी वस्तु की सत्ता उसके रूप पर निर्भर है। 'रूप' दैवी-मानसी धारणा का मानव जाति के रूप में प्रत्यक्षीकरण है। कहने का मतलब यह कि 'रूप' शब्द का दो विग्रह है। जो कुछ ज्ञात है, वह अभिव्यक्ति है और जो कुछ सत्ता है, वह इन्द्रिय अथवा सत्य नहीं। जब तक यह दैवीधारणा किसी देव चित्र में आविर्भूत नहीं होती, तब तक वस्तु प्रत्यक्ष रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित नहीं हो सकती। सभी जड़-चेतन वस्तुयें मानसी धारणा मात्र है। अतः मानसिक क्रियाओं से वे प्रत्यक्ष ही तो हैं। वैसे तो शब्दों के अनेक रूप हैं। मगर मैं तुमको वही रूप बतलाऊँगी, जो कुण्डलिनी योग से सम्बन्ध रखता है।

ध्वन्यात्मक शब्द

दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न शब्द को ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। जिन शब्दों से तुम परिचित हो, वे ध्वन्यात्मक हैं। शब्दों का उच्चारण होने के पूर्व शरीर के भीतर विशेष स्थान पर घात-प्रतिघात होता है और तब 'शब्द' बाहर निकलता है। इस प्रकार की आहत शब्दध्वनि क्षणिक होती है और विभिन्न होती है। अपनी शक्ति की सीमा के बाहर भी नहीं जा सकती है। इसके ठीक विपरीत जो बिना किसी आघात से उत्पन्न 'शब्द' है, वह ब्रह्म रूप है। इसी को शब्दब्रह्म कहते हैं। शब्दब्रह्म सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ध्वन्यात्मक शब्द संघात्मक है। असंघात्मक शब्द योग की भाषा में अनाहत शब्द है।

स्थूल और सूक्ष्म शब्द

इसके बाद वर्णात्मक शब्द हैं। शब्द, वाक्य और पद भेद से वर्णात्मक शब्द ३ प्रकार का है। जिस प्रकार मनुष्य की देह स्थूल और सूक्ष्म है, उसी प्रकार शब्द के भी स्थूल और सूक्ष्म दो रूप हैं और प्रत्येक के दो-दो रूप हैं और दो-दो अवस्थायें—जिन्हें परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी कहते हैं।

मध्यमा और वैखरी शब्द का स्थूल और स्थूलतम रूप है। इसी प्रकार पश्यन्ति और परा शब्द का सूक्ष्म और सूक्ष्मतम रूप है। शब्द का आदिरूप परा है और 'परा' का ही दूसरा पर्याय कुण्डलिनी है। इसीलिए कुण्डलिनी को 'परा शक्ति' कहते हैं। 'परा' रूप में कुण्डलिनी शब्दों का अक्षय भण्डार है। उसमें विद्यमान शब्द अपने प्रारम्भिक रूप और अवस्था में है।

'परा' की शक्ति कुण्डलिनी शक्ति है। कुण्डलिनी को जैसे 'परा' कहा गया है, उसी प्रकार दूसरा नाम 'महाबिन्दु' भी है, समझे न।

शरीर के भीतर महाबिन्दु का विस्फोट हर पल हो रहा है।

विस्फोट किस स्थान पर होता है ?

'कुण्डलिनी' के स्थान में यानी मूलाधार चक्र में। सच पूछो तो महाबिन्दु का विस्फोट ही कुण्डलिनी है और उस विस्फोट शक्ति से उत्पन्न शक्ति 'परा' है यानी कुण्डलिनी शक्ति।

परा और पश्यन्ति

विस्फोट से जो प्रथम ध्वनि पैदा होती है, वह गतिशील होकर 'स्पन्द' का रूप ग्रहण कर लेती है। उसी स्पन्द का नाम पश्यन्ति है। पश्यन्ति मात्र 'स्पन्द' है। शरीर के भीतर विस्फोट के साथ-साथ 'स्पन्दन' भी बराबर हो रहा है। जिस स्थान पर वह हो रहा है, वह मूलाधार से मणिपूरक चक्र तक है। इस चक्र में मन के साथ स्पन्द का सम्बन्ध स्थापित होता है और इसी मन और स्पन्द के संयोग से शरीर के भीतर विचारों का आविर्भाव होता है। शब्द की परा, पश्यन्ति—ये दोनों अवस्थायें शब्दब्रह्म की अवस्थायें हैं। तुमको

मालूम होना चाहिए कि योगीगण इसी अवस्था में प्रवेश कर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से तादात्म्य स्थापित करते हैं। योग की सर्वोच्च अवस्थाओं में से यह एक अवस्था है।

मध्यमा और वैखरी

स्पन्द ही आगे चलकर मध्यमा में परिवर्तित हो जाता है। योगीगण इसी स्थान से सृष्टि का प्रारम्भ बतलाते हैं। अपनी उत्पत्ति की प्रथमावस्था में मध्यमा का कोई बाहरी अर्थ नहीं होता। वास्तव में मध्यमा शब्द वह मानसिक गति है जो किसी वस्तु को मात्र केवल धारणा बनाती है और मध्यमा अर्थ स्थूल बाह्य वस्तु का मानसिक बिम्ब है। इस प्रकार मध्यमा शब्द और मध्यमा अर्थ क्रमशः ज्ञाता और ज्ञेय है अथवा ग्राहक और ग्राह्य है। यहाँ तक का विषय सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रखता है। मतलब यह कि 'मध्यमा शब्द' सूक्ष्म शरीर से और 'मध्यमा अर्थ' स्थूल शरीर से सम्बन्धित है। मध्यमा के रूप का आधा अंश परा-पश्यन्ति के गर्भ में रहता है, जो उसी के समान अव्यक्त और सूक्ष्म है। किन्तु है पूर्ण गतिशील। इसी अर्थ रूप को 'मध्यमा' शब्द के नाम से अभिहित किया गया है। मध्यमा के शेष अर्थ का रूप के साथ हृदय और कण्ठ के मध्य स्थान पर प्राण के साथ संयोग होता है और संयोग होते ही वह जिस रूप में परिवर्तित होता है, वही 'वैखरी शब्द' है।

वैखरी शब्द है तो स्थूल, मगर उसके गर्भ में परा, पश्यन्ति, मध्यमा इन तीनों का बीज रूप विद्यमान रहता है। इसी से वैखरी शब्द एक ऐसा सूत्र है, जिसकी सहायता से योगीगण क्रम से मध्यमा एवं पश्यन्ति का स्पर्श करते हुए अन्त में 'परा' की अवस्था में पहुँच जाते हैं। मंत्रयोग के द्वारा यही क्रम है 'कुण्डलिनी' के जागरण तक पहुँचने का साधन। खैर। (विशेष अध्ययन के लिए पढ़ें—'मंत्रयोग और कुण्डलिनी')।

रात्रि का प्रथम पहर बीत चुका था। चारों तरफ घोर निबिड़ अंधकार छाया हुआ था, वातावरण भी निस्तब्ध था। न जाने कब और किधर से मेरी बगल में भोलानन्द आकर बैठ गये थे। वे भी योगिनी माँ का प्रवचन सुन रहे थे। अचानक अंधकार में डूबे हुए उस निबिड़, निस्तब्ध वातावरण में सुगन्ध बिखर गयी। ऐसा लगा जैसे किसी ने इत्र की वर्षा कर दी हो। तभी 'बोल हरी…हरी…बोल' का शब्द सुनायी पड़ा। कोई शव श्मशान में आया था। कुत्ते भूकने लगे थे। उनके साथ सियारों का भी तुमुल स्वर गूँज उठा श्मशान के वातावरण में। उसी क्षण योगिनी माँ ने एक बार दीर्घ श्वास ली और बोली—आगे सुनो, 'परा' शब्द परमात्म तत्त्व है। 'मध्यमा' का आधा अंश मनस्तत्व के रूप में प्रकट होता है और शेष आधा अंश वैखरी शब्द में आकर व्यक्त हो जाता है।

शब्दत्रय और ओम्

मौलिक रूप से तीन तत्त्व हैं और तीन शब्द हैं। वैखरी तो तीनों शब्दों की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है। वेदों में उन तीनों शब्दों को 'त्रयी विद्या' के नाम से सम्बोधित किया गया है। परा, पश्यन्ति और आधा मध्यमा—ये अढ़ाई शब्द विद्या अथवा अढ़ाई तत्त्व का समन्वय रूप ही ओम् के रूप में अभिव्यक्त है। आधा मध्यमा ओम् की अर्धमात्रा है, जो अर्ध चन्द्र के रूप में ओम् के साथ अभिव्यक्त है। इसे ही योगीगण सूक्ष्मा वाक् कहते हैं।

ओम् शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। मंत्रयोग में वही प्रणव के रूप में प्रकट होता है। मंत्रयोग का मूल आधार एक भाग 'प्रणव' ही है। मंत्रयोग मार्ग में प्रणव-साधना ही एकमात्र साधना है। प्रणव साधना द्वारा ही साधक परावस्था में पहुँचता है। 'परा' अवस्था आत्मा की तुरीयावस्था है। उसी प्रकार आत्मा की सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्—ये तीन और अवस्थायें हैं। मंत्रयोग और जपयोग की साधना आत्मा की इन्हीं चारों अवस्थाओं के आश्रय से सफल और सिद्ध होती है।

आत्मा की चार अवस्थाएँ

थोड़ा रुक कर योगिनी माँ आगे बोलीं—तुम तो जानते ही हो कि मूलाधार में त्रिकोण चक्र है। वह त्रिकोण वास्तव में 'योनि' का प्रतीक है। तंत्र के अनुसार वह त्रिकोणात्मक योनि महाशक्तिपीठ मातृरूपा है, यानी मातृ अंक। जगत् का आविर्भाव और जगत् में जीव का आविर्भाव उसी मातृ अंक से हुआ है। त्रिकोणात्मक शक्तिपीठ के बायें कोण पर ज्ञानशक्ति का केन्द्र है। दाहिने कोण पर इच्छाशक्ति का और नीचे के कोण पर क्रियाशक्ति का केन्द्र है। ये तीनों शक्तियाँ परा शक्ति के त्रिविध रूप हैं। स्वयं परा शक्ति त्रिकोण के मध्य में कुण्डलिनी के रूप में अवस्थित है। वह मध्य में विराजमान स्वयम्भू लिंग को वेष्टित किये हुए स्वयं तो सुषुप्त है, मगर उसके तीनों रूप जाग्रत् एवं क्रियाशील हैं।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति को अपरा या परापरा कहते हैं। कुण्डलिनी के रूप में पिण्ड में स्थित शक्ति को 'परा' कहा गया है। जो जगन्नियन्त्रण-कारिणी और विश्वब्रह्माण्ड व्यापिनी शक्ति है, उसका नाम है 'परमा'।

'परमा' समष्टि रूपा है। 'परा' व्यष्टि रूपा है। 'अपरा' माया रूपा है। इस दृष्टि से 'परा' महामाया है। 'माया' और 'महामाया' इन दोनों रूपों का भेदन करना ही तंत्र का एकमात्र लक्ष्य है।

शरीर में दो मुख्य नाड़ियाँ हैं—मनोवहा नाड़ी और प्राणवहा नाड़ी। ये दोनों नाड़ियाँ शरीर में जहाँ-जहाँ मिलती हैं, वहाँ-वहाँ मन और प्राण का संयोग होता है। इसी संयोग का नाम स्थूल जीवन है, जिसका बराबर स्थूल शरीर द्वारा हमें अनुभव होता रहता है। मतलब यह कि हमें स्थूल जगत् और

जीवन का तभी तक अनुभव होता है जब तक प्राण के साथ मन चैतन्य और क्रियाशील रहता है अपनी नाड़ी में। इसी को आत्मा की जाग्रतावस्था कहते हैं।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना — इन तीनों नाड़ियों के बारे में तुम तो जानते ही हो। मगर समझ लो कि वे तीनों नाड़ियाँ कुण्डलिनी से केवल सम्बधित हैं। सम्बधित होने के कारण कुण्डलिनी की तरह वे भी प्रसुप्तावस्था में हैं। मगर उनके अलावा जो क्रियाशील चैतन्य नाड़ियाँ प्रमुख रूप से शरीर में हैं, वे हैं 'हस्त, जिह्वा नाड़ी, गान्धारी नाड़ी, अलम्बुषा नाड़ी, पयस्विनी नाड़ी, कुहु नाड़ी, राका नाड़ी, शंखिनी नाड़ी, वज्रा नाड़ी और चित्रिणी नाड़ी। ये सभी योग नाड़ियाँ हैं। मनोवहा नाड़ी का नाम गान्धारी है। प्राणवहा नाड़ी का नाम अलम्बुषा है। जिस नाड़ी से शुक्र (वीर्य) का प्रवाह होता है, उसे 'वज्रा' कहते हैं।

गान्धारी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। वह जाल की तरह फैली हुई है। मगर उसका प्रारम्भ और अन्त दोनों नाभिकेन्द्र में होता है। क्लान्त और शिथिल होने पर मन अपने नाड़ी मार्ग से नाभि केन्द्र में चला जाता है। इसी अवस्था को 'तन्द्रा' कहते हैं। नाभि केन्द्र से एक नाड़ी महाशक्ति पीठ के नीचे वाले कोण से जा कर मिली है। अतः उस नाड़ी का नाम 'पयस्विनी' है। तन्द्रावस्था में मन शनैः-शनैः पयस्विनी नाड़ी में प्रवेश करता है और अन्त में क्रियाशील केन्द्र में स्थित हो जाता है। इसी अवस्था का नाम आत्मा की 'स्वप्नावस्था' है।

जाग्रतावस्था में हमें जो शब्द और ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं — वह वैखरी है। इसी प्रकार स्वप्न की अवस्था में हमें जो शब्द और ध्वनि सुनाई पड़ती है, वह मध्यमा है।

क्रियाशील पीठ का सम्बन्ध 'मध्यमा' और स्वप्न से है। इसी कारण हमारा मन स्वप्न की अवस्था में कार्य करता रहता है। क्रियाशील पीठ से इच्छाशक्ति पीठ को मिलाने वाली नाड़ी का नाम कुहु नाड़ी है। मन जब इस नाड़ी में प्रवेश कर इच्छाशक्ति पीठ के केन्द्र में स्थित होता है तो उसे आत्मा की सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। कुहु मार्ग में मन अपनी तीन अवस्थाओं से गुजरता है। पहली अवस्था तो सुषुप्ति की अवस्था ही है। इस अवस्था में मन निष्क्रिय भाव में रहता है। मगर 'ज्ञान' अल्प मात्रा में बना रहता है उसमें। दूसरी अवस्था में 'मन' ज्ञानशून्य हो जाता है। इसे मन की 'मूढ़ावस्था' कहते हैं। तीसरी अवस्था में मन पूर्णरूप से जड़ हो जाता है। यह मन की जड़ावस्था है। दूसरे शब्दों में यह गहरी मूर्च्छावस्था है मन की।

मन की जड़ावस्था और मूढ़ावस्था में काफी अन्तर है। वैसे तो सुषुप्ति-अवस्था की ही मूढ़ और जड़ ये दोनों अवस्थायें हैं। गहरी चोट लगने पर,

किसी प्रकार का गहरा आघात लगने पर मन एकाएक अपनी जड़ावस्था में पहुँच जाता है। विष के प्रभाव से भी ऐसा सम्भव है। आत्मा से मन का सम्बन्ध इसी अवस्था तक समझना चाहिए। यदि निर्धारित समय से अधिक मन उस अवस्था में रह गया, तो दोनों का सम्बन्ध अपने आप टूट जाता है।

मूर्च्छा दो प्रकार की होती है—जीवित मूर्च्छा और मृत मूर्च्छा। जड़ावस्था पहले प्रकार की मूर्च्छा है और मूढ़ावस्था दूसरे प्रकार की मूर्च्छा है। पहली मूर्च्छा की अवस्था से मन वापस अपने स्थान पर आ सकने में समर्थ होता है—मगर दूसरी मूर्च्छा की अवस्था से नहीं। क्योंकि मृत्यु मूढ़ावस्था अथवा मृत मूर्च्छा की स्थिति में होती है। यदि मन इस अवस्था में चला गया तो उसका वापस आना असम्भव है। संयोगवश कभी वह सम्भव हो भी गया तो हम उसे 'पुनर्जीवन' कह देते हैं। यानी मर कर पुनः जीवित हो उठना।

सुषुप्ति अवस्था में भी हमें स्वप्न दिखलायी पड़ते हैं। शब्द और ध्वनियाँ भी सुनाई देती हैं—मगर मस्तिष्क की शक्ति सीमित होने के कारण हम जागने पर उसे बतला नहीं पाते। सुषुप्ति में जो शब्द या ध्वनि हम सुनते हैं, वह पश्यन्ति है। सुषुप्ति की अन्य अवस्थाओं में ज्ञानशून्य हो जाने पर भी 'इच्छा शक्ति पीठ' से सम्बन्धित होने के कारण तमाम इच्छायें संस्कार रूप में विद्यमान रहती हैं, जिन्हें मृत्यु के बाद अपने साथ लेकर आत्मा अगले शरीर में जन्म लेती है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि जड़ावस्था में चेतना बनी रहती है। मगर मूढ़ावस्था में शनैः-शनैः समाप्त हो जाती है।

तुरीयावस्था

इच्छाशक्ति पीठ का ज्ञानशक्ति पीठ से सम्बन्ध जोड़ने वाली नाड़ी 'राका' है। साधारण व्यक्ति की आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन्हीं तीनों अवस्थाओं में ही रहती है। मगर योगी की आत्मा ध्यानयोग से एकाग्र होकर मंत्रशक्ति के माध्यम से जपयोग द्वारा इन तीनों अवस्थाओं को पार कर तुरीयावस्था में पहुँच जाती है।

जाग्रत् अवस्था के भीतर स्वप्न की अवस्था है और स्वप्न की अवस्था के भीतर सुषुप्ति अवस्था है। इसी प्रकार सुषुप्ति के भीतर है तुरीयावस्था। ज्ञान शक्ति पीठ से सम्बन्धित होने के कारण तुरीयावस्था ज्ञान की मात्र केवल एक सविशेष अवस्था बतलायी गयी है। तुरीयावस्था में न क्रिया रहती है और न इच्छा ही रहती है। रहता है केवल ज्ञान विशेष।

'ज्ञान विशेष से आपका क्या मतलब है'—यह पूछने पर योगिनी माँ ने बतलाया कि तुरीयावस्था के अन्तर्भूत तीन अवस्थायें हैं, जिन्हें पार कर योगात्मा तुरीयावस्था में पहुँचती है। प्रथम अवस्था में मंत्रदाता 'गुरु' के योग स्वरूप का दर्शन होता है। दूसरी अवस्था में 'मंत्र' से सम्बन्धित लोक का दर्शन होता है। तीसरी अवस्था में मंत्र के अधिष्ठातृ देवता का उसी लोक की भूमि में

दर्शन-लाभ होता है। इन तीनों लाभों के बाद योगात्मा अन्त में तुरीय की स्थिति में पहुँचती है।

इस सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि के मूल में एक परमतत्त्व है। इसी परमतत्त्व को हमारे दार्शनिकों और मनीषियों ने 'परब्रह्म' की उपाधि दी है। शब्द जगत के निर्माण में यही 'परब्रह्म' शब्द ब्रह्मवाचक हो जाता है।

परमतत्त्व के मूल में दो तत्त्व हैं—पुरुष तत्त्व और प्रकृति तत्त्व। जिनको दर्शन शास्त्र में ब्रह्म और माया के नाम से सम्बोधित किया गया है। ये ही दोनों तत्त्व तंत्रशास्त्र के शिव और शक्ति हैं। 'तंत्र' के दो और रूप हैं—मंत्र एवं यंत्र। तंत्र शाखा की रचना शब्दशास्त्र के आधार पर हुई है। शब्दशास्त्र में शब्द 'शक्ति' रूप और अर्थ 'शिव' रूप है। मंत्र में स्वर 'शिव' रूप और वर्ण 'शक्ति' रूप है। यंत्र में सम संख्या शिव रूप और विषम संख्या शक्ति रूप है।

जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि मिथुनात्मक है अर्थात् शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व के संयोग से सृष्टि हुई है—उसी प्रकार शब्द जगत की भी सृष्टि अथवा रचना मिथुनात्मक है। शिव आधार है और शक्ति आधेय है। दूसरे शब्दों में शिव आसन है और शक्ति आसीन है। बिना 'स्वर' का आश्रय लिए वर्ण प्रकट नहीं हो सकता। स्वर-वर्ण के मिथुनात्मक संयोग से शब्द की सृष्टि होती है। ऊपर का होठ पुरुषवाचक और नीचे का होठ स्त्रीवाचक है। दोनों के संयोग से शब्द का उच्चारण अथवा प्रकटीकरण होता है। दोनों होठों का संयोग भी मिथुनात्मक है।

तुरीय का मतलब है—अपनी आत्मावस्था में प्रवेश और उस अवस्था में शब्दब्रह्म के द्वारा सृष्टि के मूल तत्त्वों का साक्षात्कार और ज्ञान। इस साक्षात्कार और ज्ञान से साधक के सामने सृष्टि के मूल तत्त्वों का रहस्य खुल जाता है। कौन से देवता शक्ति के किस रूप से संचालित और क्रियाशील हैं, किस तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं, ब्रह्माण्ड में और लौकिक व्यवहार में उनका स्वरूप क्या है? व्यवहार क्या है? कार्य-व्यापार क्या है? इन सबके अलावा उनकी लौकिक और पारलौकिक स्थिति क्या है? इन सब बातों का सविस्तार ज्ञान मंत्रयोग की तुरीयावस्था में साधक को होता है। मगर जो लोग अन्य योगमार्ग से तुरीयावस्था में पहुँचते हैं, उन्हें केवल अपनी आत्मावस्था का ही अनुभव होता है। उस अवस्था में प्रवेश कर वे इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं कि उनकी आत्मा की लोकयात्रा कहाँ से और कब से शुरु हुई और लोकयात्रा के पूर्व आत्मा किस स्थिति में थी और उसका वास्तविक स्वरूप क्या था?

रात्रि का दूसरा पहर समाप्त हो रहा था। एक गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी वातावरण में। सांय-सांय कर रहा था चारों ओर। भोलानन्द बैठे थे मूर्तिवत् पद्मासन में। आँखें बन्द थीं। चेहरे पर कोई भाव नहीं था उनके। बिलकुल निर्विकार थे वह।

'बोल हरि···हरि बोल' का स्वर फिर गूँज उठा वातावरण में। दाह-क्रिया कर वापस लौट रहे थे शायद। अचानक सिर घूम गया। देखा—माँ योगिनी वहाँ नहीं थी। एकाएक वह कहाँ चली गयीं, आश्चर्य हुआ। अब कब और कहाँ भेंट होगी उनसे। विषय काफी गम्भीर था। अनेक प्रकार की जिज्ञासायें उठ रही थीं मन में। तभी भोलानन्द महाशय का दीर्घ उच्छ्वास सुनाई पड़ा। लगा कहीं किसी जंगली अजगर ने दीर्घ श्वास ली हो।

उठ कर खड़ा हो गया मैं और भोलानन्द को वहीं अँधेरे में छोड़कर आगे बढ़ गया।

प्रकरण : तैंतालीस

जाग्रत् अवस्था से तुरीयावस्था में प्रवेश

योगीजनों का कहना है कि आँख बन्द करने पर जो अन्धकार दिखलायी पड़ता है—वह अविद्या, अज्ञान एवं वासना का अन्धकार है। जब व्यक्ति धीरे-धीरे साधना के मार्ग में अग्रसर होता है, तब वह अंधकार भी धीरे-धीरे प्रकाश में परिवर्तित होने लगता है।

हम लोगों का यह स्थूलजगत जागरण का जगत है। लिंगजगत स्वप्न का जगत है और कारणजगत निद्रा का जगत है।

इन तीनों में से प्रत्येक दशा की तीन-तीन अवस्थायें हैं। साधना काल में साधक अधिकांश समय में लिंग जगत में संचरण करते हैं। कभी-कदा कारण जगत में विश्राम करते हैं। कभी-कभी स्थूल जगत में भी उतर आते हैं। देवता इसी अवस्था में रहते हैं। विश्राम काल में कारण में मग्न रहते हैं तथा अवतरण काल में स्थूल में विकास पाते हैं। उच्च भूमि के देवता और ऋषि-मुनि आदि कारण जगत में उतर आते हैं और फिर अपने आप वापस लौट जाते हैं।

नेत्र बन्द करने पर जो अंधकार दिखलायी देता है—साधारण लोगों का वही जगत है। जो प्रकाश दिखलाई देता है—साधक जनों का वही जगत है। देवताओं के नेत्र बन्द नहीं होते। वे जो प्रकाश देखते हैं—वही उनका अपना लोक या जगत है। साधक जब साधना बल पर नेत्र बन्द करने पर भी अन्धकार नहीं देखते, तो समझ लेना चाहिए कि उनका दिव्य चक्षु खुल गया है।

संसारावस्था, साधकावस्था, सिद्धावस्था, ईश्वरावस्था—ये चार अवस्थायें हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। (१) जब साधक और देवता एक दूसरे को देखते नहीं तो वह संसारावस्था है। (२) जब साधक देवता को देखता है और देवता साधक को नहीं देखते तो वह साधकावस्था है। (३) जब साधक और देवता एक दूसरे को देखते हैं, तो वह सिद्धावस्था है। (४) जब साधक की स्थिति स्वयं देवस्वरूप हो जाती है अर्थात् साधक स्वयं देवता हो जाता है, तो वह ईश्वरावस्था है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति

नेत्र बन्द करने पर जो अन्धकार दिखलाई पड़ता है, उसे देखने वाला ही जीव या जीवात्मा है। यही प्रत्येक जीवात्मा का स्वरूप है। इस अंधकार को दूर किये बिना कोई यदि स्थूल सत्ता को भूल सके अथवा स्थूल देहात्मबोध

दब जाये, तो उस अवस्था में स्वप्न दर्शन होता है। उस अंधकार को दूर किये बिना यदि स्थूल देहात्मबोध रह जाय, तब जाग्रत् अवस्था होती है। इन्द्रिय युक्त रहे या न रहे। उस अंधकार को दूर किये बिना यदि स्थूल को कोई भूल सके अथवा मन स्थिर हो जाय, तब इसका नाम सुषुप्ति है। स्वप्न की अवस्था में मन स्थिर नहीं रहता। उस समय अंधकार का जगत् दिखलायी देता है, पर अंधकार देखने में नहीं आता बल्कि जगत् देखने में आता है। यही वासनामय स्वप्न जगत् है।

जाग्रत् अवस्था में अंधकार दिखलायी देता है। वृत्ति अन्तर्मुख होने पर, परन्तु बाहरी स्मृति रहती है—अथवा जगत् दिखलायी देता है। अंधकार के भीतर आलोक के ऊपर। वृत्ति बहिर्मुख है—जाग्रत्-स्वप्न दोनों अवस्थाओं में मन क्रियाशील रहता है। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रिय भी काम करती हैं। द्रष्टा अवश्य रहता है। परन्तु प्रत्यभिमर्ष नहीं रहता। सुषुप्ति में मन नहीं काम करता। इन्द्रियाँ भी काम नहीं करती। द्रष्टा काम करता है, परन्तु प्रत्यभिमर्ष नहीं रहता। उसका अभाव रहता है। द्रष्टा देख रहा है वे यह नहीं समझ सकते। जाग्रत् अवस्था में देख सकते हैं। स्वप्न में सुषुप्ति की भाँति प्रत्यभिमर्ष होने का मार्ग नहीं है। इसीलिए जाग्रत् को श्रेष्ठ अवस्था समझा जाता है। क्योंकि यहीं से ज्ञान-प्राप्ति का उपाय मिलता है।

जब नेत्र बन्द करने पर भी अंधकार मिट जायेगा—उसी समय देहात्म-बोध चला जायेगा। स्थूल से पृथक् भाव होगा। पूर्व वर्णित प्रत्यभिमर्ष जाग्रत् में जब बढ़ जाय तब यह होता है। इसी का नाम है ज्ञान। इस समय द्रष्टा आलोक में देखेगा और बोध करेगा कि वह देख रहा है। यही चाहिए भी।

पूरी रात नींद नहीं आयी। करवटें बदलता रहा और योग के उपयुक्त गम्भीर विषयों पर सोचता-विचारता और चिन्तन-मनन करता रहा मैं।

स्वप्न में योगिनी माँ का दर्शन

भोर के समय जरा-सी झपकी लगी थी और उसी तन्द्रिल अवस्था में मैंने देखा—माँ सामने खड़ी है मेरे। सौम्य मुख, निर्विकार भाव, नेत्रों में विलक्षण तेज। साबन-भादों की काली घटा की तरह स्याह, काले बाल खुल कर बिखरे हुए थे पीठ पर। शुभ्र ललाट पर लाल सिन्दूर का बड़ा-सा गोल टीका दप्-दप् कर रहा था। कलाइयों में झूलती हुई लाल चूड़ियाँ भी चमक रही थी। माँ के नेत्र मुझ पर स्थिर थे। वह अपलक मेरी ओर देख रही थी।

कुछ क्षण बाद लगा माँ मुझसे कुछ कह रही है—'तू' कितने दिनों से पड़ा हुआ है इस श्मशान में मेरे लिए। तेरे मन की अशान्ति को और तेरी आत्मा की व्याकुलता को समझती हूँ मैं। तुझे देखकर कभी-कभी मेरी आत्मा भी व्याकुल हो उठती है रे। सोचती हूँ—कौन-सा सम्बन्ध है? कौन-सा नाता-रिश्ता है तुझसे मेरा? समझ में नहीं आता।···समाधि में थी, उसी अवस्था में

मैंने तेरे एक ऐसे अव्यक्त अपार्थिव रूप को देखा है, जिसने मुझे एकबारगी विचलित कर दिया है; और जानते हो, उसी रूप को देखकर तेरे पास आना पड़ा है मुझे इस समय। चल उठ···और माँ के इस अन्तिम शब्द के साथ एकाएक मेरी तंद्रा भंग हो गयी और उठकर बैठ गया मैं बिस्तर पर।

सबेरा हो गया था। जल्दी-जल्दी दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर बाहर निकला मैं। माँ का चेहरा अभी भी थिरक रहा था मेरे सामने। माँ के एक-एक शब्द अभी भी गूँज रहे थे कानों में। न जाने क्यों माँ से मिलने के लिए मेरा मन व्याकुल हो रहा था उस समय। माँ की पुकार मेरी आत्मा की सुनसान, वीरान घाटियों में बार-बार प्रतिध्वनित हो रही थी। मैं जानता था कि माँ दिन में किसी से नहीं मिलती। किसी से बात भी नहीं करती। कमरे का दरवाजा बन्द रहता है भीतर से। माँ रात्रि में कब बाहर निकलती है—यह भी कोई नहीं जानता।

मेरा मन काफी व्यग्र था। मुझे क्या हो गया था उस समय—स्वयं मेरी भी समझ में नहीं आ रहा था। दौड़ता हुआ जब मैं कमरे के सामने पहुँचा तो देखा माँ का दरवाजा बन्द है। हताश नहीं हुआ। माँ, माँ, माँ, कहकर पुकारने लगा मैं। काफी देर बाद दरवाजा खुला। लगा जैसे अपने आप खुल गया हो वह। अनुमान सत्य था। अपने आप ही खुला था दरवाजा। भीतर झाँक कर देखा। हलका अँधेरा था। ऊपर के एक छोटे से रोशनदान से छन कर थोड़ा-सा प्रकाश आ रहा था। एक भी वस्तु कमरे नहीं थी। फर्श पत्थर का था और उसी नंगे फर्श पर माँ बैठी हुई थी नेत्र बन्द किये हुए।

योगिनी माँ की रहस्यमयी समाधि

निश्चय ही ध्यान की गहरी अवस्था में थी वह उस समय। अचानक याद आया। जिस रूप में मैंने स्वप्न में उन्हें देखा था—बिलकुल वही रूप था माँ का उस समय भी। किसी दिव्य एवं अलौकिक आभा से दप्-दप् कर रहा था माँ का मुखमण्डल उस समय। दया, करुणा, कृपा और मातृत्व का भाव एक साथ बिखरा हुआ था वहाँ। काफी देर तक माँ को निहारता रहा मैं। अचानक मेरी नजर घूम गयी। चौंक पड़ा। आश्चर्य से भर उठा मन। पत्थर के नंगे फर्श पर नहीं बैठी थी माँ। पद्मासन की मुद्रा में जमीन से लगभग एक फुट ऊपर अधर में बैठी थी वह। निश्चय ही आसन उत्थान की दुर्लभ सिद्धि प्राप्त थी उन्हें।

एक विचित्र स्थिति की अनुभूति

न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं माँ के निकट जा कर बैठ गया। लगा, मानों माँ ने ही अपनी किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा मुझे आकर्षित कर वहाँ बुलाया हो। अपने आपको सम्मोहित-सा अनुभव कर रहा था उस समय।

मन स्थिर होता जा रहा था। आत्मा भी एकाग्र होती जा रही थी। नेत्र स्वयं बन्द होने लगा था। एक बार काफी प्रयत्न करने पर नेत्र खुले। देखा—दरवाजा अपने आप बन्द हो गया था। गहन अंधकार से भर गया था कमरा। क्षण-पर-क्षण बीतते जा रहे थे। थोड़ी देर बाद अपने सिर पर माँ के कोमल हाथ के स्पर्श का अनुभव हुआ और स्पर्श की अनुभूति होते ही मेरी जाग्रत् अवस्था एकबारगी लुप्त हो गयी। भौतिक जीवन और जगत् से मेरी आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

स्वप्न-जीवन जगत् में प्रवेश

और अब मैं बिलकुल सजग रूप में स्वप्न-जगत् में विचरण कर रहा था। मगर मुझे अपने भौतिक जीवन और जगत् का पूरा स्मरण था उस अवस्था में। प्रकृति के निर्णय के अनुसार आत्मा जिस अवस्था में रहती है—उसी अवस्था से सम्बन्धित जीवन और जगत् मनुष्य के लिए सत्य होता है। स्वप्न काल में भौतिक जीवन-जगत् की स्मृति लुप्त हो जाती है। स्वप्न काल से सम्बन्धित जीवन-जगत् यथार्थ और सत्य होता है। मगर जब मनुष्य नींद से जागता है, तब स्वप्न और उससे सम्बन्धित जीवन-जगत् मिथ्या हो जाता है और भौतिक जीवन-जगत् सत्य हो जाता है।

स्वप्न-वासना का जगत्

मनुष्य की वासनाओं के आधार पर स्वप्न-जगत् का निर्माण होता है। वास्तव में स्वप्न वासना लोक—जिसे प्रेत लोक भी कहा जाता है—का प्रतिबिम्ब है। जिस शरीर से मनुष्य स्वप्न में प्रवेश करता है, उसी शरीर से मरने के बाद वासना लोक यानि प्रेत लोक में भी प्रवेश करता है। जागने पर मनुष्य स्वप्न की स्मृतियों और अनुभूतियों को लेकर वापस लौटता है। मगर स्वप्नावस्था में जाग्रतावस्था की किसी भी अनुभूतियों एवं स्मृतियों को लेकर प्रवेश नहीं करता। यह एक रहस्य का विषय है, जिस पर आगे प्रकाश डाला जायेगा।

स्वप्न के दो प्रकार

मूर्च्छा की तरह स्वप्न भी दो प्रकार के होते हैं। पहला जीवित स्वप्न और दूसरा मृत स्वप्न। जाग्रत् से जब मनुष्य निद्रा द्वारा स्वप्न की अवस्था में प्रवेश करता है तो उस स्थिति में उसे अपने भौतिक जीवन-जगत् की स्मृति बिलकुल नहीं रहती। इस बात का भी ज्ञान नहीं रहता है कि उसका पार्थिव शरीर निद्रा में मग्न, निश्चेष्ट सोया पड़ा है—किसी कमरे में, किसी खाट पर। उस समय उसके लिए मात्र सत्य रहता है—स्वप्न के दृश्य, स्वप्न की तमाम घटनाएँ और स्वप्न के तमाम अनुभव। किसी भी क्षण मनुष्य को इस बात का अनुभव नहीं होता कि उसका कोई और भी शरीर है तथा कोई और

भी जीवन है। इसे ही जीवित स्वप्न कहते हैं। इस अवस्था से हम जागने पर अपने भौतिक जीवन और जगत् में वापस लौट आते हैं।

आत्मा के मुख्य वाहक रूप में तीन प्रधान शरीर हैं—(१) सूक्ष्म शरीर, (२) लिंग शरीर, (३) कारण शरीर। भौतिकशरीर एवं वासनाशरीर का सम्मिश्रण सूक्ष्मशरीर है। सूक्ष्मशरीर एवं मनोमय शरीर का सम्मिश्रण लिंग शरीर है। इसी प्रकार मनोमय शरीर एवं आत्मशरीर का सम्मिश्रण कारण शरीर है।

जाग्रत् अवस्था में आत्मा भौतिक शरीर में अपना व्यापार करती है। स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था में आत्मा लिंग शरीर में अपना व्यापार करती है। तुरीयावस्था में आत्मा अपना व्यापार कारण शरीर में करती है। पहले प्रकार के स्वप्न की अवस्था में आत्मा वासनाशरीर से काम लेती है। जब कि दूसरे प्रकार के स्वप्न की अवस्था में आत्मा सूक्ष्मशरीर से काम लेती है। स्वप्न की इस दूसरी अवस्था में आत्मा मृत्योपरान्त प्रवेश करती है। मृत्यु के बाद हम स्वप्न की इस अवस्था में उसी प्रकार जागते हैं जैसे गहरी नींद से जागते हैं और उस जागरण काल से लेकर मृत्यु के क्षण तक की सारी घटनायें हमें सपना-सपना-सा लगती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों हम गहरी नींद से एक लम्बा-सा सपना देखकर जाग पड़े हैं। उस अवस्था में प्राप्त जीवन, जगत् और वातावरण को हम उसी प्रकार सत्य समझने लग जाते हैं, जैसे स्वप्न देखने के बाद जागने पर जीवित अवस्था के जीवन, जगत् और वातावरण को सत्य समझते थे। खैर इसके बाद हमारी आत्मा मूढ़ावस्था में चली जाती है। जहाँ जीवन की घटनाओं की स्मृतियाँ तो नहीं रहतीं, मगर उनके संस्कार अवश्य आत्मा के साथ लिपटे हुए रहते हैं। अतः उसी मुद्रावस्था में तमाम वासनात्मक, कर्मात्मक एवं भावात्मक संस्कारों को लेकर आत्मा अगले शरीर और अगले जीवन को प्राप्त करने के लिए पुनः गर्भ में प्रवेश करती है।

जाग्रत् और स्वप्नावस्था में काल का अन्तर

मगर मैं स्वप्न की उस अवस्था में भी अपने व्यक्तित्व को विस्मृत न कर सका था। मुझे इस बात का पूरा ज्ञान था कि मैं जिस अवस्था में हूँ और जो कुछ उस अवस्था में देख रहा था और साथ-ही-साथ अनुभव कर रहा हूँ वह सब स्वप्न मात्र है। सपने में समय का न अनुभव होता है और न तो ज्ञान। मगर मैं समय का बराबर अनुभव कर रहा था। सपने में अपना शरीर भी दिखलायी नहीं पड़ेगा — मगर मैं बराबर अपने पार्थिव शरीर को देख रहा था। अन्तर मात्र इतना ही था कि मैं अपनी चेतना की अनुभूति पार्थिव शरीर में नहीं कर रहा था। एक द्रष्टा अथवा दर्शक की भाँति मैं उसे देख रहा था।

मेरा पार्थिव शरीर माँ के निकट निर्विकार भाव से बैठा हुआ था और सिर पर माँ का बायाँ हाथ रखा हुआ था। जहाँ तक चेतना का, आत्मा का

और व्यक्तित्व का प्रश्न है—उन सबका मैं अपने लिंगशरीर में अनुभव कर रहा था।

स्थूलजगत् की दृष्टि से सूक्ष्मजगत्, लिंगजगत् और कारणजगत् में काल का अन्तर है और काल के अन्तर का कारण है 'आयाम'। भौतिक जगत् में काल के तीन आयाम हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान। लिंगजगत् में काल के दो आयाम हैं—भूत और भविष्य। इसी प्रकार कारणजगत् में काल का केवल एक आयाम है—वर्तमान।

भौतिक जगत् में एक वर्ष में जितना समय गुजर जाता है और जितनी घटनायें घट जाती हैं, उन्हें हम स्वप्न की अवस्था में क्षण मात्र में भोग लेते हैं। स्वप्न में हम जिन घटनाओं का अनुभव करते हैं, उन्हें यदि जाग्रत् अवस्था में भोगना पड़े तो वर्षों का समय लग जायेगा। एक योगी ने मुझे बतलाया था कि जाग्रत् काल का एक वर्ष स्वप्न काल का एक क्षण है। उसके बाद की अवस्थाओं में केवल काल की अनुभूति मात्र होती है।

नाचिकेता मार्ग और अर्चि मार्ग

उस अवस्थाविशेष में कब तक मैं रहा यह बतला नहीं सकता। अचानक एक झटका-सा लगा मुझे। बिजली के करेण्ट-सा झटका और उसी झटके के साथ ही मेरा भौतिक जगत् और स्वप्न जगत् की अवस्थाओं से सम्बन्ध भंग हो गया। अब मैं एक विचित्र स्थिति में था। अपने आप में एक गहन शून्यता का अनुभव कर रहा था।

मंत्रयोग के अनुसार इसी स्थान से दो मार्ग निकलते हैं—पहला है नाचिकेता मार्ग और दूसरा अर्चि मार्ग। पहला मृत्यु का मार्ग है और दूसरा है तुरीयावस्था में प्रवेश का मार्ग। मृत्यु-प्राप्त व्यक्ति की आत्मा नाचिकेता मार्ग द्वारा स्वप्न की दूसरी अवस्था का अनुभव करती हुई मूढ़ावस्था में चली जाती है। किन्तु साधकों की आत्मा अर्चि मार्ग द्वारा तुरीयावस्था में प्रवेश कर जाती है। वास्तव में तुरीयावस्था की अनुभूति अति विलक्षण और अनिर्वचनीय है। उस अवस्था में आत्मा कारणशरीर में रहती है। उस शरीर द्वारा वह कारणजगत् में व्यापार करती है। आत्मा, शक्ति और चेतना सम्पूर्ण रूप से उस शरीर में केन्द्रित हो जाती है उस समय। पूर्ण जीवन और जगत् स्मृति रूप में भासता रहता है। सूक्ष्मशरीर का रंग हल्का नीला होता है। लिंग-शरीर का रंग हल्का गुलाबी होता है। जबकि कारणशरीर का रंग होता है बिलकुल शुभ्र।

शान्ति तीन प्रकार की होती है—शरीर तल की शान्ति, मन के तल की शान्ति और आत्मा के तल की शान्ति। शरीर के तल की शान्ति के मूल में दुःख है। मन के तल की शान्ति क्षणिक होती है। आत्मा के तल की शान्ति और आनन्द को ही परम शान्ति और परम आनन्द की अनुभूति होती है।

जिनकी अनुभूति और उपलब्धि भौतिक स्तर पर, भौतिक जीवन में मनुष्य के लिए सर्वथा असम्भव है। मन की शान्ति टूट जाती है। बिखर जाती है। दु:ख के रूप में उसका परिणाम सामने आता है। जिसे हम शान्ति समझते हैं, उसके मूल में अशान्ति और पीड़ा का सागर लहराता रहता है।

तुरीयावस्था की सर्वप्रथम उपलब्धि है—परम शान्ति और परमानन्द। इसी अवस्था में सद्गुरु का दर्शन-लाभ होता है। सद्गुरु अपने योग शरीर यानि वैन्दव शरीर में प्रकट होते हैं। इसके बाद तुरीयातीत अवस्था है—यह आत्मा की सर्वोपरि स्थिति है। इस अवस्था में साधक को ज्ञान-दर्शन का लाभ होता है।

योगिनी माँ का दिव्य शरीर

मैं जिस अवस्था में था—उसमें मैंने योगिनी माँ के दिव्य ज्योतिर्मय शरीर को देखा। निश्चय ही वह वैन्दव शरीर था माँ का। श्वेत, शुभ्र था माँ का वैन्दव शरीर। शुभ्र ज्योतिर्मय। रोम-रोम से सुनहरी रश्मियाँ फूट रही थीं और मुख के चारों ओर नीले रंग का एक अति तेजोमय आभामण्डल विकीर्ण हो रहा था। माँ के नेत्रों में भी एक प्रखर ज्योति चमक रही थी। मुख पर करुणा, दया, अनुकम्पा आदि के भाव एक साथ विद्यमान थे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि मैं माँ के उस वैन्दव शरीर के साथ-साथ उनके पार्थिव शरीर को भी देख रहा था उस समय और अपने आपको भी। हे भगवान्, कितनी विलक्षण अनुभूति थी वह? शब्दों में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य नहीं है मुझमें। खैर, थोड़ी देर बाद योगिनी माँ का वह दिव्य शरीर शनैः-शनैः धुँधला पड़ने लगा और फिर अन्त में लुप्त हो गया।

एक योगी की अनुभव कथा

काशी में एक योगी रहते थे। नाम था गोपालचन्द्र ठाकुर। शिवाला घाट मुहल्ले में निवास करते थे वह। उच्चकोटि के योगी थे ठाकुर महाशय। तुरीयावस्था का अपना विशेष अनुभव बतलाते हुए उन्होंने कहा—एक बार मैंने अद्भुत दृश्य देखा था तुरीयावस्था में। मैं अपने आपको पृथ्वी पर नहीं बल्कि अन्तरिक्ष में अनुभव कर रहा था। मैं अन्तरिक्ष में किस स्थान पर था—यह तो नहीं बतला सकता, मगर जहाँ भी था, वहाँ से विश्वब्रह्माण्ड के एक बहुत बड़े भाग में एक अनिर्वचनीय विलक्षण और अद्भुत दृश्य देख रहा था।

वातावरण में गहन अन्धकार भरा हुआ था। जिधर दृष्टि जाती थी, उधर काला-गहरा अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलायी देता था। कुछ देर बाद मुझे उस गहन अन्धकार के आगोश में—काफी दूर पर काफी विशाल आकार-प्रकार का एक पिण्ड दिखलायी दिया। वह गोलाकार विशाल पिण्ड था। जिसमें से भिन्न-भिन्न रंगों की और आपस में मिली-जुली रश्मियाँ निकल रही

थीं। वे रश्मियाँ पिण्ड के बाहर एक सीमित क्षेत्र से बिखर कर गहन अन्धकार में लुप्त हुई जा रही थीं। वह गोलाकर विशाल पिण्ड अपने स्थान पर तीव्र गति में घूम रहा था और उसी के साथ उसमें से निकलने वाली रश्मियाँ भी चक्कर काट रही थीं।

ठाकुर महाशय ने बतलाया कि वह विशाल पिण्ड पृथ्वी थी। उसका रंग हरा और नीला था। उस गहन अन्धकार में लगता था मानो वह अन्तरिक्ष के सागर में तैर रही हो। बड़ी ही मोहक और आकर्षक लग रही थी वह। पृथ्वी के कुरुत्वाकर्षण की सीमा भी वृत्ताकार थी। वह वृत्ताकार सीमा पृथ्वी के चारों ओर वलय की तरह अपने स्थान पर धीरे-धीरे घूम रही थी। जिसमें से हलके गुलाबी रंग का प्रकाश निकल रहा था। पृथ्वी से उस वलय की दूरी काफी थी और उस (वे रहस्यमयी स्फुलिंग रूप आत्मायें) दूरी के बीच की जगह में गहरा काला अंधकार भरा हुआ था। मगर उस गहरे काले अंधकार के अथाह सागर में लाल-पीले और शुभ्र वर्ण के स्फुलिंग तैर रहे थे। वे स्फुलिंग काफी चमकीले और तीव्रगामी थे। वे जुगनुओं की तरह चमकते हुए झुण्ड तीव्र गति से वलय की ओर बढ़ते और फिर उससे टकरा कर वापस लौट आते थे। ऐसा लगता था कि जैसे वे तमाम स्फुलिंग उस वलय के बाहर निकलने की कोशिश कर रहे हों और काफी कोशिशों के बावजूद भी वे बाहर नहीं निकल पा रहे हों। ऐसा भी लगा मानो कोई अदृश्य शक्ति उन्हें वलय के बाहर निकलने से रोक रही हो।

आत्माएँ पृथ्वी की सीमा से बाहर निकल नहीं पातीं

ठाकुर महाशय ने बतलाया कि वास्तव में वे स्फुलिंग आत्मायें थीं—भिन्न-भिन्न संस्कारों और वृत्तियों की आत्मायें। जो तामसिक थीं उनका रंग गहरा लाल था; जो राजसी थीं उनका रंग हलका पीला या गुलाबी था और जो सात्त्विक आत्मायें थीं, उनका रंग हीरे की तरह शुभ्र था। वे तमाम जीवात्मायें अपने मृत शरीर को छोड़कर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के बाहर निकल कर भौतिक जीवन और जगत् से सदैव के लिए मुक्त होना चाहती थीं। शास्त्रों में शायद इसी प्रयास और सफलता को भवमुक्ति कहा गया है। मगर भवमुक्ति सभी जीवात्माओं को प्राप्त नहीं होती।

इस विश्व ब्रह्माण्ड में पृथ्वी की तरह ऐसे असंख्य लोक-लोकान्तर हैं, जिनमें प्राणियों का निवास है और उन लोक-लोकान्तरों का सम्बन्ध भी अगोचर रूप से पृथ्वी से है। लेकिन इन सब के बावजूद भी पृथ्वी की आत्मायें न उन लोक-लोकान्तरों में प्रवेश कर सकती हैं और न तो वहाँ की आत्मायें पृथ्वी में प्रवेश कर सकती हैं। इसकी पृष्ठ भूमि में अनेक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। प्राकृतिक वातावरण की प्रतिकूलता पहला कारण है। प्रत्येक लोक-लोकान्तर का अपना अलग-अलग प्राकृतिक वातावरण है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है—कर्म, संस्कार, विचार, भाव, वासना और जैविक वृत्तियाँ। पाञ्चभौतिक तत्त्वों के आधार पर शारीरिक संरचना—यह तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार के अन्य अनेक कारणों के फलस्वरूप आत्मायें एक लोक से दूसरे लोक में गमन नहीं कर पाती हैं। जिस लोक की जो आत्मायें हैं, वे अपने लोक की सीमा में रह कर ही बराबर जन्म और मृत्यु को प्राप्त होती रहती हैं। कभी-कदा कोई आत्मा उस सीमा को तोड़ कर पृथ्वी पर जन्म भी ले लेती है तो उनके लिए धरती का बिलकुल प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह पातीं। अन्य लोक की ऐसी आत्मायें मानव योनि में प्रवेश तो कर जाती हैं और यथासमय मानव शरीर में जन्म भी ले लेती हैं, मगर उनकी शारीरिक संरचना विलक्षण और विचित्र होती है। किसी के मस्तक पर सींग होती है। किसी को तीन आँखें होती हैं। किसी-किसी को नाक के स्थान पर मुँह और मुँह के स्थान पर आँखें होती हैं। किसी-किसी को तो दो मुख भी होते हैं। पशुओं जैसा भी चेहरा होता है। पूँछ भी होती है। मुँह में पूरे दाँत भी होते हैं। कोई-कोई आत्मायें तो ऐसी भी होती है, जिनके शरीर का आकार-प्रकार बिलकुल भयानक और राक्षसों जैसा होता है। बतलाने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार के रूप-रंग और आकार-प्रकार के शिशुओं को जन्म लेने की कथा प्राय: देखने-सुनने और पढ़ने को मिल जाती है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं।

प्रत्येक लोक के प्राणियों के शरीर का रूप-रंग और आकार-प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार की पृथ्वी पर जन्म लेने वाली आत्मायें अपने लोक के शरीर की संरचना को लेकर ही जन्म लेती हैं। यदि इस प्रकार के शिशु धरती पर जीवित रह जायें, तो निस्सन्देह किसी रहस्यमय लोक की वास्तविक जानकारी उनके द्वारा प्राप्त हो सकती है। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि प्रकृति अपने आँचल में छिपाये हुए ब्रह्माण्ड के गूढ़ रहस्यों को कभी भी प्रकट होने देना नहीं चाहती।

जहाँ प्रकृति के नियम के अनुसार यह स्थिति है, वहाँ दूसरी ओर अनेक उच्च कोटि से लोक-लोकान्तरों से पृथ्वी का आवागमन सम्बन्ध भी है। पृथ्वी से वे ही आत्मायें सम्बन्धित लोकों में प्रवेश पा सकती हैं, जिनमें असीम मनोबल और आत्मबल होता है। ये बल 'योग' साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसे समझ लेना चाहिए। ऐसी आत्मायें परलोक-गमन करती तो हैं हीं, इसके अलावा जिस लोक में गयी हुई होती हैं—वहाँ का ज्ञान-विज्ञान लेकर पुन: भौतिक संसार में जन्म भी लेती हैं और उस ज्ञान-विज्ञान को संसार में विकसित और प्रसारित करती हैं।

इसी प्रकार अन्य दिव्य लोकों से दिव्य आत्मायें भी हमारे संसार में आती हैं और जन्म लेकर अपने लोक से ज्ञान, विज्ञान, संगीत, कला आदि को यहाँ

प्रादुर्भूत करती हैं। खैर, इस सन्दर्भ में ठाकुर महाशय ने आगे बतलाया कि जो जीवात्मायें वलय के बाहर नहीं निकल पा रही थीं, वे विवश होकर अपने संस्कार और अपनी वासना के अनुरूप गर्भ में प्रवेश कर जाती थीं। मगर जिन्हें किसी कारणवश ऐसा अवसर नहीं मिल पाता था अथवा जो स्वयं किसी कारणवश जीवन धारण करना चाहती थीं--वे बराबर इधर-उधर गुरुत्वाकर्षण की परिधि में भटक रही थीं। ऐसी आत्मायें मुझे बहुत अशान्त, अस्थिर और दुःखी लग रही थीं। सचमुच वह काफी विलक्षण, विचित्र और अद्भुत लीला थी जीवात्माओं की।

प्रकरण : चौवालीस

दैवी ऊर्जा और पृथ्वी की मेरुप्रभा

पिछले प्रकरण का विषय था—योग की तुरीयावस्था। यह अवस्था आत्म-विज्ञान की एक सविशेष अवस्था है। एक सविशेष उपलब्धि है। इस अवस्था को प्राप्त योगीगण एक विशेष सीमा तक विश्वब्रह्माण्ड के स्वरूप के गूढ़ रहस्यों से परिचित हो जाते हैं। तुरीयावस्था की उपलब्धियों में यह एक विशेष उपलब्धि है।

कुछ समय पूर्व काशी में एक महात्मा गुप्तरूप से निवास करते थे। नाम था हरिराम साधु। तांत्रिक योगी थे साधु महाशय। वह हर समय मदिरा पान करते रहते थे, जिससे उनकी आँखें हमेशा गूलर के फूल की तरह लाल रहा करती थीं। उनका रहन-सहन और उनकी वेष-भूषा किसी पुराने जमाने के जमीन्दार जैसी थी। उँगलियों में कीमती रत्नों की अँगूठियाँ, गले में सोने की तीन-चार सिकड़ियाँ, सिल्क का कुर्ता और ब्रासलेट की धोती तथा पैर में नागरा जूता। गौरवर्ण, काले घुँघराले बाल और उम्र यही लगभग साठ-पैंसठ के करीब।

लोग उन्हें बाबू साहब कहते थे। असली नाम और असली व्यापार से कोई परिचित नहीं था। मेरे एक मित्र थे। उन्हीं की कन्या के विवाह के अवसर पर बाबू साहब से मेरा परिचय हुआ था। पहली बार मुझे देखकर बाबू साहब मुस्कराये थे। बड़ी ही रहस्यपूर्ण मुस्कराहट थी उनकी। बड़ी-बड़ी आँखों के भीतर योग-रहस्य का सागर लहरा रहा था। वास्तविकता समझते देर नहीं लगी। उस समय बाबू साहब स्फटिक के गिलास में कीमती शराब पी रहे थे और बीच-बीच में कलाई में लिपटी हुई चमेली और जूही के फूलों को सूँघ रहे थे। मैं धीरे-धीरे चल कर उनके करीब बैठ गया। एक बार मेरी ओर देखकर फिर मुस्कराये वह और बातों का सिलसिला चल पड़ा।

बोले—'असली योगी और साधकों को इस युग में जानना और समझना कठिन है'।

'तभी तो आप जैसे महापुरुष लोग इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाये रहते हैं। वर्ना पग-पग पर सांसारिक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है'।

'हाँ, ठीक कहा आपने'—बाबू साहब बोले—'साधना तो संसार में ही रह कर पूर्ण होती है और संसार में यदि साधक अपने को प्रकट करके रहता है, तो अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ जायेगा उसे। फिर कैसे क्या हो सकता है'?

'क्या आपके परिचित लोग आपके वास्तविक स्वरूप से भी परिचित हैं—'मैंने पूछा।

'बाप रे! जिस दिन परिचित हो जायेंगे वे लोग तो मेरा जीना मुश्किल हो जायेगा। मैं तो अपने परिचितों के बीच बिगड़े हुए रईस के रूप में प्रसिद्ध हूँ। आपके ये जो मित्र महाशय है न, यह भी मुझे कोई पुराना रईस ही समझते हैं'। इतना बोल कर बाबू साहब ने फिर गिलास में मदिरा उड़ेली और गट-गट कर पीने लगे।

उस दिन के बाद प्रायः नित्य साधु महाशय से भेंट होने लगी। बातें भी होने लगीं। भेंट-वार्ता का स्थल होता था—श्मशान घाट के बगल वाले घाट लाली घाट की सीढ़ियों का चबूतरा।

साधु महाशय कभी-कदा अपने आप तुरीयावस्था में चले जाया करते थे और इस अवस्था में घंटों रहा करते थे। एक बार उन्होंने बतलाया कि तुरीयावस्था में वे अन्तरिक्ष में पृथ्वी से काफी दूर चले गये थे। वहाँ उन्होंने ब्रह्माण्ड का एक अद्भुत और कल्पनातीत दृश्य देखा।

साधु महाशय ने बतलाया कि 'यदि मैं उस अलौकिक दृश्य का वर्णन करूँ तो निश्चय ही उसे सामान्यजन अविश्वसनीय मानेंगे। लेकिन जिन लोगों ने सौर-विज्ञान का काफी गहराई से अध्ययन किया होगा, उन्हें मेरा विवरण न कल्पनीय लगेगा और न अविश्वसनीय ही'। थोड़ा रुक कर आगे कहने लगे साधु महाशय—'गहन अंधकार में आपने सर्च लाइट के प्रकाश को तो देखा ही होगा। बस समझ लीजिये अनगिनत संख्याओं में वैसी ही प्रकाश-धारायें ब्रह्माण्ड के स्याह पटल पर देखी उन्होंने। विभिन्न दिशाओं से आने वाली वे प्रकाश-धारायें एक दूसरे को काटती हुई सुदूर अन्तरिक्ष में विलीन हो रही थीं। उनका प्रवाह काफी तीव्र और विविध रंगों का था। वे प्रकाश-धारायें जिस स्थान पर एक दूसरे को काटती थीं, उस स्थान पर त्रिकोण का आकार बना हुआ था'।

'इस प्रकार ब्रह्माण्ड के रहस्यमय पटल पर उन्होंने सैकड़ों की संख्या में त्रिकोणाकृति देखी। वे त्रिकोणाकृतियाँ बड़ी ही रहस्यमयी लगी उन्हें। वे भिन्न-भिन्न रंगों की थीं और वे सभी ज्योतिर्मयी थीं और उनमें से चमकीली रश्मियाँ विकीर्ण हो रही थीं। ध्यान से देखने पर वे आकृतियां उन्हें किसी न किसी देवी या देवता की आकृति-सी लगीं'।

हरिराम साधु महाशय का यह रहस्यमय विवरण सुनकर मुझे अचानक एक अति प्राचीन ग्रन्थ का स्मरण हो आया। उस ग्रन्थ का नाम था 'हिरण्य-गर्भसंहिता'। विषय की दृष्टि से ग्रन्थ को कई भागों में विभक्त किया गया था। जिनके विषय क्रमशः थे—काल-विज्ञान, प्राण-विज्ञान, स्वर-विज्ञान,

वायु-विज्ञान, क्षण-विज्ञान, ग्रह-विज्ञान और नक्षत्र-विज्ञान इन तमाम विज्ञानों पर आधारित था ग्रन्थ का अन्तिम भाग, जिसका विषय था—सौर-विज्ञान।

हिरण्यगर्भसंहिता के सौर-विज्ञान के अनुसार वे प्रकाश-धारायें वास्तव में ग्रह, नक्षत्र और तारक मण्डलों से विकीर्ण होने वाली सौर ऊर्जायें थीं, जो ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से घर्षित होने के फलस्वरूप एक ऐसी प्रकाश-धाराओं में परिवर्तित हो गयी थीं, जिन्हें आँखों से देखा नहीं जा सकता।

सृष्टि के मूल में परमतत्त्व है, जिसे मूलतत्त्व भी कहा जाता है। वही परमतत्त्व अध्यात्मशास्त्र में इदम् के नाम से प्रसिद्ध है।

परमतत्त्व का मतलब है परम शून्य। वह परमतत्त्व अपने आपको तीन रूपों में विभक्त करता है। वे तीन रूप हैं—अग्नि, आदित्य और आप् यानि जल। आदित्य के तीन रूप हैं—आकाश, वायु और पृथ्वी। अतः ये पाँचों रूप पंचतत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हैं।

परमतत्त्व से ऊर्जा के तीन मूलस्रोतों का आविर्भाव होता है। वास्तव में वे तीनों प्रकार की ऊर्जायें अग्नितत्त्व, आदित्य (आकाश, वायु, पृथ्वी तत्त्व) और जल तत्त्व के परिवर्तित रूप ही हैं। तत्त्व ही ऊर्जा के रूप में बदल जाते हैं। वे तीनों प्रकार की तत्त्व ऊर्जायें एक दूसरे से विपरीत गुण, धर्म, स्वभाव-और वर्ण की हैं।

हिरण्यगर्भसंहिता में अग्निपूर्वरूपम् और आदित्यउत्तररूपम् कहा गया है। जिसका मतलब है कि परमतत्त्व का जो प्रथम भाग है वह अग्नि रूप है तथा उसका जो दूसरा भाग है वह आदित्य रूप है। उन दोनों को मिलाने वाला जो सन्धिस्थल है वह 'आप्' यानि जल है। इसलिए 'हिरण्यगर्भसंहिता' में अग्निपूर्वरूपम् एवं आदित्यउत्तररूपम् के बाद 'आप् सन्धि' शब्द आया है। जल तत्त्व के द्वारा अग्नि और आदित्य का संयोग होता है। जिसके परिणाम-स्वरूप एक विशेष प्रकार के विद्युत चुम्बकीय कणों का आविर्भाव ब्रह्माण्ड में होता है, जिसे ब्रह्माण्डीय विद्युत चुम्बकीय कण कहते हैं। 'आप् सन्धि' के बाद उक्त संहिता में इस सम्बन्ध में 'वैद्युतसंधानम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्त में कहा गया है कि इन विषयों को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र का नाम ही 'ज्योतिष' है।

वे विद्युत चुम्बकीय कण भी विभिन्न गुण, धर्म और स्वभाव वाली ऊर्जा प्रवाह के अनुसार अपने को तीन रूपों में विभक्त कर लेती है। जिन्हें आज का विज्ञान एलेक्ट्रान, प्रोटोन और न्यूट्रान शब्दों से सम्बोधित करता है।

इन तीनों प्रकार के विद्युत चुम्बकीय कणों से युक्त तीनों ऊर्जा प्रवाह गुण की दृष्टि से सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी हैं। इसी प्रकार वर्ण की दृष्टि से रक्त, पीत और हरित अथवा नीलाभ हैं। ज्योतिषतंत्र के अनुसार वे तीनों ऊर्जा प्रवाह त्रिधा शक्ति यानि ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति के

परिचायक हैं। कालान्तर में तांत्रिक युग में यह त्रिधा शक्ति उपासना भूमि में महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली के रूप में प्रतिष्ठत हुई। और इस त्रिधा शक्ति के वाहक के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की परिकल्पना की गयी।

वैदिक विज्ञान के अनुसार वे तीनों ऊर्जा प्रवाह दैवी ऊर्जा हैं। वे दैवी ऊर्जायें इदम् से निकल कर 'ईशम्' में आती हैं। ईशम् का मतलब है 'ईरूम' का कर्ता रूप। 'एकोऽहं बहुस्याम' शब्द का प्रयोग इसी स्थान के लिए हुआ है।

पंचतत्त्व के अनुसार ईशम् से वे ऊर्जा प्रवाह अपने को पाँच रूपों में विभक्त कर लेता है। यहाँ पर पंचतत्त्वों की परिकल्पना देव रूप में की गयी है। जिनके नाम हैं — ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण और रुद्र। तंत्र में इन्हीं को 'पंचमुण्डी आसन' कहा गया है। महाशक्ति, परमाशक्ति अथवा आद्या शक्ति के ये पाँच आसन हैं। यह तंत्रशास्त्र का अतिगूढ़ प्रसंग है। साधारण लोगों की समझ में नहीं आयेगा। अस्तु। 'हिरण्यगर्भसंहिता' के अनुसार वे पाँचों प्रकार की ऊर्जायें सौरमण्डल में प्रवेश कर सौर ऊर्जा के रूप में परिणत हो जाती हैं और अपने को नौ भागों में विभक्त कर अपना अलग-अलग मण्डल का निर्माण करती हैं। सौर ऊर्जा के ये नौ मण्डल ही ज्योतिष शास्त्र में ग्रह मण्डलों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मण्डलों से जिस वर्ण की सौर रश्मियाँ विकीर्ण होती हैं, वही वर्ण उस मण्डल से सम्बन्धित ग्रह का भी होता है। ग्रह मण्डल की वे सौर रश्मियाँ सौरमण्डल में मकड़ी के जाले की तरह चारों ओर फैली हुई हैं।

अन्तरिक्ष में सौर ऊर्जा के वे ही नौ मण्डल २७ मण्डलों के रूप में विभक्त होकर नक्षत्र मण्डल के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक मण्डल के तीन-तीन विभक्त रूप हैं। उन २७ नक्षत्र मण्डलों की अपनी भिन्न-भिन्न ऊर्जायें हैं और उन ऊर्जाओं की भिन्न-भिन्न रश्मियाँ भी हैं। वे विभिन्न रश्मियाँ विभिन्न वर्ण की हैं।

हिरण्यगर्भसंहिता में इन तमाम ज्योतिर्मयी रश्मियों और ऊर्जाओं को दैवी ऊर्जा के नाम से सम्बोधित किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं, ये सौर रश्मियाँ और सौर ऊर्जायें समस्त चराचर जगत को प्रभावित करती हैं। उन्हीं से प्राणियों का आविर्भाव और जीवन का निर्माण होता है। पृथ्वी से उन रश्मियों और उन ऊर्जाओं का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। पृथ्वी के गर्भ में उन्हीं के प्रभाव से खनिज पदार्थों, रत्नों और विभिन्न प्रकार के धातुओं का निर्माण होता है।

वैज्ञानिकों की दृष्टि में वे ऊर्जायें अन्तर्ग्रहीय ऊर्जायें हैं। उनका कहना है कि पृथ्वी अपनी ऊर्जा शक्ति उसी ऊर्जा-पुंज से ग्रहण करती है। वे अन्तर्ग्रहीय ऊर्जायें पृथ्वी पर उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में होकर पृथ्वी को आवश्यक पोषण देने के बाद दक्षिण ध्रुव में होती हुई बाहर निकल जाती है। मतलब यह कि वे उत्तरी

ध्रुव के मार्ग से पृथ्वी के भीतर प्रवेश करती हैं और दक्षिणी ध्रुव के मार्ग से बाहर निकल जाती हैं। ऊर्जाओं का कार्य बराबर होता रहता है। इस प्रकार ऊर्जाओं में जो पृथ्वी के लिए आवश्यक हैं वे तो प्रवेश कर जाती हैं, मगर जो अनावश्यक हैं, वे छन कर बाहर ही रह जाती हैं। उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में एक छलनी है, जो केवल उसी प्रवाह को भीतर जाने देती है, जो धरती के लिए उपयोगी है।

मेरुप्रभा

अन्तर्ग्रहीय ऊर्जा की दृष्टि से उत्तरी ध्रुव प्रदेश अत्यन्त रहस्यमय है। उत्तरी ध्रुव पर ऊर्जाओं के छनने की क्रिया टकराव अथवा संघर्ष के रूप में देखी जा सकती है। टकराव अथवा संघर्ष के फलस्वरूप एक विलक्षण प्रकार की ऊर्जा कम्पन उत्पन्न होती है। जिनके प्रकाश की चमक प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है वहाँ। उसी चमक को मेरुप्रभा या मेरुप्रकाश कहते हैं।

मेरुप्रभा का दृश्यमान प्रत्यक्ष रूप जितना विलक्षण और अद्भुत है—उससे कहीं अधिक विलक्षण और रहस्यमय है उसका अदृश्य रूप। इस मेरु प्रभा का प्रभाव समस्त भूतल पर पड़ता है। उससे सम्पूर्ण पृथ्वी प्रभावित होती है। भू-गर्भ में, समुद्र तल में, वायुमण्डल में, ईथर के महासागर में जो विभिन्न प्रकार की हलचलें होती रहती हैं, उतार-चढ़ाव आते हैं—उनका बहुत कुछ सम्बन्ध इसी ध्रुवप्रभा अथवा मेरुप्रकाश से होता है। इतना ही नहीं, उसकी हलचलें प्राणधारियों की शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों को भी प्रभावित करती हैं। मनुष्यों पर तो उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है।

ध्रुव प्रकाश सर्च लाइट के समान होता है। यह उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ज्यादा तेज होता है। उत्तरी ध्रुव पर कभी-कभी गरमी भी हो जाती है। दक्षिणी ध्रुव पर ऐसा नहीं होता। उत्तरी ध्रुव पर एस्किमो जाति के मनुष्य रहते हैं। दक्षिणी ध्रुव पर 'पेगुंइन' पक्षी के अलावा कुछ नहीं मिलता। ये पक्षी आगंतुकों से प्रेममय व्यवहार करते हैं। यहाँ पर बिना पंखों वाला मच्छर भी पाया जाता है। उत्तरी ध्रुव पर धरती भीतर की ओर धँसी है, जिससे १४००० फुट गहरा समुद्र बन गया है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव १९००० फुट कूबड़ की तरह उभरा हुआ है। उत्तरी ध्रुव पर बर्फ बहती रहती है तथा दक्षिणी ध्रुव में स्थिर रहती है।

दक्षिणी ध्रुव में रात धीरे-धीरे आती है। सूर्य दक्षिणी क्षितिज के लिए काफी कम समय के लिए जाता है। मगर सूर्यास्त का दृश्य घण्टों तक रहता है। अस्त हो जाने पर महीनों अंधकार छाया रहता है। केवल मात्र उत्तर की ओर का हिस्सा दिखाई देता है। कभी-कभी सूर्य यहाँ पर बिलकुल हरे रंग का दिखलाई देता है। सूर्य की किरणों की वक्रता के कारण कभी-कभी अनेक विलक्षण दृश्य भी दिखलाई पड़ते हैं। ध्रुवों पर सूर्य की किरणों की विचित्रता

के फलस्वरूप अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होती हैं। दूर की वस्तुएँ हवा में लटकती हुई जान पड़ती हैं। कोई भी वस्तु अपने आकार से कई गुना अधिक आकार-प्रकार की दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा भी हवा में और बर्फ में कई बार दिखलाई दे जाते हैं। ये कृत्रिम सूर्य-चन्द्र वास्तविक जैसे ही लगते हैं।

पृथ्वी का चुम्बकत्व

पृथ्वी का चुम्बकत्व जो कि पृथ्वी के कण-कण को पृथ्वी में पाये जाने वाले जीवन तत्त्व को प्रभावित करता है, वस्तुतः ब्रह्माण्ड से आने वाले एक प्रकार के शक्ति तत्त्व के प्रवाह के कारण है। यह शक्ति-प्रवाह अति रहस्यमय है। योगियों का कहना है कि यह शक्ति तत्त्व मनुष्य के शरीर में भी कार्य करता है। मेरुदण्ड के भीतर से जाने वाली सुषुम्ना नाड़ी में यह शक्ति-प्रवाह अपना काम करता है। दूसरे शब्दों में यही शक्ति तत्त्व जीवन तत्त्व है।

यह शक्ति तत्त्व का प्रवाह उत्तर की ओर से आता है और दक्षिण की ओर से बाहर निकल जाता है। इसीलिए उत्तरी और दक्षिणी दोनों ध्रुव क्षेत्र होने पर भी दोनों के गुण-धर्म में भिन्नता है। सामान्यतः दोनों ध्रुवों के चुम्बकीय समान होते हुए भी दोनों की विशेषताओं में काफी अन्तर है।

दोनों ध्रुवों की भिन्नता

उत्तरी ध्रुव एक विशाल गड्ढा है और दक्षिणी ध्रुव गुमड़ा। उत्तरी ध्रुव की बर्फ दक्षिणी ध्रुव से अधिक गर्म होती है। उत्तरी ध्रुव में जीवन का बाहुल्य है, जबकि दक्षिणी ध्रुव उजाड़ क्षेत्र है। उत्तरी क्षेत्र में करोड़ों की संख्या में पेड़-पौधे तथा जन्तु हैं। यहाँ दिन और रात समान नहीं होते। कई बार रात २० दिन के बराबर होती है। यह सबसे लम्बी रात होती है। क्षितिज के बीच सूर्य १६ दिन रहता है। यहाँ पर चन्द्रमा इतनी तेजी से चमकता है कि उसके प्रकाश में दिन की तरह काम किया जा सकता है।

मेरुप्रकाश के विभिन्न रूप

कुछ मेरुप्रकाश विस्तृत और आकारहीन भी होते हैं और कुछ सजीव और हलचल पैदा करते हैं। कभी वे किरणों की लम्बाई के रूप में, कभी वह दृश्य बदलता हुआ चाप पड़ी कोरोना के रूप में होता है, तो कभी प्रकाश गुच्छ अर्थात् सर्च लाइट के समान।

यहाँ रात भर तरह-तरह के दृश्य बदलते हैं। हर दृश्य और परिवर्तन सूर्य की अपनी आन्तरिक हलचल का प्रतीक होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष विज्ञान के दौरान आया। उस समय यह प्रकाश सर्वाधिक अस्तित्व में आया और उसके विलक्षण आकार-प्रकार देखने में आये।

सूर्य की विद्युतीय शक्ति और पृथ्वी

अनुसंधान के दौरान यह पाया गया कि सूर्य में जब तेज दमक दीखती है, तो उसके एक-दो दिन बाद ही मेरुप्रकाश भी तीव्र हो उठता है। यह बढ़ी हुई सक्रियता सूर्य के विकिरण तथा कणों की बौछार का ही प्रतीक होती है। शान्त अवस्था में भी यह सम्बन्ध बना रहता है, परन्तु प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। यह कण अति सूक्ष्म एलेक्ट्रान और प्रोटोन होते हैं, जो २०० से लेकर १००० मील प्रति घंटे की गति से दौड़ते हुए पृथ्वी तक आते हैं। जबकि प्रकाश पृथ्वी तक पहुँचने में कुल ८ मिनट ही लेता है। प्रकाश की गति १८००००० मील प्रति सेकेण्ड है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी सूर्य की विद्युतीय शक्ति से सम्बद्ध हैं। चुम्बकत्व पार्थिव कणों में विद्युत प्रवाह के कारण पैदा होता है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी की चुम्बकीय क्षमता सूर्य के ही कारण है। यह कण पृथ्वी से हजारों मील ऊपर ही पृथ्वी के क्षेत्र के द्वारा पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की ओर मोड़ दिये अथवा प्रवाहित कर दिये जाते हैं।

मेरुप्रकाश का ऋतुओं से सम्बन्ध

मार्च एवं सितम्बर यानि चैत्र और आश्विन मास में जब पृथ्वी का अक्ष सूर्य के साथ उचित कोण पर होता है, तो उस समय मेरुप्रकाश अधिक मात्रा में पृथ्वी पर पड़ता है जबकि अन्य समय में गलत दिशा के कारण वह लौट कर ब्रह्माण्ड में चला जाता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मेरुप्रकाश में नौ प्रकार के ऊर्जा तत्त्व विद्यमान हैं, जो जीवन निर्माण और जीवनी शक्ति के अलावा प्राकृतिक शक्ति में सहयोगी होते हैं।

चैत्र और आश्विन यानि मार्च तथा सितम्बर यह वही अवधि है—जब धरती में फूल-फलों की वृद्धि और ऋतु परिवर्तन होता है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि वे ऊर्जा तत्त्व एक विशेष प्रकार की विद्युत धारा के रूप में परिवर्तित होकर उत्तरी और दक्षिणी दोनों ध्रुवों पर चादर की तरह फैले रहते हैं, उस अवधि में।

ऊर्जा तत्त्व और नवरात्रि

प्रत्येक ऊर्जा तत्त्व अलग-अलग विद्युत धारा के रूप में परिवर्तित होते हैं। वे नौ प्रकार की विद्युत धारायें जहाँ एक ओर प्राकृतिक वैभव का विस्तार करती हैं—वहीं दूसरी ओर समस्त जीवधारी प्राणियों में जीवनी शक्ति की वृद्धि और मनुष्यों में विशेष चेतना का विकास करती हैं। भारतीय संस्कृति और साहित्य में उन नौ प्रकार की विद्युत धाराओं की परिकल्पना नौ देवियों के रूप में की गयी है। प्रत्येक देवी एक विद्युत धारा की साकार मूर्ति है। देवियों के आकार-प्रकार, रूप, आयुध, वाहनादि का भी अपना रहस्य है—

जिनका सम्बन्ध उन्हीं ऊर्जा तत्त्वों से समझना चाहिए। ऊर्जा तत्त्वों और विद्युत धाराओं की गतिविधि के अनुसार प्रत्येक देवी की पूजा-अर्चना का विधान है और इसके लिए नवरात्रि की योजना है। प्रत्येक देवी की एक रात्रि होती है। रात्रि में देवी की पूजा-अर्चना का विधान इसलिए है क्योंकि उन दिनों वह मेरुप्रकाश रात्रि के समय अधिक सक्रिय होता है।

देवी की प्राण-प्रतिष्ठा और बलि-विधान

नवरात्रि में पूजा-अर्चना के लिए देवी की मूर्ति को स्थापित करने और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा का विधान और नियम है। देवी की मूर्ति का निर्माण जिस कलात्मक ढंग से किया जाता है, उसका भी आधार ऊर्जा तत्त्व और विद्युत धारा है। यदि मूर्ति-निर्माण में किंचित् भी त्रुटि हो तो वह मूर्ति ऊर्जा-तत्त्व और विद्युत धारा को ग्रहण करने में सक्षम न होगी। इसलिए मूर्ति-निर्माण में शास्त्रीय नियम का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। शास्त्रीय विधान के अनुसार मूर्ति का निर्माण और स्थापना जब हो जाती है, तब उसके बाद उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की योजना होती है। स्थापना अलग बात है और प्रतिष्ठा अलग। दोनों में काफी अन्तर व भेद है। स्थापना का सम्बन्ध है—पूर्व रूप से विधि-विधान के अनुसार मूर्ति का आयोजन एवं संयोजन। स्थापना के बाद प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा का मतलब है—मूर्ति में दैवी शक्ति की कल्पना, जिसका आधार पूजन-अर्चन होता है। इसके बाद है प्राण-प्रतिष्ठा।'

प्राण-प्रतिष्ठा का अर्थ हैं—अपने प्राणों के आकर्षण से उस दैवी शक्ति को आकर्षित कर देवी की मूर्ति में एक ऐसे अदृश्य केन्द्र का निर्माण करना, जिसे तंत्र की भाषा में 'पीठ' कहते हैं। पीठ का आविर्भाव होते ही देवी की मूर्ति एक प्रकार से सजीव हो उठती है और उसका अगोचर सम्बन्ध तत्काल स्थापित हो जाता है। समष्टि रूप से चैतन्य और क्रियाशील प्राणों से और उसी के साथ मूर्ति में आविर्भूत हो उठती है—अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त दैवी शक्तियाँ। इसी का नाम हैं—प्राण-प्रतिष्ठा।

देवी की मूर्ति से उन दैवी शक्ति के तादात्म्य को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए समय-समय पर पशु-बलि करने का विधान है। पशु में केवल जैविक शक्ति होती है। मनःशक्ति और आत्मशक्ति उनमें नहीं होती। यानि पशु में मन और आत्मा का अस्तित्व नहीं होता। उनमें केवल मात्र 'प्राण' की प्रधानता होती है। प्राण के आधार पर उनका जैविक विकास होता है। कुछ पशुओं के प्राणों में विद्युत चुम्बकीय तत्त्व भी पाये जाते हैं। विद्युत चुम्बकीय तत्त्व प्रधान प्राणों में सर्वाधिक ऊर्जा होती है। ऐसे पशु-पक्षियों में बकरा, भैंसा, मुर्गा और कबूतर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। यही कारण है कि बलि के लिए इन्हीं पशु-पक्षियों को सर्वाधिक उपयोगी समझा गया है और इसीलिए इनकी बलि भी की जाती है। मगर वही बलि सफल और

उपयोगी समझी जाती है, जो पूर्ण विधि-विधान और तंत्रशास्त्रोक्त ढंग से की जाती है।

वायुमण्डल की रहस्यमयी ध्वनियाँ

उत्तरी ध्रुव में वायुमण्डल की एक अति आश्चर्यजनक घटना यह है कि वहाँ सीटी जैसी तीखी ध्वनियाँ अक्सर सुनाई पड़ती हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह आकाश तड़ित विद्युत के कारण एवं विद्युत चुम्बकीय तरंगों के कारण होता है। इसमें वायुमण्डल में ७००० मील की ऊँचाई पर एक विद्युन्मय गैस की उपस्थिति की सम्भावना व्यक्त की जा रही है। पता नहीं, यह सूर्य की शक्ति है या पृथ्वी की।

मनुष्य और उसका पुरुषार्थ क्षुद्र है

ध्रुवप्रभा और मेरुप्रकाश का धरती पर होने वाली विभिन्न हलचलों एवं परिवर्तनों से क्या सम्बन्ध है? इसका अन्वेषण करने में वैज्ञानिक संलग्न हैं। अब तक वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य के निजी पुरुषार्थ का महत्त्व अत्यन्त सीमित है। मनुष्य एक अल्पज्ञ और क्षुद्र प्राणी है। उसकी पुरुषार्थता की भी सीमा नगण्य है। बहुत हुआ तो अन्तरिक्ष और भूलोक के बीच चल रहे आदान-प्रदान पर ही निर्भर रहता है।

इस प्रसंग के अन्त में यह बतला देना आवश्यक है कि वस्तुएँ, वनस्पतियाँ, ऋतु-परिवर्तन, जलवायु जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर इन्हीं अदृश्य, अगोचर, अभिमर्षणों का प्रभाव रहता है।

इतना ही नहीं, वे प्राणियों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को भी प्रभावित करते हैं। इस दृष्टि से स्वतंत्र कहा जाने वाला प्राणि जगत प्रकृति की सूक्ष्म हलचलों की कठपुतली बनकर एक प्रकार से नियति-नियंत्रित ही बन जाता है। लगता है समस्त विश्व प्राकृतिक तौर पर एक दूसरे के पूरक और अन्योन्याश्रित जीवन जी रहा है।

रहस्यमय योगाश्रम

साधु महाशय ने मुझे बतलाया कि उत्तरी ध्रुव के निकट दो-एक ऐसे योगाश्रम भी हैं जिनका अस्तित्व तृतीय और चतुर्थ आयाम की सन्धि में है और जिनमें रहने वाले योगी एवं साधकों का सम्बन्ध मेरुप्रभा के द्वारा अन्तरिक्ष के अनेक रहस्यमय स्थानों से है। मेरे विचार से वे योगाश्रम एक प्रकार से प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

'कैसे प्रशिक्षण केन्द्र ?' — मैंने प्रश्न किया।

'जो योगीजन आत्मलोक में कालक्षेम कर संसार में पुनः आना चाहते हैं — वे संसार में कैसे रहना चाहिए, किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, कैसे अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा करते हुए संसार का कल्याण और लोक हित

करना चाहिए आदि बातों का सर्वप्रथम वहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। उसके पश्चात् उन्हें संसार में जन्म लेने के लिए पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्णय होता है और फिर निश्चित होती है उन्हें संसार में रहने की कालावधि। उन्हें संसार में रह कर क्या-क्या करना होगा? इसका भी निर्णय उसी समय हो जाता है'।

इसी सन्दर्भ में साधु महाशय ने आगे बतलाया कि 'इसी प्रकार हिमालय के रहस्यमय स्थानों में भी अनेक गुप्त योगाश्रम और सिद्धाश्रम हैं, जिनमें ज्ञानगंज मठ नामक सिद्धाश्रम का स्थान सर्वोपरि है। आप तो जानते ही हैं कि आपके गुरु महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज के गुरु स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव को योग की शिक्षा-दीक्षा ज्ञानगंज मठ में ही प्राप्त हुई थी'।

'जी हाँ। इस तथ्य से मैं भलीभाँति परिचित हूँ'—सिर हिलाकर उत्तर दिया मैंने।

रात घनी हो चुकी थी। बारह बजने वाले थे शायद। वार्ता-विषय समाप्त हो चुका था, एक प्रकार से। साधु महाशय ने एक लम्बी साँस ली और उठ खड़े हुए। एक बार उन्होंने अंधकार में डूबे हुए घाटों की ओर सरसरी नजर से देखा और फिर सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। रास्ते में साधु महाशय बोले—'सच्चे योगी, साधकों को पहचानना और समझना बड़ी ही कठिन बात है शर्मा जी'।

'जी हाँ। आपने ठीक कहा। आज के युग में तो और भी कठिन हो गया यह'—उत्तर में मैंने कहा।

दूसरे क्षण साधु महाशय चिन्तामणि गणेश की गली के अन्धकार में विलीन हो गये।

आज काफी लम्बा अर्सा गुजर गया। फिर मेरी भेंट नहीं हुई साधु महाशय से।

प्रकरण : पैंतालीस

काशी की वह रहस्यमयी तन्त्रसाधिका

कुण्डलिनी साधना एक ऐसी शक्ति की साधना है, जो हमारे प्राणों में, हमारे मन में, हमारे विचारों में और हमारी तमाम इच्छाओं में प्रकट होती है। इसीलिए कुण्डलिनी को महायोग कहा गया है। अपनी कुण्डलिनी यात्रा में लगभग चालीस वर्षों के दीर्घ अन्तराल में हिमालय के अनेक रहस्यमय और दुर्गम स्थानों के अलावा मैंने तिब्बत की भी जीवन-मरणदायिनी हिमयात्रा की और हिमालय एवं तिब्बत की गिरि-गुहाओं में गुप्त रूप से निवास करने वाले अनेकों सिद्ध-साधकों और योगियों का साक्षात्कार किया।

मैं वाराणसी का मूल निवासी हूँ। इसलिए मैंने प्रारम्भ में काशी में गुप्त रूप से निवास करने वाले सिद्ध साधकों और योगियों की खोज की। मेरे पितामह—जिनका नाम बेचनजी शर्मा था—स्वयं उच्च कोटि के योगी थे। बाल्यावस्था तक उनकी छत्र-छाया मुझ पर थी। काशी के अनेक गुप्त तांत्रिकों और प्रच्छन्न योगियों से उनका सम्पर्क था और जिन लोगों से उनका सम्पर्क था उन्हीं में एक थे—राम चन्द्रा स्वामी। तैलंगी ब्राह्मण थे स्वामी जी। आयु थी यही साठ-पैंसठ के लगभग। चौंसठ तंत्रों में एक तंत्र है—पक्षी तंत्र। स्वामीजी पक्षी तंत्र के सिद्ध साधक थे। सभी पक्षियों की भाषा के ज्ञाता थे वह। कौन पक्षी अपनी भाषा में क्या बोल रहा है ? क्या कह रहा है ? स्वामी जी तुरन्त समझ जाते थे।

हनुमान घाट पर हनुमान जी का एक अति प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के बगल से घाट की ओर एक पतली-सी गली गयी है। उसी गली में एक जीर्ण-शीर्ण मकान में रहते थे स्वामी जी। मकान में कुल तीन-चार कमरे थे। एक कमरा तो साधना कक्ष था स्वामीजी का। वे कौन-सी साधना करते थे यह तो मुझे नहीं मालूम, मगर उस कमरे में तरह-तरह के सैकड़ों पक्षियों के शव अवश्य चारों तरफ बिखरे पड़े रहते थे। कुछ गिद्ध, चील्ह, कौवा आदि जैसे बड़े पक्षियों के कंकाल खूँटियों पर टंगे हुए झूलते रहते थे। सारा कमरा हमेशा भयंकर दुर्गन्ध से भरा रहता था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि स्वामीजी उसी सड़ान्ध भरे कमरे में दरवाजा बन्द कर घण्टों अपनी रहस्यमयी साधना में लीन रहा करते थे।

स्वामीजी अकेले थे। बहुत कम बोलते थे और अपने मकान के बाहर भी कम ही निकला करते थे। पितामहजी के फलस्वरूप उनकी मुझ पर विशेष कृपा थी। कभी-कभी वे मुझसे तंत्र-मंत्र से सम्बन्धित बहुत-सी ऐसी

बातें किया करते, जिन्हें मैं समझ न पाता। बस, बीच-बीच में हाँ कर दिया करता। खैर। उन दिनों कुण्डलिनी के तंत्र योग से सम्बन्धित विषयों पर खोज एवं शोधकार्य कर रहा था। मगर खोज एवं शोध की दिशा में योग्य मार्ग दर्शक के अभाव में इच्छित प्रगति नहीं हो पा रही थी। पहले राम चन्द्रा स्वामी से थोड़ी आशा बँधी थी, पर उनकी मति-गति समझ में न आने के कारण उनकी ओर से निराश ही हो चला था मैं। तभी एक दिन—

सांझ का समय था। मैं नित्य की भाँति स्वामीजी से मिलने के लिए गया। आंगन में गहरा अंधेरा था। एक अबूझ-सी खिन्नता भरी उदासी फैली हुई थी मकान के वातावरण में। मैं किसी प्रकार टटोल-टटोल कर सीढ़ियाँ चढ़ा और ऊपर के कमरे में पहुँचा। दरवाजा बन्द नहीं था। थोड़ा खुला हुआ था और भीतर प्रकाश हो रहा था। स्वामीजी साधना में हैं, यह मुझे समझते देर न लगी। बाहर खड़ा रह कर कुछ सोचने लगा मैं। तभी मुझे भीतर किसी नारी-कण्ठ की आवाज सुनाई पड़ी। चौंक पड़ा मैं। स्वामीजी अकेले ही रहते हैं। अभी तक किसी स्त्री को उनके साथ नहीं देखा था मैंने। आश्चर्य और कौतूहल से भर उठा चित्त। झांक कर जब भीतर देखा तो एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं।

स्वामीजी अपने आसन पर बैठे हुए थे और उनके ठीक सामने एक स्त्री बैठी हुई थी। आयु रही होगी यही लगभग ३०-३५ वर्ष। लेकिन शरीर का गठन देखकर बहुत ही कम आयु की लग रही थी वह। साँवले रंग की सुगठित काया। जटाजूट से बाल जिसे बाँध कर जुड़ा बना दिया गया था और उस जूड़े में रुद्राक्ष की माला पिरो दी गयी थी। गले में भी रुद्राक्ष की माला झूल रही थी। मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड लगा हुआ था। चेहरे पर असीम तेज के अलावा असीम शान्ति भी विद्यमान थी। पूरी तरह नग्न थी वह रहस्यमयी स्त्री। उसके दोनों सुगठित स्तनों के मध्य स्वस्तिक का चिह्न बना हुआ था।

उसके सामने एक खोपड़ी रखी हुई थी। किसी मनुष्य की खोपड़ी थी वह। खोपड़ी पर लाल सिन्दूर पुता हुआ था और जवा पुष्प की माला पड़ी हुई थी। बगल में एक दीप जल रहा था और अगरबत्तियाँ भी सुलग रही थीं, जिसकी सुगन्धित धूम्र चारों ओर फैल रही थी। खोपड़ी के आस-पास और कुछ सामग्रियाँ रखी हुईं थीं, जैसे खोवे की मिठाइयाँ, फल, मुर्गे का मांस, शराब से भरे कुल्हड़ आदि।

समझ गया मैं। किसी विशेष तांत्रिक अनुष्ठान में लीन थे उस अज्ञात रहस्यमयी स्त्री के साथ स्वामीजी। अधिक समय तक वहाँ रुकना उचित नहीं समझा मैंने। लौट आया मैं। दूसरे दिन भी नहीं गया मैं स्वामीजी से मिलने। तीसरे दिन स्वामीजी स्वयं मुझे मिल गये गंगा किनारे। स्नान कर

लौट रहे थे वह। मैंने उन्हें प्रणाम किया, जिसका उत्तर उन्होंने मुस्करा कर दिया। पीछे-पीछे मैं उनके मकान के दरवाजे तक आया। सोचा कि बैठ कर स्वामीजी से बातें करूँगा। मगर स्वामीजी ने काफी व्यस्त हूँ — कह कर मुझे टरका दिया।

समझ गया मैं। स्वामीजी मुझे क्यों टरका रहे हैं। निश्चय ही आज भी कोई अनुष्ठान करने वाले हैं उस स्त्री को लेकर। लगभग एक-दो घंटे का समय व्यतीत कर मैं चुपके से मकान के भीतर घुस गया। मेरा अनुमान सही निकला। स्वामीजी और वह स्त्री उसी दिन की तरह कोई रहस्यमयी तांत्रिक क्रिया कर रहे थे। मगर दृश्य विलक्षण और आश्चर्यजनक था। वातावरण में रहस्य का धुँध भरा था और उस रहस्यमय वातावरण में भूमि पर बिछे आसन पर स्वामीजी पीठ के बल पसरे हुए थे। उनका शरीर निश्चेष्ट था। आँखें मुँदी हुई थीं। सारा शरीर निर्वस्त्र था और उनकी सम्पूर्ण नग्न काया पर वह रहस्यमयी स्त्री पद्मासन की मुद्रा में नग्न बैठी हुई थी।

वह आँखें बन्द किये दाहिने हाथ में माला लिये कोई मंत्र बुदबुदा रही थी और बायें हाथ से बगल में रखी शराब को उठाकर बीच-बीच में पीती जा रही थी। मैंने कभी ऐसी तांत्रिक साधना न देखी थी और न सुनी ही थी। रोमांच हो आया एकबारगी सारे शरीर में। लौट आया मैं। आगे न देखा गया मुझसे। उसके बाद हफ्तों नहीं गया मैं स्वामीजी के यहाँ। मगर एक दिन एक ऐसा समाचार मिला, जिसे सुनकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं।

स्वामीजी अपने साधना वाले कमरे में मृत पाये गये थे। उनका सारा शरीर फूल कर विकृत हो गया था और उसमें से भयंकर दुर्गन्ध निकल रही थी। लाश के पास तंत्र-साधना में काम आने वाली बहुत सारी वस्तुएँ बिखरी हुई थीं। शराब की कई बोतलें भी पड़ी थीं वहाँ।

पिछले दिनों देखे गये सारे दृश्य एक-एक कर थिरक उठे मानस-पटल पर। निस्सन्देह, उन्हीं तांत्रिक क्रियाओं के बिगड़ जाने के फलस्वरूप स्वामीजी की मृत्यु हुई होगी। मगर वह रहस्यमयी औरत कहाँ गयी? कौन थी वह। उसके सम्बन्ध में किसी को कुछ पता न चला और न तो मैंने ही बतलाया किसी को कुछ। मगर उसी दिन से और उसी क्षण से जुट गया मैं उस अज्ञात और रहस्यमयी स्त्री की खोज में।

क्या मुझे सफलता मिली?

हाँ मिली। बहुत जल्द सफलता मिल गयी। अगर न मिली होती तो कुण्डलिनी के एक अत्यन्त गूढ़ विषय पर प्रकाश कैसे पड़ा होता। कैसे तंत्र के एक तिमिराच्छन्न पक्ष को यहाँ लिपिबद्ध कर पाता मैं। खैर, नवरात्र का समय था। मैं दुर्गाजी का दर्शन करने गया था। भीड़ अधिक न थी। सहसा मेरी नजर एक महिला पर टिक गयी। वह हाथ जोड़े और आँखें बन्द किये

मूर्ति के सामने स्थिर भाव से खड़ी थी। सफेद रंग के सिल्क की साड़ी में उसका व्यक्तित्व खिल रहा था। किसी ऊँचे खानदान की लग रही थी वह। मगर बाद में कुछ जाना-पहचाना सा लगा मुझे उसका चेहरा। धीरे-धीरे सब कुछ याद आ गया बाद में। कितना वैषम्य था। पहले तो विश्वास नहीं हुआ, पर बाद में विश्वास करना ही पड़ा मुझे। यह वही औरत थी, जिसे मैंने राम चन्द्रा स्वामी के साथ दो बार साधना करते हुए देखा था रहस्यमय ढंग से।

हे भगवान्! कितने गुप्त और रहस्यमय ढंग से रहते हैं ऐसे लोग? साधारण लोगों को समझना कठिन ही है। किसी भी स्थिति में न जान सकते हैं और न समझ सकते हैं इन्हें साधारण जन।

निश्चित रूप से वह कोई उच्चकोटि की तंत्र-साधिका थी। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया था, अब मेरे मन में।

वह तेजी से मन्दिर के बाहर निकल कर झटपट एक रिक्शा पर बैठ गयी। रिक्शा नगवा की ओर चल पड़ा। मैं भी एक रिक्शा लेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। नगवा घाट के करीब पहुँच कर वह स्त्री रिक्शे से उतर पड़ी और जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगी। थोड़ी दूर पर एक मकान था—काफी पुराना जीर्ण-शीर्ण-सा। वह उसी मकान में चली गयी।

मैं कुछ देर तक बाहर खड़ा कुछ सोचता रहा। फिर हिम्मत कर मैं भी मकान के भीतर चला गया। दालान के बगल में एक काफी लम्बा-चौड़ा कमरा था। उस कमरे में दो तीन दण्डी स्वामी बैठे शास्त्रचर्चा कर रहे थे। जब मैंने उस रहस्यमयी स्त्री के सम्बन्ध में उनसे पूछा तो उन लोगों ने बतलाया कि वह तांत्रिक संन्यासिनी है। कुछ समय पूर्व आसाम से यहाँ आयी है। वैसे वह काशी की ही रहने वाली है। फिर थोड़ा रुक कर एक साधु ने कहा—अगर आप मिलना चाहते हैं तो ऊपर चले जाइये। अपने कमरे में होंगी वह।

सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर पहुँचा मैं। कमरे का दरवाजा खुला था। दरवाजे पर हरे रंग का पर्दा लटक रहा था। भीतर रोशनी हो रही थी। मैंने पर्दा जरा-सा हटा कर भीतर झाँका। वह तांत्रिक संन्यासिनी पलंग पर बैठी हुई थी। उसने मुझे देख लिया था। बोली—'कौन'?

'मैं हूँ'। यह कहकर मैं भीतर चला गया। उसने ध्यान से मेरी ओर देखा और फिर पूछा—'कौन हैं आप? कैसे यहाँ आना हुआ आपका'?

मैंने अपना परिचय दिया और अन्त में कहा—'मैं आपका सान्निध्य चाहता हूँ और साधना के विषय में मार्गदर्शन'। मेरी बात सुनकर वह तंत्र-साधिका कुछ बोली नहीं। केवल मुस्करा पड़ी।

राम चन्द्रा स्वामी से मैं परिचित रहा हूँ और दो बार उनके साथ तांत्रिक साधना करते हुए मैं देख चुका हूँ—ये सब बातें मैंने नहीं बतलायीं उस तंत्र

साधिका को। जब मैं उसके कमरे में पहुँचा था उस समय रात के नौ बजे थे और जब वापस लौटा, तो सुबह के पाँच बज रहे थे। पूरी रात साधना-प्रसंग पर विभिन्न चर्चा होती रही। फिर उस दिन से प्राय: नित्य ही मैं जाने लगा उस रहस्यमयी साधिका के यहाँ। हाँ, उसका नाम बतलाना भूल ही गया मैं। उसका नाम था — शिवा भारती।

सूक्ष्म शब्द

शब्दशक्ति आदि के सम्बन्ध में पिछले प्रकरण में चर्चा की गयी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि के विषय में बतलाया गया है। शिवा भारती ने 'कुण्डलिनी' के सन्दर्भ में बतलाया कि आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक अवस्था का जो सूक्ष्म अर्थ है, वह एक प्रकार का संस्कार अथवा प्रतिबिम्ब है। जब मनुष्य सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत् अवस्था में आता है, तब वह सुषुप्ति अवस्था, जो एक प्रकार की अस्थायी विस्मृति की अवस्था है, के संस्कारों अथवा प्रतिबिम्बों के माध्यम से विगत बातों का स्मरण करता है। अब प्रश्न है कि उन संस्कारो अथवा प्रतिबिम्बों का कारण क्या है? क्योंकि संस्कार जब कार्य है तो उसका कारण भी तो होना चाहिए।

इसका कारण है—'शब्द' या 'नाम'।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि हिरण्यगर्भ अवस्था में शब्द संस्कार के रूप में मानव-मूर्तियों का निर्माण करता है। इसलिए कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत शब्द, अर्थ और नाम रूप है।

मन्त्रशास्त्र का आविर्भाव

यही वह स्थान है, जहाँ से मंत्रशास्त्र का आविर्भाव होता है। किन्तु मंत्र शास्त्र के अन्तराल में प्रवेश करने के पूर्व एक बार मन के आधार पर 'वाक्' के रहस्य पर विचार किया जायेगा। मध्यमा वाणी और उसका अर्थ दोनों सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर से सम्बद्ध हैं। किसी अर्थ को ग्रहण करने की दिशा में मन दो कार्य करता है। उसका एक अंश तो सूक्ष्म शब्द के साथ एकाकार होता है और दूसरा अंश बाहरी वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है। यही सूक्ष्म अर्थ है। इस प्रकार सूक्ष्म शब्द और अर्थ दोनों मन के ही दो प्रतिरूप हैं। अस्तु। योग-तंत्र विज्ञान का कहना है कि मनुष्य के शरीर में छ: चक्र हैं, जिनमें पचास दल हैं। प्रत्येक दल पर संस्कृत वर्णमाला के एक-एक अक्षर हैं। जो सूक्ष्म हैं और शरीर के अन्दर स्थित कण्ठ, तालु आदि स्थानों के आघात से वैखरी रूप धारण करते हैं। उन्हीं सूक्ष्म अक्षरों को 'मातृका' कहा गया है।

मातृका पराशक्ति अथवा परावाक् के पचास रूप समझी जाती है। अत: पचास वर्णमातृका 'बीजरूपा' भी हैं। जिस चक्र के दलों पर जितनी बीज

रूपा वर्णमातृकाओं की स्थिति है—वे आपस में मिलकर तंत्र के 'बीजाक्षर मंत्र' कहलाते हैं। प्रत्येक बीजाक्षर मंत्र तत्त्वों में से एक-एक तत्त्वों का उदय होता है। बाद में उन बीजाक्षर मंत्र को उसी तत्त्व से सम्बन्धित बतलाया जाता है। जब कोई बीजाक्षर वैखरी का रूप धारण करेगा तब अपने से उत्पन्न होने वाले तत्त्व को भी साथ-साथ व्यक्त करेगा।

मन्त्र चैतन्य और मन्त्र जागरण

तंत्रशास्त्र में केवल छः चक्रों की चर्चा की गयी है। किन्तु योगपरक तंत्र में छः चक्रों के अलावा एक सातवें चक्र की भी कल्पना की गयी है। जिसे सहस्रार कहते हैं। इस सहस्रार चक्र में एक हजार दल हैं। मगर, उन दलों पर मातृकाओं की स्थिति नहीं है। बल्कि मातृकाओं से सम्बन्धित लोकों, देवताओं और तत्त्वों के दर्शन वहाँ होते हैं। सहस्र दल के बीच में जो कर्णिका है, वह विश्व का केन्द्र है। वहाँ पहुँचने पर मन पूर्ण शान्त होकर आत्मा में विलीन हो जाता है। तत्पश्चात् मन से युक्त आत्मा परमात्मा अथवा परात्पर तत्त्व में विलीन हो जाती है। प्रत्येक चक्र के दलों पर स्थित मातृकाओं में एक मातृका प्रधान होती है, जिसमें से तत्त्व का उदय होता है। बाद में वह तत्त्व अन्य सम्बन्धित मातृकाओं में विभक्त हो जाता है। एवमेव जो बीज मातृका स्थूल रूप में उच्चारित होती है—उसके सूक्ष्म रूप को जो शक्ति चालित करती है—वही उन तत्त्वों का हेतु है। स्थूल रूप से केवल 'बीज' मातृकाओं के उच्चारण से कोई लाभ नहीं। उसके साथ मन की एकाग्रता और विचारों की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। मन और विचारों की एकाग्रता और स्थिरता से क्रमशः वैखरी शब्द, मध्यमा पश्यन्ती में परिवर्तित होता हुआ परारूप को प्राप्त हो जाता है। (शब्द के सम्बन्ध में विशेष रूप से पिछले प्रकरण में विस्तार से चर्चा की गयी है) मगर यह मन और विचार की एकाग्रता की मात्रा पर निर्भर है। उच्चारित होने वाली बीजमातृका, जिस दल और चक्र से सम्बन्धित होती है, उनके जप से उस चक्र में एक प्रकार की हलचल अथवा कम्पन होने लग जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वैखरी शब्द अपने अन्य रूपों में परिवर्तित होने लग जाता है। इसी अवस्था विशेष को मंत्रजागरण अथवा 'मंत्र चैतन्य' कहते हैं। इसके अभाव में कोई भी मंत्र काम नहीं कर सकता। मंत्र जाग्रत् होने पर शक्ति चैतन्य होती है और शक्ति के चैतन्य होने पर मंत्र के अधिष्ठातृ देवता आकर्षित होकर फल प्रदान करते हैं।

मन्त्र और देवता

शब्द मंत्र है और उसका अर्थ है देवता। मंत्र जब जाग्रत् होकर शक्ति युक्त होता है, उस समय अर्थ भावजगत् एवं सूक्ष्मजगत् में आकार धारण करने लगता है जो समयानुसार देव रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह

परिवर्तन होने पर जाग्रत् शक्ति उसमें समाविष्ट हो जाती है। इस स्थिति में वह मंत्राभिमानी देवता की शक्ति कहलाती है। जैसे-जैसे मंत्र सिद्धि की दिशाओं की ओर उन्मुख होता है, वैसे-ही-वैसे वह शक्ति दैवीजगत् में क्रियाशील अनन्त शक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करती जाती है। पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित हो जाने के बाद मंत्रसाधक की विचारशक्ति, मनःशक्ति, इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति इन चारों शक्तियों में परिवर्तित होकर वह उसका अभीष्ट सिद्धि करती है। मंत्र को जाग्रत् और सिद्ध करने के लिए और उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए मन पर संयम और विचारों की एकाग्रता तो आवश्यक है ही, इसके अलावा मंत्र जिस देवता का हो, उसका ध्यान भी हृदय में बराबर होना चाहिए। जिह्वा पर मंत्र और हृदय में देवता का ध्यान—यही ठीक प्रक्रिया है।

यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र

सभी प्रकार के देवताओं के स्वरूप की अभिव्यक्ति के तीन साधन हैं—यंत्र, मंत्र और तंत्र। मंत्र के आधार पर यंत्र और दोनों के समन्वय के आधार पर तंत्र यानि पूजा-पद्धति का निर्माण होता है। पूजा-पद्धति अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट साधन है। अस्तु, यदि किसी साधक ने मंत्र चैतन्य के सिद्धान्त को ठीक से समझ लिया, ठीक से पकड़ लिया तो तंत्र साधना की अनेक जटिल और रहस्यमयी बातें सरल हो जायेंगी।

यंत्र शब्द का अर्थ है—शक्ति को संयमित और नियमित करना, उसे केन्द्रित करना। तंत्र साधना करने वाले साधकों के विश्वास पर यदि ध्यान दिया जाये, तो साधना की स्पष्टता सामने आ जायेगी। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि तांत्रिक साधना कोई साधारण साधना नहीं है। वह छः प्रकार की साधनाओं में सर्वोच्च मानी गयी है। इसके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण सम्भव है। भौतिक लाभ हो सकता है। लोक-कल्याण भी हो सकता है। किन्तु इन सबके लिए समय और विश्वास की आवश्यकता है। यह बहुत बड़ा रहस्यमय विज्ञान है।

किसी शब्द के अर्थ का यदि ध्यान किया जाये और उसके साथ चैतन्य का सम्पूर्ण योग साध लिया जाये, तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर में स्थित छः चक्र अनन्त शक्तियों के केन्द्र हैं। तंत्र शास्त्र यही बतलाता है कि किस प्रकार की अभिलषित सिद्धि के लिए किस प्रकार की शक्ति पर ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करना चाहिए। किस प्रकार ध्यान द्वारा अभीष्ट देवता के रूप को कार्य-सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जा सकता है। यह साधना अत्यन्त कठिन है। सभी को इसमें सफलता नहीं मिल सकती। जो सच्चे अर्थों में साधक हैं, वे इस साधना के बल पर लौकिक कार्य की सिद्धि की दिशा में काफी सावधानी से कार्य करते हैं। देश, काल, पात्र इन तीनों पर काफी

ध्यान रखना पड़ता है उनको···शरीर के जिस केन्द्र में स्थित शक्ति को जाग्रत् करना है, उसका ठीक-ठीक परिज्ञान कराना और उस पर ध्यान कर मन को एकाग्र कराने का कौशल बतलाना तंत्रशास्त्र के मुख्य उद्देश्यों में से एक है।

वास्तव में यंत्र मूल रूप में विभिन्न शक्ति केन्द्रों के मानचित्र के समान है, जो साधक की अभीष्ट शक्ति को उद्‌बुद्ध करने की साधना में सहायता देते हैं। यंत्र कहने का मतलब है मन को संयत करने का प्रयास। किन्तु जो लोग इस तत्त्ववाद को बिना समझे कागज या भोजपत्र पर कुछ खाने बनाकर उसमें कुछ अंक भर कर सब कुछ मान लेते हैं और सोचते हैं अपना काम बन गया, तो निश्चय ही ऐसे लोग भ्रम में रहते हैं और जब उन्हें सफलता नहीं मिलती तो यंत्र को ही दोषी मानने लगते हैं। यही मंत्रों की भी हालत है। लोग जपते चले जाते हैं, मन कहीं और भटकता रहता है, विचार कहीं और रहता है। और जब सफलता और सिद्धि नहीं मिलती, तो कहने लग जाते हैं कि सब व्यर्थ है, पाखण्ड है। शास्त्रीय दृष्टि से तंत्र का एक अर्थ 'विस्तार' भी है। जब शक्ति अपने स्थान पर उद्‌बुद्ध हो जाती है, तो उसे सम्पूर्ण देह के विभिन्न केन्द्रों में प्रसारित करने की प्रक्रिया को तंत्र कहते हैं। एवमेव तंत्र को जादू-टोना आदि समझना बहुत भारी भूल है। इसके रहस्यमय विज्ञान से परिचित लोग भी रहस्यमय ढंग से रहते हैं। इनको पहचानना उनके क्रिया-कलाप पर नहीं, बल्कि उनके द्वारा प्राप्त शिष्यत्व पर निर्भर है।

शब्दशक्ति, मंत्रतत्त्व, षट्‌चक्र, बीजाक्षर वर्ण, मातृका आदि तंत्र के गूढ़ विषयों पर चर्चा करने के बाद शिवा भारती ने कहा—'प्रत्येक शास्त्र के तीन रूप हैं--आध्यात्मिक, यौगिक एवं व्यावहारिक। व्यावहारिक रूप की आलोचना यदि वैज्ञानिक दृष्टि से होती है, तो सभी प्रकार के लोग समझ सकने में समर्थ होते हैं और विषय को वर्तमान में स्थान और महत्त्व भी मिलता है।

शब्द और मन्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप

क्या आपने कभी कल्पना की है कि संसार के लगभग तीन अरब मनुष्यों में आधे लोग रात्रि में जब सोते रहते हैं, तब आधी आबादी दिन के प्रकाश में अपने कार्य में व्यस्त रहती है। यदि वे डेढ़ अरब मनुष्य दिन के अपने जागरण काल में केवल तीन घण्टे भी बातें करते हों तो क्या आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे कितनी विद्युत् शक्ति इस प्रकार उत्पन्न करते हैं?

विद्युतीय ध्वनिशास्त्र यानि 'एलेक्ट्रो एकास्टिक्स' तथा इन्जीनियरिंग द्वारा गणना करके यदि देखा जाये तो लोग केवल उक्त तीन घंटों में कम से कम ६००० खरब वाट विद्युत् शक्ति केवल अपने शब्दों या ध्वनियों से उत्पन्न करते हैं। शब्दों से उत्पन्न यह विद्युत् ऊर्जा दामोदर नदी घाटी, रिहन्द बाँध, भाखरा नांगल एवं ट्राम्बे के परमाणु प्रतिवर्तक की सम्मिलित शक्ति से कहीं अधिक है। यों कहिये कि भारत में कुल जितनी बिजली उत्पन्न होती है,

उससे कहीं आठ गुनी अधिक है। इस ऊर्जा से सम्पूर्ण विश्व में घंटों प्रकाश किया जा सकता है। और यदि उस ऊर्जा की एक यूनिट का मूल्य पचास पैसे भी रखा जाये, तो इस बिजली का मूल्य लगभग एक खरब रुपये होंगे। कल्पना कीजिये कि इतनी बिजली और इतना धन मनुष्य केवल होठ हिलाकर हवा में फूंक कर उड़ा देता है। जिस स्थान पर तामसिक विचार और तामसिक मन वाले लोगों की संख्या अधिक होती है, उनके मुख से निकलने वाले शब्द भी ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि से भरे हुए होते हैं। वातावरण में पहले घनीभूत होने के बाद उन शब्दों से उत्पन्न ऊर्जा ईथर में पहुँचती है—जिसे ग्रहण कर प्रकृति कृत्याओं को जन्म देती है और वे कृत्यायें उस स्थान पर, उस देश पर नाना प्रकार के संघर्ष, युद्ध, रक्तपात आदि कराने लग जाती हैं। आँधी, तूफान, चक्रवात आदि भी इन्हीं के कारण होता है जिससे हानि ही होती है, लाभ नहीं।

शब्द और मन्त्र की शक्ति

शब्दशक्ति और मंत्रशक्ति के सम्बन्ध में उसके परिणामों को जानने के लिए वैज्ञानिक डाक्टर बॉयड ने एक ऐसा यंत्र बनाया, जिसके सामने यदि आप मुँह तक खोलें तो उसमें उठने वाली हिलोरें और कम्पन स्पष्ट देखे और आँके जा सकते हैं। उस यंत्र के सामने कोई जोर से बोले, तो यंत्र काँच के समान चूर-चूर होकर बिखर जायेंगे।

उच्चारित शब्दों का ठीक इसी प्रकार का प्रभाव हमारे तन-मन पर भी पड़ता है। यह प्रभाव विशेष रूप से कानों और त्वचाओं के द्वारा पड़ता है। क्योंकि इस सम्बन्ध में कानों और त्वचा की संवेदनशीलता प्रायः एक प्रकार की ही होती है। शब्दों के लिए कानों की संवेदनशीलता सर्वाधिक होती है और त्वचा की एतादृश संवेदना प्रायः नगण्य होती है। कान सूक्ष्म विद्युत गृह का भी काम करते हैं। मोटे तौर पर यह समझ लेना चाहिए कि कान एक तरह का माइक्रोफोन होता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें २० से २०,००० आवर्तन के सुनाई पड़ने योग्य शब्द पड़ते ही विद्युत् धारा प्रवाहित होने लगती है और वह सीधे मस्तिष्क तक पहुँचती है। तदनन्तर विविध प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। तत्पश्चात् शरीर के सभी भागों एवं ग्रन्थियों को सचेष्ट, क्रियाशील तथा विद्युत् धाराविता बना देती है। त्वचा पर पहले ध्वनि चाप का प्रभाव पड़ता है, फिर ग्राहक स्नायु तन्तुओं में बिजली का संचार होता है। बिजली की यह धारा तदनन्तर अपनी दीर्घ यात्रा के बाद मस्तिष्क के स्नायु तन्तुओं को अत्यल्प मात्रा में विद्युन्मय करती है। शब्दों का सर्वाधिक प्रभाव कण, स्नायु, मस्तिष्क, अन्य स्नायुसूत्र, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों, पेट, वृक्क, यकृत, रक्त तथा आटोनोमिक स्नायु पर पड़ता है। जिस समय हम शब्दों का उच्चारण करते हैं, उस समय श्रोता के मस्तिष्क पर दो प्रकार

से प्रभाव पड़ता है—(१) मुख से शब्द निकलने के प्रथम वक्ता के मस्तिष्क में उसी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें निकलती है, जिन्हें श्रोता का मस्तिष्क ग्रहण करने की चेष्टा करता है। (२) उच्चारित शब्द वायु के माध्यम से कर्ण, रन्ध्रों से होते हुए विद्युत संचार के रूप में मस्तिष्क में पहुँचते हैं। तदनन्तर वे हर्ष, शोक, विषाद, घृणा, भय तथा कामेच्छा आदि आवेगों को मस्तिष्क में उत्पन्न करते हैं और तदनुरूप शरीरांगों में प्रस्फुरण और सन्दीपन होता है। इस प्रकार शब्द प्रेरणा, प्रस्फुरण, स्फूर्ति और झकझोर उत्पन्न कर प्रायः शरीर के अवयवों में साधारण अवस्था से अधिक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। वे कभी-कभी शिथिलता और निष्क्रियता भी उत्पन्न करते हैं।

स्नायुमण्डल पर शब्दों का प्रभाव

स्नायुमण्डल पर भी शब्दों के प्रभाव पड़ते हैं। उद्विग्नता, क्लान्ति, शरीर कम्पन, चित्त की चंचलता, बुरे भयानक स्वप्न उन प्रभावों की स्पष्ट विकृतियाँ होती हैं। मूर्च्छा, स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश और विक्षिप्तता का भी आक्रमण हो सकता है। शब्दों से काम, क्रोध, भय आदि उत्पन्न होने पर हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं और रक्त का दबाव भी बहुत ऊँचा उठने लगता है। रक्त में विशेष प्रकार का विष (टाक्सिन) उत्पन्न होने लगता है। इसी प्रकार हर्षोत्पादक आशाजनक शब्द मस्तिष्क, हृदय और रक्त पर अमृततुल्य काम करता है। प्रिय और अप्रिय शब्दों के अनुसार पेट में भी प्रक्रियायें होती हैं। उनसे भूख और पाचन क्रिया बढ़ जाती है या घट जाती है। इन्हीं सब बातों से प्रश्नों तथा बातों के द्वारा अथवा अन्य माध्यम से उत्तेजित कर अपराधों का पता लगाने के लिए मिथ्यान्वेषी (लाइ-डिक्टेटर) यंत्र का आविष्कार किया गया है। शब्दों की बौछार से अपराधी के शरीरांगों में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रयाओं को विद्युद् द्वारा ग्रहण कर रहस्य की बहुत कुछ थाह मिल जाती है।

क्रोध, घृणा, भय जनक शब्दों को सुन कर मनुष्य के उपवृक्क (एड्रीनल ग्लैण्ड) से एड्रीनल नामक स्राव बड़े वेग से निकल-निकल कर रक्त में मिलने लग जाता है और वह मस्तिक को एवं अन्यान्य अंगों को असाधारण रूप से जागरूक और सक्रिय एवं शक्तिशाली बना देता है, मगर अत्यन्त अल्प काल के लिए। उसके निकलते समय यकृत (लीवर) में एक विशेष प्रकार की पहले से जमा की हुई चीनी (ग्लाइकोजन) स्वयं निःसृत होने लगती है। इसी क्रम से लघुशंका की आवश्यकता और मात्रा भी बढ़ जाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि के शब्दशक्ति का मूलाधार

कहना न होगा, मंत्रशास्त्र में शब्दों की इन्हीं सब प्रक्रियाओं को ध्यान में रख कर कल्याण, मनोकामना-सिद्धि, मारण, मोहन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशी-

करण आदि के लिए विविध शब्द-प्रक्रियाओं का विधान किया गया है, जिसे 'मंत्र' कहते हैं। ये आजकल मनोवैज्ञानिक युद्ध (साइकोलाजिकल वार) या स्नायु शातक युद्ध (वार आफ नर्वस) के अन्तर्गत सब आता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मंत्रशक्ति का मूलाधार यही है। शब्द-मारण के मूल में यही भावना काम करती है।

जिस प्रकार मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि के लिए घृणा, द्वेष आदि भावनाओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार मोहन, आकर्षण, वशीकरण के लिए प्रेम, स्नेह, मोह, व्याकुलता आदि की आवश्यकता है। पाश्चात्य देशों में इन्हीं के एक रूप को सम्मोहन अथवा 'आत्म परामर्ष' की संज्ञा दी गयी है। यद्यपि वहाँ उसमें उच्चारित और अनुच्चारित शब्द दोनों ही सम्मिलित किये जाते हैं।

प्रकरण : छियालीस

मन्त्रशक्ति और उसका चमत्कार

साँझ घिर आयी थी। हाहाकार करती हवा, मूसलाधार वर्षा, धीरे-धीरे साँझ की स्याह-कालिमा रात्रि की निबिड़ अन्धकार में बदलती जा रही थी। एक विचित्र आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय घटना घटने जा रही थी उस निबिड़ रात्रि में; और उस कौतुक का एकमात्र दर्शक बनने जा रहा था मैं।

दो दिन पूर्व शिवा भारती ने प्रसंगवश कहा था—तांत्रिक साधना का एक तामसिक पक्ष भी है, जिसे तामसिक भूमि भी कहते हैं। इस भूमि में जो शक्ति काम करती है उसे ही महाकाली की संज्ञा दी गयी है। इस सृष्टि का आरम्भ 'तम' से हुआ है। नाश भी तम से होता है। इसलिए महाकाली निर्माण और विनाश दोनों की अधिष्ठात्री देवी हैं। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, आकर्षण और विद्वेषण—ये तांत्रिक षट्कर्म हैं और तामसिक भूमि में ही सिद्ध होकर अपना प्रभाव प्रकट करते हैं। उसी दिन एक भद्र पुरुष शिवा भारती से मिलने के लिए पधारे थे। नाम था अतुल सेन। पश्चिम बंगाल के किसी जमीन्दार परिवार से सम्बन्धित थे वह। वेष-भूषा से पूर्ण सम्पन्न नजर आ रहे थे, लेकिन मुखाकृति से पता लगता था कि वे महापुरुष किसी दारुण पीड़ा से दुःखी हैं। बाद में सब स्पष्ट हो गया।

अतुल सेन की पत्नी का नाम था मृणालिनी सेन। बाल-बच्चे नहीं थे। सेन महाशय की अवस्था काफी थी, मगर मृणालिनी की आयु तीस-पैंतिस से अधिक नहीं थी। स्वस्थ, सुन्दर शरीर, गौर वर्ण, आकर्षक एवं लावण्यमय चेहरा। किसी बात की कमी न थी। कमी थी तो केवल सन्तान की और इसी अभाव के कारण मृणालिनी सदैव दुःखी और चिन्तित रहा करती थी। इसके अलावा शरीर की भूख भी तो थी; उसके लिए भी वह बराबर व्याकुल रहा करती थी। आखिर अभाव की पूर्ति का रास्ता मिल ही गया। अनिल गांगुली रिश्ते में मामा का लड़का था। स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व वाला था गांगुली। आयु यही रही होगी तीस के आस-पास। मृणालिनी के पास धन था और उस धन से अनिल गांगुली के पौरुष को खरीद लिया उसने। कुछ ही समय बाद परिणाम सामने आ गया। मृणालिनी गर्भवती हो गयी और यथा समय एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया उसने।

पत्नी की बेवफाई, चरित्रहीनता और उसके इस परिणाम से अतुल सेन भलीभाँति परिचित थे। वे गृह जामाता थे। सारी सम्पत्ति पत्नी के नाम थी। यही उनकी विवशता थी और यही उनके मौन रहने का कारण था। मगर उनकी सहनशीलता तब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी, जब

मृणालिनी पग-पग पर और हर बात पर उनका अपमान करने लग गयी। एक दिन तो उसने साफ शब्दों में कह दिया कि उनकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। वह जहाँ चाहें चले जायें और तभी अतुल सेन ने मन ही मन एक निर्णय ले लिया। मृणालिनी रहेगी या फिर वे ही रहेंगे अब।

'क्या मेरा यह निर्णय साकार हो सकेगा माँ?' अतुल सेन ने आँखों में आँसू भर कर काँपते स्वर में शिवा भारती के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ कर कहा।

सौम्य स्थिर मुख विवर्ण हो उठा शिवा भारती का। आवेश से दोनों होठ काँपे, फिर शब्द फूटे—'हाँ होगा। निश्चय होगा साकार तुम्हारा निर्णय। अमावास्या की रात्रि में आना।' तुम भी आना—मेरी ओर सिर घुमा कर शिवा भारती ने गम्भीर स्वर में कहा।

और उस दिन अमावास्या थी। अजीब वातावरण। अन्धकाराच्छन्न रात्रि। बरसात के हा-हाकार से वेष्ठित स्याही में पागल हवा का चीत्कार। दरख्तों की साँय-साँय, रहस्यमय अन्धकार और ऐसे गहन वातावरण में प्रारम्भ हुआ मारण-प्रयोग।

राम चन्द्रा स्वामी के यहाँ जो रूपरेखा थी उससे कहीं अधिक भयानक और तामसिक रूप था उस समय शिवा भारती का। गोरे रंग पर खूनी रंग की रेशमी साड़ी बड़ी अच्छी लग रही थी। बाल खुलकर पीठ पर बिखरे हुए थे। गले में रुद्राक्ष की माला झूल रही थी। मस्तक पर भस्म और सिन्दूर का गोल टीका लगा था। कलाइयों में शंख के वलय पड़े थे और मुखमण्डल किसी अज्ञात शक्ति की आभा से दप्-दप् कर जल रहा था और उसी के साथ स्थिरता और दृढ़ता का भी भाव था वहाँ।

कमरे के बीचोबीच हवनकुण्ड था, जिसमें से आग की लाल-पीली लपटें उठ रही थीं और साथ ही सुगन्धित धूम्र भी निकल-निकल कर कमरे में फैल रहा था। कुण्ड के ठीक सामने पूरब की ओर एक नरकपाल औंधा करके रखा था—जिसमें मदिरा भरी थी और पास ही सिन्दूर पुता हुआ एक लम्बा-चौड़ा भयानक खड्ग भी रखा था और उससे थोड़ी दूर पर काठ की एक चौकी पर महाकाली की एक विकराल मूर्ति रखी हुई थी, जिसकी विधिवत् पूजा की गयी थी और भोग के रूप में मांस-मदिरा आदि सामने रखा गया था।

प्रतिमा के सम्मुख घी का दीप और अगरबत्ती जल रही थी। जिनके निकट अण्डे और सुई से बिंधे हुए कई नींबू रखे हुए थे। थोड़ी देर बाद एक युवक आया कमरे में। शायद वह कोई तांत्रिक संन्यासी था। वह अपने साथ एक काला बकरा लाया था, जिसे उसने शिवा भारती के संकेत पर प्रतिमा के नजदीक बाँध दिया। उस पशु के मस्तक पर सिन्दूर का टीका लगा था और

गले में लाल फूल की माला पड़ी थी। वह कभी पगुरी करने लगता तो कभी पगुरी रोककर भयभीत दृष्टि से इधर-उधर देखने लग जाता।

क्या पशु का वध भी होगा? रोमांच हो आया मुझे। पलट कर विपिन सेन की ओर देखा—वे एक कोने में चुपचाप बैठे थे। उनके चेहरे पर भी भय का भाव था।

कमरे में सन्नाटा छा गया। ऐसा लगा कि बाहर बारिश कुछ धीमी हो चली। कीड़े-मकोड़ों की अजीब किस्म की रीं-रीं और दरख्तों की साँसों से गुंजित अँधियारा। उत्तेजना से उद्भ्रान्त दृष्टि से मैंने एक बार चारों तरफ देखा। मेरे चित्त में एक विकट आलोडन मचा हुआ था और दहशत ने जैसे ढक लिया था मेरे चैतन्य को।

वह संन्यासी युवक दोनों हाथ बाँधे चुपचाप एक ओर खड़ा शिवा भारती के किसी आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था। निश्चय ही वह शिष्य रहा होगा शिवा भारती का। कुछ क्षण बाद शिवा भारती ने कोई संकेत किया। युवक ने तुरन्त लपक कर मदिरा की बोतल और एक खोपड़ी उनके सम्मुख रख दी।

देखा—कपाल पात्र में मदिरा उड़ेल-उड़ेल कर पीने लगी शिवा भारती। थोड़ी ही देर बाद उनकी आँखें गूलर की तरह लाल हो उठीं ओर चेहरा भी तमतमा उठा।

अचानक हा-हाकार करता हुआ हवा का एक झोंका बारिश की फुहारों के साथ खिड़की के रास्ते भीतर घुस आया और फर्श पर बिखर गया। पागल हवा की साँय-साँय पुनः तेज हो गयी और उसी के साथ तीव्र हो गया वर्षा का शोर। कमरे में जल रहे दीप बुरी तरह काँप रहे थे। दरवाजे और खिड़कियों को खटखटाती हवा दरख्तों पर सिर पटक रही थी।

तभी लगा—जैसे कमरे की रोशनी धीमी हो रही है और भीतर उतरता आ रहा है हल्दी के रंग का धूमिल अँधियारा और जैसे कमरे में जलते सौ पावर के बल्ब को लकवा मार गया हो।

सहमी और शिथिल दृष्टि से इस बदलते दृश्य को मैंने देखा।

शिवा भारती की आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक उतर आयी। स्थिर दृष्टि से वे देवी की मूर्ति की ओर देख रही थीं।

भयानक स्वरों में चीत्कार करते मेघ-गर्जन के मध्य एक छाया अचानक प्रकट हो गयी वहाँ। काजल जैसे काले बादलों की छाती चीर कर, जो विद्युत लता चमकी थी—उसी की चमक में दिखी वह कमरे के बीचो-बीच खड़ी, फिर उसने आकार ले लिया।

वह आकार किसी ऐसे प्राणी का था, जो मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं था। उसकी अपनी विशेषता थी। लम्बा, छरहरा और चौड़े कन्धों वाला शरीर पारदर्शक और वायवीय जिसके आर-पार सब कुछ दीख रहा था।

क्या वह कोई अन्य लोक का प्राणी था ? अभिमंत्रित होकर वहाँ आया था—यह समझते देर न लगी मुझे। वह पिशाच लोक से आया हुआ कोई भयंकर पिशाच था।

उसकी उपस्थिति से वातावरण में एक घोर निस्तब्धता छा गयी और दूसरे क्षण उस नीरवता को भंग करता हुआ शिवा भारती का कठोर स्वर गूँज उठा—'षण्मुखानन्द। मारणपात्र लाओ।'

युवक तांत्रिक संन्यासी का ही नाम था षण्मुखानन्द। एक कच्ची हड़िया थी, जिसके भीतर गौरैया का एक बच्चा था। जिसके गले में सुई धँसी थी, मगर बच्चा जीवित था। उसके अलावा एक नींबू, एक अण्डा और एक जलता हुआ चिराग था और ये सब रहस्यमय सामान मिट्टी के ढक्कन से ढँका हुआ था।

यही था मारणपात्र—जिसे षण्मुखानन्द ने लाकर शिवा भारती के सामने रख दिया। फिर हवन शुरू हुआ। कच्चे मांस और तेल का हवन। मगर यह क्या ? मांस की दुर्गन्ध कहीं नहीं थी। हवनकुण्ड से निकलने वाले धूम में चन्दन की सुगन्ध थी जो धीरे-धीरे कमरे में फैलने लगी थी। हवन समाप्त हुआ और उसी के साथ देखा कि बकरा काँपने लगा था जूड़ी के रोगी की तरह।

पिशाच की वह मानवाकृति अभी भी पूर्ववत् खड़ी थी। प्रतिमा के सामने जलते हुए दीपक के मन्द प्रकाश में मैंने देखा कि उसकी आकृति कभी काफी लम्बी हो जाती थी तो कभी बिलकुल छोटी।

तभी कमरे की नीरवता को भंग करती हुई एक भयानक चीख गूँज उठी। आर्तनाद। प्राणान्त का आर्तनाद। कमरे के फर्श पर खून-ही-खून। बकरे की बलि दे दी गयी थी। षण्मुखानन्द ने ही दी थी वह पशु-बलि। बकरे का खण्डित मुण्ड हवनकुण्ड के समीप पड़ा था और धड़ छटपटा रहा था खून में लिपटा हुआ।

बड़ा ही भयानक और वीभत्स दृश्य था वह। काँप उठा रोम-रोम मेरा। सिहर उठी एकबारगी मेरी आत्मा। तांत्रिक प्रयोगों के सम्बन्ध में तो सुना बहुत कुछ था, मगर साकार रूप में पहली ही बार देख रहा था सब कुछ।

बिजली चमकी और मेघगर्जन का दुर्दान्त स्वर भर गया वातावरण में।

मैंने देखा—पिशाच की वह मानवाकृति धीरे-धीरे उसी मारणपात्र में समाने लगी और जब पूरी तरह समा गयी, तब उसे ढक्कन से ढँक दिया गया। काफी देर तक अपलक निहारती रही शिवा भारती उस मारणपात्र की ओर जैसे वे उसे तंत्रपूरित कर रही हो। कुछ ही क्षणों के बाद उस मारण पात्र से भन्-भन् की ध्वनि निकलने लगी और एक क्षण के सौवें हिस्से में वह सन्-सन् की आवाज करता हुआ खुली हुई खिड़की के बाहर निकल गया।

उस समय रात के करीब दो बजे थे। निमिष मात्र में ही घटित हुई यह रहस्य लीला, मगर लगा जैसे एक युग गुजर गया हो। धीरे-धीरे हवा का चीत्कार रुक गया। वारिश का शोर थम गया और बल्ब की रोशनी पुनः वापस लौट आयी। शिवा भारती अपने स्थान से उठी, माँ काली को प्रणाम किया और फिर दूसरे कमरे में चली गयी।

मारण यज्ञ समाप्त हो चुका था।

एक सप्ताह बाद पता चला कि उसी रात मृणालिनी सेन की अचानक हृदय गति रुक गयी। सबेरे लोगों ने देखा कि उनके मुख से ढेर सारा खून निकल कर बिस्तर पर फैला हुआ था और वह मृत पड़ी हुई थी।

तंत्र-मंत्र सम्बन्धित बहुत सारी पुस्तकें पढ़ी थीं मैंने। मगर तंत्रशक्ति का चमत्कार मारण-प्रयोग के रूप में देखने को भी कभी मिलेगा—इसकी कल्पना मैंने नहीं की थी।

एक दिन शिवा भारती कहने लगी—मंत्र बल से इसी प्रकार तामसिक लोक के प्राणियों को अपने अधिकार में करके अनेक सम्भव-असम्भव कार्य कराये जा सकते हैं। मगर इसके लिए उचित-अनुचित का ध्यान रखना आवश्यक है। तुमको ज्ञात होना चाहिए कि तन्त्र की साधना योग से भी ऊँची है। राजयोग जहाँ समाप्त होता है—वहाँ से तंत्रयोग का प्रारम्भ होता है। तंत्रयोग का ही दूसरा नाम है 'आगम'। इसी प्रकार वैदिक योग का नाम है 'निगम'। कहने की आवश्यकता नहीं, आगम और निगम सनातन से हमारे देश, काल, समाज में समस्त ज्ञान, कर्म और उपासना के महास्रोत समझे जाते रहे हैं। आगम-निगम ही भारतीय संस्कृति है। मगर तंत्रों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के भ्रम और कुत्सित धारणायें फैली हुई हैं। उनमें तंत्रों की परम्परा का दोष नहीं, वरन् उन तांत्रिकों का दोष है जो बिना महती आस्था और योग के ही तांत्रिक बन कर तरह-तरह के भ्रष्टाचार, पापाचार और व्यभिचार के उन्नायक बने।

सचमुच शब्द में असीम शक्ति है और उसी असीम शक्तियों का सम्मिलित रूप है 'मन्त्रशक्ति'।

प्रसिद्ध रूसी शरीरशास्त्री, चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक आई० पी० पेवलोव तथा उसकी शिष्य परम्परा ने शब्दों का बड़ा विशद तथा मार्मिक शरीरशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है।

पेवलोव ने शब्दों को अत्यन्त शक्तिशाली अनुकूलित प्रतिमर्ष कहा है। इन वैज्ञानिकों ने शब्दों को संजीवनी शक्ति और शब्द चिकित्सा के क्षेत्र में बड़े-बड़े अविष्कार तथा गवेषणायें की हैं और नित नूतन आविष्कारों के आधार पर सिद्धान्तों की नींव डालते जा रहे हैं। उन्होंने इस प्रकार मस्तिष्क, स्नायु

पक्षाघात, हृदय, पेट एवं अन्याय अंगों की चिकित्सा की सफल विधियाँ आविष्कृत की है।

पशु-पक्षी, पेड़-पौधों सभी में बिजली होती है। वे सभी वैसे भी हमारे शब्दोत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक बिजली से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही सही, प्रभावित होते हैं। आप लोगों ने देखा होगा—फसलों की गुड़ाई-बोआई के समय किसानों की स्त्रियाँ गाती रहती हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार संगीत के प्रभाव से पैदावार बढ़ती है। शब्दों के सम्मोहन भरे आदेश द्वारा पाश्चात्य देशों में घोड़ों, कुत्तों, बिल्लियाँ आदि को पूर्ण आज्ञाकारी बनाकर प्रयोग कर्ताओं ने दिखा दिया है। यह तो हुआ जीवों पर शब्दों का प्रभाव।

पत्थरों पर भी शब्दों और संगीतों का प्रभाव कम नहीं पड़ता। मिश्र देश के जितने पिरामिड बने हैं, उनमें लगे पचासों मन के विशाल खण्डों को उठाकर लगाने के पीछे संगीत का ही प्रभाव है। उस समय आज के जैसे यान्त्रिक साधन तो थे नहीं, जिनके द्वारा उन्हें एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर इच्छानुसार लगाया जा सकता।

अब शब्द और संगीत का अद्भुत प्रभाव सुनिये। यदि बिल्लौर और रोंची साल्ट तथा अमोनियम गन्धित के सम्मुख यदि आप बोलें और गीत गायें तो वह चंचल हो उठेगा और उसमें से एक प्रकार की विद्युत धारा निकलने लगेगी। इसी सिद्धान्त के सहारे वैज्ञानिकों ने ध्वनि विद्युत गृह का निर्माण किया और एक ऐसे रेडियो स्टेशन का भी निर्माण किया, जिसमें बिजली या बैटरी की आवश्यकता नहीं पड़ती। अस्तु।

यहाँ शब्दों के अपूर्व सामंजस्य और संगीत के क्रान्तिकारी एवं उत्पादक प्रभाव का विशेष विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। कविता की हँसा-रुला देने वाली शक्ति, क्रान्ति उत्पन्न करने वाली ज्वालामुखीय उग्रता, तरुणों को उन्मत्त कर देने वाली गीतावली, मन को सम्मोहित कर तरुणियों को विवश कर देने वाले गीतों से सभी परिचित हैं।

इन सब तथ्यों की विवेचनाओं से स्पष्ट है कि मंत्र में शक्ति होती है; मगर उससे लाभ तभी उठाया जा सकता है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। इसके अलावा मंत्रों के सम्बन्ध में बहुत-सी आवश्यक बातें हैं जैसे — मंत्रोच्चारण विधि, मंत्रों के भेद, मंत्रों को जाग्रत् करने का समय, उनकी पुरश्चरण विधि, मंत्रों के जप की संख्या, मालाओं के भेद, दिशा-भेद, काल-भेद आदि-आदि।

मन्त्र के द्रष्टा

मंत्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैदिक मंत्र, (२) पौराणिक मंत्र, (३) तांत्रिक मंत्र। इन तीनों प्रकार के मंत्रों का निर्माण जिनके द्वारा हुआ है, उनको मंत्रद्रष्टा कहते हैं। वे साधारण मनुष्य नहीं बल्कि साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँचे हुए परम योगी होते हैं। एक विशेष अवस्था में जब

वे पहुँचते हैं, तो मातृकाओं के चिन्मय स्वरूप और उनके देवताओं के दर्शन उन्हें होते हैं, जिनकी शक्ति की मर्यादा देखकर वे उनका संयोजन करते हैं और फिर क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में उन्हें प्रकट करते हैं। इस प्रकार के जिन मंत्रद्रष्टाओं के द्वारा जिन मंत्रों का आविष्कार होता है, उनके वे 'ऋषि' कहलाते हैं। ऋषि निर्मित मंत्र के आधार पर देवता का ध्यान स्तोत्र, कवच, अंगन्यास, करन्यास, आसन, मुद्रा आदि की रचना होती है।

तीन प्रकार के मन्त्र और उनके फल

कलियुग में वैदिक मंत्र १२ लाख जपने पर, पौराणिक मंत्र ९ लाख जपने पर तथा तांत्रिक मंत्र केवल १०८ जपने पर सिद्ध होता है। इसका एक कारण यह भी है कि वैदिक और पौराणिक मंत्र का विधान अत्यन्त विस्तृत एवं श्रम साध्य है और सभी प्रकार के लोगों के लिए वह है भी नहीं।

मन्त्र के प्रकार और भेद

मुख्य रूप से मंत्र दो प्रकार के हैं—मूल मंत्र जिन्हें एकाक्षर और बीजाक्षर मंत्र भी कहते हैं। इसके अलावा इनके कई और नाम हैं। दूसरा है—महामंत्र। जिस मंत्र में बीजाक्षरों की संख्या अधिक हो, देवता का नाम हो और मंत्र के अन्त में 'हुँ, फट्, स्वाहा या नमः' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया हो वह 'महामंत्र' है। मुख्य रूप से मंत्रों के ५ भेद हैं—(१) पुंल्लिग मंत्र, स्त्री लिंग मंत्र और नपुंसकलिंग मंत्र (२) सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और रिपु मंत्र। (३) पिण्ड, कर्तरी, बीज, माला मंत्र। (४) सात्त्विक, राजस, तामस मंत्र, (५) साबर, डामर मन्त्र।

(१) पुंल्लिग मंत्र वह है जिनका देवता पुरुष होता है। और पुरुष देवता के मंत्र को सौर कहते हैं। सौम्य—जिस मंत्र का देवता 'स्त्री' होता है, उसे सौम्य मंत्र कहते हैं। सौम्य मंत्र को विद्या मंत्र भी कहते हैं। शिवाभारती ने कहा—एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन मंत्रों के अन्त में 'हुँ फट्' का प्रयोग किया गया हो, उन्हें भी पुंल्लिग मंत्र में ही समझना चाहिए। वौषट् शब्द का भी प्रयोग पुंल्लिग मंत्र में प्रायः होता है, मगर यह मंत्र तंत्र के एक विशेष सम्प्रदायक का है। सभी के लिए नहीं है। इस मंत्र के अन्त में दो बार ठः ठः का वौषट् तथा 'स्वाहा' का प्रयोग होता है वह 'स्त्री' मंत्र है। इसके अलावा हूँ, नमः से समाप्त होने वाला मंत्र 'नपुंसक मंत्र' कहलाता है।

(२) मंत्रों का सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र से कितना घनिष्ट है, इसका परिचय मंत्र के दूसरे भेद से स्पष्ट हो जाता है। शान्ति वशीकरण एवं मोहन मंत्र की राशि का सम्बन्ध पुकारने के नाम से है। इसके अलावा जितने प्रकार के मंत्र हैं, उनका सम्बन्ध जन्मराशि से समझना चाहिए। अपनी राशि से मंत्र की राशि ९, १, ५ है, तो उसको 'सिद्ध' कहते हैं; ६, २, १० है तो उसको

'साध्य' कहते हैं; ३, ७, ११ है तो उसको 'सुसिद्ध' कहते हैं और ४, २, १२ है तो उसको 'रिपु' कहते हैं।

साध्य मंत्र सिद्ध होने में काफी समय और श्रम लेता है। वह सिद्ध हो सकता है और नहीं भी।

सिद्ध मंत्र भी सिद्ध होने में समय लेता है।

सुसिद्ध मंत्र तत्काल सिद्ध होकर फल प्रदान करता है।

रिपु मंत्र साधक का नाश करता है। इस मंत्र का जप कदापि नहीं करना चाहिए।

इन चारों प्रकार के मंत्रों के देवताओं के वर्ण क्रमशः रक्त, श्वेत, पीत और श्याम है। जप काल में विविध रूप धारण कर वे साधक को स्वप्न में दर्शन प्रदान करते हैं। उनका मुख यदि क्रूरता पूर्ण लगे, तो मंत्र का जप नहीं करना चाहिए। यदि सौम्य और प्रसन्न है, तो जपना चाहिए।

(३) एक अक्षर वाले मंत्र को 'पिण्ड' मंत्र और दो अक्षर वाले को 'कर्तरी', तीन अक्षरों से लेकर नौ अक्षरों तक के मंत्र को 'बीज' और दस से बीस अक्षर वाले मंत्र को 'मंत्र' कहते हैं। इससे ऊपर वाली संख्या को 'माला' मंत्र कहते हैं। माला मंत्र की संख्या अपरिमित है।

(४) सात्त्विक देवता का मंत्र सात्त्विक, राजस देवता का राजसिक और तामस देवता का तामसिक मंत्र होता है। प्रथम प्रकार के मंत्र का जप उत्तर मुख, दूसरे प्रकार के मंत्र का जप पूरब मुख, तीसरे प्रकार के मंत्र का जप पश्चिम मुख, और चौथे प्रकार के मंत्र का जप दक्षिण मुख होकर करना चाहिए।

(५) साबर मंत्र का कोई शास्त्रीय रूप नहीं मिलता। इस मंत्र की योजना वर्णाक्षरों की शक्तियों और स्वर की विभिन्न शक्तियों के सम्मिश्रण से होती है। इसलिए प्रत्यक्ष में यह मंत्र ऊटपटांग एवं बेमेल से लगते हैं। पर सभी मंत्रों से इस मंत्र में सर्वाधिक शक्ति होती है और तत्काल सिद्ध होकर फल प्रदान करते हैं। सावर मंत्रों के द्रष्टा का नामोच्चारण एवं उनकी साक्षी के शब्द मंत्र के अन्त में लग जाने के कारण मंत्र अत्यन्त प्रबल होकर अत्यन्त शक्तिशाली हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

साबर का ही एक भेद है डामर मंत्र। ये काफी लम्बे होते हैं और साबर की ही तरह सफल और सिद्ध होते हैं, मगर उनका फल स्थायी नहीं होता। इस प्रकार के मंत्र का प्रयोग प्रायः नट जाति के और मदारी तथा साँपों के मिरासी करके हैं। अस्तु।

मन्त्र का उच्चारण

पुंल्लिग और सात्त्विक मंत्र का जप कण्ठ में करना चाहिए। स्त्री लिंग और राजसी मंत्र का जप होठों में करना चाहिए। इसी प्रकार नपुंसक लिंग और तामसी मंत्र का जप भ्रामरी-स्वर में करना चाहिए।

मन्त्र चैतन्य अथवा जागरण का समय

पहले प्रकार के मंत्र को प्रातः-काल, दूसरे प्रकार के मंत्र को सायंकाल और तीसरे प्रकार के मंत्र का जागरण मध्य रात्रि में करना चाहिए। इनके लिए क्रमशः चर्मासन, कम्बलासन और वस्त्रासन का प्रयोग करना चाहिए।

मन्त्रों का पुरश्चरण

मंत्र साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग है—पुरश्चरण। इससे मंत्र की शक्ति स्थायी एवं शृंखलित हो जाती है। फिर मंत्र जाग्रत् करने तथा सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। अतः पुरश्चरण के चार अंग हैं—

(१) मंत्र की जप संख्या का चौगुना जप करना। (२) दुगुनी संख्या का हवन करना। (३) आधी संख्या का तर्पण करना। (३) उस आधी संख्या का भी आधी संख्या में अपने नामाक्षर की संख्या का भाग देकर जितना शेष बचे उसके अनुसार ब्राह्मण भोजन करवाना चाहिए।

माला-भेद

सभी प्रकार के मंत्रों के लिए रुद्राक्ष की माला सर्वश्रेष्ठ है। स्त्री देवता का मन्त्र ५१ दाने पर, पुरुष देवता का मन्त्र १०८ दाने पर तथा नपुंसक देवता के मन्त्र का जप २१ दाने की माला पर जपना चाहिए। रुद्राक्ष के बाद स्फटिक की माला का महत्त्व है।

इस प्रसंग के अन्त में शिवा भारती ने कहा—कुण्डलिनी साधना के संदर्भ में मन्त्र से सम्बन्धित अनेक ऐसी गुह्य बातें हैं, जिन्हें बतलाया नहीं जा सकता। योग्य गुरु के द्वारा उनका मात्र केवल अनुभव कराया जा सकता है।

साबरी मन्त्र का अद्भुत चमत्कार

काशी का चेतसिंह का किला काफी दिनों तक मेरे चिन्तन-मनन का स्थल रहा है। इस किले के रहस्यमय निस्तब्ध वातावरण में मेरी बहुत सारी स्मृतियाँ सोयी पड़ी हैं और आज जब कभी मैं वहाँ जाता हूँ, तो वे सारी स्मृतियाँ एक-एक कर जाग्रत् होने लगती हैं मस्तिष्क में। फिर मैं डूब जाता हूँ एकबारगी उन स्मृतियों के सागर में। शिवा भारती से सम्बन्धित भी कई स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं उस स्थान से।

सावन का महीना था। रिम-झिम वर्षा हो रही थी। सांझ घिर आयी थी। हाहाकार करती हुई गंगा की प्रखर धारा में धीरे-धीरे स्याही उतरती जा रही थी।

मैं और शिवा भारती बुर्ज पर बैठे साधना प्रसंग पर ही चर्चा कर रहे थे।

तामसिक और राजसी तन्त्र मार्ग में ही सावरी और डामरी मन्त्रों का

प्रयोग होता है। शिवा भारती बतला रही थी—'भूत, प्रेत, पिशाच आदि की साधनासिद्धि आदि भी इसी के अन्तर्गत समझनी होगी। सावरी मंत्र में काफी शक्ति हुआ करती है, जिसके सामने पैशाचिक शक्ति कमजोर पड़ जाती है और तब साधक के इच्छानुसार काम करती है।

इतना कह कर शिवा भारती ने गहरी नजरों से आकाश की ओर देखा। उस समय पानी थम गया था और आकाश में पक्षी उड़ रहे थे। 'तुमको एक चमत्कार दिखाऊँ ?' आकाश की ओर ताकती हुई बोली वह। कैसा चमत्कार और कौन सा चमत्कार दिखाना चाहती थी शिवा भारती, समझ में नहीं आया मेरे। बस, सिर हिलाकर हामी भर दी मैंने और कहा—'दिखाइये।'

'वह देखो आकाश में एक गिद्ध उड़ रहा है न ?'

'हाँ, उड़ तो रहा है।'

'ध्यान से देखो उसकी ओर।'

मैंने आज्ञा का पालन किया और ध्यान से उड़ते हुए गिद्ध को देखने लगा अपलक। कुछ क्षण बाद अचानक वह गिद्ध गायब हो गया मेरी नजर के सामने से और दूसरे ही क्षण फड़फड़ाता और चीखता हुआ मेरे सामने आकर गिर पड़ा वह।

घबड़ा गया मैं। समझ में न आया कुछ। यह कैसे और क्या हो गया ? आकाश में उड़ता हुआ गिद्ध कैसे चला आया मेरे पास। मेरा आश्चर्य, मेरा कौतूहल और मेरी जिज्ञासा शिवा भारती से छिपी न रह सकी। वे बोली—सावरी मन्त्र का है यह सब चमत्कार। उसी की शक्ति से आर्कषित कर यहाँ बुला लिया है मैंने गिद्ध को। मगर थोड़ी देर में मर जायेगा यह।

बात सच निकली। काफी देर तक छटपटाने के बाद गिद्ध मर गया। जब मर गया तो शिवा भारती बोली—'देखो अब डामरी मन्त्र की शक्ति। इस किले में कई प्रेतात्मायें है। मैं उन्हीं में से किसी एक को डामरी शक्ति से इस गिद्ध की मृत काया में प्रवेश करा दे रही हूँ।'

हे भगवान ! कितनी आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय बात थी वह। क्या आप विश्वास करेंगे। नहीं। कोई भी विश्वास नहीं करेगा। उस घटना पर।

लगभग १५-२० मिनट बाद वह गिद्ध पंख फड़फड़ाकर उठ बैठा, मगर वह जिस्म से गिद्ध था, रूह तो उसके भीतर किसी भटकती हुई प्रेतात्मा की थी।

शिवा भारती कहने लगी—'इस गिद्ध के शरीर के द्वारा मैं भीतर प्रविष्ट प्रेतात्मा को किसी भी जगह, किसी भी काम के लिए भेज सकती हूँ। बोलो, तुम्हारा कोई काम है ?'

'नहीं, नहीं, मेरा कोई काम नहीं है।' मगर तभी याद आया। मेरे एक मित्र थे, उनका छोटा भाई किसी कत्ल के मुकदमे में फँसा दिया गया था और उसे आजीवन कारावास की सजा सुना दी गयी थी। उसने अपील अवश्य की थी, मगर आशा नहीं थी कि वह बेदाग छूट जायेगा।

'क्या मेरे मित्र का भाई मुक्त हो जायेगा ?'—पूछा मैंने।

'क्यों नहीं। यह कौन सी बड़ी बात है' शिवा भारती ने कहा—'नाम बोलो !'

'नाम बतला दिया मैंने।'

'उसको देखा है ?'

'हाँ, देखा है। बातें भी की हैं।'

'उसकी शक्ल का ध्यान करो मन में।

मैंने वैसा ही किया। आँखें बन्द कर मन-ही-मन मित्र के भाई का ध्यान करने लगा मैं। मगर जब मेरी आँखें खुलीं, तो देखा कि गिद्ध वहाँ नहीं था।

कहने की आवश्यकता नहीं। एक महीने बाद सारा सत्य सामने आ गया मेरे। अपील स्वीकृत हो गयी थी। मित्र का भाई बेदाग रिहा भी कर दिया गया था। अचानक सब कैसे हो गया, इसका पता किसी को न लगा। निराशा आशा में कैसे बदल गयी और आशा ने साकार रूप कैसे धारण कर लिया, यह अवश्य आश्चर्यजनक बात थी। लेकिन उसके मूल में कौन सा रहस्य था, इसे भी कोई न पा सका।

शिवा भारती का साथ लगभग कुछ समय तक रहा मुझसे। और इस अवधि में मैंने उनके द्वारा मन्त्रों के कई चमत्कार देखे। एक सफल सिद्ध साधिका थी शिवा भारती इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने मुझे कुछ ऐसे सिद्ध तांत्रिकों और उच्चकोटि के साधकों के भी पते बतलाये, जो सर्वथा गुप्त भाव से निवास करते थे। उन्होंने कई बार आग्रह किया कि मैं उनसे कुछ तांत्रिक सिद्धियाँ ले लूँ। मगर हर बार टाल गया मैं। सिद्धियाँ और चमत्कारों की दुनिया में मैं अपनी आत्मा को उलझाना नहीं चाहता था। मेरा तो एक मात्र लक्ष्य था—सत्य की खोज और उस खोज की दिशा में कहाँ से चल कर आज कहाँ तक पहुँच गया हूँ—यह सर्व विदित है।

उपसंहार

वस्तुपरक जगत् एवं आत्मपरक जगत्

बहुत से पाठकों ने मुझसे यह पूछा है कि मैं जिन अविश्वसनीय रहस्यमयी अलौकिक घटनाओं का वर्णन और चमत्कारपूर्ण विलक्षण कथाओं का उल्लेख करता हूँ—क्या उनका प्रमाण दे सकता हूँ ? उन्हें सत्य सिद्ध कर सकता हूँ मैं ? इसके अतिरिक्त पाठकों ने यह भी जानना चाहा है कि मेरी कौन-कौन-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और भविष्य में कौन-कौन-सी प्रकाशित होने वाली हैं।

इस सम्बन्ध में खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि वैसे तो पिछले पैंतालिस वर्षों से मेरी लेखनी निर्बाध चल रही है। इस दीर्घ अवधि में कौन-सी ऐसी पत्र-पत्रिका न होगी, जिनमें मेरी रचना न प्रकाशित हुई हो। लेकिन इसे भारी विडम्बना और परम दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि अभी तक मेरी कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है, जो अध्यात्म शास्त्र का प्रतिनिधित्व कर सके। कोई ऐसा ग्रन्थ भी प्रकाशित नहीं हुआ है, जो साधना मार्ग में प्रकाशस्तम्भ सिद्ध हो।

अब रही प्रमाण और सत्यता की बात तो ये दोनों मेरे लिए असम्भव है। न कोई प्रमाण दे सकता हूँ और न तो सत्य ही सिद्ध कर सकता हूँ। इसका कारण अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

योगतांत्रिक साधनाओं से सम्बन्धित जिस जीवन और जगत् की अलौकिक और चमत्कार पूर्ण कथाओं का उल्लेख करता हूँ और जिन अविश्वसनीय रहस्यमयी घटनाओं का वर्णन करता हूँ, वे आत्मपरक जगत्—जिसे पारलौकिक जगत् भी कहते हैं—से सम्बन्ध रखती हैं। इस विश्वब्रह्माण्ड में केवल तीन ही मुख्य जगत् हैं—आत्ममय जगत्, मनोमय जगत् और पदार्थमय जगत्। तीनों का अपना-अपना विज्ञान है। आत्ममय जगत् यानि आत्मपरक जगत् का विज्ञान अध्यात्म विज्ञान है। मनोमय जगत् का विज्ञान मनोविज्ञान व परामनोविज्ञान है। इसी प्रकार पदार्थमय जगत्—जिसे वस्तुपरक जगत् भी कहते हैं—का विज्ञान है भौतिक विज्ञान। आत्मपरक जगत् और वस्तुपरक जगत् के बीच में मनोमय जगत् है। 'मन' दोनों राज्यों का विभु है। चेतन मन का राज्य वस्तुपरक जगत् और अचेतन मन का राज्य आत्मपरक जगत् है। आत्मपरक जगत् सब्जेक्टिव और वस्तुपरक जगत् आब्जेक्टिव है।

किसी भी साधना का मतलब है मन शौर आत्मा की साधना। योगी और साधकों के शरीर से जो संसार शुरू होता है, वह आत्मपरक जगत् है और उसके पूर्व का जो संसार है वह है वस्तुपरक जगत्। वस्तुपरक जगत् की

बातों का और तमाम घटनाओं का प्रमाण तो दिया जा सकता है तथा उनकी वास्तविकता को और उनकी सत्यता को सिद्ध भी किया जा सकता है। लेकिन आत्मपरक जगत् की बातों और घटनाओं का नहीं। अगर मेरे हाथ में रुपया है तो मैं भी देख सकता हूँ और आप भी देख सकते हैं। सैकड़ों लोग भी देख सकते हैं। यह एक सामान्य सत्य है। जिसमें हम सब सहभागी हो सकते हैं। और इस बात की जाँच-पड़ताल भी हो सकती है कि रुपया है या नहीं। लेकिन मेरे विचारों, भावों और अनुभवों के जगत् में आप सहभागी नहीं हो सकते। बस, आप समझ लीजिये कि यह वही स्थान है जहाँ से आत्मपरक जगत् शुरू होता है। और वहीं से शुरू है तमाम अविश्वसनीय चमत्कारपूर्ण तथा साथ ही रहस्यमयी घटनाओं का सिलसिला भी। वहाँ किसी भी वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व को प्रमाणित करने तथा उन्हें सत्य सिद्ध करने के सारे भौतिक नियम समाप्त हो जाते हैं और यही एकमात्र कारण है कि मैं न तो आपको विश्वास दिला सकता हूँ, न प्रमाण दे सकता हूँ और न ही सत्य ही सिद्ध कर सकता हूँ। लेकिन इतना अवश्य कहूँगा कि आत्मपरक जगत् की अलौकिक घटनाओं ने और पारलौकिक अनुभवों ने एकबारगी हतप्रभ कर दिया है मेरी आत्मा को। मैं अपने-आप में जो अनुभव करता हूँ उसको व्यक्त नहीं कर सकता, बतला नहीं सकता। क्योंकि वह अपार्थिव है। अस्तु।

मैं जानता हूँ कि निरपेक्ष और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य को वैज्ञानिक प्रयोगों से पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह भी जानता और समझता हूँ कि आध्यात्मिक तत्त्वों को वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचा-परखा भी नहीं जा सकता। भौतिक नियमों का अभाव होने पर भी मैं जहाँ उन्हें शब्द रूप देने का प्रयास करता हूँ वहीं दूसरी ओर प्रयास करता हूँ, उन्हें अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करने का। मुझे अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है—इसे तो पाठकगण ही बतला सकेंगे। इति शम्।